परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

समय-सार

एवं उस पर

परमपूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित संस्कृत टीका

आत्मख्याति

तथा दोनों पर

आध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ गुरुवर्य सहजानन्द (मनोहर जी वर्णी) महाराज द्वारा विरचित

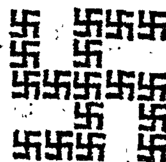
सप्तदशाङ्गी-टीका

प्रकाशक

सुमेरचन्द जैन

प्रधानमन्त्री भा० वर्णी जैन साहित्य मन्दिर

१५ प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर



प्रति ११००
सन् १९७७

लागत २२ रु०
जिल्द का पृथक् ३ रु०



गुरूवर्य श्री सहजानंद वर्णी

प्रकाशकीय

धर्म-प्रेमी बन्धुओ ! आज आपके कर कमलोंमें समयसार सप्तदशाङ्गी टीकाका प्रकाशन सौंपते हुए मुझे अतीव हर्ष है । अध्यात्म ग्रन्थोंमें प्रधान ग्रन्थ समयसार है जिसके रचयिता मूलसंघनायक परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं जिनका कि 'मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं'' में गौरव के साथ नाम लिया जाता है । समयसार पर तत्त्वज्ञानामृतपूरित आत्मख्याति टीका है जिसके रचयिता परमपूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि हैं जो टीकाकारोंमें मूर्धन्य हैं जिनकी अद्भुत अनेक संस्कृत ग्रन्थोंकी रचनायें हैं, जिनके प्रत्येक वचनों में तथ्यामृत भरा पड़ा है । मूल और संस्कृत टीका दोनोंपर सप्तदशाङ्गी टीका है जिसके रचयिता अध्यात्मयोगी श्रीमत्सहजानन्द महाराज हैं । इस सप्तदशाङ्गी टीकाका निर्माण व प्रकाशन लगातार ही चलता रहा, प्रथम कुछ पृष्ठों में चतुर्दशाङ्गी टीका रची गई थी, पश्चात् श्री सुमेरचन्द जी जैन १५ प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर जो दर्शनके लिये सरधना आये थे उनके हाथ में एक छोटी प्राकृत पुस्तक देखकर महाराजश्री का भाव हुआ कि इसमें प्राकृत नामसंज्ञ, धातुसंज्ञ व प्राकृत पदविवरण ये ३ अंग और बढ़ा दिये जायें सो इन तीन के बढ़नेपर सप्तदशाङ्गी टीका हो गई। जिन गाथाओं के ३ अंग घट गये वे भूमिकाके अन्तमें मुद्रित हैं व अगले प्रकाशन में सम्मिलित कर दिये जायेंगे ।

सदस्योंका आग्रह, अध्येताओंकी रुचि, साहित्यमें निष्पक्ष व आगमानुकूल प्रतिपादन, उच्च उच्चतर ग्रन्थों का सुगम विवेचन, ज्ञानभण्डार महाराजश्री की समाजको अनुपम ज्ञान देन इत्यादि प्रेरणाओंके कारण सहजानन्द साहित्य प्रकाशनकी सेवाका सौभाग्य मुझे सन् १९५५ से प्राप्त होता चला आ रहा है । पूज्य श्री मुनिराजगण, त्यागिवर्ग, विद्वान, जिज्ञासु बन्धुओं के इस साहित्यके अध्ययनकी रुचि और अध्येताओंके हर्षसूचक वचनोंसे सुविदित हो रहा है कि महाराजश्री के साहित्यसे भव्यात्माओंका कल्याण हो रहा है । आत्मकल्याणार्थी अनेक महापुरुषोंने सहजानन्द साहित्य का अध्ययन मनन कर यह भी भाव व्यक्त किया है कि आजके युगमें अध्यात्मयोगी गुरुवर्य श्री सहजानन्द (मनोहर जी वर्णी) अद्वितीय ज्ञानभण्डार हैं । जिन पूज्य श्री मुनिराजों को, त्यागिवर्ग को, ब्रह्मचारियों को, श्रावकों को सहजानन्द महाराज से अध्ययन करने का अवसर मिला, उनके हर्षोद्गारों ने मुझे सहजानन्द साहित्य प्रकाशनकी सेवाके लिये उत्साहित किया है ।

अनेक तत्त्वज्ञ अध्येताओंने बताया है कि (१) निष्पक्ष तत्त्वज्ञान, (२) शुद्धनयके विषयभूत सहज अखण्ड शाश्वत कारणसमयसाररूप चैतन्यस्वभावकी दृष्टिके लक्ष्यसे प्रतिपादन, (३) वैराग्यपूरक वचन, (४) परमात्मा व सद्गुरुओंके प्रति समयसारोन्मुखी भक्तिकी उमंग व (५) प्रयोगमार्ग इन पञ्चरत्नोंसे पूरित होनेके कारण सहजानन्द साहित्य परमोपकारी साहित्य है । व्यवहारनयके अविरोधसे मध्यस्थ होकर शुद्धद्रव्यनिरूपक निश्चयनय की मुख्यतासे प्रतिपादक होनेसे इस सहजानन्द साहित्यमें कहीं भी रंचमात्र भी सन्मार्गसे स्खलित होनेका अवसर नहीं है, प्रत्युत आर्षपरम्पराकी भांति सन्मार्गमें निःशंक निर्बाध बढ़ते चले जानेका व सहजात्मस्वरूपके अनुभवनका तथा अलौकिक सहज आनन्द पाते रहनेका सुभवितव्य प्राप्त होता है ।

श्री सहजानन्द महाराज (मनोहर जी वर्णी) ने गुरुवर्य आध्यात्मिक संत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी जी महाराजके तत्वावधान में ७॥। वर्षकी आयुमें जैन संस्कृत विद्यालय सागर में छठी कक्षामें प्रविष्ट होकर १० वर्ष तक अध्ययन कर सिद्धान्तशास्त्री, न्यायशास्त्री, साहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण कीं । आप बचपनसे ही विरक्त स्वभावके एवं तीव्रकुशाग्रबुद्धि वाले थे । आप प्रतिदिनका पाठ उसी दिन या समय न मिलने पर दूसरे दिन सुबह अपने सहपाठियोंको पढ़ाते थे । इससे सिद्ध है कि आपके ज्ञान और मौलिक वैराग्यकी देनमें पूर्वभवका सुसंस्कार भी कारण है । आपके द्वारा आध्यात्मिक सैद्धान्तिक दार्शनिक निबन्ध प्रवचन छोटे बड़े सब ५०० ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिसमें ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो गये, २०० ग्रन्थ प्रकाशित होनेके लिये रखे हैं । इनके अतिरिक्त जिनकी रचना प्रारम्भ की व जिनसे सम्बन्धित ग्रन्थ रखे जाने हैं वे ४५ और हैं। आपके द्वारा इतने दिये गये विशाल व सारभूत ज्ञानसाधन से समाज उऋण नहीं हो सकती ।

वर्तमान में जो ग्रन्थ प्रकाशित हैं उनकी पुस्तकों का विवरण इस प्रकार है—

समयसार महिमा

सभी जीव शाश्वत शान्ति चाहते हैं और एतदर्थ ही भरसक प्रयत्न करते हैं। जो जीव विषय भोगोंमें ही आनन्द मानते हैं और विषय भोगोंके बाधक निमित्तोंसे द्वेष एवं कलह करके शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन जीवोंकी तो इसमें चर्चा ही नहीं करना है। जो अलौकिक उपायोंसे शान्तिका मार्ग ढूंढते हैं, उनकी ही कुछ चर्चाओं के बाद परिणामस्वरूप हितकर प्रकृत बातपर आना है।

कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है :—कि जिस परम ब्रह्म परमेश्वरने अपनी सृष्टि की है उस परम पिता परमात्माकी उपासनासे ही दुःखोसे मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है :—कि प्रकृति और पुरुषमें एकत्वका अभ्यास होनेसे ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञान कर लेनेसे ही क्लेश एवं जन्म-परम्परासे मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है कि :—क्षणिक चित्तवृत्तियोंमें जो आत्मा माननेका भ्रम है इस आत्मभ्रमसे सारा क्लेश है, सो आत्माका भ्रम समाप्त कर देनेसे ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है कि :—आत्मा तो शाश्वत निर्विकार है। उसमें विकारका जब तक भ्रम है तब तक जीव दुःखी है, विकारका भ्रम समाप्त होनेसे ही जीव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है कि :—दुष्कर्मोंसे ही जीव सांसारिक यातनाएं सहता है, और यातनाओंसे मुक्ति पाना सत्कर्म करनेसे ही सम्भव है।

और कुछ विवेकी महानुभावोंकी धारणा है कि :—विकल्पात्मक विविध उपयोगोंसे ही जीवका संसार परिभ्रमण चल रहा है। इस भवभ्रमणकी निवृत्ति निर्विकल्प समाधिसे ही हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणाएं हैं। इनमेंसे किसी भी धारणाको असत्य नहीं कहा जा सकता और यह भी नही कहा जा सकता कि इसमें कोई भी धारणा किसी दूसरेके विरुद्ध है। इन सब धारणाओंका जो लक्ष्य है वह सब है एक "समयसार"।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञानमें उक्त समस्त उपाय गर्भित हैं। एक समयसारके परिज्ञानसे उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते है यह बात अभिधेय समयसारके यत्किंचित् अभिधानके पश्चात् कहीं तो विशद उक्तियों-में और कहीं फलितार्थरूपमें प्रकट हो ही जावेंगी। अतः अन्य कोई विस्तृत विवेचन न करके अब समयसारके सम्बन्धमें ही संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

समयसार का अर्थ

समय शब्दके दो अर्थ हैं :—१-समस्त पदार्थ, २-आत्मा। इनमें अर्थात् समस्त पदार्थोंमें अथवा आत्मामें जो सार हो वह समयसार कहलाता है। 'सम्—एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति' इस निरुक्तिसे समय शब्दका अर्थ समस्त पदार्थोंमें घटित होता है; क्योंकि सभी पदार्थ अपने-अपने ही गुण पर्यायोंको प्राप्त हैं। 'सम्—एकत्वेन युगपत् अयते गच्छति, जानाति' इस निरुक्तिसे समय शब्दका अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि आत्म—पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थोंको एकत्वरूप अर्थात् केवल उसका सत्तात्मक बोध एक साथ जानने का है।

अब सब पदार्थोंमें सार कहो तो वह आत्मा नामका पदार्थ है और उसमें भी निरपेक्ष, शाश्वत, सहज, एक स्वरूप आत्मस्वभाव (चैतन्य स्वभाव) की दृष्टिसे दृष्ट आत्म-तत्त्व सार है। इसी प्रकार दूसरी निरुक्तिसे भी यही समयसार वाच्य है। समयसार के अपर नाम—ब्रह्म, परम-ब्रह्म, परमेश्वर, कारण परमात्मा, जगत्पिता,

अनेक हैं। इनमें प्रसिद्ध शब्द नय है। नय के मुख्य भेद दो हैं (१) निश्चयनय (२) व्यवहारनय। एक पदार्थके ही जाननेको निश्चनय कहते हैं। अनेक या अन्यके निमित्तसे होने वाले कार्य व्यपदेश आदिके जाननेको व्यवहारनय कहते हैं। चूंकि पदार्थोंको केवल भी जाना जा सकता है, संयुक्त या सहयोगी भावों द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिये नयोंकी द्विविधता होना प्राकृतिक बात है।

अथवा पदार्थोंको भेदरूपसे जाननेको व्यवहार कहते हैं और अभेदरूपसे जाननेको निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय एक व अभेद अथवा एक या अभेदको जानता है, व्यवहारनय अनेक व भेद अथवा अनेक या भेदको जानता है। इस कारण कितने ही निश्चयनय उसके सामने अन्य अन्तरंगकी दृष्टि प्राप्त होनेपर व्यवहारनय हो जाते हैं और कितने ही व्यवहारनय उसके सामने अन्य अधिक बहिरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर निश्चयनय हो जाते हैं। फिर भी माध्यम द्वारा नयोंका संक्षिप्त विस्तार किया जाता है :—

निश्चयनयके परमशुद्धनिश्चयनय, विवक्षितैकदेशशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनय आदि भेद हैं। व्यवहारनयके उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आदि भेद है।

परम शुद्ध निश्चयनय—परिणमन व शक्तिभेद (गुण) की दृष्टि गौण कर एक स्वभावमय पदार्थको जानना परमशुद्ध निश्चयनय है; जैसे आत्मा चित्स्वरूप है। इसी नय का विषय समयसार है।

विवक्षितैकदेशशुद्ध निश्चयनय—उपादेय तत्वको शुद्ध निरखकर विकारका उपाधिसे सम्बन्ध जाननेको विवक्षतैकदेशशुद्ध निश्चयनय कहते हैं; जैसे रागादि पौद्गलिक हैं। यह आशय अशुद्ध निश्चयनयकी मुख्यता होने पर व्यवहारनय हो जाता है।

शुद्ध निश्चयनय—शुद्धपर्यायपरिणत पदार्थके जाननेको शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जैसे सिद्ध प्रभु शुद्ध हैं।

अशुद्ध निश्चयनय—अशुद्धपर्यायपरिणत पदार्थके जाननेको अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। जैसे रागादि मान् संसारी जीव है।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अन्य उपाधिके निमित्तसे होने वाले प्रकट परभावको निमित्तसे उपचरित करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है जैसे—अनुभूत विकारभाव पुद्गल कर्मके कारण जीवमें हुए हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय :—अन्य उपाधिके निमित्तसे होने वाले सूक्ष्म (अप्रकट) विकारको कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे औपाधिक अबुद्धिगत जीवके विकार भाव।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनय :—उपाधि के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले जीव के गुणों का विकास उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीव के मतिज्ञान।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जीवके निरपेक्ष आदिक स्वभाव-भावको गुण-गुणीका भेद करके कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है, जैसे जीवके ज्ञानादि गुण।

इस प्रकार अन्तरंगसे बहिरंगकी ओर, बहिरंगसे अन्तरंगकी ओर अभिप्रायोंका आलोडन विलोडन करके समय (आत्मा) का सम्यक् प्रकारसे निश्चय किया जाय और पश्चात् अनेक निश्चयनयोंमें से निकल कर परम शुद्ध निश्चयनयका अवलम्बन करके समयसारका परिज्ञान किया जावे और फिर परमशुद्धनिश्चयनयके आशयसे भी सहज छूटकर समयसारका अनुभव किया जावे।

समयसारका विषय विभाग

समयसार आत्मतत्त्वकी विवेचनाका अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका प्राकृत भाषामें नाम' 'समयपाहुड" है, जिसका संस्कृतानुवाद है समयप्राभृत। प्राभृतका अर्थ भेंट भी होता है जिससे यह ध्वनित हुवा कि समय अर्थात् शुद्ध आत्मतत्वकी जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार (कारणपरमात्मा या निर्दोषपरमात्मा) राजाके दर्शन करनेके लिये उद्यम करे तो इस भेंटका (ग्रन्थका) उपयोग करें। यदि कोई यह जानना चाहे कि जैन सिद्धान्तमें वर्तमान सर्व-

प्रकट हुई है; इससे सहसा विवेच्य विषयपर श्रद्धा होती है तथा मनन कर लेनेसे तो दृढ़ प्रतीति हो ही जावेगी क्योंकि इस विवेचनामें सब वैज्ञानिक पद्धति है।

(समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्वका लक्ष्य इस प्रकार किया गया है, कि जो न प्रमत्त या कषायसहित है और न अप्रमत्त या कषायरहित है; किन्तु एक शुद्ध ज्ञायक-भावमय है, वह शुद्ध आत्मा है। इस शुद्ध आत्मामें बन्धकी कथा तो दूर ही रहो इसमें ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदिक गुणभेद भी नहीं हैं।) फिर भी बुद्धिमें गुणभेद आदि किये विना परमार्थभूत आत्माको समझाया नहीं जा सकता। इसलिये गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होनेसे वक्तव्यं होता है और (यह व्यवहार पहिली पदवीमें प्रयोजनवान् है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके अवलोकन करने वालोंको व्यवहार प्रयोजनवान् नहीं है।)

अधिकार-गाथा

उक्त प्रकारसे एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा अथवा समयसारका संक्षेपमें वर्णन किया गया है उसी को विस्तृत रूपमें कहनेके लिये एक अधिकार गाथा ग्रन्थकर्ता ने दी है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

भूतार्थनयसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सम्यक्त्व है। यहां कारणमें कार्यका उपचार करके सम्यक्त्वका वर्णन किया है, जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थ नयसे जाने गये जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्वके कारण हैं। गुण पर्यायोंके भेदसे उठाकर एकत्वमें ले जाने वाले नयको भूतार्थनय कहते हैं। इस गाथामें अधिकारसूची भी आ गई। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें आवश्यक कर्तव्य होनेसे केवल कर्तृकर्माधिकार व सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार और कहना पड़ा। चुलिका तो प्राय: सर्वत्र आपतित होती ही है।

उक्त नव तत्त्वोंमें जीव व अजीव तो द्रव्य है व पुण्य-पाप, आस्रव आदि पर्यायें है। इसी कारण ये सातों जीव रूप भी कहे गये हैं और अजीवरूप भी कहे गये हैं। जैसे जीव पुण्य, अजीव पुण्य आदि। जीवकी परिणतियां जीवपुण्य आदि हैं व अजीव (कर्म) की परिणतियां अजीवपुण्य आदि हैं। जीवपरिणतियोंके द्वारसे चलकर उन परिणतियोंके स्रोतभूत गुणपर आना और गुणद्वारसे चलकर गुणोंके अभेद पुञ्ज अथवा गुणोंके श्रोतभूत जीवद्रव्यपर आना यह भूतार्थ नयकी पद्धति है। इसी प्रकार अजीवमें भी लगानी चाहिये। यह सर्वविषय ग्रन्थके अध्ययनसे स्पष्ट करना चाहिये। यहाँ तो विषयोंका दिग्मात्र ही दिखाना है।

जीवाधिकार

जीवाधिकारमें सर्वप्रथम ही शुद्ध आत्माके स्वरूप, स्वामी व उपायका ही एकदम सुगम रीतिसे वर्णन कर दिया गया है, कि जो अपनी आत्माको (अपने आपको) अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट व असंयुक्त देखता है उसे शुद्धनय जानो, अथवा शुद्ध-नयसे जैसा शुद्ध आत्मतत्त्व देखा जाता है आत्मतत्त्व वैसा ही शुद्ध जानो। यही जिन शासनका सार है।

इस शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना चाहिये। वस्तुतः श्रद्धान-ज्ञान-आचरण भी आत्मा ही है। (यद्यपि यह आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानमय है किन्तु इसकी निजतत्त्वपर दृष्टि नहीं हुई; अत: इसकी उपासनाका आदेश दिया गया है।)

समयसारका परिचय न होनेसे जीवकी दृष्टि कर्म, शरीर व विभावमें "यह मैं हूं या ये मेरे हैं" ऐसी मान्यताकी हो जाती है; और जबतक ऐसी दृष्टि रहती है तबतक यह जीव अज्ञानी कहलाता है। इतना ही नहीं अज्ञानी जीवके भूत, भविष्यत्का भी परिग्रह लगा रहता है। अज्ञानीके यह धारणा रहती है कि शरीरादिक मैं हूं ये मेरे हैं, मैं इनका हूं ये मेरे थे, मैं इनका था, ये मेरे होंगे, मैं इनका होऊंगा इत्यादि।

व्यवहारका उपदेश है, जो कि तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त बतलाना आवश्यक ही है। अन्यथा षट्कायके जीवपर्यायोंको अजीव मानकर जितना चाहे मर्दित कर दिया जावे, हिंसा नहीं होनी चाहिये। फिर तो हिंसाके अभावमें बन्धका अभाव व बन्धके अभावमें मोक्षका भी अभाव हो जायेगा अथवा उच्छृङ्खलता आ जावेगी। हाँ निर्विकल्प समाधिके उद्यममें तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही जीव है, अवशिष्ट भाव सब अजीब हैं, इसी दृढ़ प्रतीतिसे काम चलेगा।

वस्तुतः जीवका लक्षण चेतना है। जीव वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श, शब्दसे रहित है। जीव बाह्य चिन्ह से ग्रहणमें नहीं आ सकता। जीवका सहज नियत संस्थान भी कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य भावके अतिरिक्त अन्य सब भाव अजीव हैं। इसी कारण जीवके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकता, शरीर, संस्थान संहनन (अस्थिपिंजर) राग, द्वेष, मोह, कर्म, शरीर, विचार, योग, बन्ध, उदय, संकलेश, विशुद्धि आदि कुछ नहीं हैं। ये सब व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं। व्यवहारनय विरोधक नहीं, किन्तु व्यवहार नय भी वस्तुके किन्हीं भावोंके जाननेका एक तरीका है। जैसे कि जिस रास्तेमें चलते हुए मुसाफिरों को डाकुओं द्वारा लूटा जाता हो, लोग उस रास्तेको "यह रास्ता लूट लिया जाता है" ऐसा कह देते हैं। परन्तु वास्तवमें रास्ता क्या लुटेगा, फिर भी व्यवहारसे ऐसा तो कहा ही जाता है, क्योंकि लूटने वाले उस रास्तेमें होते हैं। इसी प्रकार जीवमें बन्धपर्यायसे स्थित कर्म व शरीरके वर्ण आदिको जानकर व्यवहारनयसे कहा जाता है कि जीवमें वर्णादिक है।

वस्तुतः जीवमें वर्णादिका कुछ भी तादात्म्य नहीं है। यदि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य मान लिया जाता है तब तो अनेक अनिष्टापत्तियाँ आती हैं—जैसे कि (१) वर्णादिका जिसके साथ तादात्म्य है वह तो पुद्गल कहलाता है, यदि कभी संसारी जीव मुक्त हो तो यही माना जायेगा कि पुद्गलको मोक्ष हो गया। (२) जीव अजीवका कोई भेद नही रहा; तो जीव का ही अभाव हो गया इत्यादि।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिनका पुद्गल उपादान है वे परिणमन व जिनका पुद्गल कार्य निमित्त है वे परिणमन ये सब कोई भी परमार्थसे जीवके नहीं है। इन्हें अजीव कहा गया है।

कर्तृ-कर्माधिकार

अधिकार गाथामें यद्यपि कर्तृ-कर्मभाव अधिकारकी कोई सूचना नहीं है, तो भी जीवाजीवाधिकार के पश्चात् व आस्रव अधिकारके पहले कर्तृकर्म अधिकारका कहना यह दिखानेके लिये आवश्यक हुआ है कि जब जीव और अजीव स्वतन्त्र द्रव्य है तब जीव व अजीवके सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे हो जाती है? इसका उत्तर कर्तृ-कर्माधिकार में किया गया है। जीव व अजीवका सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे मिट सकती है इसका उत्तर भी उसी अधिकारमें दिया गया है। जब तक जीव निज-सहज-स्वरूप व क्रोधादि औपाधिक भावोंमें अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावोंको निज स्वरूपमें जाननेके कारण उनमें जीवकी प्रवृत्ति होगी ही और क्रोधादिमें वर्तने वाले इस जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके वशसे पुद्गल कर्म (अजीव) का संचय हो जाता है। पुद्गल कर्मके आनेका नाम अजीवास्रव है और जीवमें जो ये क्रोधादिक भाव हुये है उनका नाम जीवास्रव है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि अजीवास्रवका निमित्त तो निज परमें परस्पर कर्तृकर्मभावकी मान्यता है, इस कर्तृकर्मभावकी मान्यतामें क्या निमित्त है? उत्तर— इस कर्तृ-कर्मभावकी मान्यता में पूर्वबद्ध अजीव कर्मका उदय निमित्त है। प्रश्न —इस कर्मास्रव में क्या निमित्त हुआ था? उत्तर:—इस कर्मास्रवमें पूर्वका स्वपरका कर्तृ-कर्मभाव निमित्त हुआ था। इस प्रकार यह अनादिप्रवाहक्रम चला आया है। इस स्वपरकर्तृकर्मभाव की प्रवृत्ति भी अनादिसे चली आई है।

यद्यपि यहाँ ऐसा सम्बन्ध है कि जीवके परिणामको हेतु पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणायें कर्मरूपसे परिणम जाती है और पुदगल कर्मके उदयको निमित्त पाकर जीवके ऐसे परिणाम हो जाते हैं, तो भी जीव व पुदगल का परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है, क्योंकि जीव न तो पुदगलकर्मका कोई गुण या परिणमन करता है और न पुद्गल कर्म जीवका कोई गुण या परिणमन करता है। केवल अन्योन्यनिमित्तसे दोनोंका परिणमन हो जाता है।

इस ही निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्धके कारण व्यवहारनयसे 'जीव पुद्गलकर्म (द्रव्यास्रव) का कर्ता' और 'पुद्गल जीवास्रवका कर्ता' कहा जाता है। जीवमें अनुभवनशक्ति है, सो वस्तुतः पुद्गलकर्मके उदयको निमित्त पाकर जीव अपनेमें आनन्द-श्रद्धा-चारित्रादि गुणोंको विकृत परिणमनरूपसे भोगता है तो भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके

जीवमें पुद्‌गलकर्म बद्ध है (१) निश्चयनयसे जीवमें राग-द्वेषादि नहीं है । (२) व्यवहारनयसे जीवमें राग द्वेषादि है। (१) निश्चयनयसे जीव पुद्‌गलके परिणमनका निमित्त नहीं है । (२) व्यवहारनयसे जीव पुद्‌गलके परिणमनका निमित्त है । इत्यादि अनेक चर्चायें दोनों नयोंसे स्पष्ट कर लेनी चाहिये । पश्चात् समयसारके अनुभवके उद्यममें दोनों ही नयपक्षोंको ग्रहण नही करना चाहिये। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ परमात्मा विज्ञानघन-भूत होनेके कारण नयपक्षके परिग्रहसे दूर होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिनसंज्ञक निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले होकर भी परिग्रहके प्रति उत्सुकतासे निवृत होनेके कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूपको ही जानते हैं और किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते हैं, वे ही समयसारका अनुभव करते हैं ।

पुण्य-पापाधिकार

मोह व रागद्वेषकी प्रवृत्तिके निमित्तसे जिन कर्मोका आस्रव हुआ, उनमें से कारणभूत, शुभ-अशुभ योग उपयोगके अनुकूल कोई कर्म शुभ प्रकृतिके (पुण्यरूप) व कोई अशुभ प्रकृतिके (पापरूप) हो जाते हैं। होओ, फिर भी चाहे पुण्य कर्म (सुशील कर्म) हों; चाहे पाप-कर्म (कुशील कर्म) हों; सभी वस्तुतः कुशील ही हैं, क्योंकि सभी कर्म संसारमार्गके निमित्त हैं। जैसे कि चाहे सुवर्णकी वेड़ी हो, चाहे लोहेकी वेड़ी हो, कैदीके लिये दोनों भारभूत हैं। इसलिये दोनों प्रकारके कर्मोको बंधमार्ग जानकर इनमें या इनके कारणभूत भावोंमें व आश्रयभूत विषयोंमें मन वचन कायसे राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये । रागी जीव कर्मो को बांधता है व विरागी-आत्मा कर्मोसे छूट जाता है, इसलिए चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभ कर्म हो किसी भी कर्ममें राग मत करो । जैसे वनके हाथीको फंसानेके लिये शिकारी लोग एक गड्ढेपर वांस व कागजकी बड़ी सुन्दर एक हथिनी बनाते हैं और सामने एक झूठा हाथी । वन-हस्ती हथिनीके रागमें व दूसरे हाथीको विषय-बाधक जान कर उससे द्वेषके कारण शीघ्र वहां आता है और गड्ढेमें गिर जाता है । तो उस हाथीको गड्ढेका अज्ञानरूप मोह था व सुन्दर हथिनीका राग था व दूसरे हाथीसे द्वेष था । इस तरह मोह-राग द्वेष वश हाथीने विपत्ति ही पाई । पुण्यकर्म भी झूठी सुन्दर हथिनीके समान विपत्तिमें निमित्त बन जाता है । इसलिये किसी भी कर्ममें राग मत करो ।

मोह-राग द्वेष ये सभी अज्ञानके विविध रूप हैं। ये भाव जाननेका कार्य नही करते, इसलिये भी अज्ञानरूप हैं। अज्ञानभाव बंधका हेतु है, व ज्ञानभाव मोक्षका हेतु है। परमार्थभूत ज्ञान होनेपर बाह्य व्रत नियम तपकी विशेषता न हो तो भी ज्ञान मोक्षका कारण है। जो परमार्थभूत समयसारसे अपरिचित हैं वे ही केवल अशुभ कर्मो को ही बन्धका कारण जानकर व शुभ कर्मको मोक्षका कारण जानकर पूण्य कर्मकी चाह करते हैं ।

सब ही कर्म मोक्षके हेतुभूत सम्यक्त्व, ज्ञान व चरित्रका तिरोभाव करने वाले हैं। इसलिये ज्ञानभाव मोक्षका अर्थात् पूर्ण विकासका हेतु है । अतः सर्व कर्मोका राग छोड़कर एक निज ज्ञायक स्वभावकी उपासना करना शान्तिका (मोक्ष का) मार्ग है।

आस्रवाधिकार

विकृतरूपसे आनेको आस्रव कहते हैं। आस्रवभाव जीवके राग द्वेष मोह भाव हैं। इनको निमित्त पाकर पौद्‌गलिक कार्माणवर्गणाओंमें भी विकारकी प्रकृति बनती है। इसलिये आस्रवका परिणाम होनेसे इन पौद्‌गलिक वर्गणाओंमें कर्मत्व आनेको भी आस्रव कहते हैं।

राग द्वेष मोह भाव अज्ञानमयशय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीवके होते हैं। ज्ञानीके ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणामोंके द्वारा अज्ञानमय परिणामोंका निरोध हो जाता है। अतः ज्ञानी जीवके ज्ञानमय परिणाओंके द्वारा आस्रवका निरोध हो जाता है। अतश्च पुद्‌गलकर्मका बंध नहीं होता, क्योंकि अज्ञानमय परिणाम ही कर्तृत्वबुद्धिमें प्रेरक होता है, ज्ञानमय परिणाम तो स्वभावका ही उद्‌भासक है, उससे बन्ध कैसे हो सकता है।

दुःख है, सो दुःखोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिये भेदविज्ञानकी तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिये जब तक कि ज्ञान परसे बिलकुल न हट जावे और ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

निर्जराधिकार

विकारके झड़नेका नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—(१) भावनिर्जरा (२) द्रव्यनिर्जरा—सुख-दुःख राग द्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बंधके कारण न बनें और झड़ जावें इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्य बंधका कारण न बन कर कर्मोंका व अन्य कर्मोंका निष्फल झड़ जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

ज्ञानका ऐसा ही सामर्थ्य है कि कर्मविपाकको भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मोंसे नहीं बँधता है। जैसे कि तान्त्रिक, मान्त्रिक अथवा विषवैद्य पुरुष विषको खाता हुआ भी मरणको प्राप्त नहीं होता। वैराग्यमें भी ऐसा ही सामर्थ्य है। वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं, विधिरूपसे देखनेपर ज्ञान प्रतिष्ठित है और राग-निषेधकी ओरसे देखनेपर वैराग्य प्रतिष्ठित है।

सम्यग्दृष्टिका मुख्य विचार एक यह भी रहता है कि जो लोभ क्रोधादि प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मोंके उदयके निमितसे उत्पन्न हुये रागादिक भाव परभाव हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतः सिद्ध एक ज्ञायक स्वभावरूप हूं। इस विचार-बलसे ज्ञानी परभावोंसे विरक्त रहकर उनको छोड़ देता है।

रागादिभाव आत्माका स्वपद नहीं है, क्योंकि ये सभी भाव आत्मस्वभावके विरुद्ध हैं, विषम हैं, अनेकरूप हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी हैं। कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव न रहे, दूसरा रहे; इस कारण स्थायीरूपसे आत्मामें स्थान नहीं पाते अर्थात् अस्थायी हैं। किन्तु ज्ञानस्वभाव आत्माका स्वपद है; क्योंकि यह ज्ञानस्वभाव आत्म-स्वभाव है, सम अर्थात् नियत है, एकरूप है, नित्य है व अव्यभिचारी अर्थात् अनवरत सदा आत्मामें रहता है। इस ही कारण ज्ञानस्वभाव स्थायीरूपसे आत्मामें स्थान पाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस एक ज्ञानस्वभावका ही अनुभव करो। जिसमें रंचमात्र भी विपत्ति नहीं रहती।

इस ज्ञानस्वभावके जितने परिणमन हैं, उन परिणमनोंके ज्ञान-द्वारसे परिपूर्ण ज्ञानस्वभावको ही देखो। इस ज्ञानभावके आश्रयसे ही ज्ञानकी प्राप्ति है, अन्य क्रियाओंसे नहीं। इस ज्ञानभावके आश्रयके विना महान् तपोंका भार भी सहे तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानोपयोगी आत्मा निष्परिग्रह है, क्योंकि परिग्रह तो वास्तवमें इच्छा ही है, सो ज्ञानीके इच्छाका आदर ही नहीं, राग ही नहीं; केवल इच्छाका ही नहीं, किन्तु समस्त विभावोंका ज्ञानीके ममत्व नहीं, आदर नहीं, ज्ञानी किसी भी परभावको नहीं चाहता। इसी कारण बाह्य विषयोंकी चाह नहीं। ज्ञानी आत्मा अतीत भोगोंका तो ख्याल ही क्या करेगा, वह तो वर्तमान भोगोंमें भी वियोगबुद्धिसे प्रवर्तमान हो रहा है। जो वियोगबुद्धिसे रहे, वह परिग्रही नहीं है। भविष्यत् भोगकी चाहभी अनेक कारणोंसे ज्ञानीके नहीं है (१) ज्ञानीके वस्तुस्वभावकी ओर दृष्टि रहा करती है सो निदानको अवसर ही नहीं मिलता। (२) वस्तुस्वातंत्र्यकी प्रतीतिके कारण किसी भी बाह्य पदार्थसे ज्ञानीको हितकी आशा ही नहीं है। (३) ज्ञानीके यह दृढ़ निश्चय है कि इच्छाभाव व भोगभाव ये दोनों भाव एक समयमें हो ही नहीं सकते; क्योंकि जब किसी वस्तुकी चाह है तब तो उस वस्तुका भोग नहीं और कदाचित् उस वस्तुका भोग हो तो तद्विषयक चाह नहीं कि यह मिल जावे। जब इच्छा व भोग दोनों एक समयमें मिल नहीं सकते तो फिर चाह ही क्यों की जावे।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके राग-रसका छोड़नेवाला होता है। इसी कारण कोई ज्ञानी कर्मके मध्य भी पड़ा हो, तो भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। जैसे कि सुवर्णका जंगसे लिप जानेका स्वभाव नहीं है, तो कीचड़के बीच पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता। लोहेका जंगसे लिप जानेका स्वभाव है, सो कीचड़के बीच पड़ा हुआ लोहा जंग खा

प्रभावना—ज्ञानशक्तिके विकाससे सम्यग्दृष्टि प्रभावनाकारी होता है। अतः उसके अप्रभावनाकृत बन्धन हीं है; किन्तु ज्ञानप्रभावक होनेसे निर्जरा ही होती है। ज्ञानी पुरुष अपनी अलौकिक आध्यात्मिक चर्याके कारण पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है। वह निर्जरा मोक्ष तत्त्वका साधन है।

बंधाधिकार

निर्जराका फल मोक्ष है। मोक्ष बन्धपूर्वक है। अतः मोक्षतत्वके वर्णनसे पहले बन्धतत्वका वर्णन किया जा रहा है। बन्ध किस कारण होता है यह व्यक्त करनेके लिये एक उदाहरण है। जैसे कोई मल्ल देहमें तेल लगागर धूलभरी भूमिपर स्थित होकर तलवारसे कदली वंश आदि पेड़ोंको काटता है। इस अवसरमें उसका देह धूलसे लिप्त हो जाता है। यहाँ विचार करो कि वह धूल क्यों चिपट गई? क्या धूलभरी भूमिमें स्थित होनेसे धूल चिपट गई?' नहीं। यदि धूलभरी भूमिमें स्थिति होनेके कारण धूल चिपटी होती तो अन्य कोई मल्ल जिसके देहमें तेल न लगा हो वह उसी भूमिमें वैसा ही व्यायाम करे उसके तो नहीं चिपटती। क्या शस्त्र चलाया इस कारण धूल चिपटी? नहीं, दूसरा भी तो वही शस्त्र चलाता है उसके तो नहीं चिपटती। क्या वृक्षोंका घात करता है इस कारण चिपटी? नहीं, दूसरा मल्ल भी तो घात करता है उसके क्यों नहीं चिपटती। निष्कर्ष यह है कि इन वाह्य साधनोंसे धूल नहीं चिपटी, किन्तु जो देहमें स्नेह (तेल) लगा है, उसके कारण धूल चिपटी। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ कार्माण-वर्गणाओंसे व्याप्त लोकमें मन वचन कायकी चेष्टा करता हुआ अनेक प्रकारके साधनोंसे सजीव अजीव पदार्थोंका घात करता हुआ कर्मसे वँध जाता है। यहां विचार करो कि कर्म वँधनेका कारण क्या है? क्या वह जीव कार्माणवर्गणाव्याप्त लोकमें स्थित है इस कारण कर्म-बंध हुआ? नहीं क्योंकि अरहंत सिद्ध भी तो ऐसे ही लोकमें हैं, उनके तो कर्मबंध नहीं होता। क्या मन वचन कायकी चेष्टा कर्मबंधका कारण है? नहीं, क्योंकि ग्यारहवें, वारहवें, तेरहवें गुणस्थान वालोंके भी योगचेष्टा है, उनके तो कर्म नहीं बंधता। क्या अनेक उपकरण उसके पास हैं इसलिये कर्म बंध होता है? नहीं, अरहंतदेवके समीप समवसरणादि महान वैभव है, उनके तो बंध नहीं, होता। क्या घात होनेसे कर्म बंध होता है? नहीं, समिति-पूर्वक क्रिया करने वाले मुनि-देहसे सूक्ष्म जन्तु-घात सम्भव है, उनके तो बन्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है, कि इन वाह्य साधनोंसे कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उपयोगमें जो रागादि (स्नेह) को ले जाना है वह कर्मबन्धका कारण है।

जो ज्ञानी रागादिको उपयोगभूमिमें न ले जावे, ज्ञानस्वरूप रहे, वह कर्मसे नहीं वँधता। यहां विशेष यह जानना चाहिये कि रागसे जो वन्ध होता है वह संसारको दृढ़ नहीं करता, किन्तु रागमें राग होनेसे जो बन्ध होता है वह संसारको दृढ़ करता है। विकारमें लगाव होना मोह है, मोह कृतबन्ध संसारको दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीवकी मान्यता परतन्त्रताकी रहती है। अज्ञानीके ऐसे भाव होते हैं कि मैं दूसरोंको मारता हूं, दूसरोंसे मारा जाता हूं, मैं दूसरोंको जिलाता हूं, दूसरोंके द्वारा मैं जिलाया जाता हूं, मैं दूसरोंको सुख दुःख देता हूं, दूसरे मुझे सुख दुःख देते इत्यादि; किन्तु यह सव भाव मिथ्या है। जीवोंका मरण उनके ही आयुकर्मके क्षयसे होता है। जीवोंका जीवन उनके ही आयु-कर्मके उदयसे होता है। सुख-दुख भी उनके ही कर्मके उदयसे होता है। किसी के विकल्पसे किसी अन्य जीवकी परिणति नहीं होती, विकल्प करके प्राणी कर्मवन्ध ही करता है। उन विकल्पोंमें यदि वे विकल्प पापसम्वन्धी हो तो पापका वन्ध होता है। यदि दया व्रत तप आदिके शुभ विकल्प हो तो पुण्यका वन्ध होता है। वाह्य पदार्थ वन्धका कारण नहीं है। बन्धका कारण तो विकल्प है। विकल्पके आश्रयभूत वाह्य पदार्थ हैं।

ज्ञान-स्वभावका अनुभव वन्धका टालनेवाला है; परमार्थभूत ज्ञानभावके आश्रय विना दुर्धर व्रत, तप भी निर्वाणके साधन नहीं होते, किन्तु कर्मबन्धके ही हेतु होते हैं। पर्यायवुद्धि जबतक रहती है तबतक जीव संसारका ही पात्र होता है। मोक्षमार्गकी सिद्धि उस अज्ञानीके कैसे हो सकती है।

है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्योंका केवल स्व स्वकी पर्यायोंसे तादात्म्य है। यहाँ शुद्धसे तात्पर्य परसे भिन्न व स्वके स्वभावमयसे है। पर्याय व शक्तिभेदकी गौणता करके अभेद स्वभावकी दृष्टिमें यह संवेद्य है।

आत्मतत्त्वका व परद्रव्यका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निज-निज सत्तात्मक ही रहता है। इसी कारण आत्मा व परद्रव्यमें कर्तृ-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है। फिर आत्मा परद्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है? और इसी कारण आत्मा परद्रव्यका भोक्ता भी कैसे हो सकता है? जिनके आशयमें पर-द्रव्यका कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाया हुआ है वह सब उनके अज्ञानभावकी महिमा है। जैसे दृष्टि (नेत्र) दृश्यमान पदार्थसे अत्यन्त भिन्न है। वह दृश्य वस्तुको न तो करती है और न भोगती है, केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्निको देखनेसे जल जाना चाहिये, यदि भोगे तो अग्निको देखनेसे नेत्र तप्त व भस्म हो जाना चाहिये। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है वह किसी परपदार्थको न तो करता है और न भोगता है। वह तो तत्वज्ञानके कारण पर पदार्थको अहं व मम रूपसे अनुभव नहीं कर सकनेके कारण केवल जानता है, चाहे बन्ध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो। यहाँ यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि शुद्ध आत्मतत्व अथवा समयसार अभेद शुद्ध चैतन्य स्वभाव है। वह अनादिसे अनन्त काल तक एकस्वरूप है। यही वह सहज सिद्ध भाव है जिसका अवलंबन मोक्ष मार्ग है। यह तो बंध मोक्ष पर्यायसे परे है। इस परम पारिमाणिक भाव स्वरूप समयसारका ध्यान, भावना, दृष्टि, आश्रय और अवलंबन मोक्षमार्ग है। जीवमें यह अनादिसिद्ध भाव है, किन्तु इसकी दृष्टि बिना प्रकृतिस्वभाव (रागादिभाव) में स्थित होकर विपरीताशय होकर यह अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता व कर्मफलका भोक्ता होता है। जब प्रकृति-स्वभावमें व आत्मामें भेदज्ञान करता है तब अकर्ता अभोक्ता हो जाता है।

स्याद्वाद

अब समस्या एक सुलझनेको आ जाती है कि राग-द्वेषादिभावोंका कर्ता कौन है? पुद्गलकर्म तो कर्ता नहीं है क्योंकि पुद्गलकर्म परद्रव्य है। परद्रव्य अन्य—परके गुण पर्यायका न कर्ता हैं और न अधिकारी है। आत्मा भी राग-द्वेषादिका कर्ता नहीं; क्योंकि यदि आत्मा राग-द्वेषादि करे, तो आत्मा तो नित्य है फिर तो आत्मा रागादिका नित्यकर्ता हो जायगा। अतश्च मोक्षका अभाव हो जायगा। रागादिके विषयभूत पदार्थ भी रागादिके कर्ता नहीं। इस प्रकार रागादिका कर्ता न तो आत्मा ही है और न कर्म ही है और न विषय हैं। फिर भी रागादि परिणमन तो होता है। इस समस्याको सुलझानेके अनेकोंने अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु एक सन्धि नियत किए बिना यह समस्या नहीं सुलझती। वह सन्धि है निमित्त-नैमित्तिक भाव। अनित्य कर्मोदयको निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। अनित्य रागादिकका निमित्त पाकर अनित्य कर्मबन्ध होता है। फिर बद्ध अनित्य कर्मोदयका निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। यह परम्परा चलती रहती है, जबतक कि प्रखर भेद-विज्ञान न हो जाय। यहाँ बन्धमें निमित्त आत्म-विभाव है। उपादान कारण कार्माणवर्गणा है तथा रागादिमें निमित्त कर्मोदय है व उपादान—अध्यवसित आत्मा है। निमित्त-नैमित्तिक भावकी इस सन्धिका होना भी अज्ञानकी महिमा है और आत्माका कर्ता भोक्ता बनना भी अज्ञानकी महिमा है।

इस प्रकरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए है कि आत्मा भिन्न वस्तु है और वृत्तियाँ सर्वथा भिन्न वस्तुतत्व है। क्योंकि ऐसा समझनेसे दो प्रकारकी पृथक्-पृथक् विचारधाराएँ बहने लगती है। (१) आत्मा सर्वथा अविकार है। विकार तो किसी अन्यसे है उसे कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं अथवा विकारको प्रकृतिका कार्य कहते हैं। (२) आत्मा कोई एक है ही नहीं, ये वृत्तियाँ ही आत्मा है सो करने वाला और है और भोगने वाला और है। इनपर विचार करना आवश्यक है। जीवका मन चेतन है या अचेतन? यदि चेतन है तो यही तो आत्मस्वरूप है, फिर तो आत्माके नामान्तर ही हुए यदि अचेतन है तो जानने, देखने और विचारने वाले पदार्थको घबड़ाने अथवा कल्याणकी क्या जरूरत? प्रकृति नाम कर्मका है। रागादि विकार यदि प्रकृतिका कार्य है, तो "कारण-सदृशं कार्यं"। इस न्यायसे

अज्ञान भावोंसे परे हूं, शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। इस अनुभवके वलसे चूंकि शुद्धज्ञानकी संचेतना हो रही है अतः पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो जाता है, आगामी कर्मवन्ध रुक जाता है और वर्तमान कर्मविपाक भी विना वेदे निकल जाता है। ज्ञानी जीवके अज्ञानचेतना नहीं है, वह ज्ञानक्रियासे अतिरिक्त अन्यको मैं करता हूँ ऐसी संचेतना रूप कर्म-चेतना नहीं करता। और ज्ञानक्रियासे अतिरिक्त अन्य भावोंको मैं भोगता हूँ ऐसी संचेतनारूप कर्मफल-चेतना भी नहीं करता।

ज्ञानचेतना ही मोक्षका कारण है। ज्ञानके शरीर नहीं है इसलिये शरीरकी प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप कुछ भी भूषा मोक्षका कारण नहीं है। हां यह बात अवश्य है कि ज्ञानचेतनाके उपयोग वाले जीवको इतनी प्रबल ज्ञानाराधना की रुचि होती है, कि रागभाव गये, अब बाह्यमें परिग्रहको कौन संभाले। सो देहका निर्ग्रंथ निष्परिग्रह वेष हो जाता है। फिर भी ज्ञानचेतना ही मोक्षका कारण है, क्योंकि वह आत्माश्रित है। देहलिंग मोक्षका कारण नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है। इसलिये निष्परिग्रह निर्ग्रन्थस्वरूप द्रव्यलिंगसे गुजर कर भी देहलिंगकी ममतासे दूर रहकर एक समयसारका ही अनुभव करना चाहिए। जो समयसारमें स्थित होता है वही सहज उत्तम आनन्दको प्राप्त करता है।

स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार

यह अधिकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि व पूज्य श्री जयसेनाचार्यने स्वतन्त्र रचना द्वारा प्रकट किया है। चूंकि वस्तुकी सिद्धि स्याद्वादसे होती है, अतः ज्ञानमात्र दृष्टिसे देखे गये ज्ञानमात्र आत्माको स्याद्वादसे प्रसिद्ध करके उसका उपयोग करना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होनेके कारण प्रतिक्षण परिणमता ही रहता है। सो यह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य भी प्रति समय परिणमता रहता है। अब इस ही प्रसंगमें ज्ञानमात्र आत्मा दो दृष्टियोंसे देखा जा रहा है—(१) ज्ञानशक्ति द्वारसे निश्चयनय द्वारा, (२) ज्ञानपरिणमन (ज्ञेयाकार) द्वारसे व्यवहारनय द्वारा। पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक होता है। इस कारण सत्त्वका विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियोंसे भी होता है। इस प्रकार दो मौलिक संकेतोंके बाद अब ज्ञानमात्र आत्माको जिन धर्मोंके द्वारसे प्रसिद्ध करना है उन्हें कहते हैं—(१) आत्मा तद्रूप है, (२) आत्मा अतद्रूप है, (३) आत्मा एक है, (४) आत्मा अनेक है, (५) आत्मा द्रव्यतः सत् है, (६) आत्मा द्रव्यतः असत् है, (७) आत्मा क्षेत्रतः सत् है, (८) आत्मा क्षेत्रतः असत् है, (९) आत्मा कालतः सत् है, (१०) आत्मा कालतः असत् है, (११) आत्मा भावतः सत् है, (१२) आत्मा भावतः असत् है, (१३) आत्मा नित्य है, (१४) आत्मा अनित्य है, (१५) आत्मा अभेदात्मक है, (१६) आत्मा भेदात्मक है।

(१-२) आत्मा ज्ञानशक्तिसे तद्रूप है व ज्ञेयाकार परिणमनसे अतद्रूप है, क्योंकि ज्ञेयाकार परिणमन व्यतिरेकी परिणमन है, अथवा ज्ञानमात्र आत्मा स्ववस्तुरूपसे तद्रूप है व परवस्तुरूपसे अतद्रूप है। मैं ज्ञायकतासे भी शून्य हूं, ऐसा अथवा सर्व वस्तुओंसे भी तद्रूप हूं ऐसा नहीं मानना।

(३-४) ज्ञानमात्र आत्मा अखण्ड एक ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है, ज्ञेयाकार मुझमें नहीं है ऐसा यह ज्ञेयाकार मात्र हूं, ऐसा नहीं मानना।

(५-६) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षासे सत् है व गुण-पर्याय-रूप द्रव्यविभागकी अपेक्षा असत् है अथवा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्यकी अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही परद्रव्यरूप है व परद्रव्य सब ही मैं ज्ञाता द्रव्य हूं ऐसा नहीं मानना।

(७-८) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकारक्षेत्रसे सत् है वह ज्ञेयाकारक्षेत्रसे असत् है, अथवा स्वक्षेत्रसे सत् है व ज्ञेयभूत परवस्तुके क्षेत्रसे असत् है। परक्षेत्रगत ज्ञेयार्थपरिणमनसे ही मैं हूं, ऐसा व ज्ञेयाकारका मुझ में सर्वथा त्याग है ऐसा नहीं मानना।

(९-१०) ज्ञानमात्र आत्मा काल-पर्यायसामान्यसे सत् है व काल-विशेषसे असत् है, अथवा स्वपर्यायसे सत्

ा व जन्म-परम्परा चलती ही रहती है। अंतः यह बात सुयुक्त है कि प्रकृति व पुरुष का भेदविज्ञान कर लेनेसे ही
ा एवं जन्म-परम्परासे मुक्ति हो सकती है।

समयसारस्वरूप आत्मद्रव्य नित्य होनेपर भी इसकी परिणतियां प्रतिक्षण होती ही रहती हैं। आत्माका
ा लक्षण ज्ञान है। ज्ञानस्वभावकी भी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं। हम लोगोंकी ज्ञानपरिणतियोंका नाम
ावृत्ति है। ये चित्तवृत्तियां क्षणिक हैं। ये आत्मस्वरूप नहीं हैं। आत्मद्रव्यकी क्षणिक परिणतियां हैं। उन्हें ही
आत्मद्रव्य समझते हैं वे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा रागी-द्वेषी होकर दुखी होते हैं। जो चित्तवृत्तियोंको गौण कर
अविकार समयसार (शुद्ध आत्मतत्व) को अनुभवते हैं, वे दुःखोसे मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करते हैं। अतः यह बात
क्त है कि क्षणिक चित्तवृत्तियोंमें आत्माका भ्रम समाप्त कर देनेसे ही निर्वाण प्राप्त हो सकता।

परम-शुद्ध-निश्चयसे देखा गया समयसार तत्त्व शाश्वत अविकार है। इस तत्त्वकी विकारीरूपमें उपलब्धि
नेकी जब तक प्रकृति रहती है तब तक वह जीव दुखी है। जब निरपेक्ष निज चैतन्य स्वभावकी द्रव्यशुद्धिमें उपलब्धि
विकारभ्रमको समाप्त कर देता है तब आत्मा शांतिका अनुभव करता है। अतः यह निश्चित है कि विकारोंसे
बन्ध न होनेसे जीव शांति प्राप्त कर सकता है।

समयसारकी उपलब्धि न होनेके कारण जीवका उपयोग विरुद्ध कर्मो (दुष्कर्मो) में भ्रमण करता रहता है।
र इन्हीं दुष्कर्मोसे ही जीव सांसारिक यातनाएँ सहता है। उनसे मुक्ति पानेका उपाय समयसारकी दृष्टि है और
ी निश्चयतः सत्कर्म है। तथा जबतक जीव समयसारकी निश्चल अनुभूतिमें नहीं रह पाता, तबतक इस अशान्ति-
उपयोग दुष्कर्म न उठा लें; इसलिये दुष्कर्मसे बचनेके अभिप्रायसे व्यावहारिक सत्कर्मकी प्रवृत्ति होती है। अतः यह
त सुयुक्त है कि सांसारिक यातनाओंके कारणभूत दुष्कर्मोसे मुक्ति पाना सत्कर्मसे ही सम्भव है।

निर्विकल्प समयसारका परिचय जब तक जीवको नहीं है, वह विविध विकल्पोंमें ही उपयुक्त रहकर संसारका
रिभ्रमण करता रहता है। विकल्पोंसे होने वाली भटकनकी निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञानपरिणमनसे ही सम्भव है। अतः
ह बात भी सुयुक्तिक है कि संसार-परिभ्रमणकी निवृत्ति निर्विकल्प समाधिसे ही हो सकती है। निर्विकल्प समाधि
मयसारके आलम्बनमें होती है।

इस प्रकार अनेकों दार्शनिक इस समयसारमें ही सन्तोष पाते हैं। उनके उद्देश्यकी पूर्णता भी इसी समयसार-
होती है। हे आत्मन्! ऐसा अद्भुत विलक्षण, अलौकिक सारभूत परमब्रह्मस्वरूप समयसार हस्तगत हुआ है, हाथ
ाया है तो इसकी अनवरत दृष्टि रखकर निर्दोष होते हुए तुम सहज आनन्दका अनुभव करो।

ओ३म् शुद्धं चिदस्मि ! "शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।"

समयसारकी महिमा अपूर्व है। इसका वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। इसके शुद्ध अनुभवमें ही महिमा-
ी अनुभूति होती है। जिनका परिणमन समयसारके पूर्ण अविरुद्ध हो गया है अर्थात् समस्त आत्म-गुणोंका पूर्ण शुद्ध
वकास हो गया है, ऐसे देवाधिदेव परमात्माको और जो आत्म-गुणोंके शुद्ध विकासमें चल रहे हैं ऐसे गुरुओंको नमस्कार
रता हूं, अर्थात् सर्वपरमेष्ठियोंको नमस्कार करता हूं, जिनके स्वरूपचिन्तन व परम्पराप्राप्त उपकारोंसे मैं धर्ममार्गमें
पकृत हुआ हूं।

समयसार ग्रन्थके मूल रचयिता पूज्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यको नमस्कार करता हूं। समयसार गाथाओंके
ार्दको आत्मख्याति टीकाद्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरिको नमस्कार करता हूं। समयसारगाथाओंके
ब्दानुसार भाव एवं तात्पर्यको तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमज्जयसेनाचार्यको नमस्कार करता हूं
जनकी रचनाओंके आधारपर शान्ति मार्ग-प्रत्यय हुआ। अतः गृहवास छोड़कर व्रत-प्रतिमा ग्रहण करने के अनन्तर ही
न् १९४३ में आत्म-शान्तिके मार्गपर चलने का अधिक भाव हुआ। उस समय समयसारके मनन करनेका परिणाम

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

१—श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ।

२—श्रीमती फूलमाला देवी ध० प० श्री महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ।

३—श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी जैन सर्राफ, सोनीपत।

४—श्री ला० लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर।

श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर के संरक्षक

१—श्रीमती राजो देवी ध० प० श्री जुगमंदरदास जी जैन आड़ती, सरधना।

२—श्रीमती सरला जी ध० प० श्री ओमप्रकाश जी जैन, सरधना।

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे, तेरी भक्ती में क्षण जाँय सारे ।।टेक।।

ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो।
भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ती में···।।१।।

सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ती में···।।२।।

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई।
मेरे संकट हरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ती में···।।३।।

देह कर्मादि सब जग से न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे।
नित्य अन्तः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ती में···।।४।।

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ती में···।।५।।

वस्तुकी जानकारी कराते हैं, किन्तु ऋजुसूत्र नय पर्यायदृष्टिकी मुख्यतासे वस्तुकी जानकारी कराता है। शब्दनय, समभिरूढ़ नय व एवंभूत नय भी कराते तो जानकारी हैं पर्यायदृष्टिसे वस्तुकी, लेकिन शब्दकी मुख्यतासे जानकारी कराते हैं। अतः इन तीन अन्तिम नयोंको शब्दनय कहते हैं। अब सर्वप्रथम इन सात नयोंकी जानकारी कीजिये।

पाठ ३—द्रव्यार्थिक नैगमनय

संकल्पमात्रग्राही नैगमः। जो संकल्पको ग्रहण करे (जाने) वह नैगमनय है। नैगमनयमें अभेद व भेद दोनों विषय पड़े हैं। नैगमनय ३ प्रकारका होता है (१) भूतनैगमनय, (२) भाविनैगमनय, (३) वर्तमाननैगमनय। अतीतमें वर्तमानका आरोपण करना भूतनैगमनय है, जैसे कहना कि आज दीपावली के दिन श्री वर्द्धमान स्वामी मोक्षको गये है। यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसमें संकल्पकी मुख्यता है। भविष्य के बारेमें अतीतकी तरह कहना भावि-नैगमनय है, जैसे कहना कि अर्हन्त तो सिद्ध ही हो चुके। यहाँ भी संकल्प की प्रधानता है। करनेके लिए प्रारम्भ किये गये कुछ निष्पन्न व अनिष्पन्न वस्तुको निष्पन्नकी तरह जहाँ कहा जाता है वह वर्तमाननैगमनय है, जैसे कहना कि भात (चावल) पक रहा है।

ये सभी नैगम नय संकल्पमें होनेवाले ज्ञान है। यहाँ द्रव्य पर्याय, भेद अभेद, सत् असत् का समन्वयपूर्वक ज्ञान चल रहा है जो संकल्पमात्र है। अतः नैगमनय ज्ञाननय है। अर्थनय नैगमनयसे सूक्ष्मविषयरूप है। अर्थनयोंमें महाविषयरूप संग्रहनय है। संग्रहनयसे सूक्ष्मविषयी व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय है, इससे सूक्ष्मविषयी ऋजुसूत्र-नयनामक पर्यायार्थिक नय है।

पाठ ४—द्रव्यार्थिक संग्रहनय

संग्रहनयसे अनेक वस्तुओंका संग्रह जाना जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमात्र है। वह अखण्ड सत् है, निश्चयनय द्वारा ज्ञेय है। ऐसे अनन्त सतों का, सर्व सतों का संग्रह किसी साधारण धर्मकी मुख्यताकी दृष्टि होनेपर ज्ञात हो जाता है। जैसे सत् इस दृष्टिमें सर्व सत् पदार्थोका संग्रह ज्ञात हो गया। इस सर्वसंग्रहका ज्ञान करनेवाले ज्ञानको परमसंग्रहनय कहते हैं। इस संग्रहमें अनन्त परमार्थोका संग्रह है, यह ज्ञान तो हुआ संग्रहनयसे, किन्तु जब तक एक अखण्ड सत् पर दृष्टि नहीं बनती तब तक केवलदृष्टि याने शुद्धनय न आ सकनेसे मोक्षपथमें गति नहीं हो पाती, अतः आवश्यक है कि परमसंग्रहको भेद करके आवान्तरसत् की ओर बढें। इसके लिये आगे कहा जानेवाला व्यवहार-नयनामक द्रव्यार्थिक नय प्रयोक्ता होता है। उसमें पहली बार भेद किया तो कुछ विभक्त होनेपर भी संग्रह ही बना रहा। ऐसा संग्रह जाननेवालेको अपरसंग्रह नय कहते हैं, यहाँ भी परामर्थ सतों का संग्रह ही रहा। ऐसे अनेक बार व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयसे विभाग करते जानेपर भी जब तक अखण्ड एक सत् नहीं ज्ञात हो पाता है तब तक अनेकों अपरसंग्रह नय होते जाते हैं। इसका प्रथम प्रकार है—(४) परसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय। द्वितीय प्रकार है (५) अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय। इसमें अभेद द्रव्य, शुद्धपर्यायी द्रव्य, अशुद्धपर्यायी द्रव्यका ज्ञानाशय होनेसे इसके ३ भेद हो जाते हैं, (६) परमशुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय (७) शुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय (८) अशुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिक नय।

पाठ ५—द्रव्यार्थिक व्यवहारनय

संग्रहनयसे ग्रहण किये गये पदार्थोके संग्रहका भेद करके भेदरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानको व्यवहारनय कहते हैं। यह व्यवहारनय अनेक अखण्ड सतोंके संग्रहमें से अखण्डोंको अलग-अलग जाननेके प्रयत्नमें चलता है। सो परसंग्रहका भेद करके कुछ अलग-अलग जातियोंमें विभक्त कर जानना परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय है। फिर उनमें भी भेद करके विभक्त सारूप्यमें पदार्थोको जानता जाये तो वे सब अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय कहलाते हैं। जैसे—पहिले "सत्" परसंग्रहको भेद करके छह जातियोंमें लाये—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य, तो यह परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय कहलाया। फिर उनमें से मानो

स्वचतुष्टयसे है। (२९) परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकनय, जैसे—आत्मा परचतुष्टयसे नही है। (३०) परमभावग्राहक जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

इस प्रकार १८ रूपोंमें निश्चयनय आया, तो भी एकके सामने दूसरोंकी तुलना होनेपर उनमें जो अधिक अभेदवाला निश्चयनय है उसके सामने अन्य निश्चय व्यवहार कहलाते है।

पाठ ८—पर्यायाथक अर्थनय

पर्यायार्थिकनय ४ हैं—ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय। इनमे से सिर्फ ऋजुसूत्रनय अर्थनय है, शेष ३ नय शब्दनय है। जो वर्तमानपर्यायको जाने उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। यहाँ यह जान लेना अत्यावश्यक है कि पर्याय स्वतंत्र सत् नही है याने सत् नही है, किन्तु सत् पदार्थका परिणमन है। सत् के ये लक्षण है—(१) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, (२) गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, (३) अन्य सतोंसे प्रविभक्त (पृथक्) प्रदेशवाला, (४) साधारण व असाधारण गुणवाला, (५) द्रव्यव्यञ्जनपर्याय व गुणव्यञ्जनपर्यायवाला। इन लक्षणोमें से एक भी लक्षण पर्यायमें नही है, अतः पर्याय सत् नही है। फिर यह प्रश्न हो सकता है कि जब पर्याय सत् नही है, तो उसका ज्ञान कैसे हो, सत् ही तो प्रमेय होता है। उत्तर—पर्यायका ज्ञान नही हुआ करता, किन्तु पर्यायमुखेन सत् द्रव्यका ज्ञान हुआ करता है। ऋजुसूत्रनय द्वारा पर्यायमुखेन द्रव्य सत् का ज्ञान होता है। हां, पर्यायकी मुख्यता दृष्टिमें है। जिनके मतमें पर्याय स्वतन्त्र सत् है उनके मतमें पर्याय ही पूरा पदार्थ हो जाता है, फिर उसका अन्वय व उपादान कुछ न रहनेसे सर्वथा क्षणिकवाद बन जाता है, जो जैनशासनसे विपरीत है, जिसका निराकरण प्रमेयकमलमार्तण्ड अष्टसहस्री आदि दार्शनिक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय एक समयकी पर्याय है। यह ज्ञान किसी व्यवहार या प्रयोग बनानेके लिये नहीं, इस ज्ञानमें तो व्यवहारका लोप होता है। यह तो विषयज्ञान कराने मात्रके लिये है। ऐसा स्पष्ट कथन सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें आचार्यदेवोंने किया है।

ऋजुसूत्रनयके प्रकार इस प्रकार हैं—(३१) अशुद्ध स्थूल ऋजुसूनयनामक पर्यायार्थिकनय, जैसे—नर नारक आदि पर्याय याने विभावद्रव्यव्यञ्जन-पर्यायों का परिचय। (३२) शुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे चरमशरीरसे कुछ न्यून आकारवाला सिद्ध पर्याय याने स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायोंका परिचय। (३३) अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे—कोध आदि विभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का परिचय। (३४) शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे-केवलज्ञान आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायों का परिचय। (५) अनादि नित्य पर्यायार्थिकनय जैसे—मेरु आदि नित्य हैं इत्यादि परिचय। (३६) सादि नित्य पर्यायार्थिकनय, जैसे—सिद्ध पर्याय नित्य है। अशुद्ध पर्याय हटकर सदा शुद्ध रहने वाले पर्यायोंका परिचय। (३७) सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे प्रतिसमय पर्याय विनाशीक है आदि परिचय। (३८) सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे-एक समयमें हुए त्रयात्मक पर्यायों का परिचय। (३९) उपाधिनिरपेक्ष नित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे—सिद्धपर्यायसदृश संसारियोंकी शुद्ध पर्यायें। (४०) उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय, जैसे—संसारी जीवोके उत्पत्ति और मरण है।

पाठ ९—शब्दनय

शब्दनयके ३ प्रकार है, (४१) शब्दनय, (४२) समभिरूढ़नय, (४३) एवंभूतनय। ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनयसे जो परिणमन ज्ञात हुआ है उसे उसके प्रायः पर्यायवाची सब शब्दोंमें से न कहकर जो शब्दार्थादिविधिसे पूर्ण फिट बैठे उस शब्दसे ही कहना (समझना) शब्दनय है। जैसे दारा भार्या कलत्र आदि शब्दोंसे भिन्न-भिन्न रूपमें वाच्यको ग्रहण करना। शब्दनयसे उस शब्दके वाच्य अनेक अर्थोमें से जिस अर्थमें उस शब्दकी रूढ़ि है उस अर्थको ही उस शब्दसे ग्रहण करना (समझना) समभिरूढनय है। जैसे-गो शब्दके वाच्य गाय, किरण, वाणी, आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु गो शब्दकी रूढ़ि गायमें होनेसे गो शब्दसे गायको ही ग्रहण करना (समझना)। समभिरूढनयसे जो अर्थ समझा उसको भी सभी समयमें न कहकर (समझ कर) उस शब्दकी वाच्य अर्थक्रियासे परिणत जब

व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयसे भिन्न लक्षणवाला है तथा यह व्यवहारनय व्यवहार और उपचार से तो जुदा है ही।

पाठ १२—व्यवहार व उपचारके प्रसंगकी जिज्ञासाका समाधान

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनयसे, निश्चयनय व व्यवहारनयसे जाने गये विषयका निरूपण करना व्यवहार है। यह व्यवहार व्यवहारनय व व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय इन दोनोंके विषयका भी निरूपक है तो भी यह व्यवहार व्यवहारनयसे भिन्नलक्षणवाला है तथैव वह व्यवहार व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयसे भी भिन्नलक्षणवाला है। उपचारसे व्यवहार तो भिन्न है ही, क्योंकि उपचार तो भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें परस्पर कारकपना या सम्बन्ध बताता है, और व्यवहार भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें परस्पर कारकपना या सम्बन्ध नहीं बताता, किन्तु एक ही द्रव्यकी व अनेक द्रव्योंकी घटनाका तथ्य बताता है। इसी कारण उपचार मिथ्या है, परन्तु व्यवहार मिथ्या नहीं। यहाँ दो बातें ज्ञातव्य हैं—१-व्यवहार शब्दका प्रयोग इन ४ स्थलोंमें आता है, व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, व्यवहारनय, व्यवहार व उपचार सो वहाँ यह विवेक बनाना चाहिये कि यदि वह व्यवहार उपचारवाला है तो मिथ्या है और यदि द्रव्यार्थिकनयान्तर्गत व्यवहारनयवाला व्यवहार है तो मिथ्या नहीं, इसी तरह जो नयके विषयका प्रतिपादक व्यवहार है वह मिथ्या नहीं। २-उपचारमें भी जिस भाषामें वह बात उपस्थित करता है उसी रूपमें याने उपादान उपादेय रूपमें भिन्न द्रव्योंका परस्पर कारकत्व समझें तो वह समझ मिथ्या है और यदि उपचार कथनमें प्रयोजन और निमित्तको समझनेका ही मतलब रखें तो उस विवेकीने उपचार कथनमें से भी प्रयोजन निकाल लिया।

पाठ १३—निश्चयनयके प्रकार

अभेदविधिसे एक द्रव्यके बारे में जानकारी होना सो निश्चयनय है (४४) यदि वह जानकारी अखण्ड परम स्वभावकी है तो अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय है—जैसे अखण्ड शाश्वत सहजचैतन्यस्वभावमात्र आत्माका परिचय। (४५) यदि यह जानकारी गुणकी है तो शक्तिबोधक परमशुद्धनिश्चयनय है, जैसे आत्मा सहज ज्ञान दर्शन शक्ति वीर्य वाला है। (४६) यदि वह जानकारी अभेदविधिसे शुद्ध पर्यायकी है तो वह शुद्धनिश्चयनय है। जैसे जीव केवलज्ञानी है आदि शुद्धपर्यायमय जीवका परिचय। (४६ए) यदि एक द्रव्यमें जानकारी अभेद विधिसे शुद्ध पर्यायकी है तो वह सभेद शुद्धनिश्चयनय है जैसे-जीवके केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्त सुख है आदि। (४७) यदि एक द्रव्यमें जानकारी अभेद विधिसे अशुद्धपर्यायकी है तो वह अशुद्धनिश्चयनय है, जैसे जीव रागी है आदि अशुद्ध पर्यायमय द्रव्यका परिचय। (४७ए) यदि एकद्रव्यका परिचय भेदविधिसे अशुद्धपर्यायकी है तो वह सभेद अशुद्धनिश्चयनय है, जैसे जीवके क्रोध है, मान है, माया है आदि भेदसहित अशुद्धपर्यायमय द्रव्यका परिचय। सभेद परम शुद्धनिश्चयनय शाश्वत गुणको जाननेके लिये निश्चयनय है और गुणभेद करके जनानेकी दृष्टिसे व्यवहारनय है। इसी प्रकार सभेद शुद्धनिश्चयनय एक द्रव्यमें जानकारी देनेसे निश्चयनय है और भेदपूर्वक जानकारी देने से व्यवहारनय है। इसी प्रकार सभेद अशुद्ध निश्चयनय एक द्रव्यमें जानकारी देनेसे निश्चनय है और भेदपूर्वक जानकारी देनेसे व्यवहारनय है। वस्तुतः अखण्ड परमशुद्धनिश्चय ही निश्चयनय है उसके समक्ष अन्य निश्चयनय व्यवहार है।

निर्गतः चयः यस्मात् स निश्चयः इस व्युत्पत्तिसे अर्थ हुआ कि जिसमें अन्य कुछ जोड़ा न जावे और निःशेषेण चयः निश्चयः इस व्युत्पत्तिसे अर्थ हुआ कि जिसमेंसे कुछ निकाला न जाये उसे परिपूर्ण ही रहने दिया जावे। इस प्रकार निश्चयका अर्थ हुआ कि जहाँ जोड़ और तोड़ न किया जावे वह निश्चयनय है। इस व्युत्पत्यर्थ में परमशुद्ध-निश्चयनय सदा निश्चयनय है और जिन निश्चयनयोंने गुणको जाना, पर्यायको जाना वे उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टि होनेपर व्यवहार हो जाते हैं।

उक्त चारों निश्चयनयोंमें पहिले दो तो अन्तिम व्यवहारनवनामक द्रव्यार्थिकनयमें अन्तर्गत है। अन्तके दो निश्चयनय आशयवश उक्त द्रव्यार्थिकनयमें व पर्यायार्थिकनयमें अन्तर्गत हैं। इसका निर्देश अन्तिम पाठमें नयसूची में दिया जायेगा।

पाठ १६—व्यवहार

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनयसे तथा उनके अन्तर्गत निश्चयनय व व्यवहारनयसे जाने गये विषयका कथन करना सो व्यवहार है याने तथ्यके कथनका नाम व्यवहार है। इसका दूसरा नाम उपनय है। जितने भी नय हैं उनका कथन किया जाय तो उतने ही व्यवहार हो जाते हैं। अतः उन व्यवहारोंके नाम भी वे ही पड़ जाते हैं, उनके अन्तमें निरूपक व्यवहार इतना शब्द और जोड़ दिया जाता है। फिर भी कई नाम व्यवहारके ऐसे हैं जिनके शब्दों से ही कथनप्रकारके हेतुवोंका निर्देश हो जाता है। अतः कुछ व्यवहारोंके नाम दिये जाते हैं।

(६२) भूतनैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे-भूतकालीन स्थितिको वर्तमानकालमें जोड़नेके संकल्पका घटना-सम्बन्धित प्रतिपादन। (६३) भाविनैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे-भविष्यत्कालीन स्थितिको वर्तमानमें जोड़नेके संकल्पका घटनासम्बन्धित प्रतिपादन। (६४) वर्तमाननैगमप्रतिपादक व्यवहार, जैसे वर्तमान निष्पन्न अनिष्पन्नको निष्पन्नवत् संकल्पका प्रपिपादन। (६५) परसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे 'सत्' कहकर समस्त जीव पुद्गलादिक सतोंके संग्रहका प्रतिपादन करना। (६६) अपरसंग्रहद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सत् को भेद कर कहे गये जीव व अजीवमें से जीव कहकर समस्त जीवोंके संग्रहका प्रतिपादन करना। (६६A) परमशुद्ध अपरसंग्रह-द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे 'ब्रह्म' कहकर सर्व जीवोंमें कारण समयसारका प्रतिपादन करना। (६६B) शुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे मुक्त जीव कहकर समस्त कर्ममुक्त सिद्ध भगवंतोंका प्रतिपादन करना। (६६ C) अशुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीव कहकर समस्त संसारी जीवोंका प्रतिपादन करना। (६७) परमसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सत् २ प्रकार के हैं जीव अजीव आदि यों परसंग्रहको भेदनेका प्रतिपादन। (६८) अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव २ प्रकार के हैं मुक्त संसारी आदि यों अपरसंग्रहको भेदनेका प्रतिपादन। (६८A) अन्तिम अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे द्व्यणुक स्कंध भेद कर एक-एक अणुका प्रतिपादन। (६८B) अन्तिम-अखण्डसूचक व्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे एक अणु, एक जीव आदि अखण्ड सत् का प्रतिपादन। (६९) अखण्ड परमशुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे अनाद्यनन्त अहेतुक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका प्रतिपादन। (६९A) गुणगुणिनिरूपक परमशुद्ध-सद्भूत-व्यवहार, जैसे आत्माका स्वरूप सहज चैतन्य है आदि प्रतिपादन। (७०) सगुण परमशुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्माके सहज अनादि अनन्त चतुष्टयका प्रतिपादन। (७०A) प्रतिषेधक शुद्धनय प्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव पुद्गलकर्मका अकर्ता है आदि कथन। (७१) अभेद शुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे शुद्ध पर्यायमय आत्माका प्रतिपादन। (७२) सभेद शुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्माके केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि शुद्ध पर्यायवान आत्मा का प्रतिपादन। (७३) कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहार, जैसे आत्माको जानता है आदि एक ही पदार्थमें कर्ता कर्म आदि कारकोंका कथन। (७४) अनुपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे श्रेणीगत मुनिके रागादिक विकारका प्रतिपादन। (७) उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार, जैसे जीवके व्यक्त क्रोध मान आदि अशुद्ध पर्यायोंका प्रतिपादन। (७६) उपाधि-सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे पुद्गलकर्मविपाकका निमित्त पाकर हुये विकृत जीवका प्रतिपादन। (७७) उपचरित उपाधिसापेक्ष अशुद्ध प्रतिपादक व्यवहार, जैसे विषयभूत पदार्थमें उपयोग देनेपर हुये व्यक्त विकारका कथन। (७८) उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीव सिद्धसदृश शुद्धात्मा है का प्रतिपादन। (७९) उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे ध्रौव्यत्वकी मुख्यतासे द्रव्यके नित्यत्वका प्रतिपादन। (८०) भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे निज गुण पर्यायसे अभिन्न द्रव्य है आदि का प्रतिपादन। (८१) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे प्रत्येक द्रव्य ध्रुव होकर भी उत्पाद व्यय वाला है आदि कथन। (८२) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे आत्माके ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि गुण हैं आदि कथन। (८३) अन्वय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे द्रव्य सदैव

स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, आत्मा भी गुण है आदि कथन। (११५) एकजातिगुणे अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान गुण ही सकल द्रव्य है आदि कथन। (११६) स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार जैसे द्रव्यके रूपको ही द्रव्य कहना, रूप परमाणु आदि। (११७) एकजातिगुणे अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान ही धन है आदि कथन। (११८) स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान पर्याय है आदि कथन। (११९) एक जातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे शरीरको ही जीव कहना। (१२०) स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे पृथ्वी आदि पुद्गल स्कन्धको द्रव्य कह देना। (१२१) एकजातिपर्याये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार; । जैसे पशु पक्षी आदिके शरीर को देखकर यह जीव है आदि कथन करना। (१२२) स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे अहिंसाको गुण व विशिष्ट रूपको देखकर उत्तम रूप वाला कहना। (१२३) संश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह परमाणु इस स्कंधका है आदिकथन। (१२४) असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे ये पुत्र स्त्री आदि इस जीवके हैं आदि कथन। (१२५) संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह शरीर इस जीव का है, आदि कथन। (१२६) असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह धन वैभव मेरा है आदि कथन। (१२७) संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह आभूषणसज्जित कन्या मेरी है आदि कथन। (१२८) असंश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे यह ग्राम नगर मेरा है आदि कथन। (१२९) परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे पुदगल कर्मने जीवको रागी कर दिया आदि कथन। (१२९ए) परभोक्तृत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव पुद्गलकर्मको भोगता है आदि कथन। (१२९बी) परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव घट पट आदिका कर्ता है आदि कथन। (१३०) परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीवके द्वारा ये पुण्य पाप बनाये गये आदि कथन। (१३१) परकरणत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव कषाय भावके द्वारा पौद्गलिक कर्मोको बनाता है आदि कथन। (१३२) परसंप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे पिताने पुत्रके लिये मकान बनाया आदि कथन। (१३३) परापादनत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीवसे इतने कर्म झड़कर अलग हो गये आदि कथन। (१३४) पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार, जैसे जीवमें कर्म ठसाठस भरे हुये हैं आदि कथन। (१३५) परस्वामित्व असद्भूत व्यवहार जैसे मेरा यह धन वैभव शरीर आदि है का कथन। (१३६) स्वजातिकारणे स्वजातिकार्योपचारक व्यवहार, जैसे हिंसा आदिक दुःख ही है, आदि का प्रतिपादन। (१३७) एकजातिकारणे अन्यजातिकार्योपचारक व्यवहार, जैसे अन्न धन प्राण है आदि कथन। (१३८) स्वजातिकार्ये स्वजातिकारणोपचारक व्यवहार, जैसे श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान है आदि कथन। (१३९) एक जातिकार्ये अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार, जैसे घटाकारपरिणत ज्ञान घट है आदि कथन। (१४०) एकजात्यल्पे अन्यजातिपूर्णोपचारक व्यवहार, जैसे राज घरानेमें यह नौकर सर्वव्यापक है आदि कथन। (१४१) स्वजात्यल्पे स्वजातिपूर्णोपचारक व्यवहार, जैसे सम्यक् मतिज्ञान केवल ज्ञान है आदि कथन। (१४२) एक जात्याधारे अन्यजात्याधेयोपोचारक व्यवहार, जैसे मंचपर बैठकर विद्वान प्रवचन करें तो कहना कि इस मंचने वड़े प्रवचन किये। (१४३) स्वजात्याधारे स्वजात्याधेयोपचारक व्यवहार, जैसे इस गुरुके उदरमें हजारों शिष्य पड़े हैं। (१४४) एक जात्याधेये अन्यजात्याधारोपचारक व्यवहार, जैसे डलियामें केला रखकर बेचने वालेको केला कहकर पुकारना। (१४५) स्वजात्याधेये स्वजात्याधारोपचारक व्यवहार जैसे मौजसे माँ की गोदमें बैठे हुये बालकका नाम लेकर मांको पुकारना। (१४६) तद्वति तदुपचारक व्यवहार, जैसे लाठीवाले पुरुपको लाठी कहकर पुकारना। (१४७) अतिसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार, जैसे चरम (अन्तिम) भवसे पूर्व के मनुष्य भवको भी चरम कहन। (१४८) भाविनि भूतोपचारक व्यवहार, जैसे ८ वें गुणस्थान में औपशमिक या क्षायिक भाव कहना। (४९) तत्सदृशकारणे तदुपचारक व्यवहार, जैसे कर्मोदयजनित विकार इस जीवके लिये शल्य है। (१५०) सदृशे एकत्वोपचारक व्यवहार, जैसे गेहूं दानोंके ढेरको गेहूं एक वचन कहकर कहना। (१५१) आश्रये आश्रयी-उपचारक व्यवहार जैसे राजा प्रजाके गुण दोषोंको उत्पन्न करता है, आदि कथन।

समझ लेनेसे नयदृष्टिका प्रयोग व आत्महितके लिये आत्मप्रयोग सही होगा। जैसे दूध गाय, भैंस, बकरीके दूधको कहते हैं और आकके पेड़से निकले सफेद रसको भी दूध कहते हैं, आकका दूध पीनेसे मरण हो जाता है तो आकके दूध का उदाहरण देकर सर्वथा यह कहना कि दूध प्राणघातक है यह क्या युक्त है व ऐसी श्रद्धासे जीवन चलेगा क्या! हाँ वहाँ जो विवेक करेगा कि आकका दूध घातक है गाय भैंस आदिका दूध घातक नहीं, बल्कि पोषक है वह अपना जीवनमें सही प्रयोग करेगा।

पाठ २१-स्वतन्त्र सत्त्व व अतद् भावका विवेक

वस्तु द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे व पर्यायरूपसे ज्ञेय होता है। वहाँ द्रव्यका लक्षण अन्य है, गुणका लक्षण अन्य है, पर्यायका लक्षण अन्य है। गुणोंमें भी प्रत्येक गुणका लक्षण अन्य-अन्य है। पर्यायोंमें भी प्रत्येक पर्यायका लक्षण अन्य अन्य है। इनका वर्णन करते हुए अपना कौशल बतानेके लिये यदि कोई यों कहने लगे कि प्रत्येक गुण स्वतन्त्र सत् है, प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र सत् है, गुण स्वतन्त्र सत् है पर्याय स्वतन्त्र सत् है, तो यह सब कथन स्याद्वादशासनसे बहिर्भूत है। पर्याय स्वतन्त्र सत् नहीं इसका संक्षिप्त निरूपण ८ वें पाठमें है। गुण स्वतन्त्र सत् नहीं इसका अब यहाँ विचार कीजिये।

जो स्वतन्त्र सत् याने सत् होता है उसके ये लक्षण हैं—१-उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् २-गुणपर्यायवद्द्रव्यं ३-प्रविभक्तप्रदेशत्व, ४-साधारणगुण वाला, ५-असाधारणगुणवाला, ६-द्रव्यव्यजनपर्यायवाला, ७-गुणव्यज्जनपर्यायवाला। गुणमें ये सातों ही बातें नहीं पाई जाती हैं। गुण उत्पादव्यय वाला नहीं है, गुणमें गुण होते नहीं हैं, क्योंकि गुण निर्गुण हैं, 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:', गुणोंके प्रदेश द्रव्य व पर्यायसे भिन्न नहीं है। गुणोंका आकार नहीं होता। अतः सातों बातें ही गुणमें नहीं हैं।

गुण और पर्याय सद्भूतद्रव्यकी तारीफ है। इस तारीफको समझनेके लिये इनका लक्षण जानना होता है। सो लक्षणभेदसे गुण व पर्यायोंका विशिष्ट परिचय होता है। यों द्रव्य, गुण, पर्यायमें, व परस्पर सब गुणोंमें, परस्पर सब पर्यायोंमें अतद्भाव है, किन्तु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्त्व नहीं है। हाँ वस्तुको द्रव्य कहते हैं सो द्रव्यको स्वतन्त्र सत् कह सकते हैं। गुणोंको व पर्यायको स्वतन्त्र सत् कहना मीमांसकोंका सिद्धान्त है।

इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायके सम्बन्ध में सही जानकारी होनेपर नयोंका प्रयोग व आत्महितके लिये आत्म-प्रयोग सही होता है।

पाठ २२-दृष्टि सूची

ज्ञाननय (नैगमनय द्रव्यार्थिक)

१. भूतनैगम नय (जैसे आज दीपावलिके दिन वर्धमान स्वामी मोक्ष गये इस प्रकार वर्तमानमें भूतका प्रकाश)।
२. भाविनैगमनय (जैसे अर्हन्त तो सिद्ध हो ही चुके इसप्रकार वर्तमान में भावीका प्रकाश)।
३. वर्तमान नैगमनय (जैसे भात पक रहा है, आदि इसप्रकार निष्पन्न व अनिष्पन्नका वर्तमानमें निष्पन्नवत् प्रकाश।

संग्रहनय द्रव्यार्थिकनय

४. परसंग्रहनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-सत्, सत् में सबका संग्रह है, क्योंकि चेतन अचेतन सभी पदार्थ सत्स्वरूप हैं)
५. अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-जीव। जीवमें जीवोंके सिवाय अन्यका संग्रह नहीं)
६. परमशुद्ध अपरसंग्रहनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-ब्रह्मस्वरूप आत्मा, जिसके एकान्तमें सांख्यादिसिद्धान्त हो जाते हैं)
७. शुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-मुक्त जीव, इसमें अतीत अनागत वर्तमान सर्व सिद्धोंका संग्रह है)
८. अशुद्ध अपरसंग्रहनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-संसारी जीव, इसमें त्रस स्थावर आदि सभी अशुद्धपर्यायवान जीवोंका संग्रह है)

अनन्तिम व्यवहारनय द्रव्यार्थिकनय

९. परमसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य ६ प्रकारके हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश व काल)

३७. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्यअशुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-प्रति समय पर्याय विनाशीक है आदि परिचय)
३८. सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-एक समयमें हुए त्रयात्मक पर्यायोंका परिचय)
३९. उपाधिनिरपेक्ष नित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-सिद्धपर्यायसदृश संसारी जीवोंकी शुद्धपर्यायें आदि का परिचय)
४०. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-संसारी जीवोंके उत्पाद और मरण है आदि परिचय)

शब्दनय पर्यायार्थिकनय

४१. शब्दनय (ऋजुसूत्रनयके विषयको लिङ्ग, वचन, आदि व्यभिचार हटाकर किसी उपयुक्त शब्दसे कहना)
४२. समभिरूढनय शब्दनय द्वारा नियत शब्दसे वाच्य अनेक अर्थोंमें से किसी एक रूढ़ अर्थको ही कहना)
४३. एवंभूतनय (समभिरूढ़नयके विषयको उस क्रियासे परिणत होते हुएके समय ही उसी शब्दसे कहना)

निश्चयनय

४४. अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (जैसे-अखण्ड शाश्वत सहज चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका परिचय)
४५. शक्तिबोधक परमशुद्धनिश्चयनय (जैसे-आत्मा सहज ज्ञान दर्शन शक्ति वीर्यवान है आदि परिचय)
४६. शुद्धनिश्चयनय (जैसे-जीव केवलज्ञानी है, आदि शुद्धपर्यायात्मक द्रव्यका परिचय परिचय)
४६A. सभेद शुद्धनिश्चयनय (जैसे-जीवके केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, अनन्त सुख है आदि परिचय)
४६B. अपूर्णशुद्धनिश्चयनय (जैसे-स्वपरभेदविज्ञानीके एकत्वविभक्त आत्माकी ख्याति होनेसे ज्ञानमय भाव का परिचय)
४७. अशुद्ध निश्चयनय (जैसे-जीव रागी है आदि अशुद्धपर्यायमय द्रव्यका परिचय)
४७A. सभेद अशुद्धनिश्चयनय (जैसे-जीवके क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है आदि भेदसहित अशुद्ध का परिचय)
४८. विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (जैसे-रागादिक पौद्गलिक हैं, यों औपाधिक भावोंको उपाधिके लिये सौंपकर आत्म स्वरूप को शुद्धस्वभाव मात्र निरखना)
४९. शुद्धनय (जैसे-नयविकल्पसे अतिक्रान्त अखण्ड अन्तस्तत्त्वका, अभेद दर्शन)
४९A. प्रतिषेधक शुद्धनय (जैसे-जीव पुद्गलकर्मका, गात्रादिका अकर्ता है आदि परिचय)
४९B. उपादानदृष्टि (जैसे जीवकी योग्यतानुसार उसका परिणमन उसी जीवमें निरखना)

व्यवहार नय

५०. परमशुद्ध भेदविषयी व्यवहारनय या भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्माके ज्ञान है, दर्शन है आदि शाश्वत गुणोंके रूपसे आत्माका परिचय)
५१. शुद्धभेदविषयी द्रव्यार्थिकनय या शुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय (जैसे-आत्माका केवलज्ञान, अनन्त आनन्द आदि निरुपाधि शुद्ध पर्यायों का परिचय)
५२. अशुद्धपर्यायविषयी व्यवहारनय या अशुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय (जैसे जीवके क्रोध, मान आदिका परिचय)
५३. उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मोदयविपाकके सान्निध्य में जीव विकाररूप परिणमता है)
५३A. निमित्तदृष्टि (जैसे चक्रके आधारपर दण्ड द्वारा भ्रमण होकर जल-मिश्रण दशामें कुम्हारके हस्तव्यापारके निमित्तसे मिट्टीका घड़ा बनना आदि परिचय)
५४. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, यों त्रितययुक्त द्रव्यको निरखना)
५५. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनय (जैसे-नर नारक, तिर्यंच, देव, आदि विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायें निरखना)
५६. शुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनय (जैसे-चरमदेहसे न्यून आकारवाली सिद्धपर्याय, स्वभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्याय निरखना)
५७. अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे-मेरु नित्य है आदि प्रतिसमय बनना विगड़ना होनेपर भी बना रहना निरखना)
५८. सादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे-सिद्धपर्याय नित्य है, आदि, उपाधिके अभावसे सदा रहनेवाली पर्यायका परिचय)
५९. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्याशुद्ध पर्यायार्थिकनय (जैसे-प्रतिसमय पर्याय विनाशीक है, क्षणिक पर्यायका परिचय)

७८. उपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्धात्मा हैं का प्रतिपादन)
७९. उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे ध्रौव्यत्वकी मुख्यतामें द्रव्यके नित्यत्वका प्रतिपादन)
८०. भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे निजगुणपर्यायसे अभिन्न द्रव्य है, आदिका प्रतिपादन)
८१. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (प्रत्येक द्रव्य ध्रुव होकर भी उत्पाद व्ययवाला है आदि कथन)
८२. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (आत्माके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण हैं आदि कथन)
८३. अन्वयद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (द्रव्य सदैव अपने गुणपर्यायोंमें व्यापक रहता है आदि कथन)
८४. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे है आदि कथन)
८५. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे नहीं है आदि कथन)
८६. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे आत्मा सहज ज्ञायकस्वभाव है आदि कथन)
८७. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे नर "नारक" स्कंध आदि अशुद्ध द्रव्यव्यञ्जन पर्यायोंका कथन)
८८. शुद्धस्थूल सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे सिद्धपर्याय, एक अणु, धर्मास्तिकाय कालाणु आदि शुद्धद्रव्य-व्यञ्जन पर्यायका कथन)
८९. अशुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे क्रोध, मान आदि विभाव गुणव्यञ्जन पर्यायोंका कथन)
९०. शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार (जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायोंका कथन)
९१. अनादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (मेरु, अकृत्रिम चैत्यालय नित्य हैं आदि कथन)
९२. सादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे सिद्धपर्याय नित्य है आदि शुद्ध होकर सदा रहनेवाली पर्यायका कथन)
९३. सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे समय समयमें पर्याय विनश्वर है आदि कथन)
९४. सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे समय समयमें त्रयात्मक पर्यायें हैं आदि कथन)
९५. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारियोंकी सिद्धपर्यायसदृश शुद्धपर्यायों का कथन)
९६. उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारी जीवोंके उत्पत्ति मरण हैं आदि कथन)
९७. स्वाजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, जीव रागी हैं आदि कथन)
९८. विजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे मतिज्ञान मूर्त है, दृश्यमान मनुष्य, पशु जीव हैं आदि कथन)
९९. स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञेय जीव और अजीवमें ज्ञान जाता है आदि कथन)
१००. शब्दनयपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (ऋजुसूत्रनयके विषयको लिंगादिव्यभिचार दूर करके योग्यशब्दसे कहना)
१०१. समभिरूढनयपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (शब्दनयसे निश्चित शब्दसे वाच्य अनेक पदार्थोंमेंसे एक रूढ़पदार्थका कथन)
१०२. एवंभूतनयपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (समभिरूढसे निश्चित पदार्थको उसी क्रियासे परिणत होनेपर ही कहना)

उपचार (आरोपक व्यवहार)

१०३. उपाधिज उपचरितस्वभावव्यवहार (जैसे जीवके मूर्तत्व व अचेतनत्वका कथन)
१०४. उपाधिज उपचरित प्रतिफलनव्यवहार (जैसे क्रोधकर्मके विपाकके प्रतिफलन को क्रोधकर्म कहना)
१०५. स्वाभाविक उपचरितस्वभावव्यवहार (जैसे प्रभु समस्त पर पदार्थोंके भी ज्ञाता हैं आदि कथन)
१०५A. अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (जैसे जीव घट पट आदि पर पदार्थ का ज्ञाता है आदि कथन)
१०६. द्रव्ये द्रव्योपचारक (एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक) असद्भूतव्यवहार (जैसे शरीर को जीव कहना)

१३९. एकजातिकार्ये अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे घटाकार परिणत ज्ञान घट है आदि कथन)
१४०. एकजात्यल्पे अन्यजातिपूर्णोपचारक व्यवहार (जैसे राजघरानोंमें यह नौकर सर्वव्यापक है आदि कथन)
१४१. स्वजात्यल्पे स्वजातिपूर्णोपचारक व्यवहार (जैसे सम्यक् मतिज्ञान केवल ज्ञान है आदि कथन)
१४२. एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (जैसे जिस मञ्चपर बैठकर विद्वान प्रवचन करे तो कहना इस मंचने बड़े प्रवचन किये)
१४३. स्वजात्याधारे स्वजात्याधेयोपचारक व्यवहार (इस गुरुके उदर में हजारों शिष्य पड़े हैं आदि कथन)
१४४. एकजात्याधेये अन्यजात्याधारोपचारक व्यवहार (जैसे डलियामें केला रखकर बेचनेवालेको केला कहकर बुलाना)
१४५. स्वजात्याधेये स्वजात्याधारोपचारक व्यवहार (जैसे मां की गोदमें बैठेहुए बालकका नाम लेकर मांको पुकारना)
१४६. तद्वति तदुपचारक व्यवहार (जैसे लाठीवाले पुरुषको लाठी कहकर पुकारना)
१४७. अतीसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार (जैसे चरम (अंतिम) भवसे पूर्वके मनुष्यभवको भी चरम कहना)
१४८. भाविनि भूतोपचारक व्यवहार (जैसे ८वें गुणस्थानमें औपशमिक या क्षायिक भाव कहना)
१४९. तत्सदृशकारणे तदुपचारक व्यवहार (जैसे कर्मोदयजनित विकार इस जीवके लिये शल्य हैं आदि कथन)
१५०. सदृशे एकत्वोपचारक व्यवहार (जैसे गेहूं दानोंके ढेरको गेहूं एक वचन कहकर कहना)
१५१. आश्रये आश्रयी-उपचारक व्यवहार (जैसे राजा प्रजाके गुण दोषोंको उत्पन्न करता है आदि कथन)

अवाप्तिनय

१५२. द्रव्यनय (जैसे आत्मतत्त्व चिन्मात्र है आदि परिचय)
१५३. पर्यायनय (जैसे आत्माको दर्शन ज्ञान आदि मात्र देखना आदि परिचय)
१५४. अस्तित्वनय (जैसे अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्माका अस्तित्व जानना)
१५५. नास्तित्वनय (जैसे परके द्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्माका नास्तित्व जानना)
१५६. अस्तित्वनास्तित्वनय (जैसे स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्माको अस्तित्वनास्तित्ववान् जानना आदि)
१५७. अवक्तव्यनय (जैसे युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे कहा जाना अशक्य होने से आत्मा अवक्तव्य है ऐसा जानना)
१५८. अस्तित्वावक्तव्यनय (जैसे स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे तथा युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा अस्तित्ववदवक्तव्य है ऐसा जानना आदि)
१५९. नास्तित्वावक्तव्यनय (जैसे परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे तथा युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे आत्मा नास्तित्ववदवक्तव्य है आदि परिचय)
१६०. अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनय (जैसे स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे, परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे व युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकाल-भावसे आत्मा अस्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्य है आदि परिचय)
१६१. विकल्पनय (जैसे कोई एक वही जीव मनुष्य है पशु है आदि परिचय)
१६२. अविकल्पनय (जैसे एक आत्मामात्रका प्रतिभास)
१६३. नामनय (जैसे ज्ञायक नाम आत्माका रखा है आदि नामसे परिचय)
१६४. स्थापनानय (जैसे देहरूप पुद्गलस्कंधोंमें आत्माका प्रतिष्ठापन)
१६५. द्रव्यनय (जैसे अतीत अनागत पर्यायों में आत्माका बोधन)
१६६. भावनय (जैसे वर्तमान पर्यायमें आत्माका बोधन)
१६७. सामान्यनय (जैसे गुण पर्यायों में व्यापक सामान्य का बोधन)
१६८. विशेषनय (जैसे सदा न रहनेवाले नरनारकादि जीव का बोधन)
१६९. नित्यनय (जैसे नाना प्राणिभेदोंको धारण करनेवाले एक आत्मा का बोधन)
१७०. अनित्यनय (जैसे अनवस्थायी मनुजादिवेशी आत्माका बोधन)

।। समयसार का विषय-क्रम ।।

४-पुण्य-पाप अधिकार

८—बंध अधिकार

१०—सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

कहाँ क्या सुधारें

अशुद्ध — शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
चतुर्दशाङ्गी—सप्तदशाङ्गी	प्र –११
एयत्तस्तुवलंभी—एयत्तस्सुवलंभो	१४–३
ज्ञानिना—ज्ञानिनो	२१–१
परमार्थ प्रतिपादकत्व—परमार्थप्रतिपादकत्व	२५–१
चेतनेतपर—चेतनेतर	२५–१४
स्थानीय परम—स्थानीयपरमं	३२–१
निर्जयंनिर्जरकोभयं—निर्जर्यनिर्जरकोभयं	३७–१०
वर्त्तमान—वर्तमान	४१–४
नात्मात्नात्मना—नात्माऽनात्मना	६३–६
पुद्गलद्रव्यश्च—पुद्गलद्रव्यं च	६६–३
रपि कथमपि—अयि कथमपि	६७–३
इन्दिये—इंदिये	७६–२
मान माया—मानमाया	८१–११
सर्वाव्वप्यवस्थासु—सर्वास्वप्यवस्थासु	१२८–८
पर्याप्तापर्याप्ता—पर्याप्तापर्याप्ता	१३७–७
वर्णा दिमान्—वर्णादिमान्	१३८–२
वर्त्त—वर्त	१४४–२
जावनिवद्धा—जीवनिवद्धा	१५५–६
कुर्वा ण:—कुर्वाण:	१७८–१०
ततोऽयमात्म—ततोऽयमात्मा	१९७–६
किलज्ञानी—किलाज्ञानी	२०२–६
जुदे—जुद्धे	२२०–२
यतो खल्वात्मा—यतो न खल्वात्मा	२२६–३
एवमिह्ल—एवमिह	२२८–४
चव—चैव	२२८–१४
वस्तु—वस्तु	२३२–१
परिणम—परिणाम	२४८–११
शुभाशुभ प्रवृत्ति—शुभाशुभप्रवृत्ति	२४९–१
करेणु कुट्टिनी—करेणुकुट्टिनी	२७५–८
संसग—संसर्ग	२७६–१०
पवट्ठंति—पवट्टंति	२२८–२
ततो—ततो हेत्वभावे	३२०–१२

अशुद्ध — शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
भावा-नालोकांता—भावानालोकांता	३२५–२
प्रतिष्ठितं। —प्रतिष्ठितं,	३२८–१
मुपलभमान:—मुपलभमान:	३३५–१
ज्ञानवैराग्य—ज्ञानवैराग्याभ्यां	३५६–१०
अनत्मा—अनात्मा	३६०–८
सर्वज्ञान—सर्व ज्ञान	३६६–४
अतऽोह—अतोऽह	३७५–१
अत:—अत: सुखितदु:खितान् करोमि	४४०–१
ततोबंध निमित्ता—ततो बंधनिमित्ता	४६२–६
सर्वताध्यव—सर्वत्राध्यव	४६५–१
पुणा य—पुणो य	४७२–२
निकावरक्षाचा—निकायरक्षा चा	४७४–१३
ज्ञानी भी—ज्ञानी भि	४७७–७
तस्तु—तैस्तु	४८३–६
तथासति—तथा सति	४८६–४
निमित्तक—निमित्तनैमित्तिक	४८८–१
गुणस्तु—गुणास्तु	४८८–१०
द्विधाकनणं—द्विधाकरणं	४९३–४
तु उ—उ	४९६–२
२९३ पद्य —बंध तथा आत्मा के स्वभाव को जानकर स्वलक्षण से	४९८–४
हुआ वुध,—हुआ जो,	४९८–५
निपतितरभसा—निपतति रभसा	५०२–१
वन्धों से—वन्धों का	५०३–४
करता—करना	५०३–४
तेऽह्नंनास्मि—तेऽहं नास्मि	५१३–१
मुपेत्यनित्य—मुपेत्य नित्य	५२४–३
अनन्य उनसे—अनन्य है उनसे	५२७–६
कारण भावो—कारणभावो	५२९–१
भवेत्तान्मिथ्या—भवेत्तावन्मिथ्या	५३३–९
निश्चिनुम:किंच—निश्चिनुम:। किंच	५६३–१
जिन समयसे—जिनसमयसे	५६९–१४, १६
त्यौं—यौं	५७५–६

卐 परमात्म आरती 卐

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी–जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी । ॐ ·· ··· ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी । स्वामी सम०
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी । ॐ जय······ ॥१॥

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव संतति टारी । स्वामी भव०
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी । ॐ जय······ ॥२॥

परसंबंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी । स्वामी करत···
परम ब्रह्मका दर्शन, चहुँगति दुखहारी । ॐ जय··· ॥३॥

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी । स्वामी मुनि···
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भंडारी । ॐ जय······ ॥४॥

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिचारी । स्वामी सहज···
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी । ॐ जय··· ॥५॥

卐 आत्म भक्ति 卐

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्तीमें क्षण जाँय सारे ॥ टेक ॥

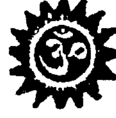
ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो ।
भ्रान्तिका नाश हो, शान्तिका वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी··· ॥१॥

सर्व गतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी··· ॥२॥

सिद्धि जिनने भि अबतक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई ।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी··· ॥३॥

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे ।
नित्य अन्तः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी···॥४॥

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोंमें नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे । तेरी ··· ॥५॥



पूज्यपाद-श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

पूर्व-रंगः

पूज्यपाद-श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥
परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य श्रीमत्सहजानन्दकृत चतुर्दशाङ्गी टीका

टीकागत प्रथम मंगलाचरणका अर्थ—स्वानुभवसे प्रकाशमान, चैतन्यस्वभाव शुद्ध सत्तास्वरूप, सर्वभावोंको एक ही समयमें जानने वाले अथवा सर्व भावान्तरोंको ह वाले समयसारके लिये नमस्कार हो ।

भावार्थ—द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित केवल चित्प्रकाशमय आत्माको समय कहते हैं । समयसार कार्यसमयसार प्रभुको भी कहते हैं और समयसार अध्यात्मोपदे लक्ष्यभूत परमब्रह्मस्वरूपको भी कहते हैं । सो इष्ट प्रभुको व इष्ट तत्त्वको 'समयसार' कहकर नमस्कार किया गया है ।

सजातीय विजातीय परद्रव्योंसे भिन्न, परद्रव्यके गुणपर्यायोंसे भिन्न तथा परद्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्वको देखती है अर्थात् अवलोकन करती है। यहाँ सरस्वतीकी मूर्तिको आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है। जो लोकमें सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है, लोकको प्रायः उसका भाव विदित नहीं है, इसलिये उसका यथार्थ वर्णन किया है। जो सम्यग्ज्ञान है, वह सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है जिसमें सब पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, वही अनन्त धर्मोंसहित आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष देखता है और उसीके अनुसार श्रुतज्ञान है, वह परोक्ष देखता है, इसलिये यह भी उसीकी मूर्ति है तथा द्रव्यश्रुत वचनरूप है सो यह भी उसीकी मूर्ति है, क्योंकि वचनों द्वारा अनेक धर्म वाले आत्माको यह बतलाती है। इस तरह सब पदार्थोंके तत्त्वको जताने वाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वतीकी मूर्ति है। इसी कारण सरस्वतीके नाम वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी आदि बहुतसे कहे जाते हैं। यह अनन्त धर्मोंको स्यात्पदसे एक धर्मीमें अविरोधरूप साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। आत्माका जो अनन्तधर्मा विशेषण दिया है, उसमें अनन्त धर्म कौन-कौन हैं? वस्तुमें सत्त्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व प्रदेशवत्त्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, अमूर्तिमत्त्व इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणोंका तीनों कालोंमें समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय हैं, वे अनन्त हैं तथा एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भिन्नत्व, अभिन्नत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं, वे सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं और विशेषरूप वचनके अविषय हैं, ऐसे वे अनन्त हैं सो ज्ञानगम्य हैं। ऐसा होनेपर आत्मा भी वस्तु है, उसमें भी अपने धर्म अनन्त हैं। उसमें से चेतनत्व असाधारण है, यह दूसरे अचेतनद्रव्यमें नहीं है और सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनमें भी चेतनत्व है तो भी निजस्वरूपसे जुदा-जुदा सत् हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए किसीका प्रदेश किसीमें नहीं मिलता। यह चेतनत्व अपने अनन्तधर्मोंमें व्यापक है, इस कारण इसीको आत्माका तत्त्व कहा है। उसको यह सरस्वतीकी मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसलिये इस सरस्वतीको आशीर्वादरूप वचन कहा है—यह सदा प्रकाशरूप रहे। इसीसे सब प्राणियोंका कल्याण होता है।

प्रसंगविवरण—समयसार तक पहुंच हो, एतदर्थ समयसारका, स्वका अध्ययन आवश्यक है। समयसारका व समस्त तत्त्वोंका परिज्ञान श्रुत (आगम) के अध्ययनसे होता है। वह श्रुतदेवता अनेकान्तमयी मूर्ति है उसके नित्य प्रकट प्रकाशमान होनेकी भावना इस कारण की गई है कि अनेकान्तात्मक शास्त्रोपदेश जिन जीवोंको उपलब्ध होगा वे अपना कल्याण कर सकेंगे।

तथ्यप्रकाश—(१) सर्व परवस्तुवोंसे भिन्न, नैमित्तिक परभावोंसे भिन्न व अपने ही

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

वंदन करि सिद्धोंको, ध्रुव अचल अनूप जिन सुगति पाई ।
समयप्राभृत कहूंगा, यह श्रुतकेवलिप्रणीत अहो ॥१॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनुपमां गतिं प्राप्तान् । वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ।

'वंदित्तु' इत्यादि । अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादि-भावांतरपरपरिवृत्तिविश्रान्तिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्य-मानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छं-

---

प्रकृतिशब्द— सर्व, सिद्ध, ध्रुव, चल, उप–मा, गति, प्र-आप्त, सम्-अय, प्राभृत, इदम, अहो, श्रुतकेवलिन् भणित । **मूलधातु**— वदि अभिवादनस्तुत्योः, पिधु गतौ, चल कम्पने, गम्लृ, गतौ, अप्लृ

से पहिले व्याख्याका सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन व शक्यानुष्ठान परख लेना आवश्यक है । इस छन्दमें इन्हीं चारोंका प्रकाश है । सम्बन्ध—समयसारकी व्याख्या करना है सो व्याख्यान व्याख्येय सम्बन्ध प्रकट है । अभिधेय—समयसारोक्त शुद्धात्मस्वरूप है । प्रयोजन—समय-सारकी चर्चा व आराधनाके बलसे परमविशुद्धि (निर्मलता) प्राप्त करना है । शक्यानुष्ठान—याने किया जा सकने योग्य कार्य है ही ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवके विकारका निमित्तकारण पुद्गलकर्मविपाक है, स्वयं जीव नहीं, यदि यह उपादान जीव अपने विकारका खुद निमित्त कारण हो जाय तो विकार कभी नष्ट हो ही नहीं सकेगा, जीव विकारका नित्यकर्ता हो जावेगा । (२) यह आत्मा सहज चैतन्यमात्रमूर्ति है याने अविकारस्वरूप है ।

सिद्धान्त—(१) विकार नैमित्तिक भाव है । (२) आत्मा सहज शाश्वत चैतन्यमात्र मूर्ति है ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) । २–परमशुद्ध अभेदविषयी अंतिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय (१५), परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०) ।

प्रयोग—जैसे कि व्याख्याकार पूज्य श्री सूरि जी ने व्याख्याके कार्यका प्रयोजन अपनी परिणाम विशुद्धि निश्चित की है इसी प्रकार हम भी समयसार व आत्मख्याति व अन्य ग्रन्थों के स्वाध्यायका प्रयोजन अपने परिणामकी विशुद्धि निश्चित करें याने सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिका पौरुष करके निर्मलता प्राप्त करें ।

टीकागत उत्थानिकाका अर्थ—अब सूत्रका अवतार होता है अर्थात् पूज्य श्री कुन्द-

प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोह-प्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥१॥

भविष्यत् क्रिया उत्तम पुरुष एकवचन। समयप्राभृतं–कर्मकारक द्वितीया एकवचन। अहो—अव्यय। इदं–कर्मविशेषण। श्रुतकेवलिभणितं–कर्मविशेषण द्वितीया एकवचन।

होनेसे और केवलियोंके निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली गणधर देवोंके द्वारा कहे जानेसे प्रमाणताको प्राप्त हुआ है, तथा समय अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थका प्रकाशक है। और अरहंत भगवान्के परमागमका अवयव (अंश) है। ऐसे समयप्राभृतका अनादिकालसे उत्पन्न हुए अपने और परके मोह—अज्ञान मिथ्यात्वके नाश होनेके लिये मैं परिभाषण (व्याख्यान) करूंगा।

भावार्थ—यहांपर गाथासूत्रमें आचार्यने "वक्ष्यामि" क्रिया कही है, उसका अर्थ टीकाकारने "वच परिभाषणे" धातुसे परिभाषण लेकर किया है। उसका आशय ऐसा सूचित होता है कि जो चौदह पूर्वमें ज्ञानप्रवाद नामा छठे पूर्वके बारह 'वस्तु' अधिकार हैं, उनमें भी एक-एकके बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं, उनमें दसवें वस्तुमें समय नामक जो प्राभृत है, उसका परिभाषण आचार्य करते हैं। सूत्रोंकी दस जातियाँ कही गई हैं, उनमें एक परिभाषा जाति भी है। जो अधिकारको यथास्थान सूचना दे वह परिभाषा कही जाती है। इस समयनामा प्राभृतके मूल सूत्रोंका ज्ञान तो पहले बड़े आचार्योंको था और उसके अर्थका ज्ञान आचार्योंकी परिपाटीके अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यको था। इसलिये उन्होंने समयप्राभृतके परिभाषासूत्र रचे हैं। वे उस प्राभृतके अर्थको ही सूचित करते हैं, ऐसा जानना। मंगलके लिये सिद्धोंको जो नमस्कार किया और उनका 'सर्व' ऐसा विशेषण दिया, इससे वे सिद्ध अनन्त हैं, ऐसा अभिप्राय दिखलाया और 'शुद्ध आत्मा एक ही है, ऐसा अन्य आशयका व्यवच्छेद किया। संसारीके शुद्ध आत्मा साध्य है, वह शुद्धात्मा साक्षात् सिद्ध है, उनको नमस्कार करना उचित ही है। श्रुतकेवली शब्दके अर्थमें श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्द से सर्वज्ञ तथा परमागमके जानने वाले श्रुतकेवली हैं, उनसे समयप्राभृतकी उत्पत्ति कही गई है। इससे ग्रंथकी प्रामाणिकता दिखलाई, और अपनी बुद्धिसे कल्पित होनेका निषेध किया गया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) अपनी बुद्धिसे पदार्थका स्वरूप अन्य प्रकारसे कहकर विवाद करते हैं, उनकी असत्यार्थता बतलाई है। इस ग्रन्थका अभिधेय तो शुद्ध आत्माका स्वरूप है, उसके वाचक इस ग्रन्थमें शब्द हैं, उनका वाच्यवाचक रूप सम्बन्ध है और शुद्धात्मा के स्वरूपकी प्राप्ति होना प्रयोजन है। शक्यानुष्ठान तो है ही।

प्रसङ्गविवरण—शुद्धात्मा होना साध्य है, और द्रव्यकर्म भावकर्म व नोकर्म (देह) से रहित शुद्धात्मा सिद्ध भगवान होना सहजसिद्ध शुद्धात्मतत्त्व समयसारकी उपासनासे ही

साधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय

वचन कर्मविशेषण । तं--तत् शब्दका पुल्लिगमें द्वितीया विभक्तिका एकवचन । हि-अव्यय । च-अव्यय । परसमयं--द्वितीया विभक्तिका एकवचन, कर्मकारक ।

प्रथम गाथामें समयके प्राभृत कहनेकी प्रतिज्ञा की थी वहाँ यह जिज्ञासा हुई कि समय क्या है, इसलिये प्रथम ही समयका स्वरूप कहते हैं--हे भव्य, जो [**जीवः**] जीव [**चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः**] दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्थित हो रहा है [**तं**] उसे [**हि**] निश्चयसे [**स्वसमयं**] स्वसमय [**जानीहि**] जानो । [**च**] और जो जीव [**पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं**] पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित है [**तं**] उसे [**परसमयं**] परसमय [**जानीहि**] जानो ।

तात्पर्य—स्वभावमें स्थित जीव स्वसमय है । परभावमें स्थित जीव परसमय है । स्वसमय व परसमय दोनों अवस्थावोंमें व्यापक प्रत्यागात्मा समय है ।

टीकार्थ—जो यह जीव नामक पदार्थ है वह ही समय है । क्योंकि समय शब्दका ऐसा अर्थ है—'सम्' तो उपसर्ग और 'अय गतौ' धातु है उसका गमन अर्थ भी है तथा ज्ञान अर्थ भी है, 'सम्' का अर्थ एक साथ है । इसलिए एक कालमें ही जानना और परिणमन करना ये दो क्रियायें जिसमें हों वह समय है । यह जीव पदार्थ एक कालमें ही परिणमन करता है और जानता भी है इसलिए यही समय है । इस तरह दो क्रियायें एक कालमें होती हैं । वह समय नामक जीव नित्य ही परिणमन स्वभावमें रहनेसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकतारूप-अनुभूति लक्षण वाली सत्तासे युक्त है । वह चैतन्यस्वरूपी होनेसे नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शन-ज्ञान-ज्योतिस्वरूप है—चैतन्यका परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है । अनंत धर्मोंमें रहने वाला जो एक धर्मी उससे उसका द्रव्यत्व प्रकट हुआ है, क्योंकि अनंतधर्मोंकी एकता ही द्रव्यत्व है । क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त हुए जो अनेक भाव उस स्वभावसे युक्त होनेसे उसने गुणपर्यायोंको अंगीकार किया है । पर्याय तो क्रमवर्ती हैं और गुण सहवर्ती होते हैं और सहवर्तीको अक्रमवर्ती भी कहते हैं । अपने और अन्य द्रव्योंके आकारके प्रकाशन करनेमें समर्थ होनेसे उसने समस्त रूपको झलकाने वाली एकरूपता पा ली है अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओंका आकार झलकता है, ऐसे एक ज्ञानके आकाररूप है । पृथक्-पृथक् जो अवगाहन, गति, स्थिति और वर्तनाकी हेतुता तथा रूपित्व (द्रव्योंके गुण) के अभावसे और असाधारण चैतन्यरूप स्वभावके सद्भावसे—आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्योंसे भिन्न है, वह अनंत

१—अध्यात्म ग्रन्थ सेट

आत्मसंबोधन
सहजानन्द गीता मूल
सहजानन्द गीता अन्वयार्थ
सहजानन्द गीता सतात्पर्य
तत्त्वरहस्य प्रथम भाग
लघु अध्यात्मचर्चा
अध्यात्मचर्चा
अध्यात्मसहस्री
समयसारभाष्य पीठिका
,, ,, सार्थ
सहजानन्द डायरी १९५६
सहजानन्द डायरी १९५७
सहजानन्द डायरी १९५८
सहजानन्द डायरी १९५९
सहजानन्द डायरी १९६०
भागवत धर्म
समयसार दृष्टान्तमर्म
अध्यात्मवृत्तावलि प्रथम भाग
अध्यात्मवृत्तावलि द्वितीय भाग
मनोहर पद्यावलि प्रथम भाग
मनोहर पद्यावलि द्वितीय भाग
दृष्टि
दृष्टि-अर्थ
सुबोध पत्रावलि
स्तोत्र पाठपुञ्ज
आत्मकीर्तन पत्रक
आत्मकीर्तन सार्थ
वास्तविकता
अपनी वातचीत
सामायिक पाठ
अध्यात्मसूत्र मूल
अध्यात्मसूत्र सार्थ
एकीभाव स्तोत्र अध्यात्मध्वनि
कल्याणमन्दिर स्तोत्र अध्यात्मध्वनि
विषापहार स्तोत्र अध्यात्मध्वनि
स्वानुभव
धर्म
आत्म-उपासना
समयसार महिमा
अध्यात्मरत्नत्रयी
,, ,, गाथा सहित
समयसार एक्सपोजीशन पू० व जी०
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका
समाधितन्त्र सतात्पर्य
निष्काम कर्मयोग
अध्यात्मयोग
द्रव्यदृष्ट प्रकाश
तत्त्वसूत्र मूल
तत्त्वसूत्र भावार्थ
ज्ञान और विज्ञान
सहजानन्दवाणी प्रथम भाग
अध्यात्मभावना
मंगलतन्त्र सार्थ
अध्यात्मसिद्धान्त
आत्मपरिचयन
पञ्चसूत्री द्वादशी
सहजानन्दविहारपौरुष
सहजानन्द ज्ञानामृत
सहजानन्द वस्तुतथ्य
सहजानन्द वात्सल्य
निषेधनवति
वस्तुविज्ञानतन्त्र
अविरुद्धनिर्णय
अहिंसा वनाम शान्ति
आत्महिंसा
आत्मशत्रु
समयसार सप्तदशाङ्गी टीका
वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक०
कारणकार्यविधान

२—प्रवचनशीर्ष सेट

देव पूजा प्रवचन शीर्ष

३—अध्यात्म प्रवचन सेट

धर्म प्रवचन
सुख कहाँ प्रथम भाग
सुख कहाँ द्वितीय भाग
अध्यात्मसूत्र प्रवचन १, २, ३ भाग
प्रवचनसार प्रवचन १, २ भाग
,, ,, ३, ४, ५ भाग
,, ,, ६, ७, ८ भाग
,, ,, ९, १०, ११ भाग
देवपूजा प्रवचन
श्रावकषट्कर्म प्रवचन
समयसार प्रवचन १, २ भाग
,, ,, ३, ४, ५ भाग
,, ,, ६, ७, ८, ९ भाग
,, ,, १०, ११, १२ भाग
,, ,, १३, १४, १५भ ाग
परमात्म प्रकाश प्रवचन १–४ भाग
,, ,, ५–८ भाग
सुख कहाँ १, २ भाग
,, ,, ३, ४ भाग
दशसूत्र प्रवचन
भक्तामर स्तोत्र प्रवचन
मेरा धर्म
ब्रह्मविद्या
कष्टों से कैसे छूटें
नियमसार प्रवचन १– ६ भाग
,, ,, ७–११ भाग
सरल दार्शनिक प्रवचन
आत्मानुशासन प्रवचन १, २, ३ भाग
,, ,, ४, ५, ६ भाग
समाधितन्त्र प्रवचन १–४ भाग
षोडशभावना प्रवचन १, २ भाग
ज्ञानार्णव प्रवचन १-५ भाग
,, ,, ६-११ भाग

अथैतद् बाध्यते—

एयत्तणिच्छयगम्रो समम्रो सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

सुन्दर शिव सत्य यहां, एक स्वरूपी विशुद्ध चित् तत्त्वम् ।
किन्तु मृषा बन्धकथा, आत्मविसंवादकारिणी बनती ॥३॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके। बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥३॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव

प्रकृतिशब्द— एकत्व, निश्चय, गत, समय, सर्व, सुन्दर, लोक, बन्ध, कथा, तद् विसंवादिनी। **मूलधातु**— चिञ् चयने, गम्लृ गतौ, बन्ध वन्धने, वद संदेशवचने। **पदविवरण**—एकत्वनिश्चयगतः—प्रथमा एकवचन, कर्तृ विशेषण। समयः—कर्ता। सर्वत्र—अव्यय। सुंदरः—प्रथमा एकवचन। लोके—सप्तमी एकवचन।

नास्तिकवाद निराकृत हुआ। (२) जीव उत्पादव्यय वाला भी है, इस अंशसे सांख्यादिका अपरिणामवाद निराकृत हुआ। (३) जीव ध्रौव्ययुक्त भी है, इस अंशसे क्षणिकैकान्त निराकृत हुआ। (४) जीव दर्शनज्ञानस्वरूप है, न कि सांख्यादिसम्मत जैसा ज्ञानशून्य। (५) जीव अनन्तधर्मा है, न कि क्षणिकवादसम्मत निरंश स्वलक्षणमात्र। (६) जीव गुणपर्यायवान है, न कि सांख्यादिसम्मत जैसा निर्गुण। (७) जीव विश्वरूपैकरूप है, इससे पराप्रकाशकवाद व अस्वसंवेदवादका निराकरण हुआ। (८) जीव पुद्गलादिसे भिन्न है इस कथनसे मात्र बाह्य वस्तुका ही सत्त्व माननेकी मान्यताका निरास हुआ। (९) निरुपाधिस्वभावमें उपयुक्त जीव स्वसमय है। (१०) औपाधिक भावोंमें उपयुक्त जीव परसमय है।

सिद्धान्त—(१) जीव उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। (२) जीव अनन्तधर्मा है। (३) जीव गुणपर्यायवान है। (४) निरुपाधिस्वभावोपयोगी स्वसमय है। (५) औपाधिकभावोपयोगी परसमय है।

दृष्टि—१— उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५)। २— भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२६)। ३— अन्वयद्रव्यार्थिकनय (२७)। ४— शुद्धनिश्चयनय (४६)। ५— अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—परसमयको कष्टमय व अपवित्र जानकर परसमयतासे उपेक्षा करना और स्वसमयको आनन्दमय व पवित्र जानकर स्वसमयताकी प्राप्तिके आधारभूत समयसार सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना करना अर्थात् स्वभावमें स्वतत्त्वका अनुभव करना ॥२॥

जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः । कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूल-परसमयोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यं । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ।।३।।

के लिये ही स्वसमय परसमयका निर्देश किया गया है । पवित्रता व हित सहज चैतन्यस्वभाव के आश्रयसे ही है । अतः द्विविधताके उपयोगसे हटकर निज सहज एकत्वमें आना आवश्यक ही है सो इस एकत्वको बतानेके लिये इस गाथाका अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—१–एक ही क्षेत्रमें लोकमें अनेक पदार्थ हैं अथवा बद्ध पदार्थ हैं तो भी सब केवल अपने अपने स्वरूपमें ही तन्मय हैं, समस्त परसे भिन्न हैं । २–कोई भी पदार्थ किसी भी पररूपसे नहीं परिणमता इसी कारण सबकी अपनी अपनी सत्ता कायम है । ३–औपाधिक भावोंके भाव व अभावके कारण आत्मवस्तुमें द्विविधता आई है, किन्तु आत्म-स्वरूपमें द्विविधता नहीं है ।

सिद्धान्त—१–निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य अमिट है । २–आत्म-स्वरूप सहज चैतन्यमात्र एकत्वको प्राप्त है ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४), स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८), परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२६), २–परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—पर जीवोंकी ओर दृष्टि दें तो इस तरहकी परख बनायें कि सभी जीवोंमें एकेन्द्रिय आदि सब अवस्थावोंमें अन्तः सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूप सतत प्रकाशमान है । अपने आपपर दृष्टि दें तो समस्त औपाधिक भावोंसे दूर रहनेके स्वभाव वाले सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपनेको निरखें ।

अब यह एकत्व असुलभतारूपसे बताया जाता है—

[**सर्वस्य अपि**] सब ही लोकोंके [**कामभोगबंधकथा**] काम-भोग-विषयक बंधकी कथा तो [**श्रुतपरिचितानुभूता**] सुननेमें आ गई है, परिचयमें आ गई है और अनुभवमें भी आयी हुई है इसलिए सुलभ है । [**नवरि**] किन्तु केवल [**विभक्तस्य**] पर व परभावसे भिन्न [**एकत्वस्य उपलंभः**] आत्माके एकत्वका लाभ, उसको कभी न सुना, न परिचयमें आया और न अनुभवमें आया इसलिए [**न सुलभः**] सुलभ नहीं है ।

तात्पर्य—आत्माका हितमय एकत्वस्वरूप ही सुना जावे, परिचित किया जावे अनु-भवा जावे ताकि यह एकत्व सुलभ हो जाये ।

टीकार्थ—यद्यपि इस समस्त जीवलोकको कामभोगविषयक कथा एकत्वके विरुद्ध होनेसे अत्यन्त विसम्वाद करने वाली है—आत्माका अत्यंत बुरा करने वाली है, तो भी वह अनन्तबार पहले सुननेमें आई है, अनन्तबार परिचयमें आई है और अनन्त बार अनुभवमें भी

नात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयांत:प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥४॥

वचन। अपि–अव्यय। कामभोगबंधकथा–प्रथमा एकवचन कर्ता। एकत्वस्य–षष्ठी एकवचन। उपलंभ:–प्र० ए०। नवरि–अव्यय। न–अव्यय। सुलभ:–प्र० ए० कर्तृ विशेषण। विभक्तस्य–षष्ठी विभक्ति एक०।

को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं। और परस्परमें भी विषयोंका ही उपदेश करते हैं। इसलिये काम (विषयोंकी इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनोंकी कथा तो अनन्त बार सुनी, परिचय और अनुभवमें आई, इस कारण सुलभ है। किन्तु सब परद्रव्योंसे भिन्न चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्माकी कथाका न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिए इसकी कथा न कभी सुनी, और न वह कभी परिचय और अनुभवमें ही आई। इस कारण आत्माके एकत्वका पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है।

प्रसंगविवरण—जिस समयसारका, आत्माके एकत्वका लक्ष्य रखना है वह दुर्लभ क्यों रहा यह बताना इस कारण आवश्यक है ताकि एकत्वको ओझल कराने वाले अपराधको मेटा जावे। इस उद्देश्यसे इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(१) यह मोही सारे विश्वपर एकछत्र राज्य चाहता है, इस कारण कोल्हूके बैलकी तरह विकल्प बोझोंको ढोता फिरता है। (२) इच्छावोंके वेगसे तृष्णा उठनेके कारण इस जीवको अन्तरमें दुःख प्रकट हो रहा है। (३) यह जीव तृष्णामहारोगसे पीड़ित होनेसे विषयसाधनोंको हापटा मारकर पकड़े हुए है। (४) विकल्प द्वारा कषायके साथ अपने एकत्वको मिला देनेसे मोहीको एकत्वका ज्ञान असुलभ है।

सिद्धान्त—(१) जीवलोकमें संसारी अज्ञानी जीवोंका संग्रह होता है। (२) यह जीव तृष्णाकी वेदना न सही जानेसे विषयसाधनोंको रोकता है।

दृष्टि—१– अशुद्ध अपरसंग्रहनय नामक द्रव्यार्थिकनय (८)। २– परकर्तृत्वव्यवहार (१२६)।

प्रयोग—कामभोगबन्धकी दशा कष्टकारिणी है इस कारण पञ्च इन्द्रियके विषयोंसे हटनेके लिए आनन्दनिधान सहज अन्तस्तत्त्वको चर्चा सुनने व इस एकत्वको अनुभवनेके लिये यह प्रयत्न हो—ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो। इस अभ्याससे निज सहज एकत्वस्वरूपकी सुलभता हो जावेगी ॥४॥

इस ही कारण अब भिन्न आत्माका एकत्व दिखलाया जाता है—[तं] उस [एकत्वविभक्तं] एकत्वविभक्त आत्माको [अहं] मैं [आत्मन:] आत्माके [स्वविभवेन] निज

अनवरतस्यंदिसुन्दरानन्दमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो-विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम् ॥५॥

पदविवरण—तं–द्वितीया एकवचन। एकत्वविभक्तं–द्वि० ए०। दर्शये–णिजन्त लट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन। अहं–प्रथमा ए०। स्वविभवेन–तृ० ए०। यदि–अव्यय। दर्शयेयं–लिङ् लकार उत्तम पुरुष एक-वचन। प्रमाणं–प्र० ए०। स्खलेयं–लिङ् लकार उत्तम० एक०। छलं–प्र० ए०। गृहीतव्यम्–प्रथमा एक-वचन, क्रिया ॥५॥

लाता हूं। यदि दिखला दूं तो स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना, यदि चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें जागरूक नहीं रहना।

भावार्थ—आचार्य आगमका अध्ययन, युक्तिका अवलम्बन, परापर गुरुका उपदेश पाना और स्वसंवेदन—इन चार उपायोंसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं। उसे सुनकर हे श्रोताओ, अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे प्रमाण करना, कहीं समझमें न आवे तो छल न मानना। आत्मस्वरूपके जाननेका अमोघ उपाय अनुभव है, इसीसे शुद्ध स्वरूपका निश्चय करना।

प्रसंगविवरण—आत्माका एकत्व लोगोंको असुलभ है यह बात अनन्तर पूर्व गाथामें कही गई थी। सो एकत्वका लाभ असुलभ तो है, किन्तु अत्यावश्यक है। एकत्वके लाभ बिना मोक्षमार्ग मिलता ही नहीं है, इसी कारण आचार्यदेव उस एकत्वको दिखानेका इस गाथामें संकल्प कर रहे हैं और लोगोंको एकत्व समझनेकी उमंग दिला रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) ग्रन्थकार आचार्यदेवने आगम शास्त्रोंका विपुल अध्ययन मनन किया था। (२) दर्शनशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् होनेसे निस्तुष युक्तियोंसे तत्त्वसिद्धिकी ग्रन्थ-कारमें पूर्ण क्षमता थी। (३) ज्ञाननिधान पर अपर गुरुकी विनय सेवाके प्रसादसे ग्रन्थकारको शुद्धात्मतत्त्वका अनुशासन मिला था। (४) आचार्यदेवने स्वयं स्वसंवेदन प्राप्त किया था। (५) महोपदेश सुननेपर भी श्रोता अपने अनुभवप्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण किया करता है।

सिद्धान्त—(१) स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रमाण माननेकी बात सही होनेपर भी स्वपरो-पग्रहका व्यवहार (कथन) चलता ही है उसका उद्देश्य निमित्त व प्रयोजनको दिखाना मात्र है।

दृष्टि—१– असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२४)।

भावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत । न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥६॥

अव्यय । प्रमत्तः–प्रथमा एक० । ज्ञायकः–प्र० ए०। तु–अव्यय । यः–प्र० एक० । भावः–प्र० एक० । एवं–अव्यय । भणंति–लट्–अन्यपुरुष बहुवचन । शुद्धं–द्वितीया एक० । ज्ञातः–प्र० ए० । यः–प्र० ए० । सः–प्र० ए० । तु–अव्यय । सः–प्र० ए० । च–अव्यय । एव–अव्यय ॥६॥

हुए पुण्य-पापके उत्पन्न करने वाले समस्त अनेकरूप शुभ अशुभ भावके स्वभावसे परिणमन नहीं करता (ज्ञायकभावसे जड़ भावरूप नहीं होता) । इसलिए वह ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है । यही समस्त अन्य द्रव्योंके भावोंसे भिन्न रूपमें सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है । और ज्ञेयाकार होनेसे इसका ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है तथा दाहने योग्य दाह्य ईंधनमें रहने वाली अग्निकी तरह ज्ञेयनिष्ठताके कारण ज्ञायकपना प्रसिद्ध होनेसे उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्माके अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें भी ज्ञायकभाव द्वारा जाना गया जो अपना ज्ञायकत्व, वही स्वरूप प्रकाशनकी (जाननेकी) अवस्थामें भी ज्ञायकरूप ही है ज्ञेयरूप नहीं हुआ । क्योंकि अभेद विवक्षासे कर्ता तो स्वयं ज्ञायक और कर्म जिसको जाना याने अपना आप ये दोनों एक स्वयं ही है, अन्य नहीं है । जैसे दीपक घट-पटादिको प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, वही अपनी ज्योति रूप लौ के प्रकाशनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नहीं है ।

भावार्थ—अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे आती है । वहाँ भी कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, कुछ परद्रव्यके निमित्तसे अवस्था मलिन हो जाती है । सो द्रव्यदृष्टिसे तो द्रव्य जो है वह ही है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्मके निमित्तसे मलिन है, वह पर्याय है । उसकी दृष्टिसे देखा जाय तब मलिन ही दीखता है । और द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तब ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, कुछ जड़त्व नहीं हुआ, यह तथ्य द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे निरखिये । जो प्रमत्त अप्रमत्तका भेद है, वह तो परद्रव्यके संयोगवियोगजनित पर्याय है । यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है, द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, इसलिये आत्मा ज्ञायक है, इस कारण उसे प्रमत्त व अप्रमत्त नहीं कहा जाता । 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी यद्यपि ज्ञेयके जाननेसे कहा जाता है, क्योंकि ज्ञेयका प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब वैसा ही अनुभवमें आता है, सो यह भी अशुद्धता इसके नहीं कही जा सकती, क्योंकि वहाँ ज्ञेयाकारसदृश ज्ञान ज्ञानमें प्रतिभासित हुआ, ऐसा अपना अपनेसे अभेदरूप अनुभव हुआ तब उस जाननेरूप क्रियाका कर्ता स्वयं ही है और जिसको जाना सो कर्म भी स्वयं ही है । ऐसे एक ज्ञायकत्व मात्र आप शुद्ध है—यह शुद्धनयका विषय है ।

सतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानंतपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥७॥

दिश देशने। **पदविवरण**—व्यवहारेण–तृतीया विभक्ति एकवचन, करणकारक। उपदिश्यते--कर्मवाच्य-क्रिया, लट्लकार अन्य पुरुष एकवचन। ज्ञानिनः–षष्ठी एक०। चरित्रं–प्र० ए०। दर्शनं–प्र० एक०। ज्ञानं–प्र० एक० न–अव्यय। अपि--अव्यय। ज्ञानं–प्र० एक०। न--अव्यय। चरित्रं–प्र० ए०। न–अव्यय। दर्शनं--प्र० एक०। ज्ञायकः–प्र० एक०। शुद्धः--प्रथमा विभक्ति एकवचन ॥७॥

सिद्धांत—(१) आत्मा शुभ अशुभ भावोंरूप स्वभावसे नहीं परिणमता। (२) समस्त परपदार्थ व परपदार्थोंका निमित्त पाकर होने वाले विकार (परभाव) इनसे भिन्न है यह आत्मस्वरूप, यही इसकी द्रव्यशुद्धि है। (३) आत्मा अपनेमें अपनी वृत्तिको करता रहता है।

दृष्टि— १–उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१)। २–परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०)। ३–कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहारनय (७३)।

प्रयोग—पर्यायतः शुभ अशुभ भावोंरूप परिणति हो वहाँ भी पर्यायकी बातको गौण करके द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे अपनेको अपनेमें सहज ज्ञानज्योतिमात्र अनुभव करना ॥६॥

प्रश्न—क्या आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंसे अशुद्धता आ सकती है? **उत्तर**—[**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**चरित्रं दर्शनं ज्ञानं**] चारित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन भाव [**व्यवहारेण**] व्यवहार द्वारा [**उपदिश्यते**] कहे जाते हैं। निश्चयनयसे [**ज्ञानं अपि न**] ज्ञान भी नहीं है। [**चरित्रं न**] चारित्र भी नहीं है और [**दर्शनं न**] दर्शन भी नहीं है। ज्ञानी तो एक [**ज्ञायकः**] ज्ञायक ही है, इसलिये [**शुद्धः**] शुद्ध कहा गया है।

तात्पर्य—सहजसिद्ध ज्ञायक आत्माका अनुभवपूर्ण परिचय अभेददृष्टिसे ही हो पाता है, क्योंकि आत्मा अभेदरूप है।

टीकार्थ—इस ज्ञायक आत्माके बंधपर्यायके निमित्तसे अशुद्धता तो दूर ही रही, इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं है। क्योंकि निश्चयनयसे अनन्तधर्मा जो एक धर्मी वस्तु, उसको जिसने नहीं जाना, ऐसे निकटवर्ती शिष्य जनको उस अनंतधर्मस्वरूप धर्मीके बतलाने वाले स्वगत कितने ही धर्मों द्वारा शिष्य जनोंको उपदेश करते हुए आचार्योंका ऐसा कथन है कि धर्म और धर्मीका यद्यपि स्वभावसे अभेद है तो भी नामसे भेद होनेके कारण व्यवहारमात्रसे ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थसे देखा जाय तो एक द्रव्यके द्वारा पिये गए अनन्त पर्यायकी रूपतासे एकमेक मिले हुए अभेदस्वभाव वस्तुको अनुभव करने वाले

एव । तथा किल लोकोऽप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यत-

---

शक्तुं योग्यः शक्यः तं । उप-दिश् देशने । **पदविवरण**—यथा--अव्यय । न--अव्यय । अपि--अव्यय । शक्तुं योग्यः शक्यः--प्रथमा विभक्ति एकवचन । अनार्यः--न आर्यः इति अनार्यः प्र० ए० । अनार्यभाषां--अनार्यस्य

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथामें शुद्ध आत्माका वर्णन किया गया था और बताया गया था कि वह अभेद ज्ञायकमात्र है वह प्रमत्त व अप्रमत्त भी नही है, वहां कोई भेद ही नही है । इसपर यह शंका उठना प्रासंगिक है कि आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है या आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्र वाला है इतनी भेदरूप अशुद्धता तो होती ही है । इसके उत्तर में इस गाथाका अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मस्वरूपमें बन्धप्रत्ययक अशुद्धता नहीं । (२) आत्मस्वरूपमें वस्तुतः गुणभेद नहीं । (३) अभेद आत्मवस्तुका परिचय करानेके लिये भेदविधिसे वर्णन करनेका व्यवहार आवश्यक हो जाता है । (४) परमार्थतः अभेद एकस्वभाव अन्तस्तत्त्वका अनुभव करने वालोंके तो मात्र शुद्ध ज्ञायकभाव ही है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मस्वरूप अविकार है । (२) आत्मस्वरूप एक अभेद है । (३) आत्मस्वरूपके ज्ञापनके लिये भेदविधिका व्यवहार है ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) । २– शुद्धनय (४६) । ३– भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादकव्यवहार (८२) ।

प्रयोग—अपने आपके ध्यानमें ज्ञान दर्शन आदि गुणोंका चिन्तन न करके मात्र ज्ञानस्वरूपको ही ज्ञानमें लेना ॥७॥

भेदव्यवहार है तो एक परमार्थका ही उपदेश करना चाहिए ? उसके उत्तरमें गाथा सूत्र कहते हैं—[**यथा**] जैसे [**अनार्यः**] म्लेच्छ पुरुष [**अनार्यभाषां विना तु**] म्लेच्छ भाषाके बिना तो [**ग्राहयितुं**] वस्तुस्वरूप ग्रहण कराये जानेको [**अपि न शक्यः**] शक्य नहीं है [**तथा**] उसी तरह [**व्यवहारेण विना**] व्यवहारके बिना [**परमार्थोपदेशनं**] परमार्थका उपदेश करना भी [**अशक्यम्**] शक्य समर्थ नहीं है ।

तात्पर्य—उपदेश व स्वाध्यायसे तत्त्व सुनकर यह भीतर मनन करना है कि यह सब प्रतिपादन अभेद चैतन्यस्वरूपकी समझके लिये है ।

टीकार्थ—जैसे कोई म्लेच्छ किसी ब्राह्मणके द्वारा 'स्वस्ति हो' ऐसा शब्द कहे जानेपर उस प्रकारके उस शब्दके वाच्यवाचकसम्बंधके ज्ञानसे शून्य होनेसे उसका अर्थ कुछ भी

कथं व्यवहारस्य परमार्थ प्रतिपादकत्वमिति चेत्—

ज़ो हि सुएणाहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥९॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥१०॥ (जुम्मं)

जो श्रुतवेदित केवल, शुद्ध निजात्मा हि जानता होवे ।
ज्ञानी ऋषिवर उसको, निश्चयश्रुतकेवली कहते ॥९॥
जो सब श्रुतको जाने, उसको श्रुतकेवली प्रकट कहते ।
क्योंकि सकल श्रुतका जो, ज्ञान है सो आत्मा ही है ॥१०॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् । तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकरा: ॥९॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः । ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य

नामसंज्ञ—ज, हि, सुय, अप्प, इम, तु, केवल, सुद्ध, त, सुयकेवलि, इसि, लोयप्पईवयर, ज, सुयणाण, सव्व, सुयकेवलि, त, जिण, णाण, अप्प, सव्व, ज, सुयकेवलि, त । **धातुसंज्ञ**—अभि-गच्छ गतौ, भण व्यक्तायां वाचि, जाण अवबोधने । **प्रकृतिशब्द**—यत्, हि, श्रुत, आत्मन्, इदम्, तु, केवल, शुद्ध, तत्, श्रुतकेवलिन्, ऋषि, लोकप्रदीपकर, यत्, श्रुतज्ञान, सर्व, श्रुतकेवलिन्, तत्, जिन, ज्ञान, आत्मन्, सर्व, यत्,

तथ्यके प्रतिपादनपर यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि फिर तो व्यवहार कहा ही क्यों जाता, सिर्फ परमार्थ ही कहा जाना चाहिये । इसके समाधानके लिये इस गाथाका अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(१) भेदविधिसे प्रतिपादनरूपरूप व्यवहारके बिना अभेद स्वतत्त्वके अपरिचित जीवोंको यह परमार्थ नहीं समझाया जा सकता । (२) अभेद ज्ञायकस्वरूपसे अपरिचित यह जीव अनादिसे है, अतः व्यवहारनय व व्यवहार इस जीवका उपकारी है, हस्तावलम्बनरूप है । (३) परमार्थ अन्तस्तत्त्वका दर्शन अनुभव करने वाले पवित्र आत्मावोंको व्यवहारनय व व्यवहार अनुसरणीय (प्रयोजनवान) नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) भेदविधिसे सहज तत्त्वका प्रतिपादन अनुसरणीय व्यवहार है ।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत्—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहार अभूतार्थ रु, भूतार्थ शुद्धनय कहा गया है।
भूतार्थ आश्रयी ही, सम्यग्दृष्टी पुरुष होता ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः। भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथाहि—यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोर्विवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव

लोकप्रदीपकराः—प्रथमा० एक० कर्ताकारक। यः—प्रथमा एकवचन सर्वनाम कर्ता। श्रुतज्ञानं—द्वितीया० एक० कर्म०। सर्व—द्वि० ए० कर्मविशेषण। जानाति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन। श्रुतकेवलिनं—द्वि० एकवचन। तं—द्वि० ए० कर्म। आहुः—लट् वर्तमान अन्य० बहुवचन। जिनाः—प्रथमा बहु०। ज्ञानं—प्र० ए०। आत्मा—प्र० एक०। सर्व—प्र० ए०। यस्मात्—पंचमी० एक०। श्रुतकेवली—प्रथमा० एक० कर्ताकारक। तस्मात्—पंचमी विभक्ति एकवचन ॥९-१०॥

ज्ञानके साथ तादात्म्य नहीं है। इसलिए अन्य उपायका अभाव होनेसे ज्ञान आत्मा ही है ऐसा तथ्य सिद्ध होता। श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है ऐसा होनेपर यह सिद्ध हुआ कि जो आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है और वही परमार्थ है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानीको भेदसे कहने वाले व्यवहारसे भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। अथवा जो श्रुतज्ञानसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, इस परमार्थका निश्चयनयके द्वारा कहना अशक्य है, इसलिए जो समस्त श्रुतज्ञानको जानता है, वह श्रुतकेवली है, ऐसा बताने वाला व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक होनेके कारण अपनेको प्रतिष्ठित कराता है।

भावार्थ—जो द्वादशाङ्गके जाननरूप परिणत मात्र आत्माको जानता है, वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थका कथन है और वही सब द्वादशाङ्ग शास्त्रज्ञानको जानता है यह कहना व्यवहारकथन है। वस्तुविषयक ज्ञान आत्मा है ऐसा जिसने ज्ञानको जाना उसने आत्मा को ही जाना यही परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेद कहने वाले व्यवहारने भी परमार्थ ही कहा, अन्य कुछ नहीं कहा। यहाँ ऐसा है कि परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर नहीं भी है; इसलिए व्यवहारनय ही परमार्थ आत्माका प्रतिपादन करता है।

सहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वाच्छुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः । अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् । यतः—

रण—व्यवहारः–प्रथमा विभक्ति एकवचन कर्ताकारक, अभूतार्थः– प्रथमा विभक्ति एकवचन कर्तृ विशेषण, भूतार्थः--प्रथमा० एक०, देशितः– प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया, खलु–अव्यय, शुद्धनयः--प्रथमा० एक०, भूतार्थ–द्वितीया एकवचन, आश्रितः–प्रथमा एकवचन, खलु--अव्यय, सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा विभक्ति एकवचन, भवति--लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, जीवः–प्रथमा विभक्ति एकवचन ।।११।।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) । २– स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार, परकर्तृत्व व्यवहार (१०५, १२६) ।

प्रयोग—व्यवहारसे अपनी सर्व कलायें जानकर अन्तर्दृष्टिसे परमार्थ सहज ज्ञानमात्र अपने आत्माको अनुभवना चाहिये ।।९-१०।।

अब प्रश्न उठता है कि पहले कहा था कि व्यवहारको अंगीकार नहीं करना, परन्तु जब यह परमार्थका कहने वाला है तो ऐसे व्यवहारको क्यों नहीं अंगीकार करना चाहिये ? इसके उत्तरमें गाथासूत्र कहते हैं––[**व्यवहारः**] व्यवहारनय [**अभूतार्थः**] अभूतार्थ है [**तु**] और [**शुद्धनयः**] शुद्धनय [**भूतार्थः**] भूतार्थ है ऐसा [**दर्शितः**] ऋषीश्वरोंने दिखलाया है । [**भूतार्थं**] भूतार्थके [**आश्रितः**] आश्रयको प्राप्त [**जीवः**] जीव [**खलु**] निश्चयतः [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**भवति**] है ।

तात्पर्य—सहज स्वयं सिद्ध अन्तस्तत्त्व भूतार्थ है, अन्य सब अभूतार्थ है ।

टीकार्थ—समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अभूतार्थको प्रकट करता है और केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होनेके कारण सहज सत्यभूत अर्थको प्रकट करता है । जैसे प्रबल कीचड़के मिलनेसे जिसका निर्मल स्वभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे जलके अनुभव करने वाले बहुत से पुरुष तो ऐसे हैं कि जल और कीचड़का भेद न करके उस मैले जलका ही अनुभव करते हैं और कोई पुरुष अपने हाथसे निर्मली औषधि डालकर कर्दम और जलको भिन्न-भिन्न करनेसे जिसमें अपना पुरुषाकार दिखलाई दे ऐसे स्वाभाविक निर्मल स्वभावरूप जलको पीनेका अनुभव करते हैं । उसी प्रकार प्रबल कर्मके संयोग होनेसे जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे आत्माके अनुभव करने वाले पुरुष आत्मा और कर्मका भेद न करके व्यवहारमें विमोहितचित्त होते हुए, जिसके भावोंका अनेकरूपपना प्रकट है ऐसे अशुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं और शुद्धनयके देखने वाले जीव अपनी बुद्धिसे प्रयुक्त शुद्धनयके अनुसार ज्ञानमात्रसे उत्पन्न हुए आत्मा और कर्मकी विवेक-बुद्धिसे अपने पुरुषाकाररूप स्वरूप

यत् किञ्चित्

जून सन् १९७६ में सोनीपत में श्री धनपालसिंह जी जैन सर्राफ, जिन्होंने साहित्य सेट की प्रायः समस्त पुस्तकों का स्वाध्याय किया है तथा उस सेट की आध्यात्मिक पुस्तकों का तो अनेक बार स्वाध्याय व मनन किया है, मेरे पास प्रति दिन करीब १।। घन्टा दुपहर में बैठकर अपने मनन और स्वाध्याय किये गये पुस्तकों के अपने प्रेरक स्थलों की चर्चा करते थे, मैं भी कुछ सुनाता था। इसी प्रसंग में मेरे भाव हुए कि समयसार ग्रन्थ पर कुछ सुबोध तथ्य प्रकाशक हिन्दी व्याख्या करूं। तब निर्णय किया कि गाथाओं पर तो हिन्दी पद्य (पूर्व लिखित) संस्कृत छाया, मूलशब्द, मूलधातु, पद विवरण, अन्वय, अर्थ व तात्पर्य ये आठ बातें लिखूं और आत्मख्याति पर टीकार्थ, भावार्थ, लिखकर फिर प्रसंग विवरण, तथ्य प्रकाश, सिद्धान्त, दृष्टि व प्रयोग ये सात बातें लिखूं। अब तथ्यप्रकाश, सिद्धान्त व दृष्टि लिखने के लिये यह आवश्यक हो गया कि (१) यह बताया जाय कि अध्यात्म आते तथा जोग्रन्थों में प्रयुक्त निश्चयनय, व्यवहारनय, व्यवहार व उपचार ये चार बोल नैगमादि सात नयों में से किस नय में नहीं आते उनका आगम में किस प्रकार वर्णन है; (२) अनुक्रम से अनेक दृष्टियों के नाम व लक्षणो पर प्रकाश डाला जाय, ताकि प्रत्येक गाथाओं पर तथ्य, सिद्धान्त व दृष्टि प्रकट करने में सुगमता रहे, एतदर्थ प्रकाश नयचक्रलिखना प्रारम्भ किया।

पश्चात् चातुर्मास्य के दिन अत्यन्त निकट थे सो दि० जैन समाज सरधना के आग्रह से सरधना चातुर्मास्य हुआ। सरधना समाज के लिये हमारे वर्षायोग की प्रेरणा श्री विदुषीरत्न वयोवृद्ध पंडिता कैलाशवती जैन न्यायतीर्थ ३ वर्ष से देती आ रही थी। इस वर्षायोग में समयसार की हिन्दी टीका करने का और इसी टीका के प्रकाशन कार्य का प्रारम्भ हुआ। समयसार का सर्वप्रथम समनन स्वाध्याय सन् १९४२ के अन्त में संस्कृत टीका पर से किया था तब भी भावमिलान करने के लिये श्री पं० जयचन्द जी कृत हिन्दी टीका का सहयोग मिला था और अब भी भावार्थ में प्रारम्भ में क्वचित् पं० जी के भावार्थ के किन्ही वाक्यों का सहयोग लिया एतदर्थ उनका आभार है। विद्याभ्यास पूज्यश्री बड़े वर्णी जी (श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी) एवं चाची जी (श्री सिंघेन चिरोंजाबाई जी) के तत्वावधान में हुआ था उनका तो आभार है ही। विश्वपूज्य तीर्थंकर देव व पूज्यश्री कुन्दकुन्दाचार्य अमृतचन्द्राचार्य, समंतभद्राचार्य, अकलंकदेव आदि ऋषिजनोंका तो अनुपम उपकार है।

इस सन् १९७६ के वर्षायोग में कुछ गाथाओं की टीका लिखे जाने के बीच श्री सुमेरचन्द जी जैन १५ प्रेम पुरी मुजफ्फरनगर वाले हमसे मिलने सरधना आये, उनके हाथ में एक छोटा प्राकृत व्याकरण था, उसे देखकर भावना हुई कि इसमें नामसंज्ञ (प्राकृत मूलशब्द) धातुसंज्ञ (प्राकृत मूलधातु) व प्राकृत पद विवरण ये तीन बातें और बढ़ा दी जावें। तब तक प्रायः ३२ पेज छप चुके थे। उसके बाद की कुछ प्रेस कापी मंगाई। उसमें थोड़ी जगह मिलने से नामसंज्ञ व धातुसंज्ञ बढ़ा दिये गये और बाद की गाथाओं में प्राकृत पद विवरण भी बढा दिया गया। इस प्रकार १८ बातें हो गई—१- हिन्दी पद्य, २- संस्कृत छाया, ३- नामसंज्ञ, ४- धातुसंज्ञ, ५- प्रातिपदिक, ६- मूलधातु, ७- प्राकृत पदविवरण, ८- संस्कृत पदविवरण, ९- अन्वय, १०- अर्थ, ११- तात्पर्य, १२- टीकार्थ, १३- भावार्थ, १४- प्रसंग विवरण, १५- तथ्य प्रकाश, १६- सिद्धान्त, १७- दृष्टि, १८- प्रयोग। जिन गाथाओं के नामसंज्ञ, धातुसंज्ञ, प्राकृत पदविवरण कुछ पांडुलिपि बनने व प्रेस में जाने के कारण छूट गये हैं। उनको अगले प्रकाशन में सम्मिलित किया जा सकेगा। यह टीका आत्मदृष्टि का बार-बार अवसर पाने के लिये लिखी गई। धर्मप्रेमी बन्धु भी इन्हीं प्रयोजनों से स्वाध्याय करें व इसमें जो सुधार व बढ़ाव उचित समझें उससे हमें सूचित करें तथा स्वाध्याय मनन होने प्राप्त लाभ की कभी-कभी सूचना दें ताकि मुझे आत्मदृष्टि के लिये और भी प्रेरणा प्राप्त हो। विज्ञेष्वलमधिकेन।

मनोहर वर्णी सहजानन्द

समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान् । ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति

ट्ठिद । धातुसंज्ञ—सुज्झ नैर्मल्ये, दिस प्रेक्षणे, दरिस दर्शनायां, ट्ठा गतिनिवृत्तौ । प्रकृतिशब्द—शुद्ध, शुद्धा-

स्थल तक चल रहा है । सो उसी विषयमें यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि व्यवहारनयका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये । इसके ही उत्तरमें इस गाथाका अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो सहज शाश्वत सत् (भूत) अर्थ है वह भूतार्थ है । (२) जो सहज शाश्वत सत् (भूत) अर्थ नहीं वह अभूतार्थ है । (३) अभूतार्थ मिथ्या नहीं, किन्तु सहज शाश्वत स्वभाव अनुभूयमान होनेपर अभूतार्थ मिथ्या है । (४) उपाधिसंसर्ग, बन्धन, क्षणिक भाव, विकार, गुणभेद, कारककारकिभेद, गुणगुणिभेद, उपचार—ये सब अभूतार्थ हैं । (५) अभूतार्थसे हटकर भूतार्थका आश्रय करनेके लिये प्रथम कदम भेदविज्ञान है, द्वितीय कदम शुद्धनयका आलम्बन है ।

सिद्धान्त—(१) सहज शाश्वत अभेद चैतन्यस्वभाव भूतार्थ है । (२) गुणगुणिभेद, कारककारकिभेद, गुणभेद, क्षणिकभाव, विकार, उपाधिबन्धन, उपचार आदि ये सब अभूतार्थ हैं ।

दृष्टि—१– शुद्धनय, परमशुद्धनिश्चयनय भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकप्रतिपादक (४४, ४६, ८०) । २– गुणगुणिबोधक परमशुद्ध सद्भूतव्यवहार (६६अ), कारककारकिभेदक-सद्भूतव्यवहार (७३), भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादकव्यवहार, उपचरित परम-शुद्धसद्भूतव्यवहार, भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (८२, ७०, २६), सत्तागौणोत्पाद-व्ययग्राहकनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७), उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४), पर-सम्बन्धव्यवहार (१२५), उपचार (१०३ से १५१) आदि ।

प्रयोग—परमशुद्धनिश्चयनय अथवा शुद्धनय भूतार्थको विषय करते हैं शेष सभी नय अभूतार्थको विषय करते हैं, किन्तु वस्तुका परिचय कराते हैं । सो वस्तुपरिचयके लिये सर्व नयोंका उपयोग कर भूतार्थसम्मुख होते हुए सर्वनयोंका परित्याग करके एक शुद्ध नयका आलम्बन लेकर भूतार्थ सहज अन्तस्तत्त्वको अनुभवना चाहिये ॥११॥

अब कहते हैं कि यह व्यवहारनय भी किसी किसीको, किसी कालमें प्रयोजनवान् है, सर्वथा निषेध्य करने योग्य नहीं है, इसलिये इसका उपदेश है—[**परमभावदर्शिभिः**] जो शुद्धनय तक पहुंचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञानचारित्रवान् हो गये उनको तो [**शुद्धादेशः**] शुद्ध ज्ञायकमात्र आत्माका उपदेश करने वाला [**शुद्धः**] शुद्धनय [**ज्ञातव्यः**] जानने योग्य है

ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं । उभयनय-विरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः । सपदि समयसारं ते परं

दिशि देशने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ । **पदविवरण**—शुद्धः-प्रथमा एक० । शुद्धादेशः-प्रथमा एक० । ज्ञातव्यः-

और दूसरे निश्चयके विना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा ।

भावार्थ—लोकमें सोनेके सोलह ताव प्रसिद्ध हैं उनमें पन्द्रह ताव तक तो परसंयोग की कालिमा रहती है, अतः तब तक उसे अशुद्ध कहते हैं और फिर ताव देते-देते जब अंतिम तावसे उतरे, तब सोलहवान शुद्ध सुवर्ण कहलाता है । जिन जीवोंको सोलहवान वाले सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा उसकी प्राप्ति हुई है उनको पंद्रहवान तकका सोना कुछ प्रयोजनवान् नहीं है । और जिनको सोलहवान वाले शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति जब तक नहीं हुई तब तक पंद्रह-वान तकका भी प्रयोजनीय है । उसी तरह यह जीव पदार्थ पुद्गलके संयोगसे अशुद्धअनेक-रूप हो रहा है । सो जिनको सब परद्रव्योंसे भिन्न एक ज्ञायकतामात्रका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति हो गई है उनको तो पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहने वाला अशुद्ध-नय कुछ प्रयोजनवान् नहीं है, और जब तक शुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई है तब तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान् है । अतः जिनवचनोंका सुनना, धारण करना तथा जिनवचनके कहने वाले श्री जिनगुरुकी भक्ति, जिनबिंबका दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है । और जिसके श्रद्धान और ज्ञान तो हुआ, पर साक्षात्प्राप्ति न हुई, तब तक परद्रव्यका आलंबन छोड़नेरूप अणुव्रत और महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठीके ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालोंकी संगति करना और विशेष जाननेके लिए शास्त्रोंका अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना तथा अन्यको प्रवृत्त करना आदि सब व्यवहारनयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है । व्यवहारनयको शुद्धनयके समक्ष असत्यार्थ कहा गया है, यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जान-कर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और चूंकि शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं, इसलिये उल्टा अशुभोपयोगमें ही आकर भ्रष्ट होकर यथाकथंचित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा । इस कारण साक्षात् शुद्धनयका विषय जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है । ऐसा स्याद्वादशासनमें श्री गुरुओंका उपदेश है ।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं—"उभय" इत्यादि । अर्थ—निश्चय व्यवहाररूप दो नयोंमें विषयके भेदसे होने वाले परस्परके विरोधको दूर करने वाले स्यात्पदसे

नैष किंचित् ॥५॥ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः । पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ॥ सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं । तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंतति-

बहु०, पुनः–अव्यय, ये–प्रथमा बहु०, तु–अव्यय, अपरमे–सप्तमी एक०, स्थिताः–प्रथमा बहु०, भावे–

भावार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अवस्थारूप गुणपर्यायभेदोंमें व्याप कर रहने वाला यह आत्मा शुद्धनयके द्वारा एकत्वमें निश्चित किया गया है—शुद्धनयसे ज्ञायकमात्र एक आकार दिखलाया गया है, उसको सब अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्योंके भावों से पृथक् देखना और श्रद्धान करना सो नियमसे सम्यग्दर्शन है। शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है सब लोकालोकका जाननहार ज्ञानस्वरूप है, ऐसे आत्माका श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन है वह कुछ आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है, आत्माका ही परिणाम है। इसलिए आत्मा ही है। इस कारण जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा है, अन्य नहीं है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नय श्रुतप्रमाणके अंश हैं, इसलिए शुद्धनय भी श्रुतप्रमाणका ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण है वह परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि श्रुतप्रमाणने वस्तुको आगमसे जाना है। यह शुद्धनय भी सब द्रव्योंसे भिन्न आत्माकी सब पर्यायोंमें व्याप्त पूर्णचैतन्य केवलज्ञानरूप सब लोकालोकके जानने वाले असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखलाता है, इसको यह व्यवहारी छद्मस्थ अल्पज्ञानी जीव आगमसे प्रमाण मानकर सानुभव आत्माका श्रद्धान करे, वही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जब तक व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वोंका ही श्रद्धान रहता है तब तक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन तत्त्वोंकी संतति याने परिपाटीको छोड़कर शुद्धनयका विषयभूत एक यह आत्मा ही हमको प्राप्त होओ, हम अन्य कुछ नहीं चाहते। यह वीतरागता पानेकी प्रार्थना है, कुछ नयपक्ष नहीं है। सर्वथा नयोंका पक्षपात मिथ्यात्व है। जैसे आत्मा चैतन्य है मात्र इतना ही आत्माको माने तो चैतन्यमात्र तो नास्तिकके अतिरिक्त सभी मत वाले आत्माको मानते हैं, यदि इतने ही श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा जाय तो सभीके सम्यक्त्व सिद्ध हो जायगा। सो ऐसा नहीं, तो क्या है? सर्वज्ञकी वाणी में जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे निश्चयसम्यक्त्व होता है। अब आगेके वक्तव्यकी उत्थानिकारूप कलश कहते हैं, 'अतः' इत्यादि। **अर्थ**—अब शुद्धनयके आधीन वह भिन्न आत्मज्योति प्रगट होती है जो नवतत्त्वमें प्राप्त होनेपर भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ती। **भावार्थ**—नवतत्त्वोंमें प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दीखता है। वास्तवमें यदि इसका भिन्न स्वरूप विचारा जाय तो यह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिको नहीं छोड़ता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह बताया था कि किन्हींको कभी व्यवहारनय भी

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थतया सुविदित, जीव अजीव अरु पुण्यपापास्रव ।
संवर निर्जर बन्धन, मोक्ष हि सम्यक्त्वके साधक ॥१३॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च । आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१३॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः, संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं । आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः । स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च

नामसंज्ञ—भूयत्थ, अभिगद, जीवाजीव, य, पुण्णपाव, च, आसवसंवरणिज्जर, बंध, मोक्ख, य,

---

तात्पर्य—एकत्वकी अभिमुखता लाकर नवतत्त्वोंका जानना सम्यक्त्वको संपादित करता ही है ।

टीकार्थ—जो जीवादि नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थनयसे जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं, क्योंकि तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थनयसे कहे जाने वाले जो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षण वाले जीवादि नवतत्त्व हैं उनमें एकत्व प्रगट करने वाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त कर शुद्धनयसे स्थापित किए गए आत्माकी ख्याति लक्षण वाली अनुभूतिकी प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्धनयसे नवतत्त्वको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है । वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला—ये दोनों पुण्य भी हैं और पाप भी हैं तथा आस्राव्य व आस्रावक (आस्रव करने वाले) ये दोनों आस्रव हैं; संवार्य (संवररूप होने योग्य) व संवारक (संवर करने वाले) ये दोनों संवर हैं, निर्जरने योग्य व निर्जरा करने वाले—ये दोनों निर्जरा हैं; बंधने योग्य व बंधन करने वाले ये दोनों बंध हैं और मोक्ष होने योग्य व मोक्ष करने वाले–ये दोनों मोक्ष हैं । क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती । वे दोनों जीव और अजीव हैं । इनको बाह्यदृष्टिसे देखा जाय तब जीव पुद्गलकी अनादिबंधपर्यायको प्राप्त करके उनका एकत्व अनुभव किये जानेपर तो ये नौ भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं तथा एक जीवद्रव्यके ही स्वभाव को लेकर अनुभव किये जानेपर ये अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं । जीवके एकाकार स्वरूपमें ये

मपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंत-मेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । या त्वनुभूतिः सात्म-ख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेवं निरवद्यं ।

च आस्रवसंवरनिर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सम्यक्त्व । मूलधातु—अभि-गम्लृ गतौ, पुण्य-पुञ् पवने, पाप-पा रक्षणे,

नौ तत्त्वोंमें बहुत कालसे छुपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनयसे प्रकट की गई है । जैसे कि वर्णों (रंगों) के समूहमें छुपे हुए एकाकार सुवर्णको प्रकट किया जाता है । अब हे भव्य जीवो, सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनके निमित्तसे हुए नैमित्तिक भावोंसे भिन्न एकरूप देखो जो हर एक पर्यायमें एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है ।

भावार्थ—यह आत्मा सब अवस्थाओंमें नानारूप दीखता था, उसे शुद्धनयने एक चैतन्यचमत्कार मात्र दिखलाया है सो अब सदा एकाकार ही अनुभवन करो । पर्यायबुद्धिका एकांत मत रखो ।

टीकार्थ—अब जैसे नवतत्त्वोंमें एक जीवका ही जानना भूतार्थ कहा है, उसी तरह एकत्वसे प्रकाशमान आत्माके अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय और निक्षेप हैं, वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी एक आत्मा ही भूतार्थ है, क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदोंसे वे प्रमा-णादि अनेक भेदरूप होते हैं । उनमेंसे प्रमाण दो प्रकार है—परोक्ष और प्रत्यक्ष । उपात्त अर्थात् इन्द्रिय और मन, अनुपात्त अर्थात् प्रकाश उपदेशादि इन दोनों परद्वारोंसे प्रवर्तमान ज्ञानको परोक्ष कहते हैं तथा जो आत्माके प्रतिनियतपनेसे प्रवर्तमान हो वह प्रत्यक्ष है अर्थात् प्रमाण ज्ञान है और वह पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान । उनमेंसे मति और श्रुत—ये दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि, मनःपर्यय—ये दो विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है । ये दोनों तरहके ही प्रमाण याने ये सब भेद प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और जिसमें सब भेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करनेपर अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

नय दो प्रकारके हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । उनमेंसे जो द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु को द्रव्यत्वकी मुख्यतासे अनुभव कराता वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्यायकी मुख्यतासे अनुभव कराता वह पर्यायार्थिकनय है । ये दोनों ही नय द्रव्य और पर्यायको भेदरूप अनुभव करनेपर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय इन दोनोंसे अनालीढ (स्वाद न लिये गये) शुद्ध वस्तुमात्र जीवके स्वभाव चैतन्यमात्रका अनुभव करनेपर वे भेदरूप नय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ

द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थं । अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । निक्षेपस्तु नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्च । तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम । सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना । वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, वर्तमानतत्पर्यायो भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थं । अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैक-

---

वहुवचन, जीवाजीवौ–प्रथमा द्विवचन, च–अव्यय, पुण्यपापं–प्रथमा एक०, च–अव्यय, आस्रवसंवरनिर्जराः–

नाश करने वाले शुद्धनयके विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्माके अनुभवमें आनेपर नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्तको प्राप्त हो जाता है और निक्षेपोंका समूह भी कहाँ चला जाता है यह हम नहीं जानते । इससे अधिक क्या कहें कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता अर्थात् यहाँ भेदको अत्यंत गौण कर कहा है कि शुद्ध एकाकार चिन्मात्रके अनुभव होनेपर प्रमाणनयादिक भेदकी तो बात क्या है, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता ।

इस विषयमें विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांतीका मत है कि परमार्थमें (असलमें) तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ, यही हमारा मत है, तुमने विशेष क्या कहा ? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मतमें सर्वथा अद्वैत मानते हैं । यदि सर्वथा अद्वैत ही माना जाय तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाय, किन्तु ऐसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है । जिनशासनमें नयविवक्षा है, वह बाह्य वस्तुका लोप नहीं करती । शुद्ध अनुभवसे विकल्प नष्ट हो जाता है, तब आत्मा परमानन्दको प्राप्त हो जाता है, इसलिये अनुभव करानेको ऐसा कहा गया है । यदि बाह्य वस्तुका लोप किया जावे तो आत्माका भी लोप हो जानेसे शून्यवादका प्रसंग आ सकता है । इसलिये मुखसे कहनेसे ही वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो जाती और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धाके विना जो शुद्ध अनुभव भी किया जाय वह भी मिथ्यारूप है । ऐसा होनेसे शून्यवादका प्रसंग आता है तब आकाशके फूलके समान अनुभव असत् हो जायगा ।

अब शुद्धनयका उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं—'आत्मस्वभावं' इत्यादि । अर्थ—परभावसे भिन्न, परिपूर्ण, आदि-अन्तरहित, एक, संकल्पविकल्पजालशून्य आत्मस्वभावको प्रकट करता हुआ अब शुद्धनय उदयरूप (उदीयमान) होता है । भावार्थ—शुद्धनय आत्माको परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विभाव सब तरहके परभावोंसे भिन्न प्रकट करता है । शुद्धनय समस्त रूपसे पूर्ण सब लोकालोकके जानने वाले स्वभावको प्रकट करता है, क्योंकि ज्ञानमें भेद कर्मसंयोगसे है, शुद्धनयमें कर्म गौण हैं । शुद्धनय आदिअंत रहित (कुछ आदि लेकर किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी किसीसे

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

जो लखता अपनेको, अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य व नियमित ।
अविशेष असंयोगी, उसको ही शुद्धनय जानो ॥१४॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं। अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः सात्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्तथाहि--यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमान-

---

नामसंज्ञ—ज, अप्प, अबद्धपुट्ठ, अणण्णय, णियद, अविसेस, असंजुत्त, त सुद्धणय। **धातुसंज्ञ**—पास दर्शने, बंध बंधने, जाण अवबोधने। **प्रकृतिशब्द**—यत्, आत्मन्, अबद्धस्पृष्ट, अनन्यक, नियत, अविशेष,

---

रहित (**अविशेषं**) विशेषरहित (**असंयुक्तं**) अन्यसे संयोगरहित—ऐसे पाँच भावरूप (**पश्यति**) अवलोकन करता है (**तं**) उसे (**शुद्धनयं**) शुद्धनय (**विजानीहि**) जानो।

तात्पर्य—सहजसिद्ध केवल अन्तस्तत्त्वका अवलोकनहार ज्ञान शुद्धनय (नयपक्षसे दूर) है।

टीकार्थ--निश्चयसे जो अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त--आत्मा का अनुभव है वह शुद्धनय है। और वह अनुभूति निश्चयसे आत्मा ही है। ऐसा आत्मा ही एक प्रकाशमान है अर्थात् शुद्धनय, आत्माकी अनुभूति या आत्मा इन सबका एक ही अभिप्राय है। यहाँ शिष्य पूछता है कि आपने जैसा कहा है, वैसे आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है? इसका समाधान--जो बद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भाव हैं उनमें अभूतार्थता है, असत्यार्थता है, इसलिये शुद्धनयात्मक ही आत्माकी अनुभूति है। इसी बातको दृष्टान्तसे प्रकट करते हैं--जैसे कमलिनीका पत्र जलमें डूबा हुआ है उसका जल-स्पर्शनरूप अवस्थासे अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्शरूप दशा भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तवमें जलके स्पर्शनयोग्य नहीं, ऐसे कमलिनीपत्रस्वभावको लेकर अनुभव किये जानेपर जल-स्पर्शरूप दशा अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। उसी तरह आत्माके अनादि पुद्गलकर्मसे बद्धस्पृष्टत्वरूप अवस्थासे अनुभव किये जानेपर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तवमें जो पुद्गलके स्पर्श योग्य नहीं, ऐसे आत्म-स्वभावको लेकर अनुभव किये जानेपर बद्धस्पृष्टत्व असत्यार्थ है। और जैसे मिट्टीका कुण्डो, घट, कलश, खप्पर आदि पर्यायभेदोंका अनुभव करनेपर अन्यत्व सत्यार्थ है तो भी सब पर्यायों

भूतार्थं तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययोष्ण्यसमाहितत्व-

---

कर्ताकारक, पश्यति—लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, आत्मानं—द्वितीया एक० कर्मकारक, अवद्धस्पृष्टं—

(अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, यह वस्तुका स्वभाव है, इसलिए वह नित्य नियत एकरूप नहीं दीखता । (४) वह दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणोंसे विशेषरूप दीखता है । (५) वह कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुए मोह रागद्वेपादिक परिणामसहित सुख दुःख स्वरूप दीखता है । यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनयका विषय है । उस दृष्टिसे देखा जाय तो यह सब ही सत्यार्थ है, परन्तु आत्माका एकस्वभाव नयसे ग्रहण नहीं होता और एकस्वभावके जाने बिना यथार्थ आत्माको कोई कैसे जान सके, इस कारण दूसरे नयको—इसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकको ग्रहण कर एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्माका भाव लेकर शुद्धनयकी दृष्टिसे सब परद्रव्योंसे भिन्न, सब पर्यायोंमें एकाकार, हानि-वृद्धिसे रहित, विशेषोंसे रहित, नैमित्तिक भावोंसे रहित देखा जाय तब सभी (पाँच) भावों द्वारा अनेकरूपता है वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । यहाँ ऐसा जानना कि वस्तुका स्वरूप जो अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है । आत्मा भी अनन्तधर्मा है, उसके कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हैं । जो कर्मके संयोगसे होते हैं, उनसे तो आत्माके संसारकी प्रवृत्ति होती है, और तत्सम्बन्धी सुख-दुःखादिक होते हैं उनको यह भोगता है । इस आत्माके अनादि अज्ञानसे पर्यायबुद्धि है, अनादि अनन्त एक आत्माका ज्ञान नहीं है । उसको बतलानेवाला सर्वज्ञका आगम है । उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह बतलाया गया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है—जो कि अखंड है, नित्य है, अनादिनिधन है । इसीके जाननेसे पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है । परद्रव्योंसे तथा उनके भावोंसे अथवा उनके निमित्तसे हुए अपने विभावोंसे पृथक् अपने आत्माको जानकर इसका अनुभव करें, तब परद्रव्यके भावस्वरूप परिणमन नहीं होता । उस समय कर्म नहीं बंधते तथा संसारसे निवृत्ति हो जाती है । इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहकर, शुद्धनिश्चयनयको सत्यार्थ कहकर आलम्बन दिया है । वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलंबन नहीं रहता । इस कथनसे ऐसा नहीं समझ लेना कि शुद्धनयको जो सत्यार्थ कहा है, इस

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात् जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ।।११।।

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।१२।।

द्वितीया एक० कर्मविशेषण, असंयुक्तं–द्वि० ए० कर्मविशेषण, तं–द्वि० ए०, शुद्धनयं--द्वितीया एक०, विजा-

---

शुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो, यह उपदेश है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य "भूतं" इत्यादि कहते हैं । **अर्थ**––यदि कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि भूत (पहले हुआ), भांत (वर्तमान) और अभूत (आगामी होने वाला) ऐसे तीनों कालके कर्मोंके बंधको अपने आत्मासे तत्काल पृथक् करके तथा उस कर्मके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप अज्ञानको अपने बल (पुरुषार्थ) से पृथक् कर अन्तरंगमें अभ्यास करे तो देखता है कि यह आत्मा, अपने अनुभवसे ही जानने योग्य प्रगट महिमामय, व्यक्त, अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत (नित्य) और कर्म-कलंक-कर्दमसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान हो रहा है । **भावार्थ**––शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो सब कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरंगमें स्वयं विराजमान है । पर्यायबुद्धि बहिरात्मा इसको बाहर ढूंढ़ता है सो बड़ा अज्ञान है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह कहा जा रहा था कि शुद्धनय अथवा भूतार्थनयसे आत्मतत्त्वका ज्ञान सम्यक्त्वको सम्पादित करता है सो यहाँ उसी शुद्धनयका विवरण दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश––(१) आत्मस्वभाव न किसी पदार्थसे बंधा हुआ है और न किसी पदार्थ से छुआ हुआ है । (२) आत्मस्वभाव नर नारक तिर्यच आदि किसी भी आकार पर्यायरूप नहीं है । (३) आत्मस्वभाव नित्य चैतन्यरूप व्यवस्थित है । (४) आत्मस्वभाव गुणभेदसे भी परे अखण्ड चिन्मात्र है । (५) आत्मस्वभाव अविकार है ।

सिद्धान्त––(१) पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् सत् होनेके कारण आत्मा वस्तुतः अबद्ध व अस्पृष्ट है । (२) आत्मा परमभावस्वरूप होनेसे स्वतः निराकार है । (३) आत्मा शाश्वत चिन्मात्र है । (४) आत्मा गुणपर्यायस्वभावसे अभिन्न है । (५) आत्मा स्वयं विकार रूप परिणमनेका निमित्त न हो सकनेसे स्वरूपतः अविकार है ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो लखता अपनेको, अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य अविशेष ।
मध्यान्त आदि अपगत, वह लखता सर्व जिनशासन ॥१५॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् । अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः, किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथाहि—

नामसंज्ञ—ज, अप्प, अबद्धपुट्ठ, अणण्ण, अविसेस, अपदेससुत्तमज्झ, जिणसासण, सव्व । **धातुसंज्ञ**—पास दर्शने, सास शासने । **प्रकृतिशब्द**—यत्, आत्मन्, अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, अपदेशसूत्रमध्य, जिन-

---

विशेष व्यञ्जनमिश्रितका आविर्भाव (प्रकटता) रूपसे आ रहा लवण स्वादमें आता है । परन्तु अन्यके असंयोगसे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव तथा विशेषके तिरोभावसे एकाकार अभेदरूप लवणका स्वाद नहीं आता । और जब परमार्थसे देखा जाय तब जो विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आया क्षार रसरूप लवण है, वही सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आया हुआ क्षार रसरूप लवण है । उसी तरह अबुद्ध ज्ञेयलुब्धोंको अनेकाकार ज्ञेयोंके आकारोंकी मिश्रतासे जिसमें सामान्यका तिरोभाव और विशेषका आविर्भाव ऐसे भावसे अनुभवमें आ रहा ज्ञान विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप स्वादमें आता है, परन्तु अन्य ज्ञेयाकारके संयोगसे रहित सामान्यका आविर्भाव और विशेषका तिरोभाव ऐसा एकाकार अभेदरूप ज्ञानमात्र अनुभवमें आता हुआ स्वादमें नहीं आता । और परमार्थसे विचारा जाय तब जो विशेषके आविर्भावसे ज्ञान अनुभवमें आता है, वही सामान्यके आविर्भावसे ज्ञानियोंके और ज्ञेयमें अनासक्तोंके अनुभवमें आता है । जैसे लवणकी डली अन्य द्रव्योंके संयोगके अभावसे केवल लवणमात्र अनुभव किये जानेपर एक लवण रस सर्वतः क्षाररूपसे स्वादमें आता है, उसी तरह आत्मा भी परद्रव्योंके संयोगसे भिन्न केवल एक भावसे अनुभव किये जानेपर सब तरफसे एक विज्ञानघन रूप होनेके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है ।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानकी अनुभूतिको आत्मानुभूति कहा गया है । अज्ञानी जन इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही लुब्ध हो रहे हैं, अतः विविध ज्ञेयोंके प्रतिफलनसे अनेकाकार हुए ज्ञानका ही ज्ञेयोंमें आकर्षित होते हुए आस्वादन करते हैं, ज्ञेयोंसे भिन्न सामान्य ज्ञानमात्रका आस्वाद नहीं लेते । और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानको ही

शुद्धचेतन, परम-पारिणामिक भाव, शुद्धचेतना, सर्वविशुद्ध, चिन्मात्र, चैतन्य, प्रभु, विभु, अद्वैत, विष्णु, ब्रह्मा, परमज्योति और शिव इत्यादि अनेक हैं।

यह समयसार अजर, अमर, अविकार शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, अपरिणामी, ध्रुव, अचल, एक-ज्ञायक-स्वरूप अनंतरसनिर्भर, सहजानन्दमय, चिन्मात्र, सहजसिद्ध, अकलंक, सर्वविशुद्ध, ज्ञानमात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप इत्यादि अनेक द्वार से सम्वेद्य है।

वस्तु-व्यवस्था

समयसारके विशद परिज्ञानका उपाय भेद-विज्ञान है। अनेक पदार्थोंको स्व स्व लक्षणोंसे पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थको लक्षित और उससे समस्त पदार्थोंको उपेक्षित कर देनेको भेद-विज्ञान कहते हैं। प्रकृत भेद-विज्ञानके लिए आत्म-अनात्मस्वरूप समस्त पदार्थोंका जान लेना प्रथम आवश्यक है। इस जानकारीके लिए समस्त पदार्थ कितने हैं यह जानना आवश्यक है। इस जानकारीके लिये आखिर एक पदार्थ होता कितना है यह भी जानना आवश्यक है।

एक परिणमन जितने पूरेमें होना ही पड़े और जितनेसे बाहर त्रिकालमें भी कभी न हो सके, उतनेको एक पदार्थ कहते हैं। जैसे—विचार, सुख, दुख, अनुभव आदि कोई परिणमन मेरा, केवल मेरे आत्मामें, व वह भी समस्त प्रदेशोंमें होता है और मेरे आत्म-प्रदेशोंसे बाहर अन्यत्र कभी नही हो सकता। इसलिए यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूं। इसी प्रकार सब आत्मा हैं। इस तरह विश्वमें अक्षय अनन्तानन्त आत्मा हैं। दृश्यमान स्कंधोंमें जो कुछ दीखता है वह एक एक नहीं है; क्योंकि जलनेसे या अन्य हेतुओंसे या समय व्यतीत होनेसे उस एक पिण्डमें एक जगह तो रूप-परिवर्तन और तरह देखा जाता है; किन्तु वह परिवर्तन सर्वत्र नहीं होता। इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श में भी विविधता देखी जाती है। एक पदार्थका जो लक्षण है उसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि इन पिण्डोंमें एक एक परमाणु करके अनन्त परमाणु हैं और वे एक-एक द्रव्य हैं। क्योंकि एक पदार्थका लक्षण इनमें घटित हो जाता है। इस तरह जब दृश्यमान छोटे से पिण्डमें अनन्त परमाणु हैं तब समस्त विश्वमें तो अक्षय अनन्तानंत परमाणु हैं। यह सुसिद्ध बात है। इन परमाणुओं को पुद्गल कहते हैं; क्योंकि इनमें पूर पूर कर एक पिण्ड होनेकी व गल-गलकर पुनः बिखरनेकी योग्यता है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्योंके चलनेमें जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है, और वह एक है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य के चलकर ठहरनेमें जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य है, वह भी एक है। समस्त जीव व पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि समस्त द्रव्योंके अवगाह का जो उदासीन हेतु है ऐसा आकाश एक द्रव्य है। इन सबके परिणमनका जो उदासीन हेतुरूप है वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य असंख्यात हैं। वे लोकाकाश (जितने आकाशमें सब द्रव्य है) के एक एक प्रदेशपर एक एक स्थित हैं। आकाश द्रव्य एक है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य ऐसे अनन्तानन्त पदार्थ है।

समयसारके परिज्ञानके लिए अब अनन्तानन्त पदार्थोंमें से एक आत्मा स्वके रूपमें और अवशिष्ट अन्य अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य एक आकाश द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य इन सबको परके रूपमें जानना चाहिये। इसके अनन्तर उस एक आत्मामें भी उन सभी गुण व सभी पर्यायोंकी दृष्टि गौण करके सनातन एक चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करनी चाहिये।

आवश्यक व ज्ञातव्य दृष्टियां

समयसारके परिज्ञानके लिए समयसार व समयसारसे भिन्न समस्त परभाव का जानना आवश्यक है और आवश्यक है उन समस्त परभावोंसे हटकर एक समयसारका ही उपयोग करना। एतदर्थ वह सब परिज्ञान अनेक दृष्टियोंसे आवश्यक होता है। अतः संक्षेपमें आवश्यक दृष्टियोंका वर्णन किया जाता है। इसके पश्चात् समयसार ग्रन्थमें वर्णित विषयोंका संक्षेप सारांश प्रकट किया जायगा। दृष्टिके अपर नाम नय, अभिप्राय, आशय, मत इत्यादि

ल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ।।१५।।

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलनिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ।।१४।।
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः । साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां ।।१५।।

अबद्धस्पृष्टं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण, अनन्यं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण, अविशेषं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण अपदेशसूत्रमध्यं–द्वितीया एक०, द्वितीय क्रियाके कर्मका विशेषण, पश्यति–लट् वर्तमान अन्य पुरुष एक०, जिनशासनं–द्वितीया एक० कर्मकारक ।।१५।।

स्वाद लेता है, परन्तु इस तथ्यका अज्ञान होनेसे परज्ञेयमें आसक्त होकर, लुब्ध होकर मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञेयाभिमुखरूपसे ज्ञानको स्वादता है, ज्ञानाभिमुखरूपसे ज्ञानको नहीं स्वादता। (३) जैसे नमकीन पकोड़ी खाने वाला नमकका स्वाद ले रहा है, परन्तु अबुद्ध जन पकोड़ीका आसक्त होकर पकोड़ीका ही स्वाद मानता हुआ नमकको स्वादता है, नमकका स्वाद मानता हुआ नमकको नहीं स्वादता है। (४) कोई केवल नमककी डलीको ही स्वादे तो वहाँ भ्रमकी गुंजाइश नहीं, मात्र नमकका ही स्वाद अनुभवा जाता है ऐसे ही कोई केवल ज्ञानस्वरूपको ही जाने अनुभवे तो वहाँ भ्रमकी गुंजाइश नहीं, मात्र ज्ञानका ही स्वाद अनुभवा जाता है।

सिद्धांत—(१) आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह जाननका ही कर्ता है चाहे विकल्परूप जानन का कर्ता रहे, चाहे अविकार जाननका कर्ता रहे। (२) अविकार मात्र ज्ञाता समयसारका द्रष्टा है।

दृष्टि— १– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहारनय (७३)। २– शुद्धनय (४६)।

प्रयोग—स्वाद तो सदा ज्ञानका ही लिया जा रहा, किन्तु परपदार्थोंमें, विषयोंमें सुख पानेका भ्रम होनेसे ज्ञेयोंकी ओर ही झुककर ज्ञानका स्वाद लिया जा रहा है अर्थात् ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लिया जा रहा है यह प्रक्रिया अनर्थकारी है। अतः इस तथ्यको जानकर सर्व परज्ञेयोंकी उपेक्षा करके अथवा परका ख्याल छोड़ करके मात्र ज्ञानस्वरूपका ज्ञान रखकर केवल ज्ञानका ही स्वाद लो ।।१५।।

अब अगली गाथाकी उत्थानिकारूप **"एष ज्ञान"** इत्यादि श्लोक कहते हैं। **अर्थ**—पूर्वकथित ज्ञानस्वरूप जो नित्य आत्मा है उसकी सिद्धिके इच्छुक पुरुषोंके द्वारा साध्य-साधक भावके भेदसे दो तरहका होनेपर भी एकरूप ही सेवनीय है, उसे सेवन करो अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र साधक भाव है यही गाथामें कहते हैं—

देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरं । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरण
चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरं, तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव

साधु, नित्यं, तत्, पुनस्, त्रि, अपि, आत्मन्, च, एव, निश्चयतः। **मूलधातु**—दृशिर् दर्शने, ज्ञा अवबोधने चर गत्यर्थः, साध संसिद्धौ । **पदविवरण**—दर्शनज्ञानचरित्राणि–प्रथमा बहुवचन कर्मवाच्यमें कर्म । सेवितव्यानि–प्रथमा बहुवचन, कृदन्त क्रिया । साधुना–तृतीया एक०, कर्मवाच्यमें कर्ता । नित्यं–अव्यय । तानि

स्वयं परमार्थ एकरूप ही है ।

आगे कहते हैं—"**दर्शन**" इत्यादि । **अर्थ**—व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभावरूप होनेसे अनेकाकार है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमता है । **भावार्थ**—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे आत्मा एक है; इस नयकी मुख्यतामें कहा जाय तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है । सो एकको तीनरूप परिणमता कहना यही व्यवहार हुआ, ऐसे व्यवहारनयसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम होनेसे आत्माको मेचक कहा है ।

अब परमार्थनयसे कहते हैं "परमार्थेन" इत्यादि । **अर्थ**—परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तब प्रकट ज्ञायकज्योतिमात्र आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सभी अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे हुए विभावोंको दूर करनेरूप स्वभाव है । अतः अमेचक है, अर्थात् शुद्ध एकाकार है ।

यहाँ प्रमाणनयसे मेचक अमेचक कहा सो इस चिन्ताको मेट जैसे साध्यकी सिद्धि हो वैसे करना यह "**आत्मनः**" इस काव्यमें कहते हैं । **अर्थ**—यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिन्ताको छोड़ो । साध्य आत्माकी सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों भावोंसे ही होती है दूसरी तरह नहीं, यह नियम है । **भावार्थ**—आत्मस्वभावकी सिद्धि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे होती है । ऐसा जो शुद्ध स्वभाव साध्य है, वह पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनयसे ही साधा जाता है, इसलिये ऐसा कहा गया है कि भेदाभेदकी कथनीसे क्या, जिस तरह साध्यकी सिद्धि हो वैसे करना । व्यवहारी जन भेद द्वारा ही तथ्य समझते हैं । इस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों परिणामरूप ही आत्मा है, इस तरह भेदकी प्रधानतासे अभेदकी सिद्धि करनेके लिये कहा गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व जिस शुद्ध आत्माके दर्शनका आदेश था उसकी दृष्टि व उपासना किस प्रकार करना चाहिये, इस उत्सुकताकी पूर्ति इस गाथासे हो जाती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है अर्थात् शुद्धात्मोपलब्धि साध्य है और शुद्धात्मानुवृत्ति साधन है । (२) निश्चयनयसे आत्मा सेवने योग्य है (३) व्यवहारनयसे दर्शन, ज्ञान व चारित्र सेवने योग्य है । (४) परमार्थतः दर्शन, ज्ञान

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥ (युगलम्)

ज्यौं कोई पुरुष धनका, इच्छुक नृपको सु जानकर माने ।
सेवा भि करे उसकी, उसके अनुकुल यत्नोंसे ॥१७॥
त्यौं मोक्षरुचिक पुरुषो, शुद्धात्मा देवको सही जानो ।
मानो व भजो उसको, स्वभावसद्भाव यत्नोंसे ॥१८॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति । ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः । अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति । तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां । तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं

नामसंज्ञ—जह, णाम, क, वि, पुरिस, राय, तो, त, पुणो, अत्थत्थि, पयत्त, एवं, हि, जीवराय, तह, य, य, पुणो, त, चेव, दु, मोक्खकाम । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, सद्-दह धारणे, अनु-चर गतौ, काम इच्छायां । **प्रकृतिशब्द**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, राजन्, तत्, तत्, पुनर्, अर्थार्थिक, प्रयत्न, एवं,

---

मोक्षको चाहने वाला पहले तो आत्माको जाने, अनन्तर उसीका श्रद्धान करे उसके पश्चात् उसीका अनुचरण करे, क्योंकि निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप साध्यकी इसी प्रकार उपपत्ति (सिद्धि) है अन्यथा अनुपपत्ति है । जिस समय आत्माके अनुभवमें आये हुए अनेक पर्यायरूप भेदभावोंसे मिश्रितता होनेपर भी परम भेदज्ञानकी प्रवीणतासे जो यह अनुभूति है कि "यही मैं हूं" ऐसे आत्मज्ञानसे युक्त होता हुआ यह आत्मा जैसा जाना वैसा ही है, ऐसी प्रतीतिस्वरूप श्रद्धान प्रकट होता है उसी समय समस्त अन्य भावोंसे भेद होनेके कारण निःशंक ही ठहरनेमें समर्थ होनेसे उदीयमान हुआ आत्माका आचरण आत्माको साधता है । इस तरह तो साध्य आत्माकी सिद्धिकी तथोपपत्ति प्रसिद्ध है । परन्तु जिस समय ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा बाल गोपाल तक सदाकाल स्वयं ही अनुभवमें आता भी अनादिबंधके वशसे परद्रव्यों सहित एकत्वका निश्चय कर अज्ञानीके "यह मैं हूं" ऐसा अनुभूतिरूप आत्मज्ञान नहीं प्रकट होता, उसके अभावसे अज्ञात गधेके सींगके समान श्रद्धानका भी उदय नहीं होता । उस

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥१७-१८॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारण-पूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा, नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत् । तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयतां—

ततः हेत्वर्थे पंचम्यां तस्-अव्यय । तं-द्वितीया एक० , अनुचरति-अनु-चरति-अन्य पुरुष एक० क्रिया । पुनः-अव्यय । अर्थार्थिकः-प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण । प्रयत्नेन-तृतीया एक० । एवं-अव्यय । जीवराजः-प्रथमा एक० कर्मवाच्यमें कर्म । ज्ञातव्यः-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । तथा च-अव्यय । श्रद्दधातव्यः-प्रथमा ए० कृदन्त क्रिया । अनुचरितव्यः-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । सः-प्रथमा एक० कर्मवाच्यमें कर्म । तु-अव्यय । मोक्षकामेन-तृतीया एक०, कर्मवाच्यमें कर्ता या कर्तृ विशेषण ।

---

(२) आत्मपरिचयके बाद आत्माका अनुभवपूर्वक श्रद्धान होता है । (३) सानुभव श्रद्धानके साथ ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है । (४) आत्माका श्रद्धान ज्ञान होनेपर आत्माके अनुरूप आचरण होता है । (५) आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे सहजपरमात्मतत्त्वकी सिद्धि होती है । (६) आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणके न होनेपर सहजपरमात्मतत्त्वकी सिद्धि कभी नहीं होती ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्मा निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानसे ज्ञातव्य है । (२) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है ।

दृष्टि—१- शुद्धनय (४६) । २- एवंभूतनय (४३) ।

प्रयोग—आत्माको व्यवहारनयसे (गुणादिपरिचयसे) पहिचानकर सहजज्ञानानन्दस्व-भाव शुद्ध अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान कर निर्विकल्प स्वसंवेदन समाधिसे निरन्तर अनुभव करना ॥१७-१८॥

प्रश्न—आत्मा तो ज्ञानसे तादात्म्यस्वरूप है, जुदा नहीं है, इसलिये आत्मा ज्ञानका नित्य सेवन करता ही है, फिर ज्ञानकी ही उपासना करनेकी शिक्षा क्यों दी जाती है ? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, यद्यपि आत्मा ज्ञानसे तादात्म्यरूप है तो भी यह एक क्षणमात्र भी ज्ञानकी उपासना नहीं करता । इसके ज्ञानकी उत्पत्ति स्वयं ही जाननेसे अथवा दूसरेके बतलानेसे होती है; क्योंकि या तो काललब्धि आये तब आप ही जान लेता है या कोई जनावे तब जान सकेगा । **प्रश्न**—यदि इस तरह है तो जाननेके कारणके पहले आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि सदा ही इसके अप्रतिबुद्धपना है ? **उत्तर**—यह बात ऐसे ही है कि वह अज्ञानी ही

पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोऽन्तरंगा नोकर्मशरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं

अहक, च, कर्मन्, नोकर्मन्, यावत्, एतत्, खलु, बुद्धि, अप्रतिबुद्ध, तावत्। मूलधातु—डुकृञ् करणे, बुध अवगमने, भू सत्तायां। पदविवरण—कर्मणि–सप्तमी एकवचन। नोकर्मणि–सप्तमी एक०। च–अव्यय। अहं–प्रथमा एक०। इति–अव्यय। अहकं–प्रथमा एक०। कर्म–प्रथमा एक०। नोकर्म--प्रथमा एक०।

जायगी तब ही यह आत्मा प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होगा।

भावार्थ—जब तक जीव ऐसा जानता है कि जैसे स्पर्श आदिक पुद्गलमें हैं और पुद्गल स्पर्शादिमें है उसी तरह जीवमें कर्म नोकर्म हैं और कर्म नोकर्ममें जीव है तब तक तो वह अज्ञानी है और जब यह जान ले कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल ही हैं तभी यह ज्ञानी होता है। जैसे दर्पणमें अग्निकी ज्वाला दीखती हो, वहाँ ऐसा जाने कि ज्वाला तो अग्निमें ही है, दर्पणमें नहीं बैठी, जो दर्पणमें दीख रही है वह दर्पणकी स्वच्छता ही है। इसी तरह कर्म नोकर्म अपने आत्मामें नहीं बैठे, आत्माके ज्ञानकी स्वच्छता ऐसी है जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास होता है। इस प्रकार कर्म नोकर्म ज्ञेय हैं, वे मात्र प्रतिभासित होते हैं, ऐसा अनुभव स्वयमेव हो अथवा उपदेशसे हो तब ही ज्ञानी होता है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं "**कथमपि**" इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष आपसे ही अथवा परके उपदेशसे किसी तरह भेदविज्ञानमूलक अविचल निश्चल अपने आत्माकी अनुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी तरह अपने आत्मामें प्रतिबिम्बित हुए अनंत भावोंके स्वभावोंसे निरन्तर विकाररहित होते हैं। **भावार्थ**—ज्ञानमें प्रतिफलित ज्ञेयाकारोंसे ज्ञानी विकृत नहीं बनते।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ज्ञानमय आत्माकी उपासनाके प्रकरणमें यह प्रश्न हुआ था कि आत्मा तो ज्ञानमय है ही उसकी उपासनाका उपदेश बेकार है उसके उत्तर में कहा था कि आत्मा ज्ञानमय तो है, किन्तु उसका ज्ञान न होनेसे अज्ञानी है, अतः उसे ज्ञान की उपासनाका उपदेश किया जाता है। इसपर यह प्रश्न हुआ कि फिर यह कितने समय तक अज्ञानी रहता है। इस प्रश्नका उत्तर इस गाथामें दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) अज्ञानीको घटमें घटाकारादिके अभेदकी भाँति विभाव व देहमें "मैं हूँ" की अभेदसे अनुभूति रहती है। (२) ज्ञानीको दर्पण और जिसका दर्पणमें प्रतिबिम्ब हुआ, ऐसे अग्निकी उष्णता व ज्वालाके भेदकी तरह, अपनी ज्ञातृता (ज्ञातापन) व पुद्गलोंकी देहादिदशाका भेद ज्ञात रहता है और इस भेदविज्ञानके परिणाममें अपनेको ज्ञानमात्र अनुभ-

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत—

अहमेदं एदमेहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अरणं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥ (त्रिकलम्)

जगमें जो कुछ दिखता, सजीव निर्जीव मिश्र वा वस्तू।
मैं यह यह मैं मैं हूं, इसका यह सब तथा मेरा ॥२०॥
यह पहले मेरा था, इसका मैं था भि पूर्व समयोंमें।
मैं होऊंगा इसका, यह सब होगा तथा मेरा ॥२१॥
ऐसा असत्य अपना, करता मानन विकल्प यह मोही।
किन्तु नहिं भ्रान्ति करता, भूतार्थात्मज्ञ निर्मोही ॥२२॥

अहमेतदेतदहमहमेतस्यैवास्मि ममैतत्। अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतद् एतस्याहमप्यासं पूर्वं हि। भविष्यति पुनरपि मम एतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः। भूतार्थं जानन्न करोति तमसंमूढः ॥२२॥

यथाग्निरिंधनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्त्यग्नेरिंधनं पूर्वमासीदिंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतींधन एवासद्भूताग्निविक-

नामसंज्ञ—अम्ह, एत, अम्ह, अम्ह, एत, एव, अम्ह, एत, अण्ण, ज, परदव्व, सच्चित्ताचित्तमिस्स, वा, अम्ह, पुव्वं, एत, एत, अम्ह, पि, पुव्वं, हि, पुणो, वि, अम्ह, एत, अम्ह, पि, एत, तु, असंभूद, आदवियप्प, संमूढ, भूदत्थ, जाणंत, ण, दु, त, असंमूढ। धातुसंज्ञ—हो सत्तायां, द्रव प्राप्तौ, अस सत्तायां, कर

अग्निका विकल्प करता है वह झूठा है। इसीसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जा सकता है। उसी तरह (दार्ष्टान्तमें देखिये) कोई परद्रव्यमें असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि मैं यह परद्रव्य हूं और यह परद्रव्य मैं हूं, मेरा यह परद्रव्य है, इस परद्रव्यका मैं हूं, मेरा यह पहले था, इसका मैं पहले था, मेरा यह फिर होगा, इसका मैं फिर होऊँगा, ऐसे झूठे विकल्पसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जाता है। तथा अग्नि ईंधन नहीं है, ईंधन अग्नि नहीं है, अग्नि अग्नि ही है, ईंधन ईंधन ही है, अग्निका ईंधन नहीं है, ईंधनकी अग्नि नहीं है, अग्निकी अग्नि है, ईंधनका ईंधन है, अग्निका ईंधन पहले हुआ नहीं, ईंधनकी अग्नि पहले हुई नहीं,

ग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतींधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् । त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् । इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं ।।२२।।२०-२१-२२।।

पूर्व–प्रथमा एक० अथवा अव्यय । एतत्–प्रथमा एक० । एतस्य–षष्ठी एक० । अहं–प्रथमा एक० । अपि–अव्यय । आसम्–भूते लुङ् उत्तम एक० क्रिया । भविष्यति–लृट् भविष्यत् अन्य० ए० क्रिया, पुनः–अव्यय । मम–षष्ठी एक० । भविष्यामि–भविष्यत् लृट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया । एतत्–प्रथमा एक० । तु–अव्यय । असद्भूतं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण । आत्मविकल्पं–द्वितीया एक० कर्मकारक । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । संमूढः–प्रथमा एकवचन । भूतार्थं–द्वितीया एकवचन । जानन्–प्रथमा विभक्ति एकवचन कृदन्त । न–अव्यय । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तु–अव्यय । तं–द्वि० ए० कर्म । असंमूढः–प्रथमा एकवचन कर्ता ।।२०-२१-२२।।

अनादिसे लगा हुआ जो परद्रव्यसे मोह है उस एकपनेके मोहको अब छोड़ो और ज्ञानका आस्वादन करो । मोह वृथा है, मिथ्या है, दुःखका कारण है । ऐसा भेदविज्ञान करना है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व बताया गया था कि यह आत्मा कब तक अज्ञानी रहता है । अब उसीके विषयमें बताना है कि वह कैसे पहिचाना जाता है कि यह अज्ञानी है, इसका विवरण इन तीन गाथावोंमें बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो परद्रव्यमें ऐसा विश्वास रखता है कि "मैं यह हूं या यह मैं हैं" वह जीव अज्ञानी है । (२) जो परद्रव्यमें ऐसा विश्वास रखता है "मेरा यह है या इसका मैं हूं" वह अज्ञानी है । (३) जो परद्रव्यमें ऐसा विश्वास रखता है कि मेरा यह पहिले था या इसका मैं पहिले था" वह अज्ञानी है । (४) जो परद्रव्यमें ऐसा विश्वास रखता है कि मेरा यह फिर होगा या इसका मैं फिर होऊँगा वह अज्ञानी है ।

सिद्धान्त—उक्त चार बातें मिथ्या हैं जिनकी दृष्टियां उपचारसम्बंधी निम्नलिखित हैं।

दृष्टि—१– द्रव्ये द्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१०६) । २, ३, ४– परसम्बन्धव्यवहार (१३५) ।

प्रयोग—तथ्यप्रकाशमें बताये गये उपचारकी मिथ्या जानकर अपनेमें परद्रव्यके विषयमें ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मैं यह नहीं हूं, यह मैं नहीं है, मेरा यह नहीं है, इसका मैं नहीं हूं, मेरा यह नहीं था, इसका मैं नहीं था, मेरा यह कभी नहीं होगा, इसका मैं

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्, आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसा-

---

इदम्, पुद्गल, द्रव्य, बद्ध, अबद्ध, च, तथा, जीव, बहुभावसंयुक्त, सर्वज्ञज्ञानदृष्ट, जीव, उपयोगलक्षण, नित्य, कथं, तत्, पुद्गलद्रव्यीभूत, यत्, अस्मद्, इदम्, यदि, तत्, पुद्गलद्रव्यीभूत, जीवत्व, आगत, इतर तर्हि—अव्यय, शक्त, यत्, अस्मद्, इदम्, पुद्गल, द्रव्य। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, मुह वैचित्ये, भण शब्दार्थः, दृशिर् प्रेक्षणे, शक्लृ-शक्तौ, वच परिभाषणे। **पदविवरण**—अज्ञानमोहितमतिः-प्रथमा एकवचन

जो [**भणसि**] तू कहता है कि [**इदं मम**] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। [**यदि**] यदि [**सः**] जीवद्रव्य [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [**इतरत्**] पुद्गलद्रव्य भी [**जीवत्वं**] जीवपनेको [**आगतं**] प्राप्त हो जाय। कदाचित् भी ऐसा हो सके [**तत्**] तो [**वक्तुं शक्तः**] तुम कह सकते हो [**यत्**] कि [**इदं पुद्गलद्रव्यं**] यह पुद्गलद्रव्य [**मम**] मेरा है, किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

तात्पर्य—स्व आत्माका लक्षण व परका लक्षण विज्ञात होते ही अज्ञान दूर हो जाता है।

टीकार्थ—एक साथ अनेक प्रकारकी बन्धनोपाधिके सन्निधानसे वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभाव भावोके संयोगवश अज्ञानी जीव, विचित्र आश्रयसे उपरक्त स्फटिक पाषाणकी तरह स्वभावभाव अत्यन्त तिरोहित होनेसे जिसकी समस्त भेदविज्ञानज्योति अस्त हो गई ऐसा स्वयं अज्ञानसे विमूढहृदय होकर जो अपने स्वभाव नहीं हैं, ऐसे विभावोंको करता हुआ वह पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है। ऐसे अज्ञानीको समझाते हैं कि रे दुरात्मन्! आत्माका घातक! तू परम अविवेकसे जैसे तृणसहित सुन्दर आहारको हाथी आदि पशु खाते हैं उसी तरहके खाने का स्वभाव छोड़-छोड़। जो सर्वज्ञके ज्ञानसे प्रकट किया नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य वह कैसे पुद्गलरूप हो सकता जिससे कि तू "यह पुद्गल मेरा है" ऐसा अनुभव करता है। कैसा है सर्वज्ञका ज्ञान जिसने समस्त संदेह विपर्यय अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं समस्त वस्तुके प्रकाशनेको एक अद्वितीय ज्योति है। ऐसे ज्ञानसे दिखलाया गया है। और कदाचित् किसी प्रकार जैसे लवण तो जलरूप तथा जल लवणरूप हो जाता है उसी प्रकार जीवद्रव्य तो पुद्गल हो जाय तथा पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जाय तो तेरी "पुद्गलद्रव्य मेरा है" ऐसी अनुभूति बन जाय, किन्तु ऐसा तो किसी तरह भी द्रव्यस्वभाव बदल नहीं सकता। यही दृष्टांतसे अच्छी

लक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवन्नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवद् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते । तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव । अपि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तं । पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥२३॥२३-२४-२५॥

सः–प्रथमा एक० । पुद्गलद्रव्यीभूतः–प्रथमा एक० । जीवत्वं--प्रथमा एक० । आगतं–प्रथमा एक० कृदन्त आ-गत, इतरत्–प्रथमा एक० । तर्हि--अव्यय । शक्तः–प्रथमा एक० कृदन्त । वक्तुं–प्रयोजने अव्यय कृदन्त । यत्–प्रथमा एक० या अव्यय । मम–षष्ठी एक० । इदं--प्रथमा एक० । पुद्गलं--प्रथमा एक० । द्रव्यम्--प्रथमा एक० ॥२३-२४-२५॥

मिथ्यात्वका नाश करना व सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना तो बहुत ही सुगम है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानी जीवका परिचय क्या है ? अब यहाँ उस अज्ञानी जीवको समझानेके लिये उद्यम हो रहा है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निमित्तका सन्निधान होनेपर अस्वभावभाव त्वरित होते हैं । (२) स्वभावभाव तिरोहित होनेसे विवेकज्योति अस्त हो जाती है । (३) विवेकज्योतिरहित अज्ञानी भेदज्ञान न होनेसे अस्वभावभाव (विकारभाव) को स्वीकार कर लेता है याने मान्यता में अपने कर लेता है । (४) ज्ञानी जानता है कि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप कभी नहीं हो सकता है, अतः अपनेको ज्ञानस्वरूप ही स्वीकार करता हैं ।

सिद्धान्त—(१) निमित्तसान्निध्यमें उपादान तदनुरूप परिणमन करता है । (२) अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लेनेपर निमित्त और नैमित्तिक भाव विघटने लगते हैं ।

दृष्टि— १—उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २—उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—अपना सर्वस्व ज्ञानस्वरूप, उपयोग निरखकर उसीके प्रति अभिमुख रहें, कल्याणके लिये जो होना होता है वह स्वयं होगा ॥२३-२४-२५॥

अब अप्रतिबुद्ध कहता है कि [**यदि**] जो [**जीवः**] जीव है वह [**शरीरं न**] शरीर नहीं है तो [**तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिः**] तीर्थंकर व आचार्योंकी स्तुति [**सर्वापि**] सब ही [**मिथ्या भवति**] मिथ्या हो जाती है [**तेन तु**] इसलिए हम समझते हैं कि [**आत्मा**] आत्मा [**देहः चैव**] यह देह ही [**भवति**] है ।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव दिखने वाले परमौदारिक शरीरको ही भगवान समझता है ।

टीकार्थ—यदि जो आत्मा है वह ही पुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीर न हो तो तीर्थंकरों व आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या होजायगी । वह स्तुति इस तरह है—

श्रवणयो: साक्षात्क्षरंतोऽमृतं वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।२४।। इत्यादिका तीर्थङ्कराचार्य्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात् । ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यम् । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः ।।२६।।

शरीरं–प्रथमा एक० । तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः–प्रथमा एक० । च–अव्यय । एव–अव्यय । सर्वा–प्रथमा ए० । अपि–अव्यय । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । मिथ्या–अव्यय । तेन–तृतीया एक० । तु–अव्यय । आत्मा–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । देहः–प्र० एकवचन ।।२६।।

देहादि संश्लिष्ट पदार्थके स्तवनसे प्रभुस्तवन मान लेना मिथ्या है ।

दृष्टि— १–परकर्तृत्व व्यवहारादि परसम्बंधपर्यन्तव्यवहार (१२९-१३५) । (२) संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२५) ।

प्रयोग—प्रभुके देहातिशय आदिको जानकर प्रभुके गुणोंकी निर्मलतापर दृष्टि जाना चाहिये कि धन्य है प्रभुत्वविकासको जिसका निमित्त पाकर देहादिमें भी अलौकिक अतिशय हो जाता है । उपचारस्तवनोंमें इस प्रकार प्रभुत्वविकासपर ही दृष्टि होनी चाहिये ।।२६।।

वह नयविभाग कैसा है उसको गाथा द्वारा बतलाते हैं—[**व्यवहारनयः**] व्यवहार-नय तो [**भाषते**] ऐसा कहता है कि [**जीवः च देहः**] जीव और देह [**एकः खलु**] एक ही [**भवति**] है [**च**] और [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयका मत है कि [**जीवः देहः तु**] जीव और देह—ये दोनों [**कदापि**] कभी [**एकार्थः**] एक पदार्थ [**न**] नहीं हो सकते ।

तात्पर्य—व्यवहारनयके दर्शनमें जीव और देह एक है, किन्तु निश्चयनयके दर्शनमें जीव और देह कभी भी एक नहीं हो सकते । क्योंकि प्रभु व देह व्यवहारमें एकक्षेत्रावगाही है, परन्तु सत्त्व, स्वरूप अलग-होनेसे वे दोनों एक वस्तु नहीं ।

टीकार्थ—जैसे इस लोकमें सुवर्ण और चांदीको गलाकर मिलानेसे एक पिंडका व्यवहार होता है, उसी तरह आत्माके और शरीरके परस्पर एक जगह रहनेकी अवस्था होनेसे एकत्व का व्यवहार होता है । इस प्रकार व्यवहारमात्रसे ही आत्मा और शरीरका एकत्व है, परन्तु निश्चयसे एकत्व नहीं है; क्योंकि पीले स्वभाव वाला सोना है और सफेद स्वभाव वाली चांदी है, उनको जब निश्चयसे विचारा जाय तब अत्यन्त भिन्नता होनेसे एक पदार्थकी असिद्धि है, इसलिये अनेकरूपता ही है । उसी तरह आत्मा और शरीर उपयोग तथा अनुपयोग स्वभाव वाले हैं । उन दोनोंके अत्यंत भिन्नपना होनेसे एक पदार्थपनेकी प्राप्ति नहीं है, इसलिये अनेकता ही है । ऐसा यह प्रकट नयविभाग है । इस कारण व्यवहारनयसे ही शरीरकी स्तुति करनेसे आत्माकी स्तुति हो सकती है ।

भावार्थ—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीरको एक कहता है और निश्चयनय एक

प्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ कौन है तो यह निःशंक कहा जा सकता है कि एक तत्त्वार्थ-सूत्र और दूसरा समयसार। ये दो ग्रन्थ प्रमुख लोकोपयोगी हैं। समयसारमें तो आत्म-तत्त्व विषयक सुविवेचना है और तत्त्वार्थसूत्रमें पदार्थकी विविध विषयक सुविवेचना है।

समयार ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय विस्तृत है। अतः इसके मूलकर्ता (गाथाकार) पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य) की रचना इस प्रकार हुई है :—प्रारम्भ की १२ गाथा तो समयसारकी पीठिका है। पश्चात् मुख्य विषय जीवके स्वरूपका है सो जीवाधिकार आया। पश्चात् अजीवाधिकार आया। पश्चात् जीव-अजीवके बन्धनके मूल का अर्थात् कर्तृ-कर्म-भावका अधिकार आया। पश्चात् कर्तृकर्म भावके परिणाम स्वरूप अथवा संसारके प्रधान एक भाव निमित्तभूत पुण्यपापकर्मका अधिकार आया। पश्चात् पुण्यपापकर्मके द्वारभूत आस्रवका अधिकार आया। इसके पश्चात् आस्रवके विपक्षी अथवा मुक्तिके मूल उपायभूत संवरका अधिकार आया। पश्चात् संवरके होनेपर कार्यकारी एवं मोक्षके साधनभूत निर्जराका अधिकार आया। पश्चात् मोक्षके विपक्षभूत बन्धका अधिकार आया। पश्चात् मोक्षका अधिकार आया। पश्चात् मुक्ति के सर्व उपायोंके लक्ष्यभूत समयसारका विशुद्ध वर्णन करनेके लिए सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार आया। अन्तमें इसी तत्त्वका तथा पूर्वमें उक्त व अनुक्त विषयोंका उपसंहार करने वाला परिशिष्ट रूप स्याद्वाद अधिकार आया।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थमें (१) पीठिका (२) जीवाधिकार (३) अजीवाधिकार (४) कर्तृ-कर्माधिकार। (५) पुण्य-पापाधिकार (६) आस्रवाधिकार (७) संवराधिकार (८) निर्जराधिकार (९) बंधाधिकार (१०) मोक्षाधिकार (११) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार (१२) चूलिकाधिकार और (१३) स्याद्वादाधिकार आये। इन १३ अधिकारों में आत्मतत्त्व का वर्णन किया है। अद्यतन प्रसिद्धिके अनुसार पीठिका व जीवाधिकारका वर्णन एक धारामें होनेके हेतु इन दो अधिकारोंका एक पूर्वरंग हो जानेसे, व अजीवाधिकारमें ही विधि-निषेधके रूपमें जीवका वर्णन आ जानेके हेतु अजीवाधिकार हो जानेसे, तथा सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार व चूलिकाधिकार का विषय भी एक धारामें चलने से एवं स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार समय प्राभृत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्दजी सूरि की स्वतन्त्र रचना होने से (१) पूर्वरंग (२) जीवाजीवाधिकार (३) कर्तृकर्माधिकार (४) पुण्य-पापाधिकार (५) आस्रवाधिकार (६) संवराधिकार (७) निर्जराधिकार (८) बंधाधिकार (९) मोक्षाधिकार (१०) सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। इस प्रकार १० अधिकार हैं।

अब समयसार ग्रन्थके उक्त अधिकारोंमें किस किस विषयका वर्णन है, इसपर संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है ताकि यह भी सुगमतासे जाननेमें आ सके कि द्वैतभावसे की गई अनेक ऋषियोंकी पूर्वोक्त विभिन्न आध्यात्मिक धारणाओंका लक्ष्य भी यही समयसार है; चाहे उनमें से किसीने उसपर लक्ष्य कर पाया हो या न कर पाया हो।

पीठिका

सर्व प्रथम समयसारके पूर्ण अनुरूप विकास अर्थात् सिद्ध प्रभुको नमस्कार करके समय (सामान्य आत्मा) का इस प्रकार संकेत किया है कि समयकी दो अवस्थायें होती हैं (१) स्वसमय (शुद्धावस्था) (२) परसमय (अशुद्धावस्था)। जो अपने दर्शन-ज्ञान-चरित्रमें स्थित हो, अर्थात् शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय निज परमात्मतत्वकी रुचि, संवित्ति व निश्चल अनुभूतिसे परिणत हो, सो स्वसमय है और जो औपाधिक भावोंमें स्थित हो सो परसमय है। ये दोनों अवस्थायें जिस एक पदार्थकी हैं वह समय है। अन्य सर्व परपदार्थोंसे, सर्व पर्यायोंसे भिन्न देखा गया, केवल यही समय समयसार कहलाता है।

संसारी जीवोंने इस समयसारकी दृष्टि नहीं की। इसी कारण इसे जीवलोकमें आपत्तियोंका भाजन होना पड़ा है। इस समयसारका वर्णन करनेके पहले ग्रन्थकर्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि इस समयसार (एकत्व विभक्त आत्मा) को आत्मविभव द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखा दूं तो स्वयं अपने विभवसे प्रमाण करना, यदि दिखानेमें चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना। दिखाना शब्दों द्वारा ही तो हो रहा है, यह क्रिया नयगर्भित है अतः सुननेमें नयका ठीक उपयोग न करनेसे श्रोताका चूकना सम्भव है। इस ही ज्ञातको अपनेपर लेनेसे ग्रन्थकर्ताकी कितनी निर्गर्वता प्रकट हुई है और स्वयं अनुभवसे प्रमाण करना चाहिये इस भाव द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्यकी प्रतीति

पपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं ॥२७॥

निश्चयस्य–षष्ठी एक० । जीवः–प्रथमा एक० । देहः–प्रथमा एक० । च--अव्यय । कदा–अव्यय । अपि--अव्यय । एकार्थः–प्रथमा एकवचन ॥२७॥

स्वरूपमें विश्राम करना चाहिये ॥२७॥

यही बात आगेकी गाथामें स्पष्ट करते हैं—[**जीवात् अन्यं**] जीवसे भिन्न [**इमं पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देहकी [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**खलु मन्यते**] निश्चयतः ऐसा मानता है कि [**मया**] मैंने [**केवलीभगवान्**] केवलीभगवान्की [**स्तुतः**] स्तुति की और [**वंदितः**] वन्दना की ।

तात्पर्य—देहकी स्तुति करनेपर प्रभुकी ही स्तुति होना अज्ञानी मानता है ।

टीकार्थ—जैसे चाँदीके गुण श्वेतपनेके नामसे सुवर्णको भी श्वेत कहते हैं सो परमार्थसे विचारा जाय तब सुवर्णका स्वभाव सफेद नहीं है, पीला है; तो भी व्यवहारमात्रसे ही स्वर्ण श्वेत है, ऐसा कहा जाता है । उसी तरहसे शुक्ल रक्तपना आदिक शरीरके गुण हैं, उनके स्तवनसे परमार्थसे शुक्लपना आदि तीर्थंकर केवली पुरुषका स्वभाव न होनेपर भी तीर्थङ्कर केवली पुरुषका व्यवहारमात्रसे ही तीर्थङ्कर केवली पुरुष शुक्ललोहित है, ऐसा स्तवन होता है । परन्तु निश्चयनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन नहीं बन सकता ।

प्रश्न—व्यवहारनयको तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है सो व्यवहारका आश्रय करके जड़की स्तुति करनेका क्या फल है ? **उत्तर**—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है निश्चयको प्रधान कर असत्यार्थ कहा है, छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) को अपना परका आत्मा साक्षात् दीखता नहीं है शरीर ही दीखता है, उसकी शान्तरूप मुद्राको देख अपने भी शांतभाव हो जाते हैं । अतः ऐसा उपकार जान शरीरके आश्रयसे भी स्तुति करता है, शांतमुद्रा देख अन्तरंगमें वीतराग भावका निश्चय होता है यह भी तो उपकार है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्रासंगिक स्तुतिके विषयमें बताया गया था कि अप्रतिबुद्ध व्यवहार व निश्चयका विभाग नहीं जानता । उसके सम्बन्धमें यहाँ व्यवहारस्तुतिका विभाग बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रभुकी निर्मलताके अतिशयसे वह देह भी निर्मल हो गया है, निमित्तप्रदर्शनार्थ व प्रयोजनवश प्रभुस्तवनके लिये देहके गुणोंका स्तवन किया जाता है । (२) निश्चयनयसे आत्माके स्तवनसे ही आत्माका स्तवन माना जाता है ।

सिद्धान्त—(१) निमित्तका प्रसाद बतानेके लिये अन्य द्रव्यके नैमित्तिक अतिशयकी

तथाहि—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२६॥

यह न सही निश्चयसे, होते तनके न केवलीमें गुण।
जो प्रभुके गुण कहता, वही प्रभूका स्तवन करता ॥२६॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः। केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति।

यथा कार्त्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थङ्करकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थङ्करकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनात् ॥२६॥

नामसंज्ञ—त, णिच्छय, ण, ण, सरीरगुण, हि, केवलि, केवलिगुण ज, त, तच्च, केवलि। **धातुसंज्ञ**—जुंज योगे, हो सत्तायां, त्थुण स्तुतौ। **प्रकृतिशब्द**—तत्, निश्चय, न, न, शरीरगुण, हि, केवलिन्, केवलिगुण, यत्, तत्, तत्त्व, केवलिन्। **मूलधातु**—युजिर् योगे रुधादि, ष्टुञ् स्तुतौ, भू सत्तायां। **पदविवरण**—तत्–प्रथमा एक०। निश्चये–सप्तमी एक०। न–अव्यय। युज्यते–वर्तमान लट् कर्मवाच्य अन्य पुरुष एक०। न–अव्यय। शरीरगुणाः–प्रथमा बहु०। हि–अव्यय। भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। केवलिनः–षष्ठी एक०। केवलिगुणान्–द्वितीया बहु०। स्तौति–अन्य पुरुष एक० क्रिया। यः–प्रथमा एक० कर्ता। सः–प्रथमा ए० कर्ता। तत्त्वं–अव्यय। केवलिनं–द्वि० ए०। स्तौति–अन्य पुरुष एक० क्रिया ॥२६॥

का नाम होता है। उसी तरह तीर्थंकर केवली पुरुषमें शरीरके शुक्ल रक्तता आदि गुणोंका अभाव होनेसे निश्चयतः शरीरके गुणोंके स्तवन करनेसे तीर्थंकर केवली पुरुषका स्तवन नहीं होता। तीर्थंकर केवली पुरुषके गुणोंके स्तवन करनेसे ही केवलीका स्तवन होता है।

प्रसंगविवरण—प्रकरणमें यह कहा गया था कि देहके स्तवनसे आत्माका स्तवन अप्रतिबुद्ध मानता है, क्योंकि वह नयविभागको नहीं जानता। उसमेंसे व्यवहारनयका विभाग तो अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था। अब निश्चयनयका विभाग बता रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) निश्चयसे देहके गुणोंके स्तवनसे तीर्थंकर केवली प्रभुके गुणोंका स्तवन नहीं बनता, क्योंकि देहके गुण तीर्थङ्कर केवली प्रभुमें नहीं हैं। (२) तीर्थङ्कर केवली प्रभुके गुणके स्तवनसे ही तीर्थङ्कर केवली प्रभुकी स्तुति परमार्थतः है।

सिद्धान्त—(१) किसी द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य द्रव्यमें नहीं होते। (२) किसी द्रव्यकी प्रशंसा उस ही के गुणोंके कथनसे है।

दृष्टि— १–परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २–स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-

मिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥ इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थङ्करकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥३०॥

पदविवरण—नगरे–सप्तमी एक०। वर्णिते–सप्तमी एक०। यथा–अव्यय। न–अव्यय। अपि–अव्यय। राज्ञः–षष्ठी एक०। वर्णना–प्रथमा एक०। कृता–प्र० ए०। अपि–अव्यय। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। देहगुणे–सप्तमी एक०। स्तूयमाने–सप्तमी एक०। न–अव्यय। केवलिगुणाः–प्रथमा बहु०। स्तुताः–प्रथमा बहु०। भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० ॥३०॥

खाई आदि वाला राजा नहीं है, इसलिये ऐसे नगरके वर्णनसे राजाका वर्णन नहीं हो सकता। उसी तरह तीर्थङ्करका स्तवन शरीरकी स्तुति करनेसे नहीं हो सकता है। इसी अर्थको काव्य में कहते हैं—

'नित्य' इत्यादि। अर्थ—अच्छी तरह सुखरूप सर्वांग जिसमें अविकार स्थित है, अपूर्व स्वाभाविक लावण्य है जिसमें याने जो सबको प्रिय लगता है, जो समुद्रकी तरह क्षोभरहित है, ऐसा जिनेन्द्ररूप सदा जयवंत हो। इस प्रकार शरीरकी स्तुति की, सो यद्यपि तीर्थङ्कर केवली पुरुषके शरीरका अधिष्ठातापना है तो भी सुस्थित सर्वांगपना लावण्यपना आत्माका गुण नहीं है, इसलिये तीर्थंकर केवली पुरुषके इन गुणोंका अभाव होनेसे शरीरकी स्तुति द्वारा उनकी स्तुति नहीं हो सकती।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि निश्चयतः शरीरकी स्तुतिसे प्रभुकी स्तुति नहीं होती, उसीका विवरण इस गाथामें है।

तथ्यप्रकाश—(१) परमात्माकी विशेषता समझानेके लिये शरीरकी विशेषता बतानेमें परमात्माके शरीरका अधिष्ठातृत्व सम्बन्ध सूचित होता है। (२) परमौदारिक शरीरका अधिष्ठातृत्व होनेपर भी शरीरका गुण परमात्मामें न होनेसे शरीरस्तवनसे परमात्मस्तवन नहीं होता।

सिद्धान्त—(१) एकसे सम्बंधित विजातीय पदार्थकी विशेषतासे उस एककी विशेषता बताना उपचारभाषाकी विधि है। (२) किसी एक पदार्थका गुण किसी अन्य पदार्थमें संक्रान्त नहीं होता।

दृष्टि— १–परसम्बन्धव्यवहार (१३५)। २–परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)।

प्रयोग—शरीरकी विशेषताओंको शरीरमें परिसमाप्त जानकर उसका ख्याल छोड़कर अपनेको चैतन्यात्मक स्वरूपमें तन्मय अनुभवना चाहिये ॥३०॥

अब जिस तरह तीर्थङ्कर केवलीकी निश्चय स्तुति हो सकती है उसी रीतिसे कहते हैं उसमें भी पहले ज्ञेय ज्ञायकके संकरदोषका परिहार करके स्तुति करते हैं—[यः] जो [इन्द्रि-

ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षो-

भण-शब्दार्थः, साध-संसिद्धौ। **पदविवरण**—यः–प्रथमा एक० पुं० कर्ता। इन्द्रियाणि–द्वितीया वहु०। असमाप्तिकी क्रियाका कर्म। जित्वा–असमाप्तिकी क्रिया। ज्ञानस्वभावाधिकं–द्वितीया एक०। मन्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। आत्मानं–द्वितीया एक०। तं–द्वितीया एक०। खलु–अव्यय। जितेन्द्रियं–द्वितीया

जानती है, यही भावेन्द्रियोंका जीतना हुआ। इंद्रियोंके विषयभूत पदार्थ कैसे हैं ? ग्राह्यग्राहकलक्षण सम्बन्धकी निकटताके वशसे अपने सम्वेदन (अनुभव) के साथ परस्पर मानो एक सरीखे हो गये हों ऐसे दीखते हैं, उनको अपनी चैतन्यशक्तिके अपने आप अनुभवमें आता हुआ जो असंगपना—एकत्व उसके द्वारा भावेन्द्रियसे ग्रहण किये हुए स्पर्शादिक पदार्थोंको अपनेसे पृथक् किया है। यही विषयभूत पदार्थोंका जीतना हुआ। इस प्रकार इन्द्रियज्ञानके और विषयभूत पदार्थोंके ज्ञेयज्ञायकका संकरनामक दोष आता था, उसके दूर होनेसे आत्मा एकपने में टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्थित समस्त पदार्थोंके ऊपर तैरता, जानता हुआ भी उनरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे नित्य ही अन्तरंगमें प्रकाशमान, अविनश्वर, आप ही से सिद्ध और परमार्थरूप ऐसे भगवान ज्ञानस्वभावके द्वारा सब अन्य द्रव्योंसे अतिरिक्त परमार्थतः जो जानता है वह जितेन्द्रिय जिन है, इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

भावार्थ—अज्ञानमें ज्ञेय तो इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ और ज्ञायक आप आत्मा इन दोनोंका अनुभव विषयोंकी आसक्ततासे एकसा होता था, सो जब ज्ञेय व ज्ञायककी भेदज्ञानसे भिन्नता जानी तब ज्ञेयज्ञायकसंकर दोष दूर हुआ, ऐसा जानना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि देहकी स्तुतिसे प्रभुकी स्तुति नहीं, किन्तु प्रभुके गुणोंकी स्तुतिसे प्रभुकी स्तुति होती है। उसी प्रसंगसे सम्बंधित प्रथम निश्चयस्तुति इस गाथामें की गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यक्त्व हुए बाद मोक्षमार्गकी प्रगतिमें प्रथम कदम इन्द्रियविजय का बताया गया है। (२) इन्द्रियविषयोपभोगमें अन्तरंग बहिरंग साधन कुल ३ होते हैं—द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय व विषयसंग; सो इन तीनोंके विजयमें इन्द्रियविजय है (३) द्रव्येन्द्रियाँ स्थूल, भौतिक (शारीरिक) हैं उनका विजय अन्तःप्रकाशमान सूक्ष्म चैतन्यस्वभावके अवलम्बन से होता है। (४) भावेन्द्रियाँ खण्डखण्ड जाननरूप हैं उनका विजय अखण्ड एक चित् शक्तिके अवलम्बनसे होता है। (५) विषयभूत पदार्थ संग कहलाते हैं उनका विजय असंग चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे होता है। (६) यहाँ ज्ञेय हैं विषयभूत पदार्थ और प्रासंगिक ज्ञायक है

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

जो जीति मोह सारे, ज्ञानस्वभावी हि आपको माने।
जितमोह साधु उसको, परमार्थग साधुजन कहते ॥३२॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं। तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विन्दन्ति ॥३२॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्त्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः

नामसंज्ञ—ज, मोह, तु, णाणसहावाधिय, अत्त, त, जिदमोह, साहु, परमट्ठवियाणय। धातुसंज्ञ—जिण जये, मुण ज्ञाने, विद ज्ञाने। प्रकृतिशब्द—यत्, मोह, तु, ज्ञानस्वभावाधिक, आत्मन्, तत्, जितमोह, साधु, परमार्थविज्ञायक। मूलधातु—मुह वैचित्ये, जि जये, मन-ज्ञाने, अत-सातत्यगमने, साध-संसिद्धौ, विद्लृ लाभे। पदविवरण—यः–प्रथमा एक० पुं० कर्ता। मोहं–द्वितीया एक० असमाप्तिकी क्रियाका कर्म। तु–अव्यय। जित्वा–असमाप्तिकी क्रिया। ज्ञानस्वभावाधिकं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण। मन्यते–वर्तमान

सूत्र पृथक्-पृथक् व्याख्यानरूप करने चाहिये और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेने चाहियें।

भावार्थ—जो अपने आत्माको जो भावक मोहके अनुसार प्रवर्तनसे भाव्यरूप हुआ, उसे भेदज्ञानके बलसे पृथक् अनुभव करता है, वह जितमोह जिन है। इस तरह भाव्य-भावक भावके संकरदोषको दूर कर दूसरी निश्चयस्तुति हुई। यहाँ ऐसा आशय है कि जो श्रेणी चढ़नेपर मोहका उदय अनुभवमें न रहकर अपने बलसे उपशमादि कर आत्माको अनुभव करता है, उसको जितमोह कहा है। यहाँपर मोहको जीता है, उसका नाश हुआ मत जानना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि ज्ञेयज्ञायकभावसंकरदोष दूर कर प्रभु जितेन्द्रिय बने यह प्रथम निश्चयस्तुति है। अब उससे ही सम्बन्धित द्वितीय निश्चयस्तुति यहाँ कही जा रही है।

तथ्यप्रकाश—(१) फलदानसमर्थरूपसे उघड़कर भावकरूपसे हुआ मोह है और उसके अनुरूप प्रवृत्ति होनेसे आत्मा भाव्य है इस कथनसे निमित्तनैमित्तिक भावका सही स्वरूप प्रसिद्ध हुआ है। (२) भाव्य और भावकसे पृथक् शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका संचेतन करना मोहपर विजय करना कहलाता है।

सिद्धान्त—(१) भावकका निमित्त पाकर आत्मा विभाव्य होता है। (२) मोहसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका सचेतन करना मोहका परभाव है।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन---

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

मोहजयी साधूके, ज्यौं हि सकल मोह क्षीण हो जाता ।
त्यौं हि परमार्थ ज्ञायक, कहते हैं क्षीणमोह उन्हें ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः । तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावानतिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णंपरमात्मानमवाप्तः क्षीणमोह जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमान मायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्ये-

---

नामसंज्ञ—जिदमोह, हु, जइया, खीण, मोह, साहु, तइया, हु, खीणमोह, त, णिच्चयविदु । **धातुसंज्ञ**—खिख क्षये, हव सत्तायां तृतीयगणे, भण कथने, विद ज्ञाने । **प्रकृतिशब्द**—जितमोह, तु, यदा, क्षीण, मोह, साधु, तदा, खलु, क्षीणमोह, तत्, निश्चयवित् । **मूलधातु**—जि जये, क्षि क्षये, मुह-वैचित्ये, भू

जिन' कहा जाता है । यहाँ भी जैसे पूर्व कहा था, उसी तरह मोह पदको पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन---ये पद रखकर सोलह सूत्र पढ़ना और व्याख्यान करना तथा इसी प्रकार उपदेश कर अन्य भी विचारना ।

अब इस निश्चय व्यवहाररूप स्तुतिके अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**'एकत्वं'** इत्यादि । **अर्थ**---शरीर और आत्माका व्यवहारनयसे एकत्व है, किन्तु निश्चयनयसे एकत्व नहीं है । इसी कारण शरीरके स्तवनसे आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनयसे हुआ कहा जाता है, किन्तु निश्चयनयसे नहीं । निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवनसे ही चैतन्यका स्तवन होता है । यह चैतन्यका स्तवन तो जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह कहनेसे होता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानीने तीर्थंकरके स्तवनका प्रश्न किया था, उसका यह नयविभाग द्वारा उत्तर दिया । उसके बलसे आत्मा और शरीरका एकत्व निश्चयसे नहीं है ।

अब फिर इसी अर्थके जाननेसे भेदज्ञानकी सिद्धि होती है, ऐसा अर्थरूप काव्य कहते हैं---**'इति परिचित'** इत्यादि । **अर्थ**---इस तरह जिसने वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिचय किया है, ऐसे मुनिजनोंके द्वारा आत्मा और शरीरके एकत्वके नयविभागकी युक्ति द्वारा अत्यन्त

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यन्तमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

चूंकि सकल भावोंको, पर हैं यह जानि त्यागना होता ।
इस कारण निश्चयसे, प्रत्याख्यान ज्ञानको जानो ॥३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा। तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यं ॥३४॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न

नामसंज्ञ—सव्व, भाव, ज, पर, इत्ति, त, पच्चक्खाण, णाण, णियम। **धातुसंज्ञ**—पडि-आ-क्खा कथने तृतीयगणे उपसर्गादिर्थान्तिरम्, जाण अवबोधने, मुण ज्ञाने। **प्रातिपदिक**—सर्व, भाव, यत्, पर इति, तत, प्रत्याख्यान, ज्ञान, नियम। **मूलधातु**—प्रति-आ-ख्या प्रकथने उपसर्गादिर्थपरिवर्तनम्, नि-यम परिवे-

---

द्रव्यार्थिकनय (२४ अ)।

प्रयोग—इन्द्रियविजय व मोहविजय करनेके लिये एकमात्र चैतन्यस्वभावकी आराधना का पौरुष करना चाहिये ॥३३॥

आगे कहते हैं कि इस तरह यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोहसंतानसे निरूपित किये गये आत्मा और शरीरके एकत्वके संस्कारसे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, सो अब तत्त्वज्ञान स्वरूप ज्योतिके प्रकट होनेसे नेत्रके विकारकी तरह (जैसे किसी पुरुषके नेत्रमें विकार था तब वर्णादिक अन्यथा दीखते थे, जब विकार मिट गया तब जैसेका तैसा दीखने लगा) अच्छी तरह उघड़ गया है पटलरूप आवरण कर्म जिसका ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ तब साक्षात् देखने वाला अपनेको अपनेसे ही जान श्रद्धान कर उसके आचरण करनेका इच्छुक हुआ पूछता है कि इस आत्मारामके अन्य द्रव्योंका प्रत्याख्यात (त्यागना) क्या है, उसका समाधान आचार्य करते है—[**यस्मात्**] जिस कारण [**सर्वान् भावान्**] अपने सिवाय सभी पदार्थ [**परान्**] पर हैं [**इति ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**प्रत्याख्याति**] त्यागता है [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं**] पर हैं यह जानना ही [**नियमात्**] निश्चयसे [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान है।

तात्पर्य—अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है ज्ञानका जाननरूप ही

परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ॥३४॥

बहु०, इति–अव्यय, ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया, तस्मात्–हेत्वर्थे पंचमी एक०, प्रत्याख्यानं–प्रथमा एक०, ज्ञानं–प्रथमा एक०, नियमात्–पंचमी एक०, ज्ञातव्यं–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया ॥३४॥

प्रयोग—मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, इसी स्वरूपमें जाननका कार्य किया करता हूं, अन्य कुछ नहीं, ऐसी ज्ञानवृत्ति बनानी चाहिये ॥३४॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञाताके प्रत्याख्यानको ज्ञान ही कहा गया है इसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्त दार्ष्टान्तिको गाथा द्वारा व्यक्त कर कहते हैं—**[यथा नाम]** जैसे लोकमें **[कोपि पुरुषः]** कोई पुरुष **[परद्रव्यं इति ज्ञात्वा]** परवस्तुको कि यह परवस्तु है ऐसा जान करके **[त्यजति]** परवस्तुको त्यागता है **[तथा]** उसी तरह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[सर्वान्]** सब **[परभावान्]** परद्रव्योंके भावोंको **[ज्ञात्वा]** ये परभाव हैं, ऐसा जानकर **[विमुञ्चति]** उनको छोड़ता है ।

तात्पर्य—परद्रव्यमें परत्वके जाननपूर्वक ही परपरिहार होनेके दृष्टांतसे ज्ञाताके वास्तविक प्रत्याख्यानका समर्थन किया गया है ।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष धोबीके घर दूसरेका वस्त्र लाकर उसे भ्रमसे अपना समझ ओढ़कर सो गया । उसके पश्चात् दूसरेने उस वस्त्रका पल्ला पकड़ खींचकर उघाड़कर नंगा किया और कहा कि "तू शीघ्र जाग सावधान हो, मेरा वस्त्र बदलेमें आ गया है, सो मेरा मुझे दे" ऐसा बारम्बार वचन कहा । सो सुनता हुआ उस वस्त्रके सब चिह्न देख परीक्षा कर ऐसा जाना कि "वह वस्त्र तो दूसरेका ही है" ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ उस दूसरेके कपड़ेको शीघ्र ही त्यागता है । उसी तरह ज्ञानी भी भ्रमसे परद्रव्यके भावोंको ग्रहण कर अपने जान आत्मामें एकरूप मानकर सोता है, बेखबर हुआ आप ही से अज्ञानी हो रहा है । सो जब श्रीगुरुके द्वारा परभावका भेदज्ञान कराके एक आत्मभाव रूप कराया गया "तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा एक ज्ञानमात्र है, ऐसे बारम्बार आगमके वाक्य सुनता हुआ समस्त चिह्नोंसे अच्छी तरह परीक्षा करके निश्चित ये सब परभाव हैं । ऐसा जानकर ज्ञानी सब परभावोंको तत्काल छोड़ देता है ।

भावार्थ—जब तक परवस्तुको भूलकर अपनी जानता है, तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थज्ञान हो जानेसे परको पराई जाने, तब दूसरेकी वस्तुसे ममत्व नहीं रहता ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं **'अवतरति'** इति । **अर्थ**—यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि जिस तरह पुरानी न पड़े, उस तरह अत्यन्त वेगसे जब तक प्रवृत्तिको

प्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं श्रृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥३५॥

पुरुषः–प्रथमा एक० कर्ता, परद्रव्यम्–प्रथमा एक० इदम्–प्रथमा एक०, इति–अव्यय ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया, त्यजति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, तथा–अव्यय, सर्वान्–द्वितीया बहु०, परभावान्–द्वि० बहु०, ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया, विमुंचति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, ज्ञानी–प्रथमा एक० कर्ता ॥३५॥

भेदविधिमें ज्ञान दर्शनादि गुणोंरूप व अभेदविधिमें चैतन्यस्वरूपमात्र अपनेमें अपनेको अनुभवना चाहिये ॥३५॥

आगे इस अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान किस तरह हुआ, ऐसी आशंका करके प्रथम भावक जो मोहकर्मके उदयरूप भाव, उनके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं—[**बुध्यते**] जो ऐसा जाने कि [**मोहः मम कोपि नास्ति**] मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं—[**एकः उपयोग एव अहं**] एक उपयोग ही मैं हूं [**तं**] ऐसे जाननेको [**समयस्य**] सिद्धान्तके अथवा स्व-परस्वरूपके [**विज्ञायकाः**] जानने वाले [**मोहनिर्ममत्वं**] मोहसे निर्ममत्व [**विंदंति**] समझते हैं, कहते हैं ।

तात्पर्य—मोहशून्य उपयोगमात्र अंतस्तत्त्वके जाननहारको मोहनिर्मम कहते हैं ।

टीकार्थ—मैं सत्यार्थरूपसे ऐसा जानता हूं कि यह मोह है, वह मेरा कुछ भी नहीं लगता है । निश्चयसे इस मेरे अनुभवमें फल देनेकी सामर्थ्य द्वारा प्रकट होकर भावकरूप हुए पुद्गलद्रव्य परमार्थसे परके भावके भावसे भाव्य नहीं कर सकते । यहाँ यह समझना कि स्वयमेव सब वस्तुओंके प्रकाश करनेमें चतुर विकासरूप हुई और जिसमें निरंतर हमेशा प्रताप सम्पदा पायी जाती है, ऐसी चैतन्यशक्ति, उस मात्र स्वभावभाव द्वारा भगवान् आत्माको ही जाना जाता है कि मैं परमार्थसे एक चित्शक्तिमात्र हूं । इस कारण यद्यपि सब द्रव्योंके परस्पर साधारण एक क्षेत्रावगाह होनेसे मेरा आत्मा जड़के साथ श्रीखण्डकी तरह एकमेक हो रहा है तो भी श्रीखण्डकी तरह स्पष्ट स्वदमान स्वादभेदके कारण मोहके प्रति मैं निर्मम ही हूं, क्योंकि यह आत्मा सदाकाल ही अपने एकरूपताको प्राप्त हुआ अपने स्वभावरूप समय महलमें विराज रहा है । इस तरह भावकभावरूप मोहके उदयसे भेदज्ञान हुआ जानना ।

भावार्थ—मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, इसका उदित कलुष (मलिन) भाव भी पुद्-

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥३६॥

वचन क्रिया । मम–षष्ठी एक० । कः–पुल्लिग प्रथमा एक० । अपि–अव्यय । मोहः–प्रथमा एक० । बुध्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० दिवादि क्रिया । उपयोगः–प्रथमा एक० । एव–अव्यय । अहं–प्रथमा एक० । एकः–प्रथमा एक० । तं–द्वितीया एक० । मोहनिर्ममत्वं–द्वितीया एक० । समयस्य–षष्ठी ए० । विज्ञायकाः–प्रथमा बहु० कर्ता या कर्तृ विशेषण । विंदन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया ॥३६॥

पृथक् सोलह गाथा सूत्रों द्वारा व्याख्यान करना और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

प्रसंगविवरण—इस स्थलमें निश्चयस्तुतिसे सम्बंधित परभावके विवेककी बात चल रही थी । अनन्तरपूर्व गाथामें दृष्टान्तपूर्वक परभावविवेकके परिणामकी बात कही थी । अब इस गाथामें परभावसे विवेक करनेके याने जुदा होनेके उपायके निर्देशनमें भावकभावके विवेक की रीति बताई गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यमोह उपादानतया भावक पुद्गलद्रव्यके द्वारा रचा गया है । (२) भावमोह भावक पुद्गलद्रव्यके द्रव्यमोहका प्रतिफलन होनेसे नैमित्तिक है । (३) द्रव्यमोह तो उपादानतया प्रकट परभाव हैं । (४) भावमोह नैमित्तिक होनेसे परभाव है । (५) प्रत्येक पदार्थ सदाकाल ही अपने आपके स्वरूपमें ही रहा करता है ।

सिद्धान्त—(१) जीवदशा व पुद्गलदशामें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे द्रव्यमोह भी नैमित्तिक है व भावमोह भी नैमित्तिक है । (२) निमित्त व नैमित्तिकका परिचय दोनोंको परभाव जानकर उनका अपोहन करके शुद्ध द्रव्यका उपादान करनेके लिये है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २– विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८) ।

प्रयोग—द्रव्यमोह, भावमोह व भावमोहके आश्रयभूत विषयसंग इन सबसे विभक्त चित्शक्ति मात्र मैं सहज परमात्मतत्त्व हूं, ऐसी अन्तः आराधना रहनी चाहिये ॥३६॥

आगे ज्ञेयभावसे भेदज्ञान करनेकी रीति बतलाते हैं—[**बुध्यते**] ऐसा जाने कि [**धर्मादयः**] ये धर्म आदि द्रव्य [**मम न सन्ति**] मेरे कुछ भी नहीं लगते [**अहं**] मैं तो [**एक उपयोग एव**] एक उपयोग ही हूं [**तं**] ऐसा जाननेको [**समयस्य विज्ञायकाः**] सिद्धान्त व स्वपरसमयरूप समयके जानने वाले [**धर्मनिर्ममत्वं**] धर्मद्रव्यसे निर्ममत्व [**विन्दन्ति**] कहते हैं ।

तात्पर्य—अपनेको धर्मादि द्रव्योंसे अत्यन्त विविक्त परखकर एक उपयोगमात्र अन्त-

परन्तु शरीरादिक अजीव पदार्थ व चेतन आत्मा एक कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि जीव तो ज्ञानलक्षण वाला है और अजीव ज्ञानरहित है। (हे आत्मन् ! तू शरीर नहीं है, किन्तु शरीरका अभी पड़ोसी है, शरीरसे भिन्न उपयोग-स्वरूप अपने आत्माको देख)।

चूंकि जीवलोकको इस शरीररूपमें ही जीवका परिचय रहा है और कभी धर्म भी चला तो इसी पद्धति से। इसी कारण उक्त उपदेशकी बात सुनते ही कोई शिष्य पूछता है कि प्रभो ! शरीरसे भिन्न आत्मा कहां है ? शरीर ही जीव है, यदि शरीर ही जीव न होता तो तीर्थंकर देवकी जो ऐसी स्तुति की जाती है कि आपकी कांति दसों दिशाओंमें फैल जाती है, आपका रूप बड़ा मनोहारी है, आपके १००८ शुभ लक्षण हैं, इत्यादि सब स्तुति मिथ्या हो जावेगी तथा आचार्य परमेष्ठीकी जो स्तुति की जाती है कि आप देश, जाति व कालसे शुद्ध है, शुद्ध मन, वचन, काय वाले हैं इत्यादि, वह भी स्तुति मिथ्या हो जावेगी। इसका पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं—

नय दो प्रकार के होते हैं (१) व्यवहारनय (२) निश्चयनय। व्यवहारनयसे तो देह व जीवका संयोग सम्वन्ध है; इसलिये देह व जीवमें कथंचित् एकत्व मान लिया जाता है, (परन्तु निश्चयनयसे जीवमें ही जीव है. देह जीव हो ही नहीं सकता। शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति व्यवहाररूपसे कथंचित् हो सकती है, निश्चयनयसे तो शरीरके गुण आत्माके कुछ नहीं है; इसलिये शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहीं होती, आत्माकी स्तुतिसे ही आत्माकी स्तुति होती है)। (यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिये कि जो आत्मा आत्मस्वरूपसे विलकुल अपरिचित है उसके लिये तो व्यवहारनयसे भी स्तुति नही कहला सकती।)

अब निश्चयस्तुति किस प्रकार हो सकती है इस विषयपर आते हैं। चूंकि यह निश्चयस्तुति है, इसलिये जो भी विशुद्ध स्थिति कही जावेगी वह आत्माकी ही कही जावेगी। आचार्य पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द प्रभुके द्वारा कही हुई निश्चय-स्तुतिका भाव पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि व्यक्त करते है :—जिन्होंने असंग, अखण्ड, चैतन्य स्वभावके अव-लम्बन द्वारा ज्ञेय पदार्थोंसे, भावेन्द्रियोंसे व द्रव्यन्द्रियोंसे पृथक् अपनी प्रतीति करके इन्द्रियोंको जीतकर स्वभावमय अपनेको माना है वे जितेन्द्रिय जिन कहलाते हैं। जो द्रव्यमोह व भावमोहसे अलग अपने आत्माको अपनेमें लेनेके द्वारा मोहको जीतकर परमार्थ सद्रूप ज्ञानस्वभावमय अपने आत्माको अनुभवते हैं, वे जितमोह कहलाते हैं। (पुनश्च) उक्त प्रकारसे मोहको जीत लेनेवाले निर्मल आत्माके मोह ऐसा समूल नष्ट हो जाता है कि फिर कभी भी उसका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसी उन निर्मल आत्माको क्षीण-मोह कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सहजानन्दमय इत्यादि स्तुति भी निश्चय स्तुति कहलाती है। इन्द्रियोंका विजय आत्मज्ञानसे ही है। वस्तुत: त्याग ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि परको पर जानकर ही त्याग किया जाता है। व पर तो भिन्न है ही, मान्यतामें एक कर रक्खा था सो सच्चा ज्ञान करना ही उसका त्याग है।

इस प्रकार प्रासंगिक स्तुति-चर्चाके बाद अन्तमें दिखाया है कि सम्यग्ज्ञानीकी अन्तर्भावना ऐसी होती है—मोह मेरा कुछ नहीं है, मै तो एक उपयोगमात्र हूं, ज्ञेयाकार व ज्ञेय पदार्थ मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूं, मै एक (केवल) हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञानमय हूं, अमूर्त हूं और अन्य कुछ परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

अजीवाधिकार

इस अधिकारमें उन सब भावोंको भी अजीव बतलाया है जो जीवके शुद्ध स्वरूपमें नहीं है। अत: अजीव में अजीव द्रव्य तो है ही, साथ ही औपाधिक भाव भी अजीव है।

आत्माको नहीं जानने वाले अतएव परभावोंको आत्मा मानने वालोंकी विभिन्न धारणायें हैं। कोई तो राग-द्वेषको, कोई राग द्वेषके संस्कारको, कोई कर्मको, कोई शरीरको, कोई कर्मफलको, कोई सुख दुखको, कोई आत्मा व कर्मकी मिलावटको इत्यादि अनेक प्रकारसे जीव मानते हैं, किन्तु ये सब जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सर्व या तो पुद्गलद्रव्यके परिणमन हैं या कर्मरूप पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे हुए परिणमन हैं।

इस अवसरमें यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि फिर तो जीवसमास, गुणस्थान आदि की चर्चा अथवा त्रस-स्थावर भेद वाले जीव मानना यह सब जैन शास्त्रोंमें क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर यह है कि यह सब

कलयन् भगवानात्मैववाबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकं ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ।।३१।। ।।३७।।

मान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, मम–षष्ठी एक०, धर्मादयः–प्रथमा बहु०, बुध्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया दिवादिगणे, उपयोगः–प्रथमा ए०, एव–अव्यय, अहं–प्रथमा एक०, एकः–प्रथमा एक०, तं–द्वितीया ए०, धर्मनिर्ममत्वं–द्वि० एक०, समयस्य–षष्ठी एक०, विज्ञायकाः–प्रथमा बहु०, विंदन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया ।।३७।।

भिन्नता हुई, तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्माको ही धारता हुआ, जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है, ऐसे जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उनरूप जिसने परिणमन किया है ऐसा होता हुआ अपने आत्मा रूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्य जगह नहीं जाता । **भावार्थ**––सब परद्रव्योंसे तथा उनसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब भेद जाना, तब उपयोगको रमने के लिए अपना आत्मा ही रहा, दूसरा स्थान नहीं रहा । इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र से एकरूप हुआ ज्ञानी आत्मामें ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावकभावके विवेकका प्रकार बताया था, अब निश्चयस्तुतिके प्रकरणसे सम्बंधित ज्ञेयभावके विवेकका प्रकार बताया जा रहा है ।

तथ्यप्रकाश—(१) एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, अनंत पुद्गलद्रव्य व अनंत जीवांतर इनका एक ज्ञाता जीवके साथ मात्र ज्ञेयज्ञायक संबंध है । (२) ज्ञाता अन्तस्तत्त्व है, ज्ञेय बहिस्तत्त्व है । (३) प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपके एकत्वमें प्राप्त है, अतः किसी भी पदार्थका दूसरा कुछ भी सम्बंधी नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञाताका ज्ञेयोंके साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बंध है । (२) प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके एकत्वमें प्राप्त है अन्य सबसे विभक्त है ।

दृष्टि—१– स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार (६६) । २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८, २६) ।

प्रयोग—मुझ ज्योतिस्वरूपका स्वभाव है कि जो सत् है तद्विषयक जानन परिणमन चलता है, किन्तु बाह्य ज्ञेयसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं और तद्विषयक प्रतिभास भी औपाधिक है, मैं प्रतिभासमात्रस्वभावी हूं, अतः मैं अपनेमें अपना जानन बर्तता हुआ रहूं ऐसा अन्तः पौरुष करना चाहिये ।।३७।।

यकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगहं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्र-

शुद्ध, दर्शनज्ञानमय, सदा, अरूपिन्, न, अपि, मम किंचित्, अपि, अन्यत्, परमाणुमात्र, अपि। **मूलधातु**—शुध शौचे, दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—अहं–प्रथमा एक०। एकः–प्रथमा एक०। खलु–

लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थ—जैसे समुद्रकी आड़में कुछ आ जाय तब जल नहीं दिखता और जब आड़ दूर हो जाय तब प्रकट दीखता हुआ लोकको प्रेरणा योग्य हो जाता है कि इस जलमें सब लोक स्नान करो। उसी तरह यह आत्मा विभ्रम द्वारा आच्छादित था, तब इसका रूप नहीं दीखता था, जब विभ्रम दूर हुआ, तब यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ। अब इसके वीतरागविज्ञान रूप शान्तरसमें एक कालमें सब लोक मग्न हो जाओ, ऐसी आचार्यने प्रेरणा की है अथवा जब आत्माका अज्ञान दूर हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है, और तब समस्त लोकमें ठहरे हुए पदार्थ एक ही समय ज्ञानमें आकर झलकते हैं, उसको सब लोक देखो।

इस ग्रंथका आशय अलंकार द्वारा नाटकरूपमें देखनेसे भाव सुगम हो जाता है। जैसे नाटकमें पहले रंगभूमि रची जाती है, वहाँ देखने वाला नायक तथा सभा होती है और नृत्य करने वाले होते हैं, वे अनेक स्वांग रचते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसोंका रूप दिखलाते हैं उस जगह शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत—ये आठ लौकिक रस हैं। नाटकमें इनका ही अधिकार है। नवमा शान्तरस है, वह लोकोत्तर है। इन रसोंके स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभावविभाव, व्यभिचारीभाव और इनकी दृष्टि आदिका विशेष वर्णन रसग्रंथोंमें है वहाँसे जानना, किन्तु सामान्यपनेसे रसका यह स्वरूप है कि ज्ञानमें जो ज्ञेय आया उससे ज्ञान तदाकार हो जाय, उसमें पुरुषका भाव लीन हो जाय अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहे वह रस है। सो नृत्य करने वाले नृत्यमें इन आठ रसोंका रूप दिखलाते हैं। इसी प्रकार यहाँ पहले रंगभूमि स्थल कहा, वहाँ नृत्य करने वाले जीव अजीव पदार्थ हैं और दोनोंकी एकरूपता व कर्तृकर्मत्व आदि उनके स्वांग हैं। उनमें परस्पर अनेक रूप होते हैं, वे आठ रसरूप होकर परिणत होते हैं, यही नृत्य है। वहाँ देखने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अजीवके भिन्न स्वरूपको जानता है, वह तो इन सब स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शान्तरसमें ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि प्राणी जीव अजीवका भेद नहीं जानते, इसलिए इन स्वांगोंको सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। उनको सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखलाकर, उनका भ्रम मेटकर और शांत-

जीवाजीवाधिकारः

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदानासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्मारामममनंतधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणे-सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्मा न जानि मोही, बहुतेरे परको आत्मा कहते।
अध्यवसान तथा विधि को आतमरूपमें लखते ॥३९॥

नामसंज्ञ—अप्प, अयाणंत, मूढ, दु, परप्पवादि, केई, जीव, अज्झवसाण, कम्म, च, तहा, अवर, अज्झवसाण, तिव्वमंदाणुभागग, जीव, तहा, अवर, णोकम्म, च, अवि, जीव, इत्ति, कम्म, उदय, जीव, कम्माणुभाग, तिव्वत्तणमंदत्तणगुण, ज, त, जीव, जीव, कम्म, उहय, दु, वि, खलु, क, वि, जीव, अवर,

---

आगे जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये दोनों एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं। इसके प्रारंभमें मंगलका अभिप्राय लेकर आचार्य ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं कि जो सब वस्तुओंका जानने वाला यह ज्ञान है, वह जीव अजीवके सब स्वांगोंको अच्छी प्रकार पहचानता है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। इसीके अर्थरूप श्लोक कहते हैं—'जीवाजीव' इत्यादि।

अर्थ—ज्ञान है वह मनको आनंदरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव अजीवके स्वांगको देखने वाले महान् पुरुषोंको जीव अजीवका भेद देखने वाली बड़ी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिसे भिन्न द्रव्यकी प्रतीति कराता है, अनादि संसारसे जिनका बंधन दृढ़ बँधा हुआ है, ऐसे

अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्त्तमानं

जीव, अध्यवसान, कर्मन्, च, तथा, अपर, अध्यवसान, तीव्रमन्दानुभागग, जीव, तथा, अपर, नोकर्मन्, च, अपि, जीव, इति, कर्मन्, उदय, जीव, अपर, कर्मानुभाग, तीव्रत्वमंदत्वगुण, यत्, तत्, जीव, जीवकर्मोभय, द्वि, अपि, खलु, केचित्, जीव, अपर, संयोग, तु, कर्मन्, जीव, एवंविध, बहुविध, पर, आत्मन्, दुर्मेधस्, तत्, न, परमार्थवादिन्, निश्चयवादिन्, निर्दिष्ट । **मूलधातु**--वद संदेशवचने चुरादिगण, अधि-अव षिञ् बंधने, अनु-भाज पृथक्कर्मणि चुरादिगणे, इषु इच्छायां, मन ज्ञाने, वद व्यक्तायां वाचि । **पदविवरण**—आत्मानं—

आगे जीव अजीवका एकरूपक स्वांगका वर्णन करते हैं:—[**आत्मानं अजानंतः**] आत्माको न जानते हुए [**परात्मवादिनः**] परको आत्मा कहने वाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मोही अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसानको [**तथा च**] और कोई अज्ञानी [**कर्म**] कर्मको [**जीवं प्ररूपयंति**] जीव कहते हैं । [**अपरे**] अन्य कोई]**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानोंमें]**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्रमंद अनुभागगतको [**जीवं मन्यंते**] जीव मानते हैं ।]**तथा**[और [**परे**] अन्य कोई [**नोकर्म अपि च**] नोकर्मको [**जीव इति**] जीव मानते हैं [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मण उदयं**] कर्मके उदयको [**जीवं**] जीव मानते हैं, कोई [**कर्मानुभागं**] कर्मके अनुभागको]**यः**] जो कि [**तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां**] तीव्रमंद रूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है [**इच्छंति**] ऐसा इष्ट करते हैं [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयं**] जीव और कर्म [**द्वे अपि**] दोनों मिले हुएको [**खलु**] ही [**जीवं इच्छति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्मोंके संयोगसे ही [**जीवं इच्छति**] जीव मानते हैं । [**एवंविधाः**] इस प्रकारके तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी बहुत प्रकारके [**दुर्मेधसः**] दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि [**परं**] परको [**आत्मानं**] आत्मा [**वदंति**] कहते हैं [**ते न परमार्थवादिनः**] वे परमार्थ याने (सत्यार्थ कहनेवाले नहीं हैं ऐसा [**निश्चयवादिभिः**] निश्चय तत्त्वके वादियोंने [**निर्दिष्टाः**] कहा है ।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव अध्यवसान, भावकर्म, अध्यवसानसंतति, शरीर, शुभाशुभभाव, सुख-दुःखादि कर्मविपाक, आत्मकर्मोभय व कर्मसंयोगको जीव कहते हैं, किन्तु परमार्थतः ये कोई भी जीव नहीं हैं ।

टीकार्थ—इस जगतमें आत्माका असाधारण लक्षण न जाननेके कारण असमर्थ होनेसे अत्यन्त विमूढ़ होते हुए परमार्थभूत आत्माको न जानने वाले बहुतेरे अज्ञानी जन बहुत प्रकार से परको ही आत्मा इस प्रकार कहते हैं । कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक स्वयमेव हुये

सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्यर्तः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थःकर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानु-

---

इति–अव्यय । कर्मणः–षष्ठी एकवचन । उदयं–द्वि० ए० । जीवं–द्वि० एक० । अपरे–प्रथमा बहु० । कर्मानुभागं–द्वितीया बहु० । इच्छन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां–तृतीया द्विवचन । यः–प्रथमा एक० । सः–प्रथमा एकवचन । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवः–प्रथमा एक० । जीवकर्मोभयं–प्रथमा एक० । द्वे–द्वितीया द्वि० । अपि–अव्यय । खलु–अ० । केचित्–अ० अंतः प्रथमा बहु० । जीवं–द्वितीया एक० । इच्छन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । अपरे–प्रथमा बहु० । संयोगेन–तृतीया एक० । कर्मणां–षष्ठी बहु० । जीवं–द्वितीया एक० । एवंविधाः–प्रथमा ब० । बहुविधाः–प्रथमा

पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदिको नहीं छोड़ता । लेकिन जो परमार्थको नहीं जानते हैं, वे सयोगजन्य भावोंको ही जीव कहते हैं । परमार्थसे जीवका स्वरूप पुद्गलसे भिन्न सर्वज्ञको दीखता है तथा सर्वज्ञकी परंपराके आगमसे जाना जाता है । जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं माना गया है, वे ही अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पना करके कहते हैं ।

प्रसंगविवरण—सर्ववर्णनीयस्वरूप तथा अधिकारस्वरूप १३वीं गाथामें जीवाजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्षकी चर्चा की गई थी । अतः पूर्वरंगके बाद इनका वर्णन आवश्यक है, सो उनमेंसे प्रथम क्रमप्राप्त जीव व अजीवका इस अधिकारमें वर्णन किया जा रहा है, इसी कारण इस अधिकारका नाम जीवाजीवाधिकार है ।

तथ्यप्रकाश—१–वेदान्तादिसम्मत जैसा नैसर्गिक रागद्वेष कलुषित अध्यवसान जीव नहीं है । २–मीमांसकादिसम्मत जैसा संसरणक्रियाविलसित कर्म जीव नहीं है । ३–सांख्यादिसम्मत जैसा अध्यवसानसंतान जीव नहीं है । ४–वैशेषिकादिसम्मत जैसा नवीन-नवीन दशामें प्रवर्तमान शरीर ही जीव हो ऐसा नहीं है । ५–बौद्धादिसम्मत जैसा क्षणिक शुभ अशुभभाव ही जीव हो, ऐसा नहीं है । ६–योगादिसम्मत जैसा सुख दुःख मात्र ही जीव हो ऐसा नहीं है । ७–नैयायिकादिसम्मत जैसा आत्मकर्मोभय जीव हो ऐसा नहीं है । ८–चार्वाकादि सम्मत जैसा कर्मादिके संयोगमात्र जीव हो ऐसा नहीं है ।

सिद्धान्त—१. परद्रव्यमें जीवत्वका आरोप करना उपचार है । २–नैमित्तिक भावोंमें जीवत्वका आरोप करना भी उपचार है ।

दृष्टि—१–द्रव्ये द्रव्योपचारक व्यवहार (१०६), संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२५) । २– उपाधिज उपचरित स्वभावव्यवहार (१०३) ।

प्रयोग—परद्रव्योंसे व परभावोंसे उपयोग हटा करके अपनेमें पूर्णविश्राम कर स्वयं

कुतः—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

ऐसे नाना दुर्मति, परतत्त्वोंको हि आत्मा कहते ।
वे न परमार्थवादी, ऐसा तत्त्वज्ञ दर्शाते ॥४४॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः । केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥४४॥

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकायाः अतिरिक्तत्वे-

नामसंज्ञ—एत, सव्व, भाव, पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्ण, केवलिजिण, भणिय, कह, त, जीव इत्ति। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, वच्च व्यक्तायां वाचि । **प्रकृतिशब्द**—एतत्, सर्व, भाव, पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्न, केवलिजिन, भणित, कथं, तत्, जीव, इति । **मूलधातु**—जि जये, भण व्यक्तायां वाचि, वच परिभाषणे ।

पुण्य-पापरूपसे व्यापता कर्मका विपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभावसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियोंको स्वयमेव प्राप्त है, वे स्वयं आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥५॥ साता असाता रूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमंदतारूप गुणसे भेदरूप हुआ कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःखसे पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीवकी भेदविज्ञानियोंको स्वयं प्राप्ति होती है, वे स्वयं आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥६॥ श्रीखंडकी तरह दो स्वरूप मिले आत्मा और कर्म दोनों ही जीव नहीं हैं, क्योंकि कर्मसे पूर्णरूपतः भिन्न अन्य चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियोंको स्वयं प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष आप अनुभव करते हैं ॥७॥ अर्थक्रियामें समर्थ कर्मका संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि 'जैसे आठ काठके टुकड़ोंरूप खाटपर सोने वाला पुरुष अन्य है' उसी प्रकार कर्मसंयोगसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीवकी भेदज्ञानियोंको स्वयं प्राप्ति है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥८॥ **भावार्थ**—चैतन्यस्वभावरूप जीव सब परभावोंसे भिन्न भेदज्ञानियोंके अनुभवगोचर है, इस कारण अज्ञानी जिस प्रकार मानते हैं, उस प्रकार नहीं है ।

अब यहांपर पुद्गलसे भिन्न जो आत्माकी उपलब्धि उसको अन्यथा ग्रहण करने वाला याने पुद्गलको ही आत्मा जानने वाला जो पुरुष है, उसको समभावसे ही उपदेश करना चाहिए,

क्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति । इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः । विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं । हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ।।३४।। ।।४४।।

क्रिया क्तान्त कृदन्त । कथं–अव्यय । ते–प्रथमा ब० । जीवः–प्रथमा एकवचन । इति–अव्यय । उच्यंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया कर्मवाच्यमें क्रिया ।।४४।।

माहसे अधिक व भव भवान्तर तक भी रहता है, लेकिन जो अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिका अभ्यास अनवरत बनावे तो उसे ज्यादासे ज्यादा छह महीनेके अन्दर ही आत्मोपलब्धि हो जायगी, जल्दीसे जल्दी अन्तर्मुहूर्तमें हो जायगी ।

सिद्धांत—१–अध्यवसान, भावकर्म, अध्यवसानसंतति, शुभाशुभभाव, जीवमें हुए सुख दुःखादि ये पुद्गलकर्मोपाधिका निमित्त पाकर होनेसे पौद्गलिक हैं । २– आत्मकर्मोभय आत्मा व कर्म इन दोनोंका सम्मिश्रण माननेसे पौद्गलिक हैं । ३–शरीर व कर्मसंयोग स्वयं आप ही उपादानतया पौद्गलिक हैं ।

दृष्टि—१–विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८) । २–संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२७) । ३—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) ।

प्रयोग—सहज एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व चित्स्वभावके अतिरिक्त सभी भावोंको परभाव निरखकर उनका ख्याल भी छोड़कर चित्स्वभावमात्र अपनेको अपनेमें पा लेवे ऐसा परम विश्राम लेना चाहिये ।।४४।।

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादिक भावोंको तो जीव नहीं बतलाया, अन्य चैतन्यस्वभावको जीव कहा सो ये भाव भी तो चैतन्यसे ही सम्बन्ध रखने वाले मालूम होते हैं, चैतन्यके बिना जड़के तो होते नहीं, इनको पुद्गलके कैसे कहा ? ऐसा पूछा जानेपर उत्तर रूप गाथासूत्र कहते हैं—**[अष्टविधमपि च]** आठों ही तरहके **[कर्म]** कर्म **[सर्वं]** सब **[पुद्गलमयं]** पुद्गलस्वरूप हैं, ऐसा **[जिनाः]** जिन भगवान् सर्वज्ञदेव **[ब्रुवन्ति]** कहते हैं । **[यस्य विपच्यमानस्य]** जिस पचकर उदयमें आने वाले कर्मका **[फलं]** फल **[तत्]** प्रसिद्ध **[दुःखं]** दुःख है **[इति उच्यते]** ऐसा कहा गया है ।

तात्पर्य—आठों ही प्रकारके कर्म पौद्गलिक है और जब वे उदयमें आते हैं तब उनका फल दुःख ही होता है ।

टीकार्थ—अध्यवसान आदि समस्त भावोंके उत्पन्न करने वाले आठ प्रकारके जो

स्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयत्वविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः ॥४५॥

द्वि० एक०, जिनाः–प्रथमा बहुवचन कर्ता, विदन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया, यस्य–षष्ठी एक०, फलं–प्रथमा एक०, उच्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एक०, भावकर्मप्रक्रिया क्रिया, दुःखं–प्रथमा एक०, इति–अ०, विपच्यमानस्य–षष्ठी एकवचन ॥४५॥

भाव पुद्गलस्वभाव कहे गये हैं।

सिद्धान्त—(१) अध्यवसान आदि भाव कर्मफल हैं, पुद्गलस्वभाव हैं, जीव नहीं हैं। (२) कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवमें दुःखरूप परिणमन होता है।

दृष्टि—१– विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)।

प्रयोग—कर्म व कर्मप्रतिफलनसे रहित चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको निरखकर चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको अनुभवना चाहिये ॥४५॥

यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञके आगममें इनको जीवके भाव कैसे कहा ? उसके उत्तरमें गाथासूत्र कहते हैं—[**एते सर्वे**] ये सब [**अध्यवसानादयः भावाः**] अध्यवसानादिक भाव [**जीवाः**] जीव हैं ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरदेवने [**उपदेशः वर्णितः**] जो उपदेश वर्णित किया है वह [**व्यवहारस्य दर्शनं**] व्यवहारका मत है।

तात्पर्य—अध्यवसान आदिक भावोंको जीव व्यवहारसे कहा गया है।

टीकार्थ—ये सब अध्यवसानादिक भाव 'जीव हैं' ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है, वह अभूतार्थरूप व्यवहारका मत है। व्यवहार व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहने वाला है जैसे कि म्लेच्छ भाषा म्लेच्छोंको वस्तुस्वरूप बतलाती है, इस कारण अपरमार्थभूत होनेपर भी धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिये व्यवहारका वर्णन होना न्याययुक्त है। क्योंकि व्यवहारके बिना जीवका शरीरसे परमार्थतः भेद देखनेसे त्रस स्थावर जीवोंका घात निःशंकरूपसे करना ठहरेगा। जैसे भस्मके मर्दन करनेमें हिंसाका अभाव है, उसी प्रकार उनके मारनेमें भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी, किन्तु हिंसाका अभाव ठहरेगा तब उनके घात होनेसे बंधका भी अभाव ठहरेगा। उसी प्रकार बध्यमान रागी द्वेषी मोही जीव ही तो छुड़ाने योग्य है सो व्यवहारके बिना परमार्थतः रागद्वेष मोहसे भिन्न जीवको दिखलानेपर मोक्षके उपायका ग्रहण न होनेसे मोक्षका भी अभाव ठहरेगा। इसलिये जिनेन्द्र देवने व्यवहारका उपदेश किया है।

भावार्थ—आत्मा स्वयं सहज अपने ही सत्त्वके कारण जिस स्वभावरूप है उस स्वभावमात्र देखना परमार्थनय है, वह तो जीवको शरीर और राग द्वेष मोहसे भिन्न दिखाता

परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ॥४६॥

हारस्य–षष्ठी एकवचन। दर्शनं–प्रथमा एकवचन। उपदेशः–प्रथमा एक०। वर्णितः–प्रथमा एक० कृदंत क्रिया। जिनवरैः–तृतीया ब० कर्मवाच्यमें कर्ता। जीवाः–प्रथमा ब०। एते–प्रथमा ब०। सर्वे–प्रथमा ब०। अध्यवसानादयः–प्रथमा ब०। भावाः–प्रथमा बहुवचन ॥४६॥

---

(५) व्यवहार माने बिना मोक्षके अभावका प्रसंग होगा, क्योंकि परमार्थैकान्तमें जीवके बन्ध ही नहीं तो अबद्धको मोक्षोपायकी आवश्यकता नहीं, न उपाय बनेगा। (६) जैनागममें व्यवहारोपदेश न्याय्य है।

सिद्धान्त—(१) निमित्त पाकर उपादानमें होने वाले नैमित्तिक भावोंको ओघ उपादानरूप पदार्थ कह देना व्यवहारका अभिमत है।

दृष्टि—१– स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१२०)।

प्रयोग—औपाधिकभाव ओघ उपादानभूत मुझ आत्मामें व्याप्य नहीं है, औपाधिक भावोंसे मैं परे हूं, चित्स्वभावमात्र हूं, ऐसी अन्तः आराधना करनी चाहिये ॥४६॥

अब शिष्य पूछता है कि यह व्यवहार किस दृष्टान्तसे प्रवृत्त हुआ? उसका उत्तर कहते हैं; जैसे [**बलसमुदयस्य**] सेनाके समूहको [**राजा खलु निर्गतः**] राजा ही निकला [**इत्येष आदेशः**] ऐसा यह आदेश [**व्यवहारेण तु उच्यते**] व्यवहारसे कहा जाता है। [**तत्र**] उस सेनामें तो वास्तवमें [**एकः**] एक [**राजा निर्गतः**] ही राजा निकला है [**एवमेव च**] इसी तरह [**अध्यवसानाद्यन्यभावानां**] इन अध्यवसान आदि अन्य भावोंको [**सूत्रे**] परमागममें [**जीव इति**] ये जीव हैं, ऐसा [**व्यवहारः कृतः**] व्यवहार किया गया है [**तत्र निश्चितः**] वहाँ निश्चयसे विचारा जाय तो उन भावोंमें [**जीवः एकः**] जीव तो एक ही है।

तात्पर्य—जीवके विपरिणमनोंको जीव कहना व्यवहार है, परमार्थसे तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र ही जीव है।

टीकार्थ—जैसे कहा जाता है कि यह राजा पांच योजनके फैलावमें निकल रहा है, वहाँ निश्चयसे विचारा जाय तो एक राजाको पांच योजनमें व्यापना असम्भव है, तो भी व्यवहारी (अज्ञानी) जनोंका सेनाके समुदायमें राजा कहनेका व्यवहार है। परमार्थसे तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं। उसी तरह यह जीव सब रागके स्थानोंको व्यापकर प्रवृत्त हो रहा है, वहाँ निश्चयसे विचारा जाय तो एक जीवका समस्त रागग्रामको व्यापकर रहना अशक्य है तो भी व्यवहारी लोकोंका अध्यवसानादिक अन्य भावोंमें 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार

समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणा-मध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः। परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ।।४७-४८।।

सूत्र वेष्टने, निस्-चिञ् चयने। **पदविवरण**—राजा–प्रथमा एक०। खलु–अ०। निर्गतः–प्रथमा एक० कृदंत क्रिया। इति–अ०। एषः–प्रथमा एक०। बलसमुदयस्य–षष्ठी एक०। तु–अ०। उच्यते–भावकर्म-प्रक्रिया वर्तमान अन्य पुरुष एक०। तत्र–अ०। एकः–प्रथमा एक०। निर्गतः–प्रथमा एक०। राजा–प्रथमा एक०। एवं–अ०। एव–अ०। व्यवहारः–प्रथमा एक०। अध्यवसानाद्यन्यभावानां–षष्ठी व०। जीवः–प्रथमा एक०। इति–अ०। कृतः–प्रथमा एकवचन कृदंत क्रिया कर्मवाच्यमें। सूत्रे–सप्तमी एक०। तत्र–अ०। निश्चितः–प्रथमा एकवचन। जीवः–प्रथमा एक० ।।४७-४८।।

सिद्धान्त—(१) द्रव्यकी औपाधिक पर्यायोंमें द्रव्यका व्यवहार ईषत् प्रयोजनके लिये है। (२) शाश्वत स्वभावमय वस्तु वह एक ही शाश्वत है।

दृष्टि—१– स्वजातिपर्यायि स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१२०)। २– परमशुद्धनिश्चयनय (४४)।

प्रयोग—अपनेको समस्त विपरिणमनोंसे विविक्त निरखकर केवल चित्स्वभावमात्र अनुभवना चाहिये ।।४७-४८।।

अब शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसानादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं तो एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ स्वरूप जीव कैसा है, उसका क्या लक्षण है? इसका उत्तर कहते हैं—हे भव्य तू [**जीवं**] जीवको [**अरसं**] रसरहित [**अरूपं**] रूपरहित [**अगंधं**] गंधरहित [**अव्यक्तं**] इन्द्रियोंके अगोचर [**चेतनागुणं**] चेतनागुण वाला [**अशब्दं**] शब्दरहित [**अलिंगग्रहणं**] किसी चिह्न कर जिसका ग्रहण नहीं होता ऐसा व [**अनिर्दिष्टसंस्थानं**] जिसका आकार कुछ कहनेमें नहीं आता, ऐसा [**जानीहि**] जानो।

तात्पर्य—परमार्थतः जीव रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्य है, अव्यक्त, स्वयं निराकार व चैतन्यगुण वाला है।

टीकार्थ—जो (जीव) निश्चयसे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न होनेसे उसमें रस गुण विद्यमान नहीं हैं इस कारण अरस है ।।१।। पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेसे स्वयं रसगुण नहीं है इस कारण भी अरस है ।।२।। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी इसके नहीं है, इसलिये द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे आप रसरूप परिणमन नहीं करता इस कारण भी अरस है ।।३।। अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो क्षायोपशमिक भावका भी इसके अभाव है, इसलिये भावेन्द्रियके अवलंबनसे भी इसके रसरूप परिणामका अभाव है, इस कारण भी अरस है ।।४।। इसका सम्वेदन परिणाम तो एक ही है, वह सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण है, उस स्व-

हेतु जीव पुद्गलकर्मको भोगता है यह भी व्यवहारनयसे कहा जाता है। परमार्थसे जीव न तो पुद्गल कर्मको करता है और न पुद्गलकर्मको भोगता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गल कर्मको भी करे व भोगे तो एक तो जीव ने अपने परिणामको किया व भोगा और दूसरे पुद्गल कर्मको भी किया व भोगा तो इस तरह जीव दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्ता बन जायेगा। ऐसा होनेपर चूँकि क्रियाका उस कालमें तादात्म्य रहता है, इस कारण जीव व अजीवमें भेद नही रहा अथवा जीव अजीवमें से एकका अथवादोनोंका अभाव हो जायेगा इत्यादि अनेक अनिष्टापत्तियाँ हो जायेंगी। एक द्रव्य दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्ता है, ऐसा अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि नही, किन्तु मिथ्या-दृष्टि है। अर्थात् वस्तुस्वरूपसे विपरीत दृष्टिवाला है। कर्म उपाधिके निमित्तसे होने वाले क्रोधादिक औपाधिक भाव हैं, उनका भी जीव सहज भावसे याने उपाधिको निमित्त पाये विना कर्ता नहीं है। इन क्रोधादिक परभावोंका कर्त्ता न तो जीव है और न कर्म; किन्तु कर्मके निमित्तसे जीवके उपादानमें कोधादिक परिणमन होता है। जीव निज, सहज, चैतन्य स्वरूप व क्रोधादि परभावोंमें अन्तर नही समझता। इसी कारण यह बन्ध होता है यह मौलिक प्रकृत बात सिद्ध हुई।

अब जिज्ञासा होती है कि इस बन्धका अभाव कैसे हो? समाधान—जीवकी परभावके प्रति कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति होनेसे बन्ध होता था। जब कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब बन्धका भी अभाव हो जाता है। प्रश्न:—इस कर्ता-कर्मप्रवृतिका अभाव कैसे हो जाता है? उत्तर:—जब यह जीव आत्मामें व परभावमें इस प्रकार से अन्तर जान लेता है कि वस्तु स्वभावमात्र होती है, मैं वस्तु हूं, सो मैं भी स्वभावमात्र हूं। स्वभाव कहते हैं स्वके होनेको, मै स्वज्ञानमय हूं। सो जितना ज्ञानका होना है सो तो मैं आत्मा हूं और क्रोधादिका होना कोधादि है, आत्मा (स्व) व क्रोधादि-आस्रवोंमें एकवस्तुता नही है। जब जीव ऐसा आत्मा व आस्रवमें अन्तर जान लेता है तभी कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है और कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति दूर होनेपर पुद्गल कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है।

आत्मा और अनात्माके भेदविज्ञानसे उसी कालमें आस्रवकी निवृत्ति होने लगती है। ज्ञानी जीवके इस प्रकारका विशद ज्ञान प्रकट रहता है—मै आत्मा सहज पवित्र हूं, ज्ञानस्वभावी हूं, दु:खका अकारण हूं, सम हूं, नित्य हूं, स्वयशरण हूं, आनन्दस्वभाव हूं; किन्तु ये आस्रव (परभाव) अपवित्र है, विरुद्ध स्वभाववाले हैं, दु:खके कारण हैं, विषम हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खस्वरूप है और इनका दुख ही फल है। मै एक हूं, शुद्ध हूं, मोह रागादि परभावरहित हूं, ज्ञानदर्शनमय हूं, मैं (आत्मा) कर्मके परिणमनको व नोकर्मके परिणमनको नही करता हूं। पुद्गलकर्म परद्रव्य है। मैं परद्रव्यका ज्ञायक तो हूं, किन्तु पर परद्रव्यमें व्यापक नहीं हूं। अतएव परद्रव्यकी पर्यायरूपसे परिणमता नहीं हूं अर्थात् मैं परद्रव्यकी परिणतिका कर्ता नहीं हूं। मै पुद्गलकर्मके फल सुख दु:खादिको जान तो सकता हूं, किन्तु पुद्गलकर्मकी परिणतिका कर्ता नही हूं। इसी प्रकार पुद्गलकर्म भी मेरा कर्ता नही है।

अशुद्ध-निश्चयनयसे आत्मा तो मात्र अपने अशुद्ध भावका कर्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयं परिणम जाता है। जैसे कि हवाके चलनेके निमित्तसे समुद्रमें तरंग उठती है। निश्चयसे तरंगोंका कर्ता तो समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवामें हवाका कार्य है। समुद्रमें समुद्रकी परिणति है। प्रत्येक द्रव्यकी स्वतन्त्र सत्तात्मकताके ज्ञानसे कर्मबन्ध रुकता है और परको आत्मा मानने व आत्माको पररूप माननेसे कर्मका वंध होता है। अथवा परको आत्मा माननेवाला अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता होता है। वस्तुत: तो अज्ञानी भी कर्मका कर्ता नही है, परन्तु अपने अशुद्ध भावका कर्ता है। उस अशुद्धभावको निमित्त पाकर कर्मका आस्रव स्वयं हो जाता है। वस्तुत: कर्मास्रवका निमित्तरूपसे भी जीव कर्ता नहीं है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य हैं, वे अनित्य परिणमन ही वहाँ निमित्त हैं। क्योंकि यह वस्तुस्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके रूप या अन्यके गुण-पर्याय रूप नही हो सकता। इसलिये यह सुप्रसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है।

यहाँ दो दृष्टियोंसे यह निर्णय करना चाहिये—(१) निश्चयनयसे जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नही है। (२) व्यवहारनयसे जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है। (१) निश्चयनयसे जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता नही है। (२) व्यवहारनयसे जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता है। (१) निश्चयनयसे जीवमें पुद्गलकर्म बद्ध नहीं है। (२) व्यवहारनयसे

साधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वमगंधगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेनागंधनात् सकलसाधारणैकसम्वेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद् भावेन्द्रियावलम्बेनास्पर्शनात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्याय-

---

धातुसंज्ञ—रस आस्वादनाक्रंदनयोः, सद्द आह्वाने, जाण अवबोधने, ग्गह ग्रहणे, सम् ट्ठा गतिनिवृत्तौ तृतीय

अन्य होनेके कारण, कषायका समूह जो भावकभाव है व व्यक्त है उससे अन्य होनेके कारण, चित्सामान्यमें चैतन्यकी सब व्यक्तियाँ अन्तर्भूत होनेके कारण, क्षणिक व्यक्तिमात्र न होनेके कारण, व्यक्त व अव्यक्त और दोनों मिले हुए मिश्र भाव इसके प्रतिभासमें आते हैं तो भी केवल व्यक्त भावकी ही नहीं स्पर्शता इस कारण और आप ही बाह्य आभ्यंतर प्रकट अनुभूयमान है तो भी व्यक्तभावसे उदासीन (दूरवर्ती) प्रद्योतमान है, इस कारण जीव अव्यक्त कहा जाता है ॥६॥ इस तरह छः हेतुओं द्वारा अव्यक्त सिद्ध किया। इसी प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान व व्यक्तपनाका अभाव स्वरूप होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे आप प्रत्यक्षगोचर होनेसे अनुमेय मात्रके अभावसे अलिंगग्रहण कहा जाता है। अपने अनुभवमें आवे, ऐसे चेतनागुण द्वारा सदा अंतरंगमें प्रकाशमान है, इस कारण चेतनागुण वाला है। जो चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियोंका (जीवको अन्य प्रकार माननेका) निषेध करने वाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत कर अत्यन्त सुखी हो उस तरह सदा किंचिन्मात्र भी चलायमान नहीं होनेसे अन्य द्रव्यसे साधारण नहीं है, इसलिये असाधारण स्वभावभूत है। ऐसे स्वयं अनुभूयमान चैतन्यगुणके द्वारा नित्य ही अंतःप्रकाशमान होनेसे चेतनागुण वाला है। ऐसा यह भगवान् निर्मल प्रकाश वाला जीव इस लोकमें टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिस्वरूप विराजमान है।

त्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वाच्चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात् स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः । रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः । समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टङ्कोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ॥४९॥

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतं ॥३५॥
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं । अतोतिरिक्ताः सर्वेपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

करणे, ग्रह उपादाने, जीव प्राणधारणे, सं—ष्ठा गतिनिवृत्तौ उपसर्गादर्थपरिवर्तनम् । **पदविवरण**—अरसं—द्वितीया एक० कर्मविशेषण, अगन्धं—द्वि० एक० कर्मविशेषण, अरूपं—द्वि० एक० कर्मविशेषण, अव्यक्तं—द्वि० एक० कर्मविशेषण, चेतनागुणं—द्वि० एक० कर्मविशेषण, अशब्दं—द्वि० ए० कर्मविशेषण, जानीहि—आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया, अलिंगग्रहणं—द्वि० ए० कर्मविशेषण, जीवं—द्वि० ए० कर्म, अनिर्दिष्टसंस्थानं—द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण ॥४९॥

दृष्टि—१— परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २— शुद्धनय (४९) । ३— परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०) ।

प्रयोग—अपने आपको सर्व ज्ञेयोंसे परे सहज चैतन्यस्वभावमात्र अनुभवना चाहिये ॥४९॥

अब चिच्छक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी है, ऐसी आगेके गाथा की सूचनिका रूप काव्य कहते हैं—**'चिच्छक्ति'** इत्यादि । **अर्थ**—चैतन्यशक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है ऐसा यह जीव इतना है, और इस चिच्छक्तिसे शून्य जो भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य हैं, सो पुद्गलके ही हैं । ऐसे इन भावोंका व्याख्यान छह गाथाओंमें करते हैं **[जीवस्य]** जीवके **[वर्णः]** रूप **[नास्ति]** नहीं है **[गंधः अपि न]** गंध भी नहीं है, **[रसः अपि न]** रस भी नहीं है **[च]** और **[स्पर्शः अपि न]** स्पर्श भी नहीं है, **[रूपं अपि न]** रूप भी नहीं है **[शरीरं न]** शरीर भी नहीं है **[संस्थानं अपि न]** संस्थान भी नहीं हैं **[संहननं न]** संहनन भी नहीं हैं । **[जीवस्य]** तथा जीवके **[रागः न अस्ति]** राग भी नहीं है **[द्वेषः अपि न]** द्वेष भी नहीं है **[मोहः एव]** मोह भी **[न विद्यते]** विद्यमान नहीं है **[प्रत्ययाः नो]** आस्रव भी नहीं हैं

नहिं राग जीवका है, न दोष नहिं मोह वर्तता इसमें ।
कर्म नहीं नहिं आस्रव, नहिं हैं नोकर्म भी इसका ।।५१।।
नहिं वर्ग जीवके हैं, न वर्गणा नाहिं वर्गणाव्रज भी ।
अध्यात्मस्थान नहीं, अनुभागस्थान भी नहिं है ।।५२।।
योगस्थान न कोई, बन्धस्थान भी जीवके नहिं हैं ।
उदयस्थान नहीं हैं, न मार्गणास्थान भी कोई ।।५३।।
स्थितिबन्धस्थान नहीं, संक्लेशस्थान भी नहीं इसके ।
कोइ विशुद्धिस्थान न, संयमलब्धिके स्थान नहीं ।।५४।।
जीवस्थान न कोई, नहीं गुणस्थान जीवके होते ।
क्योंकि ये भाव सारे, होते परिणाम पुद्गलके ।।५५।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः । नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं । जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः । नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ।।५१।। जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित् । नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि । जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा, नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा । नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा । नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य । येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ।।५५।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिरसुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गल-

---

सत्तायां, विज्ज सत्तायां, मग्ग अन्वेषणे । **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, वर्ण, न, अपि गंध, न, अपि, रस, न, अपि, च, स्पर्श, न, अपि, रूप, व, शरीर, न, अपि, संस्थान, न, संहनन, जीव, न, राग, न, अपि, दोष, न, एव, मोह, नो, प्रत्यय, न, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, तत्, न जीव, न, वर्ग, न, वर्गणा, न, एव, स्पर्द्धक,

---

[नो] नहीं हैं [च] और [जीवस्य] जीवके [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न संति] नहीं हैं [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] ये सभी [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [परिणामाः] परिणाम हैं ।

तात्पर्य—वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त ये उक्त भाव जीवके नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं ।

टीकार्थ—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण (रंग) हैं वे सभी जीवके नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणामनमय होनेके कारण ये वर्ण आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न हैं ।१। सुगंध, दुर्गन्ध भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गल परिणाममय हैं, इसलिये आत्माकी अनुभूतिसे भिन्न हैं ।२। कटुक, कषैला, तिक्त (चर्परा), खट्टा और मीठा ये सब रस भी जीवके

सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्द्धकानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

अव्यय । रसः–प्रथमा एक० । न–अव्यय । अपि–अ० । च–अ० । स्पर्शः–प्रथमा एक० । न–अ० । अपि–अव्यय । रूपं–प्रथमा एक० । न, शरीरं–प्रथमा एक० । न, अपि, संस्थानं–प्र० ए० । न, संहननं–प्र० ए० । जीवस्य–षष्ठी एक० । न, रागः–प्र० एक० । न, अपि, द्वेषः–प्र० एक० । न, एव, अस्ति, विद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । मोहः–प्र० ए० । नो–अव्यय । प्रत्ययः–प्रथमा बहु० । न, कर्म–प्रथमा एक० । नोकर्म–प्रथमा एक० । च, अपि, तस्य–षष्ठी एक० । न, अस्ति, जीवस्य–षष्ठी एक० । न, अस्ति, वर्गः–प्र० एक० । न, वर्गणा–प्र० एक० । न, एव, स्पर्द्धकानि–प्रथमा बहु० । कानिचित्–अव्यय अंतः प्रथमा बहु० ।

के अविभागप्रतिच्छेदोंका समूहरूप वर्ग भी जीवका नहीं है, क्योंकि····। १५ । वर्गोंका समूहरूप वर्गणा भी जीवकी नहीं है, क्योंकि०····। १६ । मंद तीव्र रसरूप कर्मके समूहके विशिष्ट वर्गोंकी वर्गणाके स्थापनरूप स्पर्धक जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। १७ । स्वपरके एकत्व का अध्यास (मिथ्या आरोप) होनेपर विशुद्ध चैतन्य परिणामसे भिन्न लक्षण वाले अध्यात्मस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। १८ । पृथक्-पृथक् विशेषरूप प्रकृतियोंके रसरूप जिनका लक्षण है ऐसे अनुभागस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि···। १९ । काय, वचन, मनोरूप वर्गणा का चलना जिनका लक्षण है, ऐसे योगस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि···। २० । भिन्न भिन्न विशेषोंको लिये प्रकृतियोंका परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे बंधस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०···। २१ । अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्मकी अवस्था जिनका स्वरूप है, ऐसे उदयस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय,

त्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिवादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः । तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥ ॥५०-५१-५२-५३-५४-५५॥

कानिचित्, नो, स्थितिबन्धस्थानानि–प्रथमा बहु० । जीवस्य–षष्ठी एक० । न, संक्लेशस्थानानि–प्रथमा बहु०, न, एव, विशुद्धिस्थानानि–प्र० ब० । नो, संयमलब्धिस्थानानि–प्र० ब० । न, नो, एव, च, जीवस्थानानि–प्र० ब० । न, गुणस्थानानि–प्र० बहु० । वा, संति, जीवस्य, येन–तृतीया एक० हेत्वर्थे, तु, एते सर्वे–प्र० ब० । पुद्गलद्रव्यस्य–षष्ठी एक० । परिणामाः–प्रथमा बहुवचन ॥५०-५१-५२-५३-५४-५५॥

रागादिक पुरुषसे भिन्न ही हैं । (वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत भावोंका स्वरूप विशेषतया यदि जानना हो तो **गोम्मटसार** आदि ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये) ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि आत्मा चेतनागुणमय है, चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसार है और इससे अतिरिक्त भाव सब पौद्गलिक हैं । सो इसी विषयको निषेधविवरणके साथ इन छह गाथाओंमें कहा जा रहा है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें कुछ भाव तो ऐसे हैं जो पुद्गलके ही परिणमन हैं, इस कारण वे अन्य भाव पौद्गलिक हैं । (२) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें कुछ भाव ऐसे हैं जो कर्मपुद्गलविपाकके प्रतिफलन हैं, इस कारण वे अन्य भाव पौद्गलिक हैं । (३) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें कुछ भाव ऐसे हैं जो पुद्गलकर्मदशाका निमित्त पाकर आत्माके गुणोंके विकृत परिणमन हैं, इस कारण वे अन्य भाव भी पौद्गलिक कहे गये हैं । (४) समस्त अन्य भावोंसे आत्माभिभव न होने देनेका तथा अन्य भावोंके दूर होनेका तथा अन्य भावके कारणोंके दूर हो जानेका साधन केवल निज सहज अन्तस्तत्त्वका दर्शन है ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलद्रव्यके परिणमनोंका आत्मामें नास्तित्व है । (२) पुद्गलकर्मविपाकके सान्निध्यमें उपयोगमें वह विपाक प्रतिफलित होता है । (३) आत्माके शुद्ध ज्ञायक-

भावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ॥५६॥

रेण–तृतीया एक० । तु–अव्यय । एते–प्र० बहु० । जीवस्य–षष्ठी एक० । भवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । वर्णाद्याः–प्र० ब० । गुणस्थानान्ताः–प्र० ब० । भावाः–प्र० ब० । न, तु, केचित्–अव्यय । अन्तः–प्र० ब०, निश्चयनयस्य–षष्ठी एक० ॥५६॥

इस प्रकार भगवान्‌का कथन स्याद्वादसहित युक्तिपूर्ण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावोंमें बताया था कि वर्णादिक व अध्यवसानादिक पौद्गलिक हैं वे जीवके नहीं हैं तो इसपर एक आशङ्का होना प्राकृतिक है कि यदि ये वर्णादि भाव जीवके नहीं है तो सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जीवके वे भाव हैं ऐसा क्यों वर्णन मिलता है ? इस आशङ्काके समाधानमें इस गाथाका अवतार हुआ है ।

तथ्यप्रकाश—(१) व्यवहारनय पर्यायदर्शक व भेददर्शक है । (२) निमित्तके परिणमनोंको सम्बंधवश उपादानके कहनेका व्यवहार होता है । (३) निश्चयनय एक द्रव्यका दर्शक है । (४) जो निश्चयनय एक द्रव्यमें उसके पर्याय व गुणोंको दिखाता है वह भेदविधिकी ओर से व्यवहारनय बन जाता है ।

सिद्धान्त—(१) वर्ण संस्थान संहनन वर्ग वर्गणा स्पर्द्धक आदि जीवके उपचारसे कहे जाते हैं । (२) अध्यवसान गुणस्थान संयमस्थान आदि जीवके व्यवहारनयसे है । (३) शुद्धनय से जीवके वर्णादिक अध्यवसानादिक कोई भी चित्स्वभावातिरिक्त भाव नहीं हैं ।

दृष्टि—१– एकद्रव्यपर्याये अन्यद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१२१) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३) । ३– शुद्धनय (४९) ।

प्रयोग—पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर होने वाले विकारोंको कर्ममें थोपकर अपनेको शुद्ध चित्स्वभावमात्र अनुभवना चाहिये ॥५६॥

ये वर्णादिक निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं;—[**एतैः च संबन्धः**] इन वर्णादिक भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध [**क्षीरोदकं यथेव**] जल और दूधके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धसदृश [**ज्ञातव्यः**] जानना [**च**] और [**तानि**] वे [**तस्य तु न भवंति**] उस जीवके नहीं हैं [**यस्मात्**] क्योंकि जीव [**उपयोगगुणाधिकः**] उपयोग गुणके कारण इनसे अधिक है । **तात्पर्य**—ज्ञानमय आत्मा ज्ञानरहित सब पदार्थोंसे निराला है ।

टीकार्थ—जैसे जलसे मिला हुआ दूध जलके साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होने पर भी अपने स्वलक्षणभूत क्षीरत्व गुणमें व्याप्त होनेके कारण दूध जलसे पृथक् प्रतीत होता है इस कारण जैसे अग्निका उष्णता गुणके साथ तादात्म्यसंबन्ध है, उस प्रकार दूधका जलके

स्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्य-तया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य संति ॥५७॥

न, च, तत्, तु, उपयोगगुणाधिक, यत् । **मूलधातु**—सम्-वन्ध बन्धने, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, युजिर् योगे । **पदविवरण**—एतैः–तृतीया बहुवचन, च–अव्यय, सम्बन्धः–प्रथमा एक०, यथा–अव्यय, एव–अव्यय, क्षीरोदकं–प्रथमा एक०, ज्ञातव्यः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया, च–अव्यय, भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन, तस्य–षष्ठी एक०, तानि–प्रथमा बहुवचन, तु–अव्यय, उपयोगुणाधिकः–प्रथमा एक०, यस्मात्–हेत्वर्थे पंचमी एकवचन ॥५७॥

जानेसे इनका भी संबंध संयोग संबंध कहलाता है । ७–वर्णादिकसे तो उपयोग अत्यन्त निराला है । ८–अध्यवसानादिकोंसे भी उपयोगस्वरूप आत्मा बिल्कुल विलक्षण है । ६–संयोग संबंधमें एकको दूसरेका बताना प्रकट उपचार वाला व्यवहार है । १०–क्षणिक तादात्म्यमें विभावको अशुद्ध निश्चयनयसे जीवका जो कहा है वह असद्भूतव्यवहार वाले द्रव्यकर्म बंधकी अपेक्षा तारतम्य बतानेके लिए कहा है । वस्तुतः परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा तो यह अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही है । ११–शाश्वत सहज तादात्म्य सम्बन्धमें ही वास्तविक स्वरूप जाना जाता है । १२–जीव उपयोगमय है, जीवका उपयोगके साथ शाश्वत सहज तादात्म्य संबंध है । १३–आत्माकी वर्णादिसे व रागादिसे भिन्नताका परिचय आत्माके उपयोग गुणके जाननेसे हो जाता है अर्थात् आत्मा उपयोगस्वरूप हैं और वर्णादिक व रागादिक जड़ स्वरूप है । १४–आत्माका उपयोगसे तादात्म्य संबंध है, जैसे अग्निका उष्णतासे तादात्म्य संबंध है । १५–तादात्म्य तो शाश्वत रहता है, अतः उसके साथ संबन्ध शब्द तुक मिलानेके लिए लगाया जाता है । वस्तुतः तादात्म्य कोई संबंध नहीं है, वह तो तन्मय है । १६–वर्णादिकका व अध्यवसानादिका, गुणस्थान पर्यन्त इन सब भावोंका जीवके साथ शाश्वत सहज तादात्म्य संबंध नहीं है, अतः ये सब भाव जीवके नहीं हैं ।

सिद्धान्त—१–आत्मा उपयोग (चैतन्य) स्वरूप है । २– शरीरको आत्मा कहना उपचार है, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ संयोग सम्बन्ध ही हो सकता है । ३–नैमित्तिक भावोंका उपादानके साथ अशुद्धिकालमें क्षणिक तादात्म्य रहता है ।

दृष्टि—१– परमशुद्ध निश्चयनय (४४) । २– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१०६) । ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) ।

प्रयोग—पानीसे दूधकी भिन्नताकी तरह शरीरको आत्मासे भिन्न निरखकर ज्ञानमात्र अन्तःस्वरूपमें उपयोग करना ॥५७॥

जीवस्यैष वर्णं इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्त्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति । एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेष-

---

प्रातिपदिक—पथिन्, लोक, व्यवहारिन्, एतत्, पथिन्, न च पथिन्, कश्चित्, तथा, जीव, कर्मन्, नोकर्मन्, वर्ण, जीव, कर्मन्, नोकर्मन्, वर्ण, जीव, एतत्, वर्ण, जिन, व्यवहारतः, उक्त, गंधरसस्पर्शरूप, देह, संस्थान, आदि, यत्, च, सर्व, व्यवहार, च निश्चयद्रष्टृ । **मूलधातु**—मुष स्तेये क्र्यादि, दृशिर् अवलोकने, भण शब्दार्थः पथि गतौ चुरादि । **पदविवरण**—पथि–सप्तमी एकवचन, मुष्यमाणं–द्वितीया एक० असमाप्तिकी क्रियाके कर्मका विशेषण, दृष्ट्वा–असमाप्तिकी क्रिया, लोकाः–प्रथमा ब०, भणंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

[**जीवस्य**] जीवका [**एषः वर्णः**] यह वर्ण है ऐसा [**जिनैः**] जिनदेवने [**व्यवहारतः**] व्यवहारसे [**उक्तः**] कहा है [**एवं**] इस प्रकार [**गंधरसस्पर्शरूपाणि**] गंध, रस, स्पर्श और रूप [**देहः संस्थानादयः**] देह संस्थान आदिक [**ये च सर्वे**] जो हैं वे सभी [**व्यवहारस्य**] व्यवहारके मतमें हैं, [**निश्चयद्रष्टारः**] ऐसा निश्चयनयके देखने वाले [**व्यपदिशंति**] कहते हैं ।

तात्पर्य—निश्चयसे जीव अमूर्त है, फिर भी देहादिके रूपादिको देखकर इस जीवका ऐसा रूप है यों व्यवहारसे कहा गया है ।

टीकार्थ—जैसे मार्गमें प्रस्थित किसी धनिकको लुटता हुआ देखकर धनिककी मार्गमें स्थिति होनेसे उपचारसे कहा जाता है कि यह मार्ग लुटता है, तथापि निश्चयसे देखा जाय, तो जो आकाशके विशेष प्रदेशोंरूप मार्ग है वह तो कोई लुटता नहीं है । उसी प्रकार जीवमें बंधपर्यायसे अवस्थित जो कर्मका और नोकर्मका वर्ण है उसे देखकर जीवमें स्थित होनेसे उपचारसे जीवका यह वर्ण है, ऐसे व्यवहारसे भगवान् अरहंत देव प्रज्ञापन करते हैं, प्रकट करते हैं, तो भी निश्चयसे जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाव है और उपयोग गुणके कारण अन्य द्रव्यसे अधिक है याने भिन्न है, इसलिये उसके कोई वर्ण नहीं है । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—ये सभी व्यवहारसे जीवके हैं ऐसा अरहंत देवोंका प्रज्ञापन होनेपर भी निश्चयसे नित्य ही अमूर्त स्वभाव वाले व उपयोग गुणके कारण अन्यसे भिन्न जीवके ये सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावोंके और जीवके तादात्म्यलक्षण सम्बंधका अभाव है ।

भावार्थ—ये जो वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव कहे हैं, वे सिद्धान्तमें जीवके कहे हैं, सो व्यवहारनयसे कहे गये हैं, निश्चयनयसे तो जीवके नहीं हैं । क्योंकि जीव तो परमार्थतः उपयोगस्वरूप है । जहाँ पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था वहाँ ऐसा नहीं समझना कि

हारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न संति तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् ॥५८-५९-६०॥

हारतः–पंचम्यां तसल् अव्यय, उक्तः–प्रथमा एक० कृदंत, गंधरसस्पर्शरूपाणि–प्रथमा बहु०, देहः–प्रथमा एक०, संस्थानं–प्रथमा एक०, आदयः–प्रथमा बहु०, ये–प्रथमा बहु०, सर्वे–प्रथमा बहु०, व्यवहारस्य–षष्ठी एक०, निश्चयद्रष्टारः–प्रथमा ब०, व्यपदिशंति–वि-अप दिशंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० ॥५८-६०॥

कि वर्णादिक तो पुद्गलके आश्रित हैं वे जीवके नहीं हैं।

सिद्धान्त—(१) एक जातिके पदार्थके आधारमें अन्य जातिके आधेय पदार्थका आरोप करना आरोपक असद्भूतव्यवहार है। (२) जिस विभाव पर्यायका जो उपादान है उसको उसमें ही बताना प्रयोजक व्यवहार है।

दृष्टि— १- एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४०)। २- अशुद्ध निश्चयनय, अशुद्धपर्यायविषयी व्यवहारनय (४७, ५२)।

प्रयोग—किसी भी उपचार कथनसे उसके प्रयोजनमात्रको जानकर आगे प्रगतिके लिये निश्चयनयका आश्रय करके सर्वविकल्पातिक्रान्त अन्तस्तत्त्वको अनुभवना चाहिये ॥५८-५९-६०॥

यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य सम्बंध क्यों नहीं है? उसका उत्तर कहते हैं—[**वर्णादयः**] जो वर्ण आदिक हैं वे [**संसारस्थानां जीवानां**] संसारमें स्थित जीवोंके [**तत्र भवे**] उस भवमें [**भवन्ति**] होते हैं [**संसारप्रमुक्तानां**] किन्तु संसारसे छूट गए याने मुक्त हुए जीवोंके [**खलु**] निश्चयसे [**वर्णादयः केचित्**] वर्णादिक कोई भी [**न संति**] नहीं हैं। इसलिये तादात्म्य सम्बंध भी नहीं है।

तात्पर्य—केवल संसारदशामें देहादिमें वर्णादि होते हैं मुक्तदशामें नहीं होते, अतः सदा न होनेसे जीवका वर्णादिसे तादात्म्य सिद्ध नहीं होता।

टीकार्थ—जो निश्चयसे सब अवस्थाओंमें जिस स्वरूपसे व्याप्त हो और जिस स्वरूपकी व्याप्तिसे रहित न हो, उस वस्तुके साथ उन भावोंका तादात्म्य सम्बंध होता है। इसलिए सब ही अवस्थाओंमें वर्णादिरूपसे व्याप्त हुए और वर्णादिककी व्याप्तिसे शून्य न हुए पुद्गल द्रव्यका वर्णादिक भावोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। और संसार-अवस्थामें कथंचित् वर्णादि स्वरूपसे हुए तथा वर्णादि स्वरूपकी व्याप्तिसे शून्य न हुए जीवका मोक्ष अवस्थामें सर्वथा वर्णादि स्वरूपकी व्याप्तिसे शून्य होनेके कारण तथा वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त न होनेके कारण वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं है।

भावार्थ—जो वस्तु जिन भावोंसे सब अवस्थाओंमें व्याप्त हो उस वस्तुका उन भावों

भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात् । संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ॥६१॥

प्रमोचने, सृ गतौ । **पदविवरण**—तत्र–अव्यय । भवे–सप्तमी एक० । जीवानां–षष्ठी बहु० । संसारस्थानां–षष्ठी बहु० । भवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन । वर्णादयः–प्रथमा बहु० । संसारप्रमुक्तानां–षष्ठी बहुवचन । न–अव्यय । अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । खलु–अव्यय । वर्णादयः–प्रथमा बहु० । केचित्–अव्यय अन्तः प्रथमा बहुवचन ॥६१॥

---

(२) उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय व विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयनय (२४–४८) ।

प्रयोग—संसार अवस्थामें संयोगसम्बद्ध शरीरके वर्णादिक देखकर संदेह नहीं करना, अब भी संसार अवस्थामें भी अपनेको अमूर्त ही निरखकर अबद्ध अस्पृष्ट चैतन्यस्वभावमय अनुभवना चाहिये ॥६१॥

अब जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य ही है, ऐसा मिथ्या अभिप्राय करनेमें जो दोष है उसे अगली गाथामें कहते हैं:—**[यदिह च]** यदि तुम **[इति मन्यसे]** ऐसा मानोगे कि **[एते सर्वे भावाः]** ये वर्णादिक सब भाव **[जीवा हि एव]** जीव ही हैं **[तु ते]** तो तेरे मतमें **[जीवस्य च अजीवस्य]** जीव और अजीवका **[कश्चित्]** कोई **[विशेषः]** भेद **[नास्ति]** नहीं रहता ।

तात्पर्य—अजीव तो वर्णादिमान ही है और अब जीवको भी वर्णादिमान मानोगे तो फिर जीव व अजीवमें कुछ फर्क न रहा ।

टीकार्थ—जैसे वर्णादिक भाव अनुक्रमसे प्रगट होने (उपजने) वाली और छिपने (नाश होने) वाली उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) के द्वारा पुद्गल द्रव्यको अन्वय रूप प्राप्त हुए पुद्गल द्रव्यके ही तादात्म्यस्वरूपको विस्तृत करते हैं, उसी प्रकार वर्णादिक भाव क्रमसे भावित आविर्भावतिरोभाव वाली पर्यायोंसे जीवके अन्वयको प्राप्त होते हुए जीवके वर्णादिकके साथ तादात्म्य स्वरूपको विस्तारते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके अन्य शेष द्रव्योंसे असाधारण वर्णादिस्वरूप जो पुद्गल द्रव्यका लक्षण है उसको जीवका अङ्गीकार करनेसे जीव और पुद्गलमें अविशेषका प्रसंग होगा । ऐसा होनेसे पुद्गलसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव हो जायगा तब जीव द्रव्यका ही अभाव हो जायगा ।

भावार्थ—जैसे वर्णादि पुद्गलद्रव्यके साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसी प्रकार जीवके साथ भी तादात्म्यस्वरूप हो जाय तो जीव व पुद्गलमें कुछ भी भेद न रहेगा, और ऐसा हो जाय तो जीवका भी अभाव हो जायगा । यह महादोष किसीको भी इष्ट नहीं है ।

यहाँ कोइ पुरुष ऐसे शंकालु हो सकते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके भी तो दशवें गुणस्थान तक वन्ध चलता है, फिर ज्ञानीको अवन्धक कैसे कहा गया है ? सो उन्हें तीन प्रकारसे बात जानकर अपना चित्त समाधान रूप कर लेना चाहिये । (१) जिस गुणस्थानमें जितनी प्रकृतियोंका वन्ध नहीं होता है, उतनी प्रकृतियोंकी अपेक्षा उन्हें अवन्धक समझना, (२) जो भी किंचित् बंध होता है वह संसारवृद्धिकी सामर्थ्य नहीं रखता, इसलिये अवन्धसम ही समझना । (३) ज्ञानी विशेषण कहनेसे उसको केवल ज्ञानपरिणमनरूपसे ही देखना, अन्य परिणमनरूपसे नही देखना । तव तो यह पूर्ण सिद्ध है कि ज्ञानीके किंचिन्मात्र भी बंध नहीं होता ।

ज्ञानी जीवके पूर्वसंचित कर्म उदयमें आए झड़ जाते हैं, नवीन बंधके कारण नहीं बनते; क्योंकि ज्ञानीके विभावमें राग नही रहा । ज्ञानी जीवके जो भी बंध चलता है वह ज्ञानकी जघन्यतासे अनुमीयमान शेष रहे अबुद्धि-पूर्वक रागके कारण होता है । अतः कर्तव्य तो यही हैं कि तबतक ज्ञानकी अनवरत उपासना करना चाहिए, जवतक ज्ञानका पूर्ण विकास न हो ।

शुद्धनयके विषयभूत समयसारसे च्युत रहकर या होकर जीव रागादि परिणामसे संकीर्ण हो जाता है और उसके निमित्तसे पुद्गल-कर्मवर्गणाएँ स्वयं वंधरूपसे परिणम जाती है । जैसे किसी पुरुषने आहार ग्रहण किया, यह तो उसका वुद्धिपूर्वक कार्य हुआ । अव आगे वह आहार स्वयं रस, रुधिर, मल आदि रूप परिणम जाता है और उसका जो विपाक होना होता है, होता है । यह सब निमित्त-नैमित्तिक भाववश होता ही है । यदि कोई आसक्तिसे आहार ग्रहण करे तो उसे उसके फलमें आहार-विपाकके समय वेदना भोगनी पड़ती है । इसी तरह यदि कोई आसक्तिसे, मोहसे विभावरति करे तो तन्निमित्तक हुए कर्मवंधके परिपाकसमयमें वेदना भोगनी पड़ती है । इसलिये कहा जा सकता है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" । अतः कल्याणार्थीको अपने परिणाम सदा सावधान रखना चाहिए ।

संवराधिकार

संवर नाम रुकने का है । रागादि भावोके आगमन रुकने के या न आनेको संवर कहते हैं । इस रागादिके संवर के परिणाममें कर्मोंका आना भी रुक जाता है । अतः कर्मोका आना रुक जानेको भी संवर कहते हैं । संवर का उपाय भेदविज्ञान है । आत्मा तो ज्ञानमात्र है और ज्ञानभावके अतिरिक्त शेष सर्व औपाधिकभाव अनात्मा है । वहां अव यह देखना चाहिये कि ज्ञानमें (उपयोगमें, अथवा आत्मामें) क्रोधादिक औपाधिक भाव नहीं हैं और क्रोधादिक औपाधिक भावोंमें उपयोग नही हैं । क्रोधादिक तो क्रुध्यत्तादिक स्वरूपमें है और ज्ञान जानत्तारूपमें ही है । इस भेदविज्ञानसे शुद्धा-त्माकी उपलब्धि होती है और शुद्धात्माकी उपलब्धिसे संवर होता है ।

शुद्धात्माको जानता हुआ आत्मा शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ आत्मा अपने को अशुद्ध ही पाता रहता है । शुद्धात्माकी प्राप्ति व संवरका बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि—शुभ तथा अशुभ योगमें प्रवर्तते हुये अपने आपको प्रवल भेदविज्ञानके उपयोग द्वारा इस प्रवर्तनसे रोके और शुद्ध चैतन्या-त्मक निज आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित करे । फिर यह आत्मा इच्छा-रहित व संग-रहित होकर अपने आपके द्वारा अपने आत्माका ध्याता हो जाता है। उस समय एकत्व-विभक्त निज आत्माका ध्यान करता हुआ अर्थात् चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माका ध्यान करता हुआ निज अकलंक आत्माको प्राप्त करता है । -यही संवरका प्रकार है व कर्मोसे मुक्त होने का उपाय है ।

तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेसे अध्यव-सानोंका अभाव होता है, अध्यवसानोके अभाव होनेपर मोहका अभाव होता है, मोहभाव का अभाव होनेपर राग-द्वेपभाव का अभाव हो जाता है, राग-द्वेप का अभाव होने पर कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मका अभाव होनेपर सदा के लिये शरीरका अभाव हो जाता है और शरीरका अभाव होनेपर संसारका अभाव हो जाता है । संसार ही

यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।।६२।।

यदि–अव्यय। हि–अव्यय। जीवस्य–षष्ठी एक०। अजीवस्य–षष्ठी एक०। च–अव्यय। न–अव्यय। अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। विशेषः–प्रथमा एक०। तु–अव्यय। ते–षष्ठी एकवचन। कश्चित्–अव्यय अन्तः प्रथमा एकवचन ।।६२।।

प्रयोग—अपने आत्मा व वर्णादिक भावोंको बिलकुल पृथक् निरखकर अपने चैतन्यचमत्कारमात्र स्वरूपमें उपयोगको लीन करनेका भावपौरुष करना चाहिये ।।६२।।

अब संसार-अवस्थामें ही जीवका वर्णादिकसे तादात्म्य है, ऐसा अभिप्राय होनेपर भी यही दोष आता है, ऐसा कहते हैं—[**अथ**] अब यदि [**तव**] तुम्हारे मतमें [**संसारस्थानां जीवानां**] संसारमें स्थित जीवोंके ही [**वर्णादयः**] वर्णादिक तादात्म्यस्वरूपसे [**भवन्ति**] हैं [**तस्मात्**] तो इसी कारण [**संसारस्थाः जीवाः**] संसारमें स्थित जीव [**रूपित्वं आपन्नाः**] रूपीपनेको प्राप्त हो गए। [**एवं**] ऐसा होनेपर [**तथा लक्षणेन**] पुद्गलके लक्षणके समान जीवका लक्षण होनेसे [**मूढमते**] हे मूढ़ बुद्धि [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य ही [**जीवः**] जीव सिद्ध हुआ [**च निर्वाणं**] और निर्वाणको [**उपगतोपि**] प्राप्त हुआ भी [**पुद्गलः**] पुद्गल ही [**जीवत्वं**] जीवपनेको [**प्राप्तः**] प्राप्त हुआ।

तात्पर्य—संसारदशामें ही सही, जीवका लक्षण रूपी माननेपर वह पुद्गल कहलाया और निर्वाण होनेपर कहा जायगा कि पुद्गलका निर्वाण हुआ, पुद्गल ही जीव बन गया।

टीकार्थ—जिसके मतमें संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्य सम्बंध है, ऐसा अभिप्राय है, उसके संसार अवस्थाके समय वह जीव रूपित्व दशाको अवश्य प्राप्त होता है। और रूपित्व किसी द्रव्यका असाधारण (अन्य द्रव्योंसे पृथक् कराने वाला) लक्षण है। इस कारण रूपित्व लक्षण मात्रसे जो कुछ लक्ष्यमाण है वही जीव है और रूपित्व से लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव सिद्ध होता है अन्य कोई नहीं। ऐसा होनेपर मोक्ष अवस्थामें भी पुद्गलद्रव्य ही आप जीव होता है। क्योंकि जो द्रव्य है, वह नित्य अपने लक्षणसे लक्षित है, वह सभी अवस्थाओंमें अविनाशस्वभाव है इसलिये अनादिनिधन है, इस कारण पुद्गल ही जीव है, इससे भिन्न कोई जीव नहीं है। ऐसा होनेसे संसारदशामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य मानने वालेके मतमें भी पुद्गलोंसे भिन्न जीवद्रव्यका अभाव होनेसे जीवका अभाव ही सिद्ध हुआ। इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो वर्णादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं।

भवति । एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावात् भवत्येव जीवाभावः । एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति ॥६३-६४॥

पदविवरण—अथ–अव्यय । संसारस्थानां–षष्ठी एक० । जीवानां–षष्ठी वहु० । तव–षष्ठी एक० । भवंति–वर्तमान अन्य पुरुष वहु० । वर्णादयः–प्रथमा वहु० । तस्मात्–पंचमी एक० । संसारस्थाः–प्रथमा वहु० । जीवाः–प्रथमा वहु० । रूपित्वं–द्वितीया एक० । आपन्नाः–प्रथमा वहु० । एवं–अव्यय । पुद्गलद्रव्यं–प्रथमा एक० । जीवः–प्रथमा एक० । तथालक्षणेन–तृतीया एक० । मूढमते–संवोधने एक० । निर्वाणं–द्वि० ए० । उपगतः–प्रथमा एक० । अपि–अव्यय । च–अव्यय । जीवत्वं–द्वि० ए० । पुद्गलः–प्रथमा एक० । प्राप्तः–प्रथमा एकवचन ॥ ६३-६४ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) जीवका संसारावस्थामें ही वर्णादिका तादात्म्य कोई माने तो संसार-अवस्थामें तो जीवको रूपी मानना ही पड़ेगा । (२) जिसे रूपी माना हो वह पुद्गल ही कहा जायगा यों संसारदशामें दुराग्रहीके मतमें जीव पुद्गल ही रहा । (३) संसारदशामें जिसे (जीवको) पुद्गल माना तो अब यदि उसका निर्वाण माना जायगा तो अरूपी होनेसे यही कहना पड़ेगा कि पुद्गल ही जीव बन गया । (४) अथवा जो पुद्गल था वह शुद्ध हो गया तो यही कहना होगा कि पुद्गल शुद्ध हो गया, फिर तो कोषमें से जीवका नाम ही निकल जाना चाहिये । (५) जीवका वर्णादिके साथ किसी भी अवस्थामें तादात्म्य माना ही नहीं जा सकता ।

सिद्धान्त—(१) मात्र संयुक्तसमवेत सम्बन्धसे वर्णादिकको जीवके वतानेकी रूढ़ि है । (२) आत्माका चैतन्यस्वभावके ही साथ शाश्वत तादात्म्य है ।

दृष्टि— १– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (११२) । २–परमशुद्धनिश्चयनय (४४, ४५) ।

प्रयोग—अपने आपको इस समय भी अविकार चैतन्यमात्र स्वरूपमें निरखकर चैतन्यमात्र अनुभवना जिसकी दृढ़ताके प्रतापसे अविकार पर्यायमय हो जाय ॥६३-६४॥

आगे इसी अर्थको विशेष रूपसे करते हैं—[एकं च] एकेन्द्रिय [द्वे] द्वीन्द्रिय [त्रीणि च] त्रीन्द्रिय [चत्वारि] चतुरिन्द्रिय [च पञ्चेन्द्रियाणि] और पंचेन्द्रिय [जीवाः] जीव तथा [वादरपर्याप्तेतराः] वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सव जो जीव हैं वे [नामकर्मणः] सव ऐसी ही नामकर्मकी [प्रकृतयः] प्रकृतियां हैं [एताभिः च] इन प्रकृतियोंसे ही [करणभूताभिः]

एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि । ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिं ॥३८॥

मूलधातु—निस्-वृतु वर्तने, परि-आप्लृ व्याप्तौ, इदि परमैश्वर्ये, भण शब्दार्थः । **पदविवरण**—एकं-प्रथमा एक० । द्वे-प्रथमा द्वि० । त्रीणि-प्रथमा बहु० । चत्वारि-प्रथमा बहु० । पंच-प्रथमा बहु० । इन्द्रियाणि-प्रथमा बहु० । जीवाः-प्रथमा बहु० । वादरपर्याप्तेतराः-प्रथमा बहु० । प्रकृतयः-प्रथमा ब० । नामकर्मणः-षष्ठी एक० । एताभिः-तृतीया बहु० स्त्रीलिंग । निर्वृत्तानि-प्रथमा बहु० । जीवस्थानानि-प्रथमा बहु० ।

आने वाले शरीर आदि मूर्तिकभाव हैं वे पुद्गल कर्मप्रकृतियोंके कार्य होनेके कारण अनुमान प्रमाणसे भी सिद्ध हैं । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन—ये भी नामकर्मकी प्रकृतियों द्वारा किए गये होनेपर उस पुद्गलसे अभेदरूप हैं इसी कारण जीवस्थानों की तरह इन्हें भी पुद्गलमय ही कहने चाहिएँ । इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं हैं, ऐसा निश्चयनयका सिद्धान्त है ।

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**निर्वर्त्यते** इत्यादि । **अर्थ**—जिस वस्तुसे जो पर्याय निष्पन्न होती है वह पर्याय उस वस्तुरूप ही है कुछ अन्य वस्तु नहीं है । जैसे यहाँ सोनेसे रचे गये खड्गके (तलवारके) म्यानको लोग सोना ही देखते हैं, खड्गको तो सोनारूप किसी तरह भी नहीं देखते ।

भावार्थ—पुद्गलप्रकृतियोंसे रचे गये वर्णादिक भाव पुद्गल ही हैं जीव नहीं हैं ।

अब दूसरा काव्य कहते हैं—**वर्णादि** इत्यादि । **अर्थ**—वर्णादिक गुणस्थानपर्यन्त सभी भावोंको एक पुद्गलका ही निर्माण जानो जानो, इसलिये ये भाव पुद्गल ही होवो आत्मा नहीं, क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पिण्ड है, इस कारण पुद्गलसे अन्य है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व प्रकरणमें यह बताया गया था कि वर्णादिक भाव पुद्गलमय हैं जीवके स्वरूप नहीं, जीवके नहीं । अब इसी तथ्यकी युक्तिपूर्वक सिद्धिका इनदो गाथावों कथन है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निश्चयसे कर्तादिकी भांति कर्म व करण भी अभिन्न होते हैं । (२) जो जिसके द्वारा किया जाय वह वही निश्चयसे है । (३) सुवर्णके द्वारा सुवर्णाभूषण जो भी बना वह सुवर्ण ही है, इसी भांति सर्व पदार्थोंसे यही तथ्य है । (४) वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, आदि, पर्याप्त, अपर्याप्त इत्यादि नामकी नामकर्मप्रकृतियां पुद्गलमयी ही हैं उनके द्वारा वादर सूक्ष्म आदि भव बनते हैं सो ये वादर आदि भी पुद्गल ही हैं । (५) नामकर्म-

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रं—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

पर्याप्त अपर्याप्तक, सूक्ष्म तथा वादरादि जो भि कही ।
देहकी जीवसंज्ञा, यह सब व्यवहारसे जानो ॥६७॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा वादराश्च ये चैव । देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥ ६७ ॥

यत्किल वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः । यथा हि कस्यचिदाजन्म-प्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति

नामसंज्ञ—पज्जत्तापज्जत्त, ज, सुहुम, वादर, य, ज, च, एव, देह, जीवसण्णा, सुत्त, ववहारदो, उत्त । धातुसंज्ञ—दिह वृद्धौ, वच्च व्यक्तायां वाचि । प्रातिपदिक—पर्याप्तापर्याप्त, यत्, सूक्ष्म, वादर, च,

मर्य नहीं है । इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणीके वर्णादिमान् प्रसिद्ध है सो उस प्रसिद्धिसे जीव में वर्णादिमान् होनेका व्यवहार सूत्रमें किया है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**घृतकुम्भा** इत्यादि । **अर्थ**—यह घृतका कुम्भ है, ऐसा कहनेपर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है, ज्ञानघन ही है ।

भावार्थ—जिसने पहले घटको मृत्तिकाका नहीं जाना और घृतके भरे घटको लोक घृतका घट कहते हैं ऐसा सुना, वहाँ उसने यही जाना कि घट घृतका हो कहा जाता है। उसको समझानेके लिए मृत्तिकाका घट जानने वाला मृत्तिकाका घट कहकर समझाता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जिसने जाना नहीं और वर्णादिकके सम्बन्धरूप ही जीव को जाना, उसको समझानेके लिये कहा जाता है कि यह जो वर्णादिमान् जीव है । सो वह ज्ञानघन है, वर्णादिमय नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अप-र्याप्त आदि सब पुद्गलमयी नामकर्मप्रकृतियों द्वारा रची गई हैं, इस कारण वे सब पौद्गलिक हैं । इस चर्चापर एक प्रश्न होना प्राकृतिक है कि फिर आगममें पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर, सूक्ष्म आदि देहोंमें जीवका व्यपदेश क्यों किया गया है । इसी प्रश्नका उत्तर इस गाथामें दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वादर, सूक्ष्म आदि शरीरकी संज्ञावोंको जीवसंज्ञारूपसे आगममें कहनेका प्रथम प्रयोजन यह है कि साधारण लोग जीवको समझ जावें और उनकी हिंसासे

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

जो भि गुणस्थान कहे, होते सब मोहकर्मके कारण ।
उन सब अचेतनोंको, फिर कैसे जीव कह सकते ॥६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि, तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यं । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेश-

---

नामसंज्ञ—मोहणकम्म, उदय, दु, वण्णिय, ज, इम, गुणट्ठाण, त, कह, जीव, ज, णिच्चं, अचेदण, उत्त । **धातुसंज्ञ**—उद्-अय गतौ, वण्ण वर्णने, हव सत्तायां । **प्रातिपदिक**—मोहनकर्मन्, उदय, तु, वर्णित,

---

प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान—ये सभी पुद्गलकर्मपूर्वक होनेसे नित्य अचेतन होनेके कारण पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं हैं, ऐसा सिद्ध हुआ ।

भावार्थ—पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए चैतन्यके विकार भी पुद्गल ही हैं, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेदरूप है और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन हैं । इस कारण परनिमित्तसे होने वाले विकार चैतन्यसरीखे दीखते हैं, तो भी चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्यापक नहीं हैं । इसलिये वे स्वभाव चैतन्यशून्य (जड़) हैं इस तरह जो जड़ है वह पुद्गल है, ऐसा निश्चय हुआ ।

यहाँ पूछते हैं कि यदि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव क्या है ? उसका उत्तररूप श्लोक कहते हैं—**अनाद्यनंत** इत्यादि । **अर्थ**—अनादि अनन्त, अचल, स्पष्ट स्वसंवेद्य चैतन्य जो अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है ।

अब चेतनत्व ही जीवका लक्षण है ऐसा काव्य द्वारा कहते हैं—**वर्णाद्यैः** इत्यादि । **अर्थ**—चूंकि वर्णादिसे सहित तथा वर्णादिसे रहित यों अजीव पदार्थ दो प्रकारके हैं याने धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार अजीव तो वर्णादि भावसे रहित हैं और पुद्गल वर्णादि-

चैतन्यमालंब्यतां ।।४२।। जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोनुभवति स्वयमुल्लसंतं । अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृंभितोयं मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ।।४३।। नानट्यतां तथापि— अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः । रागादिपुद्गलविकार-विरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।।४४।। इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा जीवा-

प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । ये–प्रथमा बहु० । इमानि–प्रथमा बहु० । गुणस्थानानि–प्रथमा बहु० । तानि–प्रथमा बहु० । कथं–अव्यय । भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । जीवाः–प्रथमा बहु० । यानि–प्रथमा

अब ज्ञाता द्रव्यकी महिमा बताकर प्रथम अधिकारको पूर्ण करते हैं । उसका कलश रूप काव्य कहते हैं—**इत्थं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार ज्ञानरूप आरेको चलानेके बारम्बार अभ्यासको नचाकर जीव और अजीव दोनों स्पष्ट रूपसे जब तक पृथक् न हुए तब तक यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा, प्रकट विकास रूप हुई प्रकट चैतन्यमात्र शक्तिसे विश्वको व्याप्त करके अपने आप वेगके अतिशयसे प्रकाशमान हो गया । इस प्रकार जीव और अजीव दोनों पृथक् होकर निकल गये अर्थात् रंगभूमिसे बाहर हो गये ।

भावार्थ—जीव अजीव दोनोंका अनादिकालीन संयोग है सो अज्ञानसे दोनों एक दीखते हैं । जब साधकको लक्षणभेद ज्ञात होता है तब भेदज्ञानके अभ्याससे सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक तो सर्वज्ञके आगमसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानसे समस्त वस्तुओंका संक्षेप तथा विस्तारसे परोक्ष ज्ञान होता है, उस ज्ञानस्वरूप आत्माका जो अनुभव होता है, वही इसका प्रकट होता है । और जब घातिया कर्मोंके नाशसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, तब सब वस्तुओंको साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है । ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात् अनुभव करता है । वही इसका सर्वतः प्रकट होना है । यही तो जीव अजीवके पृथक् होनेकी रीति है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि बादर, पर्याप्त आदि देहकी संज्ञावोंको जीवकी संज्ञायें आगममें व्यवहारसे बताई गई । निश्चयसे ये सब कुछ भी जीवके नहीं हैं । इस विषयमें यह तो जल्दी समझमें आ जाता है कि वर्ण, रस, गंध आदिक पुद्गलके ही हैं जीवके नहीं, किन्तु यह समझ सुगम नहीं हो पाती कि जीवके विभावपरिणमन रागादिक भाव व संयमस्थान गुणस्थान आदिक भाव भी पौद्गलिक हैं । सो यहाँ इसी विषयको स्पष्ट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक गुणस्थान कर्मप्रकृतिविपाकका निमित्त पाकर होते हैं । (२) जो-जो गुणस्थानके काम हैं, ऐसे ही कर्मप्रकृतियोंके अनुभाग हैं, यह तथ्य तब समझमें आता है जब प्रत्येक गुणस्थानोंमें जो आत्मविकासकी कमी है उसपर ध्यान किया जावे ।

अथ कर्त्तृकर्माधिकारः

अथ जीवाजीवावेव कर्त्तृकर्मवेषेण प्रविशतः ।

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्त्तृकर्मप्रवृत्तिं ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥४६॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥ (युग्मं)

जब तक न लखे अन्तर, आस्रव आत्मस्वरूप दोनोंमें ।
तब तक वह अज्ञानी, क्रोधादिकमें लगा रहता ॥६९॥
क्रोधादिकमें लगा जो, संचय उसके हि कर्मका होता ।
यों बन्ध जीवका हो, दर्शाया सर्वदर्शीने ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि । अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति । जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसम्बंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्त्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा संयोग-

नामसंज्ञ—जाव, ण, विसेसंतर, तु, आदासवाण, दु, पि, अण्णाणि, तावदु, त, कोधादि, जीव, कोधादि, वट्टंत, त, कम्म, संचअ, जीव, एवं बंध, भणिद, खलु, सव्वदरिसि । **धातुसंज्ञ**—विद ज्ञाने, वत्त

अब जीव, अजीव दोनों कर्ता कर्मका वेष धारण करके प्रवेश करते हैं । (जैसे दो पुरुष आपसमें कोई स्वांग रचकर नृत्यके अखाड़ेमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार यहाँ अलंकार जानना । उस स्वांगको जो ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उसकी महिमामें काव्य कहते हैं)—**एकः** इत्यादि । **अर्थ**—इस लोकमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूं और ये क्रोधादिक भाव मेरे कर्म हैं, इस प्रकारकी कर्ता कर्मकी प्रवृत्तिको शमन करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है । जो ज्ञानज्योति उत्कृष्ट उदात्त है, किसीके आधीन नहीं है, अत्यंत धीर है अर्थात् किसी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है, और दूसरेकी सहायताके बिना भिन्न-भिन्न द्रव्योंके प्रका-

भवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता । यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य

संचय, जीव, एवं, बन्ध, खलु, सर्वदर्शिन् । **मूलधातु**—विद ज्ञाने, स्रु गतौ, क्रुध क्रोधे दिवादि, वृतु वर्तने, सं-चिञ् चयने स्वादि, भू सत्तायां, बंध बंधने, भण शब्दार्थः, दृशिर् प्रेक्षणे । **पदविवरण**—यावत्–अव्यय । न–अव्यय । वेत्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । विशेषान्तरं–द्वितीया एक० कर्मकारक । तु–अव्यय । आत्मास्रवयोः–षष्ठी द्विवचन । अपि–अव्यय । अज्ञानी–प्रथमा एक० । तावत्–अव्यय । सः–प्रथमा एक० कर्तृविशेषण । क्रोधादिषु–सप्तमी बहुवचन । वर्तते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवः–

किये गये अन्तरंगमें उत्पन्न क्रोधादिक प्रतिभासित होते हैं, वे उस कर्ताके कर्म हैं । इस प्रकार यह अनादिकालसे हुई इस आत्माकी कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है । ऐसे अज्ञानभावसे कर्ताकर्मभाव द्वारा क्रोधादिकोंमें वर्तमान इस जीवके क्रोधादिकको प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र कर अपने आप ही परिणमता हुआ पुद्गलमय कर्म संचित होता है । इस भाँति जीवके और पुद्गलके परस्पर अवगाहलक्षण सम्बन्धस्वरूप बंध सिद्ध होता है । और अनेकात्मक होनेपर भी एकसंतानपना होनेसे इतरेतराश्रयदोषरहित होता हुआ वह बंध कर्ता-कर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त कारण है ।

भावार्थ—जैसे ज्ञानी आत्मा अपने आत्मा और ज्ञानको एक जानकर अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव क्रोधादिक भाव व अपने आत्माको एक जानकर क्रोधादिरूप परिणमन करता है सो ज्ञानमें और क्रोधादिकमें जब तक भेद नहीं जानता तब तक इसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है । क्रोधादिरूप परिणमन करता हुआ आप तो कर्ता है और वे क्रोधादिक इसके कर्म हैं । अनादि अज्ञानसे यों कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे बन्ध है तथा बन्धके निमित्तसे अज्ञान है । यों उसकी संतान (परम्परा) है । अतः इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं है । ऐसे जब तक आत्मा क्रोधादिक कर्मका कर्ता होकर परिणमन करता है, तब तक कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और तभी तक कर्मका बंध होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीव और अजीवका निश्चयनयसे वर्णन करके दिखाया था कि ये परस्पर कर्तृकर्मभावसे रहित है । अब उसी कर्तृकर्मभावरहितपनेका विवरण किया जाना आवश्यक है । इसके लिये प्रथम यह जानना आवश्यक है कि अज्ञानदशामें स्वयं कर्तृकर्मभावकी कैसी प्रवृत्ति होती है तब यह भी सुगमतासे ज्ञात हो जावेगा कि सम्यग्ज्ञान होनेपर यह कर्तृकर्मभाव यों सुगमतया दूर हो जाता है । सो यहाँ पहिले अज्ञानदशाके

कदाऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत्—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

जब इस आत्मा द्वारा, आस्रव आत्मस्वरूपमें अन्तर ।
हो जाता ज्ञात तभी-से इसके बंध नहिं होता ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव । ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः, तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा

नामसंज्ञ—जइया, इम, जीव, अप्प, आसव, य, तह, एव, णाद, विसेसंतर, तु, तइया, ण, बंध, त । **धातुसंज्ञ**—आ-सव स्रवणे गतौ च, जाण अवबोधने, हो सत्तायां बंध बंधने । **प्रातिपदिक**—यदा, इदम्, जीव, आत्मन्, आस्रव, च, तथा, एव, ज्ञान, विशेषान्तर, तु, तदा, न, बन्ध, तत् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, अत सातत्यगतौ, स्रु गतौ, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, बन्ध बन्धने । **पदविवरण**—यदा–अव्यय ।

बन्ध नहीं होता ।

टीकार्थ—इस लोकमें वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने भावका होना ही स्वभाव है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानका जो होना (परिणमन) है वह तो आत्मा है तथा क्रोधादिकका जो होना (परिणमना) है वह क्रोधादिक है । ऐसा होनेसे जो ज्ञानका परिणमन है, वह क्रोधादिका परिणमन नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान होनेपर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते । जो क्रोधादिकका परिणमन है, वह ज्ञानका परिणमन नहीं है, क्योंकि क्रोधादिक होनेपर क्रोधादिक हुए ही प्रतीत होते हैं, ज्ञान हुआ मालूम नहीं होता । इस प्रकार क्रोधादिक और ज्ञान इन दोनोंके निश्चयसे एकवस्तुपना नहीं है । अतः आत्मा और आस्रवोंका भेद देखनेसे जिस समय यह आत्मा भेद जानता है, उस समय इसके अनादिकालसे उत्पन्न हुई परमें कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है । और उसकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानके निमित्तसे होने वाला पुद्गलद्रव्य कर्मका बन्ध भी निवृत्त हो जाता है । ऐसा होनेपर ज्ञानमात्रसे ही बंधका निरोध सिद्ध होता है । **भावार्थ**—क्रोधादिक और ज्ञान पृथक्-पृथक् वस्तु हैं । ज्ञानमें क्रोधादिक नहीं हैं, क्रोधादिकमें ज्ञान नहीं है । इस प्रकार ज्ञानसे ही बंधका निरोध होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया था कि अज्ञानसे जीवकी परभावमें कर्तृकर्मप्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्तिसे कर्मसंचय होता है जो संसारक्लेशकी मूल है । इस

कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति चेत्—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणादि जीवो ॥७२॥

अशुचि विपरीत आस्रव, दुखके कारण है जानकर ज्ञानी।
क्रोधादि आस्रवोंसे, स्वयं सहज पृथक् हो जाता ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च। दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः।

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवाति निर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुल-

---

नामसंज्ञ—आस्रव, असुचित्त, च, विवरीयभाव, च, दुक्ख, कारण, इति, य, तदो, णियत्ति, जीव। धातुसंज्ञ—आ-सव स्रवणे गतौ, कुण करणे। प्रातिपदिक—आस्रव, अशुचित्व, च, विपरीतभाव, च, दुःख,

---

[जीवः] यह जीव [ततो निवृत्तिं] उससे निवृत्ति [करोति] करता है।

तात्पर्य—आस्रवोंकी मलिनता, विपरीतता व दुःखकारणताको जानकर यह जीव आस्रवोंसे हट जाता है।

टीकार्थ—जैसे जलमें सेवाल मलिन होनेसे जलको मैला दिखलाती है, उसी प्रकार ये आस्रव भी कलुषतासे प्राप्यमान हैं; अतः मलिन हैं, किन्तु भगवान (ज्ञानस्वरूप) आत्मा सदा अति निर्मल चैतन्यमात्रपनेसे उसका उपलंभक है, इस कारण अत्यंत पवित्र ही है। आस्रव जड़स्वभाव होनेसे परसे जानने योग्य हैं अर्थात् जो जड़ होता है, वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसको दूसरा ही जानता है, अतः आस्रव अन्यस्वभाव है और आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाव है, इसलिये आप ज्ञाता है, ज्ञानसे अनन्यस्वभाव है। आस्रव दुःखके कारणभूत होनेसे आत्माको आकुलताके उपजाने वाले हैं और भगवान् आत्मा सदा ही निराकुल स्वभाव है, इस कारण किसीका न तो कार्य है और न किसीका कारण है, इसलिये दुःखका कारण ही नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवोंका अन्तर दिखनेसे जिस समय भेद जान लिया, उसी समय वह इन क्रोधादिक आस्रवोंसे निवृत्त हो जाता है। क्योंकि उनसे जब तक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्माके पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवोंकी निवृत्तिके अविनाभावी ज्ञानसे अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मबंधका निरोध होता है। और क्या? देखिये आत्मा और आस्रवका जो यह

जाता है। इसी तरह अज्ञानी जीव राग-रससे लिप्त हो जानेकी प्रकृति वाला है, सो कर्ममध्य पड़ा हुआ कर्मसे लिप्त रहता है।

ज्ञानीका मुख्य चिन्ह कामनाका अभाव है। कोई सोचे—मैं ज्ञानी हूं, मुझे भोगमें भी कर्मबंध नहीं होता, अरे यदि कामना बनी हुई है तो उसके बने रहनेसे कर्मबंधमें फरक नहीं आता, कर्मबन्ध होता ही है। ज्ञानीके भोगमें भी कर्मबन्ध नहीं यह मात्र कहनेकी चीज नहीं है। ज्ञानरूप प्रतीतिके परिणमनेकी करामात है।

सम्यग्दृष्टिका परिणमन कैसे होता है इस विषयको संक्षेपमें कहा जाय तो उसका अष्ट अंगों द्वारा वर्णन होता है। सम्यग्दृष्टिके अंग ८ हैं—(१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सित (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

निःशंकित—ज्ञानी आत्मा सातों प्रकारके भयसे रहित होनेसे व यथार्थ वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतीतिके कारण सदा निःशंक रहता है। ज्ञानी जीवको इहलोकभय नही रहता कि इस जीवनका कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टि है कि मेरा लोक तो चैतन्य है इसका गुजारा याने परिणमन तो निर्बाध होता ही रहेगा। ज्ञानी जीवके परलोकभय नहीं रहता कि परलोकमें मेरा कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टि है कि चैतन्य ही मेरा परलोक है उसका गुजारा भी निर्बाध होगा। ज्ञानी जीवके वेदनाभय नहीं होता कि इस रोगसे मेरी वेदना (अनुभूति) कैसी होगी; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टि है कि यह अविचल ज्ञान स्वयं वेदा जा रहा है, यही मेरी वेदना है, यह अन्य वस्तुसे नहीं होती। ज्ञानी जीवके अरक्षाभय नहीं होता कि मेरी कोई रक्षा नहीं है, कभी मेरा नाश न हो जाय; क्योंकि ज्ञानी आत्माकी दृष्टि है कि जो सत् है उसका नाश नही होता, सत् स्वयं सुरक्षित है, मैं भी सत् हूं; अतः सुरक्षित हूं। ज्ञानी जीवके अगुप्तिभय नहीं होता कि मेरा कोई गुप्त स्थान (किला आदि सुदृढ़ स्थान) नहीं है, कोई मुझे बाधा देने न आ जावे। क्योंकि ज्ञानी जीवकी दृष्टि है कि मेरा स्वरूप ही मेरी गुप्ति है उसमें परका प्रवेश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी जीवके मरण-भय नहीं कि मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, क्योंकि ज्ञानी आत्माकी यह दृष्टि है कि मेरा प्राण तो ज्ञान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानी जीवके आकस्मिक भय नहीं होता, कि मुझपर अकस्मात् कोई आपत्ति न आ जाये; क्योंकि ज्ञानी जीव की यह दृष्टि है कि मैं अनादि, अनन्त, अचल, स्वतःसिद्ध, ज्ञानमात्र हूं, मुझमें दूसरेका आक्रमण नही हो सकता। ज्ञानी जीवके वस्तुस्वरूपकी अविचल प्रतीति है, उसके भय कहांसे हो? वह तो निःशंक स्वय सहज ज्ञानका अनुभव करता है। इसलिये उसके शंकाजनित बंध नहीं होता, किन्तु निःशंक होनेसे निर्जरा ही होती है।

निःकांक्षित—सम्यग्दृष्टि जीवके सब प्रकारके कर्मोंमें कर्मके फलोंमें और भोगोंमें वाञ्छा नही रहती है, इसलिये उसके कांक्षाकृत बन्ध नहीं होता किन्तु निष्कांक्ष होनेसे निर्जरा होती है।

निर्विचिकित्सित—सम्यग्दृष्टि जीवके धर्मात्माओंके अशुचि शरीरकी सेवामें, धर्मात्माओंमें व समस्त वस्तु-धर्मो-में ग्लानि नहीं रहती और न कर्मविपाकस्वरूप क्षुधा आदि विपत्तियोंमें खेदरूप परिणाम रहता है; इसलिये उसके विचिकित्साकृत बन्ध नहीं होता; किन्तु निर्विचिकित्स होनेसे निर्जरा होती है।

अमूढ़दृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीवके धर्म-विरुद्ध किसी भी कुभावमें व कुभाववालोंमें संमोह नही होता। इसलिये उसके मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं है; किन्तु अमूढ़दृष्टि होनेसे निर्जरा ही होती है।

स्थितिकरण—उन्मार्गमें जाते हुये स्वयको उन्मार्गमें जानेसे रोक लेने व स्वयको स्वरूपमें स्थित कर देनेसे एवं परको भी धर्ममें स्थित कर देनेके निमित्त होनेसे ज्ञानी स्थितिकरण-युक्त होता है, इसलिये उसके मार्ग-पतन-कृत बन्ध नहीं होता, किन्तु धर्मस्थितताके कारण निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य—रत्नत्रयको अपनेमें अभेदबुद्धिसे देखनेकी वत्सलता होनेसे व व्यवहारमें धर्मात्मा जनोंमें निश्छल वात्सल्य होनेसे सम्यग्दृष्टि मार्गवत्सल होते हैं। इसलिये उनके अवात्सल्यकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु मार्गवत्सलताके कारण निर्जरा ही होती है।

वेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बंधनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः । यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं

चित्वं–द्वितीया एकवचन । च–अव्यय । विपरीतभावं–द्वितीया एक० । दुःखस्य–षष्ठी एक० । कारणं–द्वितीया एकवचन अथवा उक्त तीनों प्रथमा विभक्ति एकवचन । इति–अव्यय । च–अव्यय । ततः–अव्यय

नहीं है ।

अब यही कलशरूप काव्यमें कहते हैं—'**परपरिणति**' इत्यादि । **अर्थ**–परपरिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ यह अखण्ड तथा अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान यहाँ उदित हुआ है । अहो ऐसे ज्ञानमें परद्रव्यविषयक तथा विकारविषयक कर्ताकर्मप्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है तथा पौद्‌गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है ? **भावार्थ**—कर्मबन्ध तो अज्ञानसे हुए कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे था । अब जब भेदभावको और परपरिणतिको दूर कर एकाकार ज्ञान प्रकट हुआ तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिट गई, फिर कैसे बन्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जिस समय आत्मा और आस्रवमें भेदज्ञान हो जाता है, तो ऐसे ज्ञानमात्रसे उस समय बन्धका निरोध हो जाता है । सो यहाँ यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक हैं कि ज्ञानमात्रसे ही बंधनिरोध कैसे हो जाता है, इस जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–आत्मा और आस्रवमें पारमार्थिक भेदज्ञान होनेपर ज्ञानीका उपयोग क्रोधादिक आस्रवोंसे हट जाता है । २– आस्रवोंमें (रागादिक भावोंमें) मलीनता होनेसे अपवित्रता है, किन्तु भगवान आत्मामें सहज शुद्धअविकार निर्मल चेतना होनेसे परिपूर्ण पवित्रता है । ३– भगवान आत्मा तो स्वयं ज्ञानघन होनेके कारण स्वयं ज्ञाता होनेसे अनन्यस्वभाव है चैतन्यस्वभावमय है, किन्तु आस्रव जड़स्वभाव है और परके द्वारा (जीवके द्वारा) ज्ञेय हैं अतः अन्यस्वभाव हैं । ४– आस्रव तो आकुलताके उत्पादक होनेसे दुःखके कारण हैं, किन्तु भगवान आत्मा अनाकुलस्वभाव होनेसे जाननके सिवाय अन्य कुछ कार्य नहीं करनेसे दुःखका अकारण है । ५–आस्रव और आत्मामें भेदज्ञान होना आस्रवनिवृत्तिका अविनाभावी है, अतः ऐसे ज्ञानमात्रमें अज्ञानजन्य पौद्‌गलिक कर्मके बन्धका निरोध हो जाता है । ६–जहाँ परपरिणति हट रही हो, भेदवादनहीं हो, अखंड ज्ञानस्वभाव उपयोगमें उदित हो वहाँ कर्ताकर्मप्रवृत्ति नहीं हो सकती और अत एव पौद्‌गलिक कर्मबंध भी नहीं होता ।

सिद्धान्त—उपयोगकी आत्माके प्रति अभिमुखता पौद्‌गलिक कर्मबन्ध निरोधका निमित्त है । २–जीवक्रोध व अजीवक्रोधमें भिन्न-भिन्न द्रव्याश्रयता है, उसमें सम्बन्ध मानना

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ।। ७३ ।।

मैं एक शुद्ध केवल, निर्ममत सुयुक्त ज्ञानदर्शनसे ।
इसमें लीन हुआ अब, आस्रव प्रक्षीण करता हूं ।।७३।।

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः । तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ।।७३।।

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः । सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः । पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः । चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः । गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः

नामसंज्ञ—अम्ह, इक्क, खलु, सुद्ध, णिम्ममअ णाणदंसणसमग्ग, त, ठिअ, तच्चित्त, सव्व, एत, खय । **धातुसंज्ञ**—ट्ठा गतिनिवृत्तौ, खिव क्षये, ने प्रापणे । **प्रातिपदिक**—अस्मद्, एक, खलु, शुद्ध, निर्ममत, ज्ञानदर्शनसमग्र, तत्, स्थित, तच्चित्त, सर्व, एतत्, क्षय । **मूलधातु**—शुध शौचे दिवादि अथवा शुन्ध शुद्धौ भ्वादि, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, चिती संज्ञाने भ्वादि, चित संचतने चुरादि, क्षि क्षये, णीञ् प्रापणे भ्वादि । **पद-**

ऐसे समुद्रके भंवरकी तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्माका अवलंबन करता हुआ विज्ञानघनभूत यह आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है ।

भावार्थ—शुद्धनयसे ज्ञानीने आत्माका ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, परद्रव्यके प्रति ममतारहित हूं, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण वस्तु हूं, सो जब ऐसे अपने स्वरूपमें स्थित होनेसे ज्ञानी उसीका अनुभव रूप हो, तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं । जैसे समुद्रकी भँवरने बहुत कालसे जहाजको पकड़ रक्खा था, पीछे किसी कालमें भंवर पलटती है तब वह जहाजको छोड़ देती है; उसी प्रकार आत्मा विकल्पोंकी भंवरको उपशान्त करता हुआ आस्रवोंको छोड़ देता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि ज्ञानमात्रसे ही बन्धनिरोध होता है । सो इस सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि वह विधि क्या है कि जिससे यह ज्ञाता आस्रवोंसे हट जावे । इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक आत्मा अपने आप सहज अखण्ड अविनाशी चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है । (२) प्रत्येक आत्मा सहज त्रिकाल ज्ञानघनस्वभाव है । (३) प्रत्येक आत्मा

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

अध्रुव अनित्य अशरण, उपाधिभव ये विचित्र दुःखमई।
दुःखफल जानि आस्रव-से अब विनिवृत्त होता हूं ॥७४॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च। दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः।

जतुपादपवद्बध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव। शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृंभमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमशक्यत्वादशरणाः

नामसंज्ञ—जीवणिबद्ध, एत, अध्रुव, अणिच्च, तहा, असरण, य, दुक्ख, दुक्खफल, इत्ति, य, त। **धातुसंज्ञ**—बंध बंधने, जाण अवबोधने, नि-वत्त वर्त्तने। **प्रातिपदिक**—जीवनिबद्ध, एतत्, अध्रुव, अनित्य,

---

ध्रुव है। आस्रव तो शीतदाहज्वरके स्वभावकी तरह क्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं और जीव विज्ञानघन स्वभाव है इस कारण नित्य है। आस्रव अशरण हैं, जैसे काम सेवन में वीर्य छूटता है, उस समय अत्यंत कामका संस्कार क्षीण हो जाता है, किसीसे नहीं रोका जाता, उसी प्रकार उदयकाल आनेके बाद आस्रव झड़ जाते हैं, रोके नहीं जा सकते, इसलिये अशरण हैं, और जीव अपनी स्वाभाविक चित्शक्ति रूपसे आप ही रक्षारूप है, इसलिये शरणसहित है। आस्रव सदा ही आकुलित स्वभावको लिये हुए हैं, इसलिये दुःखरूप हैं, और जीव सदा ही निराकुल स्वभाव रूप है, इस कारण अदुःखरूप है। आस्रव आगामी कालमें आकुलताके उत्पन्न कराने वाले पुद्गल परिणाममें कारण हैं, इसलिये वे दुःखफल स्वरूप हैं और जीव समस्त ही पुद्गलपरिणामका कारण नहीं हैं इसलिये दुःख फलस्वरूप नहीं है। ऐसा आस्रवोंका और जीवका भेदज्ञान होनेसे जिसके कर्मका उदय शिथिल हो गया है ऐसा यह आत्मा जैसे दिशा बादलोंकी रचनाके अभाव होनेसे निर्मल हो जाती है उस भाँति अमर्याद विस्तृत तथा स्वभावसे ही प्रकाशमान हुई चिच्छक्ति रूपसे जैसा-जैसा विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसा वैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है तथा जैसा जैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है वैसा वैसा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। सो उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना कि आस्रवोंसे सम्यक् निवृत्त होता है। तथा उतना आस्रवोंसे सम्यक् निवृत्त होता है, जितना कि सम्यक् विज्ञानघनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवकी

त्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं । इत्येवं विरिचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृतिं परां, स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं । अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं, ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ।।४८।। ।।७४।।

एते–प्रथमा बहु० । अध्रुवाः–प्रथमा बहु० । अनित्याः–प्रथमा बहु० । तथा–अव्यय । अशरणाः–प्रथमा बहु० । च–अव्यय । दुःखाः–प्रथमा बहु० । दुःखफलाः–प्रथमा बहु० । इति–अव्यय । ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । निवर्तते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तेभ्यः–पंचमी बहुवचन ।।७४।।

निवृत्ति इन दोनोंमें परस्पर दोनों ओरसे साध्यसाधकभाव है । ६– ज्ञानविकास तब तक बढ़ता रहता है जब तक पूर्ण आस्रवनिवृत्ति हो जाय । १०– आस्रवनिवृत्ति तब तक होती चली जाती है जब तक पूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रकट हो जाय ।

सिद्धान्त—१–क्रोधादि आस्रव कर्मविपाकोदय होनेपर जीवमें निबद्ध होनेसे जीवस्वभावसे विरुद्धस्वभाव हैं । २– क्षणिक कर्मविपाकोदय होने पर हुए जीवविभाव अशरण हैं वे एक क्षणसे अधिक ठहर नहीं सकते । ३–भेदज्ञानातिशयसे कर्मत्व क्षीण होता है । ४– कर्मत्व विघटनसे आत्माकी स्वच्छताका प्रसार होता है ।

दृष्टि— १– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) । २– अशुद्ध सूक्ष्मऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय (३४) । ३– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । ४– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ अ) ।

प्रयोग—विषय कषायभावोंको अध्रुव, अशरण, दुःखरूप व दुःख फल वाले निरख कर उनसे उपयोगमुख मोड़कर अविकार आत्मस्वरूपमें विश्राम करना चाहिये ।।७४।।

अब इसी अर्थ तथा आगेके कथनकी सूचनारूप काव्य कहते हैं—**इत्येवं** इत्यादि । **अर्थ**—पहले कही हुई रीतिसे परद्रव्यसे उत्कृष्ट सब प्रकार निवृत्ति कर और विज्ञानघन स्वभावरूप केवल अपने आत्माको निःशंक आस्तिक्यभावरूप स्थिरीभूत करता हुआ अज्ञानसे हुई कर्ता-कर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे हुए क्लेशोंसे निवृत्त हुआ स्व ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी पुराण पुरुष (आत्मा) अब यहाँसे प्रकाशमान होता है ।

यहाँ जिज्ञासा होती कि कोई आत्मा ज्ञानी हुआ यह कैसे पहचाना जा सकता है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं:—[**यः**] जो [**आत्मा**] जीव [**एनं**] इस [**कर्मणः परिणामं च**] कर्मके परिणामको [**च तथैव**] और उसी भांति [**नोकर्मणः परिणामं**] नोकर्मके परिणामको [**न करोति**] नहीं करता है, परंतु [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] है ।

टीकार्थ—वस्तुतः आत्मा मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःख आदि स्वरूपसे अन्तरंगमें उत्पन्न

पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहा-

तथा, एव, परिणाम, न, एतत्, आत्मन्, यत्, तत्, ज्ञानिन्। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—कर्मण:-षष्ठी एकवचन। च-अव्यय। परिणामं-द्वितीया एक०। नो-कर्मण:-षष्ठी एक०। च-अव्यय। तथा-अव्यय। एव-अव्यय। परिणामं-द्वितीया एक०। न-अव्यय।

रूप हुआ ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है। ऐसा होनेपर कहीं ज्ञाता पुरुषके पुद्गलपरिणाम व्याप्य-स्वरूप नहीं हैं क्योंकि पुद्गल और आत्माका ज्ञेयज्ञायक संबंध व्यवहारमात्रसे होता हुआ भी पुद्गलपरिणाम निमित्तक ज्ञान ही ज्ञाताके व्याप्य है। इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है।

अब इसी अर्थके समर्थनका कलशरूप काव्य कहते हैं— **व्याप्य** इत्यादि। **अर्थ**—व्याप्य व्यापकता तत्स्वरूपके ही होती है अतत्स्वरूपमें नहीं ही होती और व्याप्य-व्यापकभावके संभव बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कुछ भी नहीं है ऐसे उदार विवेकरूप और समस्तको ग्रासीभूत करनेका स्वभाव जिसका है ऐसे ज्ञानस्वरूप प्रकाशके भारसे अज्ञानरूप अंधकारको भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर उस समय कर्तृत्वसे रहित हुआ भासता है। **भावार्थ**—जो सब अवस्थाओंमें व्याप्त हो वह तो व्यापक है और जो अवस्थाके विशेष हैं वे व्याप्य हैं। सो द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। सो द्रव्य पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्यका आत्मा है वही पर्यायका आत्मा है, ऐसा व्याप्यव्यापक भाव तत्स्वरूपमें ही होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं होता। तथा व्याप्यव्यापक भावके बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता। इस प्रकार जो जानता है वह पुद्गलके और आत्माके कर्ता-कर्मभावको नहीं करता, तभी ज्ञानी होता है और कर्ता कर्मभावसे रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा जगतका साक्षीभूत होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि ज्ञान होने और आस्रवनिवृत्ति होनेका काल एक कैसे है? अब उसी विषयमें जिज्ञासा हो रही है कि आत्मा ज्ञानी हो गया यह कैसे पहिचाना जाये? उसीके समाधानमें इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—१– कर्ममें जो मोह राग द्वेष आदि प्रकृति व अनुभागका बंध हुआ था वह परिणमन कर्मका उपादानदृष्टिसे है। २– शरीरमें मोटा पतला रूप आकार आदिक जो परिणमन है वह परिणमन शरीरका उपादान दृष्टिसे है। ३– पुद्गलका परिणमन (मोहादि) पुद्गलमें ही व्याप्य हैं अतः पुद्गलपरिणाम (मोहादि) का कर्ता पुद्गलद्रव्य ही है निश्चयतः, आत्मा कर्ता नहीं। ४–मोहादिक अनुभाग पुद्गलकर्मके द्वारा ही व्याप्य होता है अतः मोहा-

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

ज्ञानी सुजानता भी, पुद्गल कर्मोंके फल अनंतोंको ।
नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये । ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधं ॥७६॥

यतो थं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकल-

---

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, पुग्गलकम्म, अणेयविह । **धातुसंज्ञ**—परि-नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे तृतीयगणे, उव पज्ज गतौ, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानत्, अपि, खलु, पुद्गलकर्म, अनेकविध । **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे शब्दे च, ग्रह उपादाने, क्र्यादि, उत्-पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने, पूरी आप्यायने दिवादि, गल

जो कि स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्तमें व्यापकर पुद्गलपरिणामको ग्रहण करने वाले, पुद्गलपरिणामरूपसे परिणमने वाले और पुद्गलपरिणामरूपसे उत्पन्न होने वाले पुद्गलद्रव्यके ही द्वारा ही किया जाता है, उसको जानता हुआ भी ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यस्थित परद्रव्यके परिणामको आदि और मध्य अन्तमें व्यापकर उस रूप नहीं परिणमन करता, उसको आप ग्रहण नहीं करता और उसमें उपजता भी नहीं है जैसे कि मिट्टी घटरूप को ग्रहण करती है, उसरूप परिणमन करती है, और उसको उपजाती है, इस कारण प्राप्य, विकार्य निर्वर्त्य स्वरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्यका परिणाम स्वरूप कर्मको नहीं करते हुए मात्र पुद्गलकर्मको जानते हुए भी ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है ।

भावार्थ—पुद्गल कर्मको जीव जानता है तो भी उसका पुद्गलके साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है, क्योंकि कर्म तीन प्रकारसे कहा जाता है । जिस परिणामरूप आप परिणमे, वह परिणाम विकार्य कर्म है । आप किसीको ग्रहण करे, वह वस्तु प्राप्य कर्म है । किसीको आप उत्पन्न करे वह कार्य-निर्वर्त्य कर्म है । जीव अपनेसे भिन्न पुद्गल द्रव्यरूप परमार्थसे नहीं परिणमन करता, क्योंकि आप चेतन है, पुद्गल जड़ है, चेतन जड़रूप नहीं परिणमन करता, परमार्थसे पुद्गलको ग्रहण भी नहीं करता, क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है आप अमूर्तिक है, तथा परमार्थसे पुद्गलको आप उत्पन्न भी नहीं करता । क्योंकि चेतन जड़को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ? इस प्रकार तीनों ही तरहसे पुद्गल जीवका कर्म नहीं है और जीव उसका

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति इति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

ज्ञानी सुजानता भी, नाना अपने विभावभावोंको।
नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥७७॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, सगपरिणाम, अणेयविह। **धातुसंज्ञ**—परि-नम नम्रीभावे उपसर्गादर्थ परिवर्तनम्, गिण्ह ग्रहणे, उव-पज्ज गतौ। **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानत्, अपि, खलु. स्वकपरिणाम, अनेकविध। **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने, क्र्यादि, उत्-पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने। पदविवरण—न–अव्यय। अपि–अव्यय। परि-

---

अब जिज्ञासा होती है कि अपने परिणामोंको जानता हुआ जो जीव है उसका पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अनेकविधं]** अनेक प्रकारके **[स्वकपरिणामं]** अपने परिणामोंको **[जानन् अपि]** जानता हुआ भी **[खलु]** निश्चयसे **[परद्रव्यपर्याये]** परद्रव्यके पर्यायमें **[नापि परिणमति]** न तो परिणत होता है **[न गृह्णाति]** न उसको ग्रहण करता है **[न उत्पद्यते]** और न उपजता है।

तात्पर्य—पुद्गलकर्मोदयक्षयोपशमनिमित्तक आत्मपरिणमनोंको भी ज्ञानी जानता है तो भी ज्ञानीका पुद्गलकर्मके साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षण वाले आत्मपरिणामको अपने आप स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त कर उन्हींको ग्रहण करते हुए उन्हीं रूप परिणमते हुए, उन्हीं रूप उत्पन्न होते हुए अपने आपके द्वारा किये गये अपने परिणामरूप कर्मको जानता हुआ भी ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्यके परिणामको 'जैसे मिट्टी कलशको व्याप्त होकर करती है' उस प्रकार आदि, मध्य, अंतमें व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमता और न उस प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य तीन प्रकारके व्याप्य लक्षण वाले परद्रव्यपरिणामरूप कर्मको न करते हुए व अपने परिणामको जानते हुए भी ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—स्वपरभेदविज्ञानी पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तक अपने परिणामको

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्–

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

ज्ञानी सुजानता भी, पुद्गलकर्मोंके फल अनन्तोंको।
नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ॥७८॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद्गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, णाणि, जाणंत, वि, हु, पुग्गलकम्मफल, अणंत। **धातुसंज्ञ**—परि-नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे, उव-पज्ज गतौ। **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, ज्ञानिन्, जानत्, अपि, खलु, पुद्गलकर्मफल, अनन्त। **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने क्र्यादि, उत्-पद गतौ दिवादि, ज्ञा अवबोधने, फल निष्पत्तौ भ्वादि। **पदविवरण**—न–अव्यय। अपि–अव्यय। परि-

---

पुद्गलकर्मके फलोंको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चयसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यके पर्यायमें [**नापि**] न तो [**परिणमति**] परिणमन करता है [**न गृह्णाति**] न उसमें कुछ ग्रहण करता तथा [**न उत्पद्यते**] न उसमें उपजता है।

तात्पर्य—आत्मा पुद्गलकर्मके फलको जानता है तो भी उसका पुद्गलकर्मके साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण प्राप्य, विकार्य, और निर्वर्त्य ऐसे जिसका लक्षण व्याप्य है ऐसा तीन प्रकारका सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मका फल जो कि स्वयं अंतर्व्यापक होकर, आदि मध्य अंतमें व्याप्त होकर ग्रहण करते हुए, उसी प्रकार परिणमन करते हुए तथा उसी प्रकार उत्पन्न होते हुए पुद्गल द्रव्यके द्वारा क्रियमाणको जानता हुआ भी ज्ञानी, आप अंतर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्यके परिणामको मिट्टी और घड़ेकी भांति आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता, उस प्रकार परिणमन भी नहीं करता तथा उस प्रकार उत्पन्न भी नहीं होता? इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्यके परिणामरूप कर्मको नहीं करते हुए, मात्र सुख-दुःखरूप कर्मके फलको जानते हुए भी ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—नैमित्तिक भावको जानता हुआ भी जीव न निमित्तका कर्ता है और न निमित्तका कर्म (कार्य) है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जीव कर्मविपाकादिनिमित्तक

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

पुद्गलकर्म भी तथा, परिणमता है स्वकीय भावोंमें।
नहिं परिणमे न पावे, उपजे न परार्थभावोंमें ॥७९॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये। पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥७९॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। किंतु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वय-

---

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, ण, परदव्वपज्जाय, पुग्गलदव्व, पि, तहा, सय, भाव। **धातुसंज्ञ**—परि-नम नम्रीभावे, गिण्ह ग्रहणे, उव-पज्ज गतौ। **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, न, परद्रव्यपर्याय, पुद्गलद्रव्य, अपि, तथा, स्वक, भाव। **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपादाने, उत्-पद गतौ, द्रु गतौ भ्वादि, परि-अय

भी जीवके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण जीवके परिणामको, अपने परिणामको तथा अपने परिणामके फलको न जानता हुआ पुद्गलद्रव्य परद्रव्य (जीव) के परिणामरूप कर्मको मृत्तिका कलशकी तरह आप अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार परिणमन भी नहीं करता है तथा उत्पन्न भी नहीं होता है, परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण अपने स्वभावरूप कर्मको अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्य उसीको ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणत होता है तथा उसी प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य (जीव) के परिणामस्वरूप कर्मको न करते हुए जीवके परिणामको, अपने परिणामको तथा अपने परिणामके फलको नहीं जानते हुए पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। **भावार्थ**—यदि कोई माने कि पुद्गल जड़ है वह किसीको जानता नहीं, अतः उसका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव हो जायगा, किन्तु यह बात नहीं है। परमार्थसे परद्रव्यके साथ किसीके कर्तृकर्मभाव नहीं है।

अब इसी अर्थका काव्य कहते हैं—**ज्ञानी** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी तो अपनी और परकी दोनोंकी परिणतिको जानता हुआ प्रवृत्त होता है तथा पुद्गलद्रव्य अपनी और परकी दोनों ही परिणतियोंको नहीं जानता हुआ प्रवृत्त होता है। वे दोनों परस्पर अन्तरंग व्याप्य व्यापक भावको प्राप्त होनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं सदाकाल उसमें अत्यन्त भेद है।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णम्पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीवविभावनि कारण, पुद्गल कर्मत्वरूप परिणमते।
पुद्गलविधिके कारण, तथा यहां जीव परिणमता ॥८०॥
जीव नहिं कर्मके गुण, करता नहिं जीव कर्मके गुणको।
अन्योन्यनिमित्तोंसे, उनके परिणाम होते हैं ॥८१॥
इस कारणसे आत्मा, कर्ता होता स्वकीय भावोंका।
नहिं कर्ता वह पुद्गल, कर्मविहित सर्वभावोंका ॥८२॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति। पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति। नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्। अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि। एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन। पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां।

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं

नामसंज्ञ—जीवपरिणामहेदु, कम्मत्त, पुग्गल, पुग्गलकम्मणिमित्त, तह, एव, जीव, वि, ण, वि, कम्मगुण, जीव, कम्म, तह, एव, जीवगुण, अण्णोण्णणिमित्त, दु, परिणाम, दु, वि, एत, कारण, दु, कत्तु, अत्त, सय, भाव, पुग्गलकम्मकय, ण, दु, कत्तु, सव्वभाव। **धातुसंज्ञ**—परि-नम नम्रीभावे, कुव्व करणे, जाण अवबोधने। **प्रकृतिशब्द**—जीवपरिणामहेतु, कर्मत्व, पुद्गल, पुद्गलकर्मनिमित्त, तथा, एव, जीव, अपि, न, अपि, कर्मगुण, जीव, कर्मन्, तथा, एव, जीवगुण, अन्योन्यनिमित्त, तु, परिणाम, द्वि, अपि, एतत्,

(४७अ)। ३– प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ)।

प्रयोग—अपने ही परिणमनसे परिणमने वाले पुद्गलकर्मके प्रतिफलनमें रंच भी लगाव न रखकर अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें स्वत्व अनुभवनेका पौरुष करना ॥७६॥

अब कहते हैं कि जीवके परिणाममें और पुद्गलके परिणाममें परस्पर निमित्तमात्रता है तो भी उन दोनोंमें कर्तृकर्मत्व नहीं है—[पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतुं] जीवके परिणामका निमित्त पाकर [कर्मत्वं] कर्मत्वरूप [परिणमंति] परिणमन करते हैं [तथा एव]

तात्पर्य यह है कि निज आत्माको ज्ञायकस्वभावरूप स्वीकार किये विना कितने भी विकल्प किये जायें उनसे मुक्ति नहीं होती. किन्तु बन्ध ही होता है। मैं साधु हूँ, मुझे दया करनी चाहिये, सत्य बोलना चाहिये, परीषह सहना चाहिये, व परीषह भी ऐसी सहे कि कोल्हूमें पिल जाय फिर भी उफ या क्रोध न करे। इन सब करामातोंके वावजूद भी चूँकि अपनेको साधुपर्यायरूपमें ही प्रतीत किया है, ज्ञायकस्वरूपके अनुभवसे अनभिज्ञ है, अतः पुण्य बंध तो होता है और मिथ्या आशयके कारण पाप बंध भी होता है, किन्तु धर्मभाव, संवर व निर्जरा भाव नहीं होता है। अतः दुखोंसे मुक्ति पानेके लिए निज शुद्ध सनातन चित्स्वरूपका प्रज्ञा द्वारा परिचय प्राप्त करना चाहिये।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंधको दो रूप अर्थात् अलग अलग कर देनेका नाम मोक्ष है। आत्मा स्वभावरूप है। बंध विभावरूप है। स्वभावका विभाव परिणमन न रहकर स्वभावपरिणमन रहे, यही अवस्था मोक्ष तत्त्वमें है।

कितने ही पुरुप बंधके चिन्तनपरिणामको मोक्षका कारण मानते हैं। वह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे कि वेड़ीमें बँधा हुआ पुरुप वेड़ीबंधके स्वरूपको जाननेमात्रसे या वेड़ीवंधकी चिन्तामात्रसे छुटकारा नहीं पाता, किन्तु वेड़ीवंध कटनेसे अर्थात् अलग होनेसे ही छुटकारा पाता है। इसी प्रकार कर्मबन्धसे बद्ध आत्मा बन्धका स्वरूप जाननेमात्रसे या अपायविचयधर्मध्यानमें ही बुद्धि लगाने मात्रसे कर्ममुक्त नहीं होता, किन्तु बन्धच्छेदसे अर्थात् विभावपरिणमनके अलग करनेसे ही कर्ममुक्त होता है। बन्धच्छेदका उपाय क्या है ? प्रज्ञा। नियत स्वलक्षणका जो अवलम्बन करे ऐसे विज्ञानको प्रज्ञा कहते हैं। पहिले प्रज्ञासे यह निर्णय किया जाता है कि आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है जो कि आत्मामें अनादि अनन्त तादात्म्यरूपसे है तथा आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थमें कभी नहीं रहता; और बन्धका स्वलक्षण रागादिक है जो कि चैतन्यचमत्कारसे अन्य तथा आत्मामें उपाधि-संयोगवश क्षण-क्षणको प्रतिभासते हैं व नष्ट होने वाले हैं। पश्चात् बन्धका स्वभाव विकारक जान कर बन्धसे विरक्त हुआ जाता है और शुद्ध आत्मतत्वको आत्मस्वभाव जानकर उसको ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण अभिन्न चेतन-क्रिया द्वारा अभिन्न षट्कारक रूपमें होता है। जैसे कि मैं चेतता हूं, चेतयमान होता हुआ चेतता हूं, चेतयमानको चेतता हूं, चेतयमानके द्वारा चेतता हूं, चेतयमानके लिए चेतता हूं, चेतयमानसे चेतता हूं, चेतयमानमें चेतता हूं। पश्चात् अभेद चैतन्यकी प्रखर उपासनामें अभिन्न षट्कारकके सूक्ष्म विकल्पका भी निषेध करके (कि मैं न चेतता हूं. न चेतयमान होता हुआ चेतता हूं, न चेतयमानको चेतता हूं आदि रूपसे निषेध करके) सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूं, ऐसा अनुभव होता है। इसी शुद्ध अनुभवके बलसे बन्धच्छेद होता है; क्योंकि परभावका ग्रहण करना ही अपराध अर्थात् राध (आत्मसिद्धि) से दूर रहनेका भाव था, इस अपराधके दूर होनेपर बन्धकी शंका ही सम्भव नहीं है।

सर्वविशुद्धचिन्मात्रके अनुभवका परिणमन व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भावसे भी उत्कृष्ट है और वस्तुतः द्रव्यप्रतिक्रमणादि, व अज्ञानी जनोंके अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण यह सहज अप्रतिक्रमणादि तो अमृत है और वे दोनों विष है। सहज अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमिका सम्बन्ध ही द्रव्य प्रतिक्रमणादिको अमृतपना व्यवहारसे सिद्ध कराता है। इस प्रकार सर्व विशुद्धचिन्मात्रके अनुभवका परिणमन सर्वोत्कृष्ट परिणमन है और यही मोक्षका हेतु है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

नव तत्वोंका वर्णन करके, अब अन्तमें सबके आधार भूत उसी पारिणामिकभावका पुनः विस्तारसे इस अधिकारमें वर्णन किया गया है जिसकी कि सूचना पीठिकामें की गई थी।

सम्यग्दर्शनका विषय शुद्धद्रव्य है। ज्ञानकी समीचीनता भी शुद्ध द्रव्यके परिचयसे है। सम्यक्चारित्रका स्वरूप-लाभ भी शुद्ध द्रव्यके स्पर्शसे है। अतः शुद्ध अर्थात् आध्यात्मिक विकासका आश्रय ही शुद्ध आत्म-तत्त्व है। यह शुद्ध आत्म-तत्त्व सर्व-विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है अर्थात् यह शुद्ध आत्मद्रव्य न तो किसीका कार्य है और न किसीका कारण

स्य कर्ता कदाचित्स्यात् । मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गल-भावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः । ततःस्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ॥८०-८२॥

प्रथमा एकवचन कर्ता । अपि–अव्यय । परिणमति–वर्तमान अन्य पुरुष एक० । करोति–वर्तमात लट् अन्य पुरुप एक० । कर्मगुणान्–द्वितीया वहु० । जीवः–प्रथमा एक० । कर्म–प्रथमा एक० । जीवगुणान्–द्वितीया वहु० । अन्योन्यनिमित्तेन–तृतीया एक० । तु, परिणामं–द्वितीया एक० । जानीहि–लोट् आज्ञा मध्यम पुरुष एक० । द्वयोः–षष्ठी द्विवचन । एतेन–तृतीया एक० । कारणेन–तृ० एक० । कर्ता–प्रथमा एक० । आत्मा–प्रथमा एक० । स्वकेन–तृतीया एक० । भावेन–तृतीया एक० । पुद्गलकर्मकृतानां–षष्ठी वहु० । कर्ता–प्रथमा एक० । सर्वभावानां–पष्ठी वहुवचन ॥ ८०-८२ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीवका व पुद्गलकर्मका परस्पर कर्तृकर्मभाव होता ही नहीं है इसका भले प्रकार सविवरण वर्णन किया । इसके सुननेपर यह जिज्ञासा होती कि किसी भी पदार्थमें परसम्पर्क बिना विकार ही नहीं होता, यदि परसंग बिना विकार होने लगे तो विकार स्वभाव बन बैठेगा फिर तो विकार कभी नष्ट भी न होगा, संसार ही सदा रहेगा, मुक्ति भी न हो सकेगी । तो विकार कैसे होता इसका समाधान इन ३ गाथावों में किया गया है ।

तथ्यप्रकाश— १– जीवके कषायभाव व योगका निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं । २—पुद्गल कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव विभावपरिणाम-रूप परिणम जाता है । ३—जीवविभाव व कर्मत्वपरिणाममें निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी परस्पर कर्तृकर्मत्व बिल्कुल नहीं है । ४– जीव अपने परिणाममें ही व्यापक है अतः जीव अपने परिणामका ही कर्ता भोक्ता है ।

सिद्धान्त—१– पुद्गलकर्मप्रकृतिके विपाकोदयसे जीव विकाररूप परिणमता है । २– जीवविभाव उस समय जीवमें ही व्याप्य है अतः जीवविभाव जीवका कर्म है । ३– कर्मत्व उस समय कार्माणवर्गणामें ही व्याप्य है, अतः कर्मत्व पुद्गलकार्माणवर्गणाका कर्म है ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) । २– अशुद्ध निश्चयनय (४७) । ३– कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) ।

प्रयोग—विकारोंको नैमित्तिक जानते हुए अस्वरूप जानकर तथा निमित्ताधीन न जानते हुए अपनी भूल पहिचानकर अज्ञान हटाकर अविकार सहजज्ञानस्वरूपमें रमनेका पौरुष करना ॥ ८०-८२ ॥

उपर्युक्त हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि जीवका अपने परिणामोंके ही साथ कर्तृकर्मभाव

पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्। तथायमेव च भाव्य-

तत् च एव, आत्मन्, आत्मन्। मूलधातु—निस्-चि चये, अत सातत्यगतौ, डुकृञ् करणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि। पदविवरण—निश्चयनयस्य-षष्ठी एक०। एवं-अव्यय। आत्मा-प्रथमा एकवचन। आत्मानं-द्वितीया एक०। एव-अव्यय। हि-अव्यय। करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। वेदयते-

होकर आदि, मध्य और अन्तमें ससंसार निःसंसार अवस्थामें व्याप्त होकर ससंसार निःसंसार रूप आत्माको करता हुआ अपने एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होओ, अन्यको करता हुआ प्रतिभासित मत होओ। उसी प्रकार यह जीव भाव्यभावकभावके अभावसे परभावको परके द्वारा अनुभव करनेकी असामर्थ्य होनेसे ससंसार निःसंसार रूप एक अपनेको ही अनुभवता हुआ प्रतिभासित होओ, अन्यको करता हुआ प्रतिभासित मत होओ। **भावार्थ**—आत्माकी ससंसार निःसंसार अवस्था परद्रव्य पुद्गलकर्मके सद्भाव व अभावके निमित्तसे है, वहाँ उन अवस्थारूप आप ही यह आत्मा परिणमन करता है इसलिये आत्मा अपना ही कर्ता भोक्ता है, निमित्तमात्र जो पुद्गलकर्म है, उसका कर्ता भोक्ता नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व तीन गाथावोंमें बताया था कि जीवपरिणाम व पुद्गल कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी उनमें कर्तृकर्मत्व व भोक्तृभोग्यत्व नहीं है। इस विवरणको सुनकर यह जिज्ञासा होती है—तो फिर निश्चयसे आत्मा किसे करता है व किसे भोगता है, इसका समाधान इस गाथामें किया गया है।

तथ्यप्रकाश— १– निमित्तनैमित्तिकमें व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। २– उपादान उपादेयमें ही व्याप्यव्यापक भाव होता है। ३– निमित्तसान्निध्यमें होने वाला नैमित्तिक निमित्तका अभाव होनेपर हट जाता है। ४– जीवकी शुद्ध व अशुद्ध अवस्थायें जीवमें व्याप्य हैं अतः जीवकी परिणतियोंका जीव ही कर्ता है व जीव ही भोक्ता है।

सिद्धान्त—१–जीवकी ससंसार अवस्था पुद्गलकर्मविपाकसंभवनिमित्तक है। २–जीवकी निःसंसार अवस्था पुद्गलकर्मविपाकासंभवनिमित्तक है। ३–जीवकी अवस्था जीवमें अन्तर्व्याप्य होनेसे जीव अपनी अवस्थाका ही कर्ता भोक्ता है।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४)। २–उपाध्यभावापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४अ)। ३–कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहारनय (७३), कारक कारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय (७३अ)।

प्रयोग— विकारोंको नैमित्तिक जानकर उनसे उपेक्षा करके अपनी शुद्ध परिणतिके

अथ व्यवहारं दर्शयति—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारके मतोंसें, कर्ता यह जीव विविध कर्मोंका ।
भोक्ता भी नानाविध, उन ही पौद्गलिक कर्मोंका ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधं । तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ॥८४॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोस्ति तावद्व्यवहारः तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं

नामसंज्ञ—ववहार, दु, अत्त, पुग्गलकम्म, णेयविह, त, च, एव, पुणो, पुग्गलकम्म, अणेयविह । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, वेद वेदने । **प्रातिपदिक**—व्यवहार, तु, आत्मन्, पुद्गलकर्मन्, न, एकविध, तत्, च, एव, पुनः पुद्गलकर्मन्, अनेकविध । **मूलधातु**—वि-अव हृञ् हरणे भ्वादि, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, विध विधाने तुदादि । **पदविवरण**—व्यवहारस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । आत्मा–प्रथमा एक० कर्ता । करोति–

जिज्ञासा हुई कि तब फिर व्यवहारनयके सिद्धान्तमें आत्मा किसको करता है व किसको भोगता है ? इसके समाधानमें यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश— १– अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्म उसी पुद्गलकार्माणद्रव्यके द्वारा किये जाते हैं । २– अन्तर्भाव्यभावकभावसे पुद्गलकर्मविपाक उसी पुद्गल कार्माणद्रव्य के द्वारा अनुभूयमान होता है । ३– बहिर्व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मसंभवानुकूल जीवपरिणाम होनेसे अज्ञानी जीवमें पुद्गलकर्म करनेका आरोप होता है । ४– बहिर्भाव्यभावकभावसे पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तक सुखदुःखपरिणामका अनुभव होनेसे अज्ञानी जीवमें पुद्गलकर्मके भोगनेका आरोप होता है ।

सिद्धान्त––(१) पुद्गलकर्मास्रवके निमित्तभूत जीवपरिणाममें (जीवमें) पुद्गलकर्मकर्तृत्वका आरोप होता है । (२) पुद्गलकर्मविपाकनिमित्तज सुख-दुःख परिणतिको अनुभवने वाले जीवमें पुद्गलकर्मभोक्तृत्वका आरोप होता है ।

दृष्टि— १– परकर्तृत्व असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– परभोक्तृत्व असद्भूतव्यवहार (१२६अ) ।

प्रयोग—जीव पुद्गलकर्मको करता है, भोगता है, इस कथनमें निमित्त बतानेका

अथैनं दूषयति—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दो किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा करता है, अरु भोगता पौद्गलिक कर्मोंको ।
तो दोनों हि क्रियाओं-से तन्मयता प्रसक्त हुई ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा । द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतं ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततो यं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ॥८५॥

नामसंज्ञ—जदि, पुग्गलकम्म, इम, त, च, एव, अत्त, दोकिरियावदिरित्त, त, जिणावमद । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, वेद वेदने, प-सज्ज समवाये । **प्रातिपदिक**—यदि, पुद्गलकर्मन्, इदम्, तत्, च, एव, आत्मन्, द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्त, तत्, जिनावमत । **मूलधातु**—विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, रिचिर् विरेचने रुधादि, रिच वियोजनसम्पर्चनयोः, प्र-षच्च समवाये । **पदविवरण**—यदि–अव्यय । पुद्गलकर्म–द्वितीया एकवचन । इदम्–द्वितीया एक० । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तत्–द्वितीया एक० । च–अव्यय । एव–अव्यय । वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । आत्मा–प्रथमा एक० कर्ता । द्विक्रियाऽऽव्यतिरिक्तः–प्रथमा एक० । प्रसजति–वर्तमान लट् अन्य पु० एक० । सः–प्रथमा एक० । जिनावमतं–प्रथमा एकवचन ॥८५॥

(द्रव्य) से भिन्न नहीं है । (३) क्रिया क्रियावान (द्रव्य) से भिन्न नहीं है । (४) जीव अपनी ही क्रिया कर सकता है । (५) यदि जीव अपनेको भी करे, भोगे तथा पुद्गलकर्मको भी करे, भोगे तो यह जीव है या कर्म है यह विभाग ही न बन सकेगा और न यों कोई सत् रह सकेगा । (६) व्यवहारसे जीव पुद्गलकर्मको करता, भोगता है इसका अर्थ उपादानरूपसे नहीं है, किन्तु इससे मात्र निमित्तनैमित्तिक भाव ही समझकर वस्तुतः जीवको अकर्ता निरखना ।

सिद्धान्त—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता । (२) निमित्त बतानेके लिये एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कर्तृत्व आरोपित होता है ।

दृष्टि— १– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२९) ।

तिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति । तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य

मिथ्यादृष्टि, द्विक्रियावादिन् । मूलधातु—डुकृञ् करणे, वद व्यक्तायां वाचि भ्वादि, वद संदेशवचने चुरादि, दृशिर् प्रेक्षणे, भू सत्तायां । पदविवरण—यस्मात्–हेत्वर्थे पंचमी एकवचन । तु–अव्यय ।

अभिन्न अपनी परिणतिमात्र क्रियासे किये हुए आत्मपरिणामको करता हुआ प्रतिभासित होवे, परन्तु पुद्गलपरिणामके करनेके अहंकारसे युक्त होनेपर भी स्वपरिणामके अनुकूल, पुद्गलसे अभिन्न तथा पुद्गलसे अभिन्न पुद्गलकी परिणतिमात्र क्रियासे किये हुए पुद्गलके परिणामको करता हुआ आत्मा मत प्रतिभासो ।

भावार्थ—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित होवे, पुद्गलके परिणामको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होवे । आत्मा और पुद्गल इन दोनोंकी क्रियायें एक आत्माकी ही मानने वाला मिथ्यादृष्टि है । यदि जड़ और चेतनकी एक क्रिया हो जाय, तो सर्वद्रव्य पलटनेसे सबका लोप हो जायगा, यह बड़ा भारी दोष है ।

अब इसी अर्थके समर्थनका कलशरूप काव्य कहते हैं—**यः परिणमति** इत्यादि । **अर्थ**—जो परिणमन करता है, वह कर्ता है और उसका परिणाम कर्म है तथा परिणति क्रिया है । ये तीनों ही वस्तुत्वसे भिन्न नहीं हैं । **भावार्थ**—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामीमें अभेद है तथा पर्यायदृष्टिसे भेद है । वहाँ भेददृष्टिसे तो कर्ता कर्म और क्रिया ये तीन कहे गये हैं और अभेददृष्टिसे वास्तवमें यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—ये तीनों ही एक द्रव्यकी अवस्थायें हैं, वे प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तु नहीं हैं ।

और भी कहते हैं—**एकः** इत्यादि । **अर्थ**—वस्तु अकेली ही सदा परिणमन करती है, एकके ही परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्था होती है । तथा एककी ही परिणति (क्रिया) होती है । यों वस्तु अनेकरूप हुई तो भी वह एक ही वस्तु है, भेद नहीं है । **भावार्थ**—एक वस्तुकी अनेक पर्याय होती हैं, उनको परिणाम भी कहते हैं, अवस्था भी कहते हैं । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिकसे भिन्न-भिन्न प्रतिभास रूप हैं, तो भी एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं, ऐसा भेदाभेदस्वरूप ही वस्तुका स्वभाव है ।

फिर कहते हैं—**नोभौ** इत्यादि । **अर्थ**—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते और दो द्रव्यका एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्यकी एक परिणति (क्रिया) भी नहीं होती । क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं, एक नहीं होते । **भावार्थ**—दो वस्तुयें सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमन करतीं, एक

भावा: स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरति-रित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ॥८७॥

क्रुध क्रोधे दिवादि । **पदविवरण**—मिथ्यात्वं–प्रथमा एक० । पुनः–अव्यय । द्विविधं–प्रथमा एक० । जीवः–प्रथमा एक० । अजीवः–प्रथमा एक० । तथा–अव्यय । एव–अव्यय । अज्ञानं–प्रथमा एक० । अविरतिः–प्रथमा एक० । योगः–प्रथमा एक० । मोहः–प्रथमा एक० । क्रोधाद्याः–प्रथमा बहुवचन । इमे–प्रथमा बहु० । भावाः–प्रथमा बहुवचन ॥८७॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कभी कर्ता हो ही नहीं सकता । इससे अनन्तरपूर्व स्थलमें कहा गया था कि पुद्गलकर्मका व जीव-परिणामका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावमात्र है । इन तथ्योंको स्पष्ट करनेके लिये दोनों द्रव्योंका स्वतंत्र-स्वतंत्र अनुरूप परिणाम बताने वाली यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पौद्गलिकमिथ्यात्व आदि प्रकृति उदयका निमित्तमात्र पाकर जीव में जो मिथ्यात्व भाव आदि होता है वह जीवमिथ्यात्व आदि है जों कि पौद्गलिक मिथ्या-त्वादिसे भिन्न है । (२) जीवके मिथ्यात्वभाव आदिका निमित्तमात्र पाकर पौद्गलिक कार्माण-वर्गणावोंमें जो मिथ्यात्वप्रकृतिरूप आदि कर्मत्व होता है वह पौद्गलिक मिथ्यात्व आदि है जो कि जीव मिथ्यात्व आदिसे भिन्न है जैसे कि मनुष्यमुखका सामना पाकर दर्पणमें जो मुखाकार स्वच्छताविकार है वह फोटो दर्पणमुख है जो कि मनुष्यमुखसे भिन्न है । (३) पुद्-गलकर्ममें जो प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग है उसका कर्ता व उपादान स्वामी पुद्गल कर्म है । (४) जीवमें जो मिथ्यात्व कषाय विकल्पभाव होता है उसका कर्ता व उपादान जीव है ।

सिद्धान्त—(१) मिथ्यात्व आदि पुद्गलकर्मप्रकृतियोंका कर्ता पुद्गलकार्माणस्कंध है । (२) मिथ्यात्व आदि पुद्गलकर्मप्रकृतियोंकी उद्भूतिका निमित्त जीवपरिणाम है । (३) मिथ्या-त्वादि विभावोंका कर्ता संसारी जीव है । (४) मिथ्यात्वादि विभावोंकी उद्भूतिका निमित्त मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियोंका विपाकोदय है ।

दृष्टि— १– कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । ३– कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) । उपा-धिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—कर्मविकारोंको कर्ममें और जीवविकारोंको जीवमें निरखकर पराधीनता व कायरताका भाव हटाना चाहिये और निमित्तनैमित्तिक भाव परखकर अपनेको अविकार चैत-न्यस्वभावमात्र अङ्गीकार करना चाहिये ॥८७॥

यहाँ पूछते हैं कि मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे हैं वे कौन हैं, उसका उत्तर कहते हैं— [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व [योगः] योग [अविरतिः] अविरति [अज्ञानं] अज्ञान

पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्य-परिणामस्य विकारः ॥८८॥

उपयोगः–प्रथमा एक०। अज्ञानं–प्रथमा एक०। अविरतिः–प्रथमा एक०। मिथ्यात्वं–प्रथमा एकवचन। च–अव्यय। जीवः–प्रथमा एकवचन। तु–अव्यय ॥८८॥

प्रयोग—प्रकृतिसे, प्रकृतिनिमित्तक प्रभावसे भिन्न पुरुषतत्त्व (आत्मतत्त्व) को आपा निरखकर इस ही अन्तस्तत्त्वमें रमनेका पौरुष करना ॥८८॥

प्रश्न—जीव मिथ्यात्वादिक भाव चैतन्यपरिणामका विकार किस कारण है ? **उत्तर**—[**मोहयुक्तस्य**] अनादिसे मोहयुक्त [**उपयोगस्य**] उपयोगके [**अनादयः**] अनादिसे लेकर [**त्रयः परिणामाः**] तीन परिणाम हैं वे [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**अज्ञानं**] अज्ञान [**च अविरतिभावः**] और अविरतिभाव ये तीन [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीकार्थ—निश्चयसे समस्त वस्तुओंका स्वरसपरिणमनसे स्वभावभूत स्वरूपपरिणामन में समर्थता होनेपर भी उपयोगका अनादिसे ही अन्य वस्तुभूत मोहयुक्त होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार है। और वह स्फटिकमणिकी स्वच्छतामें परके डंकसे परिणामविकार हुएकी भांति परसे भी होता हुआ देखा गया है। जैसे स्फटिककी स्वच्छतामें अपना स्वरूप उज्ज्वलतारूप परिणामकी सामर्थ्य होनेपर भी किसी समय काला, हरा, पीला जो तमाल, केर, सुवर्णपात्र समीपवर्ती आश्रयकी युक्ततासे नीला, हरा, पीला ऐसा तीन प्रकार परिणामका विकार दीखता है, उसी प्रकार आत्माके (उपयोगके) अनादि मिथ्या-दर्शन, अज्ञान, अविरति स्वभावरूप अन्य वस्तुभूत मोहकी युक्तता होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणामविकार निरख लेना चाहिये। **भावार्थ**—आत्माके उपयोग में ये तीन प्रकारके परिणाम विकार अनादि कर्मके निमित्तसे हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि पहले आत्मा शुद्ध ही था, अब यह नवीन ही अशुद्ध हुआ हो। ऐसा हो तो सिद्धोंको भी फिरसे अशुद्ध होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्मरूप हैं और उपयोगरूप याने जीवरूप भी हैं। इस कथनपर यह प्रश्न हो जाता है कि चैतन्यस्वरूप जीवके ये मिथ्यात्वादि विकार कैसे हो गये ? इसका उत्तर इस गाथामें है।

तथ्यप्रकाश—(१) सभी पदार्थोंकी भांति उपयोग (जीव) भी स्वरूपपरिणमनमें समर्थ होनेसे परिणमता रहता है। (२) इस उपयोग (जीव) का अनादिवस्त्वन्तरभूत मोहसे युक्तपना होनेसे निमित्तनैमित्तिक योगवश वस्त्वंतरभूत विपाकके अनुरूप मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति-रूप परिणमता रहता है।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

शुद्ध निरंजन भी यह, उन तीनोंके प्रयोग होनेपर।
जिन भावोंको करता, कर्ता उपयोग उनका है ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः। यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्व-

नामसंज्ञ—एत, य, उवओग, तिविह, सुद्ध, णिरंजण, भाव, ज, त, भाव उवओग, त, त, कत्तार। **धातुसंज्ञ**—सुज्झ नैर्मल्ये, कर करणे। **प्रकृतिशब्द**—एतत्, च, उपयोग, त्रिविध, शुद्ध, निरंजन, भाव, यत्, तत्, भाव, उपयोग, तत्, तत्, कर्तृ। **मूलधातु**—शुध शौचे दिवादि, निर-अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु जुहोत्यादि, विध विधाने, डुकृञ् करणे, उप-युजिर् योगे। **पदविवरण**—एतेषु--सप्तमी बहु०, च--अव्यय,

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनोंके निमित्तभूत होनेपर **[त्रिविधः भावः]** मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इस तरह तीन प्रकार परिणाम वाला होता है। **[सः]** सो वह आत्मा **[यं]** इन तीनोंमें से जिस **[भावं]** भावको **[करोति]** स्वयं करता है **[तस्य]** उसीका **[सः]** वह **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है।

टीकार्थ—अब पूर्वोक्त प्रकारसे अनादि अन्यवस्तुभूतमोहसहित होनेसे आत्मामें उत्पन्न हुए जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति भावरूप तीन परिणाम विकार उनके निमित्तभूत होनेपर, यद्यपि आत्माका स्वभाव परमार्थसे देखा जाय तो शुद्ध, निरंजन, एक, अनादिनिधन वस्तुका सर्वस्वभूत चैतन्यभावरूपसे एक प्रकार है, तो भी अशुद्ध सांजन अनेक भावपनेको प्राप्त हुआ तीन प्रकार होकर आप अज्ञानी हुआ कर्तृत्वको प्राप्त होता हुआ विकार रूप परिणामसे जिस जिस भावको आप करता है, उस उस भावका उपयोग निश्चयसे कर्ता होता है।

भावार्थ—पहले कहा था कि जो परिणमता है, वह कर्ता है सो यहाँ अज्ञानरूप हो कर उपयोगसे जिस रूप परिणमन करता है, उसीका कर्ता कहा जाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है। यहाँ उपयोगको कर्ता कहा, उपयोग और आत्मा एक ही वस्तु है, इसलिये आत्माको ही कर्ता जानना।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि मोहयुक्त उपयोगके तीन प्रकारके विकृत परिणाम होते हैं उन्हींके विषयमें इस गाथामें बताया गया है कि उनका निश्चयसे कर्ता कौन है?

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥

जीव जो भाव करता, होता उस भावका वही कर्ता ।
उसके होते पुद्गल, स्वयं कर्मरूप परिणमता ॥९१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य । कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥९१॥

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्साधकवत् तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि——यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात् । तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्या-

नामसंज्ञ—ज, भाव, अत्त, कत्तार, त, त, भाव, कम्मत्त, त, सयं, पुग्गल, दव्व । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, हो सत्तायां, परि-नम नम्रीभावे । **प्रकृतिशब्द**—यत्, भाव, आत्मन्, कर्तृ, तत्, तत्, भाव, कर्मत्व, तत्, स्वयं, पुद्गल, द्रव्य । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां, परि-णम प्रह्वत्वे, पूरी आप्यायने दिवादि व चुरादि, गल स्रवणे चुरादि । **पदविवरण**—यं-द्वितीया एक० कर्मविशेषण, करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुप एक० क्रिया, भावं-द्वितीया एक० कर्म, आत्मा-प्रथमा एक०, कर्ता-प्रथमा एक०, सः-प्र० ए०,

है, तब उस मिथ्यादर्शनादिभावके अपनी अनुकूलतासे निमित्तमात्र होनेपर आत्मा कर्ताके बिना पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीयादि कर्मरूपसे परिणमन करता है । **भावार्थ**——आत्मा जब अज्ञान रूप परिणाम करता है, तब किसीसे ममत्व करता है, किसीसे राग करता है, किसीसे द्वेप करता है, उन भावोंका आप कर्ता होता है । उस विकारभावके निमित्तमात्र होनेपर पुद्गलद्रव्य आप अपने भावसे कर्मरूप होकर परिणमन करता है । यहाँ यद्यपि परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है । तो भी कर्ता दोनों अपने-अपने भावके हैं, यह निश्चय है ।

प्रसंगविवरण——अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया है कि आत्मा त्रिविध परिणाम विकारका कर्ता है । सो इस सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होती है कि इस स्थितिसे बिगाड़ और क्या होता है उसका समाधान इस गाथामें है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह जीव जिस परिणामसे परिणमता है उसी भावका कर्ता होता है । (२) जीवके विभावपरिणमनका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयमेव कर्मरूपसे परिणमता है । (३) पुद्गलद्रव्यका कर्मरूप परिणमन मात्र उस पुद्गलद्रव्यमें अन्य द्रव्य (जीव) का परिणमन लिये बिना उसीके परिणमनसे होता है यह स्वयं परिणमनेका अर्थ है । (४) विकार

ये सब विकार अचेतन ही होना चाहिये । विकारमें बुद्धि विचार सभी आ गये । यदि आत्मा प्रकृतिमें विकार करता है तो प्रकृति चेतन हो जायेगी । यदि आत्मा व प्रकृति दोनों मिलकर विकार करते हैं, तो उसका फल दोनोंको भोगना चाहिए । यदि कहा जाय कि प्रकृति ही सर्व विकार करती है, तो आत्माकी परिणति बताओ क्या होगी ? परिणति बिना तो आत्मा का अभाव हो जायगा और फिर प्रकृति ही कर्ता, प्रकृति ही भोक्ता, प्रकृति ही बद्ध व प्रकृति ही मुक्त हुई, तब समझदार व्यक्तियोंको घबड़ाने व कल्याणकी क्या आवश्यकता ? इन सबका समाधान है पूर्वोक्त नैमित्तिक भावकी सन्धि ।

एक दृष्टिसे देखा जाय तो चैतन्यभावसे अतिरिक्त जितने भाव हैं, वे परभाव कहे गये हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दुःख, विचार, कल्पना, संकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं । इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृतिके क्षयोपशमसे है । क्रोधादि-भाव प्रकृतिके उदयसे है । तब ये सभी भाव अचेतन हैं । चेतन तो एक शुद्ध चैतन्य है । अथवा जो भाव शुद्धचैतन्यको चेतता है वह है । नयदृष्टियोंसे सभी चर्चाओं का विशुद्धसमाधान करना चाहिये । विवक्षावश प्रकृति कर्त्री है, आत्मा भोक्ता है, यह भी सिद्ध हो जाता है, निमित्त-नैमित्तिकभावका इसमें उल्लंघन नहीं होता । दूसरी चर्चा यह है कि यदि वृत्तियाँ ही आत्मा हैं और वे अनेक हैं तो असत् का उत्पाद हो जायेगा, किंतु सर्वथा असत् का उत्पाद होता ही नही । अतः आत्मा सब पर्यायोंमें वही है और उसकी पर्यायें भिन्न-भिन्न समयोंने भिन्न-भिन्न हैं । तब पर्याय-दृष्टिसे जानो, करने वाला और पर्याय है भोगने वाला और पर्याय है । जैसे मनुष्यने पुण्य किया, देवने भोगा, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे देखो तो जिस आत्माने किया उसी आत्माने भोगा । यह ध्यान रखनेकी एक बात और है कि आत्मा व जीव एकार्थ-वाचक नाम हैं । वे भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं—केवल रूढ़िवश व शब्द-विशेषतासे कहीं-कहीं यह प्रसिद्धि हो गई कि आत्मा अविकारी है जीव विकारी है, हाँ यदि आदिसे अन्त तक सिलसिले में बोला जाय तो यह कहना चाहिये कि चेतनद्रव्य जब मिथ्यात्व-विकारसे मुक्त होकर स्वरूप दृष्टि कर लेता है, तो वह आत्मा कहलाता है । यदि मिथ्यात्व विकारमें स्थिर रहता है तो वह जीव कहलाता है । निमित्त-नैमित्तक भाव वाले पदार्थोंमें इतनी बात सुदृढ़तासे जानते रहना चाहिए कि जैसे जीवमें व कर्ममें निमित्त नैमित्तिकता तो है किन्तु कोई किसी दूसरेमें तन्मय नहीं हो जाता । इसी कारण जीव प्रकृतिबन्धका कर्ता है, प्रकृति जीवविकारका कर्ता है, जीव प्रकृतिफलको भोगता है, ये सब बातें व्यवहारनयसे मानी जाती है । इसके लिये दो मुख्य दृष्टान्त है—(१) जैसे व्यवहारनयसे कहा जाता है:—कि सुनार सुवर्णका आभूषण बनाता है व आभूषणका फल (मूल्य वैभव) भोगता है, वस्तुतः सुनार अपनी चेष्टा ही करता है व विकल्प ही भोगता है । उसकी चेष्टाका निमित्त पाकर सुवर्णकी परिणति सुवर्ण ही करता है । (२) व्यवहार नयसे कहा जाता है कि खड़ियाने भीत (दीवार) सफेद कर दी, खड़ियाने तो खड़ियाको ही सफेद किया । हाँ, यह बात जरूर है कि दीवालका निमित्त पाकर खड़िया ऐसे विस्ताररूपमें अपना परिणमन बना रही है । इस तरहसे तो यहाँतक निर्णय कर लो: कि आत्मा निश्चयसे अपनेको ही जानता है, देखता है । परका जानना देखना कहना भी व्यवहारनयसे है । व्यवहारनयसे, तो कर्ता व कर्म भिन्न-भिन्न मान लिये जाते हैं । किन्तु निश्चयसे कर्ता, कर्म एक वस्तु होता है और परम शुद्ध निश्चयनयमें कर्म-कर्ता का भेद ही नहीं ।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें परिणमन नहीं होता । अन्यथा द्रव्यसीमा ही नष्ट हो जायगी । अब आत्मा जो दूसरे द्रव्यकी ओर आकर्षित होता है, व रागी-द्वेषी होता है वह अज्ञानकी प्रेरणा है । यह रागद्वेष तबतक रहता है, जबतक ज्ञान ज्ञानरूपसे न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन करता रहे । कोई भी ज्ञेय आत्माको प्रेरित नहीं करते कि तुम हमको जानो, देखो, स्वादो, छुओ, सुनो, सूंघो और आत्मा भी स्वप्रदेशसे च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना आदि का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमनसे जानता है । बाह्य पदार्थका आत्मामें सम्बन्ध नहीं फिरभी आत्मामें विकार आवे तो वह अज्ञानकी महिमा है ।

इन सब आपत्तियों बचनेका उपाय प्रज्ञा है । प्रज्ञाबलसे अनुभव करें कि मैं कर्मविपाक, रागादि समस्त

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥६२॥

परको अपना करता, अपनेको भि पररूप यह करता।
अज्ञानमयी आत्मा, सो कर्ता होय कर्मोंका ॥६२॥

ात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः। अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥६२॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति। तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसम-याः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः तोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्त-ामित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परवि-

नामसंज्ञ—पर, अप्प, कुव्वन्त्, अप्प, पि, य, करिन्त्, त, अण्णाणमय, जीव कम्म कारग। धातु-—कुव्व करणे, कर करणे, हो सत्तायां। प्रकृतिशब्द—पर, आत्मन्, अपि, च, पर, तत्, अज्ञानमय, ा, कर्मन्, कारक। मूलधातु—अत सातत्यगमने, डुकृञ् करणे, जीव प्राणधारणे, भ्वादि, भू सत्तायां। वेवरण—परं–द्वितीया एक०। आत्मानं–द्वितीया एक०। कुर्वन्–प्रथमा एकवचन कृदन्त। आत्मानं–

मित्तसे हुए उस प्रकारके रागद्वेषादिकके अनुभवका आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे त्य ही अत्यन्त भिन्नता है, तो भी उस पुद्गल परिणामरूप रागद्वेषादिकका और उसके ुभवका अज्ञानसे परस्पर भेदज्ञान न होनेसे एकत्वके निश्चयसे यद्यपि जिस प्रकार शीत णरूपसे आत्मा परिणमन करनेमें असमर्थ है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख-दुःखादिरूप भी ने आप परिणमन करनेमें असमर्थ है तो भी रागद्वेषादिक पुद्गल परिणामकी अवस्थाको के अनुभवका निमित्तमात्र होनेसे अज्ञानस्वरूप रागद्वेषादिरूप परिणमन करता हुआ अपने नकी अज्ञानताको प्रकट करता आप अज्ञानी हुआ 'यह मैं रागी हूं' इत्यादि विधानकर ज्ञान-रुद्ध रागादिककर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—रागद्वेष सुख-दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्मके उदयका स्वाद है, अतः यह यविपाक पुद्गलकर्मसे अभिन्न है, आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। आत्माको अज्ञानसे इसका ज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है, क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छता ी ही है कि रागद्वेषादिका विपाक (स्वाद) शीत उष्णकी तरह ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होता है ऐसा मालूम होता है कि मानो ये ज्ञान ही हैं। इस कारण ऐसे अज्ञानसे इस अज्ञानी वके इनका कर्तृत्व भी आया। क्योंकि इसके ऐसी मान्यता हुई कि मैं रागी हूं, द्वेषी हूं,

ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥६३॥

परको निज नहिं करता, अपनेको न पररूप करता यह।
संज्ञानमयी आत्मा, कर्ता होता न कर्मोंका ॥६३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्। स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥६३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति। तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्त-

---

नामसंज्ञ—पर, अप्प, अकुव्वंत, अप्प, पि, य, पर, अकुव्वंत, त, णाणमअ, जीव, कम्म, अकारअ। **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—पर, आत्मन्, आत्मन्, अपि, च, पर, तत्, ज्ञानमय, जीव, कर्मन्, अकारक। **मूलधातु**—अत सातत्यगमने, डुकृञ् करणे, ज्ञा अवबोधने, जीव प्राणधारणे, भू

आत्मरूप नहीं करता हुआ और अपनेको पररूप नहीं करता हुआ आप ज्ञानी हुआ कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है। उसीको स्पष्ट करते हैं—जैसे शीत उष्ण अनुभव करानेमें समर्थ शीत उष्णस्वरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्न होनेके कारण आत्मासे नित्य ही अत्यंत भिन्न है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख दुःखादिरूप अनुभव करानेमें समर्थ राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्न होनेके कारण आत्मासे नित्य ही, अत्यंत भिन्न है, तथा ऐसी पुद्गलविपाक अवस्थाके निमित्तसे हुआ उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे अत्यंत सदा ही भिन्न है। ऐसी दोनोंकी भिन्नताके ज्ञानसे परस्पर विशेषका भेदज्ञान होनेपर नानात्वके विवेकसे, जैसे शीत उष्ण रूप आत्मा स्वयं परिणमनमें असमर्थ है, उसी प्रकार राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप भी स्वयं परिणमन करनेमें असमर्थ है। इस प्रकार अज्ञानस्वरूप जो राग-द्वेष-सुख-दुःखादिक उन रूपसे न परिणमन करता, ज्ञानके ज्ञानत्वको प्रकट करता, ज्ञानमय हुआ ज्ञानी ऐसा जानता है कि "यह मैं रागद्वेषादिकको जानता ही हूं और ये पुद्गल रागरूप होते हैं। इत्यादि विधानसे सर्व ही ज्ञानविरुद्ध रागादिककर्मका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—जब ज्ञानी राग-द्वेष सुख-दुःख अवस्थाको ज्ञानसे भिन्न जानता है कि 'जैसे पुद्गलकी शीत उष्ण अवस्था तद्विषयक ज्ञानसे भिन्न है, उसी प्रकार रागद्वेषादिक भी तद्विषयक ज्ञानसे भिन्न हैं' ऐसा भेदज्ञान हो तब अपनेको ज्ञाता जाने व रागादिको पुद्गलको

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

उपयोग त्रिविध यह ही, क्रोध हूं यों स्वविकल्प करता है।
सो उस आत्मभावमय, होता उपयोगका कर्ता ॥९४॥

त्रिविध एप उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोहं। कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेपदर्शनेनाविशेपज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति। ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सवि-

---

नामसंज्ञ—तिविह, एत, उवओग, अप्पवियप्प, कोह, अम्ह, कत्तार, त, उवओग, त, अत्तभाव। **धातुसंज्ञ**—उव-जुंज योगे, कर करणे, हो सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—त्रिविध, एतत्, उपयोग आत्मविकल्प, क्रोध, अस्मद्, कर्तृ, तत्, उपयोग, तत्, आत्मभाव। **मूलधातु**—विध विधाने, उप-युजिर् योगे, डुकृञ्

प्रकारका [**उपयोगः**] उपयोग [**आत्मविकल्पं**] अपनेमें विकल्प [**करोति**] करता है कि [**अहं क्रोधः**] मैं क्रोधस्वरूप हूं, [**सः**] सो वह [**तस्य**] उस [**उपयोगस्य**] उपयोगरूप [**आत्मभावस्य**] अपने भावका [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

तात्पर्य—अज्ञानी जीव क्रोधादिस्वरूप अपनेको मानता है, अतः वह क्रोधादिरूप अपने उपयोगका कर्ता होता है।

टीकार्थ—वास्तवमें यह सामान्यतः अज्ञानरूप मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्य परिणाम पर और आत्माकी अभेदश्रद्धासे, अभेदज्ञानसे और अभेदरूप रतिसे सब भेदको ओझल कर भाव्यभावकभावको प्राप्त हुए चेतन अचेतन दोनोंको समान अनुभव करनेसे 'मैं क्रोध हूं' ऐसा असद्भूत आत्मविकल्प उत्पन्न करता है याने वह क्रोधको ही अपना जानता है। इस कारण यह आत्मा 'मै क्रोध हूं' ऐसी भ्रांतिसे विकार सहित चैतन्य परिणामसे परिणमन करता हुआ, उस विकारसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है। इसी प्रकार क्रोध पदके परिवर्तनसे मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन सोलह सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये। और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना चाहिये।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे त्रिविध विकारसहित चैतन्यपरिणाम अपना और परका भेद न जानकर मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं इत्यादि मानता है ऐसा

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

उपयोग त्रिविध यह ही, धर्मादिक हूं विकल्प यों करता ।
सो उस आत्मभावमय, होता उपयोगका कर्ता ॥९५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकं । कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९५॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति । ततोऽयमात्म धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं

नामसंज्ञ—तिविह, एत, उवओग, अप्पवियप्प, धम्मादि, कत्तार, त, अत्तभाव । **धातुसंज्ञ**—उव-उज्ज योगे, कर करणे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—त्रिविध, एतत्, उपयोग, आत्मविकल्प, धर्मादिक, कर्तृ, तत्, उपयोग, तत्, आत्मभाव । **मूलधातु**—धृञ् धारणे भ्वादि, उप-युजिर् योगे । **पदविवरण**—त्रिविधः—प्रथमा एक० । एषः—प्र० ए० । उपयोगः—प्र० ए० । आत्मविकल्पं—द्वितीया एकवचन । करोति—वर्तमान

टीकार्थ—सामान्यसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकारका अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम ही परके और अपने परस्पर अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष चारित्रसे समस्त भेदोंको लोप करके ज्ञेयज्ञायकभावको प्राप्त धर्मादि द्रव्योंके अपने और उनके एक समान आधारके अनुभव करनेसे ऐसा मानता है कि मैं धर्मद्रव्य हूं, मैं अधर्मद्रव्य हूं, मैं आकाशद्रव्य हूं, मैं कालद्रव्य हूं, मैं पुद्गलद्रव्य हूं, मैं अन्य जीव भी हूं, ऐसे भ्रमसे उपाधिसहित अपने चैतन्यपरिणामसे परिणमन करता हुआ उस उपाधिसहित चैतन्यपरिणमनरूप अपने भावका कर्ता होता है । इस कारण यह निर्णय रहा कि कर्तृत्वका मूल अज्ञान है ।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञानसे धर्मादि द्रव्यमें भी आपा मानता है । अतः उस अपने अज्ञानरूप चैतन्यपरिणामका स्वयं ही कर्ता होता है । **प्रश्न**—पुद्गल और अन्य जीव तो प्रवृत्तिमें दीखते हैं, उनमें तो अज्ञानसे आपा मानना ठीक है, परन्तु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य तो देखनेमें भी नहीं आते, उनमें आपा मानना कैसे कहा ? **उत्तर**—यह धर्मास्तिकाय है ऐसा ज्ञानविकल्प भी उपचारसे धर्मास्तिकाय है सो इस विकल्पके करनेके समय अज्ञानी शुद्धात्मस्वरूपको भूल जाता है, सो उस विकल्पके करनेपर मैं धर्मास्तिकाय हूं ऐसा एकाकार होना यही धर्मद्रव्यको अपना करना कहलाता है । ऐसा ही अधर्मादिद्रव्यमें भी समझना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भाव्यभावकविधिसे परको आत्मत्व स्वीकारने

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

यों मंदबुद्धि करता, परद्रव्योंको हि आत्मा अपना।
अपनेको भी परमय, करता अज्ञानभावोंसे ॥७७॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु। आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं। तथाहि--यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य

नामसंज्ञ—एवं, पर, दव्व, अप्पय, मंदबुद्धि, अप्प, अवि, य, पर, अण्णाणभाव। धातुसंज्ञ—कुण करणे, कर करणे। प्रकृतिशब्द—एवं, पर, द्रव्य, आत्मन्, मंदबुद्धि, आत्मन्, अपि, च, पर, अज्ञानभाव।

हुआ) अज्ञानसे भूतको और अपनेको एकरूप करता हुआ जैसी मनुष्यके योग्य चेष्टा न हो, वैसी चेष्टाके आलम्बन रूप अत्यन्त भयकारी आरंभसे भरा अमानुष व्यवहारसे उस प्रकार चेष्टारूप भावका कर्ता प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञानसे ही पर और आत्माको भाव्य-भावकरूप एक करता हुआ निर्विकार अनुभूतिमात्र भावकके अयोग्य अनेक प्रकार भाव्यरूप क्रोधादि विकारसे मिले चैतन्यके विकार सहित परिणामसे उस प्रकारके भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। तथा जैसे किसी अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेका ध्यान करने वाला कोई भोला पुरुष अज्ञानसे भैंसेको और अपनेको एकरूप करता हुआ अपनेमें गगनस्पर्शी सींग वाले महान् भैंसापनेके अध्याससे मनुष्यके योग्य छोटी कुटीके द्वारसे निकलनेसे च्युत रहा उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञानसे ज्ञेयज्ञायकरूप पर और आत्माको एकरूप करता हुआ आत्मामें परद्रव्यके अध्याससे (निश्चयसे) मनके विषयरूप किये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्य शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होनेसे तथा इंद्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थोंके द्वारा अपना केवल (एक) ज्ञान ढका गया होनेसे तथा मृतक शरीरमें परम अमृतरूप विज्ञानघन आत्माके मूर्छित होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ--यह आत्मा अज्ञानसे अचेतनकर्मरूप भावकके क्रोधादि भावको चेतनभावक के साथ याने अपनेसे एकरूप मानता है और धर्मादिद्रव्य ज्ञेयरूप हैं, उनको भी ज्ञायकके साथ

स्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइंद्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेंन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥९६॥

परं—द्वितीया एक० । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । अज्ञानभावेन—तृतीया एकवचन करणकारक ॥९६॥

प्रयोग—परमशान्ति पानेके लिये परद्रव्योंसे अत्यन्त भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपमात्र अपनेको अनुभवना चाहिये ॥९६॥

अब कहते हैं कि इसी कारणसे यह ठीक रहा कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता है—[**एतेन तु**] इस पूर्वकथित कारणसे [**निश्चयविद्भिः**] निश्चयके जानने वाले ज्ञानियोंके द्वारा [**स आत्मा**] वह आत्मा [**कर्ता परिकथितः**] कर्ता कहा गया है [**एवं खलु**] इस प्रकार निश्चयसे [**यः**] जो [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह ज्ञानी हुआ [**सर्वकर्तृत्वं**] सब कर्तृत्व को [**मुंचति**] छोड़ देता है ।

तात्पर्य—परद्रव्यभावके कर्तृत्वविकल्पको अज्ञानलीला समझ लेनेपर कर्तृत्वबुद्धि हट जाती है ।

टीकार्थ—जिस कारणसे यह आत्मा अज्ञानसे परके और आत्माके एकत्वका विकल्प करता है, उस कारणसे निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है, ऐसा जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है, इस कारण वह अकर्ता प्रतिभासित होता है । यही स्पष्ट कहते हैं—इस जगतमें यह आत्मा अज्ञानी हुआ अज्ञानसे अनादि संसारसे लगाकर पुद्गल कर्मरस और अपने भावके मिले हुए आस्वादका स्वाद लेनेसे जिसकी अपने भिन्न अनुभवकी शक्ति मुद्रित हो गई है, ऐसा अनादिकालसे ही है, इस कारण वह परको और अपनेको एकरूप जानता है । इसी कारण मैं क्रोध हूं इत्यादिक विकल्प अपनेमें करता है, इसलिए निर्विकल्प रूप अकृत्रिम अपने विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट हुआ बारम्बार अनेक विकल्पोंसे परिणमन करता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है । और जब ज्ञानी हो जाय, तब सम्यग्ज्ञानसे उस सम्यग्ज्ञानको आदि लेकर प्रसिद्ध हुआ जो पुद्गलकर्मके स्वादसे अपना भिन्न स्वाद, उसके आस्वादनसे जिसकी भेदके अनुभवकी शक्ति प्रकट हो गई है, तब ऐसा जानता है कि अनादिनिधन निरंतर स्वादमें आता हुआ समस्त अन्य रसके स्वादोंसे विलक्षण, अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरस स्वरूप तो यह आत्मा है, और कषाय इससे भिन्न रस हैं, कषैले हैं, बेस्वाद हैं, उनसे युक्त एकत्वका जो विकल्प करना है; वह अज्ञानसे है । इस प्रकार परको और आत्माको पृथक्-पृथक् नानारूपसे

ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्न-रसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति । ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति । ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते । ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति । अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः । पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालां ।।५७।। अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा,

एतत्, तु, तत्, कर्तृ, आत्मन्, निश्चयविद्, परिकथित, एवं, खलु, यत्, तत्, सर्वकर्तृत्व । मूलधातु— डुकृञ् करणे, अत सातत्यगमने, निस्-चिञ् चयने, विद ज्ञाने अदादि, परि-कथ वाक्यप्रबंधे चुरादि, ज्ञा अवबोधने,

उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपना और पुद्गलकर्मविपाकका भेद न जानकर रागादि भावमें एकाकाररूपसे प्रवृत्त होता है और इसी चोटसे विषयोंमें स्वाद जानकर पुद्गलकर्मको अति-लुब्ध होकर ग्रहण करता है, अपने ज्ञानका और पुद्गलकर्मका स्वाद पृथक् नहीं अनुभव करता । वह हाथीकी भांति घासमें मिले हुए मिष्ट अन्नका एक स्वाद लेता है ।

अब कहते हैं कि अज्ञानसे ही जीव पुद्गलकर्मका कर्ता होता है—**अज्ञानान्मृग** इत्यादि । **अर्थ**—ये जीव निश्चयसे शुद्ध एक ज्ञानमय हैं, तो भी वे अज्ञानके कारण पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति विकल्पसमूहके करनेसे व्याकुल होकर परद्रव्यके कर्तारूप होते हैं । देखो अज्ञानसे ही मृग बालूको जल जानकर पीनेको दौड़ते हैं और देखो अज्ञानसे ही लोक अंधकारमें रस्सीमें सर्पका निश्चय कर भयसे भागते हैं ।

भावार्थ—अज्ञानसे क्या नहीं होता ? मृग तो बालूको जल जानकर पीनेको दौड़ता है और खेद-खिन्न होता है, मनुष्य लोक अंधेरेमें रस्सीको सर्प मान डरकर भागते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा, जैसे वायुसे समुद्र क्षोभरूप हो जाता है, वैसे अज्ञानसे अनेक विकल्पोंसे क्षोभरूप होता है । सो ऐसे ही देखिये— यद्यपि आत्मा परमार्थसे शुद्ध ज्ञानघन है तो भी अज्ञानसे कर्ता होता है ।

अब कहते हैं कि ज्ञान होनेपर यह जीव कर्ता नहीं होता—**ज्ञानाद्** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष ज्ञानसे भेदज्ञानकी कला द्वारा परका तथा आत्माका विशेष भेद जानता है, वह पुरुष दूध जल मिले हुएको भेदकर दूध ग्रहण करने वाले हंसकी तरह है, अचल चैतन्यधातुको सदा आश्रय करता हुआ जानता ही है, और कुछ भी नहीं करता । **भावार्थ**—जो निजको निज व परको पर जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है ।

अब बताते हैं कि जो कुछ जाना जाता है, वह ज्ञानसे ही जाना जाता है—**ज्ञानादेव**

व्युदासः। ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः, क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावं ॥६०॥ अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा। स्यात्कर्तात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणां ॥६२॥ ॥९७॥

यः–प्रथमा एक०। जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सः–प्रथमा एक०। मुंचति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सर्वकर्तृत्वं–द्वितीया एकवचन ॥९७॥

अपनेमें कृतक अनेक विकाररूपोंको निषेधने वाला ज्ञानी क्रोधादिरूप आत्मविकल्पको रंच भी नहीं करता है अतः वह अकर्ता है। ९-- आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है, वह ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नहीं करता है।

सिद्धान्त—१–समस्त परद्रव्यों व परभावोंसे विविक्त यह आत्मा चैतन्यैकरस है। २–अविकार सहजज्ञानस्वभावके आश्रयसे समस्त कर्मत्व कलंक दूर हो जाता है।

दृष्टि—१–परमशुद्धनिश्चयनय (४४)। २–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—चैतन्यरसमात्र आत्मामें स्वपरके अज्ञानसे ही परात्मविकल्प होता है ऐसा जानकर अपने अकर्तृस्वभाव चैतन्यस्वरूपमें रत होकर निराकुल होना चाहिये ॥९७॥

अब यही कहते हैं कि व्यवहारी ऐसा कहते हैं:—[**आत्मा**] आत्मा [**व्यवहारेण**] व्यवहारसे [**घटपटरथान् द्रव्याणि**] घट पट रथ इन वस्तुओंको [**च**] और [**करणानि**] इंद्रियादिक करणपदार्थोंको [**च**] और [**कर्माणि**] ज्ञानावरणादिक तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म, भावकर्मोंको [**च इह**] तथा इस लोकमें [**विविधानि**] अनेक प्रकारके [**नोकर्माणि**] शरीरादि नोकर्मोंको [**करोति**] करता है।

तात्पर्य—व्यवहारसे ही यह कहा जाता है कि जीव परद्रव्य व परभावको करता है।

टीकार्थ—जिस कारण व्यवहारी जीवोंको यह आत्मा अपने विकल्प और व्यापार इन दोनोंके द्वारा घट आदि परद्रव्य स्वरूप बाह्यकर्मको करता हुआ प्रतिभासित होता है, इस कारण उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप समस्त अंतरंग कर्मको भी करता है। क्योंकि दोनों परद्रव्यस्वरूप हैं, परत्वकी दृष्टिसे इनमें भेद नहीं। सो यह व्यवहारी जीवोंका अज्ञान है। **भावार्थ**– घट पट कर्म नोकर्म आदि परद्रव्योंका कर्ता अपनेको मानना यह तो व्यवहारी जनोंका अज्ञान है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि निश्चयसे यह आत्मा जानता ही है, परद्रव्यको व परभावको करता नहीं है। इस विवरणपर यह जिज्ञासा होती है कि घट

स न सन्—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि वह परद्रव्योंको, करता तो तन्मयी हि हो जाता।
चूंकि नहीं तन्मय वह, इससे परका नहीं कर्ता ॥९९॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्। यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता।

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्ते-

---

नामसंज्ञ—जदि, न, परदव्व, य, णियम, तम्मअ, ज, ण, तम्मअ, त, त, ण, त, कत्तार। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, हो सत्तायां, हव सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—यदि, तत्, परद्रव्य, च, नियम, तन्मय, यत्, न, तन्मय, तत्, तत्, न, तत्, कर्तृ। **मूलधातु**—द्रु गतौ, डुकृञ करणे, भू सत्तायां। **पदविवरण**—यदि—अव्यय। सः—प्रथमा एकवचन। परद्रव्याणि—द्वितीया बहु०। च—अव्यय। कुर्यात्—विधि लिङ् अन्य पुरुष

आत्मा [**परद्रव्याणि**] परद्रव्योंको [**कुर्यात्**] करे [**च**] तो [**नियमेन**] नियमसे वह आत्मा उन परद्रव्योंसे [**तन्मयः**] तन्मय [**भवेत्**] हो जाय [**यस्मात्**] परन्तु [**तन्मयः न**] आत्मा तन्मय नही होता [**तेन**] इसी कारण [**सः**] वह [**तेषां**] उनका [**कर्ता**] कर्ता [**न भवति**] नहीं है।

तात्पर्य—आत्मा परद्रव्योंसे पृथक् अपनी सत्तामात्रमें है, अतः वह परद्रव्योंका कर्ता कैसे हो सकता है?

टीकार्थ—यदि वास्तवमें यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्मको करे, तो परिणाम-परिणामभावकी अन्यथा अप्राप्ति होनेसे नियमसे तन्मय हो जाय, किन्तु अन्य द्रव्यकी अन्य द्रव्यमें तन्मयता होनेपर अन्य द्रव्यके नाशकी आपत्तिका प्रसंग आनेसे तन्मय है ही नहीं। इसलिये व्याप्यव्यापकभावसे तो उस द्रव्यका कर्ता आत्मा नहीं है। **भावार्थ**—यदि आत्मा अन्य द्रव्यका कर्ता होवे, तो पृथक्-पृथक् द्रव्य क्यों रहें? फिर तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जावेगा, यों अन्य द्रव्यका नाश हो जायगा यह बड़ा दोष आता जैसा कि है ही नहीं। इसलिये अन्य द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्यको कहना सत्यार्थ नहीं है निश्चयसे तो यही है कि आत्मा मात्र अपने गुणोंमें ही परिणाम सकता है, अन्यके गुणोंमें नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा परद्रव्यको करता है यह कथन व्यवहारसे है। अब इसी विषयमें इस गाथामें कहा है कि ऐसा व्यवहारकथन सत्यार्थ नहीं है।

तथ्यप्रकाश—(१) यदि आत्मा परद्रव्यको करे तो आत्मा परद्रव्यमय हो जायगा यह

निमित्तनैमित्तकभावेनापि न कर्तास्ति—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

न निमित्तरूपमें भी, आत्मा करता घटादि द्रव्योंको।
योगोपयोग कारण, उनका ही जीव कर्ता है ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि। योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनि-

नामसंज्ञ—जीव, ण, घड, ण, एव, पड, सेसग, दव्व, जोगुवओग, उप्पादग, य, त, कत्तार। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, उव-उंज योगे, हव सत्तायां। **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, घट, न, एव, पट, न, एव, शेषक, द्रव्य, योगोपयोग, उत्पादक, च, तत्, कर्तृ। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, डुकृञ् करणे, घट संघाते, पट गतौ, शिष असर्वोपयोगे चुरादि, द्रु गतौ, युजिर् योगे, उत्-पद गतौ चुरादि दिवादि णिच् कृदन्त, भू सत्तायां। **पदविवरण**—जीवः–प्रथमा एक०। न–अव्यय। करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन।

कहे जाते हैं। योग तो आत्माके प्रदेशोंका चलनरूप व्यापार है और उपयोग आत्माके चैतन्य का रागादि विकाररूप परिणाम है। सो कदाचित् अज्ञानसे इन दोनोंको करनेसे इनका आत्मा को भी कर्ता कहा जावे, तो भी वह परद्रव्यस्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है।

भावार्थ—आत्माके योग, उपयोग, घटादि तथा क्रोधादिकके निमित्त हैं, सो योग उपयोगको तो उनका निमित्तकर्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्माको उनका निमित्तकर्ता भी नहीं कहा जा सकता। तथा आत्मा योग उपयोगका कर्ता संसार अवस्थामें अज्ञानसे हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टिसे तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्यका कर्ता नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्यका पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यके पर्यायके लिये निमित्त होता है। इस अपेक्षासे अन्यके परिणाम अन्यके परिणामके निमित्तकर्ता कहे जाते हैं, परन्तु परमार्थसे द्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, किसीके परिणामका अन्य द्रव्य कर्ता कभी हो ही नहीं सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा घट पट आदिको कर्म नोकर्म आदिको करता है यह जो व्यवहार है वह सत्यार्थ नहीं है क्योंकि आत्मा उपादान रूपसे किसी भी परद्रव्यको नहीं करता। अब इसी विषयमें इस गाथामें बताया है कि वास्तव में तो आत्मा घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यात्मक परिणामका निमित्तनैमित्तिकभावसे भी कर्ता नहीं है, किन्तु आत्माके योग उपयोग ही उनके निमित्तरूपसे कर्ता हैं।

तथ्यप्रकाश—१–यदि घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यपरिणामका आत्मा उपादानरूपसे

है, व परपर्यायसे असत् है पदार्थोंके आलम्बनकालमें ही सत् है व आलंवित अर्थके विनाशकालमें विनाश है, ऐसा नहीं मानना ।

(११-१२) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभावसे सत् है, ज्ञेयभावसे असत् है अथवा अपने गुणसे सत् है परके गुणसे असत् है । सब ही (स्व पर) भाव में मैं हूं, या मैं ही सब भाव हूं, ऐसा नहीं मानना ।

(१३-१४) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विशेष पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है । ज्ञानमात्र आत्माको सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं मानना ।

(१५-१६) ज्ञानमात्र आत्मा द्रव्यदृष्टिसे अभेदात्मक है. व्यवहारदृष्टिसे भेदात्मक है ।

अनेकान्तस्वरूप होकर भी आत्माकी ज्ञानमात्र प्रसिद्धि क्यों की ? लक्ष्यभूत आत्माकी सुगमतया प्रसिद्धिके लिये अथवा ज्ञानमात्र एक भावमें ही गर्भित अनन्त शक्तियोंका विकास प्रकट होनेसे ज्ञानमात्रपनेकी मुख्यतासे आत्मा लक्ष्य हो जाता है; इसलिये ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धि की । ज्ञानमात्र होकर भी अनेकान्तरूप क्यों बताया ? विशद जाननेके लिये, अथवा भेदरत्नत्रय व अभेदरत्नत्रयके उपदेशके लिये, अथवा उपाय-उपेयभावका चिन्तवन करनेके लिए ज्ञानमात्र आत्माको अनेकान्तरूप प्रगट किया ।

इस प्रकार निज शुद्ध आत्मतत्त्वस्वरूप समयसारकी प्रतीति करके उसमें ही अनुष्ठान करना चाहिये । एतदर्थ परमार्थदृष्टि रखकर भावना करना चाहिए—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव हूं, निर्विकल्प हूं, अखंड हूं, निरंजन हूं, सहजानन्दस्वरूप स्वसंवेदनसे गम्य हूं, राग-द्वेष-विषय-कषायादिसे रहित हूं ।

समयसारके परिज्ञानका प्रयोजन

समयसार निरपेक्ष आत्म-स्वभाव है । इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा है । इस अविकार स्वरूपकी दृष्टि होनेपर परिणमनमें भी अविकारता प्रगट होती है । अविकारता ही सत्य आनन्दकी अमोघ जननी है । समस्त दार्शनिकोंके प्रयोजनकी सिद्धि इस समयसारके परिचयमें हो जाती है । समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, भेददृष्टिसे परे होनेके कारण एक है । आत्म-गुणोंमें व्यापक होनेसे व आत्म-गुणोंसे बढ़नेके कारण ब्रह्म है । ऐसा स्वभाव होते हुए भी चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है सो आत्मा भी परिणमनशील है । अतः इस आत्माकी पर्यायें होती हैं । वे पर्यायें अनित्य हैं । अतः मायारूप कही जाती हैं । इसतरह ब्रह्म और मायाकी सन्धि है । अविकार होते हुए भी यह मायाका आधार है । यह रहस्य जिन्हें प्रकट हो गया वे विवेकी हैं और फिर मायाकी दृष्टि न रख कर जो एक परम ब्रह्मकी दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हैं । समयसारके परिज्ञानका प्रयोजन निर्विकल्प समाधिकी सिद्धि है जिसके बलसे समस्त कर्म-कलंकोंसे मुक्ति, पूर्ण ज्ञानकी सिद्धि व अनन्त आनन्दकी निष्पत्ति होती है ।

समयसारमें दार्शनिक संतोष

प्रत्येक आत्मामें समयसार तत्त्व है । इसे परम ब्रह्म परमेश्वर कहते हैं । इसकी पर्यायोंका मूल आधार यह ही है । इस प्रकार प्रत्येक आत्माओंकी सृष्टिका कारण उन्हीं में विराजमान परम ब्रह्म परमेश्वर है । शुद्धनयकी दृष्टिमें अनेकता नहीं है । अतः इस पद्धतिमें यह अभिप्राय सुयुक्तियुक्त है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वरने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिताकी उपासनासे ही दुखोंकी मुक्ति हो सकती है । समयसारकी उपासना के विना दुःखोंसे मुक्ति नहीं हो सकती ।

स्वभावतः अविकार होकर भी प्रकृतिजन्य विभावोंमें एकत्वका अभ्यास होनेसे नाना भवोंके अवतार रूपोंमें यह समयसार पुरुष प्रगट हुआ है । प्रकृति (कर्म व औपाधिक भाव) व पुरुष का जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्:—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

जो पुद्गल द्रव्योंके, ज्ञानावरणादि कर्म बनते हैं ।
उनको न जीव करता, यों जो जाने वही ज्ञानी ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि । न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी किंतु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च

नामसंज्ञ– ज, पुग्गलदव्व, परिणाम, णाणआवरण, ण, त, अत्त, ज, त, णाणि । धातुसंज्ञ–हो सत्तायां, कर करणे, जाण अवबोधने, हव सत्तायां । प्रातिपदिक– यत्, पुद्गलद्रव्य, परिणाम, ज्ञानावरण, न, तत्, आत्मन्, यत्, तत्, ज्ञानिन् । मूलधातु– पूरी आप्यायने, गल स्रवणे चुरादि, द्रु गतौ, परि-णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, आ-वृञ् आवरणे चुरादि, डुकृञ् करणे, अत सातत्यगतौ । पदविवरण– ये–प्रथमा बहु० । पुद्गलद्रव्याणां–षष्ठी बहु० । परिणामाः–प्रथमा बहु० । भवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है । इसी प्रकार ज्ञानावरण पदके स्थानमें कर्मसूत्रके विभागकी स्थापनासे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इनके सात सूत्रोंसे और उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यानके योग्य हैं । तथा इसी रीतिसे अन्य भी विचार किये जाने योग्य हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा परद्रव्यात्मक परिणामका न उपादानरूपसे कर्ता है और न निमित्तरूपसे कर्ता है । इस विवरणपर जिज्ञासा हुई कि फिर आत्मा वास्तवमें किसका कर्ता है इसका समाधान इस गाथामें किया है ।

तथ्यप्रकाश—१–पुद्गलस्कन्धोंके ज्ञानावरणादिक परिणमन पुद्गलस्कंधोंमें व्याप्यरूपसे होते हैं । २–उन ज्ञानावरणादिक कर्मपरिणामको आत्मा करता नहीं, किन्तु मात्र जानता है । ३–वह पुद्गलद्रव्यपरिणामविषयक ज्ञान आत्मामें व्याप्यरूपसे होता है, अतः ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है ।

सिद्धान्त—१–पुद्गलद्रव्योंके परिणाम ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्योंमें ही व्याप्त हैं । २–पुद्गलद्रव्योंसे विविक्त होनेसे उनके परिणामका आत्मा कर्ता नहीं है ।

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्--

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

जिस भाव शुभाशुभको, करता उसका है आत्मा कर्ता।
उसका कर्म वही है, वह आत्मा भोगता उसको ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता। तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा योयं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद् भवति कर्ता स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म। स एव च आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः। एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ॥१०२॥

नामसंज्ञ—ज, भाव, सुह, असुह, अत्त, त, त, खलु, कत्तार, त, दु, वेदग, अप्प। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, हो सत्तायां, वेद वेदने। **प्रकृतिशब्द**—यत्, भाव, शुभ, अशुभ, आत्मन्, तत्, खलु, कर्तृ, तत्, कर्मन्, तत्, तु, वेदक, आत्मन्। **मूलधातु**—शुभ शोभार्थे तुदादि, शुभ दीप्तौ भ्वादि, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि। **पदविवरण**—यं–द्वितीया एकवचन। भावं–द्वि० एक० कर्मकारक। शुभं–द्वि० ए० कर्मविशेषण। करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। आत्मा–प्रथमा एक० कर्ताकारक। सः–प्रथमा एक०। तस्य–पष्ठी एकवचन। खलु–अव्यय। कर्ता–प्रथमा एक०। तत्–प्रथमा एक०। तस्य–षष्ठी एक०। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। कर्म–प्र० ए०। सः–प्र० ए०। तस्य–पष्ठी एक०। तु–अव्यय। वेदकः–प्र० ए०। आत्मा–प्रथमा एकवचन कर्ताकारक ॥१०२॥

परभावका कर्ता नहीं होता।

तथ्यप्रकाश—१– अज्ञानी जीव पर और आत्मामें एकत्वका अध्यास करता है वह भी अशुद्धोपादान जीवका परिणाम है। २– अज्ञानी पुद्गलकर्मविपाकदशामें शुभ अशुभ विकल्परूपसे स्वादके भेद करता है वह भी अशुद्धोपादान जीवका परिणाम है और यह भी अज्ञानरूप भाव है। ३– अज्ञानीके अज्ञानरूप भाव व्याप्य है सो वह अज्ञानरूप भावका ही कर्ता है और उस ही का भोक्ता है। ४– अज्ञानी भी परद्रव्यके परिणमनका कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—१– अज्ञानी जीव अपने अज्ञानरूप भावका ही कर्ता है। कर्मादि अन्य द्रव्यके परिणमनका कर्ता नहीं। २– अज्ञानी जीव अपने अज्ञानरूप भावका भोक्ता है, कर्मादि अन्य द्रव्यके परिणामका भोक्ता नहीं।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

न्तरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत्। अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ॥१०३॥

एकवचन। यस्मिन्–सप्तमी एक०। द्रव्ये–सप्तमी एक०। सः–प्रथमा एक०। अन्यस्मिन्–सप्तमी एक०। तु–अव्यय। न–अव्यय। संक्रामति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। द्रव्ये–सप्तमी एक०। सः–प्रथमा एक०। अन्यदसंक्रान्तः–प्रथमा एक०। कथं–अव्यय। तत्–प्र० ए०। द्रव्यम्–प्रथमा एकवचन ॥१०३॥

यह वस्तुकी मर्यादा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं होता। सो अब इसी विषयको इस गाथामें युक्तिपूर्वक पुष्ट किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य व गुणमें ही वर्तते हैं। (२) प्रत्येक पदार्थकी स्वरूपसीमा भेदी नहीं जा सकती। (३) कोई भी पदार्थ किसी अन्य द्रव्यरूप व अन्य गुणरूप नहीं हो सकता। (४) जब कोई पदार्थ किसी अन्य द्रव्यरूप व अन्य गुणरूप हो ही नहीं सकता तो कोई भी पदार्थ किसी अन्यको परिणमा ही क्या सकेगा?

सिद्धान्त—(१) कोई भी पदार्थ समस्त अन्य पदार्थके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप नहीं हो सकता। (२) कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपमय ही सदा रहेगा।

दृष्टि— १– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८)।

प्रयोग—मैं किसी अन्यके द्रव्यगुणरूप नहीं हो सकता, अन्य कोई भी मेरे द्रव्यगुणरूप नहीं हो सकता, फिर मेरा किसी अन्यसे सम्बन्ध ही क्या है? ऐसे परसे अत्यन्त विविक्त निज आत्मतत्त्वको निरखते रहना चाहिये ॥ १०३ ॥

प्रश्न—किस कारण आत्मा निश्चयतः पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है? उत्तर—[**आत्मा**] आत्मा [**पुद्गलमये कर्मणि**] पुद्गलमय कर्ममें [**द्रव्यगुणस्य च**] द्रव्यका तथा गुणका कुछ भी [**न करोति**] नहीं करता [**तस्मिन्**] उसमें याने पुद्गलमय कर्ममें [**तदुभयं**] उन दोनों को [**अकुर्वन्**] नहीं करता हुआ [**तस्य**] उसका [**स कर्ता**] वह कर्ता [**कथं**] कैसे हो सकता है?

तात्पर्य—आत्मा पौद्गलिककर्ममें न द्रव्यका कुछ करता, न गुणका कुछ करता, अतः आत्माको पौद्गलिककर्मका कर्ता कहनेकी कुछ भी गुंजाइश नहीं।

टीकार्थ—जैसे मृत्तिकामय कलशनामक कर्म जहाँ कि मृत्तिकाद्रव्य और मृत्तिकागुण अपने निजरसके द्वारा ही वर्तमान है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्यस्वरूपको तथा अपने गुणको नहीं मिला पाता, क्योंकि किसी द्रव्यका अन्य द्रव्यगुणरूप परिवर्तनका निषेध वस्तुस्थितिसे ही

वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते । द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् । ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ।।१०४।।

डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—द्रव्यगुणस्य–षष्ठी एकवचन । च–अव्यय । आत्मा–प्रथमा एक० । न–अव्यय । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । पुद्गलमये–सप्तमी एक० । कर्मणि–सप्तमी एक० । तत्–द्वितीया एक० । उभयं–द्वि० एक० । अकुर्वन्–प्रथमा एक० कृदन्त । तस्मिन्–सप्तमी एक० । कथं–अव्यय । तस्य–षष्ठी एक० । सः–प्रथमा एक० । कर्ता–प्रथमा एकवचन ।।१०४।।

नहीं होता, इस कारण यह प्रभाव नैमित्तिक है । (५) निश्चयतः जो अन्यमें अपना द्रव्य, गुण, क्रिया कुछ नहीं डाल सकता वह अन्यका कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? (६) आत्मा अपना गुण व क्रिया कुछ भी पुद्गलकर्ममें नहीं डाल पाता, इस कारण निश्चयतः आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है ।

सिद्धान्त—(१) निमित्तभूत वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उपादानमें नहीं पहुंचता । (२) निश्चयतः किसी भी पर्यायका, उस पर्यायका स्रोतभूत वस्तु स्वयं होता है ।

दृष्टि— १– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६), अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—परके द्रव्य गुण आदिसे रहित सहजसिद्ध चित्प्रकाशमय अन्तस्तत्त्वमें दृष्टि रखकर अपनेको निर्विकल्प अनुभवनेका पौरुष करना चाहिये ।। १०४ ।।

अब कहते हैं कि इसके सिवाय जो अन्य निमित्तनैमित्तकादि भाव हैं उनको देख कुछ अन्य प्रकारसे कहना वह उपचार है—**[जीवे]** जीवके **[हेतुभूते]** निमित्तरूप होनेपर होने वाले **[बंधस्य तु]** कर्मबन्धके **[परिणामं]** परिणामको **[दृष्ट्वा]** देखकर **[जीवेन]** जीवके द्वारा **[कर्म कृतं]** कर्म किया गया यह **[उपचारेण]** उपचारमात्रसे **[भण्यते]** कहा जाता है ।

तात्पर्य—जीवके रागद्वेषविभावका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्ममें कर्मत्व परिणमन होता है, उस विषयमें अज्ञानी जीव कहता है कि जीवने कर्म किये हैं सो ऐसा कर्तापनकी बात कहना उपचारमात्र है ।

टीकार्थ—इस लोकमें आत्मा निश्चयतः स्वभावसे पुद्गलकर्मका निमित्तभूत नहीं है, तो भी अनादि अज्ञानसे उसका निमित्तरूप हुआ जो अज्ञान भाव, उस रूपसे परिणमन करनेसे पुद्गलकर्मका निमित्तरूप होनेपर पौद्गलिककर्मके उत्पन्न होनेसे पुद्गलकर्मको आत्माने किया, ऐसा विकल्प होता है, वह विकल्प निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट और विकल्पोंमें तत्पर अज्ञानियोंके होता है । वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं है ।

कल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥१०५॥

कर्म-प्रथमा एक० कर्मवाच्ये कर्मकारक। भण्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्ये क्रिया। उपचारमात्रेण-तृतीया एकवचन ॥१०५॥

स्तित्वमें हैं, ऐसा निरखकर अपने ही स्वरूपमें रमणका पौरुष करना ॥ १०५ ॥

वह उपचार कैसे है सो दृष्टांत द्वारा कहते हैं—[योधैः] योद्धाओंके द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जानेपर [लोकः] लोक [इति जल्पते] ऐसा कहते हैं कि [राज्ञा कृतं] राजाने युद्ध किया सो यह [व्यवहारेण] व्यवहारसे कहना है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेन कृतं] जीवके द्वारा किया गया, ऐसा कहना व्यवहारसे है।

टीकार्थ—जैसे युद्ध परिणामसे स्वयं परिणमन करने वाले योद्धाओं द्वारा किए गए युद्धके होनेपर युद्ध परिणामसे स्वयं नहीं परिणत हुए राजाको लोक कहते हैं कि युद्ध राजाने किया। यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामसे स्वयं परिणमन करने वाले पुद्गलद्रव्यके द्वारा किए गए ज्ञानावरणादि कर्मके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्म परिणामसे स्वयं नहीं परिणमन करने वाले आत्माके सम्बन्धमें कहते हैं कि यह ज्ञानावरणादि कर्म आत्माके द्वारा किया गया, यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं है। **भावार्थ**—जैसे योद्धा युद्ध करे; वहाँ पर संबंधवश राजाने युद्ध किया, यह उपचारसे कहा जाता है, वैसे पुद्गलकर्म स्वयं कर्मरूप परिणमता है, वहाँ निमित्तसम्बन्धवश पुद्गलकर्मको जीवने किया, ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जीवके द्वारा कर्म किया गया यह कथन उपचारमात्र है। अब इस गाथामें इसी विषयको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) युद्ध तो योद्धा ही कर रहे हैं, किन्तु जो युद्ध नहीं कर रहा ऐसे राजाके प्रति उपचार किया जाता है कि राजाने युद्ध किया। (२) ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामसे तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही परिणम रहा है, किन्तु जो कर्मपरिणामसे नहीं परिणम रहा, ऐसे जीवके प्रति उपचार किया जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये। (३) यह उपचार इस कारण परमार्थ नहीं कि एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमें लगाई गई। (४) यह उपचार निमित्तनैमित्तिक भावकी याद दिलाकर निमित्तभूत विकल्प व व्यापार तथा नैमित्तिक कर्मबन्धन दोनोंसे हटनेको शिक्षा दिला सकता है। (५) कर्मने जीवविकार किये यह उपचार भी निमित्तनैमित्तिक भावकी याद दिलाकर निमित्तभूत कर्मसे व नैमित्तिक विभावसे हटनेकी

अत एतत्स्थितं—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

व्यवहारसे बताया, ज्ञानावरणादि कर्मको आत्मा।
गहे करे अरु बांधे, उपजावे वा परिणमावे ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च । आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं।

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म । यत्तु व्याप्यव्यापकभावा-

---

नामसंज्ञ—य, य, अत्त, पुग्गलदव्व, ववहारणय, वत्तव्व । **धातुसंज्ञ**—उत्-पद गतौ, कर करणे, बंध बंधने, परि-नम नम्रीभावे प्रेरणा, गिण्ह ग्रहणे । **प्रकृतिशब्द**—च, च आत्मन्, पुद्गलद्रव्य, व्यवहारनय, वक्तव्य । **मूलधातु**—उत्-पद गतौ दिवादि चुरादि, डुकृञ् करणे, बन्ध बन्धने, परि-णम प्रह्वत्वे, ग्रह उपा-

---

लोग कहने लगते हैं कि जीवने पुद्गलकर्मको ग्रहण किया, परिणमाया, उत्पन्न किया, बाँधा आदि, सो यह उपचारमात्र ही है।

टीकार्थ—यह आत्मा निश्चयसे व्याप्य-व्यापकभावके अभावसे प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको न ग्रहण करता, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है। व्याप्य-व्यापक भावके अभाव होनेपर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे तीन प्रकारके पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको यह आत्मा ग्रहण करता है, उपजाता है, करता है और बाँधता है। ऐसा जो विकल्प होता है, वह प्रकट उपचार है। **भावार्थ**—व्याप्य-व्यापक भावके बिना जीवको कर्मका कर्ता कहना वह उपचार है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया था कि जीवके द्वारा कर्म किया गया यह कथन उपचारसे किस प्रकार है? अब इस गाथामें उस विवरणके निष्कर्षमें आगमवर्णित सिद्धान्त स्थापित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा पुद्गलद्रव्यको करता है यह व्यवहारनयका वचन है। (२) यहाँ करता है यह सामान्य वचन है जिसका विश्लेषण करनेपर कि क्या-क्या कैसे-कैसे करता है, चार क्रियायें आती हैं। (३) उत्पादयति अर्थात् जीव कर्मको प्रकृतिरूपसे उत्पन्न करता है। (४) बध्नाति अर्थात् जीव कर्ममें स्थितिबन्ध करता है। (५) परिणमयति अर्थात् जीव कर्मको अनुभागरूपमें परिणमाता है। (६) गृह्णाति अर्थात् जीव सर्वात्मप्रदेशोंसे कर्मप्रदेशोंको याने कर्मपरमाणुवोंको ग्रहण करता है। (७) उपादानदृष्टिसे निरखनेपर यह सब कथन उपचार वाला व्यवहार बनता है। (८) घटनादृष्टिसे, निमित्तनैमित्तिकदृष्टिसे निरखने

कथमिति चेत्—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

ज्यौं व्यवहार बताया, राजा प्रजाके दोष गुण करता ।
त्यौं व्यवहार कि आत्मा, पुद्गलके द्रव्य गुण करता ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः । तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ।

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः । तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः । जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव । एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥६३॥ ॥ १०८ ॥

नामसंज्ञ—जह, राय, ववहार, दोसगुणुप्पादग, इत्ति, आलविद, तह, जीव, ववहार, दव्वगुणुप्पादग, भणिद । **धातुसंज्ञ**—आ-लव व्यक्तायां वाचि, भण कथने । **प्रकृतिशब्द**—यथा, राजन्, व्यवहार, दोषगुणोत्पादक, इति, आलपित, तथा, जीव, व्यवहार, द्रव्यगुणोत्पादक, भणित । **मूलधातु**—राजृ दीप्तौ, वि-अव हृञ हरणे, दुप वैकृत्ये दिवादि, आ-लप व्यक्तायां वाचि भ्वादि, भण शब्दार्थः । **पदविवरण**—यथा—अव्यय । राजा—प्रथमा एक० । व्यवहारात्—पंचमी एकवचन । दोषगुणोत्पादकः—प्रथमा एक० । इति—अव्यय । आलपितः—प्रथमा एक० कृदंत कर्मवाच्ये क्रिया । तथा—अव्यय । जीवः—प्रथमा एकवचन । व्यवहारात्—पंचमी एक० । द्रव्यगुणोत्पादकः—प्रथमा एक० । भणितः—प्रथमा एकवचन कर्मवाच्ये क्रिया ॥१०८॥

दोष व्याप्य हैं । २– राजाकी नीतिके अनुसार प्रजालोक भी अपनी प्रवृत्ति बना लेते हैं, इस रीतिको निरखकर यह उपचार किया जाता है कि राजा लोगोंके गुण दोषका उत्पादक है । ३–जिन पुद्गलद्रव्योंमें शुभकर्मत्व अशुभकर्मत्व उत्पन्न होते हैं वे कर्मत्व उन पुद्गलद्रव्योंमें ही व्याप्य हैं । ४–जीवके शुभ अशुभभावके अनुसार पुद्गलकार्माणद्रव्य भी अपनेमें शुभ अशुभ कर्मत्व बना लेते हैं सो इस निमित्तनैमित्तिकभावको निरखकर यह उपचार किया जाता है कि जीव पुद्गलकर्मोंका उत्पादक है ।

सिद्धान्त—१– जीव पुद्गलद्रव्यमें शुभाशुभकर्मत्व उत्पन्न करता है यह व्यवहारसे कहा गया है । २– जीवके शुभाशुभपरिणामका निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओंमें पुण्यपाप प्रकृतित्वपरिणमन होता है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) ।

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः । मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः । मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमांतम् ॥११०॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् । ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात् । तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥११२॥

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ, तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यंतास्त्रयोदश कर्तारः । अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः

खलु, पुग्गलकम्मुदयसंभव, ज, त, जदि, कम्म, ण, वि, त, वेदग, अत्त, गुणसण्णिद, दु, एत, कम्म, पच्चय, ज, त, जीव, अकत्तार, गुण, य, कम्म । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, बुज्झ अवगमने, कर करणे, कुव्व करणे, कुव्व करणे । **प्रकृतिशब्द**—सामान्यप्रत्यय, खलु, चतुर्, बन्धकर्तृ, मिथ्यात्व, अविरमण, कषाययोग, तत्, पुनर्, अपि, च, इदम्, भेद, तु, त्रयोदशविकल्प, मिथ्यादृष्ट्यादि, यावत्, सयोगिन्, चरमान्त, एतत्, अचेतन, खलु, पुद्गलकर्मोदयसंभव, यत्, तत्, यदि, कर्मन्, न, अपि, तत्, वेदक, आत्मन्, गुणसंज्ञित, तु,

---

मान्य प्रत्यय [**खलु**] वास्तवमें [**बंधकर्तारः**] बंधके कर्ता [**भण्यन्ते**] कहे गये हैं वे [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**अविरमणं**] अविरमण [**च**] और [**कषाययोगौ**] कषाय योग [**बोद्धव्याः**] जानने चाहिये [**च पुनः**] और फिर [**तेषां अपि**] उनका भी [**त्रयोदशविकल्पः**] तेरह प्रकारका [**अयं**] यह [**भेदः**] भेद [**कथितः**] कहा गया है जो कि [**मिथ्यादृष्ट्यादिः**] मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर [**सयोगिचरमांतः यावत्**] सयोग केवली तक है । [**एते**] ये [**खलु**] निश्चयसे [**अचेतनाः**] अचेतन हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**पुद्गलकर्मोदयसंभवाः**] पुद्गलकर्मके उदयसे हुए हैं [**यदि**] यदि [**ते**] वे [**कर्म**] कर्मको [**कुर्वन्ति**] करते हैं तो करें, [**तु**] किन्तु [**तेषां वेदकः**] उनका भोक्ता [**अपि**] भी [**आत्मा न**] आत्मा नहीं होता [**यस्मात्**] क्योंकि [**गुणसंज्ञिताः**] गुण नाम वाले [**एते प्रत्ययाः**] ये प्रत्यय [**कर्म कुर्वंति**] कर्मको करते हैं [**तस्मात्**] इस कारण [**जीवः**] जीव तो [**अकर्ता**] कर्मका कर्ता नहीं है [**च**] और [**गुणाः**] ये गुण ही [**कर्माणि**] कर्मोंको [**कुर्वंति**] करते हैं ।

तात्पर्य—आत्मा निमित्ततः भी पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता नहीं, किन्तु पुद्गलमय सामान्य प्रत्यय व उनके विशेष त्रयोदश गुणस्थान ये पौद्गलिक कर्मोंके निमित्ततः कर्ता हैं ।

टीकार्थ—निश्चयसे पुद्गलकर्मका एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है । उस पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंधके सामान्यहेतु होनेसे बंधके कर्ता हैं । वे ही मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली तक भेदरूप हुए तेरह कर्ता हैं । अब ये पुद्गलकर्मविपाकके भेद होनेसे अत्यंत अचेतन होते हुए केवल ये १३ गुणस्थान पुद्गलकर्मके कर्ता होकर व्याप्यव्यापकभावसे कुछ भी पुद्गलकर्मको करें तो करें, जीवका इसमें क्या आया ? कुछ भी

सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वंति कर्माणि । ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ।। १०९-११२ ।।

प्रथमा एकवचन । एते–प्रथमा बहुवचन । अचेतनाः–प्रथमा बहु० । खलु- अव्यय । पुद्गलकर्मोदयसंभवाः–प्रथमा बहु० । यस्मात्–पंचमी एकवचन । ते–प्रथमा बहु० । यदि–अव्यय । कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । कर्म–द्वितीया एक० कर्मकारक । न–अव्यय । अपि–अव्यय । तेषां–षष्ठी बहुवचन । वेदकः–प्र० ए० । आत्मा–प्र० ए० । गुणसंज्ञिताः–प्रथमा बहु० । तु–अव्यय । एते–प्र० बहु० । कर्म–द्वि० एक० । कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । प्रत्ययाः–प्र० बहु० । यस्मात्–पंचमी एकवचन हेत्वर्थे । तस्मात्–पंचमी एक० । जीवः–प्र० ए० । अकर्ता–प्र० एक० । गुणाः–प्र० बहु० । च–अव्यय । कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । कर्माणि–द्वितीया बहुवचन कर्मकारक ।। १०९-११२ ।।

गुणस्थान व योगके भेद १ से १३ गुणस्थान हैं, अतः ये १३ गुणस्थान पुद्गलकर्मके कर्ता हैं । (४) मिथ्यात्वसे सयोगकेवली पर्यंत १३ गुणस्थान पुद्गलकर्मके विपाकरूप हैं । (५) ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्मको व्याप्यव्यापकभावसे करते हैं । (६) जीवके परिणामरूप १३ गुणस्थान पुद्गलकर्मविपाकरूप १३ गुणस्थानोंसे अन्य हैं इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है । (७) मिथ्यादृष्टि जीव अपने मिथ्यात्व परिणामको करता है व भोगता है । मिथ्यादृष्टि जीव पुद्गलमय मिथ्यात्वको नहीं करता व नहीं भोगता ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलकर्मका व पौद्गलिक गुणस्थानोंका पुद्गलद्रव्यके साथ व्याप्यव्यापक भाव होनेसे पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है । (२) जीवगुणस्थानोंका जीवद्रव्यमें व्याप्यव्यापकभाव होनेसे जीवद्रव्य ही कर्ता है ।

दृष्टि— १- अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २- अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—पुद्गलकर्मविपाकके प्रतिफलनोंमें राग होनेसे संसारक्लेशविडम्बना जानकर ज्ञानाकारस्वरूप विशुद्ध निज चैतन्यरसके स्वादमें लगना चाहिये । इससे राग मिटेगा प्रतिफलन कर्मसम्बन्ध मिटेगा, कैवल्य प्रकट होगा ।। १०९-११२ ।।

अब कहते है कि जीव और उन प्रत्ययोंका एकत्व भी नहीं है—[यथा] जैसे [जीवस्य] जीवके [उपयोगः अनन्यः] उपयोग एकरूप है [तथा] उसी प्रकार [यदि] यदि [क्रोधोपि] क्रोध भी [अनन्यः] एकरूप हो जाय तो [एवं] इस तरह [जीवस्य] जीव [च] और [अजीवस्य] अजीवके [अनन्यत्वं] एकत्व [आपन्नं] प्राप्त हुआ [एवं च इह] ऐसा होनेसे इस लोकमें [यः तु] जो [जीवः] जीव है [स एव] वही [नियमतः] नियमसे [तथा] वैसा ही [अजीवः] अजीव हुआ [एकत्वे] ऐसे दोनोंके एकत्व होनेमें [अयं दोषः] यह दोष प्राप्त हुआ । [प्रत्ययनोकर्मकर्मणां] इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म-कर्म इनमें भी यही दोष जानना ।

तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः । एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्व-प्रतिपत्तावयमेव दोषः । अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः

इदम्, एकत्व, दोष, प्रत्ययनोकर्मकर्मन्, अथ, युष्मद्, अन्य, क्रोध, अन्य, उपयोग, चेतयितृ, यथा, क्रोध, तथा, प्रत्यय, कर्म, नोकर्मन्, अपि, अन्यत् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, उप-युजिर् योगे, क्रुध क्रोधे, आ-पद गतौ । **पदविवरण**—यथा–अव्यय । जीवस्य–षष्ठी एक० । अनन्यः–प्रथमा एकवचन । उपयोगः–प्र० ए० । क्रोधः–प्र० ए० । अपि–अव्यय । तथा–अव्यय । यदि–अव्यय । अनन्यः–प्र० एक० । जीवस्य–षष्ठी एक० । अजीवस्य–षष्ठी एक० । च–अव्यय । एवं–अव्यय । अनन्यत्वं–प्रथमा एक० । आपन्नं–प्रथमा ए० कृदंत क्रिया । एवं–अव्यय । इह–अव्यय । यः–प्रथमा एक० । तु–अव्यय । जीवः–प्रथमा एकवचन । सः–प्रथमा एक० । एव–अव्यय । तु–अव्यय । नियमतः–अव्यय पंचम्यां तसल् । तथा–अव्यय । अजीवः–प्रथमा

प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है, ऐसी प्रतीति हो जाय तो चिद्रूपकी और जड़की अनन्यतासे जीवके उपयोगमयताकी तरह जड़ क्रोधमय होनेकी भी प्राप्ति हुई । ऐसा होनेपर जो जीव है, वही अजीव है, इस प्रकार द्रव्यान्तरका लोप हो गया । इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्मों की भी जीवके साथ एकत्वकी प्रतीतिमें यही दोष आता है । इस दोषके भयसे यदि ऐसा माना जाय कि उपयोगस्वरूप जीव तो अन्य है और जड़स्वरूप क्रोध अन्य है तो जैसे उपयोगस्वरूप जीवसे जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं, क्योंकि जैसा जड़स्वभाव क्रोध है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म, कर्म ये भी जड़ हैं, इनमें विशेषता नहीं है । इस प्रकार जीव और प्रत्ययमें एकत्व नहीं है । **भावार्थ**—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़-स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है । यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यका ही लोप हो जाय यह बड़ा भारी दोष आता है । इसलिये आस्रव और आत्मामें एकत्व नहीं है, यह निश्चयनयका सिद्धान्त है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावोंमें इस तथ्यका निर्देश किया गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाययोगरूप तथा उनके भेदरूप १३ गुणस्थान—ये सब द्रव्यप्रत्यय बताये गये और ऐसे ही भावरूप जीवपरिणाम भी है । अब इन तीन गाथावोंमें इस विवरणसे सम्बंधित यह बात कही गई है कि जीव और प्रत्ययोंमें एकत्व नहीं है, अभेद नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—१– जीवसे उपयोग अभिन्न है । अतः जीव उपयोगमय है । २– यदि जड़ क्रोध भी जीवसे अभिन्न हो जाये तो जीव जड़ क्रोधमय हो जावेगा । ३– यदि जीव उपयोगमयकी तरह जड़क्रोधमय हो जाय तब तो जो ही जीव है वही अजीव है, द्रव्यान्तर न रहेगा, कौनसा न रहे, फल यह होगा कि दोनों ही न रहे यह महादोष है । ४– जैसे जड़स्वभावी क्रोध उपयोगात्मक जीवसे अन्य है, ऐसे ही प्रत्यय, कर्म, नोकर्म भी उपयोगात्मक जीव से अन्य ही हैं ।

हुआ। उन शीत ऋतुओंके दिनोंमें त्रिलोकसार व कर्मकाण्डके विशेष ज्ञान-अनुसंधानमें नग रहा था। अतः समयसारके मननका समय ४ बजे प्रातः से लेकर ६ बजे तक का था। समयसार ग्रन्थके देखनेका यह पहिला ही अवसर था। आत्म-ख्याति टीकाके आधारपर मनन शुरू किया। उसमें जो बीच-बीचमें कहीं कठिनाइयां आती थीं, उनका हल श्री पं० जयचन्द जी छावड़ा कृत हिन्दी टीकामें हो जाया करता था। इस प्रकार यह हिन्दी टीका भी मुझे बहुत ही सहायक रही। एतदर्थ मैं श्री पं० जयचन्द जी छावड़ाका भी विशेष आभार मानता हूं।

पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्यका तो मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनके तत्त्वावधानमें बाल्यकाल से ही न्यायतीर्थ परीक्षापर्यन्त मेरा अध्ययन रहा और न्याय विषयको स्वयं आपने पढ़ाया। अध्ययनके अतिरिक्त आत्म-विकासमार्गमें चलनेके लिये आपसे ही दीक्षा प्राप्त हुई।

ओ३म् शान्तिः ओ३म् शान्तिः ओ३म् शान्तिः

मनोहर वर्णी
(सहजानन्द)

सन् १९५८ में स्वलिखित समयसार महिमासे

नयचक्र-प्रकाश

पाठ १—नयज्ञानकी आवश्यकता

वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयोंसे होता है। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। ध्रौव्य न हो तो उत्पाद व्यय नहीं हो सकता, उत्पाद व्यय न हो तो ध्रौव्य नहीं हो सकता। ध्रौव्यसे वस्तुके द्रव्यपनेका बोध होता है। उत्पाद व्ययसे वस्तुके पर्यायपनेका बोध होता है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। वस्तुका द्रव्यदृष्टिसे भी ज्ञान हो, पर्यायदृष्टिसेभी ज्ञान हो तो उसका पूर्ण ज्ञान होता है। एक दृष्टिसे ज्ञान करनेको नय कहते है। दोनों दृष्टियोंसे ज्ञान करनेको प्रमाण कहते हैं। प्रयोगतः नयोंसे वस्तुका ज्ञान होनेपर प्रमाणसे ज्ञान होता है और प्रमाणसे ज्ञान होनेपर नयोंसे ज्ञान होता है। प्रमाणके बिना निरपेक्ष नयोंसे ज्ञान होना मिथ्या है और प्रमाणपूर्वक नयोंसे ज्ञान होना सम्यक् है क्योंकि, प्रमाणसे ग्रहण किये गये पदार्थोंका अभिप्रायवश एकदेश ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

वस्तु शाश्वत निरन्तर द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायके बिना द्रव्य नहीं रह सकता सो पर्यायें प्रतिक्षण होती रहती हैं। द्रव्यके बिना पर्यायें किसमें हों सो अन्वय बिना पर्यायें हो ही नहीं सकती। इस प्रकार जब वस्तु सदा द्रव्यपर्यायात्मक है तो द्रव्यदृष्टिसे व पर्यायदृष्टिसे वस्तुका ज्ञान करना आवश्यक है। नयोंके विस्तारमें जितने भी नय हैं वे सब इन्हीं दोनों दृष्टियोंके भेद प्रभेद हैं। निष्कर्ष यह है कि वस्तुका परिचय पानेके लिये नयज्ञानकी महती आवश्यकता है। भले ही नय व प्रमाणके विकल्पसे अतिक्रान्त होकर ही आत्मानुभव होता है, किन्तु इस अतिक्रमणकी योग्यता वस्तुका परिचय किये बिना नहीं पाई जा सकती है।

पाठ २—नयोंके संक्षिप्त प्रकार

वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। उसको जाननेके लिये नयके मूल दो प्रकार आते हैं १-द्रव्यार्थिक नय, २-पर्यायार्थिक नय। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो उस नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं व पर्याय ही जिसका प्रयोजन हो उस नयको पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयके ३ प्रकार हैं—१. नैगम नय, २. संग्रह नय, ३. व्यवहार नय। पर्यायार्थिक नयके ४ प्रकार हैं—१. ऋजुसूत्र नय, २. शब्द नय, ३. समभिरूढ़ नय, ४. एवंभूत नय। इस प्रकार नय ७ हुए। इन सात नयोंमें ३ विभाग होते हैं—१-ज्ञाननय, २-अर्थनय व ३-शब्दनय। नैगम नय तो ज्ञाननय है क्योंकि वह संकल्प मात्रको प्रकट करता है, पदार्थको मुख्यतया नहीं कहता। संग्रह नय, व्यवहार नय व ऋजुसूत्र नय अर्थनय कहलाते हैं, क्योंकि ये पदार्थकी जानकारी कराते हैं। संग्रह नय व व्यवहार नय तो द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति--

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

जीवमें स्वयं न बँधा, न वह स्वयं कर्मरूप परिणमता ।
पुद्गल यदि यह मानो, कर्म अपरिणामि होवेगा ॥११६॥
ये कर्मवर्गणायें, यदि न परिणमे कर्मभावसे तो ।
भवका अभाव होगा, सांख्यसमयकी प्रसक्ति भी होगी ॥११७॥
यदि जीव परिणमावे, पुद्गलको कर्मभावरूपोंमें ।
स्वयं अपरिणमतेको, कैसे यह परिणमा देगा ॥११८॥

नामसंज्ञ—जीव, ण, सयं, बद्ध, ण, सयं, कम्मभाव, जइ, पुग्गलदव्व, इम, अपरिणामि, तदा, कम्मइयवग्गणा, य, अपरिणमंती, कम्मभाव, संसार, अभाव, संखसमअ, वा, जीव, पुग्गलदव्व, कम्मभाव, त, सयं, अपरिणमंत, कहं, णु, चेदा, अह, सयं, एव, हि, कम्मभाव, पुग्गल, दव्व, जीव, कम्म, कम्मत्त, इदि, मिच्छा, णियम, कम्मपरिणद, कम्म, चि, य, पुग्गल, दव्व, तह, त, णाणावरणादि, परिणद, त, च, एव ।

ज्ञानावरणादि ही हैं, ऐसा (जानीत) जानो ।

तात्पर्य—जीवविभाव तो निमित्तमात्र है, कर्मरूप परिणत तो पुद्गलकार्माणवर्गणायें ही होती हैं ।

टीकार्थ—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें आप नहीं बँधा हुआ कर्मभावसे स्वयमेव नहीं परिणमन करता है तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध हो जायगा । ऐसा होनेपर संसारका अभाव हो जायगा । यदि कोई ऐसा तर्क करे कि जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमाता

भावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावं ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावर-

एक० क्रिया । कर्मभावेन–तृतीया एक० । यदि–अव्यय । पुद्गलद्रव्यं–प्रथमा एक० । इदं–प्र० ए० । अपरिणामि–प्र० एक० नपुंसकलिङ्ग । तदा–अव्यय । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । कार्माणवर्गणासु–सप्तमी बहु० । च–अव्यय । अपरिणममानासु–सप्तमी बहु० । कर्मभावेन–तृतीया एक० । संसारस्य–षष्ठी एक० । अभावः–प्र० ए० । प्रसजति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सांख्यसमयः–प्र० ए० । वा–अव्यय । जीवः–प्र० ए० । परिणामयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० णिजंत क्रिया । पुद्गलद्रव्याणि–द्वितीया एक० । कर्मभावेन–तृ० ए० । तानि–द्वि० बहु० । अपरिणममानानि–द्वि० ए० । कथं–अव्यय । तु–अव्यय । परिणामयति–वर्तमान अन्य० एक० । चेतयिता–प्र० ए० । परिणमते–वर्तमान लट्

अपने जिस भावको करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है । **भावार्थ**—सब द्रव्योंका परिणाम स्वभावतः सिद्ध है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य अपने भावका आप ही कर्ता है । अतः पुद्गल भी जिस भावको अपनेमें करता है, उसका वही कर्ता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रयमें यह निर्णय दिया गया था कि जीव और द्रव्यप्रत्यय ये भिन्न भिन्न हैं इनमें एकत्व नहीं । सो इसकी पुष्टि तब ही हो सकती है जब यह सिद्ध हो कि जीव अपनेमें अपने परिणमनेका स्वभाव रखता है और अजीव कर्म पुद्गलद्रव्य अपनेके खुदमें परिणमनेका स्वभाव रखता है । इन दो निर्णयोंमें प्रथम पुद्गलद्रव्यका परिणाम स्वभावत्व इन पाँच गाथाओंमें सिद्ध किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– पुद्गलद्रव्यको जीवमें स्वयं बद्ध व कर्मभावसे स्वयं परिणत न माननेपर पुद्गलद्रव्य अपरिणामि बन बैठेगा । २– यदि पुद्गलद्रव्यकर्मको अपरिणामी माना जायगा तो संसारके अभावका प्रसंग हो जायगा । ३– कर्मरूपसे अपरिणत पुद्गलद्रव्यको जीव परिणमा देगा ऐसा यों नहीं हो सकता कि जो परिणम न सके उसे निमित्तरूपसे भी कोई परिणमा नहीं सकता । ४– यदि स्वयं परिणमते पुद्गलकर्मको जीव परिणमा देगा यह माना जाय तो जब पुद्गल परिणम रहा तो इसमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं, दूसरा निमित्तमात्र ही होता । ५– पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभाव है वह ज्ञानावरणादि कर्मरूप हो जाता है । ६– निमित्तनैमित्तिकभाव व वस्तुस्वातंत्र्य इन दोनोंका एक साथ होनेमें विरोध नहीं है ।

सिद्धान्त—१–पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे अकेला परिणमता है दूसरेको लेकर नहीं । २–जीवपरिणाम व कर्मपरिणामका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृकर्मत्वसंबंध नहीं ।

दृष्टि— १–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

कर्मोंमें स्वयं न बँधा, न वह स्वयं क्रोधरूप परिणमता ।
आत्मा यदि यह मानो, जीव अपरिणामि होवेगा ॥१२१॥
यह जीव स्वयं क्रोधा-दिक भावोंसे न परिणमे तब तो ।
भवका अभाव होगा, सांख्यसमयकी प्रसक्ति भी होगी ॥१२२॥

नामसंज्ञ—ण, सयं, बद्ध, कम्म, ण, सयं, कोहमादि, जइ, एत, तुम्ह, जीव, अप्परिणामि, तदा, अपरिणमंत, सयं, जीव, कोहादिअ, भाव, संसार, अभाव, संखसमअ, वा, पुग्गलकम्म, कोह, जीव, कोहत्त, त, सयं, अपरिणमंत, कहं, णु, कोह, अह, सयं, अप्प, कोहभाव, एत, तुम्ह, बुद्धि, कोह, जीव, कोहत्त, इदि, मिच्छा, कोहुवजुत्त, कोह, माणुवजुत्त, य, माण, एव, अत्त, माउवजुत्त, माया, लोहुवजुत्त, लोह ।

कोई ऐसा तर्क करे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक ही जीवको क्रोधादिक भावसे परिणमाते हैं इस लिये संसारका अभाव नहीं हो सकता । ऐसा कहनेमें दो पक्ष पृष्टव्य हैं कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक अपने आप अपरिणमते जीवको परिणमाते हैं या परिणमतेको परिणमाते हैं ? प्रथम तो जो आप नहीं परिणमता हो, उसमें परके द्वारा कुछ भी परिणमन नहीं कराया जा सकता है क्योंकि आपमें जो शक्ति नहीं, वह परके द्वारा नहीं की जा सकती तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं करती । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमन स्वभाव वाला स्वयमेव है । ऐसा होनेपर जैसे कोई मंत्रसाधक गरुडका ध्यान करता हुआ याने उस गरुडभावरूप परिणत

पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणामयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वं ॥१२१-१२५॥

मूलधातु—बन्ध बन्धने, परि-णम प्रह्वत्वे, क्रुध क्रोधने, भू सत्तायां, सं-सृ गतौ, प्र-षज् सङ्गे, सम्-अय गतौ, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, बुध अवबोधने, उप-युजिर् योगे, मान पूजायां भ्वादि चुरादि, लुभ गार्ध्ये दिवादि, लुभ विमोहने तुदादि । **पदविवरण**—न, स्वयं–अव्यय । बद्धः–प्रथमा एक० । कर्मणि–सप्तमी ए० । परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । क्रोधादिभिः–तृतीया बहु० । यदि–अव्यय । एषः–प्र० ए० । तव–षष्ठी एक० । जीवः, अपरिणामी–प्र० ए० । तदा—अव्यय । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । अपरिणममाने, जीवे–सप्तमी एक० । क्रोधादिभिः–तृतीया बहु० । भावैः–तृ० ब० । संसारस्य–षष्ठी एक० । अभावः–प्र० ए० । प्रसज्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सांख्यसमयः–प्र० ए० । वा–अव्यय । पुद्गलकर्म, क्रोधः–प्र० ए० । जीवं–द्वितीया एक० । परिणामयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन णिजंत क्रिया । क्रोधत्वं–प्र० ए० या क्रियाविशेषण क्रोधत्वं यथा स्यात्तथा । तं–द्वि० ए० । अपरिणममानं–द्वि० एक० । कथं, नु–अव्यय । परिणामयति–वर्त० लट् अन्य० एक० । क्रोधः–प्रथमा एक० । अथ–अव्यय । आत्मा–प्र० ए० । परिणमते–वर्तमान० अन्य० एक० । क्रोधभावेन–तृ० ए० । एषा–प्र० ए० स्त्रीलिङ्ग । ते–षष्ठी एक० । बुद्धिः, क्रोधः–प्र० ए० । परिणामयति–वर्तमान० अन्य० एक० । जीवं–द्वि० एक० कर्मकारक । क्रोधत्वं–द्वि० ए० या क्रियाविशेषण क्रोधत्वं यथा स्यात्तथा । क्रोधोपयुक्तः, क्रोधः, मानोपयुक्तः–प्र० ए० । च–अव्यय । मानः–प्र० ए० । एव–अव्यय । आत्मा, मायोपयुक्तः, माया, लोभोपयुक्तः–प्र० एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य० एक० । लोभः–प्रथमा एकवचन ॥ १२१-१२५ ॥

का प्रसंग आ जावेगा । ३– न परिणमते हुए जीवको क्रोधादि प्रकृतिकर्म परिणमा देगा ऐसा यों नहीं हो सकता कि जो परिणम न सके उसे निमित्तरूपसे भी कोई परिणमा नहीं सकता ४–यदि स्वयं परिणमते जीवको क्रोधादिकर्म परिणमा देगा यह माना जाय तो जब जीव परिणाम रहा तो इसमें दूसरेकी अपेक्षाकी जरूरत नहीं, दूसरा निमित्तमात्र ही होता । ५– जीव परिणामस्वभाव स्वयं है वह अज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोग होता हुआ स्वयं क्रोधादि हो जाता है । ६– निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातंत्र्य दोनोंका एक साथ होनेमें विरोध नहीं है ।

सिद्धांत—१–जीव क्रोधादिपरिणतोपयोग अकेला होता है दूसरेको लेकर नहीं । २–क्रोधादिकर्मप्रकृतिका विपाकोदय होनेपर अशुद्धोपादान जीव स्वयं विकाररूप परिणम जाता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—आत्मा स्वयं परिणामस्वभाव है उसको क्रोधादिकर्म निमित्तमात्र है, किन्तु

तित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥१२६॥

कर्मकारक । आत्मा–प्रथमा एकवचन कर्तृकारक । कर्ता, सः–प्र० ए० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तस्य, कर्मणः, ज्ञानिनः–षष्ठी एकवचन । सः, ज्ञानमयः, अज्ञानमयः–प्र० ए० । अज्ञानिनः–षष्ठी एकवचन ॥ १२६ ॥

का स्पष्टीकरण इस गाथामें किया है ।

तथ्यप्रकाश—१–आत्मा अपने जिस भावको करता है उस कर्मका (जीवपरिणामका) कर्ता होता है । २–ज्ञानीके स्वपरविवेक होनेके कारण दृष्टिमें सर्वपरविविक्त आत्माकी ख्याति होनेसे ज्ञानमय ही भाव होता है । ३–अज्ञानीके सही स्वपरविवेक न होनेके कारण विविक्त आत्माकी ख्याति (प्रतीति) न होनेसे अज्ञानमय ही भाव होता है ।

सिद्धान्त—१–स्वपरविवेकपूर्वक स्वभावदृष्टि होनेसे ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होते हैं । २–स्वपरविवेक न होनेके कारण स्वभावदृष्टि अस्त रहनेसे अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होते हैं ।

दृष्टि—१– अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय (४६ब) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—ज्ञानमयभावको स्वभावभाव व निराकुल जानकर उसकी कारणभूत अविकारज्ञानस्वभावदृष्टि रखनेका पौरुष करना ॥१२६॥

ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है, अब यह कहते हैं—[**अज्ञानिनः**] अज्ञानीका [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय [**भावः**] भाव है [**तेन**] इस कारण [**कर्माणि**] अज्ञानी कर्मोंको [**करोति**] करता है [**तु**] और [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय भाव होता है [**तस्मात्**] इसलिये वह ज्ञानी [**कर्माणि**] कर्मोंको [**न**] नहीं [**करोति**] करता ।

टीकार्थ—अज्ञानीके अच्छी प्रकार स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे विविक्त आत्माकी ख्याति अत्यंत अस्त हो जानेके कारण अज्ञानमय ही भाव होता है । उस अज्ञानमय भावके होनेपर आत्माके और परके एकत्वका अध्यास होनेसे ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट हुआ परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेषके साथ एक होकर अहंकारमें प्रवृत्त हुआ अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैं रागी हूं, द्वेषी हूं' इस प्रकार वह रागी द्वेषी होता है । उस रागादि स्वरूप अज्ञानमय भावसे अज्ञानी हुआ परद्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप अपनेको करता हुआ कर्मोंको करता है । और ज्ञानीके अच्छी तरह अपना परका भेदज्ञान हो गया है इसलिये जिसके भिन्न आत्माकी प्रकटता—'ख्याति' अत्यंत उदित हो गई है, उस भावके कारण ज्ञानमय ही भाव होता है । उस भावके होनेपर अपने व परको भिन्नपनेका ज्ञान भेदज्ञान होनेसे ज्ञानमात्र अपने

सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति तस्माद् ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि। ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः। अज्ञानमयः सर्वः कुतोयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥ ॥ १२७ ॥

तु, कर्मन्। **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुकृञ् करणे। **पदविवरण**—अज्ञानमयः, भावः–प्रथमा एकवचन। अज्ञानिनः–षष्ठी एक०। करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। तेन–तृतीया एक०। कर्माणि–द्वितीया बहु०। ज्ञानमयः–प्र० ए०। ज्ञानिनः–षष्ठी एकवचन। तु, न–अव्यय। करोति–वर्तमान अन्य० एकवचन। तस्मात्–पंचमी एकवचन हेत्वर्थे। तु–अव्यय। कर्माणि–द्वितीया बहुवचन ॥१२७॥

अज्ञानमय भाव होता है। ४– अज्ञानमयभाव होनेपर स्व-परमें एकत्वका अध्यास होता है। ५–स्वपरमें एकत्वका अध्यास होनेसे ज्ञानमात्र स्वसे भ्रष्ट रहता है। ६– ज्ञानमात्र स्वसे भ्रष्ट रहनेसे परद्रव्यस्वरूप रागद्वेषके साथ एकरूप अनुभव होता है। ७– रागद्वेष प्रकृतिमें एकरूप अनुभव होनेसे अहंकार विकल्प बनता है। ८– अहंकार विकल्प बननेसे अज्ञानी अपने आत्माको परद्रव्यस्वरूप रागद्वेषमय करता हुआ कर्मोंको करता है। ९– ज्ञानीके सम्यक् स्व-पर विवेक होता है। १०– स्व-परविवेक होनेसे एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि रहती है। ११– एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि रहनेसे ज्ञानमय भाव होता है। १२– ज्ञानमय भाव होनेपर स्व-परकी भिन्नताका बोध संस्कृत रहता है। १३– स्वपरकी भिन्नताका बोध संस्कृत रहनेसे ज्ञानमात्र स्वमें ठहरना होता है। १४– ज्ञानमात्र स्वमें ठहरना होनेसे परद्रव्यस्वरूप रागद्वेषसे पृथक् रहनेसे स्वरसतः ही उनमें अहंकार नहीं होता है, अहंकार निवृत्त हो जाता है। १६– परद्रव्यस्वरूप राग द्वेषमें अहंकार नष्ट हो जानेसे ज्ञानी मात्र जानता ही है वह रागद्वेषरूप अपनेको नहीं कर सकता। १७– रागद्वेषरूप न होनेसे ज्ञानी कर्मोंको नहीं करता है।

सिद्धान्त—१– अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है। २– अज्ञानमयभावका निमित्त पाकर पुद्गलकार्माणद्रव्यमें कर्मत्वका आस्रव होता है। ३– ज्ञानीके ज्ञानमयभाव होता है। ४– ज्ञानमयभावका निमित्त पाकर कार्माणद्रव्यमें संवरत्व होता है।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४)। ३–शुद्धनिश्चयनय (४६), अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय (४६ब)। ४– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय (२४ब)।

प्रयोग—ज्ञानमय भाव होनेपर बन्धन नहीं होता तथा भव-भवके संचित कर्म भी अपना कर्मत्व तज देते हैं यह जानकर अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासनारूप ज्ञानमय भावना

कश्चनापि भावो भवति स सर्वोपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः । ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवंति हि । सर्वोप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥ ॥ १२८-१२९ ॥

च, एव–अव्यय । जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । भावः–प्र० ए० । यस्मात्, तस्मात्–पंचमी एक० । ज्ञानिनः–षष्ठी ए० । सर्वे–प्र० बहु० । भावाः–प्र० बहु० । खलु–अव्यय । ज्ञानमयाः–प्रथमा बहु० । अज्ञानमयात्, भावात्–पंचमी एक० । अज्ञानः–प्रथमा ए० । जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । भावः–प्र० एक० । यस्मात्, तस्मात्–पंचमी एकवचन । भावाः, अज्ञानमयाः–प्रथमा बहु० । अज्ञानिनः–षष्ठी एकवचन ॥ १२८-१२९ ॥

अज्ञानमयपनेको उल्लंघन नहीं करता हुआ अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानमय हैं । और जिस कारण ज्ञानमयभावसे जो कुछ भाव होता है, वह सभी ज्ञानमयपनेको नहीं उल्लंघन करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानमय हैं । अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**ज्ञानिनो** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानसे रचे हुए होते हैं और अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानसे रचे हुए होते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है और इससे वह कर्मको करता है तथा ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होता है और इससे वह कर्मको नहीं करता । अब इस गाथामें बताया है कि ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव क्यों होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय ही भाव क्यों होता है ?

तथ्यप्रकाश—१– अज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सब अज्ञानमयताका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय ही भाव होता है । २– ज्ञानमयभावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सब ज्ञानमयताका उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमय ही होता है ।

सिद्धान्त—१– अज्ञानमय परभावको आत्मा मानने वाले विकल्पसे अज्ञानमय भाव ही प्रकट होता है । २– ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि वालेके ज्ञानसंस्कृत ही भाव होता ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– शुद्धनिश्चयनय, अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय (४६, ४६ब) ।

प्रयोग—मूलमें अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन होनेसे ज्ञानमय भाव प्रकट होता है सो अपना उपयोग अविकार ज्ञानस्वभावको दृष्टिमें रखनेका पौरुष करना ॥ १२८-१२९ ॥

अब इस उक्त गाथार्थको ही दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—[**यथा**] जैसे [**कनकमयात् भावात्**] सुवर्णमय भावसे [**कुंडलादयः भावाः**] सुवर्णमय कुंडलादिक भाव [**जायंते**] उत्पन्न होते हैं [**तु**] और [**अयोमयात् भावात्**] लोहमय भावसे [**कटकादयः**] लोहमयी कड़े इत्या-

एव भवेयुर्न पुनर्जाम्बूनदकुंडलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्य-

अज्ञानिन्, वहुविध, अपि, ज्ञानिन्, तु, ज्ञानमय, सर्व, भाव, तथा। **मूलधातु**—कुडि रक्षणे चुरादि, कटी गतौ (स्वार्थेकः) जनी प्रादुर्भावे दिवादि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—कनकमयात्, भावात्–पंचमी एक०। जायंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहुवचन क्रिया। कुण्डलादयः, भावाः–प्रथमा बहु०। अयोमयकात्–पंचमी एक०। भावात्–पं० एक०। यथा–अव्यय। जायंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहुवचन क्रिया। कटकादयः–

–भावरूप होनेपर भी 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे अज्ञानीके स्वयमेव अज्ञानमय भावसे अज्ञानकी जातिको नहीं उल्लंघन करने वाले अनेक प्रकारके अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नहीं होते, और ज्ञानीके ज्ञानकी जातिको नहीं उल्लंघन करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते। **भावार्थ**—जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य होता है, इस न्यायसे जैसे लोहसे लोहमय वस्तुयें होती हैं, और सुवर्णसे सुवर्णमय आभूषण होते हैं उसी प्रकार अज्ञानीके अज्ञानसे अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीके ज्ञानसे ज्ञानमय ही भाव होते हैं। अज्ञानमयभाव तो क्रोधादिक हैं और ज्ञानमयभाव क्षमा आदिक हैं। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोहके उदयसे क्रोधादिक भी प्रवर्तते हैं तथापि उस ज्ञानी की उनमें आत्मबुद्धि नहीं है, वह इन्हें परके निमित्तसे हुई उपाधि मानता है, सो उसके वे क्रोधादि कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं, ज्ञानी आगामी ऐसा बंध नहीं करता कि जिससे संसारका भ्रमण बढ़े। और आप उद्यमी होकर उनरूप परिणमन भी नहीं करता है; उदयकी जबरदस्तीसे परिणमता है, इसलिए वहाँ भी ज्ञानमें ही अपना स्वामित्व माननेसे उन क्रोधादिभावोंका भी अन्य ज्ञेयके समान ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें कहा गया था ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होते और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होते हैं। अब इस गाथा युगलमें इसी तथ्यको दृष्टांत द्वारा समर्थित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१–जीव स्वयं परिणामस्वभाव है सो जीवको परिणमता तो रहना है ही। २–कार्य उपादान कारणका अनुविधान किया करते हैं याने जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। ३– अज्ञानीके स्वयं अज्ञानमय भाव हैं सो अज्ञानमय कारणसे अज्ञानमय ही भाव होगा। ४–ज्ञानीके स्वयं ज्ञानमय भाव हैं सो ज्ञानमय कारणसे ज्ञानमय ही भाव होगा।

सिद्धान्त—१– जिस काल सहजज्ञानस्वभावकी दृष्टि, प्रतीति, रुचि है उस काल यह आत्मा ज्ञानमय भाव वाला है। २– जिस काल रागादि प्रकृतिविपाक प्रतिफलनमें आत्मत्वकी

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

अज्ञानका उदय वह, जो जीवोंको न तत्त्व उपलब्धी ।
मिथ्यात्वका उदय जो, जीवोंके अश्रद्धानपना ॥१३२॥
उदय असंयमका वह, जो जीवोंको न पापसे विरती ।
उदय कषायोंका यह, कलुषित उपयोगका होना ॥१३३॥

नामसंज्ञ—अण्णाण, त, उदअ, ज, जीव, अतच्चउवलद्धि, मिच्छत्त, दु, उदअ, जीव, असद्दहाणत्त, उदअ, असंजम, दु, ज, जीव, अविरमण, ज, दु, कलुसोवओग, जीव, त, कसाउदअ, त, जोगउदअ, ज, जीव, तु, चिट्ठउच्छाह, सोहण, असोहण, व, कायव्व, विरदिभाव, वा, एत, हेदुभूद, कम्मइयवग्गणगअ, ज, तु, अट्ठविह, णाणावरणादिभाव, त, खलु, जीवणिबद्ध, कम्मइयवग्गणागअ, जइया, तइया, दु, हेदु, जीव, परिणामभाव । **धातुसंज्ञ**—उद्-अय गतौ, सद् दह धारणे, उव-उज्ज योगे कस-तनूकरणे, उत्-साह साधने, परि-नम नम्रीभावे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—अज्ञान, तत्, उदय, यत्, जीव, अतत्त्वोपलब्धि, मिथ्यात्व, तु, उदय, जीव, अश्रद्धानत्व, उदय, असंयम, तु, यत्, जीव, अविरमण, यत्, तु, कलुषोपयोग,

---

में होते हैं, उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावमात्र बना है ।

टीकार्थ—अयथार्थ वस्तुस्वरूपकी उपलब्धिसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है । और नवीन कर्मोंके हेतुभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगोदय ये अज्ञानमय चार भाव हैं । उनमें से जो तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें आस्वादका आना वह तो मिथ्यात्वका उदय है; जो अत्याग भावसे ज्ञानमें आस्वादरूप आये वह असंयमका उदय है; जो मलिन उपयोगपनेसे ज्ञानमें आस्वादरूप आये, वह कषायका उदय है, और जो शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिरूप

रूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः शुभाशुभ प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥ १३२-१३६ ॥

भवेत्–विधि लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। अविरमणं, यः–प्रथमा एक०। तु–अव्यय। कलुषोपयोगः–प्र० ए०। जीवानां–षष्ठी बहु०। सः, कषायोदयः–प्र० ए०। तं–द्वितीया एकवचन। जानीहि–आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एक०। योगोदयं–द्वितीया एकवचन कर्मकारक। यः–प्रथमा एकवचन। जीवानां–षष्ठी बहु०। तु–अव्यय। चेष्टोत्साहः–प्रथमा एक०। शोभनः, अशोभनः–प्र० ए०। वा–अव्यय। कर्तव्यः–कृदंत प्रथमा एक० क्रिया। विरतिभावः–प्रथमा एक०। वा–अव्यय। एतेषु–सप्तमी बहु०। हेतुभूतेषु–सप्तमी बहु०। कार्मणवर्गणागतं, यत्–प्रथमा एक०। तु–अव्यय। परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। अष्टविधं–क्रियाविशेषणं यथा स्यात्तथा। ज्ञानावरणादिभावैः–तृतीया बहु०। तत्–प्र० ए०। खलु–अव्यय। जीवनिबद्धं, कार्मणवर्गणागतं–प्र० ए०। यदा, तदा, तु–अव्यय। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। हेतुः, जीवः–प्र० ए०। परिणामभावानां–षष्ठी बहुवचन ॥ १३२-१३६ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया गया था कि अज्ञानमयभावसे अज्ञानमयभाव होते हैं। अब इसी तथ्यका विशेषतासे वर्णन इस गाथापञ्चकमें किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१– जीवोंको जो तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो रही है वह अज्ञानके उदयका प्रतिफल है। २– जीवोंको जो यथार्थ श्रद्धान नहीं हो रहा है वह मिथ्यात्वके उदयका प्रतिफल है। ३– जीवोंको जो पापोंसे विरति नहीं हो रही है वह असंयमके उदयका प्रतिफल है। ४– जीवोंको जो चेष्टामें उत्साह हो रहा है वह योगके उदयका प्रतिफल है। ५– इन द्रव्यप्रत्ययोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि आठ प्रकाररूप परिणम जाता है। ६– वह बद्ध कर्म जब जीवनिबद्ध याने उदयमें आकर प्रतिफलित होता है तब यह अज्ञानी जीव अज्ञानमय परिणामोंका हेतु होता है। ७– उदयागत द्रव्यप्रत्यय (कर्म) जीवविभावका तथा नवीन कर्मत्वका दोनोंका निमित्त है। ८– जीवविभाव द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तत्वका निमित्त है।

सिद्धान्त—१– उदित द्रव्यप्रत्ययका निमित्त पाकर नवीन कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्व आता है। २– जीवविभाव परिणामोंका निमित्त पाकर द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त हो जाता है।

दृष्टि—१, २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४)।

"जीव द्रव्य" अपरसंग्रह का भेद किया—जीव दो प्रकारके है मुक्त व संसारी, सो यह अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय हुआ । अब आगे एक-एक विभागका भेद करते जायें तो वे सब अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय होते जायेंगे । इस प्रकार जब तक एक अखण्ड सत् पर नहीं पहुंचते तब तक अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय प्रयोक्तव्य होते जाते हैं । इसका प्रथम प्रकार है—(६) परसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय । द्वितीय प्रकार है—(१०) अपरसग्रह-भेदकव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय । तृतीय प्रकार है—(११) अन्तिम अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय । इनके ३ भेद आशयवश हो जाते है। ४—(१२) परम शुद्ध अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, (१३) शुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, (१४) अशुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय ।

पाठ ६—द्रव्यार्थिक अन्तिम व्यवहारनय

अपरसंग्रहका भेद कर-कर जब हम अखण्ड सत् तक पहुंच जाते हैं फिर इसका भेद नही किया जाता । अखण्ड एक सत् तक पहुंचाने वाले इस व्यवहारनयको अन्तिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । यही निश्चयनय कहलाता है । निश्चयनय एक अखण्ड सत् को अर्थात् एक द्रव्यको जानता है सो अन्तिमव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयने भी अन्तिम अपरसंग्रह को भेद करके एक अखण्ड सत्का बोध कराया । अब इस एक सत्को जानते समय परमशुद्ध, शुद्ध अथवा अशुद्ध जिस विधिका मूड होगा उसी विधिमें इस सत्का ज्ञान होगा । इसको परमशुद्ध द्रव्यार्थिक, शुद्धद्रव्यार्थिक व अशुद्धद्रव्यार्थिक कहिये या परम शुद्धनिश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय कहिये ।

यह अन्तिम व्यवहारनय अर्थनय है व उसमें भी द्रव्यार्थिकनय है । इस कारण यह व्यवहारनय अध्यात्म-शास्त्रोंमें प्रयुक्त होने वाले निश्चय व्यवहार वाले व्यवहारसे भिन्न है । निश्चय व्यवहारमें प्रयुक्त व्यवहार कथन करने वाला है और यह व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय अधिगम करने वाला है और वह भी द्रव्यार्थिक दृष्टि से । इस अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय में परिपूर्ण अखण्ड एक सत् अन्य सबसे विभक्त करके बुद्धिमें स्थापित किया ।

पाठ ७—अन्तिम व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनयके प्रकार

अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयने अन्तिम अपरसग्रहको विभक्त करके अखण्ड एक सत् का बोध कराया । अब इस अखण्ड एक सत् को गुण, स्वभाव, शुद्ध पर्याय, अशुद्धपर्याय, अभेद आदि जिस जिसकी मुख्यता करके जिस-जिस रूपसे जाना जायेगा उतने ही इसके प्रकार बन जावेगे । जैसे (१५) परमशुद्ध अभेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे चिन्मात्र आत्मा । (१६) परमशुद्ध भेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे—ज्ञान दर्शन आदि गुण वाला आत्मा । (१७) शुद्ध अभेद विषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे—जीव केवलज्ञानी है । (१८) शुद्ध भेदविषयी अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय जैसे—मुक्त जीवके अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदि । (१६) अव्यक्त अशुद्ध अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे अबुद्धिगत क्रोध आदि वाला जीव (२०) व्यक्त अशुद्ध अन्तिमलक्षित व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, जैसे बुद्धिगत क्रोध आदि वाला जीव ।

(२१) उपाधिनिरपेक्षशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे-संसारी जीव सिद्धसमान शुद्धात्मा है । (२२) उत्पादव्यय-गौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे—द्रव्य नित्य है । (२३) भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे-निजगुण पर्याय स्वभावसे अभिन्न द्रव्य है । (२४) उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे—कर्मोदय विपाकके सान्निध्यमें जीव विकास विकल्परूप परिणमता है । (२४ A) उपाध्यभावापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे-कर्मोपाधिके अभावका निमित्त पाकर आत्माकी शुद्ध परिणति होनेका ज्ञान (२४B) शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय, जैसे—आत्माके शुद्धपरिणामका निमित्त पाकर कर्मत्वका क्षय होनेका ज्ञान । (२५) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे—द्रव्य उत्पादव्यय-व्ययुक्त है । (२६) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे आत्माके ज्ञान है, दर्शन है, चरित्र है आदि । (१५-२७) अन्वयद्रव्यार्थिकनय, जैसे—गुणपर्यायस्वभावी आत्मा है । (२८) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, जैसे-आत्मा द्रव्यार्थिकनय

तीति वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामा-

---

जीवस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । कर्मणा–तृतीया एक० । च–अव्यय । सह–अव्यय । परिणामाः–प्रथमा बहुवचन । खलु–अव्यय । भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन । रागादयः–प्र० बहु० । एवं–अव्यय । जीवः–प्रथमा एक० । कर्म–प्रथमा एक० । च–अव्यय । द्वे–प्रथमा द्विवचन । अपि–अव्यय । रागादित्वं–द्वितीया एक० । आपन्ने–प्रथमा द्विवचन । एकस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । परिणामः–प्रथमा एक० ।

टीकार्थ—यदि जीवका रागादि अज्ञान परिणाम अपने निमित्तभूत उदयमें आये हुए पुद्गलकर्मके साथ ही होता है, यह तर्क किया जाय तो हल्दी और फिटकरीकी भाँति याने जैसे रंगमें हल्दी और फिटकरी साथ डालनेसे उन दोनोंका एक रंगस्वरूप परिणाम होता है वैसे ही जीव और पुद्गलकर्म दोनोंके ही रागादि अज्ञानपरिणामका प्रसंग आ जायगा (किन्तु ऐसा तथ्य नहीं है) । यदि रागादि अज्ञानपरिणाम एक जीवके ही माना जाय तो इस मन्तव्यसे ही यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि अज्ञान परिणामोंका कारण है, उससे पृथग्भूत ही जीवका परिणाम है । **भावार्थ**—यदि माना जाय कि जीव और कर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो जीव और कर्म इन दोनोंके रागादिककी प्राप्ति आ जायगी, किन्तु ऐसा नहीं है । इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जीवके अज्ञानरूप रागादि परिणामोंको निमित्त है । उस निमित्तसे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथापंचकमें जीवपरिणाम व कर्मपरिणामके निमित्त-नैमित्तिक भावका निर्देश किया है । सो इससे कहीं यह नहीं समझना कि उनमें कर्तृकर्मत्व हो या वे एकरूप हों । इसी तथ्यको इन दो गाथावोंमें दर्शाया गया है कि जीवके परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथग्भूत ही हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवका परिणाम जीवमें अकेलेमें जीवके अकेलेके परिणमनसे ही होता है । (२) यदि जीवके रागादि परिणाम तन्निमित्तभूत उदित कर्मके साथ हों तो जीव और पुद्गल दोनोंमें ही रागादि अज्ञानपरिणाम हो बैठनेका दोष आवेगा । (३) जब जीवमें अकेलेके परिणामसे ही जीवविभाव होता है तब स्पष्ट सिद्ध है कि निमित्तभूत पुद्गलकर्म-विपाकसे भिन्न ही जीवविभाव है ।

सिद्धान्त—१– जीव उपचारसे द्रव्यकर्मका कर्ता है । २– अशुद्धोपादान जीव भाव-कर्मका कर्ता है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– अशुद्धनिश्चय-नय (४७) ।

प्रयोग—अपने विभावपरिणामको कर्मपरिणामसे भिन्न समझकर और कर्मपरिणाम

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः—

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

कर्मपरिणाम पुद्गलका यदि जीवके साथ होवे तो ।
यों कर्म जीव दो के, कर्मत्व प्रसक्त होवेगा ॥१३९॥
इस कर्मभावसे यदि, होता परिणाम एक पुद्गलका ।
तो जीवभावसे यह, कर्मपरिणाम पृथक् हीं है ॥१४०॥

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः । एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन । तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४०॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः ।

नामसंज्ञ—जइ, जीव, सह, च, एव, पुग्गलदव्व, कम्मपरिणाम, एवं, पुग्गलजीव, दु, दु, वि, कम्मत्त, आवण्ण, एक, दु, परिणाम, पुग्गलदव्व, कम्मभाव, त, जीवभावहेदु, विणा, कम्म, परिणाम। **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे, द्दव प्राप्तौ, पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे । **प्रकृतिशब्द**—यदि, जीव, सह, च, एव, पुद्गलद्रव्य, कर्मपरिणाम, एवं, पुद्गलजीव, खलु, द्वि, अपि, कर्मत्व, आपन्न, एक, तु, परिणाम, पुद्गलद्रव्य, कर्मभाव, तत्, जीवभावहेतु, विना, कर्मन्, परिणाम । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, आ-पद गतौ दिवादि । **पदविवरण**—यदि-अव्यय । जीवेन-तृतीया एक० । सह-अव्यय । पुद्गलद्रव्यस्य-षष्ठी एक० । कर्मपरिणामः-प्रथमा एक० । एवं-अव्यय । पुद्गलजीवौ-प्रथमा द्विवचन । खलु-अव्यय । द्वौ-प्रथमा द्विवचन । अपि-अव्यय । कर्मत्वं-द्वितीया एक० । आपन्नौ-प्र० द्वि० ।

मनसे ही होता है । २– यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम तन्निमित्तभूत रागादि अज्ञानपरिणाम परिणत जीवके साथ ही हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोंमें ही कर्मपरिणाम हो बैठनेका दोष आता है । ३–जब पुद्गलद्रव्यमें पुद्गलद्रव्यके परिणमनसे ही कर्मपरिणाम होता है तब स्पष्ट सिद्ध है कि निमित्तभूत जीवपरिणामसे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यपरिणाम है ।

सिद्धान्त—१–पुद्गलकर्म उपचारसे जीवपरिणामका कर्ता है । २–कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य कर्मत्वपरिणामका कर्ता है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

ततः किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

छुआ हुआ आत्मामें, है कर्म यह व्यवहारनय कहता ।
जीवमें शुद्धनयसे, न बँधा न छुआ है कुछ कर्म ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं । शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४१ ॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ॥१४१॥

नामसंज्ञ—जीव, कम्म, बद्ध, पुट्ठ, च, इदि, ववहारणयभणिद, सुद्धणय, दु, जीव, अबद्धपुट्ठ, कम्म । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, हव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—जीव, कर्मन्, बद्ध, स्पृष्ट, च, इति, व्यवहारनयभणित, शुद्धनय, तु, जीव, अबद्धस्पृष्ट, कर्मन् । **मूलधातु**—स्पृश संस्पर्शने तुदादि, वि-अव-हृञ हरणे, भण शब्दार्थः, शुध शौचे दिवादि, बंध बन्धने, भू सत्तायां । **पदविवरण**—जीवे–सप्तमी एक० । कर्म–प्रथमा एक० । बद्धं–प्र० ए० । स्पृष्टं–प्र० ए० । च, इति–अव्यय । व्यवहारनयभणितं–प्रथमा एक० । शुद्धनयस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । जीवे–सप्तमी एकवचन । अबद्धस्पृष्टं–प्र० एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कर्म–प्रथमा एकवचन ॥१४१॥

सिद्धान्त— १– घटनामें जीव कर्मसे बँधा व छुआ हुआ है । २– स्वरूपमें जीव कर्मसे बँधा छुवा हुआ नहीं है ।

दृष्टि— १– संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२५) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—अपनी बद्धस्पृष्ट दशाका परिचय कर दुर्दशाके निमित्तभूत मोहका परिहार कर अबद्धस्पृष्ट अन्तस्तत्त्वको निहारकर बद्धाबद्धविकल्पसे दूर होकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें रत होनेका पौरुष करना ॥ १४१ ॥

अब बताते हैं कि नयविभाग जाननेसे क्या होता है ?—[**जीवे**] जीवमें [**कर्म**] कर्म [**बद्धं**] बँधा हुआ है अथवा [**अबद्धं**] नहीं बँधा हुआ है [**एवं तु**] इस प्रकार तो [**नयपक्षं**] नयपक्ष [**जानीहि**] जानो [**पुनः यः**] और जो [**पक्षातिक्रांतः**] पक्षसे पृथक् हुआ [**भण्यते**] कहा जाता है [**सः समयसारः**] वह समयसार है, निर्विकल्प आत्मतत्त्व है ।

टीकार्थ—जीवमें कर्म बँधा हुआ है ऐसा कहना तथा जीवमें कर्म नहीं बँधा हुआ है ऐसा कहना ये दोनों ही विकल्प नयपक्ष हैं । जो इस नयपक्षके विकल्पको लांघ जाता है

नयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति
एव समयसारं विंदति । यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति । य ए
मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं । विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृ
पिबंति ।।६६।। एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्यु
पक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७०।। एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वावि
पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७१।। एकस्य रक्तो
तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं ख
चिच्चिदेव ।।७२।। एकस्य दुष्टो (द्विष्टो) न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविलि पक्षपातौ । यस्तत्
वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७३।। एकस्य कर्ता न तथा परस्य चि
द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७४

पक्षातिक्रान्त, पुनस् यत्, तत्, समयसार । **मूलधातु**—बन्ध बन्धने क्र्यादि, पक्ष परिग्रहे भ्वादि चुरा

छोड़नेपर ही सहजसिद्ध समयसारका परिचय होता है ।

जिज्ञासा—यदि ऐसा है तो नयपक्षके त्यागकी भावनाको कौन नहीं नचावेगा इसका समाधानरूप काव्य कहते हैं—**य एव** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष नयके पक्षपात छोड़कर अपने स्वरूपमें गुप्त होते हुए निरन्तर निवास करते हैं, वे ही पुरुष विकल्पके जाल च्युत व शांत चित्त होते हुए साक्षात् अमृतको पीते हैं । **भावार्थ**—जब तक कुछ भी पक्षप रहता है, तब तक चित्त क्षुब्ध रहता । जब सब नयोंका पक्षपात दूर हो जाता है, तब स्वरूपका यथार्थ अनुभव होता है ।

अब तत्त्वज्ञानी होकर स्वरूपको पाता है, इस भावको बतानेके लिये कलशरूप बी काव्य कहते हैं—**एकस्य** इत्यादि । **अर्थ**—यह चिन्मात्र जीव कर्मसे बँधा हुआ है यह ए नयका पक्ष है और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि कर्मसे नहीं बँधा । इस तरह दो नयोंके पक्ष हैं । सो दोनों नयोंका जिसके पक्षपात है, वह तत्त्ववेदी नहीं है और जो तत्त्ववेदी है, व पक्षपातसे रहित है, उस पुरुषके उपयोगमें चिन्मात्र आत्मा शाश्वत चिन्मात्र ही है । **भावार्थ** यहाँ शुद्धनयकी मुख्यतासे जीवका परिचय कराया जा रहा है सो जीव पदार्थको शुद्ध, नित्य अभेद, चैतन्यमात्र निरखकर कहते हैं कि जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा, वह भी उ स्वरूपके स्वादको नहीं पायेगा । अशुद्धनयपक्षमें तो प्रकट अशुद्धताका परिचय है, किंतु शुद्धन का भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा, वीतरागता नहीं होगी । इसलिये पक्षपात को छोड़ चिन्मात्रस्वरूपमें लीन होनेपर ही भव्य समयसारको पा सकता है । चैतन्यके परिणा

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥ एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥ एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥ एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥ एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥ एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥ एकस्य चेत्यो न तथा परस्य

सप्तमी एक० । एवं, तु–अव्यय । जानीहि–आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । नयपक्षम्–द्वितीया

में दोनों नयोंके दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है । एक नयके मतमें हेतु है, दूसरे नयके मतमें हेतु नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें दोनों नयोंके दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है । एक नयके मतमें यह जीव कार्य है, दूसरे नयके मतमें कार्य है ऐसा नहीं ये चैतन्यमें० । एक नय के मतमें जीव भावरूप है दूसरे नयके मतमें अभावरूप है ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मत में जीव एक है, दूसरे नयके मतमें अनेक है ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव सांत है, दूसरे नयके मतमें अंतसहित नहीं है ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव नित्य है, दूसरे नयके मतमें अनित्य है ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव वाच्य है, दूसरे नयके मतमें वचनगोचर नहीं है ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव नानारूप है, दूसरे नयके मतमें नानारूप नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें चेत्य अर्थात् जानने योग्य है, दूसरे नयके मतमें चेतने योग्य नहीं है, ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव दृश्य है दूसरे नयके मतमें देखनेमें नहीं आता, ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव वेद्य (वेदने योग्य) है दूसरे नयके मतमें वेदनेमें नहीं आता, ऐसे ये चैतन्यमें० । एक नयके मतमें जीव वर्तमान प्रत्यक्ष है, दूसरे नयके मतमें नहीं, ये दोनों नयोंके चैतन्यमें दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है ।

अब उक्त कथनोंका उपसंहारात्मक काव्य कहते हैं—**स्वेच्छा** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी इस प्रकार पूर्व कही हुई रीतिसे जिसमें बहुत विकल्पोंके जाल अपने आप उठते हैं ऐसी बड़ी नयपक्षकक्षाको लांघकर अन्दर व बाहर जिसमें समतारस ही एक रस है, ऐसे स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र आत्माके भावरूप अपने स्वरूपको प्राप्त होता है ।

भावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं ॥९०॥ इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः । यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥ ॥ १४२ ॥

वचन क्रिया । यः, सः–प्रथमा एक० । समयसारः–प्रथमा एकवचन ॥ १४२ ॥

प्रयोग—नयोंसे आत्मपरिचय करके नयपक्षातिक्रान्त होकर अभेद अन्तस्तत्त्वके अभिमुख होनेका सहज अन्तः पौरुष होना ॥ १४२ ॥

अब पूछते हैं कि पक्षातिक्रान्त ज्ञानीका क्या स्वरूप है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—[**नयपक्षपरिहीनः**] नयपक्षसे रहित [**समयप्रतिबद्धः**] अपने शुद्धात्मासे प्रतिबद्ध ज्ञानी पुरुष [**द्वयोरपि**] दोनों ही [**नययोः**] नयोंके [**भणितं**] कथनको [**केवलं**] केवल [**जानाति तु**] जानता ही है [**तु**] परन्तु [**नयपक्षं**] नयपक्षको [**किंचिदपि**] किञ्चिन्मात्र भी [**न गृह्णाति**] नहीं ग्रहण करता ।

तात्पर्य—व्यवहारनयसे गुजरकर निश्चयनयसे जानकर, शुद्धनय द्वारा सर्वनयपक्षसे अतीत होकर भव्यात्मा सहज अन्तस्तत्त्वका अनुभव करता है ।

टीकार्थ—जैसे केवली भगवान विश्वसाक्षी होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनयके पक्षरूप दो नयके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि केवली भगवान निरंतर समुल्लसित स्वाभाविक निर्मल केवलज्ञानस्वभाव हैं, इसलिये नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप हैं, और इसी कारण श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अतिक्रान्त होनेके कारण समस्त नयपक्षोंके परिग्रहसे दूरवर्ती हैं । उसी प्रकार जो श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयरूप दोनों नयोंके स्वरूपको क्षयोपशमविजृम्भित श्रुतज्ञानस्वरूप विकल्पोंकी उत्पत्ति होनेपर भी ज्ञेयोंके ग्रहण करनेमें उत्सुकताकी निवृत्ति होनेसे केवल जानता है, परन्तु तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल नित्य उदित चैतन्यस्वरूप अपने शुद्धात्मासे प्रतिबद्धताके कारण उस स्वरूपके अनुभवनेके समय स्वयमेव केवलीकी तरह विज्ञानघनरूप होनेसे श्रुतज्ञानस्वरूप समस्त अंतरंग और बाह्य अक्षरस्वरूप विकल्पकी भूमिकासे अतिक्रांत होनेसे समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूरीभूत होनेके कारण किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता है । वह मतिश्रुतज्ञानी भी निश्चयसे समस्त विकल्पोंसे दूरवर्ती परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है ।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान् सदा नयपक्षोंके साक्षीमात्र हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नयपक्षोंसे अतिक्रान्त होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करता है, तब नयपक्षका साक्षी मात्र ही है । यदि एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो मिथ्यात्वसे मिला हुआ पक्षका राग हुआ तथा प्रयोजनके वशसे एक नयको प्रधान कर ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके बिना

म्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपभेदं केवलं जानाति न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः। चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकं। बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥९२॥ ॥ १४३ ॥

द्वयोः–षष्ठी द्विवचन। अपि–अव्यय। नययोः–षष्ठी द्विवचन। भणितं–द्वितीया एक०। जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। केवलं–अव्ययभावे। समयप्रतिबद्धः–प्रथमा एकवचन। न–अव्यय। तु–अव्यय। नयपक्षं–द्वितीया एक०। गृह्णाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। किंचित्–अव्यय। अन्तः–प्रथमा एकवचन। अपि–अव्यय। नयपक्षपरिहीनः–प्रथमा एकवचन ॥१४३॥

ही जानते, किन्तु नयपक्षका परिग्रहण नहीं करते। (४) श्रुतज्ञानी अन्तःप्रकाशमान चिन्मय समयसारमें प्रतिबद्ध होनेसे उसके उपयोगके समय स्वयं ज्ञानघनभूत हैं, अतः समस्त विकल्पभूमिकासे अतिक्रांत होनेके कारण समस्त नयपक्ष परिग्रहसे दूर हैं। (५) पक्षातिक्रान्त दशामें अनुभूतिमात्र आत्मख्यातिरूप ज्ञानात्मक ज्योति समयसार है।

सिद्धान्त—(१) अन्तस्तत्त्वाभिमुख आत्मा नयपक्षको ग्रहण नहीं करता। (२) केवलज्ञानी प्रभु विश्वके साक्षीमात्र हैं।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)। २– शुद्धनिश्चयनय (४६)।

प्रयोग—विकल्पबुद्धिको दूर कर निर्विकल्प चित्स्वभावमय समयसारकी दृष्टिमें बने रहनेका पौरुष करना ॥ १४३ ॥

पक्षसे दूरवर्ती ही समयसार है अब यह सिद्ध करते हैं—[**यः**] जो [**सर्वनयपक्षरहितः**] सब नयपक्षोंसे रहित है [**सः**] वही [**समयसारः**] समयसार [**भणितः**] कहा गया है। [**एषः**] यह समयसार ही [**केवलं**] केवल [**सम्यग्दर्शनज्ञानं**] [**इति**] ऐसे [**व्यपदेशं**] नामको [**लभते**] पाता है।

टीकार्थ—जो निश्चयसे समस्त नयपक्षसे खण्डित न होनेसे जिसमें समस्त विकल्पोंके व्यापार विलय हो गए हैं, ऐसा समयसार शुद्ध स्वरूप है सो यही एक केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ऐसे नामको पाता है। ये परमार्थसे एक ही हैं, क्योंकि आत्मा, प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय कर, पीछे निश्चयसे आत्माकी प्रकट प्रसिद्धि होनेके लिए परपदार्थकी ख्याति होनेके कारणभूत इन्द्रिय और मनके द्वारा हुई प्रवृत्तिरूप बुद्धिको गौण कर जिसने मतिज्ञानका स्वरूप आत्माके सन्मुख किया है ऐसा होता हुआ

बुद्धीरप्यवधीर्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव। आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं। विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्, ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययं ॥९३॥ दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो, दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्। विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,

---

सार। धातुसंज्ञ—लभ प्राप्तौ, भण कथने। प्रकृतिशब्द—सम्यग्दर्शनज्ञान, एतत्, इति, केवलं, व्यपदेश, सर्वनयपक्षरहित, भणित, यत्, तत्, समयसार। मूलधातु—सम्-अंचु विशेषणे चुरादि, दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा

अब ज्ञानसे च्युत हुआ यह आत्मा ज्ञानमें ही आ मिलता है—दूरं इत्यादि। अर्थ—अपने विज्ञानघन स्वभावसे च्युत यह आत्मा बहुत विकल्पोंके जालके गहन वनमें अत्यंत भ्रमण करता हुआ अब दूरसे ही मुड़कर विवेकरूप निम्न मार्गमें गमनकर जलकी भाँति अपने आप अपने विज्ञानघनस्वभावमें आ मिला। कैसा है वह आत्मा ? जो विज्ञानरसके ही रसीले हैं उनको एक विज्ञानरसस्वरूप ही है। ऐसा आत्मा अपने आत्मस्वभावको अपनेमें ही समेटता हुआ गतानुगतताको पाता है याने जैसे बाह्य गया था वैसे ही अपने स्वभावमें आ जाता है।

भावार्थ—जैसे समुद्रादि जलके निवासमें से जल सूर्यताप आदिके कारण च्युत होकर उड़ा उड़ा फिरा, फिर वह ढीला होकर गिरा तो वह वनमें अनेक जगह भ्रमता है, फिर कोई नीचे मार्गसे बह-बहकर जैसाका तैसा अपने जलके निवासमें आ मिलता है। उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान मोहादि अनेक संतापोंसे अपने स्वभावसे च्युत हुआ भ्रमण करता कोई सुयोग पाकर भेदज्ञान (विवेक) रूप नीचे मार्गसे अपने आप अपनेको लाता हुआ अपने स्वभाव रूप विज्ञानघनमें आ मिलता है।

अब कर्ता-कर्मके संक्षेप अर्थके कलशरूप श्लोक कहते हैं—विकल्पकः इत्यादि। अर्थ—विकल्प करने वाला ही केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है, विकल्पसहितका कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। भावार्थ—जब तक विकल्पभाव है, तब तक कर्ताकर्मभाव है। जिस समय विकल्पका अभाव होता है उस समय कर्ता-कर्मभावका भी अभाव हो जाता है।

यः करोति इत्यादि। अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है, वह कुछ जानता ही नहीं है और जो जानता है, वह कुछ भी नहीं करता है।

ज्ञप्तिः इत्यादि। अर्थ—जाननेरूप क्रिया करनेरूप क्रियाके अन्दर नहीं प्रतिभासित

ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ।।९७।। कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि, द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः । ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-र्नेपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ।।९८।। अथवा नानट्यतां तथापि ।

सम्यग्दर्शनज्ञानं–प्रथमा व द्वितीया एकवचन । एतत्–द्वितीया एक० । लभते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०

का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है—**कर्ता कर्ता** इत्यादि । **अर्थ**—अन्तरंगमें अतिशयसे अपनी चैतन्यशक्तिके समूहके भारसे अत्यंत गम्भीर यह ज्ञानज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्व ऐसा निश्चल व्यक्तरूप (प्रकट) हुआ कि पहले जैसे अज्ञानमें आत्मा कर्ता था उस प्रकार अब कर्ता नहीं होता और इसके अज्ञानसे जो पुद्गल कर्मरूप होता था, वह भी अब कर्मरूप नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो ज्ञानरूप ही हुआ और पुद्गल पुद्गलरूप रहा, ऐसे प्रकट हुआ । **भावार्थ**—जब आत्मा निज सहज अविकार ज्योतिका ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं बनता और फिर पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है, कर्मरूप नहीं परिणमन करता । इस प्रकार आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेसे दोनों द्रव्योंके परिणामोंमें निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं होता, इस प्रकार जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्मके वेषसे पृथक् होकर निकल गये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें पक्षातिक्रान्तका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें निश्चित किया गया कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान यह केवल एक आत्मा ही है । (२) सर्वनयपक्षोंसे अखण्डित, विकल्पव्यापारशून्य सहजात्मस्वरूप समयसार है । (३) मुमुक्षु, सर्वप्रथम श्रुतज्ञानबलसे अपनेको ज्ञानस्वभावमय निश्चित करता है । (४) उससे फिर मुमुक्षु आत्मख्यातिके लिये इन्द्रियज व अनिन्द्रियज ज्ञानोंको परख्यातिका हेतुभूत निश्चित करता है । (५) जिससे कि पश्चात् मुमुक्षु मतिज्ञानतत्त्वको अपने सहजात्मस्वरूपके अभिमुख करता है । (६) तथैव मुमुक्षु ज्ञानगत बुद्धियोंको अनेकपक्षोंके आलम्बनसे अनेक विकल्पों द्वारा आकुलित करने वाली अवधारित करता है । (७) जिससे कि वह श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्माभिमुख करता है । (८) मोक्षाभिलाषी आत्मा मति श्रुतज्ञानको आत्माभिमुख करता हुआ अत्यन्त अविकल्प होकर ज्ञानघन समयसारको अनुभवता है । (९) सूर्य ताप द्वारा समुद्रजल उड़कर बादल बनकर भटक-भटककर स्वनम्रतासे नीचे गिरकर निमग्नापथसे बहकर समुद्रमें मिलकर स्वरूपस्थ हो जाता है । (१०) मोहताप द्वारा ज्ञानसमुद्रगत उपयोगजल उड़कर अज्ञ बनकर भटक-भटककर विनयभावसे अन्तः आकर विवेकपथसे अनुभवमें आकर ज्ञानपुंजमें मिलकर स्वरूपस्थ हो जाता है । (११) विकल्पक प्राणी कर्ता कहलाता है । (१२) करणक्रियामें

अथ पुण्यपापाधिकारः

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

नामसंज्ञ—कम्म, असुह, कुसील, सुहकम्म, च, अवि, सुसील, कह, त, सुसील, ज, संसार । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, हो सत्तायां, प-विस प्रवेशने । **प्रकृतिशब्द**—कर्मन्, अशुभ, कुशील, शुभकर्मन्, च,

---

अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्यपापरूपसे प्रवेश करता है—**तदथ** इत्यादि । **अर्थ**—कर्तृकर्माधिकारमें तथ्यबोधके बाद शुभ अशुभके भेदसे द्विरूपताको प्राप्त हुए कर्मके एकत्वको प्राप्त करता हुआ यह अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूप चंद्रमा स्वयं उदयको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—कर्म एक होकर भी अज्ञानसे दो प्रकारमें दीखता था, उसे ज्ञानने एकरूपमें ही दिखला दिया सो इस ज्ञानने जो मोहरूपी रज लगी हुई थी, उसे दूर कर दी, तब ही यथार्थ ज्ञान हुआ । जैसे कि चन्द्रमाके सामने बादल अथवा पालेका समूह आदि आ जाय तब यथार्थ प्रकाश नहीं होता, आवरण दूर होनेपर यथार्थ प्रकाश होता है ।

आगे पुण्यपापके स्वरूपका दृष्टांतरूप काव्य कहते हैं—**एको दूरात्** इत्यादि । **अर्थ**—एक तो मैं ब्राह्मण हूं, इस अभिमानसे मद्यको दूरसे ही छोड़ देता है तथा दूसरा पुत्र 'मैं शूद्र हूं' ऐसा मानकर उस मदिरासे नित्य स्नान करता है, उसे शुद्ध मानता है । विचारा जाय तब दोनों ही शूद्रीके पुत्र हैं, क्योंकि दोनों ही शूद्रीके उदरसे जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् शूद्र हैं । वे जातिभेदके भ्रमसे ऐसा आचरण करते हैं । **भावार्थ**—किसी शूद्रीके दो पुत्र हुए, उसने दोनोंको नदीके घाटपर पेड़के नीचे छोड़ दिये उनमें एकको ब्राह्मण उठा लाया, एकको शूद्र उठा लाया । अब जो ब्राह्मणके यहाँ पला वह ब्राह्मणपनेके गर्वसे ब्राह्मण जैसा आचरण करता है और जो शूद्रके यहाँ पला वह शूद्र जैसा आचरण करता है वास्तवमें हैं दोनों शूद्र । ऐसे ही कर्म तो पुण्य-पाप दोनों हैं, पर उनमें शुभ अशुभका भेद डाल दिया गया है ।

अब शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन करते हैं—**[अशुभं कर्म]** अशुभ कर्मको **[कुशीलं]** पापस्वभाव **[अपि च]** और **[शुभकर्म]** शुभकर्मको **[सुशीलं]** पुण्यस्वभाव **[जानीथ]**

वह अर्थ हो तब उस शब्दसे उसे कहना (समझना) एवंभूतनय है जैसे-पूजा करते समय ही उस व्यक्तिको पुजारी कहना आदि।

ये तीनों शब्दनय शब्दों द्वारा तर्क वितर्क कर पाण्डित्य दिखाते हैं। अतः इनका विषय समझ लेना पर्याप्त है। कहीं कहीं इनका उपयोग भी होता है वह किसी समस्याका समाधान भी करता है। हां अर्थनयोंका परिचय अधिक आवश्यक है और उन अर्थनयोंमेंसे भी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयका परिचय और भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि सर्वनयोंमें से आत्माका परिचय पाकर सविधि परमशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषयको लक्ष्यमें लेकर नय प्रमाणसे अतिक्रान्त होकर आत्मानुभव होना सुगम होता है।

पाठ १०—निश्चयनय व व्यवहारनयके प्रसंगकी जिज्ञासा

अध्यात्मशास्त्रमें निश्चयनय, व्यवहार व उपचारका पद पदपर वर्णन मिलता है। सो यहाँ यह जिज्ञासा होना सम्भव है कि तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता पूज्यश्रीमदुमास्वामीने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये सात नय कहे हैं। इनमें निश्चयनयका नाम ही नहीं हैं, आध्यात्मशास्त्रमें प्रयुक्त व्यवहार सप्तनयमें प्रयुक्त व्यवहारनयसे भिन्न है, उपचारका भी सप्तनयमें संकेत नहीं है, फिर अध्यात्मशास्त्र में प्रयुक्त निश्चय व्यवहार उपचारका मतलब क्या है? इसके समाधानका संकेत कुछ छटे पाठमें किया गया है फिर भी और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

यदि कोई यह समाधान करनेकी चेष्टा करे कि नय दो प्रकारके होते हैं एक आगमनय दूसरा अध्यात्मनय, तो यहाँ यह शंका हो जाती है कि क्या अध्यात्म आगमसे अलग विषय है। द्वादशाङ्गको आगम कहते हैं, क्या इस आगमसे बाहरी विषय है अध्यात्म। यदि आगमसे पृथक् है अध्यात्म, तो वह प्रमाणभूत कैसे रहेगा। अतः नयोंके विषयमें परस्पर भिन्न आगमनय व अध्यात्मनय ये दो प्रकार कहना आगमसम्मत नहीं। सो इस प्रकार निश्चय, व्यवहार व उपचारके प्रसंगकी जिज्ञासाका समाधान नहीं हो पाता। भले ही कहीं-कही यह उल्लिखित है कि ये अध्यात्मभाषासे नय हैं, किन्तु उसका अर्थ यह है कि हैं तो सभी नय आगममें, किन्तु उन सब नयों से इन कुछ नयोंका अध्यात्मग्रन्थोंमें अधिक प्रयोग होता है। उसी कारण इन्हें अध्यात्मनय कहने लगे हैं, सो यह जिज्ञास खड़ी ही रही कि अध्यात्मशास्त्रोंमें निश्चय व्यवहार आदि का कहाँ समावेश है।

पाठ ११—निश्चयनय व व्यवहारनयके प्रसंगकी जिज्ञासाका समाधान

अध्यात्मशास्त्रमें नयादिक ४ प्रकारोंमें है-१—निश्चयनय, २—व्यवहारनय, ३—व्यवहार व ४—उपचार। अभेदविधिसे जाननेवाले नयको निश्चयनय कहते हैं। भेदविधिसे जाननेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। निश्चयनय व व्यवहारनय से जाने गये विषयके कथनको व्यवहार कहते हैं। भिन्न भिन्न द्रव्योंका परस्पर एकका दूसरेको कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्धी व आधार आदि बतानेको उपचार कहते हैं। निश्चयनय तो ७ वें पाठमें बताये गये जो १६ प्रकारके अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय हैं उनमें जो जो अभेदविषयक नय हैं उनमें समाविष्ट हैं। और, व्यवहारनय भी उन १६ अन्तिम-व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयोंमें से जो जो भेदविषयक नय हैं उनमें समाविष्ट हैं। इनके अतिरिक्त ८ वें पाठ में उल्लिखित पर्यायार्थिक नयोंमें जो एक व अभेद विषयक नय हैं उनमें कुछ निश्चयनय समाविष्ट हैं और जो अनेक व भेदविषयक नय हैं उनमें व्यवहारनय समाविष्ट हैं। क्योंकि अभेद विधिसे ज्ञाता नयको निश्चयनय कहते हैं और भेदविधिसे ज्ञाता नयको व्यवहारनय कहते हैं। सो जैसे द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नये प्रमाण के अंश होनेसे सत्य हैं ऐसे ही निश्चयनय व व्यवहारनय प्रमाण के अंश होनेसे सत्य हैं। द्रव्यार्थिकनय वस्तुको द्रव्यकी प्रधानता से जानता है, पर्यायार्थिकनय वस्तु को पर्यायकी प्रधानतासे जानता है, निश्चयनय वस्तुको अभेदविधिसे जानता है, व्यवहारनय वस्तुकोद भेविधिसे जानता है। यहाँ यह जानना कि भेदविधिसे द्रव्य व पर्यायका ज्ञान कराने वाला यह व्यवहारनय व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनयोंमें यथोचित समाविष्ट होनेपर भी

शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ

कुशीलं–द्वितीया एकवचन। शुभकर्म–द्वि० एक०। च–अव्यय। अपि–अव्यय। जानीथ–वर्तमान लट् मध्यम

अभेदसे कर्म एक ही है।

भावार्थ—कर्ममें शुभ-अशुभके भेदका समर्थन पूर्वस्थलमें शङ्काकारने चार युक्तियां (१) कारणभेद, (२) स्वभावभेद, (३) अनुभवभेद, (४) आश्रयभेद देकर कहा था उसमें कारणभेद तो बताया था कि शुभबंध शुभपरिणामसे होता व अशुभबन्ध अशुभपरिणामसे होता है। जैसे जीवका शुभपरिणाम है अरहंतादिमें भक्तिका अनुराग, जीवोंमें अनुकंपा परिणाम और मंदकषायसे चित्तकी उज्ज्वलता इत्यादि, तथा अशुभका हेतु जीवके अशुभ परिणाम हैं—तीव्र क्रोधादिक, अशुभलेश्या, निर्दयता, विषयासक्तता, देव गुरु आदि पूज्य पुरुषोंमें अविनयरूप प्रवृत्ति इत्यादिक, सो इन हेतुओंके भेदसे कर्म शुभाशुभरूप दो प्रकारके कहे थे। और शुभ अशुभ पुद्गलके परिणामके भेदसे स्वभावका भेद कहा था, शुभद्रव्यकर्म तो सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र हैं तथा अशुभ चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम, अशुभगोत्र ये हैं, इनके उदयसे प्राणीको इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है, ये पुद्गलके स्वभाव हैं, यों इनके भेदसे कर्ममें स्वभावका भेद बताया था। तथा शुभ अशुभ अनुभवके भेदसे भेद बताया था—शुभका अनुभव तो सुखरूप स्वाद है और अशुभका दुःखरूप स्वाद है। तथा शुभाशुभ आश्रयके भेदसे भेद बताया था कि शुभका तो आश्रय मोक्षमार्ग है और अशुभका आश्रय बंधमार्ग है। अब इस गाथामें उन भेदोंका निषेधपक्ष कह रहे हैं—शुभ और अशुभ दोनों जीवके परिणाम अज्ञानमय हैं इसलिये दोनोंका एक अज्ञान ही कारण है, इस कारण हेतुके भेदसे कर्ममें भेद नहीं है। शुभ-अशुभ ये दोनों पुद्गलके परिणाम हैं इसलिये पुद्गलपरिणामरूप स्वभाव भी दोनोंका एक ही है, इस कारण स्वभावके अभेदसे भी कर्म एक ही है। शुभाशुभ फल सुखदुःखस्वरूप स्वाद भी पुद्गलमय ही है इसलिये स्वादके अभेद से भी कर्म एक ही है। शंकाकारने शुभ-अशुभ मोक्ष-बंधमार्ग कहे थे, किंतु वहां मोक्षमार्ग तो केवल जीवका ही परिणाम है और बंधमार्ग केवल एक पुद्गलका ही परिणाम है, आश्रय भिन्न-भिन्न हैं इसलिये बंधमार्गके आश्रयसे भी शुभ व अशुभ कर्म एक ही है। इस प्रकार यहाँ कर्मके शुभाशुभ भेदके पक्षको गौणकर निषेध किया, क्योंकि यहां अभेदपक्ष प्रधान है, अतः अभेदपक्षसे देखा जाय तो कर्म एक ही है, शुभ अशुभ ऐसे भिन्न दो नहीं हैं॥१४५॥

अथोभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति--

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

जैसे सुवर्ण अथवा, लोहसंकल है जीवको बांधे।
त्यौं कृत कर्म अशुभ या, शुभ हो सब जीवको बांधे ॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं। बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म।

प्राकृत शब्द--सौवण्णिय, वि, णियल, कालायस, वि, जह, पुरिस, एवं, जीव, सुह, असुह, वा, कद, कम्म। **प्राकृत धातु**--वन्ध बन्धने, जीव प्राणधारणे, सोभ दीप्तौ, कर करणे। **प्रकृतिशब्द**--सौवर्णिक, अपि, निगल, कालायस, अपि, यथा, पुरुष, एवं, जीव, शुभ, अशुभ, वा, कृत, कर्म। **मूलधातु**--वर्ण क्रियाविस्तारगुणवचनेषु चुरादि, नि-गल अदने भ्वादि, बन्ध बन्धने क्र्यादि, पुर अग्रगमने तुदादि,

कारणसमयसारके अभिमुख रहनेका पौरुष करना ॥ १४५ ॥

अब आगे शुभ अशुभ दोनों कर्मोंको ही अविशेषतासे बंधके कारण साधते हैं--[**यथा**] जैसे [**कालायसं निगलं**] लोहेकी बेड़ी [**पुरुषं बध्नाति**] पुरुषको बांधती है [**अपि**] और [**सौवर्णिकं**] सुवर्णकी बेड़ी [**अपि**] भी पुरुषको बांधती है [**एवं**] इसी प्रकार [**शुभं वा अशुभं**] शुभ तथा अशुभ [**कृतं कर्म**] किया हुआ कर्म [**जीवं**] जीवको [**बध्नाति**] बांधता ही है।

तात्पर्य--पुण्य व पाप दोनों ही कर्म जीवके लिये बन्धन ही हैं।

टीकार्थ--शुभ और अशुभ कर्म अविशेषरूपसे ही आत्माको बांधते हैं, क्योंकि दोनोंमें ही बंधरूपपनेकी अविशेषता है जैसे कि सुवर्णकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ीमें बंधकी अपेक्षा भेद नहीं है। **भावार्थ**--जैसे किसी कैदीको लोहेकी बेड़ीसे बांधा हो, किसीको सोनेकी बेड़ीसे बांधा हो बन्धनके क्लेशमें दोनों हैं, ऐसे ही किसीके चाहे पुण्यबन्ध हो, चाहे पापबन्ध हो सांसारिक क्लेशके बन्धनमें दोनों हैं, अतः पुण्य-पाप दोनों बन्धन हैं।

प्रसंगविवरण--अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि लोक कहते हैं कि अशुभकर्म तो कुशील है और शुभकर्म सुशील है, किन्तु वह कर्म सुशील कैसा कि जो संसारमें प्रवेश करावे याने शुभ अशुभ दोनों ही कर्म कुशील हैं। उसी कुशीलताको बतानेके लिये इस गाथामें बताया है कि शुभ अशुभ दोनों ही कर्म अविशेषतासे बन्धनके ही कारण हैं।

तथ्यप्रकाश--१- चाहे किसीके पैरमें सोनेकी बेड़ी पड़ी हो, बन्धन दोनोंका एक समान है। २- चाहे किसीके कृतकर्म शुभ हों, चाहे किसीके कृतकर्म अशुभ हों दोनों ही कर्म जीवके लिये बन्धन ही हैं। ३- जो पुरुष भोगाकांक्षासे रूप सौभाग्य इन्द्रादि पदके लाभकी

अशोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

इससे मत राग करो, नहिं संसर्ग दोनों कुशीलोंसे ।
स्वाधीन घात निश्चित, कुशीलसंसर्ग अनुरतिसे ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं । स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥ १४७ ॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरम-करेणु कुट्टिनीरागसंसर्गवत् ॥१४७॥

प्राकृतशब्द—त, दु, कुसील, राय, मा, संसग्ग, साधीण, हि, विणास, कुसीलसंसग्गराय । **प्राकृत-धातु**—रज्ज रागे, नस्स नाशे । **प्रकृतिशब्द**—तत्, तु, कुशील, राग, मा, संसर्ग, मा, वा, संसर्ग, स्वाधीन, हि, विनाश, कुशीलसंसर्गराग । **मूलधातु**—शील समाधौ, रन्ज रागे भ्वादि दिवादि, सृज् विसर्गे दिवादि तुदादि । **पदविवरण**—तस्मात्–पंचमी एकवचन । तु–अव्यय । कुशीलाभ्यां, रागं–द्वितीया एकवचन । मा–अव्यय । कुरुत–आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन । वा–अव्यय । संसर्ग–द्वि० ए० । स्वाधीनः–प्रथमा एक० । विनाशः–प्र० ए० । कुशीलसंसर्गरागेण–तृतीया एकवचन ॥ १४७ ॥

सिद्धान्त—(१) भावकर्ममें राग करनेसे याने दर्शनमोहसे जीव बेसुध होता है । (२) भावकर्ममें संसर्ग करना चारित्रमोह है, इससे आत्मा क्षुब्ध होता है ।

दृष्टि— १– कारककारकि अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) । २– कारककारकि अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) ।

प्रयोग—पुण्य-पाप दोनोंको विकार जानकर इनमें न तो हितबुद्धि रखना और न इनमें लगाव बनाना, इनसे उपेक्षा ही करना ॥१४७॥

अब दोनों कर्मोंके निषेधको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—[**यथा नाम**] जैसे [**कोपि**] कोई [**पुरुषः**] पुरुष [**कुत्सितशीलं**] खोटे स्वभाव वाले [**जनं**] किसी पुरुषको [**विज्ञाय**] जानकर [**तेन समकं**] उसके साथ [**संसर्गं**] संगति [**च रागकरणं**] और राग करना [**वर्जयति**] छोड़ देता है [**एवं एव च**] इसी तरह [**स्वभावरताः**] स्वभावमें प्रीति रखने वाले ज्ञानी जीव [**कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं**] कर्मप्रकृतियोंके शील स्वभावको [**कुत्सितं ज्ञात्वा**] निन्दनीय जानकर [**वर्जयंति**] उससे राग छोड़ देते हैं [**च**] और [**तत्संसर्गं**] उसकी संगति भी]**परि-हरंति**] छोड़ देते हैं ।

तात्पर्य—बुद्धिमान पुरुष विनाशकारी पदार्थसे प्रीति और सम्बन्ध छोड देते हैं ।

टीकार्थ—जैसे कोई चतुर वनका हाथी अपने बन्धनके लिये समीप आने वाली, चंचल

किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पंतीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ।।१४८–१४९।।

प्र० ए० । कुत्सितशीलं, जनं–द्वि० ए० । विज्ञाय–असमाप्तिकी क्रिया । वर्जयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । तेन–तृतीया एक० । समकं–अव्यय । संसर्ग, रागकरणं, कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं, कुत्सितं–द्वितीया एकवचन । ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया । वर्जयंति, परिहरंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । तत्संसर्ग–द्वि० ए० । स्वभावरतः–प्रथमा बहुवचन ।। १४८-१४९ ।।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया था कि पुण्य-पाप दोनोंका राग संसर्ग निषिद्ध है । अब इसी तथ्यका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन इस गाथायुगलमें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–सुशील पुरुष विज्ञात कुशीलके साथ राग व संसर्ग नहीं करता चाहे वह कितना ही मनोरम हो । २– आत्मस्वभावरुचिक पुरुष कुशील शुभ अशुभ कर्मके साथ राग व संसर्ग नहीं करता, चाहे वह कर्म कितना ही सुहावना हो । ३– शुभ अशुभ सभी कर्मों का सान्निध्य बन्धके लिये ही होता है ।

सिद्धान्त—१– राग व संसर्गका निमित्त पाकर पर वस्तु बन्धनरूप हो जाती है । २–शुभ अशुभ सभी कर्म कर्मत्व परिणामसे कल्माषित हैं ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—सभी कर्म व कर्मफलोंको स्वभावविरुद्ध जानकर उनसे उपेक्षा करके निष्कर्म सहज ज्ञायकभावमय अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि बनाये रहनेका पौरुष करना ।।१४८–१४९।।

अब कहते हैं कि सभी कर्मका निषेध किया है तो मुनि किसके आश्रय मुनिपद पाल सकेंगे ? उसके निर्वाहका काव्य कहते हैं—**निषिद्धे** इत्यादि । **अर्थ**—शुभ तथा अशुभ आचरणरूप सभी कर्म निषिद्ध होनेपर क्रियाकर्मरहित निवृत्ति अवस्थामें प्रवृत्ति करते हुए मुनि अशरण नहीं है । निवृत्ति अवस्था होनेपर इन मुनियोंके ज्ञानमें ज्ञानका ही आचरण करना जो हो रहा है वह शरण है । वे मुनि उस ज्ञानमें लीन हुए परम अमृतको भोगते हैं ।

भावार्थ—सब कर्मका त्याग होनेसे ज्ञानका ज्ञानमें रम जाना यह बहुत बड़ा शरण है, उस ज्ञानमें लीन होनेसे सब आकुलताओंसे रहित परमानन्दका अनुभव होता है । इसका स्वाद ज्ञानी ही जानता है । अज्ञानी जीव कर्मको ही सर्वस्व जानकर उसमें लीन हो जाता है, वह ज्ञानानन्दका स्वाद नहीं जानता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें दृष्टान्तपूर्वक शुभ अशुभ दोनों कर्मोंको प्रतिषेध्य बताया गया था । अब इस गाथामें सिद्धान्त द्वारा कर्मबन्धहेतुभूत दोनों कर्मोंकी प्रतिषेध्यता सिद्ध की है ।

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

परमार्थ समय जो यह, शुद्ध तथा केवली मुनी ज्ञानी।
इस ही स्वभावमें रत, मुनिजन निर्वाणको पाते ॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी। तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणं।

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्, स तु युगपदेकीभाव-

---

प्राकृतशब्द—परमट्ठ, खलु, समय, सुद्ध, केवलि, मुणि, णाणि, त, ट्ठिद, सहाव, मुणि, णिव्वाण। **प्राकृतधातु**—आव प्राप्तौ, गुण ज्ञाने। **प्रकृतिशब्द**—परमार्थ, खलु, समय, शुद्ध, यत्, केवलिन्, मुनि, ज्ञानिन्, तत्, स्थित, स्वभाव, मुनि, निर्वाण। **मूलधातु**—ऋ गतिप्रापणयोः भ्वादि जुहोत्यादि, सम्-अय

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३)। ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (७६)। ४– शुद्ध भावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—परभावसे राग होनेको बन्धनका मूल जानकर समग्र रागादि परभावोंसे उपेक्षा करके रागरहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें रति, संतुष्टि व तृप्ति करना चाहिये ॥१५०॥

अब ज्ञानको मोक्षका कारण सिद्ध करते हैं—[**खलु**] निश्चयसे [**यः**] जो [**शुद्धः**] शुद्ध है [**केवली**] केवली है [**मुनिः**] मुनि है [**ज्ञानी**] ज्ञानी है [**परमार्थः समयः**] वह परमार्थ समय है [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभावमें [**स्थिताः**] स्थित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] मोक्षको [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य—वास्तवमें सहजशुद्ध आत्मा ही परमार्थ है उसमें जो उपयुक्त होते हैं वे मोक्ष पाते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ज्ञानके ही शुभ अशुभ कर्मबंधकी हेतुता न होनेपर मोक्षकी हेतुता ज्ञानके ही बनती है। यह ज्ञान ही समस्त कर्मोंको आदि लेकर अन्य पदार्थोंसे भिन्न जात्यंतर चिज्जाति मात्र परमार्थस्वरूप आत्मा है, और वह एक ही कालमें एकरूप प्रवृत्त ज्ञान और परिणमनमय होनेसे समय है। यही समस्त धर्म तथा धर्मीके ग्रहण करने वाले नयोंके पक्षोंसे न मिलने वाला पृथक् ही ज्ञानत्व रूप असाधारण धर्मरूप होनेसे शुद्ध है। वही एक चैतन्यमात्र वस्तुत्व होनेसे केवली है। वही मननमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र भावरूप होनेसे मुनि है और वही स्वयमेव ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानी वही अपने ज्ञानस्वरूपके

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५२ ॥

परमार्थमें न ठहरा, जो कोई तप करे व व्रत धारे।
सर्वज्ञ देव कहते, बालतपहि बालव्रत उसको ॥ १५२ ॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति। तत्सर्वं वालतपो वालव्रतं वदन्ति सर्वज्ञाः ॥ १५२ ॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः

प्राकृतशब्द—परमट्ठ, दु, अठिद, ज, तव, वद, त, सव्व, वालतव, वालवद, सव्व। **प्राकृतधातु**—ट्ठा गतिनिवृत्तौ, कुण करणे। **प्रकृतिशब्द**—परमार्थ, तु, अस्थित, यत्, तपस्, व्रत, च, तत्, सर्व, वालतपस्, वालव्रत, सर्वज्ञ। **मूलधातु**—ऋ गतिप्रापणयोः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, डुकृञ् करणे, तप संतापे ऐश्वर्ये भ्वादि दिवादि, वद व्यक्तायां वाचि भ्वादि, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि। **पदविवरण**—परमार्थे-सप्तमी एक०। तु-

---

अब उस ज्ञानकी विधि बतलाते हैं—**[परमार्थे तु]** ज्ञानस्वरूप आत्मामें **[अस्थितः]** अस्थित **[यः]** जो **[तपः करोति]** तप करता है **[च]** और **[व्रतं धारयति]** व्रतको धारण करता है **[तत्सर्वं]** उस सब तप व्रतको **[सर्वज्ञाः]** सर्वज्ञदेव **[बालतपः]** अज्ञान तप **[बालव्रतं]** और अज्ञान व्रत **[विंदंति]** कहते हैं।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण कहा गया है, क्योंकि परमार्थभूत ज्ञानसे शून्य अज्ञानसे किये तप और व्रतरूप कर्म ये दोनों बंधके कारण हैं, इसलिये वालतप व बालव्रत उन दोनोंका बाल ऐसा नाम कहकर प्रतिषेध किये जानेपर पूर्वकथित ज्ञानके ही मोक्षका कारणपना बनता है।

भावार्थ—अज्ञानमें किये तप व्रत बंधके ही कारण हैं अतः ज्ञानको ही मोक्ष कारणपना बनता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञान ही मोक्षहेतु है। अब इसी ज्ञानकी महिमाको अज्ञानदौर्गत्य बताकर इस गाथामें वर्णित किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि वह स्वभावतः परविविक्त है। (२) ज्ञानशून्य पुरुषके अज्ञानकृत व्रत तप आदि कर्मबन्धके ही कारणभूत हैं। (३) अज्ञानकृत तप व्रत वालतप व वालव्रत कहलाते हैं। (४) अज्ञानकृत व्रत तप कर्म मोक्षमार्गमें प्रतिषिद्ध हैं।

सिद्धान्त—(१) अज्ञानभावसे किये हुए व्रत तप आदि कर्म कर्मबंधके निमित्तभूत हैं। (२) ज्ञानभावमें अज्ञान न होनेसे ज्ञान ही मोक्षहेतु है।

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रत नियमोंको धरते, शील तथा तप अनेक करते भी ।
परमार्थ बाह्य जो हैं, वे नहिं निर्वाणको पाते ॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः । परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति ॥ १५३ ॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् । यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं, शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति । अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥१०५॥ ॥ १५३ ॥

प्राकृतशब्द—वदणियम, सील तहा, तव, च, परमट्ठबाहिर, ज, णिव्वाण, त, ण । **प्राकृतधातु**—धर धारणे, कुव्व करणे, विद ज्ञाने । **प्रकृतिशब्द**—व्रतनियम, धारयत्, शील, तथा, तापस्, च, परमार्थबाह्य, यत्, निर्वाण, तत्, न । **मूलधातु**—नि यम परिवेषणे चुरादि भ्वादि, शील समाधौ, तप संतापे ऐश्वर्ये च, डुकृञ् करणे, विद्लृ लाभे तुदादि । **पदविवरण**—व्रतनियमान्–द्वितीया बहु० । धारयंतः–प्रथमा बहु० कृदन्त । शीलानि–द्वि० बहु० । तथा–अव्यय । तपः–द्वितीया एक० । च–अव्यय । कुर्वन्तः–प्रथमा बहु० । परमार्थबाह्याः, ये–प्रथमा बहु० । निर्वाणं–द्वि० एक० । ते–प्रथमा बहु० । न–अव्यय । विन्दन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन ॥ १५३ ॥

का अभाव होनेके कारण उनको मोक्ष नहीं होता । (२) अज्ञानरहित ज्ञानी जीवके बाह्य सुविदित हों, ऐसे व्रतादि शुभ क्रियाकांड नहीं तो भी ज्ञानभावके कारण उनको मोक्ष हो जाता है ।

सिद्धान्त—(१) क्रियाकाण्डमें ज्ञान नहीं । (२) ज्ञानमें क्रियाकाण्ड नहीं । (३) अज्ञानमय दुर्भावोंको तत्काल रोकनेका बाह्य साधन शुभ क्रियाकाण्ड है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । ३– निमित्तदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—जिस ज्ञानभावके अभावमें अनेक शुभ क्रियाकाण्ड भी मोक्षसाधन नहीं बनते उस ज्ञानभावमें अपने ज्ञानको उपयुक्त करनेका पौरुष करना ॥ १५३ ॥

अब फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपातीके प्रतिबोधनके लिये कहते हैं—[ये] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थसे बाह्य हैं [**ते**] वे जीव [**मोक्षहेतुं**] मोक्षका कारण ज्ञानस्वरूप आत्माको [**अजानंतः**] नहीं जानते हुए [**संसारगमनहेतुं अपि**] संसारमें गमनका हेतुभूत होनेपर भी [**पुण्यं**] पुण्यको [**अज्ञानेन**] अज्ञानसे [**इच्छंति**] चाहते हैं ।

कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मबंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ॥ १५४ ॥

प्रथमा बहु० । जे ये–प्रथमा बहु० । ते ते–प्र० बहु० । अण्णाणेण अज्ञानेन–तृतीया एक० । पुण्णं पुण्यं–द्वि० एक० । इच्छंति इच्छन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । संसारगमणहेदुं संसारगमनहेतुं–द्वितीया एक० । वि अपि–अव्यय । मोक्खहेउं मोक्षहेतुं–द्वितीया एकवचन । अजाणंता अजानन्तः–प्रथमा बहुवचन कृदन्त ॥ १५४ ॥

नहीं जानते । वे अशुभकर्मको छोड़ अज्ञानसे व्रत, नियम, शीलतपरूप शुभकर्मको ही मोक्षका कारण मान शुभकर्मको ही अङ्गीकार करते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह नियम बता दिया गया था कि ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान बंधका हेतु है । फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपाती लोगोंको समझानेके लिये इस गाथामें बताया गया है कि अज्ञानी जन पुण्यकर्मको मोक्षका हेतु मानकर मोक्षके लिये पुण्यकर्मको ही चाहते रहते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) समस्त कर्मपक्षका क्षय होनेसे जिसमें निजस्वरूपका लाभ होता है वह मोक्ष है । (२) मोक्षका कारण समयसारभूत परमसमरसभावमय सामायिक है । (३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानका सतत होना परमरसभाव है । (४) अज्ञानी जन मोक्षकी चाह करते हुए भी, सामायिककी प्रतिज्ञा करके भी कर्मपक्षका अतिक्रमण न कर पानेसे परमार्थ ज्ञानानुभवमात्र आत्मस्वभावरूप सामायिकको प्राप्त नहीं कर पाते । (५) अज्ञानी जन मोटे-मोटे संक्लेश परिणाम निवृत्त होनेसे व साधारण विशुद्ध परिणाम होनेसे ही मैंने धर्म कर लिया ऐसा भाव करके संतुष्ट हो जाते हैं । (६) अज्ञानी जन अशुभकर्मको तो बंधका कारण समझकर व्रत नियमादि शुभकर्मोंको बन्धका कारण न जानकर शुभकर्मोंका ही मोक्षका कारण मानते हैं । (७) अज्ञानी जन "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय अभेद रत्नत्रय मोक्षका कारण है" यह नहीं मान पाते हैं । (८) परमार्थज्ञानस्वभावसे विमुख जीव अज्ञानसे पुण्यको मोक्षहेतु मानकर पुण्यकर्मको ही चाहते हैं ।

सिद्धांत—(१) समस्त कर्मपक्षके क्षयसे उत्पन्न शुद्धात्मभावना कर्मनिर्जराका कारण है । (२) कर्मपक्षकी भावना कर्मबन्धका कारण है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—ज्ञानस्वभावस्थितिरूप धर्मपालनके उद्देश्यसे पापकर्माक्रमणसे बचनेके लिये

ज्ञानस्य भवनं चारित्रं । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ॥१५५॥

डुधाञ् धारणपोषणयोः जुहोत्यादि, सम्-अंचु विशेषणे चुरादि, अधि-गम्लृ गतौ, ज्ञा अवबोधने, रन्ज रागे' परि-हृञ हरणे, चर गत्यर्थः भ्वादि, पथे गतौ भ्वादि, पथि-गतौ चुरादि । **पदविवरण**—जीवादीसद्दहणं जीवादिश्रद्धानं–प्रथमा एकवचन । सम्मत्तं सम्यक्त्वं–प्र० ए० । तेसिं तेषां–षष्ठी बहु० । अधिगमो अधिगमः–प्रथमा एक० । णाणं ज्ञानं–प्र० ए० । रायादीपरिहरणं रागादिपरिहरणं–प्र० ए० । चरणं चरणं–प्र० एक० । एसो एषः–प्र० ए० । दु तु–अव्यय । मोक्खपहो मोक्षपथः–प्रथमा एकवचन ॥१५५॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्दक्चारित्र बताया गया है वह ज्ञानका ही उस प्रकारसे होना है । ३–किन्हीं भी लक्षणोंसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका लक्षण किया जावे वह सब ज्ञानका उस प्रकारसे होना विदित होगा । ४–जीवादिक तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । ५– भूतार्थसे जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष सम्यक्त्व है याने सम्यक्त्वके कारण हैं । ६– भूतार्थाभिगत पदार्थोंका शुद्धात्मासे भिन्न रूपमें सम्यक् अवलोकन होना सम्यग्दर्शन है । ७– ज्ञानका जीवादिश्रद्धान स्वभावसे होना सम्यग्दर्शन है । ८– जीवादिक पदार्थोंका संशय, विपर्यय अनध्यवसायसे रहित यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है । ९–जीवादिक नाना पदार्थोंका शुद्धात्मतत्त्वसे भिन्न रूपमें निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है। १०–जीवादिज्ञानस्वभावसे ज्ञानका परिणमना सम्यग्ज्ञान है। ११–जीवादिपदार्थविषयक रागादिका परिहार होना सम्यक्चारित्र है । १२– जीवादिक नाना पदार्थोंको शुद्धात्मासे भिन्नरूपमें निश्चय करके रागादिविकल्परहितरूप रूपसे निजशुद्धात्मामें अवस्थान होना सम्यक्चारित्र है । १३–रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है ।

सिद्धान्त—१– जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह उपचार कथन है । २– जीवादिश्रद्धान स्वभावसे ज्ञानका (ज्ञानमय आत्माका) परिणमना सम्यग्दर्शन है यह निश्चयकथन है । ३-- जीवादिक पदार्थोंका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, यह उपचार कथन है । ४--ज्ञानका जीवादि ज्ञानस्वभावसे परिणमना सम्यग्ज्ञान है यह निश्चयकथन है । ५-- बाह्यपदार्थोंका राग छोड़ना, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना आदि उपचार कथन है । ६--रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका परिणमना सम्यक्चारित्र है, यह निश्चयकथन है ।

दृष्टि—१--अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ) । २--शुद्धनिश्चयनय (४६) । ३-- अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ) । ४– शुद्धनिश्चयनय (४६)। ५--अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ) । ६--शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

हेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् । वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा । एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥ वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि । द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥ मोक्षहेतुतिरोधानाद्बंधत्वात्स्वयमेव च । मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥ ॥१५६॥

भ्वादि, क्षि क्षये भ्वादि, वि-हि गतौ वृद्धौ च भ्वादि । **पदविवरण**—मोत्तूण मुक्त्वा–असमाप्तिकी क्रिया । णिच्छयट्ठं निश्चयार्थ–द्वितीया एक० । ववहारे व्यवहारे–सप्तमी एक० । ण न–अव्यय । विदुसा विद्वांसः–प्रथमा बहु० । पवट्टंति प्रवर्तन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । परमट्ठं परमार्थ–द्वि० एक० । अस्सिदाण आश्रितानां–षष्ठी बहु० । दु तु–अव्यय । जदीण यतीनां–षष्ठी बहु० । कम्मक्खओ कर्मक्षयः–प्रथमा ए० । विहिओ विहितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त ॥ १५६ ॥

अब इसी अर्थके कलश रूप दो श्लोक कहते हैं—**वृत्तं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानस्वभाव से बर्तना ही ज्ञानका होना है और वही मोक्षका कारण है क्योंकि ज्ञान ही एक आत्मद्रव्य-स्वभाव है । **वृत्तं** इत्यादि—कर्मस्वभावसे बर्तना ज्ञानका होना नहीं है, वह (कर्मका बर्तना) मोक्षका कारण नहीं है क्योंकि कर्म अन्यद्रव्यस्वभाव है । **भावार्थ**—मोक्ष आत्माको होता है इसलिए आत्माका स्वभाव ही मोक्षका कारण हो सकता है और चूंकि ज्ञान आत्माका स्वभाव है, अतः वही मोक्षका कारण है । तथा कर्म अन्य (पुद्गल) द्रव्यका स्वभाव है इस लिए वह आत्माके मोक्षका कारण नहीं होता, यह युक्ति आगम और अनुभवसे सिद्ध है ।

मोक्षहेतु इत्यादि—चूंकि कर्मसे मोक्षहेतुका तिरोधान होता है, कर्म स्वयं बंधस्वरूप है, तथा कर्म मोक्षके कारणोंका आच्छादक है, अतः इन तीन हेतुओंसे मोक्षमार्गमें कर्मका निषेध किया गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें परमार्थमोक्षहेतु बताया गया था । अब परमार्थ मोक्षहेतुके अतिरिक्त जो भी कर्म है उसका निषेध इस गाथामें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–ज्ञानका ज्ञानरूप रहना ही मोक्षका हेतु है । २– परमार्थमोक्षहेतुके सिवाय जितने भी व्रत तप आदि कर्म हैं वे अन्य द्रव्यका स्वभाव होनेसे मोक्षहेतु नहीं हैं, क्यों कि कर्मक्रियावोंके स्वभावसे ज्ञानका होना नहीं होता । ३–निश्चयरत्नत्रयात्मक ज्ञानभाव एक निज आत्मद्रव्यका स्वभाव होनेसे मोक्षहेतु है, क्योंकि आत्मस्वभावसे ज्ञानका होना होता है ।

सिद्धान्त—१–परमार्थका आश्रय करने वाले यतियोंको मोक्ष होता है । २–शुद्धोप-योगसे पूर्व होने वाले शुभोपयोगके आश्रयभूतके प्रति योग उपयोग करना उपचारसे धर्म है ।

दृष्टि—१–उपादानदृष्टि (४९ब) । २–अतिसामीप्ये तत्त्वोपचारक व्यवहार (१४७) ।

प्रयोग—व्यवहारधर्मप्रवर्तनसे अशुभोपयोगका निवारण कर परमार्थबोधका अभ्यास

पाठ १४—शुद्धनय व विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयनय

(४८) विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनयमें विवक्षित वस्तुको शुद्ध स्वरूपमें ही निखारा जाता है, वस्तुको विकारोंसे पृथक् निरखा जाता है। जो विकार होते हैं उन्हें चूंकि उपादान ही स्वयं निमित्त होकर नहीं प्रकट करता है, निमित्तके सान्निध्यमें ही प्रकट हो पाते हैं, अतः उन विकारोंको निमित्तस्वामिक बताकर वस्तुको शुद्धस्वरूपमें ही दिखाना इस नयका काम है, जैसे जीवके विकारपरिणमनोंको पौद्गलिक जताना व विकारोंसे पृथक् जीवको निरखना।

व्यवहारनयको गौणकर अर्थात् भेदविधिसे जाननेका उपयोग न करके निश्चयनयको मुख्य कर माने अभेद-विधिसे जानते हुये परमशुद्ध निश्चयनय तक आये वहाँ भी स्वभावका एकका विकल्प रहा उससे भी अतिक्रान्त होकर स्वानुभवके निकट होते हैं तब संकल्पविकल्पको ध्वस्त करता हुआ शुद्धनय उदित होता है और उसके फलमें प्रमाण-नयनिक्षेपके विकल्पसे अतिक्रान्त होकर स्वयं प्रमाणस्वरूप हो जाता है। यह ज्ञानस्थिति (४९) शुद्धनय है। शुद्धनयके प्रकार नहीं हैं, वह तो स्वयं शुद्धनय है। वहाँ तो नयविकल्पसे अतिक्रान्त अखण्ड अन्तस्तत्त्वका अभेद दर्शन है। (४९ए) बहिस्तत्त्वके निषेध द्वारा शुद्ध तत्त्वका परिचय कराना प्रतिषेधक शुद्धनय है, जैसे जीव कर्मसे अबद्ध है आदि परिचय।

पाठ १५—व्यवहारनयके प्रकार

भेदविधिसे वस्तुके जाननेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। विधिकी दृष्टिसे कई द्रव्यार्थिकनय व्यवहारनय हो जाते हैं और कई पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय हो जाते हैं। कई निश्चयनय भी उससे अधिक अन्तर्दृष्टि होनेपर उसकी तुलनामें व्यवहारनय हो जाते हैं। सब ही प्रकारके व्यवहारनयोंके नाम इस प्रकार हैं—

(५०) परमशुद्ध भेदविषयी व्यवहारनय अथवा भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे आत्माके ज्ञान है दर्शन चारित्र है आदि परिचय। (५१) शुद्ध भेदविषयी द्रव्यार्थिक या शुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे आत्माका केवल ज्ञान, अनन्त आनन्त है आदि का परिचय (५२) अशुद्धपर्यायविषयी व्यवहारनय या अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय, जैसे जीव के क्रोध है, मान है आदि। (५३) उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जैसे कर्मोदयविपाकके सान्निध्यमें जीवके विकाररूप परिणमनेका परिचय। (५४) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक, जैसे द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है यों त्रितययुक्त द्रव्यको निरखना (५५) अशुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे नर नारक, तिर्यंच, देव आदि विभावद्रव्य-व्यञ्जन पर्याय निरखना। (५६) शुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रनय, जैसे चरम शरीरसे किंचित् न्यून आकार वाला सिद्धपर्याय जानना। (५७) अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय, जैसे मेरु आदि नित्य है आदि का परिचय (५८) सादिनित्यपर्या-यार्थिकनय, जैसे सिद्धपर्याय नित्य है आदि परिचय (५९) सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्याशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे प्रतिसमय पर्यायें विनाशीक हैं। (६०) सत्तासापेक्ष नित्याशुद्धपर्यायार्थिक नय, जैसे एक समयमें त्रयात्मक पर्यायें। (६१) उपाधि साक्षपे नित्याशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे संसारी जीवों के उत्पत्ति मरण है।

इसीप्रकार भेदविधि जहाँ पाई जावे वे सब व्यवहारनय हैं। यहाँ इस संदेहमें नहीं डोलना है कि ये ही अनेक नय निश्चयनयमें कहे गये हैं और ये ही यहाँ व्यवहारनयमें कहे गये हैं, क्योंकि आशयवश यह सब परिवर्तन हो जाता है। जब अभेदकी ओर आशय हो जाता है तो वह निश्चय हो जाता है और जब भेदकी ओर आशय हो जाता है तो वह व्यवहारनय हो जाता है। सभेद प्रयुक्त गुणपर्यायका परिचय एक द्रव्यमें अभेदके आशयमें निश्चयनय है, भेदके आशयमें व्यवहारनय है। ऐसी गुंजाइशें कई तो द्रव्यार्थिकनयोंमें हैं और कई पर्यायार्थिकनयोंमें हैं। इसका निर्देश अन्तिम पाठ नयसूची में हो जायेगा।

आत्महितकी साधनामें भेदव्यवहारको तज कर अभेद अन्तस्तत्त्वका उपयोगी बनना होता है, अतः साधनाके प्रसंगमें व्यवहारनय मिथ्या हो जाता है और पश्चात् शुद्धनयात्मक ज्ञानानुभूति के प्रसंगमें निश्चयनय भी मिथ्या हो जाता है, किन्तु परिचयके प्रसंगमें न तो निश्चयनय मिथ्या है और न व्यवहारनय मिथ्या है।

स्वभाव:, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेत-वस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्त्रभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना

मूलधातु—णस नाशे दिवादि, छद अपवारणे, मिल श्लेषणे, मिल संगमे तुदादि, मल धारणे भ्वादि, कष हिंसार्थ: । **पदविवरण**—वत्थस्स वस्त्रस्य–षष्ठी एक० । सेदभावो श्वेतभाव:–प्रथमा एकवचन । जह यथा–अव्यय । णासेदि नश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्त:–प्र० ए० । मिच्छत्तमलोच्छण्णं मिथ्यात्वमलावच्छन्नं–प्र० ए० । तह तथा–अव्यय । सम्मत्तं सम्यक्त्वं–प्र० एक० । खु खलु–अव्यय । णायव्वं ज्ञातव्यं–प्र० एक० कृदन्त । वत्थस्स वस्त्रस्य–षष्ठी एक० । सेदभावो श्वेतभाव:–प्र० ए० । जह यथा–अव्यय । णासेदि नश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्त:–प्रथमा एकवचन । अण्णाणमलोच्छण्णं अज्ञानमलावच्छन्नं–प्र० ए० । तह तथा–अव्यय । णाणं

[**ज्ञातव्यं**] आच्छादित हो रहा है ऐसा जानना चाहिए । [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य श्वेतभावः**] वस्त्रका श्वेतपना [**मलमेलनासक्तः**] मलके मेलसे लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है है [**तथा**] उसी प्रकार [**अज्ञानमलावच्छन्नं**] अज्ञानमलसे व्याप्त हुआ [**ज्ञानं**] आत्माका ज्ञान भाव [**भवति ज्ञातव्यं**] आच्छादित होता है ऐसा जानना चाहिये तथा [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य श्वेतभावः**] कपड़ेका श्वेतपना [**मलमेलनासक्तः**] मलके मिलनेसे व्याप्त होता हुआ [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है [**तथा**] उसी तरह [**कषायमलावच्छन्नं**] कषायमलसे व्याप्त हुआ [**चारित्रं अपि**] आत्माका चारित्र भाव भी आच्छादित हो जाता है ऐसा [**ज्ञातव्यं**] जानना चाहिये ।

तात्पर्य–कर्मद्वारा रत्नत्रय तिरोहित होता है अतः कर्मका प्रतिषेध करना बताया है ।

टीकार्थ—ज्ञानका सम्यक्त्व मोक्षका कारणरूप स्वभाव है, किंतु वह परभावस्वरूप मिथ्यात्वकर्ममैलसे व्याप्त होनेके कारण तिरोभूत हो जाता है जैसे कि परभावभूत मैलसे व्याप्त सफेद वस्त्रका स्वभावभूत श्वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है । ज्ञानका ज्ञान मोक्षका कारणरूप स्वभाव है, वह परभावरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मलसे व्याप्त होनेसे तिरोहित किया जाता है, जैसे परभावरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत सफेदपन तिरोहित किया जाता है । ज्ञानका चारित्र भी मोक्षका कारणरूप स्वभाव है, वह परभाव-स्वरूप कषायनामक कर्मरूपी मैलसे व्याप्त होनेसे तिरोहित किया जाता है, जैसे परभावस्वरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ सफेद कपड़ेका स्वभावभूत सफेदपन तिरोहित किया जाता है । इस कारण मोक्षके कारणरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका तिरोधान करनेसे कर्मका निषेध किया गया है । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ज्ञानके परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गके प्रति-बंधक मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूपी कर्म हैं । इसलिये कर्मका निषेध आगममें बताया गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें परमार्थमोक्षहेतुके अतिरिक्त अन्य कर्मके मोक्ष-

अथ कर्मणः स्वयं बंधत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ।।१६०।।

यह सर्वज्ञानदर्शी, तो भि निज कर्मरजसे आच्छादित ।
संसारमें भटक कर, यह सबको जान नहिं सकता ।।१६०।।

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः । संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ।। १६० ।।

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रव-

---

नामसंज्ञ—त, सव्वणाणदरिसि, कम्मरय, णिय, अवच्छण्ण, संसारसमावण्ण, ण, सव्वदो, सव्व । **धातुसंज्ञ**—दरिस दर्शनायां, अव-च्छण हिसायां, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—तत्, सर्वज्ञानदर्शिन्, कर्म-रजस्, निज, अवच्छन्न, संसारसमापन्न, न, सर्वतः, सर्व । **मूलधातु**—दृशिर् प्रेक्षणे, छद अपवारणे संवरणे भ्वादि चुरादि, वि-ज्ञा अववोधने । **पदविवरण**—सो सः-प्रथमा ए० । सव्वणाणदरिसी सर्वज्ञानदर्शी कम्म-

---

जाननेके स्वभाव वाला होनेपर भी ज्ञान अनादिकालसे अपने पुरुषापराधसे प्रवर्तमान कर्मरूप मलसे आच्छादितपना होनेके कारण परभावबन्धरूप बंधावस्थामें सब प्रकारके सब ज्ञेया-काररूप अपने स्वरूपको नहीं जानता हुआ अज्ञानभावसे ही यह आप स्थित है । इस कारण निश्चय हुआ कि कर्म स्वयं ही बंधस्वरूप है । इसीलिये स्वयं बंधरूप होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है । **भावार्थ**—यहाँ ज्ञान शब्दसे आत्माका ही ग्रहण किया गया है । सो यह ज्ञान-स्वभावसे तो सबको देखने और जानने वाला है, परन्तु अनादिसे आप अपराधी है, इसलिये बाँधे हुए कर्मोंसे आच्छादित है । अतः अपने सम्पूर्ण रूपको नहीं जानता हुआ, अज्ञानरूप हुआ आप स्थित है, सो आप तो अपने अज्ञानभावरूप परिणमन करता है और तब कर्म स्वयमेव बन्धरूप हो जाते हैं, इसीलिए कर्मका प्रतिषेध करना बताया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकमें यह बताया गया था कि शुभकर्म मोक्षहेतुका तिरोधान करते हैं । अब इस गाथामें बताया है कि कर्म स्वयं जीवको बन्धन है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह ज्ञान (आत्मा) ज्ञानस्वरूप होनेसे स्वयं ही सर्वज्ञता व सर्व-दर्शिताके स्वभाव वाला है । (२) यह जीव अनादिकालसे स्वपुरुषापराधसे चले आये कर्ममल से आक्रान्त होनेसे इस संसारदशामें अज्ञानभावके कारण सबको नहीं जान सकता है । (३) अज्ञानरूप शुभाशुभकर्म जीवको स्वयं ही बन्धन हैं । (४) शुभाशुभ कर्म स्वयं बन्धरूप होनेसे प्रतिषेध्य हैं ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वयं सहज परमज्ञानविकास स्वभाव वाला है । (२) पौद्ग-लिक कर्मविपाकोदयसे यह जीव संसारसमापन्न है । (३) अपने अज्ञानापराधसे यह जीव कलु-

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥ (त्रिकलम्)

सम्यक्त्वका विरोधक, जिनवरने मिथ्यात्वको बताया ।
उसके उदयसे आत्मा, मिथ्यादृष्टी कहा जाता ॥१६१॥
ज्ञानका प्रतिनिबन्धक, मुनीश अज्ञानको बताते हैं ।
उसके उदयसे आत्मा, अज्ञानी वर्तता जानो ॥१६२॥
चारित्रका विरोधक, मुनीन्द्रने है कषाय बतलाया ।
इसके उदयसे आत्मा, हो जाता है अचारित्री ॥१६३॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं । तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः । तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं । ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वं । चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वं । अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात् कर्म

नामसंज्ञ—सम्मत्तपडिणिबद्ध, मिच्छत्त, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, मिच्छादिट्ठि, इत्ति, णायव्व, णाण, पडिणिबद्ध, अण्णाण, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, अण्णाणि, णादव्व, चारित्त-

---

कारण इसका भी कर्म सामान्यके प्रतिषेधके कथनमें प्रतिषेध ही जानना ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**संन्यस्त** इत्यादि । **अर्थ**—मोक्षके चाहने वालोंको यह समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं । इस तरह समस्त ही कर्मके छोड़नेपर पुण्य व पापकी तो कथा ही क्या है (कर्म सामान्यमें दोनों ही आ जाते हैं) । यों समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर ज्ञान, सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभावरूप होनेसे मोक्षका कारण हुआ कर्मरहित अवस्थासे जिसका रस प्रतिबद्ध (उद्धत) है ऐसा अपने आप दौड़ आता है । **भावार्थ**—कर्मके

स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥ मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानंति ये, मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः। विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं, ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥१११॥ भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाट-

---

जिनवर, परिकथित, तत्, जीव, मिथ्यादृष्टि, इति, ज्ञातव्य, ज्ञान, प्रतिनिबद्ध, अज्ञान, जिनवर, परिकथित तत्, उदय, जीव, अज्ञानिन्, ज्ञातव्य, चारित्रप्रतिनिबद्ध, कषाय, जिनवर, परिकथित, तत्, उदय, जीव, अचारित्र, ज्ञातव्य। **मूलधातु**—प्रति-नि-वन्ध बंधने, परि-कथ वाक्यप्रवन्धे, दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—सम्मत्तपडिणिबद्धं सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं–प्रथमा एक०। मिच्छत्तं मिथ्यात्वं–प्रथमा ए०। जिनवरैः–तृतीया बहु०। परिकहियं परिकथितं–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तस्स तस्य–षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन–तृतीया एक०। जीवो जीवः–प्रथमा एकवचन। मिच्छादिट्ठि मिथ्यादृष्टिः–प्रथमा एक०। इति–अव्यय। णायव्वो ज्ञातव्यः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। णाणस्स ज्ञानस्य–पष्ठी एक०। पडिणिबद्धं प्रतिनिबद्धं–प्रथमा एक० कृदन्त। अण्णाणं अज्ञानं–प्र० ए०। जिणवरेहि जिनवरैः–तृतीया बहु०। परिकहियं

किन्तु जो परमार्थभूत आत्मस्वरूपको यथार्थ तो जानते नहीं और सर्वथा एकांतियोंके उपदेशसे अथवा स्वयमेव कुछ अंतरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पना करके उसमें पक्षपात करते हैं और व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्रके भक्ति कृतिकर्म आदि क्रियाकांडको निरर्थक जान छोड देने वाले स्वच्छन्द मनवाले ज्ञाननयके पक्षपाती हैं वे भी संसार समुद्रमें मग्न हैं, क्योंकि आवश्यक क्रियाको छोड़ स्वेच्छाचारी रहते हैं और स्वरूपमें मंद उद्यमी रहते हैं। इस कारण जो पक्षपातका अभिप्राय छोड़कर निरंतर ज्ञानस्वरूपमें जब तक न रहा जाय तब तक अशुभ-कर्मको छोड़ स्वरूपके साधनरूप शुभ कर्मकांडमें प्रवर्तकर निरंतर ज्ञानरूप हुए कर्मकांडको छोड़ते हैं वे ही कर्मका नाश कर संसारसे निवृत्त होते हैं।

अब पुण्यपापाधिकारको सम्पूर्ण करते हुए आचार्य ज्ञानकी महिमा बताते हैं—**भेदोन्मादं इत्यादि। अर्थ**—पी ली है मोहमदिरा जिसने ऐसे तथा भ्रमरसके भारसे शुभाशुभकर्मके भेदके उन्मादको नचाने (प्रकट करने) वाले उस सभी कर्मको अपने आत्मबलसे मूलोन्मूल करके याने जड़से उखाड़ करके जिसने अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया है, लीलामात्रसे विकसित परमकला (केवलज्ञान) के साथ क्रीडा आरम्भ की है, ऐसी यह ज्ञानज्योति अब वेगपूर्वक प्रकट होती है।

भावार्थ—ज्ञानज्योतिके प्रतिबंधक कर्मको जो कि शुभ अशुभ भेदरूप होकर नाच रहा था और ज्ञानको भुला देता था उस कर्मको भेदविज्ञानमयी व अभेदअन्तस्तत्त्वस्पर्शी अपनी शक्तिसे नष्ट करके आप अपने सम्पूर्ण रूप सहित यह ज्ञानज्योति प्रकट हुई याने यथार्थ ज्ञानके उपयोगमें अब दो भेष नहीं रहे। क्योंकि कर्म सामान्य रूपसे एक ही है उसने शुभ-अशुभ दो भेदरूप स्वांग बनाकर रंगभूमिमें प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञानने यथार्थ एकरूप

अथ आस्रवाधिकारः

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवं ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ।। ११३ ।।

नामसंज्ञ—मिच्छत्त, अविरमण, कसायजोग, य, सण्णसण्ण, दु, वहुविहभेय, जीव, तस्स, एव, अणण्णपरिणाम, णाणावरणादीय, त, दु, कम्म, कारण, त, पि, जीवो, य, रागदोषादिभावकर । **धातुसंज्ञ**—अवि-रम क्रीडायां, कस तनूकरणे, जोय योजनायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—मिथ्यात्व, अविरमण,

अब आस्रव प्रवेश करता है । सो यहाँ इस स्वांगको यथार्थ जानने वाले सम्यग्ज्ञानकी महिमारूप मंगल करते हैं—**अथ** इत्यादि । **अर्थ**—अब समररंगमें आये हुए महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह उदार गंभीर महाउदय वाला दुर्जय ज्ञान धनुर्धर जीतता है । **भावार्थ**—यहां नृत्यके मंचपर सब जगतको जीतकर मत्त हुए आस्रवने प्रवेश किया है । उसकी पराजयका वर्णन यहां वीररसकी प्रधानतासे किया है कि दुर्जय बोधरूपधनुषधारी ज्ञान आस्रवको जीतता है । अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें कर्मका नाश करके यह ज्ञानस्वरूप आत्मा केवलज्ञान उत्पन्न कर लेता है । ऐसी ज्ञानकी सामर्थ्य व महिमा है ।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं:—[**मिथ्यात्वं अविरमणं**] मिथ्यात्व, अविरति [**च कषाययोगौ**] और कषाय योग [**संज्ञासंज्ञाः तु**] ये चार आस्रव संज्ञ व असंज्ञ हैं याने चेतनाके विकाररूप और जड़-पुद्गलके विकाररूप ऐसे भिन्न-भिन्न हैं । उनमें से [**जीवे**] जीवमें प्रकट हुए [**बहुविधभेदाः**] बहुत भेद वाले संज्ञ आस्रव हैं वे [**तस्यैव अनन्यपरिणामाः**] उस जीवके ही अभेदरूप परिणाम हैं [**तु ते**] परन्तु असंज्ञ आस्रव [**ज्ञानावरणाद्यस्य**] ज्ञानावरण आदि [**कर्मणः**] कर्मके बंधनेके [**कारणं**] कारण [**भवंति**] हैं [**च**] और [**तेषामपि**] उन असंज्ञ आस्रवोंका भी याने असंज्ञ आस्रवोंके नवीन कर्मबंधका निमित्तपना होनेका कारण अर्थात् निमित्त भी [**रागद्वेषादिभावकरः**] रागद्वेष आदि भावोंका करने वाला [**जीवः**] जीव [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—कर्मबन्धके निमित्तभूत उदयागत असंज्ञ आस्रवकी इस निमित्तताका कारण रागद्वेषमोह है अतः राग द्वेष मोह ही आस्रव है ।

टीकार्थ—रागद्वेष मोह ही आस्रव हैं जो कि अपने परिणामके निमित्तसे हुए हैं सो जड़पना न होनेपर वे चिदाभास हैं याने उनमें चैतन्यका आभास है क्योंकि मिथ्यात्व, अवि-

लास्रवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः ।

कसायजोगा–प्रथमा बहु० । कषाययोगौ–प्र० बहु० । य च–अव्यय । सण्णसण्णा संज्ञासंज्ञाः–प्र० बहु० । दु तु–अव्यय । बहुविहभेया बहुविधभेदाः–प्र० बहु० । जीवे–सप्तमी एक० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । एव–अव्यय । अणण्णपरिणामा अनन्यपरिणामाः–प्र० बहु० । णाणावरणादीयस्स ज्ञानावरणाद्यस्य–षष्ठी ए० ।

मेटना चाहता है । इस अपेक्षासे ज्ञानीके राग नहीं है । मिथ्यात्वसहित जो रागादिक होते हैं, वे ही अज्ञानमय राग द्वेष मोह हैं और वे अज्ञानीके ही हैं, सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं ।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टिके बुद्धिपूर्वक आस्रव बंध नहीं है और जो पहलेके बद्ध कर्म हैं उनका वह ज्ञाता होता है ।

प्रसंगविवरण—समयसारकी अधिकार गाथामें बताया गया था "भूयत्थेणाभिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च, आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं" इसके अनुसार जीव अजीव पुण्य पापका अधिकार पूर्ण हो गया । अब आस्रवका वर्णन करना क्रमप्राप्त है । सो सर्वप्रथम इस गाथायुगलमें आस्रवका स्वरूप कहा गया है अथवा अनन्तरपूर्व अधिकारमें पुण्य पाप कर्मका वर्णन हुआ है, सो उस विषयमें यह जिज्ञासा हुई कि पुण्य-पाप कर्मोंका आस्रव (आना) किस प्रकार होता, जिसकी जानकारीसे यह प्रकाश मिले कि वह योग न बनाया जावे जिससे कि पुण्य पाप कर्मका आस्रव हो । इस जिज्ञासाका समाधान करनेके लिये यहाँ आस्रवका प्रवेश हुआ, जिसमें सर्वप्रथम आस्रवका स्वरूप यहाँ कहा गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–जीवके अज्ञान परिणाम (आत्माकी बेसुधी) से जीवमें राग द्वेष मोह भावरूप आस्रव होते हैं । २– जीवमें होने वाले राग द्वेष मोह भाव जीवकी परिणति होनेसे जड़ नहीं हैं और जीवमें स्वभाव नहीं होनेसे चेतन नहीं, किन्तु चिदाभास हैं । ३– अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग तो पुद्गलकर्म प्रकृतिरूप हैं । ४– चेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग जीवके परिणाम हैं । ५– उदयप्राप्त अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग याने द्रव्यप्रत्यय नवीन ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके आस्रवके निमित्तभूत हैं । ६– द्रव्यप्रत्ययके निमित्तसे होने वाले चेतन मिथ्यात्वादि भाव द्रव्यप्रत्ययमें नवीन कर्मके आस्रवकी निमित्तता आ जावे इस निमित्तताके निमित्त हैं । ७–वास्तवमें आस्रव जीवके राग द्वेष मोह हैं, क्योंकि ये पुद्गलकर्मास्रवणके निमित्तकी निमित्तताके निमित्त हैं । ८–अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह जीव-परिणाम अज्ञानीके ही होते हैं ।

सिद्धान्त—१–अचेतन मिथ्यात्व अविरति कषाय योग पुद्गलद्रव्यके अनन्य परिणाम हैं । २–चेतन मिथ्यात्व आदि भाव अज्ञानी जीवके अनन्य परिणाम हैं । ३–जीवके बन्धनका कारण उदयागत द्रव्यप्रत्यय है । ४–वस्तुतः जीवके बंधनका कारण स्वकीय रागादि अज्ञान-

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

आस्रव बंध नहीं है, ज्ञानीके किन्तु आस्रवनिरुन्धन।
वह तो पूर्वनिबद्धों-को जाने भव्य नहिं बांधे ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः। संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१६६॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनो अवश्यमेव निरुध्यंते। ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रव-

---

नामसंज्ञ—ण, दु, आसवबंध, सम्मादिट्ठि, आसवणिरोह, संत, पुव्वणिबद्ध, त, त, अबंधंत। **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, आ-सव स्रवणे, बंध बंधने, जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—न, तु, आस्रवबन्ध, सम्यग्दृष्टि, आस्रवनिरोध, सत्, पूर्वनिबद्ध, तत्, तत्। **मूलधातु**—अस् भुवि, आ-स्रु गतौ, बन्ध बन्धने, निरुधिर आवरणे रुधादि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—ण न–अव्यय। अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। दु तु–अव्यय। आसवबंधो आस्रवबन्धः–प्रथमा एकवचन। सम्मादिट्ठिस्स सम्यग्दृष्टेः–

निष्कर्ष निकला था कि वे आस्रव अज्ञानीके ही होते हैं। अब यहाँ बताया गया कि ज्ञानीके उन आस्रवोंका अभाव है।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होते हैं। (२) ज्ञानमय भाव व अज्ञानमय भाव परस्पर विरोधी भाव हैं। (३) ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंके द्वारा अज्ञानभाव निरुद्ध हो जाते हैं याने हट जाते हैं। (४) ज्ञानीके अज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह हट गये हैं, अतः आस्रवनिरोध है। ज्ञानी आस्रवनिमित्तक पुद्गलकर्मोंको नहीं बांधता। (५) अकर्ता होनेसे ज्ञानी नवीन कर्मोंको बाँधता नहीं और पूर्वबद्धकर्मोंको मात्र जानता है। (६) गुणस्थानानुसार ज्ञानियोंके आस्रवनिरोध समझना चाहिये। (७) द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्ममें आत्मत्वबुद्धि न होनेसे आत्माका नाम ज्ञानी हो जाता है। (८) अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (९) देशसंयमी ज्ञानी ५१ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१०) प्रमत्तविरत ज्ञानी ५५ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (११) अप्रमत्तविरत ज्ञानी ६१ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१२) अपूर्वकरण उपशमक क्षपक ज्ञानी ६२ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१३) अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपक ज्ञानी ९८ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१४) सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक व क्षपक १०३ प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१५) उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय व सयोगकेवली ११९ याने एक कम सब प्रकृतियोंका आस्रवनिरोधक है। (१६) अयोगकेवली व सिद्धप्रभु पूर्ण निरास्रव हैं।

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

जीवकृत राग आदिक, भाव बताया जिनेन्द्रने बंधक ।
रागादिमुक्त बन्धक, नहिं है वह किन्तु ज्ञायक है ॥१६७॥

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः । रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरि ॥ १६७ ॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायस-सूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायस-सूचीमकर्मकरणौत्सुक्यमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ॥१६७॥

नामसंज्ञ—भाव, रागादिजुद, जीव, कद, दु, बंधग, भणिद, रागादिविप्पमुक्क, अबंधग, जाणग, णवरिं । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां, जु मिश्रणे, जीव प्राणधारणे, भण कथने, वि-प-मुंच त्यागे । **प्रातिपदिक**—भाव, रागादियुत, जीव, कृत, तु, बन्धक, भणित, रागादिविप्रमुक्त, अबंधक, ज्ञायक, नवरि । **मूलधातु**—यु मिश्रणे अदादि, डुकृञ् करणे, भण शब्दार्थः, वि-प्र-मुच्लृ मोक्षणे । **पदविवरण**—भावो भावः–प्रथमा एकवचन । रागादिजुदो रागादियुतः–प्रथमा एक० । जीवेण जीवेन–तृतीया एक० । कदो कृतः–प्र० एक० कृदंत । दु तु–अव्यय । बंधगो बन्धकः–प्रथमा एक० । भणिदो भणितः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । रागादिविप्पमुक्तो रागादिविप्रमुक्तः–प्रथमा एक० । अबंधगो अबन्धकः–प्र० ए० । जाणगो ज्ञायकः–प्रथमा एक० । णवरिं नवरि–अव्यय ॥ १६७ ॥

है । सो अब उसी सम्बन्धमें इस गाथामें यह नियमित किया है कि वह आस्रवपना रागद्वेष मोहभावोंका ही है ।

तथ्यप्रकाश—१– रागद्वेषमोहके संपर्कसे उत्पन्न हुआ भाव अज्ञानमय भाव है । २– अज्ञानमय भाव ही आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है । ३– रागद्वेष मोहके विवेकसे (वियोगसे) उत्पन्न हुआ भाव ज्ञानमय भाव है । ४– ज्ञानमय भाव स्वभावसे ही आत्माको कर्म करनेमें अनुत्सुक रखता है । ५–रागादिसे संकीर्ण अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्वमें प्रेरक होनेसे बन्धक है । ६– रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञानमय भाव स्वभावका उद्भासक होनेसे केवल ज्ञायक है, बन्धक नहीं है ।

सिद्धान्त—१–चित्प्रकाशस्वरूप स्वभावभावसे भिन्न अज्ञानमय रागद्वेषमोहभाव कर्म-बन्धके मूल निमित्त कारण हैं । २–अज्ञानमय भाव भावबन्धन बनाये रहनेके समुचित उपादान कारण हैं ।

भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति । एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति । भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव । रुंधन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणां ॥११४॥ ॥१६८॥

एक० । वज्झए बध्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया । पुणो पुनः–अव्यय । विंटे वृन्ते–सप्तमी एक० । जीवस्स जीवस्य–षष्ठी ए० । कम्मभावे कर्मभावे–सप्तमी ए० । ण न–अव्यय । पुण पुनः–अव्यय । उदयं–द्वितीया एक० । उवेई उपैति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥१६८॥

रहित ज्ञानके द्वारा ही रचा हुआ जो जीवका भाव है, वह सब द्रव्यास्रवोंको रोकता हुआ सभी भावास्रवोंका अभाव स्वरूप है । **भावार्थ**—ज्ञानमयभाव भावास्रवोंका अभावरूप इस कारण है कि संसारका कारण मिथ्यात्व ही है उस सम्बन्धी रागादिकका अभाव हुआ तो सभी भावास्रवोंका अभाव हो गया समझना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि रागादिसंकीर्ण भाव बंधक होता है और रागाद्यसंकीर्ण भाव अबंधक होता है । अब यहाँ इस गाथामें उसी रागाद्यसंकीर्ण भावका सद्भाव बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानी जीवके सुख-दुःखादि कर्मभावके निर्जीर्ण होनेपर वह कर्म रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे जीवभावको प्राप्त नहीं होता है । (२) जो कर्मभाव जीवभावको प्राप्त नहीं होता वह फिर बन्धको भी प्राप्त नहीं होता है । (३) जो बन्धरूप नहीं हो सकता वह उदयको भी प्राप्त नहीं होता । (४) ज्ञानीके भाव रागाद्यसंकीर्ण होनेसे शुद्ध भाव कहलाते हैं । (५) ज्ञानी जीवके शुद्धभाव होनेसे निर्विकार स्वसंवेदनके बलसे संवरपूर्वक निर्जरा होती है । (६) उस प्रकारके कर्मका बन्धक न होकर उदित विभावका व कर्मभावका निकल जाना मोक्षमार्गसंचालक निर्जरा है ।

सिद्धान्त—(१) अज्ञान अवस्थामें कर्मभावको जीवभाव माननेकी वृत्ति होनेसे द्रव्यप्रत्यय उसी प्रकारके कर्मके बन्धक होते हैं । (२) तत्त्वज्ञान होनेपर उदित कर्मभावको जीवभाव न माना जा सकनेसे, वह कर्मभाव जीवभाव न माना जा सकनेसे जीवभाव नहीं बनता, और तब द्रव्यप्रत्यय उस प्रकारके कर्मके बन्धक नहीं होते ।

दृष्टि—१– निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि एवं निमित्तदृष्टि (२०१, ५३अ) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—कर्मभावसे हटनेके लिये अपने ज्ञानमात्र सहजभावमें आत्मत्व स्वीकार कर ज्ञानमात्र भावमें रत होनेका पौरुष करना ॥ १६८ ॥

अब ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव दिखलाते हैं:—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानीके [पूर्व-

एव कार्मणशरीरेणैव संबद्धा न तु जीवेन, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः। भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः। ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥ ॥ १६९ ॥

पिंडसमाणा पृथ्वीपिण्डसमानाः–प्रथमा बहु०। पुव्वणिबद्धा पूर्वनिबद्धाः–प्र० बहु०। दु तु–अव्यय। पच्चया प्रत्ययः–प्र० बहु०। तस्स तस्य–षष्ठी एक०। कम्मसरीरेण कर्मशरीरेण–तृतीया एक०। दु तु–अव्यय। बद्धा बद्धाः–प्र० बहु०। सव्वे सर्वे–प्र० बहु०। पि अपि–अव्यय। णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक० ॥१६९॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें रागाद्यसंकीर्णभावका सम्भव बताकर ज्ञानीके भावास्रवाभावका अविनाभावी द्रव्यास्रवभाव बतलाया है।

तथ्यप्रकाश—(१) अज्ञान द्वारा पहिले जो कर्म बँध गये थे उनमेंसे जो भी ज्ञानी पुरुषके सत्तामें रह रहे वे अचेतन पुद्गलपरिणाम पृथ्वीपिंडके समान पड़े हुए हैं। (२) सत्तामें पड़े हुए पुद्गलकर्म अपना प्रभाव (अनुभागोदय) नहीं कर रहे। (३) जब सत्तामें पड़े हुए कर्म उदयमें आते हैं तब ज्ञानीके ज्ञानस्वभावमें लगाव होनेसे संसारस्थितिबंध नहीं कर पाते हैं। (४) कर्मप्रकृतियाँ कार्माण शरीरसे ही बँधी हुई होती हैं। (५) जीव अमूर्तिक है उसके साथ मूर्त पुद्गलकर्म नहीं बँधे हैं, किन्तु कर्मफलका याने विभावका लगाव होनेसे अज्ञानीके निमित्तनैमित्तिक विधिमें पुद्गलकर्मका एकक्षेत्रावगाह बन्धन बना है। (६) पुद्गलकर्मका एकक्षेत्रावगाह स्थिति अनुभाग वाला बंधन, ज्ञान होनेपर भी राग रहने तक होता है। (७) वीतराग ज्ञानीके नवीन कर्मबंधन नहीं होता, मात्र योग रहने तक ईर्यापथ आस्रव होता है। (८) कर्मका बन्धन कार्माणशरीरसे है। (९) जीवका उपयोग ज्ञानस्वभावके अभिमुख है, इस दृष्टिसे ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है। (१०) सूक्ष्मदृष्टिसे द्रव्यास्रवका अभाव गुणस्थानानुसार जानना।

सिद्धान्त—(१) कर्मत्वका अभ्युदय कार्माणवर्गणावोंमें हुआ है। (२) वस्तुतः कर्मका बन्धन कार्माणशरीरसे होता है। (३) कर्मका बन्धन जीवके साथ होता है यह कथन फलित कथन है।

दृष्टि—१, २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)। ३– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१०६)।

प्रयोग—कर्मको कार्माणशरीरसे बँधा हुआ जानकर उनसे भिन्न अपनेको ज्ञानमात्र निरखकर अपनेमें उपयुक्त होकर परमविश्राम पानेका पौरुष करना ॥१६९॥

अब पूछते हैं कि ज्ञानी निरास्रव किस तरह है? उसके उत्तरमें गाथा कहते हैं—[यस्मात्] जिस कारण [चतुर्विधाः] चार प्रकारके आस्रव याने मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय व योग [ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां] ज्ञान दर्शन गुणोंके द्वारा [समये समये] समय-समयपर [अनेकभेदं]

अपने गुण पर्यायोंमें व्यापक रहता है आदि कथन। (८४) स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे है आदि कथन। (८५) परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे जीव परद्रव्यक्षेत्र-कालभावसे नहीं है आदि कथन। (८६) परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार, जैसे आत्मा सहज ज्ञायक स्वभाव है आदि कथन। (८७) अशुद्ध स्थूल ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे नर, नारक, स्कन्ध आदि अशुद्ध द्रव्यव्यञ्जनपर्यायोंका कथन। (८८) शुद्ध स्थूल ऋजुसूत्रप्रतिपादक व्यवहार, जैसे सिद्ध पर्याय, एक अणु, धर्मास्तिकाय आदि शुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्यायका कथन। (८९) अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे क्रोध, मान आदि विभाव गुणव्यञ्जनपर्यायोंका कथन। (९०) शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार, जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, आदि स्वभावगुणव्यञ्जन पर्यायोंका कथन। (९१) अनादिनित्यपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे मेरु अकृत्रिम चैत्यालय नित्य है आदि कथन। (९२) सादि नित्य पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है आदि शुद्ध होकर सदा रहने वाली पर्यायका कथन। (९३) सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक अशुद्धपर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे-समय समयमें पर्याय विनश्वर है आदि कथन (९४) सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे समय समयमें त्रयात्मक पर्यायें हैं आदि कथन। (९५) उपाधिनिरपेक्ष नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारियोंकी सिद्ध पर्यायसदृश शुद्ध पर्यायोंका कथन। (९६) उपाधिसापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे संसारी जीवोंके उत्पत्ति मरण है आदि कथन। (९७) स्वजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, जीव रागी है आदि कथन। (९८) विजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे मतिज्ञान मूर्त है, दृश्यमान मनुष्य, पशु जीव है आदि कथन। (९९) स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञेय जीव अजीव में ज्ञान जाता है आदि कथन। (१००) शब्दनय पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार, जैसे ऋजुसूत्रनयके विषयको लिंगादि व्याभिचार दूर करके योग्य शब्दसे कहना। (१०१) समभिरूढनयपर्यायार्थिक प्रतिपादकव्यवहार, जैसे शब्दनयसे निश्चित शब्दसे वाच्य अनेक पदार्थोंमें से एक रूढ पदार्थका कथन करना। (१०२) एवंभूतनयपर्यायार्थिकनय प्रतिपादकव्यवहार, जैसे समभिरूढनयसे निश्चित पदार्थको उसी क्रियासे परिणत होनेपर ही उस शब्दसे कहना।

पाठ १७—उपचार

भिन्न-भिन्न द्रव्य गुण पर्यायोंमें परस्पर एकमें एक दूसरेके द्रव्य गुण पर्यायोंका आरोप करना तथा कर्तापन, कर्मपन, करणपन, संप्रदानपन, अपादानपन, संबंध व आधार बताना उपचार है। उपचार जिस भाषामें कथन करता है उसके अनुसार स्वरूप या घटना नहीं है अतः उपचार मिथ्या है, फिर भी उपचारका वर्णन उपदेशमें इस कारण चलता है कि उस प्रसंगमें जो प्रयोजन है या निमित्त है उसका संक्षेपतः सुगमतया बोध हो जावे। इस कारण उपचार कुछ प्रयोजनवान है। उपचारके प्रकार इस प्रकार हैं—

(१०३) उपाधिज उपचरित स्वभाव व्यवहार, जैसे जीवके मूर्तत्व व अचेतनत्व का कथन। (१०४) उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार, जैसे क्रोधकर्मके विपाकके प्रतिफलनको क्रोध कर्म कहना। (१०५) स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार, जैसे प्रभु समस्त पर पदार्थोंके ज्ञाता हैं आदि कथन। (१०६) द्रव्ये द्रव्योपचारक (एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक) असद्भूत व्यवहार जैसे शरीरको जीव कहना। (१०६A) स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे शरीर मिट्टी है आदि कथन। (१०७) एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे अन्न ही प्राण हैं आदि कथन। (१०८) स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे दर्पणमें हुये प्रतिबिम्बको दर्पण कहना। (१०९) एक जातिगुणे अन्य जातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे मदिरापानसे अभिभूत मतिज्ञानको मूर्त कहना। (११०) स्वजातिगुणे स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे ज्ञान ही श्रद्धान है, ज्ञान ही चरित्र है आदि कथन। (१११) एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव मूर्तिक है आदि कथन। (११२) स्वजातिद्रव्ये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे परमाणुको ही रूप कहना। (११३) एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार, जैसे जीव भौतिक हैं आदि कथन। (११४) स्वजातिद्रव्ये

प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म प्रतिबध्नंति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥१७०॥

तृतीया बहुवचन । ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां–तृतीया द्विवचन । समये समये–सप्तमी एकवचन । जम्हा यस्मात्–पंचमी एक० । तेण तेन–तृ० ए० । अबंधो अबंधः–प्रथमा एक० । इत्ति इति–अव्यय । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय ॥ १७० ॥

बुद्धिपूर्वक रागका याने रागमें रागका अभाव होनेसे मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियोंका आस्रव न होनेसे निरास्रव कहा गया है । ५–विवेकपूर्वक पौरुष प्रयत्न करनेके प्रसंगमें बुद्धिपूर्वक वृत्तियों का निरीक्षण करके वर्णन होता है ।

सिद्धान्त—१–ज्ञानीके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी भावना होनेसे आस्रवभावभावनानिमित्तक पुद्गलकर्मोंका आस्रव निवृत्त हो जाता है । २–ज्ञान होनेपर भी जब तक क्षोभ विकार उठता रहता है तब तक क्षोभनिमित्तक (साधारण) आस्रव होता रहता है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक नय (२४) ।

प्रयोग—बन्धनिवृत्तिके लिये रागादिविकारोंको परभाव जान उनसे उपेक्षा करके अविकार ज्ञानस्वरूपमें आत्मत्वका अनुभव करनेका अन्तः पौरुष करना ॥१७०॥

अब पूछते हैं कि ज्ञानगुणका परिणाम बंधका कारण कैसे हैं, उसका उत्तर गाथामें कहते हैं—[**पुनरपि**] फिर भी [**यस्मात् तु**] जिस कारण [**ज्ञानगुणः**] ज्ञानगुण [**जघन्यात्‌ज्ञानगुणात्**] जघन्य ज्ञानगुणके कारण [**अन्यत्वं**] अन्य रूप [**परिणमते**] परिणमन करता है [**तेन तु**] इसी कारण [**सः**] वह ज्ञानगुण [**बंधको भणितः**] कर्मका बंधक कहा गया है ।

तात्पर्य—निर्मोह ज्ञानीके भी अवशिष्ट रागवश हुए ज्ञानगुणके जघन्यपरिणमनसे बंध दशम गुणस्थान तक होता है ।

टीकार्थ—ज्ञानगुणका जब तक जघन्य भाव है याने क्षयोपशमरूप भाव है, तब तक ज्ञान अंतमुहूर्त विपरिणामी होनेसे बार बार अन्य प्रकार परिणमन करता है । सो वह यथाख्यात चारित्र अवस्थासे नीचे अवश्यंभावी रागका सद्भाव होनेसे बंधका कारण ही है ।

भावार्थ—क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेयके ऊपर अंतर्मुहूर्त ही रह पाता है, तदनंतर अन्य ज्ञेयका अवलंबन करता है । इस कारण स्वरूपमें भी अंतमुहूर्त ही ज्ञानका ठहरना हो सकता है । अतः सम्यग्दृष्टि चाहे अप्रमत्तदशामें भी हो, उसके जब तक यथाख्यात चारित्र अवस्था नहीं हुई है तब तक अवश्य राग सद्भाव है, और उस रागके सद्भावसे बंध भी होता है । इस कारण ज्ञान गुणका जघन्य भाव बंधका कारण कहा गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा था कि ज्ञानीके जो कुछ भी जहाँ आस्रव

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शन ज्ञान चरित जो, परिणमते हैं जघन्यभावोंसे ।
इससे ज्ञानी बंधता, नाना पौद्गलिक कर्मोंसे ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन । ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १७२ ॥

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जाना-

नामसंज्ञ—दंसणणाणचरित्त, ज, जहण्णभाव, णाणि, त, दु, पुग्गलकम्म, विविह। **धातुसंज्ञ**—दंस दर्शनायां, जाण अवबोधने, चर गतौ, परि-णम प्रह्वत्वे, भव सत्तायां, बंध बंधने। **प्रातिपदिक**—दर्शनज्ञानचारित्र, यत्, जघन्यभाव, ज्ञानिन्, तत्, तु, पुद्गलकर्मन्, विविह। **मूलधातु**—दृशिर् प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने, चर गत्यर्थः भ्वादि, बन्ध बन्धने। **पदविवरण**—दंसणणाणचारित्तं दर्शनज्ञानचारित्रं-प्रथमा एक०। जं

अब पूछते हैं कि यदि ज्ञानगुणका जघन्यभाव याने अन्यत्वरूप परिणमन कर्मबंधका कारण है तो फिर वह ज्ञानी निरास्रव कैसे रहा उसके उत्तरमें गाथा कहते हैं:—[यत्] क्योंकि [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शनज्ञानचारित्र [**जघन्यभावेन**] जघन्यभावसे [**परिणमते**] परिणमन करता है [**तेन तु**] इस कारणसे [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**विविधेन**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्मणा**] पुद्गल कर्मसे [**बध्यते**] बँधता है ।

तात्पर्य—सराग अवस्थामें दर्शन ज्ञान चारित्रका जघन्य याने निरन्तर न टिक सके ऐसा परिणमन है, इस कारण वहाँ कर्मबन्ध हो जाता है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमें ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोहरूप आस्रवभावके अभावसे निरास्रव ही है । किन्तु वह ज्ञानी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखनेको, जाननेको, आचरण करनेको असमर्थ होता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता है, जानता है, आचरण करता है तब तक उस ज्ञानीके भी ज्ञानके जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्ममलकलंकका सद्भाव होनेसे पुद्गलकर्मका बन्ध होता है । इस कारण तब तक ज्ञानको देखना, जानना और आचरण करना, जब तक ज्ञानका जितना पूर्ण भाव है उतना देखा, जाना, आचरण किया अच्छी तरह न हो जाय । उसके बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है । **भावार्थ**—ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय रागद्वेष मोहका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव है फिर भी जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्यभावसे परिणमते हैं; अतएव सम्पूर्ण ज्ञानका देखना, जानता, आचरण होना

स्वशक्ति स्पृशन् । उच्छिदन् परिवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ।।११६।। ।। १७२ ।।

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ । कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ।।११७।।

तृतीया एक० । णाणी ज्ञानी–प्र० ए० । तेण तेन–तृ० एक० । दु तु–अव्यय । बज्झदि बध्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । पुग्गलकम्मेण पुद्गलकर्मणा–तृ० ए० । विविहेण विविधेन–तृतीया एक० ।।१७२।।

कर्मकलंकविपाक होनेसे उसके कर्मबन्ध है । ३– ज्ञानीके कुछ काल तक जो कर्मबन्ध है वह संसारस्थितिक कर्मबन्ध नहीं है, तो भी ज्ञानी अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानभावकी आराधना करके उस हीनताको दूर कर देता है । ४–वीतराग ज्ञानी होनेपर तो वह सर्वथा निरास्रव ही है ।

सिद्धान्त—१–अविकार सहजसिद्ध चैतन्यभावरूप आत्मतत्वकी भावना होनेसे ज्ञानी निरास्रव है । २–चारित्रमोहके उदयसे ज्ञानीके भी ज्ञानका क्षोभ परिणाममय जघन्य भाव होता है । ३–ज्ञानी अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानस्वभाबको अभेद आराधनाके बलसे ज्ञानके हीनभावको समाप्त कर देता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । ३– उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—ज्ञानमय आत्मस्वरूपका सम्यक् स्वाधीन अनाकुल सहजशुद्ध परिपूर्ण विकास प्राप्त करनेके लिये अविकार, परिपूर्ण सहजानन्दमय अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वकी भावना दृढ़ बनाना चाहिये ।।१७२।।

अब सभी द्रव्यास्रवकी संततिके जीवित रहनेपर ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है ? ऐसा प्रश्न श्लोकमें करते हैं—**सर्वस्या** इत्यादि । अर्थ—सभी द्रव्यास्रवकी संततिके जीते रहनेपर भी ज्ञानी नित्य ही निरास्रव कैसे रहा यदि ऐसी शङ्का हो तो सुनिये—[**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**सर्वे**] समस्त [**पूर्वनिबद्धाः**] पूर्व अज्ञान अवस्थामें बांधे गये [**प्रत्ययाः**] मिथ्या त्वादि आस्रव [**संति**] सत्तारूप हैं वे [**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोगके प्रयोग करने रूप जैसे हों वैसे [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**बध्नंति**] बन्ध करते हैं । [**तु**] और [**संति**] सत्तारूप रहते हुए वे पूर्वबद्ध प्रत्यय उदय आये बिना [**निरुपभोग्यानि**] भोगनेके अयोग्य होकर स्थित हैं [**तु**] लेकिन [**तथा बध्नंति**] वे उस तरह बँधते हैं [**यथा**] जैसे कि [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि भावोंके द्वारा [**सप्ताष्टविधानि**] सात आठ प्रकार फिर [**उपभोग्यानि**] भोगने योग्य [**भवंति**] हो जायें । [**तु**] और [**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोकमें [**पुरुषस्य**] पुरुषके

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः । उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥ १७३ ॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य । बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ।
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि । सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ।
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भवति । आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १७६ ॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वाद् उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु, तथापि स तु निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानाम-

---

सत्तट्ठविह, भूद, णाणावरणादिभाव, एत, कारण, दु, सम्मादिट्ठि, अबंधग, आसवभावाभाव, ण, पच्चय, बंधग, भणिद । **धातुसंज्ञ**—णि-बंध बंधने, अस भुवि, भुंज भोगे, वर स्वीकाराच्छादनयोः, भण कथने, आ-सव स्रवणे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—सर्व, पूर्वनिबद्ध, तु, प्रत्यय, सम्यग्दृष्टि, उपभोगप्रायोग्यं, कर्मभाव, निरुपभोग्य, बाला, स्त्री, यथा, इह, पुरुष, तत्, उपभोग्य, तरुणी, स्त्री, यथा, नर, निरुपभोग्य, तथा, यथा, उपभोग्य, सप्ताष्टविध, भूत, ज्ञानावरणादिभाव, एतत्, कारण, तु, सम्यग्दृष्टि, अबन्धक, भणित, आस्रवभावाभाव, न, प्रत्यय, बन्धक, भणित । **मूलधातु**—बन्ध बन्धने, अस भुवि, युजिर् योगे, भुज पाल-नाभ्यवहारयोः रुधादि, नृ नये भ्वादि क्र्यादि, भू सत्तायां । **पदविवरण**—सव्वे सर्वे–प्रथमा बहु० । पुव्व-

---

भोग्य होनेपर भी विपाक अवस्थामें यौवन अवस्थाको प्राप्त उसी पूर्व परिणीत स्त्रीकी तरह भोगने योग्य होनेसे जैसा आत्माका उपयोग विकार सहित हो उसी योग्यताके अनुसार पुद्गल कर्मरूप द्रव्यप्रत्यय सत्तारूप होनेपर भी कर्मके उदयानुसार जीवके भावोंके सद्भावसे ही बंध को प्राप्त होते हैं । इस कारण ज्ञानीके द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय (आस्रव) सत्तामें मौजूद हैं तो भी वह ज्ञानी तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मके उदयके कार्यरूप राग द्वेष मोह रूप आस्रवभावके अभाव होने पर द्रव्यप्रत्ययोंके बन्धकारणपना नहीं है ।

भावार्थ—सत्तामें मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भी वे आगामी कर्मबंधके करने वाले नहीं हैं । क्योंकि बन्ध तो उनका उदय होनेपर ही होता है । और उनकी इस निमित्तताका भी निमित्त जीवके राग द्वेष मोहरूप भाव होते हैं अतः द्रव्यप्रत्ययके उदयके और जीवके भावोंके कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिकभाव रूप है । सत्तामें विद्यमान द्रव्यकर्म विकारके निमित्त नहीं होते । जैसे विवाहिता बाला विकारका कारण नहीं बनती, वही जब तरुणी होती है तो विकारका कारण बनती है, यदि पुरुष उसके तरुणी होनेके पहिले विरक्त हो जाय तो लो वह तरुणी भी विकारकारक नहीं बनी, ऐसे ही उस विवक्षित कर्मविपाकसे पहिले यह आत्मा ज्ञानी विरक्त हो जाय तो कर्मविपाकका भी जोर नहीं रहता इस तरह अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि हुए बाद चारित्रमोहका उदयरूप परिणाम होनेपर भी ज्ञानी ही कहा गया है । और शुद्धस्वरूपमें लीन रहनेके अभ्याससे समाधिबलसे केवलज्ञान प्रकट होनेसे साक्षात्

यदसंभवः । तत एव न बंधोऽस्य, ते हि बंधस्य कारणं ॥११६॥ ॥ १७३-१७६ ॥

हवंति भवन्ति–वर्तमान० अन्य० बहु० । उवभोज्जा उपभोग्यानि–प्र० बहु० । सत्तट्ठविहा सप्ताष्टविधानि–प्रथमा बहु० । भूदा भूतानि–प्रथमा बहु० । णाणावरणादिभावेहिं ज्ञानावरणादिभावैः–तृ० बहु० । एदेण एतेन–तृ० एक० । कारणेण कारणेन–तृ० एक० । दु तु–अव्यय । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । अवंधगो अवन्धकः–प्रथमा एक० । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । आसवभावाभावे आस्रव-भावाभावे–सप्तमी एक० । ण न–अव्यय । पच्चया प्रत्ययाः–प्रथमा बहु० । वन्धगा वन्धकाः–प्रथमा बहु० । भणिदा भणिताः–प्रथमा बहुवचन ॥ १७३–१७६ ॥

हेतु नहीं होते ।

दृष्टि—१--स्वभावनय (१७९) । २–उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—कर्मास्रवणसे निवृत्त होनेके लिये तथा पूर्वबद्धकर्मके विषरससे बचनेके लिये अविकार सहजसिद्ध चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग देना व दिये रहना ॥१७३-१७६॥

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिए गाथाकी उत्थानिका रूप श्लोक कहते हैं;—**राग** इत्यादि । **अर्थ**—चूँकि ज्ञानीके राग द्वेष मोहका होना असंभव है अतः ज्ञानीके बंध नहीं है क्योंकि रागद्वेषमोह ही बंधके कारण हैं । **भावार्थ**--ज्ञानीके मोह तो है ही नहीं, जो कर्म-विपाकवश रागद्वेष होते हैं वे अभिप्रायपूर्वक नहीं, अतः ४१ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता, शेष वन्ध भी विशेष नहीं होता और जो दशम गुणस्थानसे ऊपरके ज्ञानी हैं उनके किंचिन्मात्र भी बन्ध नहीं है, सिर्फ योग रहने तक ईर्यापथ आस्रव होता है—[**रागः**] राग [**द्वेषः**] द्वेष [**च मोहः**] और मोह [**आस्रवाः**] ये आस्रव [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टिके [**न संति**] नहीं हैं [**तस्मात्**] इसलिये [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभावके बिना [**प्रत्ययाः**] द्रव्यप्रत्यय [**हेतवः**] कर्मबन्धका कारण [**न भवंति**] नहीं हैं [**चतुर्विकल्पः**] मिथ्यात्व आदि चार प्रकारका [**हेतुः**] हेतु [**अष्टविकल्पस्य**] आठ प्रकारके कर्मके बँधनेका [**कारणं भणितं**] कारण कहा गया है [**च**] और [**तेषामपि**] उन चार प्रकारके हेतुओंके भी [**रागादयः**] जीवके रागादिकभाव कारण हैं सो सम्यग्दृष्टिके [**तेषां अभावे**] उन रागादिक भावोंका अभाव होनेपर [**न बध्यंते**] कर्म नहीं बँधते हैं ।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टिके अज्ञानमय रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे संसारविषयक बन्ध नहीं होता ।

टीकार्थ—सम्यग्दृष्टिके रागद्वेष मोह नहीं हैं; अन्यथा सम्यग्दृष्टिपना नहीं बन सकता । रागद्वेष मोहका अभाव होनेपर उस सम्यग्दृष्टिके द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मबंधके कारणपनेको नहीं धारण करते । क्योंकि द्रव्यप्रत्ययोंके पुद्गलकर्मबंधका कारणपना रागादिहेतुक ही है, इसलिये

हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बन्धः । अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते । रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥१२०॥

मोह, च, आस्रव, न, सम्यग्दृष्टि, तत्, आस्रवभाव, विना, हेतु, न, प्रत्यय, हेतु, चतुर्विकल्प, अष्टविकल्प, कारण, भणित, तत्, अपि, च, रागादि, तत्, अभाव, न । **मूलधातु**—रन्ज रागे, द्विष अप्रीतौ अदादि, मुह वैचित्ये दिवादि, अस भुवि, भू सत्तायां, भण शब्दार्थः, बन्ध बन्धने । **पदविवरण**—रागो रागः–प्रथमा एक० । दोसो द्वेषः–प्र० एक० । मोहो मोहः–प्र० एक० । य च–अव्यय । आसवा आस्रवाः–प्रथमा बहु० ।

जहाँ जैसे ज्ञानीकी विवक्षा हो उस प्रकारका अबंधक समझना ।

अब शुद्धनयका माहात्म्य कहते हैं—**अध्यास्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष उन्नत ज्ञान चिह्न वाले शुद्धनयको अङ्गीकार कर निरन्तर एकाग्रपनेका अभ्यास करते हैं वे पुरुष रागादिसे मुक्त चित्त वाले होते हुए बन्धसे रहित अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको देखते हैं ।

भावार्थ—यहाँ शुद्धनयसे एकाग्र होनेका संदेश दिया गया है । सो साक्षात् शुद्धनयका होना तो केवलज्ञान होनेपर होता है और श्रुतज्ञानके अंशरूप शुद्धनयके द्वारा शुद्धस्वरूपका श्रद्धान करना तथा ध्यान कर एकाग्र होना यह यहाँ सम्भव है । सो यह परोक्ष अनुभव है । एक देश शुद्ध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे यह प्रत्यक्ष कहा गया है ।

अब कहते हैं कि जो इससे चिग जाते हैं वे कर्मोंको बाँधते हैं—**प्रच्युत्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष शुद्धनयसे छूटकर फिर रागादिकके योगको प्राप्त होते हैं वे ज्ञानको छोड़कर जिस कर्मबंधने पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवोंके द्वारा अनेक प्रकारके विकल्पोंका जाल कर रक्खा है ऐसे कर्मबन्धको धारण करते हैं । **भावार्थ**—ज्ञानी होनेके बाद भी शुद्धनयसे याने शुद्धताकी प्रतीति से चिग जाय तो वह रागादिके सम्बन्धसे द्रव्यास्रवके अनुसार अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधता है । यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिकसे बन्ध होनेकी प्रधानता की है और उपयोगकी अपेक्षाको गौण रखा है । ज्ञानी अन्य ज्ञेयोंमें उपयुक्त होवे तो भी मिथ्यात्वके बिना जितना रागका अंश है वह ज्ञानीके अभिप्रायपूर्वक नहीं है, इसलिए उस स्थितिमें हुआ अल्पबन्ध संसारका कारण नहीं है । चारित्रमोहके रागसे कुछ बन्ध होता है वह अज्ञानके पक्षमें नहीं गिना, परंतु बन्ध अवश्य है सो उसीके मेटनेको शुद्धनयसे न छूटनेका और शुद्धोपयोगमें लीन होनेका सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको उपदेश है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथाचतुष्कमें बताया गया था कि भावास्रवका अभाव होनेसे द्रव्यप्रत्यय बन्धके हेतु (आस्रवके हेतु) नहीं होते । इसी अर्थका समर्थन इस गाथायुग्ममें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१-अविरत सम्यग्दृष्टिके अनंतानुबंधीकषायसम्बन्धी राग द्वेष मोह नहीं

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥ (युगलम्)

ज्यौं नर गृहीत भोजन, होकर जठराग्नियुक्त नानाविध ।
मांस वसा रुधिरादिक, रसभावोंरूप परिणमता ॥१७९॥
त्यौं ज्ञानीके पहिले, बद्ध हुए जो अनेकप्रत्यय हैं ।
विविध कर्म यदि बाँधे, जानो वे शुद्धनयच्युत हैं ॥१८०॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं । मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥१७९॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं । बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥१८०॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्मबंधं परिणामयंति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात् । इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि । नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्-

---

नामसंज्ञ—जह, पुरिस, आहार, गहिअ, त, अणेयविह, मंसवसारुहिरादि, भाव, उयरग्गिसंजुत्त, तह, णाणि, दु, पुव्व, ज, बद्ध, पच्चय, वहुवियप्प, कम्म, त, णयपरिहीण, उ, त, जीव । **धातुसंज्ञ**—गह ग्रहणे, परि-णम अर्पणे, जु मिश्रणे, वन्ध बन्धने । **प्रातिपदिक**—यथा, पुरुष, आहार, गृहीत, तत्, अनेकविध, मांस, वसारुधिरादि, भाव, उदराग्निसंयुक्त, तथा, ज्ञानिन्, तु, पूर्व, यत्, बद्ध, प्रत्यय, बहुविकल्प, कर्मन्, तत्-

---

पूर्व बँधे [ये] जो [प्रत्ययाः] द्रव्यप्रत्यय [ते] वे [बहुविकल्पं] बहुत भेदों वाले [कर्म] कर्म को [बध्नंति] बांधते हैं। [ते] वे [जीवाः] जीव [तु नयपरिहीनाः] शुद्धनयसे रहित हैं ।

तात्पर्य—पुरुषगृहीत आहारके नाना परिणमनकी तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययसे गृहीत कर्मके प्रकृति प्रदेश आदि नाना बंधरूप परिणमन हो जाते हैं ।

टीकार्थ—जिस समय ज्ञानी शुद्धनयसे छूट जाता है उस समय उसके रागादि भावोंके सद्भावसे पूर्व बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय अपने हेतुत्वके हेतुका सद्भाव होनेसे कार्यभावका होना अनिवार्य होनेके कारण ज्ञानावरणादि भावोंसे पुद्गलकर्मको बंधरूप परिणमाते हैं। और यह बात अप्रसिद्ध नहीं है। पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार भी उदराग्निसे रस, रुधिर, मांस आदि भावोंसे परिणमन करना देखनेमें आता है। **भावार्थ**—ज्ञानी भी जब शुद्धनयसे छूटता तब रागादिरूप होता हुआ कर्मोंको बांधता है। क्योंकि रागादिभाव द्रव्यास्रवके निमित्त के निमित्त होते हैं तब वे द्रव्यप्रत्यय अवश्य कर्मबन्धके कारणभूत होते हैं ।

घनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ।।१२३।। रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां, नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽतः । स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ।।१२४।। इति आस्रवो निष्क्रांतः ।। १७९-१८० ।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः ।।४।।

बहु० । बहुवियप्पं बहुविकल्पं–द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण । बज्झंते बध्नन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । कम्मं कर्म–द्वितीया एकवचन कर्मकारक । ते–प्रथमा बहु० । णयपरिहीणा नयपरिहीनाः–प्र० बहु० । उ तु–अव्यय । ते–प्रथमा बहु० । जीवा जीवाः–प्रथमा बहुवचन ।। १७९–१८० ।।

अनुभवते हैं उनके सब रागादिक आस्रव भाव दूर हो जाते हैं तब सब पदार्थोंको जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है । इस प्रकार आस्रवका स्वांग रंगभूमिमें बना था उसका ज्ञानने यथार्थस्वरूप जान लिया तब वह निकल गया ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथायुग्ममें कहा था कि भावास्रवके बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबन्धके हेतु नहीं है, हाँ जब शुद्धनयसे च्युत हो आत्मा रागादियोगको प्राप्त होता है तब वह कर्मबंधका बोझ करने लगता है । इसी अर्थका समर्थन इस गाथायुग्ममें उदाहरणपूर्वक किया है ।

तथ्यप्रकाश—१–अखण्ड सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्वका नयपक्षपातरहित होकर निरखना शुद्धनय कहलाता है । २–जब आत्मा शुद्धनयमें उपयुक्त है तब उसे अबन्धक कहा है । ३–जब ज्ञानी शुद्धनयसे रहित हो जाता है तब वहाँ रागादिकके होनेसे उदित द्रव्यप्रत्ययके निमित्तसे कार्माणवर्गणा ज्ञानावरणादि कर्म रूपसे परिणमने लगते हैं । ३–जैसे पुरुषगृहीत आहार जठराग्नि द्वारा रसादिरूपसे परिणम जाता है वैसे ही शुद्धनय-परिहीन जीवके योग द्वारा गृहीत कार्माणवर्गणा स्कन्ध रागादिभावके द्वारा ज्ञानावरणादिरूपसे परिणम जाते हैं ।

सिद्धान्त—१– शुद्धनयपरिहीन जीवके रागादिभावका निमित्त पाकर द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मबन्धके निमित्त हो जाते हैं । २–शुद्धनयमें उपयुक्त आत्माके रागादिरूप भावास्रवके अभावसे बन्ध नहीं होनेके कारण सहज आनन्द अभ्युदित होता ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, निमित्तदृष्टि (५३, ५३अ) । २–अनीश्वरनय (१८६) ।

प्रयोग—रागादिभाव विकारको सकलसंकटहेतु बन्धहेतु जानकर उस परभावसे उपेक्षा करके अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ।।१७९–१८०।।

इस प्रकार श्री अमृतचंदजी सूरि द्वारा विरचित समयसारव्याख्या आत्मख्यातिमें आस्रवका प्ररूपण करने वाला चतुर्थ अङ्क पूर्ण हुआ ।

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनंदति—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥ (त्रिकलम्)

उपयोगमें उपयोग, क्रोधादिमें उपयोग नहिं कोई।
क्रोधादिमें क्रोधादि,, उपयोगमें क्रोधादि नहीं ॥१८१॥
कर्म नोकर्ममें नहिं, होता उपयोग शुद्ध परमात्मा।
उपयोगमें न होते, कर्म व नोकर्म भी कोई ॥१८२॥
यह यथार्थ सत्प्रज्ञा, होती जब इस सुभव्य आत्माके।
तब परभाव न करता, केवल उपयोग शुद्धात्मा ॥१८३॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः। क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः। उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य। तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं

णाण, जइया, उ, जीव, तइया, ण, किंचि, भाव, उवओग, सुद्धप्पा। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, हो सत्तायां, कुव्व करणे, सुज्झ नैर्मल्ये। प्रातिपदिक—उपयोग, क्रोधादि, न, किम्, अपि, उपयोग, क्रोध, च, एव, हि,

---

शुद्धात्मा [किंचित् भावं] उपयोगके सिवाय अन्य कुछ भी भाव [न करोति] नहीं करता।

तात्पर्य—चैतन्यमात्र आत्मामें चेतना ही पाया जाता, क्रोधनादिक नहीं ऐसा जानने वाला ज्ञानी चेतनेके सिवाय वस्तुतः अन्य कुछ नहीं करता।

टीकार्थ—वास्तवमें एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि दोनोंका भिन्न भिन्न प्रदेश होनेसे एक सत्त्व नहीं बनता और सत्त्वके एक न होनेसे उसके साथ आधाराधेय सम्बन्ध भी नहीं है। इस कारण द्रव्यका अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठारूप आधाराधेय सम्बन्ध ठहरता है, इसलिए ज्ञान जाननक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है, क्योंकि जाननपना याने जाननक्रिया ज्ञानसे अभिन्न स्वरूप होनेके कारण ज्ञानमें ही है और क्रोधादिक हैं वे क्रोध

धेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव, क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति

अव्यय। उवओगो उपयोगः—प्रथमा एक०। कोहे क्रोधे—सप्तमी एक०। कोहो क्रोधः—प्रथमा एक०। च—अव्यय। एव—अव्यय। हि—अव्यय। उवओगे उपयोगे—सप्तमी एक०। णत्थि, खलु—अव्यय। कोहो क्रोधः—प्र० ए०। अट्ठवियप्पे अष्टविकल्पे—स० एक०। कम्मे कर्मणि—सप्तमी एक०। णोकम्मे नोकर्मणि—सप्तमी एक०। च, अपि, ण, अत्थि अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। उवओगो उपयोगः—प्र० ए०। उवओगम्हि उपयोगे—सप्तमी एक०। च, कम्मं कर्म—प्र० एक०। च अवि अपि णो नो—अव्यय। अत्थि, एयं

ज्ञान ही ज्ञानमें प्रतिष्ठित निरखने वालेको अन्यका अन्यमें आधाराधेय भाव प्रतिभासित नहीं होता। इसलिए ज्ञान ही ज्ञानमें ही है और क्रोधादिक ही क्रोधादिकमें ही है। इस प्रकार ज्ञानका और क्रोधादिक व कर्म नोकर्मका भेदज्ञान अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—उपयोग तो चेतनका परिणमन होनेसे ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म ये सब पुद्गलद्रव्यके ही परिणाम होनेसे जड़ हैं, इनमें और ज्ञानमें प्रदेशभेद होनेसे अत्यन्त भेद है। इसी कारण उपयोगमें तो क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक कर्म, नोकर्ममें उपयोग नहीं है। सो इनमें परमार्थस्वरूप आधाराधेय भाव नहीं हो सकता है। अपना अपना आधाराधेय भाव अपने अपनेमें है। इस भेदको जानना ही भेदविज्ञान है यह अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—**चैद्रूप्यं** इत्यादि। **अर्थ**—चैतन्यरूपको धारण करता हुआ ज्ञान और जड़रूपको धारण करता हुआ राग इन दोनोंका जो अज्ञानदशामें एकत्व दिखता था उसको अन्तरंगमें अनुभवके अभ्यासरूप बलसे अच्छी तरह विदारणके द्वारा सब प्रकार विभाग करके यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त होता है इस कारण हे सत्पुरुषो! तुम इस भेदज्ञानको प्राप्त करके दूसरेसे याने रागादिभावोसे रहित होते हुए एक शुद्ध ज्ञानघनके समूहका आश्रय कर उसमें लीन होकर मुदित होओ।

भावार्थ—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिकपुद्गलके विकार होनेसे जड़ हैं सो दोनों अज्ञानसे एकरूप विदित होते हैं। सो जब भेदविज्ञान प्रकट हो जाता है तब ज्ञानका और रागादिकका भिन्नपना प्रकट होता है तब यह ज्ञानी ऐसा जानता है कि ज्ञानका स्वभाव

पाठ १८-अवाप्ति नय

पदार्थ को शीघ्र सुगमविधिसे निःसंशय यथार्थ समझनेके लिये अन्य भी दृष्टियां याने नय हैं। इन नयोंमें जो अभेदपरक नय हैं वे निश्चयनय हैं, जो भेदपरक नय हैं वे व्यवहारनय हैं। इन अवाप्तिनयों का निर्देश २२वें पाठ में १५२ नं० से २०३ नं० तकके नयोंमें किया जावेगा।

पाठ १९-निमित्तकारण व आश्रयभूत कारण का विवेक

निमित्तका सही प्रयोग करनेमें और नयदृष्टि परखनेमें जहां अनेक परिचय ज्ञातव्य हैं वहां कुछ प्रसंगोंमें निमित्त कारण व आश्रयभूत कारणका अन्तर भी ज्ञातव्य है। निमित्त कारण उसे कहते हैं जिसका नैमित्तिक कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो जैसे क्रोध प्रकृतिका विपाक (उदय या उदीरणा) होनेपर ही जीवमें क्रोध विकल्प होना, क्रोधप्रकृतिविपाक न होनेपर क्रोधविकल्प नहीं होना। यह अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कर्मविपाकमें है अतः क्रोधप्रकृति-विपाक क्रोधमें निमित्त कारण है। तथा जिस व्यक्तिपर उपयोग देकर क्रोध प्रकट हो उसे आश्रयभूतकारण कहते हैं। आश्रयभूतकारणका विकारके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं, किन्तु उपयोग देकर कारण बनाया गया, अतः आश्रयभूतकारण आरोपित कारण है, उपचरित कारण है, निमित्तकारण नहीं।

यहां यह ज्ञातव्य है कि निमित्त उपादानमें कुछ परिणति नहीं करता, किन्तु ऐसा योग है कि निमित्त कारणके सान्निध्यमें ही विकार होता, निमित्त कारणके अभावमें विकार नहीं हो सकता। आश्रयभूतकारण उपादानमें भी कुछ परिणति नहीं करता और आश्रयभूत विषयके न होनेपर विकार न हो और विषयभूत पदार्थके होनेपर ही विकार हो या विषयभूत पदार्थ के होनेपर विकार हो ही हो ऐसा कुछ भी नियन्त्रण नहीं है। हां प्रकृतिके उदय होनेपर यह जीव यदि विषयभूत पदार्थपर उपयोग देता है तो विकार व्यक्त होता है उपयोग न दे तो विकार व्यक्त नहीं होता, प्रकृति के उदय होने पर व विषयभूत पदार्थ पर उपयोग न होने पर प्रकृतिविपाकविमित्तक विकार अव्यक्त होकर निकल जाता है।

विकारसे हटना व स्वभावमें लगना यह अनादिसे विषयप्रेमी इस जीवको कैसे बने ? जब तक विकारसे घृणा न हो तब तक विकारसे हटना संभव नहीं। विकारसे घृणा तब बनेगी जब यह ज्ञानमें आ जाये कि विकार असार है, अपवित्र है, परभाव है और यह ज्ञान तब बने जब विकार नैमित्तिक है यह बात ज्ञात हो। विकार नैमित्तिक है यह ज्ञान तब बने जब निमित्तका नैमित्तिक से अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध ज्ञात हो। इस तरह निमित्तका नैमित्तिकका यथार्थ ज्ञान नैमित्तिक विकारसे हटनेके लिए प्रायोजनिक है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि आश्रयभूत पदार्थ विकारका निमित्त नहीं है, किन्तु व्यक्त विकारके लिये आश्रय-भूत होनेसे व्यवहारमें उसे निमित्त कह देते हैं। सो आश्रयभूतकारणको निमित्त बताकर, उदाहरणमें रख-रखकर निमित्तका सर्वथा खण्डन करना या तो अज्ञानमूलक है या पहिले आश्रयभूतको ही निमित्त समझकर उसका खण्डन करते चले आये थे, सो अब वास्तविक निमित्तकी बात सामने आनेपर भी उसी हठको निभाना कपटमूलक है। निमित्त विकारका कर्ता नहीं, किन्तु निमित्तसान्निध्य विना विकार होता नहीं। यों निमित्तकारण व आश्रयभूतकारणका विवेक होनेपर, नयदृष्टियोजना, व आत्महितके लिए प्रयोगविधि सही बन जाती है।

पाठ २०-व्यवहार का विवेक

व्यवहार शब्दका प्रयोग व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय, भेदविषयक व्यवहारनय, नयविषयप्रतिपादक व्यवहार व उपचार इन चार स्थलोंपर होता है। अतः जहां व्यवहार शब्द आवे वहां यह विवेक करना अत्यावश्यक है कि यह व्यवहार उन चारोंमें से कौनसा है। यदि यह विवेक न रखा जावे और उपचार वाले व्यवहारको मिथ्या कहा है सो उसही नातेको सर्वत्र व्यवहारमें अपनाकर आदिके तीनों व्यवहारोंको मिथ्या कह दिया जाये तो सर्व आगम शास्त्र मिथ्या मानने पड़ेंगे। अतः व्यवहारका विवेक अत्यावश्यक है।

उक्त चारों व्यवहारोंका स्पष्टीकरण पाठ नं० ५, ६, ७, १०, ११, १२, १५, १६, १७ में किया है। उसे

रूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति । शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेष-मोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ॥१८१-१८३॥

न—अव्यय । किंचि किंचित्—अव्यय अन्तः किं—प्र० ए० । कुव्वदि करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । भावं—द्वितीया एक० । उवओगसुद्धप्पा उपयोगशुद्धात्मा—प्रथमा एकवचन कर्ताकारक ॥१८१-१८३॥

प्रयोग—ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानस्वरूपको ही निरखकर आस्रवनिरोधके वातावरण में अपनेको निराकुल अनुभवना ॥१८१-१८३॥

अब प्रश्न होता है कि भेदविज्ञानसे ही कैसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर गाथामें कहते हैं—[**यथा**] जैसे [**कनकं**] सुवर्ण [**अग्नितप्तं अपि**] अग्निसे तप्त हुआ भी [**तं**] अपने [**कनकभावं**] सुवर्णपनेको [**न परित्यजति**] नहीं छोड़ता [**तथा**] उसी तरह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कर्मोदयतप्तस्तु**] कर्मोंके उदयसे तप्त हुआ भी [**ज्ञानित्वं**] ज्ञानीपनेके स्वभाव को [**न जहाति**] नहीं छोड़ता [**एवं**] इस तरह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**जानाति**] जानता है । और [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**अज्ञानतमोऽवच्छन्नः**] अज्ञानरूप अंधकारसे व्याप्त होता हुआ [**आत्मस्व-भावं**] आत्माके स्वभावको [**अजानन्**] नहीं जानता हुआ [**रागमेव**] रागको ही [**आत्मानं**] आत्मा [**मनुते**] मानता है ।

तात्पर्य—परभावसे भिन्न अन्तस्तत्त्वका दर्शी आत्मा कर्मविपाकसे संतप्त होनेपर भी ज्ञातापनको नहीं छोड़ता ।

टीकार्थ—जिसके यथोदित भेदविज्ञान है, वही उस भेदज्ञानके सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ ऐसा जानता है । जैसे प्रचंड अग्निसे तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता उसी तरह तीव्र कर्मके उदयसे घिरा हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानपनेको नहीं छोड़ता, क्योंकि जो जिसका स्वभाव है वह हजारों कारण मिलनेपर भी अपने स्वभावको छोड़नेके लिये असमर्थ है । क्योंकि उसके छोड़नेपर उस स्वभावमात्र वस्तुका ही अभाव हो जायगा, परन्तु वस्तुका अभाव होता नहीं, क्योंकि सत्ताका नाश होना असंभव है । ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मोंसे व्याप्त हुआ भी रागरूप, द्वेषरूप और मोहरूप नहीं होता । किन्तु वह तो एक शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है । परंतु जिसके यथोदित भेदविज्ञान नहीं है, वह उस भेद-विज्ञानके अभावसे अज्ञानी हुआ अज्ञानरूप अंधकारसे आच्छादित होनेके कारण चैतन्यचमत्कार मात्र आत्माके स्वभावको नहीं जानता हुआ रागस्वरूप ही आत्माको मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, परंतु शुद्ध आत्माको कभी नहीं पाता । इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति है ।

एवोच्छेदात् । नचास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाशासंभवात् । एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किन्तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते । यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते । ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ।। १८४-१८५ ।।

एवं, ज्ञानिन्, अज्ञानिन्, राग, एव, आत्मन्, अज्ञानतमोवच्छन्न, आत्मस्वभाव, अजानत् । **मूलधातु**—तप संतापे भ्वादि, तप ऐश्वर्ये दिवादि, परि-त्यज हानौ भ्वादि, ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, ज्ञा अवबोधने, मनु अवबोधने । **पदविवरण**—जह यथा–अव्यय । कणयं कनकं–प्रथमा एक० । अग्गितवियं अग्नितप्तं–प्र० ए० । पि अपि–अव्यय । कणयहावं कनकभावं–द्वि० ए० । ण न–अव्यय । तं–द्वि० ए० । परिच्चयइ परित्यजति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तह तथा–अव्यय । कम्मोदयतविदो कर्मोदयतप्तः–प्रथमा एक० । ण न, जहदि जहाति–वर्तमान० अन्य० एक० । णाणी ज्ञानी–प्र० ए० । दु तु, णाणित्तं ज्ञानित्वं–द्वि० ए० । एवं, जाणदि जानाति–वर्तमान० अन्य० एक० । णाणी ज्ञानी–प्र० ए० । अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । मुणदि मनुते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । रायं रागं–द्वि० एक० । एव–अव्यय । आदं आत्मानं–द्वि० ए० । अण्णाणतमोच्छण्णो अज्ञानतमोऽवच्छन्नः–प्र० एक० । आदसहावं आत्मस्वभावं–द्वि० ए० । अजाणंतो अजानन्–प्रथमा एकवचन कृदन्त ।।१८४-१८५।।

२–ज्ञानीका ज्ञानीपन न छूटनेका कारण अविकार सहजज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी दृढ़ प्रतीति है । ३–ज्ञानी जीवमें कर्मविपाक प्रतिफलित होनेपर भी कर्मरसमें उपयुक्त नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञानभावमें ही उपयुक्त होता है । ४–अज्ञानी ही निज सहजस्वरूपको न जानता हुआ प्रतिफलित कर्मानुभागको आपा मानता हुआ राग द्वेष आदि विकल्परूप परिणमता है । ५–अज्ञानीके भेदविज्ञान न होनेसे शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं है । ६–ज्ञानीके भेदविज्ञान होनेसे शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि है ।

सिद्धान्त—१–ज्ञानी रागादि परिहरणशील होनेसे शुद्धात्मस्वरूपका संवेदन करता है । २–अज्ञानी रागादिपरिग्रहणशील होनेसे रागादिविभावरूप अपनेको परिणमाता है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—औपाधिक प्रतिफलन कुछ भी हुआ करे उससे अपना प्रयोजन न जानकर ज्ञानाकारमात्र स्वको अनुभवनेका पौरुष करना ।। १८४-१८५ ।।

प्रश्न—शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे ही संवर कैसे होता है ? **उत्तर**—[**शुद्धं तु**] शुद्ध आत्माको [**विजानन्**] जानता हुआ [**जीवः**] जीव [**शुद्धं चैव**] शुद्ध ही [**आत्मानं**] आत्मा को [**लभते**] प्राप्त करता [**तु**] और [**अशुद्धं आत्मानं**] अशुद्ध आत्माको [**जानन्**] जानता हुआ [**अशुद्धमेव**] अशुद्ध आत्माको ही [**लभते**] प्राप्त करता है ।

पि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः । शुद्धमात्मानमास्ते । तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।। ।।१८६।।

पदविवरण—सुद्धं शुद्धं-द्वितीया एकवचन । तु-अव्यय । वियाणंतो विजानन्-प्रथमा एक० कृदन्त । सुद्धं शुद्धं-द्वितीया एक० । च, एव, अप्पयं आत्मानं-द्वितीया एकवचन । लहदि लभते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवो जीवः-प्रथमा एक० । जाणंतो जानन्-प्र० ए० । दु तु-अव्यय । असुद्धं अशुद्धं-द्वि० ए० । असुद्धं अशुद्धं-द्वितीया एक० । एव-अव्यय । अप्पयं आत्मानं-द्वितीया एक० । लहइ लभते-वर्तमान लट् अन्य पुरुषएकवचन क्रिया ।। १८६ ।।

किसी भी प्रकार धारावाही ज्ञानसे निश्चल शुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ रहता है तो वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा रूप क्रीड़ावन वाले अपने आत्माको परपरिणति रूप राग, द्वेष, मोहके निरोधसे शुद्धको ही पाता है । **भावार्थ**—एक प्रवाहरूप ज्ञानको धाराबाही ज्ञान कहते हैं । इसकी दो रीतियाँ हैं—(१) मिथ्याज्ञान बीचमें न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है और (२) जब तक उपयोग एक ज्ञेयमें उपयुक्त रहे तब तक धारावाही ज्ञान कहा जाता है, यह अंतर्मुहूर्त ही रह पाता है, सो जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा धारावाही ज्ञानका अर्थ जानना । प्रथम रीति वाले धारावाही ज्ञानसे प्रतीतिरूप शुद्धात्मत्वकी प्राप्ति है । द्वितीय रीति वाले धारावाही ज्ञानसे क्षपकश्रेणिस्थ योगियोंको व्यक्त निर्मल शुद्धात्मत्वकी प्राप्ति होती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुग्ममें भेदविज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है यह बताते हुए यह दर्शाया गया था कि शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है । सो अब इस गाथामें यही युक्तिसहित बताया गया है कि कैसे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है ।

तथ्यप्रकाश—१-निरंतर धारावाही ज्ञानसे सहजशुद्ध ज्ञानस्वभावमें उपयोग रखने वाला भव्य शुद्धात्माको प्राप्त करता है । २-सहजज्ञानस्वभावमें उपयोग रखने वाले ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है । ३-ज्ञानमयभावसे ज्ञानमयभाव ही होनेके कारण नवीनकर्मास्रवणका निमित्तभूत रागद्वेषमोहसंतान दूर हो जाता है । ४-सविकार आत्मामें ही नित्य उपयोग रखने वाला अज्ञानी अशुद्धात्माको ही प्राप्त होता है । ५-सविकार अपनेको आत्मसर्वस्व मानने वाले अज्ञानीके अज्ञानमय ही भाव होता है । ६-अज्ञानमयभावसे अज्ञानमय ही भाव होनेके कारण नवीनकर्मास्रवणका निमित्तभूत रागद्वेषमोहसंतान पुष्ट होता रहता है । ७-अशुद्धात्माकी उपलब्धिसे अशुद्ध बने रहनेकी संतति चलती रहती है । ८-शुद्धात्माकी उपलब्धिसे संवरतत्त्व प्रकट होता है, शुद्ध पर्यायकी संतति बनती रहती है ।

सिद्धांत—१-सहजज्ञानस्वभावके उपयोगसे ज्ञानमयपरिणमन होता है । २-विकृत

च्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन्, मनागपि कर्मनोकर्मणोर-संस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते; स खल्वे-कत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानम-

एव, त, कम्मपविमुक्क। **धातुसंज्ञ**—रुंध रोधने, ठा गतिनिवृत्तौ, ज्झा ध्याने, चेत स्मृत्यां, लभ प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—आत्मन्, द्विपुण्यपापयोग, दर्शनज्ञान, स्थित, इच्छाविरत, च, अन्य, यत्, सर्वसंगमुक्त, कमन्, नोकर्मन्, चेतयितृ, एकत्व, ध्यायत्, दर्शनज्ञानमय, अनन्यमय, अचिर, कर्मप्रविमुक्त। **मूलधातु**—रुधिर आवरणे, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, ध्यै चिन्तायां, चिति संज्ञाने भ्वादि, चित संचेतने चुरादि, डुलभष् प्राप्तौ।

अन्य वस्तुमें इच्छारहित [**च**] और [**सर्वसंगमुक्तः**] सब परिग्रहसे रहित हुआ [**आत्मना**] आत्माके द्वारा [**आत्मानं**] आत्माको [**ध्यायति**] ध्याता है तथा [**कर्म नोकर्म**] कर्म नोकर्मको [**न अपि**] नहीं ध्याता और आप [**चेतयिता**] चेतनहार होता हुआ [**एकत्वं**] एकत्वको [**चिंतयति**] विचारता है [**सः**] वह जीव [**अनन्यमयः**] अनन्यमय होकर [**आत्मानं ध्यायन्**] आत्माका ध्यान करता हुआ [**अचिरेण**] थोड़े समयमें [**एव**] ही [**कर्मप्रविमुक्तं**] कर्मरहित [**आत्मानं**] आत्माको [**लभते**] प्राप्त करता है।

तात्पर्य—आत्माका आत्मामें एकाग्र ध्यान करने वाला पुरुष अल्पकालमें कर्मरहित हो जाता है।

टीकार्थ—राग द्वेष मोहरूप मूल वाले शुभाशुभ योगोंमें प्रवर्तमान अपने आत्माको जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञानके बलसे आपसे ही अत्यन्त रोककर शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक आत्मद्रव्यमें अच्छी तरह ठहराकर समस्त परद्रव्योंकी इच्छाके परिहारसे समस्तसंगरहित होकर नित्य ही निश्चल हुआ किंचिन्मात्र भी कर्मको नहीं स्पर्श करके अपने आत्माको आत्माके द्वारा ही ध्याता हुआ स्वयं चेतने वाला होनेसे अपने चेतनारूप एकत्वको ही अनुभवता है वह जीव निश्चयसे एकत्वको चेतनेसे परद्रव्यसे अत्यन्त भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र अपने आत्माको ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त हुआ शुद्धात्माका उपलम्भ होने पर समस्त परद्रव्यमयतासे अतिक्रान्त होता हुआ अल्प समयमें ही सब कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है। यह संवरका प्रकार है।

भावार्थ—जो भव्य जीव रागद्वेषमोहमिश्रित शुभ अशुभ मन, वचन, कायके योगोंसे अपने आत्माको भेदज्ञानबलसे चलित न होने दे, पश्चात् शुद्ध दर्शनज्ञानमय अपने स्व-रूपमें अपनेको निश्चल करे और फिर समस्त बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहोंसे रहित होकर कर्म

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१६०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१६१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१६२॥ (त्रिकलम्)

उनके हेतु बताये, ये अध्यवसान सर्वदर्शीने ।
मिथ्यात्व योग अविरति, अज्ञान कषायमय परिणत ॥१६०॥
हेतु विना ज्ञानीके, अवश्य आस्रवनिरोध हो जाता ।
आस्रवभाव विना कर्मोंका भि निरोध हो जाता ॥१६१॥
कर्मनिरोध हुआ तब, नोकर्मोंका निरोध हो जाता ।
नोकर्मके रुकेसे, संसारनिरोध हो जाता ॥१६२॥

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥१६०॥ हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः । आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१६१॥ कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः । नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१६२॥

संति तावज्जीवस्य, आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः । कर्म-

---

नामसंज्ञ—त, हेउ, भणिद, अज्झवसाण, सव्वदरिसि, मिच्छत्त, अण्णाण, अविरयभाव, य, जोग, य, हेउअभाव, णियम, णाणि, आसवणिरोह, आसवभाव, विणा, कम्म, वि, णिरोह, कम्म, अभाव, य,

---

(२) विशुद्धदर्शनज्ञानसामान्यात्मक शाश्वत अन्तस्तत्त्वमें अभेद उपयुक्त वीतराग आत्मा सर्वकर्मोंसे विप्रमुक्त हो जाता है ।

दृष्टि—१– स्वभावनय (१७६) । २– पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको रोककर ज्ञानस्वभावमें प्रतिष्ठित होकर अपनेमें मग्न होनेका पौरुष करना ॥ १८७-१८६ ॥

आगे संवरका क्रम बतलाते हैं—[तेषां] पूर्वोक्त राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवोंके [हेतवः] हेतु [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [अज्ञानं] अज्ञान [अविरतभावः] अविरति भाव [च योगः] और

इत्येष संवरक्रमः ।। संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् । स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ।।१२९।। भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया । ताव-

च, नोकर्मन्, अपि, निरोध, नोकर्मनिरोध, च, संसारनिरोधन । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, भ्वादि, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, भू सत्तायां । **पदविवरण**—तेसिं तेषां–षष्ठी बहु० । हेऊ हेतवः–प्रथमा बहु० । भणिया भणितः–प्रथमा बहु० । अज्झवसाणाणि अध्यवसानानि–प्रथमा बहु० । सव्वदरिसीहिं सर्वदर्शिभिः–तृतीया बहु० । मिच्छत्तं मिथ्यात्वं–प्रथमा एक० । अण्णाणं अज्ञानं–प्र० एक० । अविरयभावो अविरतिभावः–प्र०

है, कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है और नोकर्मका अभाव होनेसे संसारका अभाव होता है । ऐसा यह संवरका अनुक्रम है ।

भावार्थ—जब तक आत्मा और कर्ममें एकत्वकी मान्यता है, उनमें भेदविज्ञान नहीं तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप अध्यवसान इसके विद्यमान हैं, उनसे राग द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बंधते हैं, कर्मसे नोकर्म याने शरीरादिक प्रगट होते हैं और नोकर्मसे संसार है । लेकिन जिस समय आत्माको आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान हो जाता है तब उसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है, उसके होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसानका अभाव होता है, अध्यवसानका अभाव होनेसे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवका अभाव होता है, आस्रवके अभावसे कर्म नहीं बंधता, कर्मके अभावसे नोकर्म नहीं प्रगट होता और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव होता है । यही संवरका तरीका है ।

अब संवरके कारणभूत भेदविज्ञानकी भावनाका उपदेश करते हैं—**संपद्यते** इत्यादि । **अर्थ**—शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिसे साक्षात् संवर होता ही है । शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति आत्मा और कर्मके भेदविज्ञानसे होती है इस कारण भेदविज्ञानको विशेष रूपसे भाना चाहिये ।

अब कहते हैं कि भेदविज्ञान कब तक भाना चाहिये ? **भावये** इत्यादि । **अर्थ**—इस भेदविज्ञानको अखण्ड प्रवाहरूपसे तब तक भावे जब तक कि ज्ञान परभावोंसे छूटकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता है । **भावार्थ**—ज्ञानका ज्ञानमें ठहरना दो प्रकारसे जानना । (१) मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और उसके बाद मिथ्यात्व नहीं हो । (२) शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान ज्ञानरूप ही ठहरे, अन्य विकाररूप नहीं परिणमे । सो दोनों ही प्रकारसे जब तक ज्ञान ज्ञानमें न ठहर जाय तब तक भेदविज्ञानकी निरंतर भावना रखनी चाहिये ।

अब भेदविज्ञानकी महिमा कहते हैं—**भेद** इत्यादि । **अर्थ**—निश्चयतः जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और जो कोई कर्मसे बँधे हैं वे इसी भेदविज्ञानके अभाव

रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण । बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥ इति संवरो निष्क्रांतः ॥ १९०-१९२ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽकः ॥५॥

वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णिरोहो निरोधः–प्र० ए० । णोकम्मणिरोहेण नोकर्मनिरोधेन–तृतीया एक० । य च–अव्यय । संसारणिरोहणं संसारनिरोधनं–प्रथमा एकवचन । होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ १९०-१९२ ॥

कर्मका अभाव होता है । (१०) कर्मका अभाव होनेपर शरीरका अभाव होता है । (११) शरीरका अभाव होनेपर संसारका अभाव होता है । (१२) भावास्रवका निरोध सम्वर है । (१३) संवर तत्त्व पानेपर सकलसंकट दूर हो जाते हैं ।

सिद्धान्त—(१) आत्माके शुद्ध भावसे शुद्धपरिणतिका सन्तान बनना स्वयंका कार्य है । (२) आत्माके शुद्धभावके निमित्तसे पौद्गलिक कर्मोंका सम्वर होता है ।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) । २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—आत्मा व कर्ममें याने आत्माके साथ विभाव द्रव्यकर्म शरीर व क्रियामें अभेदरूप अपनेको अनुभवना सर्व विडम्बनाओंका मूल जानकर स्वपरैकत्वाध्यास दूर करनेके लिये भेदविज्ञान करना और परभावसे उपेक्षा करके अपने ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥ १९०-१९२ ॥

इस प्रकार सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीकामें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित
समयसार तथा श्रीमद् अमृतचंद्रसूरिविरचित समयसारव्याख्या आत्मख्यातिका
संवरतत्त्वप्ररूपक पञ्चम अङ्क समाप्त हुआ ।



न्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात्, स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव

इतर, यत्, सम्यग्दृष्टि, तत्, सर्व, निर्जरानिमित्त । **मूलधातु**—इदि परमैश्वर्ये, चिति संज्ञाने, डुकृञ् करणे, दृशिर् प्रेक्षणे । **पदविवरण**—उवभोगं उपभोगं–द्वितीया एकवचन कर्मकारक । इंदियेहिं इन्द्रियैः–तृतीया बहु० । दव्वाणं द्रव्याणाम्–षष्ठी बहु० । अचेदणाणं अचेतनानां–षष्ठी बहु० । इदराणां इतरेषां–षष्ठी

रहा ।

टीकार्थ—विरागीका उपभोग निर्जराके लिए ही होता है । मिथ्यादृष्टिका जो ही चेतन अचेतनद्रव्यका उपभोग रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे बंधका निमित्त ही होता है, वही उपभोग रागादिभावोंके अभावसे सम्यग्दृष्टिके निर्जराका निमित्त ही होता है । इस कथनसे द्रव्य-निर्जराका स्वरूप बताया गया है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है और ज्ञानीके अज्ञानमय राग द्वेष मोहका अभाव है; इस कारण विरागीके जो इंद्रियोंसे भोग होता है उस भोगकी सामग्रीको यह ऐसा जानता है कि ये परद्रव्य हैं, मेरा इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है । परन्तु कर्मके उदयके निमित्तसे हुई यह चारित्रमोहके उदयकी पीड़ा बलहीन होनेसे जब तक सही नहीं जाती तब तक जैसे रोगी रोगको अच्छा नहीं जानता, परन्तु पीड़ा नहीं सही जानेसे औषधि आदिसे इलाज करता है उसी तरह विषयरूप भोग उपभोग सामग्रीसे यह कभी इलाज करता है । तब भी कर्मके उदयसे तथा भोगोपभोगकी सामग्रीसे ज्ञानीको राग द्वेष मोह नहीं है । कर्मका उदय होता है वह अपना रस देकर झड़ जाता है उदय आनेके बाद उस द्रव्यकर्मकी सत्ता नहीं रहती निर्जरा ही है ।सम्यग्दृष्टि उदयमें आये हुए कर्मरसको जानता है और फलको भी भोगता है, किन्तु राग द्वेष मोहके बिना भोगता है इस कारण कर्मका आस्रव नहीं होता, आस्रवके बिना विरागी सम्यग्दृष्टिके आगामी बंध नहीं होता । और जब आगामी बंध नहीं हुआ तब केवल निर्जरा ही हुई । इस कारण सम्यग्दृष्टि विरागीका भोगोपभोग निर्जराका ही निमित्त कहा गया है । तथा लक्षण भी यही है कि पूर्व द्रव्यकर्म उदयमें आकर झड़ जावें यही द्रव्यनिर्जरा है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व अधिकार, क्रमानुसार संवराधिकार पूर्ण हो गया । अब क्रमप्राप्त निर्जराधिकार आया है । संवरपूर्वक निर्जरा मोक्षमार्गकी प्रयोजनभूत है सो संवरके बाद निर्जराका वर्णन किया है । सो द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा इन दो प्रकारकी निर्जराओंमें से इस गाथामें द्रव्यनिर्जराका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–विरागका उपभोग निर्जराके लिये ही होता है, क्योंकि उस उपभोगमें ज्ञानीको राग नही है, अतः उदयागत द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मबन्धके निमित्तभूत नहीं होते ।

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति--

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ।।१९४।।

द्रव्य उपभोग करते, सुख अरु दुःख उत्पन्न होता है ।
उस उदीर्ण सुख दुःखको, वेदत ही कर्म झड़ जाता ।।१९४।।

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा । तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ।।१९४।।

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बंध एव स्यात् । सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीयमाणो निर्जीर्णः सन्नि-

---

नामसंज्ञ—दव्व, उवभुंजंत, णियम, सुह, वा, दुःख, वा, त, सुहदुक्ख उदिण्ण, अह, णिज्जर । **धातुसंज्ञ**—द्रव प्राप्तौ, उव-भुंज भक्षणे भोगे च, जा प्रादुर्भावे, वेद वेदने, जा गतौ । **प्रातिपदिक**—द्रव्य, उपभुज्यमान, नियम, सुख, वा, दुःख, वा, तत्, सुखदुःख, उदीर्ण, अथ, निर्जरा । **मूलधातु**—उप-भुज पालनाभ्यवहारयोः, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, या प्रापणे अदादि । **पदविवरण**—दव्वे द्रव्ये–सप्तमी एक० । उवभुज्जंते उपभुज्यमाने–सप्तमी एक० । णियमा नियमात्–पंचमी एक० ।

स्थिति पूर्ण होनेपर या पहिले उदय आनेपर सुख दुःख भाव नियमसे उत्पन्न होते हैं उनको अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टिके तो रागादिक निमित्तका सद्भाव होनेसे आगामी कर्मका बंध करके निर्जरा होती है सो वह निर्जरा किस कामकी, गिनतीमें भी नहीं, वहाँ तो बन्ध ही किया गया । और सम्यग्दृष्टिके सुख दुःख भोगनेपर भी उसमें रागादिकभाव नहीं होते, इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता । केवल निर्जरा ही हुई ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यनिर्जराका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें द्रव्यनिर्जराका निमित्तभूत व कार्यभूत भावनिर्जराका स्वरूप कहा है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परद्रव्यका उपभोग होनेपर साता या असातारूप वेदन होता है । (२) साता असाताके वेदनके समय उसमें रागभाव (व्यामोह) होनेसे उपभोग बन्धका निमित्त होता है । (३) उदय भी निर्जरा है इस निर्जराके होते हुए भी रागादिभाव होनेसे अज्ञानीके कर्मबन्ध होता है, अतः वह निर्जरा नहीं है । (४) सातोदय व असातोदयसे सुख दुःख होने पर स्वसंवेदनबलसे उत्पन्न परमार्थ आनन्दकी प्रतीति रखने वाला ज्ञानी उस कर्मफलको मात्र जानता ही है, यह भावनिर्जरा है ।

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुञ्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥१९५॥

जैसे विष उपभोगी, वैद्य पुरुष मरणको नहीं पाता।
पुद्गल कर्म उदयको, भोगे नहिं विज्ञ जन बँधता ॥१९५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति। पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी।

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

नामसंज्ञ—जह, विस, उपभुञ्जंत, वेज्ज, पुरिस, ण, मरण, पुग्गलकम्म, उदय, तह, ण, एव, णाणि। **धातुसंज्ञ**—उव-भुंज भक्षणे भोगे च, उव-जा प्रापणे, भुंज भोगे, वज्झ बंधने। **प्रातिपदिक**—यथा, विष, उपभुज्यमान, वैद्य, पुरुष, न, मरण, पुद्गलकर्मन्, उदय, तथा, न, एव, ज्ञानिन्। **मूलधातु**—उप-या प्रापणे, उत्-अय गतौ, भुज भोगे, बंध बंधने। **पदविवरण**—जह यथा—अव्यय। विसं विषं—द्वितीया एकवचन। उवभुज्जंतो उपभुंजानः—प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। वेज्जो वैद्यः—प्रथमा ए०। पुरिसो पुरुषः—प्रथमा एक० कर्ताकारक। ण न—अव्यय। मरणं—द्वि० ए० कर्मकारक। उवयादि उपयाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। पुग्गलकम्मस्स पुद्गलकर्मणः—षष्ठी एक०। उदयं—द्वि० एक०। तह तथा—अव्यय। भुंजदि भुंक्ते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न, एव, वज्झए बध्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। णाणी ज्ञानी—प्रथमा एकवचन ॥१९५॥

उदय भोगनेमें आता है तो भी आगामी बंध नहीं करता। यह सम्यग्ज्ञानकी सामर्थ्य है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावनिर्जराका स्वरूप बताते हुए ज्ञान व वैराग्य के बलकी महिमा दिखाई थी। अब इस गाथामें उसी ज्ञानका सामर्थ्य दिखाया गया है।

तथ्यप्रकाश—१--तत्त्वज्ञानी शुभ अशुभ कर्मफलको भोगता हुआ भी ज्ञानमय प्रतीति के कारण कर्मसे नहीं बँधता है। २—अज्ञानी जीव शुभ अशुभ कर्मफलमें आसक्त होनेके कारण कर्मसे बँधता है। ३--ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके कारण द्रव्यप्रत्ययकी कर्मबंधनिमित्तत्व-शक्ति निरुद्ध हो जाती है, अतः ज्ञानी कर्मसे नहीं बँधता।

सिद्धान्त—१-- सहजशुद्ध अविकार ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी भावनासे पौद्गलिक कर्मोंका निर्जरण हो जाता है। २--उपभोगमें रागादिभावके अभावसे कर्मबन्ध नहीं होता।

दृष्टि—१— शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब)। २— उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध

१०. अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-जीव दो प्रकारके हैं मुक्त व संसारी, इस प्रकार शुद्ध व अशुद्ध का भेद किये विना जीवोंका भेदोंमें परिचय)
११. अन्तिम अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-पृथक् पृथक् एक-एक सत् व द्वयणुक आदि स्कन्धमें एक अणुका परिचय)
१२. परमशुद्ध अपरसंग्रहभेदक द्रव्यव्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे चैतन्यात्मकत्वसे सम्बद्ध अनन्त आत्मावोंका परिचय)
१३. शुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-मुक्त जीवोंका क्षेत्र काल गति लिङ्ग आदिसे परिचय)
१४. अशुद्ध अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-संसारी जीवोंका त्रस स्थावर आदि विभागोंसे परिचय)

अन्तिम व्यवहारनय द्रव्यार्थिक

१५. परमशुद्ध अभेदविषयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे आत्मा चैतन्यस्वरूपमात्र है आदि)
१६. परमशुद्ध भेदविषयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण हैं)
१७. शुद्ध अभेदविषयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे भगवन्त आत्मा केवलज्ञानी है आदि)
१८. शुद्धभेदविषयी अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे भगवन्त आत्मामें अनंतज्ञान, दर्शन आदि हैं)
१९. अव्यक्त अशुद्ध अन्तिम व्यवहारनय-नामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-उपशम या क्षपकश्रेणिमें आया हुआ मुनि)
२० व्यक्त अशुद्ध अन्तिम व्यवहारनयनामक द्रव्यार्थिकनय (जैसे किसी व्यक्तिपर क्रोध करनेवाला कोई एक मनुष्य)
२१. उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (जैसे-संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है आदि, उपाधिका सम्बन्ध न तक कर स्वभावमात्र निरखना)
२२. उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे द्रव्य नित्य है, आदि, ध्रौव्यकी मुख्यतासे वस्तुका निरखना)
२३. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-निजगुणपर्यायसे अभिन्न द्रव्य है, यों शुद्ध स्वरूप निरखना)
२४. उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मोदयविपाकके सान्निध्यमें जीव विकाररूप परिणमता है, आदि परिचय)
२४A. उपाध्यभावापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-कर्मोपाधिके अभावका निमित्त पाकर कर्मत्वका दूर होना निरखना)
२४B. शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्माके शुद्धपरिणामका निमित्त पाकर कर्मत्वका दूर होना निरखना)
२५. उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, यों त्रिलक्षणासत्तामय द्रव्य निरखना)
२६. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-आत्माके ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदि गुणोंका परिचय)
२७. अन्वय द्रव्यार्थिकनय (जैसे-त्रैकालिक गुणपर्यायस्वभावी आत्मा, आदि मूलवस्तु निरखना)
२८. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे वस्तुके अस्तित्व का परिचय)
२९. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे वस्तुके नास्तित्व का परिचय)
३०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (जैसे-सहज अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा का परिचय)
३०A. शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय (जैसे-बद्धाबद्धादिनयविकल्परूप जीव नहीं होता आदि परिचय)

अर्थनय पर्यायार्थिक

३१. अशुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-नर नारक आदि विभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्यायोंका परिचय)
३२. शुद्धस्थूल ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-सिद्धपर्याय आदिक स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायोंका परिचय)
३३. अशुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-क्रोध आदि विभावगुणव्यञ्जनपर्यायोंका परिचय)
३४. शुद्धसूक्ष्म ऋजुसूत्रनयनामक पर्यायार्थिकनय (जैसे-केवलज्ञान आदि स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायोंका परिचय)
३५. अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे-मेरु नित्य है आदि, प्रति समय आय व्यय होते हुए भी वैसे के वैसे ही बने रहनेवाले पदार्थों का परिचय)
३६. सादिनित्य पर्यायार्थिकनय (जैसे सिद्ध पर्याय आदि, अशुद्धता हटकर सादिशुद्ध रहनेवाले पर्यायोंका परिचय)

सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ।। नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य वा । ज्ञानवैभवविरागतावलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक: ।।१३५।। ।। १९६ ।।

कृदंत । अरदिभावेण अरतिभावेन–तृतीया एक० । मज्जदि माद्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । ण न–अव्यय । पुरिसो पुरुष:–प्रथमा एक० कर्ताकारक । दव्वुवभोगे द्रव्योपभोगे–सप्तमी एक० । अरदो अरत:–प्र० ए० । णाणी ज्ञानी–प्र० एक० । वि अपि–अव्यय । ण न–अव्यय । वज्झदि बध्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तह तथा–अव्यय । एव–अव्यय ।। १९६ ।।

भावार्थ—ज्ञान और विरागताका ऐसा अद्भुत बल है कि इंद्रियोंसे विषयोंका सेवन करने पर भी उनका सेवने वाला नहीं कहा जाता । क्योंकि विषयसेवनका निजफल संसार व संसारभ्रमण है । लेकिन ज्ञानी वैरागीके मिथ्यात्वका अभाव होनेसे संसारका भ्रमणरूप फल नहीं होता ।

प्रसंगविवरण—उपान्त्यपूर्व गाथामें ज्ञान और वैराग्यके सामर्थ्यका संकेत था जिसमें ज्ञानसामर्थ्यका वर्णन अनन्तरपूर्व गाथामें किया गया है । अब इस गाथामें वैराग्यका सामर्थ्य बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– उपभोगके प्रति तीव्र विरागता होनेके कारण ज्ञानी विषयोंको भोगता हुआ भी बँधता नहीं है । २– रागमें राग न होनेसे ज्ञानीके उपभोगमें भी राग नहीं होता, मात्र भोगना पड़नेकी बात होती है । ३– भोगमद्यका प्रतिपक्षभूत हर्षविषादादिविकल्प-शून्य योग औषधिका समायोग होनेसे विरागताके कारण भोगमद्यका उपभोग ज्ञानीको बेसुध नहीं कर सकता है ।

सिद्धान्त—१– सहजशुद्ध अविकार स्वभावकी भावना होनेपर द्रव्योपभोगमें अरति होनेसे कर्मबन्ध नहीं होता । २– जितने अंशमें ज्ञानी राग नहीं करता उतने अंशमें वह कर्मसे नहीं बंधता । ३– पूर्ण वीतराग होनेपर कर्मसे रंच भी नहीं बँधता ।

दृष्टि—१-- शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २-- अपूर्ण शुद्ध निश्चयनय (४६ब) । ३--उपाध्यभावापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—सर्वदु:खमुक्तिके लिये कर्मानुभागके प्रतिफलनमें राग न करके अविकार ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ।।१९६।।

अब उक्त अर्थको दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं—[**कश्चित्**] कोई तो [**सेवमानोपि**] विषयोंको सेवता हुआ भी [**न सेवते**] नहीं सेवन करता है और [**असेवमानोपि**] कोई नहीं

त्सेवक एव । सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्ति-मुक्त्या । यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥ ॥ १९७ ॥

अन्य पुरुष एक० । असेवमाणो असेवमानः–प्रथमा एक० । वि अपि–अव्यय । सेवगो सेवकः–प्रथमा एक० । कोई कश्चित्–अव्यय अन्तः–प्रथमा एकवचन । पगरणचेट्ठा प्रकरणचेष्टा–प्र० एक० । कस्स कस्य–षष्ठी एक० । वि अपि–अव्यय । ण न–अव्यय । वि अपि–अव्यय । पायरणो प्राकरणः–प्रथमा ए० । इत्ति इति–अव्यय । सो सः–प्रथमा एक० । होई भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ १९७ ॥

उसके हानि-लाभका जिम्मेदार नहीं है । ऐसे ही सम्यग्दृष्टिको कर्मविपाकवश सुख दुःख भोगना पड़ता, पर उसका स्वामी न बननेसे भोगका फल संसारबन्धन उसके नहीं होता ।

अब इसी अर्थके समर्थनमें कलशरूप काव्य कहते हैं—**सम्य** इत्यादि । **अर्थ**—सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है । क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपका ग्रहण और परके त्यागकी विधिसे अपना वस्तुत्व उपयोगमें रखनेके लिये भिन्न-भिन्न स्व व परको परमार्थसे जानकर अपने स्वरूपमें ठहरता है और पररूप समस्त रागयोगसे विराम लेता है । अहा यह अद्भुत रीति ज्ञान वैराग्यकी शक्तिके बिना नहीं होती ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि वैराग्यका ऐसा सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयोंको उपभोगता हुआ भी अरतिभावके कारण कर्मसे नहीं बँधता है । अब इसी तथ्यका विधिनिषेधरूपसे समर्थन इस गाथामें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) तत्त्वज्ञानी चारित्रमोहोदय विपाकवश विषयोंको सेवता हुआ भी उसका स्वामी न बननेसे सेवक नहीं है । (२) अज्ञानी जीव विषयसाधन न मिलनेपर विषयों को न सेवता हुआ भी रागादिसद्भावके कारण सेवक है । (३) ज्ञानी विषयसेवनका व विषय-सेवनफलका अपनेको स्वामी न माननेसे वह प्राकरणिक नहीं है । (४) अज्ञानी जीव विषय-सेवनका व विषयसेवनफलका अपनेको स्वामी माननेसे प्राकरणिक है । (५) प्राकरणिक जीव कर्मसे बँधता है । (६) अप्राकरणिक जीव कर्मसे नहीं बँधता ।

सिद्धान्त—(१) अविकार सहज ज्ञानमय स्वका संवेदन करने वाला ज्ञानी ज्ञानरस का स्वाद लेनेसे अबन्धक है । (२) अपनेको विकारस्वरूप समझने वाला अज्ञानी कर्मरसका स्वाद माननेसे बन्धक है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) । २– कर्तृनय (१८९) ।

प्रयोग—अपनेको सहज आनन्दमय अनुभवनेके लिये उपयोगमें प्रतिफलित कर्मरससे

कभावस्वभावोऽहं ॥१९८॥

जिणवरेहिं जिनवरैः-तृतीया बहु० । न, तु, मज्झ मम-षष्ठी एक० । सहावा स्वभावाः-प्रथमा बहु० । जाणगभावो ज्ञायकभावः-प्र० ए० । तु-अव्यय । अहं-प्र० ए० । इक्को एकः-प्रथमा एकवचन ॥ १९८ ॥

दृष्टि—१-उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २-परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । ३-अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—कर्मोदयविपाकप्रभव रागद्वेषादि विभावोंको परभाव जानकर उनसे उपेक्षा करके निरपेक्ष सहज ज्ञायकस्वभाव स्वमें स्वतत्त्वकी दृष्टि बनाये रखनेका पौरुष करना ॥१९८॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपनेको और परको विशेषरूपसे इस प्रकार जानता है—[**रागः**] राग [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म है [**तस्य**] उसका [**विपाकोदयः**] विपाकोदय [**एष**] यह [**भवति**] है सो [**एषः**] यह [**मम भावः**] मेरा भाव [**न**] नहीं है, क्योंकि [**खलु**] निश्चयसे [**अहं तु**] मैं तो [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभावस्वरूप हूं ।

तात्पर्य—राग प्रकृतिके उदयका प्रतिफलन यह विभाव राग है वह मेरा स्वभाव नहीं है ।

टीकार्थ—वास्तवमें रागनामक पुद्गलकर्म है, उस पुद्गलकर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप हूं । इसी प्रकार राग इस पदके परिवर्तन द्वारा द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यान किये जाना चाहिये और इसी रीतिसे अन्य भी विचार किये जाने चाहिये । इस तरह सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता हुआ और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञान व वैराग्यसे सम्पन्न होता है । **भावार्थ**—जैसे सामने स्थित बालकका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़े तो वह दर्पणमें आया फोटो दर्पणका स्वभाव नहीं, इसी प्रकार रागादिप्रकृतिके विपाकोदयका प्रतिफलन उपयोगमें आया है सो वह जीवका स्वभाव नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें सामान्यतया यह बताया गया था कि सम्यग्दृष्टि स्व व परको किस तरह जानता है । अब इस गाथामें बताया है कि उसी स्व-परको विशेषतया ज्ञानी कैसा जानता है ।

तथ्यप्रकाश—१- राग आदि नामकी पुद्गलकर्मप्रकृतियां हैं, उनके उदयसे जीवमें राग आदि भाव प्रतिफलित होते हैं । २- रागादिप्रकृतिके उदयसे जीवमें रागादिभाव होते हैं । ३- रागादिभाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वे औपाधिक भाव हैं । ४- आत्माका

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

यों सुदृष्टि आत्माको, जाने ज्ञायकस्वभावमय पूरा ।
कर्मविपाक उदयको तजता, वह तत्त्वका ज्ञाता ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं । उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावो-

---

नामसंज्ञ—एवं, सम्मादिट्ठि, अप्प, जाणयसहाव, उदय, कम्मविवाग, य, तच्च, वियाणंत । **धातुसंज्ञ**—मुण ज्ञाने, मुंच त्यागे, वि जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—एवं, सम्यग्दृष्टि, आत्मन्, ज्ञायकस्वभाव,

---

[**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**आत्मानं**] अपनेको [**ज्ञायकस्वभावं**] ज्ञायकस्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्त्वं**] वस्तुके यथार्थ स्वरूपको [**विजानन्**] जानता हुआ [**कर्मविपाकं**] कर्मविपाकरूप [**उदयं**] उदयको [**मुञ्चति**] छोड़ता है ।

तात्पर्य—ज्ञानी अपनेको ज्ञायकस्वभाव जानता और विकारको परभाव जानकर छोड़ देता है ।

टीकार्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, सामान्य तथा विशेषसे सभी परस्वभावरूप भावोंसे भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्माके तत्त्वको अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्त्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावका ग्रहण और परभावका त्याग द्वारा निष्पाद्य अपने वस्तुपनेको फैलाता हुआ कर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुए सब भावोंको छोड़ता है । इस कारण यह सम्यग्दृष्टि नियमसे ज्ञान व वैराग्यसे सम्पन्न होता है ।

भावार्थ—जब अपनेको तो ज्ञायक भावस्वरूप सहजानन्दमय जाने और कर्मके उदयसे हुए भावोंको परभावस्वरूप आकुलतामय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरक्त होना ये दोनों होते ही हैं । यह तथ्य अनुभवगोचर है और यही सम्यग्दृष्टिका परिचय है ।

अब कहते हैं कि यदि कोई अपनेको ज्ञानी माने और परद्रव्योंमें आसक्त हो तो वह वृथा ही सम्यग्दृष्टिपनेका अभिमान करता है—**सम्यग्दृष्टि** इत्यादि । **अर्थ**—यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूं मेरे कभी भी कर्मका बंध नहीं होता; ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसहित ऊंचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमांचरूप हुआ है वे जीव महाव्रतादि आचरण करे तथा वचन विहार आहारकी क्रियामें सावधानीसे प्रवर्तनेकी उत्कृष्टताका भी अवलंबन करें तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेके कारण सम्यक्त्वसे शून्य

स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरंतु। आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ।।१३७।। ।। २०० ।।

एक० कर्मकारक। मुणदि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जाणयसहावं ज्ञायकस्वभावं–द्वितीया एक० कर्मविशेषण। उदयं–द्वितीया एकवचन। कम्मविवागं कर्मविपाकं–द्वितीया एक०। मुअदि मुंचति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। तच्चं तत्त्वं–द्वितीया एक०। वियाणंतो विजानन्तः–प्रथमा बहुवचन ।।१६६।।

वह परमार्थतत्त्वमें मूढ है। यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझनेसे ही सम्यक्त्वका लाभ होगा।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि सम्यग्दृष्टि स्व व परको विशेषतया कैसा जानता है ? अब इस गाथामें उसी तथ्यका प्रायोजनिक विधिसे वर्णन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यग्दृष्टि अपने आपको कर्मविपाकज भावोंसे निराला निरखता है। (२) सम्यग्दृष्टि भिन्न-भिन्न रूपसे क्रोध, मान आदि कर्मविपाकज भावोंसे अपनेको निराला निरखता है। (३) सम्यग्दृष्टि अपना सर्वस्व शाश्वत एक ज्ञायकस्वभावको अनुभवता है। (४) सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावका उपादान करके तथा परभावोंका परिहार करके अपनी वास्तविकताको प्रकट करता है। (५) सम्यग्दृष्टि निज सहज ज्ञानस्वभावके ग्रहणसे ज्ञानसम्पन्न है व कर्मोदयविपाकप्रभव भावोंको त्याग देनेसे वैराग्यसम्पन्न है।

सिद्धान्त—(१) सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभावरूप अपनेको जाननेकी परिणतिसे परिणमता है। (२) कर्मविपाकोदय कर्मका परिणमन है। (३) कर्मविपाकोदयविषयक परिज्ञान आत्माका परिणमन है।

दृष्टि—१–कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)। २–अशुद्धनिश्चयनय (४७)। ३– उपादानदृष्टि (४६ब)।

प्रयोग—कर्मोदयविपाकप्रभव भावकी अपवित्रता दूर करनेके लिये मन, वचन, कायकी वृत्तिका निरोध करके नित्यानन्दैकस्वभाव सहज परमात्मतत्त्वमें उपयोग रमानेका पौरुष करना।। २०० ।।

सम्यग्दृष्टि रागी कैसे नहीं होता ? यदि ऐसा पूछें तो सुनिये—[**खलु**] निश्चयसे [**यस्य**] जिस जीवके [**रागादीनां**] रागादिकोंका [**परमाणुमात्रमपि**] लेशमात्र भी [**तु विद्यते**] मौजूद है तो [**सः**] वह जीव [**सर्वागमधरोपि**] सर्व आगमको पढ़ा हुआ होनेपर भी [**आत्मानं**

आत्मानात्मनौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागो ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः। आसंसारात्प्रतिपदममी

जाण अवबोधने, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—परमाणुमात्रक, अपि, खलु, रागादि, तु, यत्, न, अपि, तत्, आत्मन्, तु, सर्वागमधर, अपि, आत्मन्, अजानत्, अनात्मन्, च, अपि, तत्, अजानत्। **मूलधातु**—विद सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां। **पदविवरण**—परमाणुमित्तयं परमाणुमात्रकं–प्रथमा एकवचन। पि अपि–अव्यय। हु खलु–अव्यय। रायादीणं रागादीनां–षष्ठी बहु०। तु–अव्यय। विज्जदे विद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। जस्स यस्य–षष्ठी एक०। ण न–अव्यय। वि अपि–अव्यय। सो सः–प्रथमा एक०। जाणदि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। अप्पाणयं आत्मानं–द्वितीया ए०। तु–अव्यय।

सम्यग्दृष्टि नहीं है।

भावार्थ—यहाँ रागीका अर्थ लेना है अज्ञानमय रागद्वेष मोहभाव वाला। अज्ञानमय मायने मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादिक। मिथ्यात्वके अभावमें चारित्रमोहके उदयका जो राग है वह अज्ञानमय राग नहीं हैं। क्योंकि ज्ञानीके उस रागके साथ राग नहीं है, ज्ञानी तो कर्मोदयसे जो राग हुआ है उसको मेटना चाहता है। ज्ञानीके चाहे वह अव्रती भी है उसके जो रागका लेशमात्र भी नहीं कहा सो रागमें राग लेशमात्र भी नहीं यह जानना। ज्ञानीके अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है, परन्तु शुभ राग होता है उस शुभ रागको अच्छा समझ लेशमात्र भी उस रागसे राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ़ लिये हों, मुनि भी हो, व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिये कि इसने अपने आत्माका परमार्थस्वरूप नहीं जाना, कर्मोदयजनितभावको ही अच्छा समझा है उसीसे अपना मोक्ष होना मान रक्खा है। ऐसे मानने वाला जीव अज्ञानी ही है। इसने स्व व परके परमार्थरूपको नहीं जाना सो जीव अजीव पदार्थका भी परमार्थरूप नहीं जाना और जिसने जीव अजीवको ही नहीं जाना वह कैसा सम्यग्दृष्टि ?

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—**आ संसारा** इत्यादि। **अर्थ**—हे अन्ध प्राणियो ! अनादि संसारसे ये रागी जीव प्रतिपदमें नित्य मत्त होकर जिस पदमें सोये हुए हैं उस पदको तुम अपद समझो, अपद समझो (यहाँ दो बार अपद कहनेसे अति करुणाभाव सूचित होता है) जहाँ चैतन्यधातु शुद्ध है शुद्ध है अपने स्वाभाविक रसके समूहसे स्थायीभावपनेको प्राप्त होता है यह तुम्हारा पद है। सो इस तरफ आओ इस तरफ आओ यहाँ निवास करो। **भावार्थ**—ये प्राणी अनादि कालसे विकारभावको ही अपना हितकारी मानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हींमें रम रहे हैं। उनको श्री गुरु करुणा करके संबोधन कर रहे हैं कि हे अंधे प्राणियो ! तुम जिस पदमें सोये हो, रम रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है तुम्हारा पद तो

किन्नाम तत्पदं ? इत्याह—

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

निजमें अपद द्रव्यभा-वोंको तजि भाव ग्रहण कर अपना ।
नियत एक यह शाश्वत, स्वभावसे लभ्यमान तथा ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतं । स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ।

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वादपदभूताः । यस्तु तत्स्वभावेनोलभ्यमानो नियतत्वावस्थः, एकः नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः । ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञान

नामसंज्ञ—अत्त, दव्वभाव, अपद, तह, णियद, थिर, एग, इम, भाव, उवलब्भंत, सहाव । **धातुसंज्ञ**—मुंच त्यागे, गिण्ह ग्रहणे, उव-लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—आत्मन्, द्रव्यभाव, अपद, तथा, नियत,

---

निश्चित [**स्थिरं**] स्थिर [**एकं**] एक [**तथा**] व [**स्वभावेन**] स्वभावसे ही [**उपलभ्यमानं**] ग्रहण किये जाने वाले [**इमं**] इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर [**भावं**] चैतन्यमात्र भावको हे भव्य ! तू [**गृहाण**] ग्रहण कर । वही तेरा पद है ।

तात्पर्य—औपाधिक आकार विकारोंसे विमुख होकर अपने स्थिर नियत एक चैतन्यस्वभावको ग्रहण करो ।

टीकार्थ—वास्तवमें इस भगवान् आत्मामें जो द्रव्यभावरूप बहुत भावोंमें से आत्माके स्वभावसे रहित रूपसे उपलभ्यमान, अनिश्चित अवस्थारूप, अनेक, क्षणिक व्यभिचारी भाव हैं, वे सभी स्वयं अस्थायी होनेसे ठहरने वाले आत्माके ठहरनेका स्थान होनेके लिये अशक्य होनेके कारण अपदस्वरूप हैं और जो भाव आत्मस्वभावसे ग्रहणमें आने वाला, निश्चित अवस्थारूप एक, नित्य अव्यभिचारी है ऐसा एक चैतन्यमात्र ज्ञान भाव स्वयं स्थायी भावस्वरूप होनेके कारण स्थित होने वाले आत्माके ठहरनेका स्थान होनेसे पदभूत है । इस कारण सभी अस्थायी भावोंको छोड़कर स्थायीभूत परमार्थरसरूपसे स्वादमें आता हुआ यह ज्ञान ही एक आस्वादन करने योग्य है ।

भावार्थ—पूर्व प्रकरणमें जो वर्णादिक गुणस्थानांत भाव कहे थे वे सभी आत्मामें अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं वे आत्माके पद नहीं हैं । किन्तु यह जो स्वसंवे-

वस्तुवृत्ति विदन् । आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकतां ॥१४०॥ ॥ २०३ ॥

दानि–द्वि० बहु० । मोत्तूण मुक्त्वा–असमाप्तिकी क्रिया । गिण्ह गृहाण–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० । तह तथा–अव्यय । णियदं नियतं–द्वि० एक० । थिरं स्थिरं–द्वि० एक० । एकं–द्वि० ए० । इमं–द्वि० ए० । भावं–द्वि० ए० । उवलब्भंतं उपलभ्यमानं–द्वि० एक० । सहावेण स्वभावेन–तृतीया एकवचन ॥ २०३ ॥

धारी ज्ञानमात्रभाव आत्मामें अनवरत आत्ममय होनेसे आत्माका पदभूत है । ९– अनुभवमें एक ज्ञानमात्र भाव होनेपर रंच भी कोई विपत्ति नहीं है । १०– एक ज्ञानमात्रभावके समक्ष अन्य परिणमन सब अपद व विपन्न प्रतिभासित होते हैं ।

सिद्धान्त—१– आत्मा अखण्ड शाश्वत ज्ञानमात्र है । २– आत्मामें उठे विभाव आत्माके पद नहीं हैं ।

दृष्टि—१– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—सर्व विपदावोंको सदाके लिये नष्ट कर शाश्वत आनन्दमय होनेके लिये अपने आपके शाश्वत अविकार ज्ञानमात्र स्वभावको ही उपयोगमें ग्रहण करने व ग्रहण किये रहनेका पौरुष करना ॥ २०३ ॥

एक स्थायी सहजज्ञानभाव क्या है ?—[**आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च**] मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान [**तत् एकमेव पदं भवति**] वह सब एक ज्ञान ही पद है [**एषः सः परमार्थः**] यह वह परमार्थ है [**यं लब्ध्वा**] जिसको पाकर आत्मा [**निर्वृतिं**] मोक्षपदको [**याति**] प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—सहज ज्ञानस्वभावके आश्रयसे ही मुक्तिका लाभ होता है ।

टीकार्थ—वास्तवमें आत्मा परम पदार्थ है और वह ज्ञान ही है, वह आत्मा एक ही पदार्थ है इस कारण ज्ञान भी एक पदको ही प्राप्त है, और जो यह ज्ञाननामक एक पद है वह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है । मतिज्ञानादिक जो ज्ञानके भेद हैं वे इस ज्ञाननामक एक पदको भेदरूप नहीं करते, किन्तु वे मतिज्ञानादिक भेद भी एक ज्ञाननामक पदका ही अभिनन्दन करते हैं । यही कहते हैं—जैसे इस लोकमें घनपटलोंसे, बादलोंसे आच्छादित तथा उन बादलोंके दूर होनेके अनुसार प्रगटपना धारण करने वाले सूर्यके जो प्रकाशके हीनाधिक भेद हैं वे उसके प्रकाशरूप सामान्य स्वभावको नहीं भेदते, उसी प्रकार कर्मसमूहोंके उदयसे आच्छादित तथा उस कर्मके विघटनके अनुसार प्रगटपनेको प्राप्त हुए ज्ञानके हीनाधिक भेद आत्माके सामान्य ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, बल्कि वे भेद आत्माके ज्ञानसामान्यका अभिनंदन

तथाऽऽत्मन: कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिद्युः, किं तु प्रत्युतमभिनंदेयुः । ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यं । तदालंबनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिद्धत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म

एक, एव, पद, तत्, एत, परमार्थ, यत्, निर्वृति । **मूलधातु**—भू सत्तायां, या प्रापणे । **पदविवरण**—आभिणिसुदोहिमणकेवलं आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं–प्रथमा एकवचन । च–अव्यय । तं, तत्–प्रथमा एक० । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । एक्कं एकं–प्रथमा एक० ; एव–अव्यय । पदं–

उसमें निर्मल छोटी बड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब तरंगें एक जलरूप ही हैं उसी तरह यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एक ही है इसमें अनेक गुण हैं और कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अनेकभेद अपने आप व्यक्तिरूप होकर प्रगट होते हैं सो उन सब ज्ञान व्यक्तियोंको एक ज्ञानरूप ही जानना, खंड खंड रूप नहीं ।

अब और क्या ?—**क्लिश्यंतां** इत्यादि । **अर्थ**—कोई जीव दुष्करतर क्रियावोंसे तथा मोक्षसे परान्मुख कर्मोंसे स्वयमेव मनचाहा भले ही क्लेश करें और कोई मोक्षके सन्मुख याने कथंचित् जिनाज्ञामें कहे गये ऐसे महाव्रत तथा तपके भारसे बहुत काल तक भग्न (पीड़ित) हुए भी क्रियावोंसे भले ही क्लेश करें, किन्तु साक्षात् मोक्षस्वरूप तो यह निरामयपदभूत तथा अपनेसे ही आप वेदने योग्य ज्ञानपद है इसे ज्ञान गुणके बिना किसी तरहके कष्ट से भी वे प्राप्त करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । **भावार्थ**—ज्ञानस्वभावकी प्राप्ति ज्ञानवृत्तिसे ही हो सकती है, बाह्य आचरण तो अशुभसे हटाकर ज्ञानवृत्तिसे रहनेका मौका देते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शाश्वत एकस्वरूप होनेसे ज्ञानमात्र स्वभाव ही मात्र एक आत्माका पद है । अब इस गाथामें उसी ज्ञानैकत्वका समर्थन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– अपना आत्मा अपना परम पदार्थ है । २– ज्ञानस्वरूप होनेसे सब द्रव्योंमें याने पदार्थोंमें भी परम पदार्थ है । ३– अपने आप आत्मा एक ही पदार्थ है और ज्ञानस्वभाव ही आत्मपदार्थका एकमात्र पद है । ४– आत्माका जो एक शाश्वत ज्ञानमात्र पद है उसका आश्रय ही वास्तवमें मोक्षमार्ग है । ५– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये ज्ञानगुणकी पर्यायें आत्माके शाश्वत ज्ञानमात्र पदका भेदन नहीं करते, किन्तु एक ज्ञानमात्र पदको ही प्रसिद्ध करते हैं । ६– अभेद आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानमात्र सहजभावका आलम्बन करनेसे आत्मपदकी प्राप्ति होती है । ७– आत्मपदकी प्राप्ति होते ही

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञानगुणहीन आत्मा, इस पदको प्राप्त कर नहीं सकते ।
सो यह नियत गहो पद, यदि चाहो कर्मसे मुक्ति ॥२०५॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते । तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥२०५॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञान-

---

नामसंज्ञ—णाणगुण, विहीण, एत, तु, पय, वहु, वि, ण, त, णियद, एत, जदि, कम्मपरिमोक्ख । **धातुसंज्ञ**—लभ प्राप्तौ, गिण्ह ग्रहणे, इच्छ इच्छायां । **प्रातिपदिक**—ज्ञानगुण, विहीन, एतत्, तु, पद बहु, अपि, न, तत्, नियत, एतत्, यदि, कर्मपरिमोक्ष । **मूलधातु**—डुलभष प्राप्तौ, ग्रह उपादाने, इषु इच्छायां । **पदविवरण**—णाणगुणेण ज्ञानगुणेन–तृतीया एकवचन । विहीणा विहीनाः–प्रथमा बहुवचन । एयं एतत्–

निश्चित ज्ञानको [**गृहाण**] ग्रहण कर । क्योंकि [**ज्ञानगुणेन विहीनाः**] ज्ञान गुणसे रहित [**बहवः अपि**] अनेकों पुरुष भी [**एतत् पदं**] इस ज्ञानस्वरूप पदको [**न लभंते**] नहीं प्राप्त करते ।

तात्पर्य—ज्ञानसे ज्ञानमें सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव किये बिना इस केवल ज्ञानस्वरूप पदको प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

टीकार्थ—जिस कारण समस्त भी कर्मों द्वारा कर्मोंमें ज्ञानका प्रकाशन न होनेके कारण ज्ञानका पाना नहीं होता, केवल एक ज्ञान द्वारा ही ज्ञानमें ज्ञानका प्रकाशन होनेके कारण ज्ञानसे ही ज्ञानका पाना होता है । इस कारण ज्ञानशून्य बहुतसे प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके करनेपर भी इस ज्ञानके पदको प्राप्त नहीं करते और इस पदको न पाते हुए वे कर्मोंसे नहीं छूटते । इस कारण कर्ममोक्षके अभिलाषी भव्यको तो केवल एक ज्ञानके अवलम्बन द्वारा नियत इसी एक पदको प्राप्त करना चाहिये । **भावार्थ**—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है कर्म करनेसे नहीं । इस कारण मोक्षार्थीको ज्ञानका ही ध्यान करना चाहिये ।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—**पदमिदं** इत्यादि । **अर्थ**—यह ज्ञानमय पद कर्म करनेसे तो दुष्प्राप्य है और स्वाभाविक ज्ञानकी कलासे सुलभ है । इस कारण अपने निज ज्ञानकी कलाके बलसे इस ज्ञानको ग्रहण करनेके लिये सब जगत् अभ्यासका यत्न करो । **भावार्थ**—यहाँ समस्त कर्मकाण्डके पक्षसे छुड़ाकर ज्ञानके अभ्यास करनेका उपदेश किया है । यहाँ ज्ञानकी कला कहनेसे ऐसा सूचित होता है कि जब तक पूर्णकला प्रकट न हो तब तक जो ज्ञान है

६०. सत्तासापेक्ष नित्याशुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-एक समयमें त्रयात्मक पर्यायें, उत्पादव्ययध्रौव्य या भूतमाविवर्तमानपर्यायका परिचय)

६१. उपाधिसापेक्ष नित्याशुद्धपर्यायार्थिकनय (जैसे-संसारी जीवोंके उत्पत्तिमरण हैं, विषय कषाय हैं का परिचय)

व्यवहार (यथार्थ प्रतिपादक व्यवहार)

६२. भूतनैगम प्रतिपादक व्यवहार (भूतकालीन स्थितिको वर्तमानमें जोड़नेके संकल्प का घटनासम्बन्धित प्रतिपादन)

६३ भाविनैगमप्रतिपादक व्यवहार (भविष्यत्कालीन स्थितिको वर्तमानमें जोड़नेके संकल्पका घटनासम्बन्धित प्रतिपादन)

६४, वर्तमाननैगमप्रतिपादक व्यवहार (वर्तमान निष्पन्न अनिष्पन्नको निष्पन्नवत् संकल्पका प्रतिपादन)

६५. परसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे-'सत्' कहकर समस्त जीवपुद्गलादिक सतोंके संग्रहका प्रतिपादन)

६६. अपरसंग्रह द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे सत्को भेदे गये जीव व अजीवमें से जीव कहकर समस्त जीवोंके संग्रहका प्रतिपादन)

६६A. परमशुद्ध अपरसंग्रहद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे 'ब्रह्म' कहकर सर्व जीवोंमें कारणसमयसारका कथन)

६६B, शुद्धअपरसंग्रह द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे मुक्त-जीव कहकर समस्त कर्ममुक्त सिद्ध भगवन्तोंका प्रतिपादन)

६६C. *अशुद्धअपरसंग्रह द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे संसारी जीव कहकर समस्त संसारी जीवोंका प्रतिपादन)*

६७. अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे सत् २ प्रकारके हैं जीव अजीव, आदि, यों परसंग्रहको भेदनेका प्रतिपादन)

६८. अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव २ प्रकारके हैं मुक्त संसारी आदि यों अपरसंग्रहको भेदनेका प्रतिपादन)

६८A. अन्तिम-अपरसंग्रहभेदकव्यवहारनय द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (जैसे द्व्यणुक स्कंधको भेद कर एक अणुका प्रतिपादन)

६८B. अन्तिम अखण्डव्यवहारनयद्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे एक अणु, एक जीव, आदि अखण्ड सत्का प्रतिपादन)

६९ अखण्ड परमशुद्ध सद्भूतव्यवहार (जैसे अनाद्यनन्त अहेतुक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका प्रतिपादन)

६९A. गुणगुणिभेदक परमशुद्ध सद्भूत व्यवहार (जैसे आत्माका स्वरूप सहज चैतन्यस्वरूप है आदि प्रतिपादन)

७०. सगुण परमशुद्धसद्भूत व्यवहार (जैसे आत्माके सहज ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय का प्रतिपादन)

७०A प्रतिषेधकशुद्धनयप्रतिपादक व्यवहार (जैसे जीव पुगद्लकर्मका अकर्ता है आदि कथन)

७१. अभेद शुद्ध सद्भूत व्यवहार (जैसे शुद्धपर्यायमय आत्माका प्रतिपादन)

७२. सभेद शुद्धसद्भूतव्यवहार (जैसे आत्माके केवलज्ञान, केवलदर्शन, आदि शुद्धपर्यायवान आत्माका प्रतिपादन)

७३. कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (जैसे आत्मा आत्माको जानता है, आत्मा के द्वारा जानता है आदि एक ही पदार्थमें कर्ताकर्म करण आदिका कथन)

७३A. कारककारकिभेदक अशुद्धसद्भूतव्यवहार (जैसे जीवविभावोंका कर्ता जीव है आदि कथन)

७४. अनुपचरित अशुद्धसद्भूत व्यवहार (जैसे श्रेणिगत मुनिके रागादिविकारका प्रतिपादन)

७५. उपचरित अशुद्धसद्भूतव्यवहार (जैसे जीवके व्यक्त क्रोध आदि व्यक्त अशुद्ध पर्यायोंका प्रतिपादन)

७६. उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे पुद्गलकर्म विपाकका निमित्त पाकर विकृत हुए जीवका प्रतिपादन)

७७. उपचरित उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकप्रतिपादक व्यवहार (जैसे विषयभूत पदार्थमें उपयोग देनेपर हुए व्यक्त विकारका कथन)

किञ्च—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

इस ज्ञानमें सदा रत, होओ संतुष्ट नित्य इस ही में ।
इससे हि तृप्त होओ, सुख तेरे उत्तम हि होगा ॥२०६॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् । एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं ॥ २०६ ॥

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि । एतावत्येव सत्याशीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि । एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेव ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि ।

नामसंज्ञ—एत, रद, णिच्चं, संतुट्ठ, णिच्चं, एत, एत, तित्त, तुम्ह, उत्तम, सोक्ख । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, तुस संतोषे, तिप्प तृप्तौ । **प्रातिपदिक**—एतत्, रत, नित्यं, संतुष्ट, नित्यं, एतत्, तृप्त, युष्मद्, उत्तम, सौख्य । **मूलधातु**—रमु क्रीडायां भ्वादि, सम्-तुष प्रीतौ दिवादि, भू सत्तायां, तृप् प्रीणने दिवादि । **पदविवरण**—एदम्हि एतस्मिन्–सप्तमी एक० । रदो रतः–प्रथमा एक० कृदन्त । णिच्चं नित्यं–अव्यय ।

से [तृप्तः भव] तृप्त होओ, अन्य कुछ इच्छा न रहे; ऐसे अनुभवसे [तव] तेरे [उत्तमं सुखं] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा ।

तात्पर्य—रुचिपूर्वक याने हितश्रद्धासहित सहज ज्ञानस्वरूपमें मग्न होकर तृप्त रहनेमें ही उत्तम शान्ति है ।

टीकार्थ—हे भव्य, इतना ही सत्य आत्मा है जितना यह ज्ञान है, ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मामें ही निरंतर प्रीतिको प्राप्त होओ । इतना ही सत्य आशीष है, जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही नित्य संतोषको प्राप्त होओ । इतना ही सत्यार्थ अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही नित्य तृप्तिको प्राप्त होओ । इस प्रकार नित्य ही आत्मामें रत, आत्मामें संतुष्ट, आत्मामें तृप्त हुए तेरे वचनातीत नित्य उत्तम सुख होगा, और उस सुखको उसी समय तुम स्वयमेव ही देखोगे, दूसरों को मत पूछो । **भावार्थ**—ज्ञानमात्र आत्मामें लीन होना, इसीमें संतुष्ट रहना और इसीसे तृप्त होना यह परम ज्ञानवृत्ति है । इसीसे वर्तमानमें आनन्दरूप होता है और उसके बाद ही सम्पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

अब ज्ञानीकी महिमा बताते हैं—**अचिंत्य** इत्यादि । **अर्थ**—जिस कारण यह चैतन्यमात्र चिंतामणि वाला अचिन्त्यशक्तिमान ज्ञानी, स्वयमेव आप देव है । इस कारण ज्ञानीके

कुतो ज्ञानी न परं गृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

कौन सुधी है ऐसा, जो परद्रव्यको कह उठे मेरा ।
आत्मपरिग्रह आत्मा, निश्चयसे जानता भी यह ॥२०७॥

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं । आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥२०७॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः । स तस्य स्वामीति खरतर

नामसंज्ञ—क, णाम, वुह, परदव्व, अम्ह, इम, दव्व, अप्प, अप्प, परिग्गह, तु, णियदं, वियाणंत । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, हव सत्तायां, वि-जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—किम्, नामन्, बुध, परद्रव्य, अस्मद्, इदम्, द्रव्य, आत्मन्, आत्मन्, परिग्रह, तु, नियत, विजानत् । **मूलधातु**—भण शब्दार्थे, बुध अवगमने, भू सत्तायां, परि-गृह ग्रहणे, वि-ज्ञा अवबोधने क्र्यादि । **पदविवरण**—को कः–प्रथमा एकवचन । णाम नाम–प्रथमा एक० । भणिज्ज भणेत्–लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया । परदव्वं परद्रव्यं–प्रथमा एक० । मम–

अब पूछते हैं कि ज्ञानी परद्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करता ? उत्तर—[**आत्मानं तु**] अपने आत्माको ही [**नियतं**] निश्चित रूपसे [**आत्मनः परिग्रहं**] अपना परिग्रह [**विजानन्**] जानता हुआ [**कः नाम बुधः**] ऐसा कौन ज्ञानी पंडित है ? जो [**इदं परद्रव्यं**] यह परद्रव्य [**ममद्रव्यं**] मेरा द्रव्य [**भवति**] है [**भणेत्**] ऐसा कहे ।

तात्पर्य—ज्ञानी पुरुष परद्रव्यमें स्वत्वकी कल्पना नहीं करता ।

टीकार्थ—चूंकि ज्ञानी "जो जिसका निजभाव है वही उसका स्व है, और उसी स्वभाव रूप द्रव्यका वह स्वामी है" ऐसे सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टिके अवलंबनसे आत्माका परिग्रह अपने आत्मस्वभावको ही जानता है, इस कारण "यह मेरा स्व नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं" यह जानकर परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता । **भावार्थ**—विवेकी मनुष्य परवस्तुको अपनी नहीं जानता हुआ उसको ग्रहण नहीं करता उसी तरह परमार्थज्ञानी अपने स्वभावको ही अपना धन जानता है परके भावको अपना नहीं जानता, इस कारण ज्ञानी परको ग्रहण नहीं करता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि सहजज्ञानमात्र आत्मपदमें रमने, संतुष्ट होने व तृप्त होनेपर उत्तम आनंद प्राप्त होता है, फिर उसे अन्य पदार्थका परिग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं होती । अब इस गाथामें बताया है कि ज्ञानी परपदार्थको ग्रहण क्यों नहीं करता ?

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानीके यह दृढ़ निर्णय है कि जिसका जो निजभाव है वही

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

अन्य परिग्रह मेरा, यदि हो मुझमें अजीवपन होगा।
ज्ञाता ही मैं इससे, कोइ परिग्रह नहीं मेरा ॥२०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं। ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्। अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्यां। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि

नामसंज्ञ—अम्ह, परिग्गह, जइ, तदो, अम्ह, अजीवद, तु, णादा, एव, अम्ह, ज, त, ण, परिग्गह, अम्ह। **धातुसंज्ञ**—गच्छ गतौ, परि ग्गह ग्रहणे। **प्रातिपदिक**—अस्मद्, परिग्रह, यदि, ततः, अस्मद्, अजीवता, तु, ज्ञातृ, एव, अस्मद्, यत्, तत्, न, परिग्रह, अस्मद्। **मूलधातु**—गम्लृ गतौ, परि-गृह ग्रहणे। **पदविवरण**—मम मज्झं-षष्ठी एक०। परिग्गहो परिग्रहः-प्रथमा एकवचन। जइ यदि-अव्यय। तदो ततः-

जाए तो जीव अजीवपनेको प्राप्त हो जाय यह आपत्ति आवेगी। अतः परमार्थसे जीवके अजीवका परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानीके मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानीकी दृढ़ आस्था है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो मात्र ज्ञाता हूं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी परद्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करता। इसका कारण जानकर अब इस गाथामें कहा है कि इस कारण मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

तथ्यप्रकाश—(१) पदार्थ मात्र अपने स्वरूपको ही ग्रहण करता है। (२) यदि मैं अचेतन परद्रव्यको ग्रहण कर लूं तो वह परद्रव्य मेरा स्व बन जायगा और मैं भी उस अचेतन परद्रव्यका स्वामी बन बैठूंगा यह दोष आता है। (३) चूंकि अचेतनका स्वामी अचेतन ही होता है और मैं बन बैठा अचेतन परद्रव्यका स्वामी तो मैं भी अचेतन हो जाऊँगा यह दोष आता है। (४) अन्य जीव भी मेरा स्व नहीं है, क्योंकि अन्य जीव मेरा स्व हो जाय तो मैं अन्यरूप हो जाऊँगा मेरी सत्ता न रहेगी यह दोष आता है। (५) मैं अचेतन परद्रव्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है, इस ज्ञायकभावका मैं स्वामी हूं। (६) मैं अन्य जीवरूप हो ही नहीं सकता, क्योंकि मैं निज चैतन्यस्वरूपास्तित्वसे तन्मय हूं, अन्य जीव अपने-अपने चैतन्यस्वरूपास्तित्वसे तन्मय हैं। (७) चूंकि मैं ज्ञाता ही रहता हूं अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, इस कारण मैं किसी भी परद्रव्यको नहीं ग्रहण करता।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०६ ॥

छिदो भिदो ले जावो, विनशो अथवा जहां तहां जावो ।
तो भी निश्चयसे कुछ, कोइ परिग्रह नहीं मेरा ॥२०६॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयं । यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य

नामसंज्ञ—वा, वा, वा, अहव, विप्पलय, ज, त, तह, वि, हु, ण, परिग्गह, अम्ह । **धातुसंज्ञ**—च्छिद छेदने, भिद विदारणे, ने प्रापणे, जा गतौ, गच्छ गतौ । **प्रातिपदिक**—वा, वा, वा, अथवा, विप्रलय, यत्, तत्, तथा, अपि, खलु, न, परिग्रह, अस्मद् **मूलधातु**—छिदिर् द्वेधीकरणे रुधादि, भिदिर् विदारणे रुधादि, णीञ् प्रापणे भ्वादि, या प्रापणे अदादि, गम्लृ गतौ । **पदविवरण**—छिज्जदु छिद्यतां-कर्मवाच्य

होता हुआ यह ज्ञानी फिर उसी परिग्रहको विशेषरूपसे छोड़नेके लिये प्रवृत्त हुआ है । **भावार्थ**— परद्रव्यको निज स्वरूपसे जाननेका कारण अज्ञान है सो अज्ञानको मूलसे मिटानेकी ठानने वाले इस ज्ञानीने सामान्यसे सर्व परद्रव्यको हटा दिया अब नाम ले लेकर विशेषरूपसे परिग्रहको छोड़नेके लिये प्रवृत्त हुआ है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि यदि मैं परद्रव्यका परिग्रहण करूं तो मैं परद्रव्य अजीवरूप ही हो जाऊंगा, किन्तु ऐसा होता ही नहीं, मैं तो ज्ञाता हूं सो परिग्रह मेरा नहीं है । इस तथ्यके जाने बिना जीव दुःखी ही रहता है सो इस तथ्यका और दृढ़ निश्चय करना और दृढ़ प्रतिज्ञ होना आवश्यक है, इसी कारण इस गाथा द्वारा सामान्यतया अपरिग्रहता दिखाकर विरक्तिको दृढ़ किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– ज्ञानी अपनेको ज्ञायक स्वभावमात्र समझता है इस कारण सहज ही समस्त इसके परद्रव्यसे उपेक्षा रहती है । २– इन बाह्य परद्रव्योंकी प्रायः पाँच हालतें देखी जाती हैं उन्हींका यहाँ संकेत है । ३– किसी परपदार्थके दो या अनेक टूक हो जाते हैं जो कि मोहीको अनिष्ट है । ४–किसी परद्रव्यमें अनेक छिद्र हो जाते हैं जिससे वह सारहीन हो जाता है जो कि मोहीको अनिष्ट है । ५– किसी परपदार्थको कोई उठाकर ले जाता है जिसका वियोग मोहीको अनिष्ट है । ६– कोई परद्रव्य नष्ट हो जाता है याने भस्म आदिके रूपमें पूरा बदल जाता है जो कि मोहीको अनिष्ट है । ७– कोई परपदार्थ जिस किसी भी प्रकार अन्यत्र चला जाता है जो कि मोहीको अनिष्ट है । ८–ज्ञानी परद्रव्यका कुछ भी हो, परद्रव्यसे लगाव ही

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पुण्य ।
इससे पुण्यपरिग्रह-विरहित ज्ञायक पुरुष होता ॥२१०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं । अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१०॥

इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति, ततो ज्ञानी अज्ञानमय-

नामसंज्ञ—अपरिग्गह, अणिच्छ, भणिद, णाणि, य, ण, धम्म, अपरिग्गह, दु, धम्म, जाणग, त, त । **धातुसंज्ञ**—परि-गिण्ह ग्रहणे, भण कथने, इच्छ इच्छायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, धर्म, अपरिग्रह, तु, धर्म, ज्ञायक, तत्, तत् । **मूलधातु**—परि-ग्रह ग्रहणे, भण शब्दार्थः, इषु इच्छायां, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपरिग्गहो अपरिग्रहः–प्रथमा एक० । अणिच्छो अनिच्छः–प्रथमा एकवचन । भणिदो भणितः–प्रथमा एक० । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । य च–

होता है, अतः ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे धर्म (पुण्य) को नहीं चाहता है । इस कारण ज्ञानीके धर्मपरिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके होनेसे यह धर्मका केवल ज्ञायक ही होता है । **भावार्थ**—ज्ञानीने सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अनुभव करके अलौकिक आनन्द पाया है, अतः अज्ञानमय भाव न होनेसे इच्छाका भी परिग्रह नहीं है, तो भी जब तक पूर्ण निरास्रव नहीं हुआ तब तक पुण्यका भी आस्रव होता है, किन्तु पुण्यका स्वामित्व न होनेसे परिग्रह नहीं है वह तो ज्ञानस्वरूपको ही अपना सर्वस्व स्वीकार करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सामान्य रूपसे बताया था कि परपदार्थ किसी भी अवस्थाको प्राप्त होओ वह मेरा कुछ भी परिग्रह नहीं है । अब इस ही अपरिग्रहताके आशयको विशेष रूपसे कहना है सो वह विशेषरूप चार प्रकारमें प्रसिद्ध है—(१) पुण्य, (२) पाप, (३) भोजन, (४) पान (पीना) । उसमेंसे प्रथम पुण्य परिग्रहके विषयमें अपरिग्रहताको स्पष्ट इस गाथामें किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) इच्छाकी इच्छा अज्ञानमय भाव है वह अविकार ज्ञानस्वभावके अनुभवका अलौकिक आनन्द पाने वालेके याने ज्ञानीके नहीं होता । (२) अज्ञानमय इच्छा जिसके नहीं है अगत्या पुण्यभाव होनेपर भी वह पुण्यभाव या पुण्यकर्मको भी नहीं चाहता, शुभोपयोगरूप धर्मको नहीं चाहता । (३) ज्ञानी पुण्यभाव होनेपर भी पुण्यभावको नहीं चाहता, अतः उसके पुण्यका भी परिग्रह नहीं है ।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पाप ।
इससे पापपरिग्रह-विरहित ज्ञायक पुरुष होता ॥२११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मं। अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २११ ॥

इच्छा परिग्रहः, तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति, इच्छा त्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति, ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् । एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि ॥ २११ ॥

नामसंज्ञ—अपरिग्गह, अणिच्छ, भणिद, णाणि, य, ण, अधम्म, अपरिग्गह, अधम्म, जाणग, त, त। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, इच्छ इच्छायां, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, इच्छति, अधर्म, अपरिग्रह, अधम्म, ज्ञायक, तत्, तत् । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, इषु इच्छायां, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपरिग्गहो अपरिग्रहः-प्रथमा एकवचन । अणिच्छो अनिच्छः-प्रथमा एकवचन । भणिदो भणितः-प्रथमा एक० कृदन्त । णाणी ज्ञानी-प्र० एक० । य च-अव्यय । ण न-अव्यय । इच्छदि इच्छति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । अधम्मं अधर्मं-द्वितीया एक० । अपरिग्गहो अपरिग्रहः-प्र० ए० । अधम्मस्स अधर्मस्य-षष्ठी एक० । जाणगो ज्ञायकः-प्र० ए० । तेण तेन-तृतीया एकवचन । सो सः-प्रथमा एक० । होदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ २११ ॥

है इस कारण ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके पुण्यका परिग्रह नहीं है तब यह भी जिज्ञासा हुई कि किसी ज्ञानीके कभी विषयमें प्रवृत्ति हो तो पापबन्ध तो होता ही है तब क्या उसके पापका परिग्रह है उसके समाधानमें इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—१-औपाधिक भावोंमें रुचि होना अज्ञानमय भाव है । २-यद्यपि औपाधिक भाव भी अज्ञानभाव है, तो भी ज्ञानीकी उससे उपेक्षा और ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें प्रतीति होनेसे उसे अज्ञानमय भाव नही कहा गया है । ३-पापकर्म व पापभावमें किञ्चिन्मात्र भी हित विश्वास न होनेसे और हितमय शाश्वत चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति होनेसे ज्ञानीके अधर्म का परिग्रह नहीं है । ४-भोगादिकी हितास्थासहित इच्छा ही संसारवर्द्धक इच्छा है ।

सिद्धान्त—१-पापभाव औपाधिक भाव होनेसे उसका स्वामी ज्ञाता द्रव्य नहीं है ।

भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१२॥

अवबोधने क्र्यादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—अपरिग्गहो अपरिग्रहः—प्रथमा एक०। अणिच्छो अनिच्छः—प्रथमा एक०। भणिदो भणितः—प्रथमा एक० कृदन्त। णाणी ज्ञानी—प्रथमा एक०। य च—अव्यय। ण न—अव्यय। इच्छदे इच्छति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। असणं अशनं—द्वितीया एकवचन। अपरिग्गहो अपरिग्रहः—प्र० ए०। दु तु—अव्यय। असणस्स अशनस्य—षष्ठी एक०। जाणगो ज्ञायकः—प्रथमा एक०। तेण तेन—तृ० एक०। सो सः—प्र० ए०। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ॥२१२॥

प्रसंगविवरण—ज्ञानीके अपरिग्रहत्व बतानेका यह स्थल चल रहा है। यहाँ धर्म अधर्मका परिग्रह बताकर ज्ञानीके अशन परिग्रहका प्रतिषेध करनेके लिये यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—१–क्षुधाको औपाधिक विकार जाननेके कारण ज्ञानीको क्षुधाकी इच्छा नहीं है। २–क्षुधाकी चिकित्सारूप भोजनको आत्माका अकृत्य जाननेसे उसकी भी अन्तः इच्छा नहीं है। ३–ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वमय अपनी प्रतीति होनेसे ज्ञानी भोजनका अपरिग्रही है।

सिद्धान्त—१–असातावेदनीयके तीव्र व मंद विपाकोदयके निमित्तसे क्षुधावेदना होती है। २–चारित्रमोहके उदयसे भोजन ग्रहण करनेकी इच्छा होती है। ३–ज्ञानी क्षुधा व भोजनेच्छाको औपाधिक (पौद्गलिक) जानकर उससे विविक्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको जानता है।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३)। ३–विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८)।

प्रयोग—क्षुधा, इच्छा आदि औपाधिक भावोंको आत्माका अकृत्य जानकर उन परभावोंसे विविक्त अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे तृप्त होनेका पौरुष करना ॥२१२॥

अब ज्ञानीके पानपरिग्रहत्वका प्रतिषेध करते हैं—[**अनिच्छः**] इच्छारहित पुरुष [**अपरिग्रहः**] परिग्रहरहित [**भणितः**] कहा गया है। [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**पानं**] कुछ पीनेको [**न**] नहीं [**इच्छति**] चाहता है। [**तेन**] इस कारण [**सः**] वह [**पानस्य**] पानका [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है [**तु**] किन्तु वह [**ज्ञायकः**] पानका ज्ञायक ही [**भवति**] होता है।

तात्पर्य—ज्ञानीके पुण्य, पाप व भोजनकी इच्छा न होनेकी तरह पानकी भी इच्छा नहीं है। अतः ज्ञानी पानका भी परिग्रही नहीं है।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है, उसके परिग्रह नहीं जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

इत्यादिक नानाविध, सब भावोंको न चाहता ज्ञानी ।
किन्तु नियत है ज्ञायक, सब अर्थोंमें निरालम्बी ॥२१४॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी । ज्ञायकभावो नियतः निरालंबस्तु सर्वत्र ॥२१४॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी । तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वं ।

नामसंज्ञ—एवं, आदिअ, दु, विविह, सव्व, भाव, य, ण, इच्छदे, णाणि, जाणगभाव, णियद, णीरालंब, दु, सव्वत्थ । **धातुसंज्ञ**—इच्छ इच्छायां, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—एवं, आदिक, तु, विविध,

---

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९), स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) ।

प्रयोग—पुण्य, पाप, अशनेच्छा, पानेच्छा आदि सर्व विभावोंका रंच भी राग न कर अविकार ज्ञानस्वभावमें रमकर संतुष्ट होनेका पौरुष करना ॥ २१३ ॥

अब कहते हैं कि ज्ञानी अन्य भी सर्वपरभावोंको नहीं चाहता है—[**एवमादिकान् तु**] इस प्रकार याने पूर्वोक्त प्रकार इत्यादिक [**विविधान्**] नाना प्रकारके [**सर्वान् भावान्**] समस्त भावोंको [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**न इच्छति**] नहीं चाहता है । [**तु**] क्योंकि ज्ञानी [**नियतः**] नियत [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभावस्वरूप है, अतः [**सर्वत्र**] सबमें [**निरालम्बः**] निरालम्ब है ।

तात्पर्य—ज्ञानी वस्तुस्वातंत्र्यके परिचयके बलसे किसी भी परद्रव्यको नहीं चाहता वह तो सर्व परपदार्थोंके विकल्पसे भी हटकर ज्ञातामात्र रहता है ।

टीकार्थ—ऐसे पूर्वोक्त भावोंको आदि लेकर अन्य भी बहुत प्रकारके जो परद्रव्यके स्वभाव हैं उनको सबको ही ज्ञानी नहीं चाहता है इस कारण ज्ञानीके समस्त ही परद्रव्य-भावोंका परिग्रह नहीं है । इस प्रकार ज्ञानियोंका अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ । अब इस प्रकार यह समस्त परभावके परिग्रहसे शून्यपना होनेसे उगल दिया है समस्त अज्ञान जिसने ऐसा यह समस्त वस्तुवोंमें अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव होता हुआ अपने आत्माको साक्षात् विज्ञानघन अनुभवता है । **भावार्थ**—ज्ञानी समस्त परभावोंको औपाधिक व हेय जान लेनेके कारण किसीको भी प्राप्त करनेकी चाह नहीं करता, मात्र प्राक् पदवीमें उदयागत कर्ममलको अनासक्त होता हुआ भोगता है ।

अब इसी अर्थको इस कलशमें कहते हैं—"**पूर्वबद्ध**" इत्यादि । **अर्थ**—पूर्वबद्ध निज

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

वर्तमान भोगोंमें, वियोगमतिसे प्रवृत्ति है जिसकी ।
भावी भोगोंको वह, ज्ञानी कांक्षा नहीं करता ॥२१५॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं । कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५॥

कर्मोदयोपभोगस्तावदतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात् । तत्रातीतस्तावदतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति । अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु

नामसंज्ञ—उप्पण्णोदयभोग, विओगबुद्धि, त, त, णिच्चं, कंखा, अणागय, च, उदय, ण, णाणि । **धातुसंज्ञ**—कंख वांछायां, कुव्व करणे । **प्रातिपदिक**—उत्पन्नोदयभोग, वियोगबुद्धि, तत्, तत्, नित्यं, कांक्षा, अनागत, च, उदय, ण, णाणि । **मूलधातु**—कांक्षि कांक्षायां भ्वादि, उत् अय गतौ, डुकृञ् करणे । **पद-विवरण**—उप्पण्णोदयभोगो उत्पन्नोदयभोगः–प्रथमा एक० । विओगबुद्धीए वियोगबुद्ध्या–तृतीया एक० ।

प्रयोग—निराकुल रहनेके लिये समस्त भावान्तरोंका आलम्बन तजना और मात्र सबका जाननहार रहना ॥ २१४ ॥

अब ज्ञानीके तीनों काल विषयक परिग्रह नहीं है ऐसा बताते हैं––**[उत्पन्नोदयभोगः]** वर्तमान कालमें उत्पन्न हुआ उदयका भोग **[तस्य]** उस ज्ञानीके **[नित्यं]** हमेशा **[वियोग-बुद्ध्या]** वियोगकी बुद्धिसे प्रवर्तता है **[च]** और **[अनागतस्य उदयस्य]** आगामी कालमें होने वाले उदयकी **[सः]** वह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[कांक्षां]** इच्छा **[न करोति]** नहीं करता इस कारण ज्ञानीके त्रिकालविषयक उपभोगका भी परिग्रह नहीं है ।

तात्पर्य––ज्ञानीके उपभोगमें आस्था नहीं, किन्तु अरतिभाव है इस कारण ज्ञानीके किसी भी पर व परभावका परिग्रह नहीं है ।

टीकार्थ––कर्मोदयका उपभोग अतीत, वर्तमान और आगामी कालविषयक होता है । उनमेंसे अतीत कालका तो उपभोग बीत चुकनेके कारण वह परिग्रह भावको धारण नहीं करता और अनागत कालका उपभोग आकांक्ष्यमाण हुआ ही परिग्रहभावको धारण करेगा, तथा वर्तमानका उपभोग रागबुद्धिसे प्रवर्तमान होता हुआ ही परिग्रहभावको धारण करेगा, किन्तु ज्ञानीके वर्तमानका उपभोग रागबुद्धिसे प्रवर्तमान नहीं दिखता, क्योंकि ज्ञानीके अज्ञान-मयभावरूप रागबुद्धिका अभाव है । केवल वियोगबुद्धिसे ही प्रवर्तमान होता हुआ वह उपभोग निश्चयसे परिग्रह नहीं है । इस कारण वर्तमान कर्मके उदयका उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं होता और आगामी कर्मके उदयका उपभोग इच्छा किया हुआ होता ही नहीं है क्योंकि ज्ञानीके

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

जो वेदक वेद्य उभय, समय समयमें विनष्ट हो जाता ।
सो ज्ञानी ज्ञायक बन, न चाहता उभय भावोंको ॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयं । तज्ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥२१६॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः । तत्र यो भावः कांक्ष्यमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्ष्यमाणो वेद्यो भावो विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि कांक्ष्यमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा

नामसंज्ञ—ज, समय, समय, उहय, त, जाणग, दु, णाणि, उभय, पि, ण, कया, वि । **धातुसंज्ञ**—वेद वेदने, वि-नस्स नाशे, कंख वांछायां । **प्रातिपदिक**—यत्, समय, समय, उभय, तत्, ज्ञायक, तु, ज्ञानिन्,

---

सिद्धान्त—(१) ज्ञानीके अपने सहजात्मस्वरूपकी भावनासे प्रकट हुए स्वतन्त्र आनन्दके विलासका अनुभव है । (२) स्वसम्वेदक ज्ञानी सुख-दुःखादि उपभोगका साक्षी ही है ।

दृष्टि—१- अनीश्वरनय (१८६) । २- अभोक्तृनय (१६२) ।

प्रयोग—उपभोगविकल्पसे रहित शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको अनुभव करके अपनेमें संतुष्ट रहनेका पौरुष करना ॥२१५॥

अब ज्ञानी अनागत कर्मोदय उपभोगकी क्यों वांछा नहीं करता ? इसका विवरण करते हैं—[यः] जो [**वेदयते**] अनुभव करने वाला भाव है याने वेदकभाव है और जो [**वेद्यते**] अनुभव किया जाने योग्य भाव है अर्थात् वेद्यभाव है [**उभयं**] ये दोनों ही [**समये समये**] समय [**विनश्यति**] नष्ट हो जाते हैं । [**तत्**] सो [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**ज्ञायकः तु**] दोनों भावोंका ज्ञायक ही रहता है [**उभयमपि**] इन दोनों ही भावोंको [**कदापि**] कभी भी [**न कांक्षति**] ज्ञानी नहीं चाहता ।

तात्पर्य—वेदकभाव होनेपर वेद्यभाव नष्ट हो जाता है, वेद्यभाव होनेपर पूर्ववेदक भाव नष्ट हो जाता है सो वेद्यभाव कभी अनुभवा ही नहीं जा सकता यह जानकर ज्ञानी दोनोंका मात्र ज्ञाता ही रहता है ।

टीकार्थ—वास्तवमें ज्ञानी तो अपने स्वभावभावके ध्रुवत्वके कारण टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वरूप नित्य है और जो वेदने वाला तथा वेदने योग्य ऐसे जो दो वेदक तथा वेद्यभाव

१०६A. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (जैसे शरीर मिट्टी है आदि कथन)
१०७. एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे अन्न ही प्राण है आदि कथन)
१०८. स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे दर्पणमें हुए प्रतिबिम्बको दर्पण कहना)
१०९. एकजातिगुणे अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (मदिरापान से अभिभूत मतिज्ञानको मूर्त कहना)
११०. स्वजातिगुणे स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (ज्ञान ही श्रद्धान है, ज्ञान ही चारित्र है आदि कथन)
१११. एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जीव मूर्तिक है आदि कथन)
११२. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणुको ही रूप कहना)
११३. एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव भौतिक है आदि कथन)
११४. स्वजातिद्रव्ये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है, आत्मा श्रुतज्ञान है आदि क०)
११५. एकजातिगुणे अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान गुण ही मकान द्रव्य है आदि कथन)
११६. स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे द्रव्यके स्पर्शको ही द्रव्य कहना, स्पर्शवान् परमाणु आदि)
११७. एकजातिगुणे अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान ही धन है आदि कथन)
११८. स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे ज्ञान पर्याय है आदि कथन)
११९. एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे घटाकार परिणत ज्ञानको घट कहना)
१२०. स्वजातिपर्याये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे पृथ्वी आदि पुद्गलस्कंधको द्रव्य कह देना)
१२१. एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे पशु-पक्षी आदिके शरीरको जीव कह देना)
१२२. स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणोपचारक असद्भूत व्यवहार (जैसे अहिंसाको गुण कह देना व देहके विशिष्ट रूपक देखकर रूपवाला कहना)
१२३. संश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह परमाणु इस स्कंधका है आदि कथन)
१२४. असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे ये पुत्र स्त्री आदि इस जीवके हैं आदि कथन)
१२५. संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह शरीर इस जीवका है, आदि कथन)
१२६. असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह धन वैभव मेरा है आदि कथन)
१२७. संश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे आभूषणसज्जित कन्या मेरी है आदि कथन)
१२८. असंश्लिष्ट स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे यह ग्राम नगर मेरा है आदि कथन)
१२९. परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे पुद्गलकर्म ने जीवको रागी कर दिया आदि कथन)
१२९A. परभोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव पुद्गल कर्म को भोगता है आदि कथन)
१२९B. परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव घट आदिका कर्ता है इत्यादि कथन)
१२९C. परभोक्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव घट पट आदिका भोक्ता है इत्यादि कथन)
१३०. परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीवके द्वारा ये पुण्य पाप बनाये गये आदि कथन)
१३१. परकरणत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीव कषायभावके द्वारा पौद्गलिककर्मोंको बनाता है आदि कथन)
१३२. परसंप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे पिता ने पुत्र के लिये मकान बनाया आदि कथन)
१३३. परापादनत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीवसे इतने कर्म झड़कर अलग हो गये आदि कथन)
१३४. पराधिकरणत्व असद्भूत व्यवहार (जैसे जीवमें कर्म ठसाठस भरे हुए है आदि कथन)
१३५. परस्वामित्व असद्भूत व्यवहार (जैसे मेरा यह धन वैभव शरीर आदि है का कथन)
१३६. स्वजातिकारणे स्वजातिकार्योपचारक व्यवहार (जैसे हिंसा आदिक दुःख ही हैं, आदिका प्रतिपादन)
१३७. एकजातिकारणे अन्यजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे अन्य धन प्राण हैं आदि कथन)
१३८. स्वजातिकार्ये स्वजातिकारणोपचारक व्यवहार (जैसे श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान है आदि कथन)

विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति ।। वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव । तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।। ।। २१६ ।।

तं तद्–अव्ययार्थे । जाणगो ज्ञायकः–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । उभयं–द्वितीया एकवचन । पि अपि–अव्यय । ण न–अव्यय । कंखइ कांक्षति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । कया कदा–अव्यय । वि अपि–अव्यय ।। २१६ ।।

---

(२) चाहा गया सुख-दुःखादिविषयक भाव वेद्यभाव है । (३) सूक्ष्मपर्यायदृष्टिसे वेदकभाव व वेद्यभाव प्रतिसमय नष्ट होते रहते हैं । (४) जिस विषयका वेद्यभाव जिस समय हो रहा है उस विषयका वेदकभाव उस समय नहीं है । (५) जिस विषयका वेदकभाव जिस समय हो रहा है उस समय उस विषयका वेद्यभाव नहीं रहता, वह तो पहिले था । (६) वेद्यभाव व वेदकभावकी विनश्वरताको तथा वेद्यभावके समय तद्विषयक वेदकभावके न हो सकनेके तथ्यको ज्ञानी जानता है, अतः वह उपभोग ही को नहीं चाहता है । (७) उपभोगको न चाहने वाला ज्ञानी उपभोगका परिग्रही नहीं होता । (८) उपभोगका अपरिग्रही सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको अनुभवता है । (९) सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप सहज परमात्मतत्त्वका अनुभवी परमात्मपदस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है ।

सिद्धान्त—(१) वेदकभाव व वेद्यभाव प्रतिसमय नष्ट होते रहते हैं । (२) स्वसंवेदक ज्ञानी कर्मविपाकवश आपतित उपभोगका मात्र साक्षी है ।

दृष्टि—१- अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय (३३) । २- अभोक्तृनय (१९२) ।

प्रयोग—विनश्वर विभावोंसे उपेक्षा कर शाश्वत ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त हो सहज आनन्दको अनुभवनेका पौरुष करना ।।२१६।।

अब सभी उपभोगोंसे ज्ञानीके वैराग्य है यह कहते हैं—[**बंधोपभोगनिमित्तेषु**] बंध और उपभोगके निमित्तभूत [**संसारदेहविषयेषु**] तथा संसारविषयक और देहविषयक [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसानके उदयोंमें [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**रागः**] राग [**नैव उत्पद्यते**] नहीं उत्पन्न होता ।

तात्पर्य—ज्ञानी जीवको उपभोगके कारणभूत विकारभावमें राग नहीं रहा इस कारण ज्ञानी भोगकी इच्छा नहीं करता ।

टीकार्थ—इस लोकमें निश्चयसे अध्यवसानके उदय कितने ही तो संसारविषयक हैं और कितने ही शरीरविषयक हैं । उनमेंसे जितने अध्यवसानोदय संसारविषयक हैं उतने तो

षेधात् ॥ ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति । रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥ ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि अतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः । लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥ ॥ २१७ ॥

वहुवचन । अज्झवसाणोदएसु अध्यवसानोदयेषु–सप्तमी वहु० । णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक० । संसार-देहविसएसु संसारदेहविषयेषु–सप्तमी वहु० । ण न–अव्यय । एव–अव्यय । उप्पज्जदे उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मवाच्य क्रिया । रागो रागः–प्रथमा एकवचन ॥ २१७ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी विषयोपभोगको नहीं चाहता है । अब इस गाथामें उसी विषयका स्पष्टीकरण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संसारविषयक रागादिभाव बन्धनके निमित्तभूत होते हैं । (२) शरीरविषयक सुख-दुःखादि भाव उपभोगके निमित्तक होते हैं । (३) ज्ञानीका न तो रागादि भावमें राग है और न सुख-दुःखादि भावमें राग है । (४) रागादि भाव व सुख-दुःखादि भावमें नानाद्रव्यस्वभावपना है, अतः ये विकार आत्माके नहीं हैं । (५) टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव एकात्मद्रव्यस्वभाव है, अतः ज्ञायकस्वभाव ही आत्माका स्वरूप है । (६) राग-रसरिक्त होनेसे ज्ञानीकी क्रिया परिग्रहभावको प्राप्त नहीं है जैसे कि अकषायित (लोंध फिट-करीसे नहीं भीगे) वस्त्रमें रंगका योग बाहर ही रहता भीतर पक्का नहीं होता । (७) ज्ञानी स्वरसतः समस्त रागसे निराला रहनेके स्वभाव वाला है, अतः वह कर्ममें पड़कर भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता । (८) स्वसम्वेदन ज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञानी इन्द्रियविषयोंमें रागी होता है, अतः वह कर्मरजसे बँध जाता है ।

सिद्धान्त— १– रागादि विभावमें राग होना मिथ्यात्व है । २– शाश्वत ज्ञानस्व-भावका स्वसम्वेदन होनेसे ज्ञानी विभावोंका मात्र साक्षी है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– अकर्तृनय व अभोक्तृनय (१९०-१९२) ।

प्रयोग—विकारोंको नैमित्तिक भाव जानकर उनसे उपेक्षा करके ज्ञायकस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वको निरखकर सहज तृप्त रहनेका पौरुष करना ॥ २१७ ॥

अब पूर्व गाथोक्त अर्थका दृष्टान्तपूर्वक व्याख्यान करते हैं—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[सर्वद्रव्येषु]** समस्त द्रव्योंमें **[रागप्रहायकः]** रागका त्यागने वाला है अतः वह **[कर्ममध्यगतः तु]** कर्मके मध्यमें प्राप्त हुआ भी **[रजसा]** कर्मरूपी रजसे **[नो लिप्यते]** लिप्त नहीं होता **[यथा]** जैसे कि **[कर्दममध्ये]** कीचड़में पड़ा हुआ **[कनकं]** सोना । **[तु पुनः]** किन्तु फिर **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[सर्वद्रव्येषु]** समस्त द्रव्योंमें **[रक्तः]** रागी है, अतः **[कर्ममध्यगतः]** कर्मोंके मध्यमें प्राप्त हुआ

त्वात् ज्ञान्येव । यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात् ॥ यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः

रागप्रहायः–प्रथमा एक० । सव्वदव्वेसु सर्वद्रव्येषु–सप्तमी बहु० । कम्ममज्झगदो कर्ममध्यगतः–प्र० ए० । णो नो–अव्यय । लिप्पदि लिप्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मवाच्य क्रिया । रजएण रजसा–तृतीया एक० । दु तु–अव्यय । कद्दममज्झे कर्दममध्ये–सप्तमी एक० । जहा यथा–अव्यय । कणयं कनकं–प्रथमा एक० । अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एकवचन । पुण पुनः–अव्यय । रत्तो रक्तः–प्रथमा एक० । सव्व=

जंग लग जाता है उसी प्रकार ज्ञानी कर्मके मध्यगत है तो भी वह कर्मसे नहीं बँधता । और अज्ञानी कर्मसे बँध जाता है ।

अब इस अर्थका और भी स्पष्टीकरण कलशमें कहते हैं—**यादृक्** इत्यादि । **अर्थ**—इस लोकमें निश्चयतः जिस वस्तुका जैसा स्वभाव है उसका वह स्वभाव वैसे ही स्वाधीनपनेसे है । सो वह स्वभाव अन्य किसीके द्वारा अन्य सरीखा कभी नहीं किया जा सकता । अतः ज्ञान निरन्तर ज्ञानस्वरूप ही होता है ज्ञान कभी अज्ञान नहीं होता यह निश्चय है । इस कारण हे ज्ञानी ! तू कर्मोदयजनित उपभोगको भोग, परके अपराधसे उत्पन्न हुआ बंध यहाँ तेरे नहीं है । **भावार्थ**—वस्तुस्वभावको मेटनेके लिये कोई समर्थ नहीं है वस्तुस्वभाव वस्तुके अपने ही आधीन है, इस कारण ज्ञान हुए बाद उसे अज्ञानरूप करनेको कोई समर्थ नहीं है । इसी कारण ज्ञानीसे कहा गया है कि परके किये अपराधसे बंध तेरे नहीं है । उपभोग भोगनेसे बंध की शंका करेगा तो परद्रव्यसे बुरा होता है ऐसा मिथ्या माननेका प्रसंग आयेगा । वास्तवमें बंध अपने अपराधसे होता है । इस तरह स्वेच्छाचारिता मिटानेका व परद्रव्यसे बुरा होता है ऐसी शंका मिटानेका उपदेश किया है । स्वेच्छाचारी व मिथ्याबुद्धि होना अज्ञानभाव है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके अध्यवसानोदयोंमें राग उत्पन्न नहीं होता । अब इन दो गाथाओंमें सोदाहरण बतलाया है कि इसी कारण ज्ञानी कर्ममें पड़कर भी कर्मरजसे लिप्त नहीं होता, किन्तु अज्ञानी अध्यवसानोदयोंमें राग होनेसे कर्मरजसे लिप्त हो जाता ।

तथ्यप्रकाश—१– निजको निज परको पर जान लेनेसे ज्ञानीको किसी भी परद्रव्यमें राग नहीं रहता । २– सर्व परद्रव्योंसे राग निवृत्त होनेका शील होनेसे ज्ञानी कर्मसे अलिप्त है । ३– ज्ञानीका कर्मविपाकवश कर्ममें पड़कर भी कर्मसे न लिपनेका स्वभाव है जैसे कि सुवर्णका कर्दममें पड़कर भी कर्दमसे न लिपनेका स्वभाव है । ४– अज्ञानी कर्ममें व कर्मरसमें

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

मिश्र सचित्त अचित्त हि, नाना भोगोंको भोगते भी तो ।
शंखका श्वेतरूपक, किया नहीं जा सके काला ॥२२०॥
ज्यौं भोक्ता भी नाना, सजीव निर्जीव मिश्र द्रव्योंका ।
ज्ञानीका ज्ञान कहीं, अज्ञान किया न जा सकता ॥२२१॥
जब ही वह शंख कभी, उस श्वेत स्वभावको छोड़ करके ।
पावे कालापनको, तब ही शुक्लत्वको तजता ॥२२२॥
त्यौं ज्ञानी भी जब ही, अपने उस ज्ञानभावको तजकर ।
हो अज्ञानविपरिणत, तब ही अज्ञानको पाता ॥२२३॥

नामसंज्ञ—भुंजंत, वि, विविह, सच्चित्ताचित्तमिस्सिय, दव्व, संख, सेदभाव, ण, वि, किण्णग, तह, णाणि, वि, विविह, सच्चित्ताचित्तमिस्सिय, दव्व, भुंजंत, वि, णाण, ण, सक्क, अण्णाणद, जइया, स, एव,

---

किया जानेके लिये शक्य नहीं है, क्योंकि परमें परभावस्वरूप करनेका निमित्तपना नहीं होता। उसी तरह परद्रव्यको भोगते हुए भी ज्ञानीका ज्ञान परके द्वारा अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता, क्योंकि दूसरेमें परभावस्वरूप करनेका निमित्तपना नहीं है। इस कारण ज्ञानीके परापराधनिमित्तक बंध नहीं है। और जिस समय वही शंख परद्रव्यको भोगता हो अथवा न भोगता हो, परन्तु अपने श्वेतपनेको छोड़कर स्वयमेव कृष्णभाव स्वरूप परिणमता है उस समय इस शंखका श्वेतभाव अपने द्वारा ही किया गया कृष्णभाव स्वरूप होता है, उसी तरह वही ज्ञानी परद्रव्यको भोगता हो अथवा न भोगता हो, परन्तु जिस समय अपने ज्ञानको छोड़ स्वयमेव अज्ञानसे परिणमन करे उस समय इसका ज्ञान अपना ही किया अज्ञानरूप होता है।

एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमेत तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात् । ततो ज्ञानिनः स्वापराधनिमित्तो बंधः ।। ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते भुंक्ष्ये हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः । बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवं ।

अज्ञानता, यदा, तत्, एव, शंख, श्वेतस्वभाव, तक, कृष्णभाव, तदा, शुक्लत्व, तथा, ज्ञानिन्, अपि, खलु, यदा, ज्ञानस्वभाव, तक, अज्ञान, परिणत, तदा, अज्ञानता । **मूलधातु**—भुज-भोगे रुधादि, शक सामर्थ्ये दिवादि, डुकृञ् करणे, णिञ् प्रापणे तुदादि, प्र-ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, गम्लृ गतौ । **पदविवरण**—भुंजंतस्स भुंजानस्य–षष्ठी एक० । वि अपि–अव्यय । विविहे विविधान्–द्वि० बहु० । सच्चित्ताचित्तमिस्सिए सचित्ताचित्तमिश्रितानि–द्वितीया बहु० । दव्वे द्रव्याणि–द्वितीया बहु० । संखस्य शंखस्य–षष्ठी एक० ।

करने वाले कर्ताको अपने फलके साथ जबरदस्तीसे तो लगता ही नहीं कि मेरे फलको तू भोग । कर्मफलका इच्छुक ही कर्मको करता हुआ उस कर्मके फलको पाता है । इस कारण जो जीव उपयोगमें ज्ञानरूप हुआ, तथा जिसकी रागकी रचना कर्ममें दूर हो गई है ऐसा मुनि कर्मके फलका परित्यागरूप एक स्वभाव होनेसे कर्मको करता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता

भावार्थ—कर्म तो कर्ताको जबरदस्तीसे अपने फलके साथ जोड़ता ही नहीं, परंतु जो कर्मको करता हुआ उसके फलकी इच्छा करता है वही उसका फल पाता है । इस कारण जो ज्ञानी ज्ञानरूप होता हुआ कर्मफलपरित्यागरूप भावनासहित होकर कर्मके करनेमें राग न करे तथा उसके फलकी आगामी इच्छा न करे वह मुनि कर्मोंसे नहीं बंधता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्वकी दो गाथावोंमें बताया गया था कि परद्रव्यमें राग न करने वाला कर्मसे लिप्त नहीं होता और परद्रव्यमें राग करने वाला कर्मसे लिप्त हो जाता है । उसी विषयमें यहाँ यह बताया गया है कि ऐसा रागमूल अज्ञानपना उपभोगसे नहीं होता किन्तु ज्ञानस्वभावको तजकर अज्ञान परिणमन करनेसे होता है ।

तथ्यप्रकाश—१–उपभोग्य परद्रव्य जीवका अज्ञानपना नहीं कर सकता । २–वियोगबुद्धिसे करना पड़ रहा उपभोग अज्ञानपना नहीं कर सकता । ३–शंखकीट द्वारा खाई जाने वाली मिट्टी श्वेत शंखदेहको काला नहीं कर सकती । ४–चारित्रमोहविपाकवश करना पड़ रहा उपभोग ज्ञानीको अज्ञानमय नहीं बना सकता । ५–भेदविज्ञान खो देनेपर विकारके लगाव के कारण आत्मा ज्ञानको छोड़कर अज्ञानरूप परिणम जाता है । ६–भोगनेकी इच्छा होनेपर "परद्रव्यके उपयोगसे बंध नहीं होता" ऐसी गप्प झाड़नेसे बन्ध नहीं रुकता ।

सिद्धान्त—१–कोई द्रव्य अन्यके भावका कर्ता नहीं होता । २–ज्ञानभावको छोड़कर जीव स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमता है ।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥ (चतुष्कम्)

जैसे यहँ कोई पुरुष, वृत्तिनिमित सेविताहि भूपतिको ।
तो वह राजा इसको, सुखकारी भोग देता है ॥२२४॥
वैसे यहँ जीव पुरुष, सुखनिमित्त कर्म धूल सेता है ।
तो वह कर्म भि नाना, सुखकारी भोग देता है ॥२२५॥
जैसे वही पुरुष जब, वृत्तिनिमित्त नहिं सेवता नृपको ।
तो वह राजा भि नहीं, सुखकारी भोग देता है ॥२२६॥
त्यों ही सम्यग्दृष्टी, विषयनिमित कर्म धूल नहिं सेता ।
तो वह कर्म भी नहीं, सुखकारी भोग देता है ॥२२७॥

नामसंज्ञ—पुरिस, जह, क, वि, इह, वित्तिणिमित्त, तु, राय, तो, त, वि, राय, विविह, भोअ, सुहुप्पाद, एमेव, जीवपुरिस, कम्मरय, सुहणिमित्त, तो, त, वि, कम्म, विविह, भोअ, सुहुप्पाद, एमेव, सम्मदिट्ठि, विसयत्थं, ण, कम्मरय, तो, त, ण, कम्म, विविह, भोअ, सुहुप्पाद । **धातुसंज्ञ**—सेव सेवायां, दद दाने । **प्रातिपदिक**—पुरुष, यथा, किम्, अपि, इह, वृत्तिनिमित्त, तु, राजन्, तत्, तत्, अपि, राजन्, विविध,

रूपी रजको [न सेवते] नहीं सेवता [तत्] तो [तत्कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पाकान्] सुखके उपजाने वाले [विविधान् भोगान्] अनेक प्रकारके भोगोंको [न ददाति] नहीं देता ।

तात्पर्य—कर्मफलकी इच्छासे कर्मसेवन करनेवालेको नवीन बद्ध कर्म आगे भी सुख दुःखादि फल देता है और कर्मफलकी इच्छासे कर्मसेवन करनेवालेको कर्मफल नहीं मिलता ।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है । और जैसे वही पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा नहीं करता तो राजा भी उसको

ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥ सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं, यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि । सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंका

क्रियाविशेषण । तु–अव्यय । सेवए सेवते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । रायं राजानं–द्वितीया एक० । तो तत्–अव्यय । अवि अपि–अव्यय । देदि ददाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । राया राजा–प्रथमा एकवचन । विविहे विविधान्–द्वितीया बहु० । भोए भोगान्–द्वि० बहु० । सुहुप्पाए सुखोत्पादकान्–द्वि० बहु० । एमेव एवमेव–अव्यय । जीवपुरिसो जीवपुरुषः–प्रथमा एकवचन । कम्मरयं कर्मरजः–द्वितीया ए० । सेवदे सेवते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सुहणिमित्तं सुखनिमित्तं–यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषण । सो सः–प्रथमा एक० । वि अपि–अव्यय । देइ ददाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । कम्मो कर्म–प्रथमा एक० । विविहे विविधान्–द्वितीया बहु० । भोए भोगान्–द्वितीया बहु० । सुहुप्पाए सुखोत्पादकान्–द्वि०

उज्ज्वल हैं । उनके उजलापनको ज्ञानी ही जानते हैं मिथ्यादृष्टि उनका उजलापनको नहीं जानता । मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है बाहरसे ही भला बुरा मानता है, अंतरात्माकी परिणति को मिथ्यादृष्टि क्या जान सकता है ?

अब इसी अर्थके समर्थनमें ज्ञानीके निःशंकित नामक गुणकी सूचनारूप काव्य कहते हैं—**सम्यग्दृष्टयः** इत्यादि । **अर्थ**—ऐसा साहस एक सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है कि जिस भय से तीन लोक अपना मार्ग छोड़ देते याने चलायमान हो गये ऐसे वज्रपातके पड़नेपर भी वे स्वभावसे ही निर्भयपना होनेके कारण सब शंकाओंको छोड़कर जिसका ज्ञानरूपी शरीर किसीसे भी बाधित नहीं हो सकता ऐसे अपने आत्माको जानते हुए स्वयं ज्ञानमें प्रवृत्त होते हैं, ज्ञानसे च्युत नहीं होते । **भावार्थ**—वज्रपातके पड़नेपर भी ज्ञानी अपने स्वरूपको निर्बाध ज्ञानशरीररूप मानता हुआ ज्ञानसे चलायमान नहीं होता, वह ऐसी शंका नहीं रखता कि इस वज्रपातसे मेरा विनाश हो जायगा । पर्यायका विनाश होवे तो उसका विनाशीक स्वभाव है ही । ज्ञानी तो शुभाशुभ कर्मोदयमें भी ज्ञानरूप परिणमते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें यह सिद्ध किया गया था कि ज्ञानदृष्टि छोड़कर यह जीव खुद अज्ञानरूप परिणमता है । अब इस गाथाचतुष्कमें दृष्टान्तपूर्वक उसी निष्कर्षके समर्थनमें कहा गया कि सरागपरिणामसे बंध होता है और वीतरागपरिणामसे मोक्ष होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) विषयसुखके निमित्त कर्मबन्ध करनेवाले अज्ञानीको वह बद्धकर्म सुखोत्पादक भोगका निमित्त कारण होता है । (२) शुभकर्मके निमित्त सनिदान शुभकर्मका अनुष्ठान करने वाले जीवको भविष्यमें वह पापानुबन्धी पुण्य भोगलाभका निमित्त कारण होता है । (३) उदयागत कर्मफलको उपादेयबुद्धिसे न भोगने वाले ज्ञानीको अर्थात् विषय-

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टी आत्मा, होते निःशंक हैं अतः निर्भय।
चूंकि वे सप्तभयसे, मुक्त इसीसे निशंक कहा ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन। सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतः, अत्यंतं कर्मनिरपेक्षतया वर्तन्ते तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते ॥ लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मनः, चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः। लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो, निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥ एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते, निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।

नामसंज्ञ—सम्मादिट्ठि, जीव, णिस्संक, णिब्भय, त, सत्तभयविप्पमुक्क, ज, त, दु, णिस्संक। **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे, णिस्-संक शंकायां। **प्रातिपदिक**—सम्यग्दृष्टि, जीव, निश्शंक, निर्भय, तत्, सप्त-

लोक तथा परलोकका भय कैसे हो सकता है ? वह ज्ञानी तो स्वयं निःशंक हुआ हमेशा अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप अनुभवता है। **भावार्थ**—इस भवमें आजीवन अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं, ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे ऐसी चिन्ता रहना तो इस लोकका भय है और परभवमें न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना परलोकका भय है। किन्तु, ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है जो सदा प्रगट है। सो मेरा लोक तो किसीका बिगाड़ा हुआ नहीं बिगड़ता। ऐसे विचारता हुआ ज्ञानी अपनेको सहज ज्ञानरूप अनुभवता है, उसके इहलोकका भय व परलोकका भय किस तरह हो सकता है ? कभी नहीं होता।

अब वेदनाके भयका निराकरण करते हैं—**एषैकेव** इत्यादि। **अर्थ**—भेदरहित उदित वेद्यवेदकके बलसे एक अचल ज्ञानस्वरूप ही स्वयं निराकुल पुरुषों द्वारा सदा वेदा जाता है, अनुभव किया जाता है। अन्यसे आई हुई वेदना ज्ञानीके होती ही नहीं है। इस कारण उस ज्ञानीके वेदनाका भय कैसे हो सकता है ? नहीं होता। वह तो निःशंक हुआ अपने सहज ज्ञानभावका सदा अनुभव करता है। **भावार्थ**—सुख दुःखको भोगनेका नाम वेदना है ज्ञानी तो एक अपने सहज ज्ञानमात्रस्वरूपको भोगता है। वह पुद्गलसे आई हुई वेदनाको वेदना ही नहीं जानता, इस कारण अन्य द्वारा आगत वेदनाका भय ज्ञानीको नहीं है। वह तो सदा निर्भय हुआ सहज ज्ञानका अनुभव करता है।

स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥ स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः। अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५८॥ प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो, ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित्। तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५९॥

बहु०। होंति भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। णिब्भया निर्भयाः–प्रथमा बहु०। तेण तेन–तृतीया एक०। सत्तभयविप्पमुक्का सप्तभयविप्रमुक्ताः–प्र० बहु०। जम्हा यस्मात्–पंचमी एक०। तम्हा तस्मात्–

परमार्थ स्वरूप नहीं हैं। परमार्थतः आत्माका ज्ञान ही प्राण है वह ज्ञान प्राण अविनाशी है, अतः आत्माके मरण नहीं। इस कारण ज्ञानीको मरणका भय नहीं है। ज्ञानी तो अपने ज्ञानस्वरूपका निःशंक होता हुआ निरंतर स्वयं अनुभव करता है।

अब आकस्मिक भयका निराकरण करते हैं—**एकं** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञान एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है, और निश्चयतः स्वतः ही सिद्ध है सो जब तक वह है तब तक सदा वही है, इसमें दूसरेका उदय नहीं है, इस कारण इसमें आकस्मिक कुछ भी नहीं है। तव ज्ञानीको आकस्मिक भय कैसे हो सकता है। ज्ञानी तो निःशंक हुआ निरंतर अपने सहज ज्ञानस्वभावका सदा अनुभव करता है। **भावार्थ**—अकस्मात् भयानक पदार्थसे प्राणीके भय उत्पन्न होनेको आकस्मिक भय कहते हैं। सो आत्माका ज्ञानस्वरूप अविनाशी, अनादि, अनन्त अचल, एक है, इसमें दूसरेका प्रवेश नहीं है, अतः आत्मामें नवीन अकस्मात् कुछ नहीं होता। ऐसा ज्ञानी जानता है फिर, उसके अकस्मात् भय कैसे हो ? इस लिये ज्ञानी अपने ज्ञानभाव का निःशंक निरंतर अनुभव करता है इस प्रकार सात भय ज्ञानीके नहीं हैं।

अब सम्यग्दृष्टिके निःशंकितादि अंगोंका प्रताप काव्यमें कहते हैं—**टंकोत्कीर्ण** इत्यादि। **अर्थ**—चूंकि टंकोत्कीर्णवत् एकस्वभाव निजरससे व्याप्त ज्ञानसर्वस्वको अनुभवने वाले सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि लक्ष्म समस्त कर्मोंका हनन करते हैं, इस कारण फिर भी याने कभी भी सम्यग्दृष्टिके शंकादिदोषकृत कर्मबन्ध लेशमात्र भी नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मको भोगते हुए उसके निश्चित निर्जरा ही होती है। **भावार्थ**—पूर्वबद्ध भयादि प्रकृतियोंका अनुभाग प्रतिफलित होता है उसे भोगते हुए भी ज्ञानीके शंकादिकृत बन्ध रंच भी नहीं होता, प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें यह प्रसिद्ध किया गया था कि सरागपरिणामसे बंध होता है और वीतराग परिणामसे मोक्ष होता है। अब इस गाथामें बताया है कि

ज़ो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२६॥

विधिबंध मोहकारी, आस्रव चारों हि छेदते हैं जो ।
सो निशंक आत्मा है, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२२६॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान् । स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२२६॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावा-

---

नामसंज्ञ—ज, चउ, वि, पाद, त, कम्मबंधमोहकर, त, णिस्संक, चेदा, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व। **धातुसंज्ञ**—च्छिद छेदने, मुण ज्ञाने। **प्रातिपदिक**—यत्, चतुर्, अपि, पाद, तत्, कर्मबन्धमोहकर, तत्, निश्शंक, चेतयितृ, सम्यग्दृष्टि, ज्ञातव्य। **मूलधातु**—छिदिर् द्वेधीकरणे रुधादि, मन ज्ञाने दिवादि। **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन। चत्तारि चतुरः–द्वितीया बहु०। वि अपि–अव्यय। पाए पादान्–द्वितीया

निःशङ्क सम्यग्दृष्टि है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये।

तात्पर्य—संसारविषवृक्षके मूलभूत मिथ्यात्वादि भावोंका घात करनेसे यह ज्ञानी निःशंक है।

टीकार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयपनेके कारण कर्मबंध की शंकाको करने वाले मिथ्यात्वादि भावोंका अभाव होनेसे निःशंक है, इस कारण इसके शंकाकृत बन्ध नहीं है, किन्तु निर्जरा ही है। **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिके किसी पदवीमें कर्मका उदय आता है किंतु उसका स्वामीपनेके अभावसे वह कर्ता नहीं होता इस कारण भयप्रकृतिका उदय आनेपर भी शंकाके अभावसे ज्ञानी स्वरूपसे भ्रष्ट नहीं होता, निःशंक रहता है। अतएव इसके शंकाकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु कर्मोदय रस खिराकर क्षयको प्राप्त हो जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय व निःशंक होते हैं। अब इस गाथामें बताया गया है कि सम्यग्दृष्टिकी निःशंकताका कारण यह है कि उसने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योगरूप विकार भावको ज्ञान द्वारा निज शुद्धस्वरूपसे जुदा कर डाला है।

तथ्यप्रकाश—(१) सहजात्मा तो निष्कर्म अन्तस्तत्त्व है, किन्तु मिथ्यात्वादि भाव कर्म करने वाले हैं। (२) सहजात्मा तो निर्मोह अन्तस्तत्त्व है, किन्तु मिथ्यात्वादि भाव मोह करने वाले हैं। (३) सहजात्मा तो निर्बाध सहजानन्दमय परमपदार्थ है, किन्तु मिथ्यात्वादि भाव बाधा करने वाले हैं। (४) शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें निःशंक होकर ज्ञानी स्वसम्वेदन ज्ञान खड्गसे मिथ्यात्वादि संसारविषवृक्षमूलोंको काट डालता है। (५) शुद्धात्मशंकाकृत बन्ध

१७१. **सर्वगतनय** (जैसे ज्ञानमुखेन सर्वज्ञेयवर्ती आत्मा का बोधन)
१७२. **असर्वगतनय** (जैसे स्वात्मप्रदेशवर्ती आत्माका बोधन)
१७३. **शून्यनय** (जैसे सर्वपरभावशून्य केवल आत्माका बोधन)
१७४. **अशून्यनय** (जैसे सर्वज्ञेयाकाराक्रान्त आत्मा का बोधन)
१७५. **ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय** (जैसे ज्ञेयाकारपरिणत ज्ञान के एकपनेका बोधन)
१७६. **ज्ञानज्ञेयद्वैतनय** (जैसे ज्ञेयाकारकालम्बित आत्मा के अनेकपनेका दर्शन)
१७७. **नियतिनय** (जैसे शाश्वत ज्ञानस्वभावमें नियत आत्माका बोधन)
१७८. **अनियतिनय** (जैसे औपाधिकविभावरूप अनियतभाववान आत्माका बोधन)
१७९. **स्वभावनय** (जैसे संस्कारका आवश्यकतासे शून्य परिपूर्ण आत्माका बोधन)
१८० **अस्वभावनय** (जैसे संस्कारवशवर्ती अल्पज्ञ आत्मा का बोधन)
१८१. **कालनय** (जैसे अपने समयपर विपच्यमान भावयुक्त आत्माका बोधन)
१८२. **अकालनय** (जैसे उदीरणादिरूप असमयपच्यमान भावयुक्त आत्माका बोधन)
१८३. **पुरुषकारनय** (जैसे पुरुषार्थकी प्रधानता से साध्यसिद्धि होनेका बोधन)
१८४. **देवनय** (जैसे कर्मोदयकी प्रधानतासे साध्यसिद्धि होनेका बोधन)
१८५. **ईश्वरनय** (जैसे कर्मविपाकबलाधानसे परतन्त्रताके अनुभव का परिचय)
१८६. **अनीश्वरनय** (जैसे अपनेही स्वरूपसे प्रकट स्वतंत्रविलासके अनुभवका बोधन)
१८७. **गुणिनय** (जैसे गुणपुञ्ज आत्माके अभिमुख उपयोगकी गुणग्राहिताका बोधन)
१८८. **अगुणिनय** (जैसे सर्वत्र उपयोगवान आत्माकी साक्षिताका परिचय)
१८९. **कर्तृनय** (जैसे अपनेको कर्मविपाकप्रतिफलन का कर्ता समझना)
१९०. **अकर्तृनय** (जैसे कर्मविपाकप्रतिफलनको अस्वभाव जान मात्र ज्ञाता होने का परिचय)
१९१. **भोक्तृनय** (जैसे विभावानुरागी आत्माके सुख दु:खादि भोगने का परिचय)
१९२. **अभोक्तृनय** (जैसे विवेकी आत्माके सुख दु:खादिपनेकी साक्षिता का बोधन)
१९३. **क्रियानय** (जैसे चारित्रप्रधान आत्माके ज्ञाननिधिकी साध्यताकी सिद्धिका बोधन)
१९४. **ज्ञाननय** (जैसे विवेक बुद्धिकी प्रधानतासे आत्माके साध्यकी सिद्धि का बोधन)
१९५. **व्यवहारनय** (जैसे जीवको कर्मबन्ध व कर्ममोक्ष दो में रहनेवाला दिखाना)
१९६. **निश्चयनय** (जैसे बन्ध, मोक्ष किसीभी स्थितिमें मात्र शुद्ध आत्माको दिखाना)
१९७. **अशुद्धनय** (जैसे औपाधिक स्थितियोंमें जीवका सोपाधिस्वभाव दीखना)
१९८. **शुद्धनय** (जैसे केवल आत्मद्रव्यका निरुपाधिस्वभाव दीखना)
१९९. **ऊर्ध्वसामान्यनय** (जैसे त्रैकालिकपर्यायोंमें मात्रएक आत्मद्रव्य दीखना)
२००. **ऊर्ध्वविशेषनय** (जैसे एक आत्माके त्रैकालिक नाना पर्यायोंका दीखना)
२०१. **निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि** (जैसे नवीनकर्मास्रवके निमित्तभूत द्रव्यप्रत्ययके निमित्वके निमित्तरूप रागादिभावका परि०)
२०२. **सादृश्यनय** (जैसे पुण्य पाप कर्मको कर्मत्वदृष्टिसे एकरूप देखना आदि)
२०३. **वैलक्षण्यनय** (जैसे प्रकृति आदिके भेदसे पुण्य पाप कर्म में अन्तर जानना)

● इति नयचक्रप्रकाश समाप्त ●

मनोहर वर्णी सहजानन्द

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

जो नहिं करता वाञ्छा, कर्मफलों तथा सर्व धर्मोंमें ।
वह निःकांक्ष पुरुष है, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३०॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु । स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२३०॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षस्ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३०॥

नामसंज्ञ—ज, दु, ण, कंख, कम्मफल, तह, सव्वधम्म, त, णिक्कंख, चेदा, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, कंख वांछायां, मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—यत्, तु, न, कांक्षा, कर्मफल, तथा, सर्वधर्म, तत्, निष्कांक्ष, चेतयितृ, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, मन ज्ञाने दिवादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । ण न–अव्यय । करेदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कंखं कांक्षां–द्वितीया एकवचन । कम्मफलेसु कर्मफलेषु–सप्तमी बहु० । तह तथा–अव्यय । सव्वधम्मेसु सर्वधर्मेषु–सप्तमी बहु० । सो सः–प्रथमा एक० । णिक्कंखो निष्कांक्षः–प्रथमा एक० । चेदा चेतयिता–प्र० एक० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन ॥२३०॥

तथ्यप्रकाश—१–सहजशुद्धात्मभावनाजन्य परम आनन्दमें तृप्त होनेके कारण सम्यग्दृष्टि कुछ भी इच्छा नहीं करता । २–सम्यग्दृष्टि इन्द्रियविषय सुखरूप कर्मफलमें वाञ्छा नहीं करता । ३–सम्यग्दृष्टि समस्त वस्तुधर्मोंमें वाञ्छा अनुराग नहीं करता । ४–सम्यग्दृष्टि विषयसुखके कारणभूत पुण्यरूप धर्ममें वाञ्छा नहीं करता । ५–सम्यग्दृष्टि इहलोक परलोककी आकांक्षा नहीं करता । ६–सम्यग्दृष्टि समस्त परसमय प्रणीत कुधर्मोंमें वाञ्छा नहीं करता । ७–विषयसुखवाञ्छाकृत बन्ध सम्यग्दृष्टिके नहीं है । ८–अनाकांक्ष सम्यग्दृष्टिके पूर्वबद्धकर्म की निर्जरा निश्चित है ।

सिद्धान्त—१– एक ज्ञायकभावमयताके कारण ज्ञानीके न तो कांक्षा है और न कांक्षाकृत बन्ध है ।

दृष्टि—१–प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—अविकार सहजात्मतत्त्वकी भावनासे अनाकांक्ष होकर सहजज्ञानानंदके अनुभवसे तृप्त रहना ॥२३०॥

अब निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं—[यः चेतयिता] जो जीव [सर्वेषामेव] सभी [धर्माणां] वस्तुधर्मोंमें [जुगुप्सां] ग्लानि [न करोति] नहीं करता [सः] वह जीव [खलु] निश्चयसे [निर्विचिकित्सः] विचिकित्सादोषरहित [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि है [ज्ञातव्यः]

जो हवइ असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

जो समस्त भावोंमें, मूढ न हो सत्य दृष्टि रखता है ।
वह है अमूढदृष्टी, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३२॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु । स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३२॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढ-

---

नामसंज्ञ—ज, असम्मूढ, चेदा, सव्व, कम्मभाव, त, खलु, अमूढदिट्ठि, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, मुण ज्ञाने । प्रातिपदिक—यत्, असंमूढ, चेतयितृ, सव्व, कम्मभाव, तत्, अमूढदृष्टि, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य । मूलधातु—भू सत्तायां, मन ज्ञाने । पदविवरण—जो यः–प्रथमा एक० । असम्मूढो

है । ६–वीतद्वेष स्वभावानुरत सम्यग्दृष्टिके पूर्वबद्धकर्मकी निर्जरा निश्चित है ।

सिद्धान्त—१–कर्मविपाकज भावोंसे पृथक् ज्ञानमात्र अपनेको निरखनेके कारण ज्ञानी के परभावोंसे म्लानपना नहीं आता ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कर्मोदयज परभावोंसे अपनेको पृथक् ज्ञानमात्र निरखकर परभावोंसे म्लान न होकर ज्ञानस्वभावमें रत होनेका पौरुष करना ॥२३१॥

अब अमूढ़दृष्टि अंग कहते हैं—[यः] जो [चेदा] आत्मा [सर्वेषु] समस्त [कर्मभावेसु] शुभाशुभ कर्मभावोंमें [असंमूढः] मूढ नहीं [हवइ] होता है [सः] वह ज्ञानी जीव [खलु] निश्चयसे [अमूढदृष्टिः] अमूढ़दृष्टि [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—जो आत्मा अनात्मभावोंमें कभी व्यामुग्ध नहीं होता है वह ज्ञानी अमूढ़दृष्टि है ।

टीकार्थ—निश्चयसे सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयपनेसे सब भावोंमें मोह के अभावसे अमूढदृष्टि है, इस कारण इसके मूढदृष्टिकृत बंध नहीं है, किन्तु निर्जरा ही है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि सब पदार्थोंका स्वरूप यथार्थ जानता है, उनपर रागद्वेष मोह न होनेसे अयथार्थ दृष्टि नहीं होती और जो चारित्रमोहके उदयसे इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनको उदयकी बलवत्ता जान उनसे विरक्त रहता उन भावोंका कर्ता नहीं होता एवं सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके अभिमुख रहता है । इस कारण मूढदृष्टिकृत बंध ज्ञानीके नहीं है, किन्तु निर्जरा ही है याने प्रकृति रस खिराकर क्षीण हो जाती है ।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

जो सिद्धभक्तितत्पर, मलिनभावोंको दूर करता है ।
वह बुध उपगूहक है, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३३॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणां । स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२३३॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवस्य शक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३३॥

नामसंज्ञ—ज, सिद्धभत्तिजुत्त, उवगूहणग, दु, सव्वधम्म, त, उवगूहणकारि, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व । **धातुसंज्ञ**—उप-ग्रह संवरणे, भज सेवायां, मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—यत्, सिद्धभक्तियुक्त, उपगूहनक, तु, सर्वधर्म, तत्, उपगूहनकारिन्, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य । **मूलधातु**—उप-गुहू संवरणे भ्वादि, भज सेवायां भ्वादि, मन ज्ञाने दिवादि । **पदविवरण**— जो यः–प्रथमा एक० । सिद्धभत्तिजुत्तो सिद्धभक्तियुक्तः–प्रथमा एक० । उवगूहणगो उपगूहनकः–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । सव्वधम्माणं सर्वधर्माणां–षष्ठी बहुवचन । सो सः–प्र० ए० । उवगूहणकारी उपगूहनकारी–प्र० ए० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन ॥ २३३ ॥

३–सम्यग्दृष्टि समस्त आत्मशक्तियोंकी विकासवृद्धि करने वाला होनेसे उपबृंहक है । ४–अनुपगूहनकृत बंध सम्यग्दृष्टिके नहीं होता । ५–सम्यग्दृष्टिके शक्तिदौर्बल्यकृत बंध नहीं है ।

सिद्धान्त— १–शुद्धात्मभावनाके बलसे सम्यग्दृष्टि विकारभावोंका विनाशक होता है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ ब) ।

प्रयोग—अविकार सहजसिद्ध चैतन्यस्वरूपके अवलंबनके बलसे समस्तविकारभावोंसे अलग रहना ॥२३३॥

अब स्थितिकरण गुण कहते हैं:—[**यः**] जो जीव [**उन्मार्गं गच्छंतं**] उन्मार्ग चलते हुए [**स्वकं अपि**] अपनी आत्माको भी [**मार्गे**] मार्गमें [**स्थापयति**] स्थापित करता है [**सः चेतयिता**] वह ज्ञानी [**स्थितिकरणयुक्तः**] स्थितिकरणगुणसहित [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकार्थ—सम्यग्दृष्टि निश्चयसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपनेके कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गसे च्युत हुए अपनेको उसी मार्गमें स्थित करनेसे स्थितिकारी है । इस कारण इसके मार्गच्यवनकृत बंध नहीं है किन्तु निर्जरा ही है । **भावार्थ**—जो अपने स्वरूपमय मोक्षमार्गसे चिगे हुएको उसी मार्गमें स्थापन करे वह स्थितिकरणगुणयुक्त है । उसके मार्गसे छूट जानेका बंध नहीं होता, मात्र उदय आये हुए कर्म रस खिराकर निर्जीर्ण हो

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

मोक्षपथस्थित तीनों, साधन व साधुवोंमें रति करता ।
जो बुध वह है वत्सल, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३५॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे । स वात्सल्यभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२३५॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३५॥

नामसंज्ञ—ज, वच्छलत्त, ति, साहु, मोक्खमग्ग, त, वच्छलभावजुद, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, मग्ग अन्वेषणे । **प्रातिपदिक**—यत्, वत्सलत्व, त्रि, साधु, मोक्षमार्ग, तत्, वात्सल्यभावयुत, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, मृग अन्वेषणे चुरादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एक० । कुणदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । वच्छलत्तं वत्सलत्वं–द्वितीया एक० । तिण्हं त्रयाणां–षष्ठी वहु० । साहूण साधूनां–षष्ठी बहु० । मोक्खमग्गम्हि मोक्षमार्गे–सप्तमी एक० । सो सः–प्रथमा एक० । वच्छलभावजुदो वात्सल्यभावयुतः–प्रथमा एकवचन । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एकवचन । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ २३५ ॥

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि पुरुषका रत्नत्रयमें व रत्नत्रयधारी पुरुषोंमें निश्छल वात्सल्य होता है ।

टीकार्थ—निश्चयसे सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयपनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रभावोंका अपनेसे अभेद बुद्धि द्वारा अच्छी तरह देखनेसे मोक्षमार्गका वत्सल है, अतिप्रीतियुक्त है । इस कारण इसके मार्गकी अप्राप्तिसे किया गया कर्मबंध नहीं है, किन्तु निर्जरा ही है । **भावार्थ**—वत्सलपना प्रीतिभावको कहते हैं । जो मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूपमें अनुरागी हो उसके मार्गकी अप्राप्ति नहीं और मार्गानुपलम्भकृत कर्मबंध नहीं । कर्म रस (फल) मात्र प्रतिफलित होकर खिर जाता है इसलिए निर्जरा ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सम्यग्दृष्टिके स्थितिकरणाङ्गका निर्देश किया गया था । अब इस गाथामें क्रमप्राप्त वात्सल्याङ्गका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गसाधक स्वकीय रत्नत्रय धर्मकी वत्सलता व भक्ति रखता है । (२) सम्यग्दृष्टि रत्नत्रयके आधारभूत धर्मात्मावोंकी वत्सलता व भक्ति करता है । (३) सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको अपनेसे अभेदरूप अनुभवनेके कारण मार्गवत्सल है । (४) मार्गानुपलम्भकृत अथवा अवात्सल्यकृत बन्ध सम्यग्दृष्टिके नहीं है ।

बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन । सम्यग्दृष्टिः

भ्राम्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जो यः–प्रथमा एक० । जिणणाणपहावी जिनज्ञानप्रभावी–प्र०

है । व्यवहारमें जिनबिम्बको रथमें विराजमान कर नगर उपवन आदिमें विहार कराके धर्मकी प्रभावना की जाती है, निश्चयसे ज्ञानकी प्रभावना करके धर्मकी प्रभावना की जाती है ।

अब कर्मका नवीन बंध रोककर निर्जरा करने वाले सम्यग्दृष्टिकी महिमा कहते हैं—**रुन्धन्** इत्यादि । **अर्थ**—स्वयमेव अपने निज रसमें मस्त हुआ, आदि मध्य अन्तरहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञानरूप होकर नवीन बन्धको रोकता हुआ और पहले बांधे हुए कर्मको अपने अष्ट अङ्गोंके साथ निर्जराकी बढ़वारी द्वारा क्षयको प्राप्त कराता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव आकाशके मध्यरूप अतिनिर्मल रंगभूमिमें प्रवेश कर नचता है याने विकसित होता है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिके शंकादिकृत नवीन बन्ध तो होता ही नहीं और आठ अङ्गोंसहित होने से निर्जरा वृद्धिगत है उससे पूर्वबद्धका नाश होता है । इसलिए वह एक प्रवाहरूप ज्ञानरूपी रसको पीकर निर्मल आकाशरूप रङ्गभूमिमें नृत्य करता है याने ज्ञानविलास करता है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वादि अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका अभाव है तथा अल्पस्थिति अनुभाग लिए मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीके बिना और उसके साथ रहने वाली अन्य प्रकृतियोंके बिना घातिया तथा अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंका बन्ध भी होता है तो भी जैसा बन्ध मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी सहित दशामें होता है वैसा नहीं होता । अनन्त संसारका कारण तो मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी हैं उनका अभाव होनेके पश्चात् उनका बन्ध नहीं होता । जब आत्मा ज्ञानी हुआ तब अन्य बन्धकी गिनती क्या ? वृक्षकी जड़ कटनेके बाद हरे पत्ते रहनेकी क्या अवधि ? इस कारण अध्यात्मशास्त्रमें सामान्यपनेसे ज्ञानीका ही प्रधान कथन है । ज्ञानी हुए पश्चात् शेष कर्म सहज ही मिट जायेंगे तथा परम सहज आनन्द भोगेगा । जैसे कि कोई दरिद्र पुरुष झोंपड़ीमें रहता था उसको भाग्योदयसे धनसे पूर्ण बड़े महलकी प्राप्ति हुई । उस महलमें बहुत दिनका कूड़ा भरा हुआ था । इस पुरुषने जब आकर प्रवेश किया उसी दिन यह तो महलका धनी बन गया । अब कूड़ा झारना रह गया सो वह क्रमसे अपने बलके अनुसार झाड़ता ही है । जब सब कूड़ा झड़ जायगा तब उज्ज्वल हो जायगा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें वात्सल्यभावयुत सम्यग्दृष्टिका आशय बताया गया था । अब इस गाथामें ज्ञानीकी प्रभावनाङ्गधारकताका वर्णन किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानकी समस्त शक्तिके जागरणसे सम्यग्दृष्टि धर्मप्रभावक है । (२) ज्ञानी ज्ञानरथपर आरूढ होकर अभीष्ट शिवमार्गमें अर्थात् रत्नत्रयमें विहार करता है ।

अथ बंधाधिकारः

अथ प्रविशति बंधः। रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत् क्रीडंतं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्। आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद् धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुवहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो वहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो णिप्पइ रयेण ॥२४१॥

नामसंज्ञ—जह, णाम, क, वि, पुरिस, णेहभत्त, दु, रेणुवहुल, ठाण, य, सव्व, वायाम, य, तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडी, सच्चित्ताचित्त, दव्व, उवघाय, उवघाय, त, णाणाविह, करण, णिच्छयदो, किंप-

---

अब बन्ध तत्त्व प्रवेश करता है। जैसे कि नृत्यमंचपर कोई स्वांग प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीवकी रंगभूमिमें बन्धतत्त्व प्रवेश करता है। उसमें सर्वप्रथम बँध स्वांग मिटाने वाले सम्यग्ज्ञानके अभिनन्दनमें मंगलरूप काव्य कहते हैं——रागोद्गार इत्यादि। **अर्थ**——जो विकाररागके उद्गाररूप महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगतको प्रमत्त (मतवाला) करके रसपूर्ण महान् नाटचके द्वारा क्रीड़ा करते हुए बन्धको दूर करता हुआ आनन्दरूपी अमृतका

कतमो बन्धहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसङ्गात् । न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभिव्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभिव्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात् । ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः ।

कदलीवंशपिंडी, सचित्ताचित्त, द्रव्य, उपघात, उपधात, कुर्वन्त्, तत्, नानाविध, करण, निश्चयतः, किंप्रत्ययक, तु, तत्, रजोबन्ध, यत्, तत्, तु, स्नेहभाव, तत्, नर, तत्, रजोबन्ध, निश्चयतः, विज्ञेय, न, कायचेष्टा, शेपा, एवं, मिथ्यादृष्टि, वर्तमान, बहुविधा, चेष्टा, रागादि, उपयोग, कुर्वाण, रजस् । मूलधातु—ष्ठा

तमाल, केल, अशोक इत्यादि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है [च भिनत्ति] और भेदता है [तथा] तथा [सचित्ताचित्तानां] सचित्त व अचित्त [द्रव्याणां] द्रव्योंका [उपघातं] उपघात [करोति] करता है । इस प्रकार [नानाविधैः करणैः] नाना प्रकारके करणों द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषके [खलु] वास्तवमें [रजोबंधः तु] रजका बन्ध [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे हुआ है ? [निश्चयतः] निश्चयसे [चिन्त्यतां] विचारिये । [तस्मिन् नरे] उस मनुष्यमें [यः तु] जो [सः स्नेहभावः] वह तैल आदिकी चिकनाहट है [तेन] उससे [तस्य रजोबंधः] उसके धूलिका बन्ध होता है [निश्चयतः विज्ञेयं] यह निश्चयसे जानना चाहिये । [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष कायकी चेष्टाओंसे [न] धूलिका बंध नहीं है [एवं] इसी प्रकार [बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें [वर्तमानः] वर्तता हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि जीव [उपयोगे] अपने उपयोगमें [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावोंको करता हुआ [रजसा] कर्मरूप रजसे [लिप्यते] लिप्त होता है याने बँधता है ।

तात्पर्य—मिथ्यात्व राग आदि भावोंमें परिणत जीवके कर्मका बन्ध होता है ।

टीकार्थ—इस लोकमें निश्चयसे जैसे कोई पुरुष स्नेह (तैल) आदिकसे अवलिप्त हुआ स्वभावसे ही बहुत धूलि वाली भूमिमें स्थित हुआ शस्त्रोंसे व्यायाम कर्म करता हुआ अनेक प्रकारके शस्त्रोंसे सचित्त अचित्त वस्तुओंको काटता हुआ उस भूमिकी धूलिसे लिप्त होता है । यहाँ निर्णय करें कि वहाँ पुरुषके बन्धका कारण इनमें कौन है ? तो पहिले यही देख लीजिये कि जो स्वभावसे ही रजोव्याप्त भूमि है वह बन्धका कारण नहीं है । क्योंकि यदि भूमि ही कारण हो तो उस भूमिपर ठहरे हुए तैल आदिसे अनवलिप्त पुरुषोंके भी धूलिके चिपट जानेका प्रसंग आ जावेगा । शस्त्रोंसे व्यायाम करना भी उस धूलिसे बँधनेका, लिप जानेका कारण नहीं है । यदि शस्त्रोंसे व्यायाम करना धूलिसे बँधनेका कारण हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा, उनके भी उस शस्त्राभ्यासके करनेसे रजका बँध होनेका प्रसङ्ग आ जायगा ।

केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसङ्गात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात् । ततो न्यायबलेनैतदेवायातं यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ।। न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं

लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । सत्थेहिं शस्त्रैः—तृतीया बहु० । वायामं व्यायामं—द्वितीया एक० । छिंददि छिनत्ति, भिंददि भिनत्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । तहा तथा—अव्यय । तालीतलकयलिवंसपिंडीओ तालीतलकदलीवंशपिण्डीः—द्वितीया बहु० । सच्चित्ताचित्ताणं सचित्ताचित्तानां—षष्ठी बहु० । करेइ करोति, दव्वाणं द्रव्याणां—षष्ठी बहु० । उवघायं उपघातं—द्वि० ए० । कुव्वंतस्स कुर्वतः—षष्ठी एक० । तस्स तस्य—षष्ठी एकवचन । णाणाविहेहिं नानाविधैः—तृतीया बहु० । णिच्छयदो निश्चयतः—पंचम्यर्थे अव्यय । किंपच्चयगो किंप्रत्ययकः—प्रथमा एकवचन । दु तु—अव्यय । रयबंधो रजोबन्धः—प्रथमा एक० । जो यः—प्रथमा एकवचन । णेहभावो स्नेहभावः तम्हि तस्मिन्—सप्तमी एक० । णरे नरे—सप्तमी एक० । तेण तेन—तृतीया एक० । तस्स तस्य—षष्ठी एक० । रयबंधो रजोबन्धः—प्र० एक० । णिच्छयदो निश्चयतः—अव्यय ।

ही बन्धके कारण हैं । परन्तु अन्य जो कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा लोक, मन वचन कायके योग, अनेक करण और चेतन अचेतनका घात आदि हैं ये बँधके कारण नहीं हैं । क्योंकि यदि इनसे बन्ध हो तो सिद्धोंके, यथाख्यातचारित्र वालोंके, केवलज्ञानियोंके तथा समितितत्पर मुनियोंके बन्धका प्रसङ्ग आ जायगा; लेकिन उनके बन्ध नहीं होता । अतः बन्धका कारण रागादिक ही हैं यह निश्चय रहा ।

अब आगे इस अर्थका समर्थक कलश कहते हैं—न कर्म इत्यादि । अर्थ—कर्मबन्धका कारण न तो कर्मयोग्य पुद्गलोंसे बहुत भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म याने काय वचन मनकी क्रियारूप योग है, न अनेक प्रकारके करण हैं और न चेतन अचेतनका घात है । किन्तु, उपयोगभूमि याने जीव जो रागादि भावोंके साथ एकताको प्राप्त होता है वही एकमात्र पुरुषोंके बन्धका कारण है । भावार्थ—निश्चयसे मिथ्यात्व रागादिक ही बन्धका कारण हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा तक "भूयत्थेणाभिगया जीवाजीवा य" इत्यादि अधिकारगाथाके अनुसार जीव, अजीव, पुण्य-पापादि सात पदार्थोंकी पीठिकारूप कर्तृकर्माधिकार, आस्रव, सम्वर, निर्जरा तत्त्वका वर्णन किया गया था । अब क्रमप्राप्त बन्ध अधिकार आया सो उसमें सर्वप्रथम बन्धके सही कारणका विचार इन पांच गाथावोंमें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणावोंसे भरे लोकमें रहनेके कारण जीवके बन्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसे लोकमें रहने वाले सिद्धोंके बन्ध नहीं है । (२) मन, वचन, कायकी चेष्टासे जीवके बन्ध नहीं होता, क्योंकि यथाख्यात संयमी ११, १२, १३वें गुणस्थानवर्ती जीवोंके चेष्टा होकर भी बन्ध नहीं है । (३) अनेक प्रकारके बाह्य संगसे भी जीवके बन्ध नहीं होता, क्योंकि समवशरण, गन्धकुटी, छत्र, चमर, सिंहासन आदि शोभाके बीच भी केवलज्ञानीके बन्ध नहीं है । (४) सचित्त अचित्त वस्तुके उपघातसे भी जीवके

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥
जो सो अणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्सऽरयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

जैसे फिर वही पुरुष, समस्त उस तैलको अलग करके ।
उस धूलभरी क्षितिमें, करता श्रम पूर्ण शस्त्रोंसे ॥२४२॥
ताड़ बांस कदलीको, विछेदता भेदता पुरुष वैसे ।
करता उपघात वहां, सजीव निर्जीव द्रव्योंका ॥२४३॥
नानाविध करणोंसे, उपघात कर रहे हुए पुरुषके ।
निश्चयसे सोचो किस, कारणसे धूलिबन्ध नहीं ॥२४४॥

नामसंज्ञ—जह, पुण, त, चेव, णर, णेह, सव्व, अवणिय संत, रेणुबहुल, ठाण, सत्थ, वायाम, य, तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडी, सच्चित्ताचित्त, दव्व, उवघाय, उवघाय, कुव्वंत, त, णाणाविह, करण,

---

नहीं होता याने नहीं बँधता ।

तात्पर्य—अज्ञानमय रागादिके अभावसे सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता ।

टीकार्थ—जैसे वही पुरुष समस्त तैलादिकके हटा दिये जानेपर स्वभावसे ही बहुत रज वाली भूमिपर उन्हीं शस्त्रोंसे अभ्यास करता हुआ, उन्हीं अनेक तरहके करणोंसे उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओंको घातता हुआ धूलिसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि इसके बन्धका हेतुभूत चिकनाईके लेपका अभाव है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा आत्मामें रागादिकको नहीं करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरे उसी लोकमें उसी काय वचन मनकी क्रियाको करता हुआ उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंसे उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ

वानेकप्रकारकरणैः, तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते रागयोगस्य बन्धहेतोरभावात् ।। लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्, तान्यस्मिन् करणानि संतु चिदचिद्व्यापादानं चास्तु तत् । रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं, बन्धं नैव कुतोप्युपेत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ।।१६५।। तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां तदा-

सचित्ताचित्त, द्रव्य, उपघात, कुर्वन्त्, तत्, नानाविध, करण, निश्चयतः, किंप्रत्ययकः, न, रजोबंध, यत्, तत्, अस्नेहभाव, तत्, नर, तत्, अरजोवन्ध, निश्चयतः, विज्ञेय, न, कायचेष्टा शेषा, एवं, सम्यग्दृष्टि, वर्तमान, वहुविध, योग, अकुर्वन्त्, उपयोग, रागादि, न, रजस् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, छिदिर् छेदने,

अपने उपयोगमें रागादिकका सद्भाव होनेसे बन्ध होगा ही । बन्धसे बचनेके लिये ज्ञान व वैराग्य चाहिये, फिर लोक, योग आदि कुछ भी हो तो भी बन्ध नहीं होता । अध्यात्मकथनमें बुद्धिपूर्वक पौरुष, बन्ध आदिका वर्णन होता सो अबुद्धिपूर्वक होने वाला बन्ध यहाँ विवक्षित नहीं है ।

अब इसी सम्बन्धमें व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करनेके लिए काव्य कहते हैं—**तथापि** इत्यादि । **अर्थ**—यद्यपि लोक आदि कारणोंसे बन्ध नहीं कहा और रागादिकसे ही बन्ध कहा है तथापि ज्ञानियोंको स्वच्छन्द प्रवर्तना योग्य नहीं, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छन्द) प्रवर्तना ही वास्तवमें बन्धका स्थान है । ज्ञानियोंके बिना वांछाके कार्य होता है वह बन्धका कारण नहीं, क्योंकि जानाति व करोति ये दोनों क्रियायें क्या निश्चयसे विरुद्ध नहीं हैं ? विरुद्ध हैं । **भावार्थ**—बाह्य व्यवहार प्रवृत्ति करना बन्धके कारणोंमें सर्वथा प्रतिषिद्ध है । ज्ञानियोंकी जो अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहाँ बन्ध नहीं कहा । इसलिए ज्ञानियोंको स्वच्छन्द प्रवर्तना तो कहा ही नहीं है, निरर्गल प्रवर्तना तो बन्धका ही कारण है । जानने और करनेमें परस्पर विरोध है । जीव ज्ञाता रहे तब तो बन्ध नहीं, यदि कर्ता बने तो अवश्य बन्ध है ।

अब जानने और कहनेके परस्पर विरोधको बतानेके लिये काव्य कहते हैं—**जानाति** इत्यादि । **अर्थ**—जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है । करना तो निश्चयसे कर्मराग है और रागको अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं जो कि मिथ्यादृष्टिके नियमसे होता है, यही अध्यवसाय नियमसे बन्धका कारण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व ५ गाथावोंमें बन्धका सही कारण बताया गया था । **अब** इन ५ गाथावोंमें बन्ध न होनेका कारण वताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) उपयोगमें रागादिकको न करते हुए ज्ञानीके कर्मयोग्यपुद्गलव्याप्त लोकमें रहनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता । (२) उपयोगमें रागादिकको न करते हुए ज्ञानीके

२ जीवाजीवाधिकार:

३ कर्तृ–कर्माधिकार

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

मैं परजीवोंसे घत, जाता परको व घातता हूं मैं ।
यों माने अज्ञानी, इससे विपरीत है ज्ञानी ॥२४७॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः । स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२४७॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ॥२४७॥

नामसंज्ञ—ज, पर, सत्त, त, मूढ, अण्णाणि, णाणि, एत्तो, दु विवरीद । **धातुसंज्ञ** - मन्न अवबोधने, हिंस हिंसायां । **प्रातिपदिक**—यत्, च, पर, सत्त्व, तत्, मूढ, अज्ञानिन्, ज्ञानिन्, अतः, तु, विपरीत । **मूल-धातु**—मन ज्ञाने, हिंसि हिंसायां रुधादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन । मण्णदि मन्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । हिंसामि हिनस्मि–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । य च–अव्यय । हिंसिज्जामि हिंस्ये–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एक० कर्मवाच्य क्रिया । परेहिं परैः, सत्तेहिं सत्त्वैः–तृतीया बहु० । सो सः–प्र० ए० । मूढो मूढः–प्र० ए० । अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । णाणी ज्ञानी–प्र० एक० । एत्तो अतः–अव्यय । दु तु–अव्यय । विवरीदो विपरीतः–प्रथमा एकवचन ॥ २४७ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्वकी पहिली ५ व बादकी ५ गाथावोंसे यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उपयोगमें रागादि करनेसे अर्थात् अज्ञानमय अध्यवसाय करनेसे बन्ध होता है । अब इस गाथामें उसी अज्ञानमय अध्यवसायके उदाहरणमें बताया गया है कि हिंसाका अध्यवसान अज्ञानमय भाव है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मैं दूसरे जीवको घातता हूं, ऐसा अध्यवसाय निश्चित अज्ञान है । (२) मैं दूसरे जीवोंके द्वारा घाता जाता हूं, ऐसा अध्यवसाय भी निश्चित अज्ञान है । (३) सम्यग्दृष्टिके अज्ञानभाव नहीं होता ।

सिद्धान्त—(१) कर्मबन्धका निमित्त कारण जीवका अध्यवसाय है । (२) जीव अज्ञानसे अपनेमें अपने कष्टके लिये अपनी अज्ञानपरिणतिसे मिथ्या अध्यवसाय करता रहता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय व निमित्तदृष्टि (२४, ५३अ) । २- अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—बन्धके कारणभूत अपने अज्ञानमय अध्यवसायको भेदविज्ञानसे दूर करना और ज्ञानमात्र अपने स्वरूपमें उपयोगको लगाना ॥ २४७ ॥

प्रश्न—यह अध्यवसान क्यों अज्ञान है ? **उत्तर**—[**जीवानां**] जीवोंका [**मरणं**] मरण [**आयुःक्षयेण**] आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनेश्वर देवोंने [**प्रज्ञप्तं**]

कर्म च नान्येनान्यस्य हृतु शक्यं तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि, अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात् । ततो हिनस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥२४८-२४९॥

तत्, आयु, क्षय, मरण, जीव, जिनवर, प्रज्ञप्त, आयुष्, न, युष्मद्, कथं, युष्मद्, मरण, कृत, तत् । मूल-**धातु**—हृञ हरणे भ्वादि । **पदविवरण**—आउक्खयेण आयुःक्षयेन–तृतीया एक० । मरणं–प्रथमा एक० । जीवाणं जीवानां–षष्ठी बहु० । जिणवरेहिं जिनवरैः–तृतीया बहु० । पण्णत्तं प्रज्ञप्तं–प्रथमा एक० । आउं आयुः–द्वि० ए० । ण न–अव्यय । हरेसि हरसि–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक० । तुमं त्वं–प्रथमा एक० । कह कथं–अव्यय । ते त्वया–तृ० ए० । मरणं–प्र० ए० । कयं कृतं–प्र० ए० । तेसिं तेषां–षष्ठी बहु० । आउ-क्खयेण आयुःक्षयेन–तृ० ए० । मरणं–प्रथमा एक० । जीवाणं जीवानां–षष्ठी बहु० । जिणवरेहिं जिनवरैः–तृ० बहु० । पण्णत्तं प्रज्ञप्तं–प्र० ए० । आउं आयुः–द्वि० एक० । ण न–अव्यय । हरंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । तुहं तव–षष्ठी एक० । मरणं–प्र० ए० । कयं कृतं–प्रथमा एकवचन कृदंत क्रिया । तेहिं तैः–तृतीया बहुवचन ॥ २४८-२४९ ॥

को मारता हूँ तथा परजीवके द्वारा मैं मारा जाता हूं ऐसा अध्यवसाय याने अभिप्राय करना निश्चयसे अज्ञान है । **भावार्थ**—जैसी मान्यता हो, उस रूप कार्य न हो, बात न हो वही अज्ञान है । न तो परके द्वारा अपना मरण होता और न अपने द्वारा परका मरण होता, फिर भी कोई प्राणी किसीके द्वारा किसी अन्यका मरण मानता है यही अज्ञान है । यह कथन निश्चयसे है । पर्यायका व्यय होनेको मरण कहते हैं, वहाँ आयुक्षयके निमित्तसे मरण कहना व्यवहारनयसे है । और परजीवोंमें इसने इसको मारा, यह कहना उपचारसे है । यहाँ स्वच्छंदता नहीं समझना, किन्तु जो निश्चयको नहीं जानते उनका अज्ञान मेटनेको यह विवरण दिया है ताकि जानें कि हिंसाका भाव करना व्यर्थ है, अनर्थ है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि हिंसाविषयक अध्यवसान अज्ञानमय भाव है । अब इन दो गाथावोंमें बताया है कि यह अध्यवसाय अज्ञानरूप क्यों है ?

तथ्यप्रकाश—(१) मरण अपने आयुकर्मके क्षयसे होता है । (२) आयुकर्मका क्षय हुए बिना मरण नहीं हो सकता । (३) किसीके आयुकर्मका हरण किसी अन्यके द्वारा नहीं हो सकता । (४) आयुकर्म तो अपने उपभोगसे ही क्षीण होता है । (५) अन्य जीवके द्वारा अन्यका मरण किया जाना अशक्य है । (६) उक्त कारणोंसे यह प्रसिद्ध है कि मैं परजीवोंको मारता हूं व परजीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूं यह अभिप्राय होना निश्चित अज्ञान है ।

सिद्धान्त—(१) आयुकर्मके क्षयके निमित्तसे देहत्यागरूप मरण होता है । (२) अध्यवसाय जीवका जीवमें स्वयंके अज्ञानभावसे होता है ।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।। २५० ।।

रीत । **मूलधातु**—मन ज्ञाने दिवादि, जीव प्राणधारणे भ्वादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन । मण्णदि मन्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जीवेमि जीवयामि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० णिजंत क्रिया । जीविज्जामि जीव्ये–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । य च–अव्यय । परेहिं परैः–तृतीया बहु० । सत्तेहिं सत्त्वैः–तृ० बहु० । सो सः–प्रथमा एक० । मूढो मूढः–प्रथमा एक० । अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । एत्तो अतः–अव्यय । दु तु–अव्यय । विवरीदो विपरीतः–प्रथमा एकवचन ।। २५० ।।

है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अन्य जीवोंको मैं जिलाता हूं यह अध्यवसाय अज्ञान है । (२) अन्य जीवोंके द्वारा मैं जिलाया जा रहा हूं यह अध्यवसाय भी अज्ञान है । (३) जिसके मिथ्या अध्यवसाय है वह मिथ्यादृष्टि है । (४) जिसके मिथ्या अध्यवसाय नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है । (५) ज्ञानी जीव तो जीवनमरणविषयक अज्ञान व रागद्वेष न रखकर सहजशुद्धात्मत्वकी भावनासे उत्पन्न परम आनन्दके स्वादमें रत रहता है ।

सिद्धान्त—(१) जीवनाध्यवसाय भी कर्मबन्धका निमित्त कारण है ।

दृष्टि—१– निमित्तत्वदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—बन्धके कारणभूत इस अज्ञानमय जीवनाध्यवसायको भी छोड़कर निज सहज शुद्धात्मत्वकी भावनामें उपयोग लगाना ।। २५० ।।

प्रश्न—यह जिलानेका अध्यवसाय अज्ञान क्यों है ? **उत्तर**—[**जीवः**] जीव [**आयुरुदयेन**] आयुकर्मके उदयसे [**जीवति**] जीता है [**एवं**] ऐसा [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**भणंति**] कहते हैं, परन्तु [**त्वं**] तू [**आयुः च**] परजीवको आयुकर्म [**न ददासि**] नहीं देता तो [**त्वया**] तूने [**तेषां**] उन परजीवोंको [**जीवितं**] जीवित [**कथं कृतं**] कैसे किया ? [**च**] और [**जीवः**] जीव [**आयुरुदयेन**] आयुकर्मके उदयसे [**जीवति**] जीता है [**एवं**] ऐसा [**सर्वज्ञाः**] सर्वज्ञदेव [**भणंति**] कहते हैं सो हे भाई परजीव [**तव आयुः**] तुझे आयुकर्म [**न ददति**] नहीं देते [**तु**] तो [**तैः**] उनके द्वारा [**तव जीवितं**] तेरा जीवन [**कथं कृतं**] कैसे किया गया ?

तात्पर्य—आयुकर्मके उदयसे ही जीवन होता है, अतः किसी परके द्वारा अन्य परका जीवन मानना अज्ञान है ।

टीकार्थ—निश्चयतः जीवोंका जीवित रहना अपने आयुकर्मके उदयसे ही है, क्योंकि यदि आयुके उदयका अभाव हो तो उसका जीवित होना अशक्य है । तथा अपना आयुकर्म किसी दूसरेके द्वारा किसी दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस आयुकर्मका अपने परि-

चनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥ २५१-२५२ ॥

ारणे, भण शब्दार्थः, डुदाञ् दाने। **पदविवरण**—आऊदयेण आयुरुदयेन–तृतीया एक०। जीवदि जीवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। जीवो जीवः–प्रथमा एकवचन। एवं–अव्यय। भणंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। सव्वण्हू सर्वज्ञाः–प्रथमा बहु०। आउं आयुः–द्वितीया एक०। देसि ददासि–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया। तुमं त्वं–प्र० ए०। दिंति ददति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। तुहं तुभ्यं–चतुर्थी एकवचन। ते–षष्ठी एकवचन ॥ २५१-२५२ ॥

जिलाता हूं या परजीवोंके द्वारा मैं जिलाया जाता हूं यह अध्यवसाय होना निश्चित अज्ञान है।

सिद्धान्त—(१) आयुकर्मके उदयके निमित्तसे देहसंयोग होता है। (२) जीवनाध्यवसायविषयक अज्ञानभाव जीवका जीवमें स्वयंके परिणामसे होता है।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—किसी जीवके जीवनविषयक कर्तृत्वाध्यवसायसे किसी अन्यका जीवन नहीं होता ऐसा जानकर जीवनकर्तृत्वाध्यवसायको छोड़कर सहजशुद्धात्मत्वकी भावनामें रत होने का पौरुष करना ॥ २५१-२५२ ॥

दुःख-सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है—[**यः**] जो जीव [**इति मन्यते तु**] ऐसा मानता है कि मैं [**आत्मना**] अपने द्वारा [**सत्त्वान्**] परजीवोंको [**दुःखितसुखितान्**] दुःखी सुखी [**करोमि**] करता हूं [**स मूढः**] वह मूढ याने मोही है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है [**तु**] किन्तु जो [**अतः**] इससे [**विपरीतः**] विपरीत है वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी है।

तात्पर्य—कोई भी जीव अपने भाव करनेके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकता, किंतु मोही जीव अज्ञानसे ऐसी मान्यता करता है कि मैं अमुक जीवको सुखी या दुःखी करता हूं।

टीकार्थ—परजीवोंको मैं दुःखी और सुखी करता हूं तथा परजीव मुझे सुखी व दुःखी करते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चयसे अज्ञान है और जिसके ऐसा अज्ञान है यह अज्ञानोपनके कारण मिथ्यादृष्टि है तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपनके कारण सम्यग्दृष्टि है। **भावार्थ**—मैं परजीवको सुखी-दुःखी करता हूं, यह मानना अज्ञान है। जिसके यह मान्यता है वह अज्ञानी है तथा जिसके यह विपरीत मान्यता नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें यह बताया गया था कि जीवनाध्यवसाय अज्ञानभाव कैसे है? अब इस गाथामें बताया गया है कि दुःख सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही हालत है याने यह अध्यवसाय भी अज्ञान है।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंदि जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

कर्म उदयसे प्राणी, स्वयं हि होते सुखी दुखी उनको ।
कर्म न दे सकते तुम, सुखी दुःखी फिर किये कैसे ॥२५४॥
कर्म उदयसे प्राणी, स्वयं हि होते सुखी दुखी तुमको ।
कर्म दिया नहिं जाता, उनसे फिर दुख मिले कैसे ॥२५५॥
कर्म उदयसे प्राणी, स्वयं हि होते सुखी दुखी तुमको ।
कर्म दिया नहिं जाता, उनसे फिर सुख मिले कैसे ॥२५६॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे । कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्तैः ।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे । कर्म च न ददति तव कृतोसि कथं दुःखितस्तैः ।
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे । कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ।

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात् । स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योन्य-

---

नामसंज्ञ—कम्मोदय, जीव, दुक्खिदसुहिद, जदि, सव्व, कम्म, च, ण, तुम्ह, दुक्खिदसुहिद, कहं, कय, त, कम्मोदय, जीव, दुक्खिदसुहिद, जदि, सव्व, कम्म, च, ण, तुम्ह, कद, कहं, दुक्खिद, त, कम्मोदय,

---

जीवाः] सब जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्मोदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [भवंति] होते हैं [च] और [त्वं] तू उन जीवोंको [कर्म] कर्म [न ददासि] देता नहीं तो तुम्हारे द्वारा [ते] वे [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [कथं कृताः] कैसे किये गये ? तथा [यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सब जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्मोदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [भवंति] होते हैं [च] और वे जीव [तव] तुझको [कर्म] कर्म तो [न ददति] देते नहीं [तैः] तो उनके द्वारा [दुःखितः कथं] तू दुःखी कैसे [कृतोसि] किया गया ? [च] तथा [यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्मोदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी

पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥१६८॥ अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं। कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥१६९॥ ॥ २५४-२५६ ॥

तत् आदि। मूलधातु—भू सत्तायां, डुदाञ् दाने, अस् भुवि। पदविवरण—कम्मोदयेण कर्मोदयेन–तृतीया एकवचन। जीवा जीवाः–प्रथमा बहु०। दुक्खिदसुहिदा दुःखितसुखिताः–प्रथमा बहु०। हवंति भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। जदि यदि–अव्यय। सव्वे सर्वे–प्रथमा बहु०। कम्मं कर्म–द्वितीया एक०। देसि ददासि–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया। तुमं त्वं–प्रथमा एक० आदि पूर्ववत् ॥ २५४-२५६ ॥

रखते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं तथा अपने स्वरूपसे च्युत होकर रागी द्वेषी मोही होनेके कारण स्वयं अपना घात करते हैं इस कारण वे हिंसक हैं।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि परजीवके प्रति दुःख सुख करनेका अध्यवसाय अज्ञान है। अब इन तीन गाथावोंमें यह बताया गया है कि दुःख सुख करनेका अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ?

तथ्यप्रकाश—(१) जीव अपने शुभकर्मोदयसे सुखी होते हैं। (२) जीव अपने अशुभ-कर्मोदयसे दुःखी होते हैं। (३) शुभ कर्मोदयके बिना जीव सुखी नहीं हो सकते। (४) जीव अशुभ कर्मोदयके बिना दुःखी नहीं हो सकते। (५) अन्यका कर्म किसी अन्यके द्वारा नहीं दिया जा सकता है। (६) शुभ अथवा अशुभ सभी कर्म अपने परिणामसे ही अर्जित होता है। (७) उक्त कारणोंसे कोई भी जीव किसी अन्य जीवका सुख दुःख नहीं कर सकता है। (८) मैं दूसरोंको दुःखी करता हूं यह अध्यवसाय अज्ञान है। (९) मैं दूसरोंको दुःखी करता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है। (१०) मैं दूसरोंके द्वारा सुखी किया जाता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है। (११) मैं दूसरोंके द्वारा सुखी किया जाता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है। (१२) दूसरोंको सुखी दुःखी करनेके अहंकार रससे विचित्र चेष्टायें करते हुए मिथ्यादृष्टि जीव अपना ही घात करते हैं।

सिद्धान्त—(१) शुभाशुभ कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव सुखी और दुःखी होते हैं। (२) सुखी दुःखी करनेके अहंकार विकल्पसे परिणत जीव अपने आपको आकुलित करते हुए अज्ञानसे स्वयंका घात करते हैं।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—हम अपने आपका ही परिणमन कर सकते हैं किसी अन्यका नहीं ऐसा जानकर अपने स्वभावका अवलम्बन करके अपनेको अनाकुल व पवित्र रखना ॥२५४-२५६॥

अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ।। मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् । य एवाध्यवसायोयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ।।१७०।। ।। २५७-२५८ ।।

दय, च, एव, खलु, तत्, न, मारित, न, दुःखापित, च, इति, न, तु, मिथ्या । **मूलधातु**—मृङ् त्यागे तुदादि, जनी प्रादुर्भावे दिवादि, दुःख तत्क्रियायां चुरादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एक० । च–अव्यय । दुःखितः–प्रथमा एक० । कम्मोदयेण कर्मोदयेन–तृतीया एक० । सो सः–प्र० ए० । सव्वो सर्वः–प्र० ए० । तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । दु तु–अव्यय । मारिदो मारितः–प्र० ए० । दे ते–षष्ठी एक० । दुहाविदो दुःखापितः–प्रथमा एक० । च इदि ण हु, च इति न खलु–अव्यय । मिच्छा मिथ्या–प्रथमा एक० । मरदि म्रियते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जायदि जायदि जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । शेष पूर्ववत् ।। २५७-२५८ ।।

तरहका फल याने मरण जीवन सुख दुःख नहीं हो सकता । इस कारण मेरे द्वारा यह मारा गया, यह जिवाया गया, यह दुःखी किया गया, यह सुखी किया गया, ऐसा मानता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि है । **भावार्थ**—जब किसीके सुख दुःखमें अन्य जीव न तो उपादान कारण है और न निमित्त कारण है तब अन्यके मारने जिवाने आदिका जो अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही होता है । मारने आदिका भाव कर्मबंधहेतु है, अतः ऐसा अज्ञानभाव नहीं रखना ।

अब इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं—**मिथ्यादृष्टेः** इत्यादि । **अर्थ**—मिथ्यादृष्टिका यह अध्यवसाय विपर्ययस्वरूप होनेसे वह प्रत्यक्ष अज्ञानरूप है और वही अभिप्राय इस मिथ्यादृष्टि के बन्धका कारण है । **भावार्थ**—मिथ्या आशय ही मिथ्यात्व है व वही बंधका कारण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व २४७ से २५६ गाथा तक दूसरेके मरण आदि करनेके अध्यवसायोंको अज्ञान बताया गया था । अब उन्हीं सब कथनोंका उपसंहाररूप निष्कर्ष इन दो गाथावोंमें बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मरण जीवन दुःख सुख होना कर्मोदयसे ही होता है । (२) नये जीवनका ही नाम मरण है । (३) नवीन आयुके प्रथम समयमें अर्थात् प्रथम निषेकोदयके समय पूर्वभव नहीं रहता, इस कारण मरण होना भी नवीन आयुके उदयसे कहा जाता है । (४) मैं किसी अन्यको कर्मोदय दे नहीं सकता, अतः मैंने इसे मारा, जिलाया, सुखी किया, दुःखी किया, ऐसा देखना मिथ्यात्व है ।

सिद्धान्त—(१) जीवके मरण जीवन सुख दुःख होनेमें निमित्त कारण कर्मोदय है । (२) दूसरे जीवके सुख-दुःख आदि होनेमें अन्य जीव उपादान व निमित्त दोनों ही कारण न होनेपर भी कर्ताका व्यवहार करना मात्र उपचार है ।

दृष्टि—१– निमित्तत्वदृष्टि (५३अ) । २– परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार

सायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ।। २५६ ।।

एता, युष्मद्, मूढमति, शुभाशुभ, कर्मन् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, वन्ध बन्धने क्र्यादि । **पदविवरण**—एसा एषा–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । जा या–प्रथमा एक० । मई मतिः–प्र० ए० । दे ते–षष्ठी एक० । दुक्खिदसुहिदे दुःखितसुखितान्–द्वितीया बहु० । करेमि करोमि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । सत्ते सत्त्वान्–द्वि० बहु० । ति इति–अव्यय । एसा एषा–प्रथमा एक० । दे ते–षष्ठी ए० । मूढमई मूढमतिः–प्रथमा एक० । सुहासुहं शुभाशुभम्–द्वितीया एकवचन । कम्मं कर्म–द्वितीया एक० । बंधये बध्नाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।। २५६ ।।

सिद्धान्त––(१) कर्मबन्धका कारण स्वभावच्युत अज्ञानमय रागादि विकाररूप अज्ञानमय अध्यवसाय है ।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—कर्मबन्धके हेतुभूत समस्त अध्यवसायोंको छोड़कर सहजशुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग लगाना ।। २५६ ।।

अब मिथ्या अध्यवसायको बन्धके कारणरूपसे अवधारित करते हैं—मैं [**सत्त्वान्**] जीवोंको [**दुःखितसुखितान्**] दुःखी सुखी [**करोमि**] करता हूं [**एवं यत् ते अध्यवसितं**] ऐसा जो तुम्हारा अध्यवसाय है [**तत्**] वह अभिप्राय [**पापबंधकं वा**] पापका बंधक है [**वा पुण्यस्य बंधकं**] तथा पुण्यका बंधक [**भवति**] है । [**वा**] अथवा मैं [**सत्त्वान्**] जीवोंको [**मारयामि**] मारता हूं [**जीवयामि**] अथवा जिवाता हूं [**यदेवं ते अध्यवसितं**] जो ऐसा तुम्हारा अध्यवसाय है [**तत्**] वह [**पापबंधकं वा**] पापका बंधक है [**वा पुण्यस्य बंधकं**] अथवा पुण्यका बंधक [**भवति**] है ।

तात्पर्य—अन्य द्रव्यमें कुछ करनेका भाव शुभ अशुभ भावानुसार पुण्य व पापका बन्ध करने वाला है ।

टीकार्थ—मिथ्यादृष्टिके जो ही यह अज्ञानजन्य रागमय अध्यवसाय है वह ही बन्धका हेतु है, ऐसा निश्चित जानना । बन्ध पुण्य-पापके भेदसे दो भेद वाला है सो इसके दो भेद होनेसे कारणका भेद नहीं खोजना, क्योंकि इस एक ही अध्यवसायसे "मैं दुःखी करता हूं मारता हूं तथा सुखी करता हूं जिवाता हूं" ऐसे दो प्रकारके अशुभ अहंकाररससे पूर्ण होनेसे पुण्य पाप दोनोंके ही बन्धहेतुत्वका अविरोध है याने अध्यवसायसे ही पुण्य पाप दोनोंका बंध होता है । **भावार्थ**—अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है; उसमें चाहे जिवाना सुखी करना ऐसा शुभ अध्यवसाय हो, चाहे मारना दुःखी करना यह अशुभ अध्यवसाय हो, अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनोंमें ही है इस कारण ऐसा न जानना कि शुभका कारण तो अन्य है

इति, सुखयामि, जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंध-हेतुत्वस्याविरोधात् ॥ २६०-२६१ ॥

धारणे। प्रातिपदिक—दुःखितसुखित, सत्त्व, यत्, एवं, अध्यवसित, युष्मद्, तत्, पापबन्धक, वा, पुण्य, वा, बन्धक, सत्त्व, यत्, एवं, अध्यवसित आदि पूर्वोक्त। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां, मृङ् त्यागे तुदादि, जीव प्राणधारणे। **पदविवरण**—दुक्खिदसुहिदे दुःखितसुखितान्–द्वितीया बहु०। सत्ते सत्त्वान्–द्वि० बहु०। करेमि करोमि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक०। जं यत्–प्रथमा एक०। एवं–अव्यय। अज्झवसिदं अध्यवसितं–प्र० ए०। ते–षष्ठी एक०। तं तत्–प्र० एक०। पापबंधगं पापबन्धकं–प्र० एक०। वा–अव्यय। पुण्णस्स पुण्यस्य–षष्ठी एक०। वा–अव्यय। बंधगं बन्धकं–प्र० ए०। होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। मारिमि मारयामि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एकवचन णिजंत क्रिया। जीवावेमि जीवयामि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एकवचन णिजन्त क्रिया। सत्ते सत्त्वान्–द्वि० बहु०। जं यत्–प्रथमा एकवचन। आदि पूर्वोक्त॥ २६०-२६१॥

दुःख आदिका लाभ उनके उपार्जित कर्मोंके उदयसे होता है।

दृष्टि—१– सादृश्यनय (२०२)। २–दैवनय (१८४)।

प्रयोग—परके कर्तृत्वके अध्यवसायको अनर्थ जानकर दूर करना ॥२६०-२६१॥

अब कहते हैं कि क्रियादिगर्भित अध्यवसाय ही बंधका कारण होनेसे हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह सिद्ध हुआ—[**सत्त्वान्**] जीवोंको [**मारयतु**] मारो [**वा मा मारयतु**] अथवा मत मारो [**जीवानां**] जीवोंका [**बंधः**] कर्मबंध [**अध्यवसितेन**] अध्यवसायसे ही होता है [**एषः निश्चयनयस्य बंधसमासः**] निश्चयनयके मतमें यह बंधसंक्षेप है।

तात्पर्य—अन्य पदार्थकी परिणतिसे बन्ध नहीं होता, किन्तु विकारभाव होनेसे बन्ध होता है।

टीकार्थ—परजीवोंके अपने कर्मोदयकी विचित्रतासे प्राणवियोग कदाचित् होवे अथवा न होवे परंतु "यह मैं मारता हूं" ऐसा अहंकाररससे भरा हुआ जो हिंसाका अध्यवसाय है वही निश्चयसे उस अभिप्राय वालेके बंधका कारण है। क्योंकि निश्चयनयसे परभावरूप प्राणवियोग दूसरेके द्वारा नहीं किया जा सकता। **भावार्थ**—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेके द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके ही कर्मोदयकी विचित्रतासे कदाचित् होता है कभी नहीं भी होता। अतः जो ऐसा अहंकार करता है "कि मैं परजीवको मारता हूं" आदि यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। यही हिंसा है, क्योंकि इस विकारसे अपने विशुद्ध चैतन्य प्राणका घात है। और यही बंधका कारण है। यह निश्चयनयका मत व्यवहारनयको गौणकर कहा जानना सर्वथा एकांत पक्ष मिथ्यात्व है।

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥२६३॥
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२५४॥ (युग्मम्)

यों ही अलीक चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रहमें ।
अध्यवसान करे तो, उससे ही पाप बंधता है ॥२६३॥
वैसे सत्य अचोरी, अपरिग्रह ब्रह्मचर्यमें जो कुछ ।
अध्यवसान करे तो उससे ही पुण्य बंधता है ॥२६४॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव । क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापं ॥२६३॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव । क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यं ॥२६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु

नामसंज्ञ—एवं, अलिय, अदत्त, अबंभचेर, परिग्गह, च, एव, अज्झवसाण, ज, त, दु, पाव, तह, वि, य, सच्च, दत्त, बंभ, अपरिग्गहत्तण, च, एव, अज्झवसाण, ज, त, दु, पुण्ण । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, वज्झ बंधने । **प्रातिपदिक**—एवं, अलीक, अदत्त, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, च, एव, अध्यवसान, यत्, तत्, तु, पाप,

---

कर अविकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूपमें उपयोग लगाना ॥२६२॥

अब अध्यवसायको पुण्यपापके बंधका कारणपने रूपसे दिखलाते हैं—[एवं] इस प्रकार याने जैसा पहले हिंसाका अध्यवसाय कहा था उसी प्रकार [अलीके] असत्यमें [अदत्ते] चोरीमें [अब्रह्मचर्ये] कुशल संसर्गमें [परिग्रहे] धन धान्यादिक परिग्रहमें [यत् अध्यवसानं] जो अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे तो [पापं बध्यते] पाप बंधता है [अपि च] और [तथा] उसी प्रकार [सत्ये] सत्यमें [दत्ते] दिया हुआ लेनेमें [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्यमें [च अपरिग्रहत्वे एव] और अपरिग्रहपनेमें [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्य बंधता है ।

तात्पर्य—दुराचारके अध्यवसायसे पाप व व्रतके अध्यवसायसे पुण्यकर्म बँधता है ।

टीकार्थ—ऐसे याने पूर्वकथित रीतिसे अज्ञानसे जैसे हिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह इनमें जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पापबंधका ही कारण है । तथा जैसे अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसी तरह सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनमें भी अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पुण्यबंधका ही

५—आस्रवाधिकार

६—संवर अधिकार

७—निर्जरा अधिकार

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बंधहेतुरिति शंक्यं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥

वस्तु अवलंब करके, होता अध्यवसित भाव जीवोंका ।
नहिं बन्ध वस्तुसे है, है अध्यवसानसे बन्धन ॥२६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां । न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥२६५॥

अध्यवसानमेव बंधहेतुर्न तु बाह्यवस्तु तस्य बंधहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्य-

---

नामसंज्ञ—वत्थु, ज, पुण, अज्झवसाण, तु, जीव, ण, य, वत्थुदो, दु, बंध, अज्झवसाण, बंध । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, पडि- इ गतौ, अस सत्तायां । **प्रातिपदिक**—वस्तु, यत्, पुनर्, अध्यवसान, तु, जीव, न,

---

प्रयोग—अशुभ व शुभ अध्यवसायोंको बन्धहेतु जानकर उनसे हटकर अविकल्प ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥२६३-२६४॥

अब कहते हैं कि दूसरी कोई बाह्य वस्तु बंधका कारण है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये—[**पुनः**] और भी देखिये [**जीवानां**] जीवोंके [**यत् अध्यवसानं**] जो अध्यवसान होता है वह [**वस्तु**] वस्तुको [**प्रतीत्य**] अवलंबन करके [**भवति**] होता है । [**च तु**] परन्तु वहाँ [**वस्तुतः**] वस्तुसे [**बंधः न च**] बंध नहीं है, किन्तु [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे ही [**बंधः अस्ति**] बंध है ।

टीकार्थ—अध्यवसान ही बंधका कारण है, बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है । क्योंकि बंधके कारणभूत अध्यवसानके ही कारणपनेसे चरितार्थपना है । **प्रश्न**—तो फिर बाह्यवस्तुका निषेध किसलिये किया जाता है ? **समाधान**—अध्यवसानके निषेधके लिये बाह्य वस्तुका त्याग कराया जाता है, क्योंकि बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको व्यक्त नहीं कर पाता । यदि बाह्य वस्तुका आश्रय न लेकर भी अध्यवसान उत्पन्न हो तो जैसे सुभटकी माताके पुत्र सुभटका सद्भाव होनेसे उसका आश्रय लेकर किसीके अध्यवसान होता है कि मैं सुभटकी माताके पुत्रको मारता हूं उसी प्रकार बांझके पुत्रका अभाव होनेपर भी ऐसा अध्यवसान होना चाहिये "मैं बंध्यासुतको मारता हूं" किन्तु ऐसा अध्यवसान तो उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जब बंध्याका पुत्र ही नहीं है तो मारनेका अध्यवसान कैसे हो सकता है ? इस कारण बाह्यवस्तुके आश्रयके बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता; यह दृढ़ नियम बना । इसी कारण अध्यवसानका आश्रयभूत जो बाह्यवस्तु है उसका अत्यंत निषेध कराया गया;

जायेत । न च जायते । ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति प्रतिनियमः । तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात् । न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यं वस्तु बंधहेतुः स्याद् ईर्यासमितिपरिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवद् बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोरप्यबंधहेतुत्वेन बंधहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात् । अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बंधहेतुः । अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बंधहेतुः ॥ २६५ ॥

बंधो बन्धः–प्रथमा एक० । अज्झवसाणेण अध्यवसानेन–तृतीया एक० । बंधो बन्धः–प्रथमा एक० । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ २६५ ॥

निमित्तभूत अध्यवसायका विषयरूप कारण है अर्थात् आश्रयभूत कारण है । (४) बाह्यवस्तु का त्याग अध्यवसायको हटानेके लिये किया जाता है । (५) बाह्य पदार्थ व्यक्त अध्यवसायका आश्रयभूत है । (६) अनुपचरित असद्भूत अव्यक्त विकारमें बाह्य पदार्थ आश्रयभूत भी नहीं हो पाते । (७) बाह्य वस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान व्यक्त नहीं हो पाता । (८) अध्यवसायके आश्रयभूत बाह्य वस्तुका मनसे, वचनसे, कायसे त्याग होनेपर अध्यवसाय प्रकट हो ही नहीं सकता । (९) बाह्य वस्तु कर्मबन्धका निमित्त नहीं है, क्योंकि अध्यवसायका अभाव होनेपर बाह्यवस्तुप्रसंग होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता । (१०) बाह्य वस्तु जीवका कुछ भी नहीं है, अतद्भाव है, अतः बाह्यवस्तु बन्धहेतु नहीं होता । (११) अध्यवसान ही जीवका तद्भाव है, विभाव है जो कि वीतरागपरमात्मतत्त्वसे भिन्न है, अतः अध्यवसान ही बन्धहेतु होता है । (१२) बाह्य वस्तुके होनेपर नियमसे कर्मबन्ध हो एसा अन्वय न होनेसे बाह्यवस्तु कर्मबन्धका कारण नहीं । (१३) बाह्य वस्तुके न होनेपर कर्मबन्ध नहीं हो ऐसा व्यतिरेक न होनेसे बाह्यवस्तु कर्मबन्धका कारण नहीं । (१४) बाह्यवस्तु कर्मबन्धका आश्रयभूत कारण है, आरोपित कारण है, विषयभूत कारण है, परम्परा कारण है । (१५) कर्मबन्धके निमित्तभूत उदयागत द्रव्यप्रत्ययमें कर्मबन्धका निमित्तपना आ जावे इसका निमित्त अध्यवसाय है इस कारण अध्यवसाय कर्मबन्धका मूल कारण है ।

सिद्धांत—(१) आश्रयभूत इन्द्रियविषयोंको विकारका कारण कहना आरोपित व्यवहार है । (२) कर्मबन्धका मूल निमित्त अध्यवसाय विकार है ।

दृष्टि—१– आश्रये आश्रयी उपचारक व्यवहार (१५१) । २– निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (२०१) ।

प्रयोग—कर्मबन्धके मूल कारण अध्यवसायके प्रतिषेधके लिये उस अध्यवसायके आश्रयभूत इन्द्रियविषयोंका अर्थात् बाह्य समागमोंका त्याग करना चाहिये ॥२६५॥

लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव ॥ २६६ ॥

वर्तमान लट् उत्तम पुरुष. एकवचन। बधेमि बन्धयामि विमोचेमि विमोचयामि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया। जा था एसा एषा–प्रथमा एक०। मूढमई मूढमतिः–प्रथमा एक०। णिरत्थया निरर्थिका–प्र० ए०। सा सा–प्रथमा ए०। हु खलु–अव्यय। दे ते–षष्ठी एक०। मिच्छा मिथ्या–प्रथमा एकवचन ॥२६६॥

सयुक्तिक बताया गया है कि वह अध्यवसाय सब मिथ्या है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो बात सोचनेसे होती नहीं उसका सोचना स्वार्थक्रियाकारी नहीं। (२) जो स्वार्थक्रियाकारी नहीं वह मिथ्या है। (३) मैं दूसरे जीवोंको सुखी दुःखी करता हूं यह अध्यवसाय मिथ्या है, क्योंकि इस अध्यवसायका दूसरे जीवपर कोई व्यापार नहीं होता।

सिद्धान्त—(१) परजीवोंके विषयमें उनका कुछ करनेका कुछ भी चिन्तन करना मिथ्या है।

दृष्टि—१– असंश्लिष्ट स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२४)।

प्रयोग—किसी भी जीवके विषयमें दुःख सुख आदि करनेके चिन्तवन करनेको मिथ्या, अनर्थकारी जानकर इस अध्यवसायको छोड़कर अविकल्प ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग लगाना ॥ २६६ ॥

प्रश्न—अध्यवसान अपनी अर्थक्रियाका करने वाला किस कारण नहीं है ? **उत्तर**—[यदि हि] यदि वास्तवमें [जीवाः] जीव [**अध्यवसाननिमित्तं**] खुदके अपने अध्यवसानके निमित्तसे [**कर्मणा**] कर्मसे [**बध्यंते**] बँधते हैं [**च**] और [**मोक्षमार्गे**] मोक्षमार्गमें [**स्थिताः**] ठहरे हुए [**मुच्यंते**] कर्मसे छूटते हैं [**तत्**] तो [**त्वं किं करोषि**] उनमें तू क्या करेगा ? तेरा तो बांधने छोड़नेका अभिप्राय विफल हुआ।

तात्पर्य—जीव अपने ही भावसे कर्मसे बँधते व छूटते है, सो कोई उनकी परिणतिका विकल्प करता है तो वह निरर्थक है।

टीकार्थ—'मै निश्चयतः बँधाता हूं छुड़ाता हूं' ऐसा जो अध्यवसान है उसकी अर्थक्रिया जीवोंका बांधना और छुड़ाना है। सो जीव तो इस अध्यवसायके मौजूद होनेपर भी वे अपने सरागवीतरागपरिणामके अभावसे न बँधते हैं, न छूटते हैं। और अपने सरागवीतराग-परिणामके सद्भावसे तेरे अध्यवसायका अभाव होनेपर भी बँधते हैं तथा छूटते हैं, इस कारण परमें अकिंचित्करपना होनेसे यह अध्यवसान कुछ भी स्वार्थक्रिया करने वाला नहीं है। इस कारण यह अध्यवसान मिथ्या ही है, ऐसा भाव है। **भावार्थ**—जो हेतु परमें कुछ भी न कर सके उसे अकिंचित्कर कहते है। सो यह बांधने छोड़नेका अध्यवसान परमें कुछ भी नहीं

बध्यते न मुच्यते । सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते मुच्यते च, ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ततश्च मिथ्यैवेति भावः ।।

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः । तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ।।१७१।। ।। २६७ ।।

वहु० । वज्झंति वध्यंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । कम्मणा कर्मणा–तृतीया एक० । जदि यदि हि–अव्यय । मुच्चंति मुच्यन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन कर्मवाच्य क्रिया । मोक्खमग्गे मोक्षमार्गे–सप्तमी एक० । ठिदा स्थिताः–प्रथमा वहु० । य च ता तत्–अव्यय । किं–अव्यय या प्र० एक० । करोसि करोषि–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । तुमं त्वं–प्रथमा एकवचन ।। २६७ ।।

भी परजीवके सराग परिणाम न हो तो वह नहीं बँध सकता सो वह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी न रहा । ४– परजीवको मुक्त करनेका विकल्प करनेपर भी परजीवके वीतरागपरिणाम नहीं होता तो वह मुक्त नहीं हो सकता सो यह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी न रहा । ५–किसीका अध्यवसाय परजीवमें कुछ कर नहीं सकता, इस कारण अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी नहीं और इसी कारण मिथ्या है ।

सिद्धान्त—१– जीवके अध्यवसायका निमित्त पाकर पौद्गलकार्माणवर्गणायें कर्मरूप बँधती हैं । २– वीतरागपरिणामके निमित्तसे कर्मबन्ध हट जाते हैं । ३– परके अध्यवसाय का स्व आत्मामें कोई प्रभाव नहीं होता ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय व निमित्तदृष्टि (५३, ५३अ) । २–शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय व निमित्तदृष्टि (२४ब, ५३अ) । ३–परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) ।

प्रयोग—अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी नहीं होता यह जानकर अध्यवसायको हटाकर अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करना ।। २६७ ।।

अब पूर्वगाथोक्त अर्थको प्रगटरूपसे गाथामें कहते हैं:—[**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे [**तिर्यङ्नैरयिकान्**] तिर्यंच नारक [**च देवमनुजान्**] और देव मनुष्य [**सर्वान्**] सभी पर्यायोंको [**च**] और [**नैकविधं पुण्यं पापं**] अनेक प्रकारके पुण्य पापोंको [**करोति**] करता है [**तथा च**] तथा [**धर्माधर्मं**] धर्म अधर्म [**जीवाजीवौ**] जीव अजीव [**च**] और [**अलोकलोकं**] अलोक लोक [**सर्वान्**] इन सभी को [**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसानसे [**आत्मानं**] आत्मस्वरूप [**करोति**] करता है ।

तात्पर्य—मोही जीव जिस परको व परभावको आत्मरूप मानता है वह उसी रूप

मानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात् । तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं; ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं ज्ञायमानालोकाकाशा-

प्रातिपदिक—सर्व, जीव, अध्यवसान, तिर्यङ्नैरयिक, देवमनुज, सर्व, पुण्य, पाप, च, नैकविध, धर्माधर्म, च, तथा, जीवाजीव, अलोकलोक, सर्व, जीव, अध्यवसान, आत्मन् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—सव्वे सर्वान्–द्वितीया बहु० । करेइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । जीवो जीवः–प्रथमा एक० । अज्झवसाणेण अध्यवसानेन–तृतीया एकवचन । तिरियणेरयिये तिर्यङ्नैरयिकान्–द्वितीया बहु० । देवमणुये देवमनुजान्–द्वि० बहु० । य च–अव्यय । सव्वे सर्वान्–द्वि० बहु० । पुण्णं पुण्यं पावं पापं–द्वि०तीया एक० । णेयविहं नैकविधं–द्वि० ए० । धम्माधम्मं धर्माधर्म–द्वि० ए० । च तहा तथा–अव्यय । जीवाजीवे

जाननेसे अज्ञानी आत्मा अपने आपको अनेक अवस्थारूप करता है याने उनमें आपा मान प्रवर्तता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं— **विश्वात्** इत्यादि । **अर्थ**—मोहमूलक सब द्रव्योंसे भिन्न होनेपर भी यह आत्मा जिस अध्यवसायके प्रभावसे अपनेको समस्तस्वरूप करता है वह अध्यवसाय जिनके नहीं है वे ही मुनि हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सयुक्तिक बताया गया था कि अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी न होनेसे मिथ्या है । अब इन दो गाथावोंमें बताया है कि जीव अध्यवसानसे ही अपनेको नानारूप बनाता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) "मैं इसे मारूं" ऐसे क्रियागर्भ हिंसाके अध्यवसानके द्वारा यह जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको हिंसक बना देता है । (२) अन्य भी नाना प्रकार के क्रियागर्भ अध्यवसानसे स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ उन उनरूप अपनेको बना देता है । (३) नरकगतिकर्मोदयजनित नरकभावोंके अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको नारक बना देता है । (४) तिर्यग्गतिकर्मोदयजनित भावोंके अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको तिर्यंच बना देता है । (५) मनुष्यगतिकर्मोदयजनित भावों के अध्यवसानके द्वारा स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको मनुष्य बना देता है । (६) देवगतिकर्मोदयजनित भावोंके अध्यवसानसे स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको देव बना देता है । (७) सातावेदनीयादिपुण्यकर्मोदयजनित सुखादि पुण्यभावके अध्यवसानसे जीव स्वस्वभाव से च्युत होता हुआ अपनेको पुण्यरूप बना देता है । (८) असातावेदनीयादिपापकर्मोदयजनित परभावोंके अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको पापरूप बना देता है ।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

अध्यवसान कहे जो, वे आदिक अन्य सब नहीं जिनके ।
शुभ अशुभ कर्मसे वे, मुनिजन नहिं लिप्त होते हैं ॥२७०॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि । तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥२७०॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याध्यवसानं तद्ज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माऽज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्माऽदर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति

नामसंज्ञ—एत, ण, ज, अज्झवसाण, एवं, आदि, त, असुह, सुह, व, कम्म, मुणि, ण । **धातुसंज्ञ**—लिप लेपने, अस् सत्तायां । **प्रातिपदिक**—एतत्, न, यत्, अध्यवसान, एवं, आदि, तत्, अशुभ, शुभ, व, कर्मन्, मुनि, न । **मूलधातु**—लिप उपमर्दे, अस सत्तायां । **पदविवरण**—एदाणि एतानि–प्रथमा बहु० । ण

वे सभी शुभ अशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं, क्योंकि ये स्वयं अज्ञानादिरूप हैं । इसीका स्पष्टीकरण—जो यह मैं परजीवको मारता हूं इत्यादिक अध्यवसान है वह अज्ञानादिरूप है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानमय होनेसे सत् अहेतुक ज्ञप्तिक्रियामात्र ही है, किन्तु हनना घातना आदि क्रिया हैं वे रागद्वेषके उदयरूप हैं सो इस प्रकार आत्मा और घातने आदि क्रियाके भेदको न जाननेसे आत्माको भिन्न नहीं जाननेसे "मैं परजीवका घात करता हूं" आदि अध्यवसान मिथ्याज्ञान है । इसी प्रकार भिन्न आत्माका श्रद्धान न होनेसे वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है इसी प्रकार भिन्न आत्माके अनाचरणसे वह अध्यवसान मिथ्याचारित्र है और जो "मैं नारक हूं" इत्यादि अध्यवसान है वह भी ज्ञानमयपना होनेसे सत् अहेतुक एक ज्ञायकभाव आत्माका व कर्मोदयजनित नारकादि भावोंको अन्तर न जाननेसे विविक्त आत्माका अज्ञान होनेसे अश्रद्धान होनेसे अनाचरण होनेसे अचारित्र है । और फिर जो यह धर्मद्रव्य मेरे द्वारा जाना जाता है ऐसा अध्यवसाय है वह भी अज्ञानादि रूप ही है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानमय होनेसे सत् अहेतुक एक ज्ञानमात्र ही है, किन्तु धर्मादिक ज्ञेयमय है, ऐसे ज्ञानज्ञेयका विशेष न जाननेसे विविक्त आत्माके अज्ञानसे "मैं धर्मको जानता हूं" ऐसा अध्यवसान अज्ञानरूप है, भिन्न आत्माके न देखनेसे याने श्रद्धान न होनेसे यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है, और भिन्न आत्माके अनाचरणसे यह अध्यवसान अचारित्र है । इस कारण ये सभी अध्यवसान बंधके निमित्तभूत हैं । जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं वे ही मुनियोंमें प्रधान हैं याने

वैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुञ्जराः केचन सदहेतुकज्ञप्त्यैकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानंतः सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च स्वच्छस्वछंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा खलु न लिप्येरन् ॥ २७० ॥

अशुभेन शुभेन कर्मणा–तृतीया एक० । मुणी मुनयः–प्र० बहु० । ण न–अव्यय । लिप्पंति लिप्यन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मवाच्य क्रिया ॥ २७० ॥

ज्ञान न होनेसे क्रियागर्भाध्यवसान अज्ञानरूप है, विविक्तात्माका दर्शन न होनेसे क्रियागर्भाध्यवसान मिथ्यादर्शन है, विविक्तात्माका आचरण न होनेसे क्रियागर्भाध्यवसान मिथ्याचारित्र है । ३–सत् अहेतुक ज्ञायकस्वरूप निज आत्मामें व कर्मोदयजनितनारकादिभावोंमें अन्तर न जाननेके कारण विविक्तात्माका ज्ञान न होनेसे विपच्यमानाध्यवसान अज्ञानरूप है, विविक्तात्माका दर्शन न होनेसे विपच्यमानाध्यवसान मिथ्यादर्शन है, विविक्तात्माका आचरण न होनेसे विपच्यमानाध्यवसान मिथ्याचारित्र है । (४) सत् अहेतुक ज्ञानरूप निज आत्माका व ज्ञेयमय पदार्थका अन्तर न समझनेके कारण विविक्तात्माका ज्ञान न होनेसे ज्ञायमानाध्यवसान अज्ञानरूप है, विविक्तात्माका दर्शन न होनेसे ज्ञायमानाध्यवसान मिथ्यादर्शन है, विविक्तात्मा का आचरण न होनेसे ज्ञायमानाध्यवसान मिथ्याचारित्र है । (५) अथवा क्रियागर्भाध्यवसान मुख्यतया अचारित्ररूप है । (६) विपच्यमानाध्यवसान मुख्यतया मिथ्यादर्शनरूप है । (७) ज्ञायमानाध्यवसान मुख्यतया मिथ्याज्ञानरूप है । (८) जिनके ये अध्यवसानभाव हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । (९) ये सभी अध्यवसान कर्मबन्धके निमित्त कारण हैं । (१०) जिनके ये अध्यवसान नहीं है वे ही मुनिश्रेष्ठ हैं । (११) जो ज्ञप्तिक्रिया, ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानमय विविक्तात्मा को जानते देखते आचरते हैं वे शुभ अशुभ किसी कर्मसे लिप्त नहीं होते ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनासे अध्यवसानभाव व कर्मबन्ध दोनों दूर हो जाते हैं ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—अध्यवसान व कर्मबन्धसे हटनेके लिये अपनेको ज्ञप्तिक्रिय, ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमात्र निरखना ॥ २७० ॥

प्रश्न—वह अध्यवसान क्या है ? उत्तर—[बुद्धिः] बुद्धि [व्यवसायः] व्यवसाय [अपि च] और [अध्यवसानं] अध्यवसान [च] और [मतिः] मति [विज्ञानं] विज्ञान [चित्तं] चित्त [भावः] भाव [च] और [परिणामः] परिणाम [सर्वं] ये सब [एकार्थमेव] एकार्थ ही हैं याने इनका अर्थ भिन्न नहीं है, मात्र नामभेद है ।

त्वाच्चित्तं। चितो भवनमात्रत्वाद् भावः। चितः परिणमनमात्रत्वात् परिणामः॥ सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः। सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिं॥१७३॥ ॥ २७१ ॥

बुध अवगमने, मन ज्ञाने, चिती संज्ञाने। **पदविवरण**—बुद्धी बुद्धिः–प्रथमा एकवचन। ववसाओ व्यवसायः–प्रथमा एक०। वि अपि य च–अव्यय। अज्झवसाणं अध्यवसानं मई मतिः विण्णाणं विज्ञानं एकट्ठं एकार्थं सव्वं सर्व चित्तं भावो भावः परिणामो परिणामः–प्रथमा एकवचन॥ २७१॥

शुद्धनिश्चयके ग्रहणका उपदेश है। यह आश्चर्य भी किया है कि जब भगवानने सर्वविषयोंमें अध्यवसानको छुड़ाया है तो सत्पुरुष इन अध्यवसानोंको छोड़कर अपनेमें स्थिर क्यों नहीं होते ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अध्यवसान जिनके नहीं होते वे कर्मसे लिप्त नहीं होते। अब इस गाथामें उन्हीं अध्यवसानोंका परिचय अनेक नामों द्वारा कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—१– बुद्धि, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, संकल्प, विकल्प व परिणाम, ये सब अध्यवसानके अनर्थान्तर हैं। २– स्व व परका भेदविज्ञान न होनेपर होने वाले निश्चयको अध्यवसान कहते हैं। ३–अध्यवसान ही बोधनरूप होनेसे बुद्धि है। ४–अध्यवसान ही निश्चयमात्र या चेष्टामात्र होनेसे व्यवसाय कहलाता है। ५– अध्यवसान ही मननमात्र होनेसे मति कहलाता है। ६– अध्यवसान ही जाननरूप होनेसे विज्ञान कहलाता है। ७– अध्यवसान ही चेतनेमात्रकी दृष्टिसे चित्त कहलाता है। ८– अध्यवसान ही जीवमें कुछ होने मात्रकी दृष्टिसे भाव कहलाता है। ९– अध्यवसान ही जीवका कुछ परिणमनकी दृष्टिसे परिणाम कहलाता है। १०–अध्यवसान ही 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पगर्भ होनेसे संकल्प कहलाता है। ११–अध्यवसान ही हर्षविषादादिरूप होनेसे विकल्प कहलाता है। १२–बाह्यवस्तु रागादि अध्यवसानका विषयभूत कारण है। १३– रागादि अध्यवसान कर्मबंधके निमित्तके निमित्तत्व का निमित्त कारण है। १४–उदयागत द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्मबंधका निमित्त कारण है।

सिद्धान्त—(१) कर्मविपाकोदय होनेपर अध्यवसानभाव होता है। (२) अध्यवसान भाव होनेपर कर्मबन्ध होता है।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)। २– निमित्तदृष्टि (५३अ)।

प्रयोग—अध्यवसान भावको सर्वसंकटोंका मूल कारण जानकर अध्यवसानसे अलग होकर अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें आत्मत्वका अनुभव कर परम विश्राम पाना॥ २७१॥

श्रित्वाविशेषात् । प्रतिषेध्य एवं चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च ॥ २७२ ॥

आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । णिच्छयणयेण निश्चयनयेन–तृतीया एक० । णिच्छयणयासिदा निश्चयनयाश्रिताः–प्रथमा बहु० । पुण पुनः–अव्यय । मुणिणो मुनयः–प्रथमा बहु० । पावंति प्राप्नुवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । णिव्वाणं निर्वाणम्–द्वितीया एकवचन ॥ २७२ ॥

के ही आश्रय प्रवर्त रहे हैं वे कर्मसे कभी नहीं छूटते ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अध्यवसानका अनेक नामोंसे परिचय कराते हुए अध्यवसान छुड़ानेका अथवा अध्यवसान छुड़ानेके लिये अन्याश्रय समस्त व्यवहार ही छुड़ानेका संकेत दिया था । अब इस गाथामें निश्चयनयकी उपयोगिता दिखाकर व्यवहारनय प्रतिषिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यहाँ परद्रव्यका आश्रयकर होने वाला विकल्प व्यवहारनय है । (२) यहाँ शुद्धात्मद्रव्यका आश्रयकर होने वाला सद्भाव निश्चयनय है । (३) निश्चयनय अर्थात् शुद्धात्मद्रव्यका आश्रय करने वाले मुनि निर्वाणको प्राप्त करते हैं । (४) निश्चयनयके द्वारा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्यके आश्रय द्वारा परद्रव्याश्रित समस्त व्यवहार प्रतिषिद्ध हुआ है । (५) पराश्रित व्यवहारनयके आश्रयसे साक्षात् निर्वाण नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) परद्रव्यविषयक व्यवहार अथवा अध्यवसान सब उपचार होनेसे मिथ्या है । (२) सहजसिद्धशुद्धात्मद्रव्यविषयक उपयोग स्वसहजभाव होनेसे भूतार्थ है ।

दृष्टि— १– अनेक असद्भूतव्यवहार (१२४, १२५, १२६, १२७, १२८ आदि) । २– परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग–निश्चयचारित्रकी उपयोगितामें ही ध्यान लगाकर परमविश्राम पाना ॥२७२॥

प्रश्न—अभव्य जीव व्यवहारनयका कैसे आश्रय करता है ? **उत्तर**—[**जिनवरैः**] जिनेश्वरदेवके द्वारा [**प्रज्ञप्तं**] कहे गये [**व्रतसमितिगुप्तयः**] व्रत समिति गुप्ति [**शीलतपः**] शील तपको [**कुर्वन्नपि**] करता हुआ भी [**अभव्यः**] अभव्य जीव [**अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः तु**] अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है ।

तात्पर्य—निज अविकार सहज ज्ञानस्वभावका अनुभवन हो पानेसे व्रतादिको पालता हुआ भी अभव्य अज्ञानी है ।

टीकार्थ—शील तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति पांच समितिसे संयुक्त, अहिंसादिक पाँच महाव्रत रूप व्यवहारचारित्रको अभव्य भी करे तो भी वह अभव्य चारित्रसे रहित, अज्ञानी,

तस्यैकादशांगज्ञानमस्ति ? इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मुक्तिका अश्रद्धानी, अभव्य प्राणी पढ़े श्रुताङ्गोंको ।
पढ़ना गुण नहिं करता, क्योंकि उसे ज्ञानभक्ति नहीं ॥२७४॥

मोक्षमश्रद्धानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत । पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४ ॥

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते, ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्

नामसंज्ञ—मोक्ख, असद्दहंत, अभवियसत्त, दु, ज, पाठ, ण, गुण, असद्दहंत, णाण, तु । **धातुसंज्ञ**—अधि इ अध्ययने, कर करणे । **प्रातिपदिक**—मोक्ष, अश्रद्दधान, अभव्यसत्त्व, तु, यत्, पाठ, न, गुण, अश्रद्दधान, ज्ञान, तु । **मूलधातु**—अधि इङ् अध्ययने अदादि, डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—मोक्खं मोक्षं—

भूत श्रद्धान अभव्यके नहीं हो पाता । ६– अभव्यके सम्यक्त्वघातक मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम न होनेके कारण शुद्धात्मत्वकी उपादेयताका श्रद्धान नहीं होता, अतः अभव्य मिथ्यादृष्टि ही रहता है ।

सिद्धान्त—(१) व्रत समिति गुप्ति आदिमें चारित्रपना कहना व्यवहार है ।

दृष्टि—१– एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२) ।

प्रयोग—निश्चयचारित्रके हेतुभूत शुद्धात्मत्वका श्रद्धान ज्ञान कर सहजात्मस्वरूपके अनुरूप ज्ञानवृत्तिका सहज पौरुष करना ॥२७३॥

प्रश्न—अभव्य जीवके तो ग्यारह अंग तकका भी ज्ञान हो जाता, फिर मोक्षमार्गी क्यों नहीं है ? **उत्तर**—[**मोक्षं अश्रद्दधानः**] मोक्ष तत्त्वकी श्रद्धा नहीं करने वाला [**यः अभव्यसत्त्वः**] जो अभव्य जीव है वह [**अधीयीत तु**] शास्त्र तो पढ़ता है [**तु**] परन्तु [**ज्ञानं अश्रद्दधानस्य**] ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा नहीं करने वाले अभव्यका [**पाठः**] शास्त्रपठन [**गुणं न करोति**] गुण नहीं करता ।

तात्पर्य—अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें अपनी श्रद्धा न होनेसे अभव्यका ज्ञान भी गुणकारी नहीं है ।

टीकार्थ—प्रथम तो अभव्य जीव निश्चयतः शुद्ध ज्ञानमय आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेसे मोक्षका ही श्रद्धान नहीं करता इस कारण अभव्य जीव ज्ञानकी भी श्रद्धा नहीं करता । और ज्ञानका श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचारांगको आदि लेकर ग्यारह अंगरूप श्रुतको

९–मोक्ष अधिकार

नाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ॥२७४॥

प्रथमा एक० । ण न–अव्यय । करेदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । गुणं–द्वितीया एक० । असद्दहंतस्स अश्रद्दधानस्य–षष्ठी एक० । णाणं ज्ञानं–प्रथमा एकवचन । तु–अव्यय ॥ २७४ ॥

प्रयोग—शुद्ध ज्ञानमय मोक्षके लिये शुद्ध ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वका आत्मरूपसे श्रद्धान ज्ञान आचरण करना ॥ २७४ ॥

प्रश्न—उस अभव्यके धर्मका तो श्रद्धान होता है उसके कैसे निषेध किया जा रहा है ? **उत्तर**—[**सः**] वह अभव्य जीव [**भोगनिमित्तं**] भोगके निमित्तरूप [**धर्मं**] धर्मको [**श्रद्दधाति च**] श्रद्धान करता है [**प्रत्येति च**] प्रतीति करता है [**रोचयति च**] रुचि करता है [**पुनश्च**] और [**स्पृशति**] स्पर्शता है [**तु**] परन्तु [**कर्मक्षयनिमित्तं**] कर्मक्षय होनेका निमित्तरूप धर्मका [**न**] श्रद्धान आदि नहीं करता ।

तात्पर्य—सहज ज्ञानस्वभावका परिचय नहीं होनेसे अभव्य ज्ञानस्वभावरूप धर्मकी श्रद्धा नहीं कर पाता ।

टीकार्थ—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफलचेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है, परन्तु नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तुका श्रद्धान नहीं करता, क्योंकि अभव्य जीव नित्य ही स्व-परके भेदज्ञानके योग्य नहीं है । इस कारण वह अभव्य कर्मक्षयके निमित्तभूत ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्मको श्रद्धान नहीं करता, परंतु भोगके निमित्तभूत शुभ कर्ममात्र असत्यार्थ धर्मको ही श्रद्धान करता है । इस कारण यह अभव्य अभूतार्थ धर्मका श्रद्धान, प्रतीति, रुचि, स्पर्शनके द्वारा ऊपरके ग्रैवेयक तकके भोगमात्रोंको पाता है, परन्तु कर्मसे कभी नहीं छूटता । इसलिये इसके सत्यार्थ धर्मके श्रद्धानका अभाव होनेसे सच्चा श्रद्धान भी नहीं है । ऐसा होनेपर निश्चयनयके सिद्धान्तमें व्यवहारनयका निषेध युक्त ही है । **भावार्थ**—अभव्य जीव कर्मचेतना व कर्मफल-चेतनाको जानता है, परन्तु ज्ञानचेतनाको नहीं जानता, क्योंकि अभव्यके भेदज्ञान होनेकी योग्यता नहीं है, इस कारण इसके शुद्ध आत्मीयधर्मका श्रद्धान नहीं है । यह तो शुभ कर्मको ही धर्म समझकर श्रद्धान करता है सो मंद कषाय सहित यदि द्रव्यमहाव्रत पालन कर ले तो उसका फल ग्रैवेयक तकके भोग पाता है, परन्तु कर्मका क्षय नहीं होता । इस कारण इसके सत्यार्थ धर्मका भी श्रद्धान नहीं कहा जा सकता, इसीसे निश्चयनयके सिद्धान्तमें व्यवहारनयका निषेध है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अभव्यके श्रुताध्ययनको अगुणकारी बताया गया था । अब इस गाथामें बताया है कि अभव्यके जैसा भी धर्मश्रद्धान संभव है वह पुण्यरूप

नाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति । एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ॥ २७५ ॥

यनि फासेदि स्पृशति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । धम्मं धर्म–द्वितीया एक० । भोगणिमित्तं भोगनिमित्तं–द्वितीया एक० । ण न दु तु–अव्यय । सो सः–प्रथमा एक० । कम्मक्खयणिमित्तं कर्मक्षयनिमित्तं–द्वितीया एकवचन ॥ २७५ ॥

को सर्वसंकटहीन बनाना ॥२७५॥

प्रश्न—निश्चयनय और निश्चयनय किस प्रकारसे प्रतिषेध्य प्रतिषेधक हैं ? उत्तर—[आचारादि ज्ञानं] आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान हैं [च] तथा [जीवादि दर्शनं] जीवादि तत्त्व दर्शन [विज्ञेयं] जानना [च] और [षड्जीवनिकायं] छह जीवनिकाय [चारित्रं] चारित्र है [तथा तु] इस तरह तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है [खलु] और निश्चयसे [मम आत्मा ज्ञानं] मेरा आत्मा ही ज्ञान है [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान है [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] सम्वर और समाधि व ध्यान है ।

तात्पर्य—निश्चयनयसे आत्मा ही ज्ञानादि है इसके होनेपर व्यवहार ज्ञान आदिसे यह जीव अतीत हो जाता है इस कारण निश्चयनय प्रतिषेधक है ।

टीकार्थ—आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञानका आश्रय है । जीव आदि नव पदार्थ दर्शन हैं, क्योंकि ये दर्शनके आश्रय हैं । और छः जीवनिकाय याने छह काय के जीवोंकी रक्षा चारित्र है, क्योंकि यह चारित्रका आश्रय है । यह तो व्यवहार है । शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि ज्ञानका आश्रय आत्मा ही है । शुद्ध आत्मा ही दर्शन है, क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा ही है । शुद्ध आत्मा ही चारित्र है, क्योंकि चारित्रका आश्रय आत्मा ही है । यह निश्चय है । आचारांग आदिकको ज्ञानादिकके आश्रयपनेका व्यभिचार है याने आचारांग आदिक तो हों, परन्तु ज्ञान आदिक नहीं भी हों, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है, परन्तु निश्चयनयमें शुद्ध आत्माके साथ ज्ञानादिकके आश्रयत्वका ऐकांतिकपना है । जहाँ शुद्ध आत्मा है वहाँ ही ज्ञान दर्शन चारित्र हैं, इसलिये व्यवहारनयका निषेध करने वाला है । यही अब स्पष्ट करते हैं—आचारादि शब्दश्रुत एकान्तसे ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि आचारांगादिकका अभव्य जीवके सद्भाव होनेपर भी शुद्ध आत्माका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव है । जीव आदि नौ पदार्थ दर्शनका आश्रय नहीं है, क्योंकि अभव्यके उनका सद्भाव होनेपर भी शुद्धात्माका अभाव होनेसे दर्शनका अभाव है । छहकायके जीवनिकाय याने जीवोंकी रक्षा

त्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात् तत्प्रतिषेधकः। तथाहि—नाचारादिशब्दश्रुतं, एकांतेन ज्ञानस्याश्रयः तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयाः, तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयस्तत्सद्भावेप्यभावानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव

तथा, चारित्र, तु, व्यवहार, आत्मन्, खलु, अस्मद्, ज्ञान, आत्मन्, अस्मद्, दर्शन, चरित्र, च, आत्मन्, प्रत्याख्यान, आत्मन्, अस्मद्, संवर, योग। **मूलधातु**—भण शब्दार्थः। **पदविवरण**—आयारादी आचारादि—प्रथमा एक०। णाणं ज्ञानं—प्रथमा एक०। जीवादी जीवादि—प्र० ए०। दंसणं दर्शनं—प्र० ए०। च—अव्यय। विण्णेयं विज्ञेयं—प्रथमा एक० कृदन्त। छज्जीवणिकं षट्जीवनिकां—द्वितीया एक०। च तहा तथा—अव्यय।

होनेपर ज्ञान, दर्शन, चारित्र होते ही हैं, इस कारण निश्चयनय इस व्यवहारका प्रतिषेधक है, अतः शुद्धनय उपादेय बताया गया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताकर कि अभव्य पुण्यरूप धर्म व्यवहारचारित्रकी श्रद्धा भोगनिमित्त करता उससे कर्मक्षय नहीं है, एक संकेत दिया था कि व्यवहार प्रतिषेध्य है व निश्चय प्रतिपेधक है। अब इन दो गाथावोंमें बताया है कि वह प्रतिषेध्य व्यवहार दर्शन ज्ञान आदि क्या है और प्रतिपेधक निश्चय दर्शन आदि क्या है ?

तथ्यप्रकाश—(१) आचारांग आदि शब्दश्रुत ज्ञानका आश्रय, विषय, कारण होनेसे व्यवहार ज्ञान कहलाता है अथवा श्रुतका शाब्दिक ज्ञान व्यवहार ज्ञान कहलाता है। (२) जीवादिक नव पदार्थ सम्यक्त्वके आश्रय होनेसे, निमित्त होनेसे व्यवहारसम्यक्त्व कहलाता है अथवा इन नव पदार्थोंका पर्यायरूप श्रद्धान व्यवहारसम्यक्त्व कहलाता है। (३) छह जीवनिकाय अथवा उनकी रक्षा चारित्रका आश्रय हेतु होनेसे व्यवहारचारित्र कहलाता है। (४) व्यवहार ज्ञान आदि ज्ञानका आश्रय करते हुए हों यह नियम नहीं, इस कारण यह व्यवहार प्रतिषेध्य है। (५) आचारांग आदि शब्दश्रुत अभव्यके भी अधीत हो जाता है, किन्तु शुद्धात्मत्वकी प्रतीति न होनेसे वह सम्यग्ज्ञान नहीं। (६) जीवादिक नव पदार्थोंका पर्यायरूप श्रद्धान अभव्यके भी हो जाता है, किन्तु शुद्धात्मत्वकी प्रतीति न होनेसे वह सम्यक्चारित्र नहीं। (७) षट्कायजीवरक्षा अभव्य भी करते हैं, किन्तु शुद्धात्मत्वका बोध न होनेसे वहाँ सम्यक्चारित्र नहीं। (८) शुद्धात्मा ही अथवा शुद्धात्माका बोध निश्चय सम्यग्ज्ञान है। (९) शुद्धात्मा अथवा शुद्धात्माका श्रद्धान ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। (१०) शुद्धात्मा अथवा शुद्धात्माकी उपासना निश्चयचारित्र है। शुद्धात्माकी सहजवृत्ति ही प्रत्याख्यान है, संवर है,

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥ (युगलम्)

स्फटिक मणि शुद्ध जैसे, स्वयं न रागादिरूप परिणमता ।
रक्तिम वह हो जाता, अन्यहि रक्तादि द्रव्योंसे ॥२७८॥
ज्ञानी भी शुद्ध वैसे, स्वयं न रागादिरूप परिणमता ।
रागी वह हो जाता, अन्य हि रागादि दोषोंसे ॥२७९॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः । रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८ ॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः । रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते । तथा

नामसंज्ञ—जह, फणिहमणि, सुद्ध, ण, सयं, रायमाइ, अण्ण, दु, त, रत्तादि, दव्व, एवं, णाणि, सुद्ध, ण, सयं, रायमाइ, अण्ण, दु, त, रागादि, दोस । **धातुसंज्ञ**—परि नम नम्रीभावे, रज्ज रागे । **प्रातिपदिक**—यथा, स्फटिकमणि, शुद्ध, न, स्वयं, रागाद्य, अन्य, तु, तत्, रक्तादि, द्रव्य, एवं, ज्ञानिन्, शुद्ध, न, स्वयं,

---

किन्तु अन्य कर्मप्रकृतिविपाकोदयके द्वारा रागादिरूप परिणमाया जाता है ।

टीकार्थ—जैसे वास्तवमें केवल (अकेला) स्फटिक पाषाण स्वयं परिणामस्वभावरूप होनेपर भी अपने शुद्ध स्वभावपनेके कारण रागादिनिमित्तत्वके अभावसे रागादिकोंसे आप नहीं परिणमता याने आप ही अपने रागादि परिणाम होनेका निमित्त नहीं है, परन्तु स्वयं रागादिभावको प्राप्त होनेसे स्फटिकके रागादिकके निमित्तभूत परद्रव्यके ही द्वारा शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ ही रागादि रंगरूप परिणमता है । उसी तरह अकेला आत्मा परिणमनस्वभावरूप होनेपर भी अपने शुद्ध स्वभावपनेके कारण रागादिनिमित्तपनेके अभावसे स्वयं ही रागादिभावोंसे नहीं परिणमता याने अपने आप ही स्वयं रागादि परिणामका निमित्त नहीं है, परन्तु स्वयं रागादिभावको प्राप्त होनेसे आत्माके रागादिकका निमित्तभूत परद्रव्यके द्वारा ही शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ ही रागादिक भावोंरूप परिणमता है । ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है । **भावार्थ**—आत्मा परसंगरहित एकाकी तो शुद्ध ही है, परन्तु है परिणाम स्वभाव सो जिस तरहका परका निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है । इस कारण रागादिकरूप पर-

रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांत: । तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽय-मुदेति तावत् ॥१७५॥ इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन स: । रागादीन्नात्मन: कुर्यान्नातो भवति कारक: ॥१७६॥ ॥ २७८-२७९ ॥

तृतीया बहु० । दु तु–अव्यय । सो स:–प्रथमा एकवचन । रत्तादीहिं रक्तादिभि:–तृ० बहु० । दव्वेहिं द्रव्यै:–तृ० बहु० । एवं–अव्यय । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । सुद्धो शुद्ध:–प्र० ए० । ण न–अव्यय । सयं स्वयं–अव्यय । परिणमइ परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । रायमाईहिं रागाद्यै:–तृ० बहु० । राइज्जदि रज्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । अण्णेहिं अन्यै:–तृ० बहु० । सो स:–प्र० एक० । रागादीहिं रागाद्यै:–तृ० बहु० । दोसेहिं दोषै:–तृतीया बहुवचन ॥ २७८-२७९ ॥

---

(४) लाल कागज व रागादिप्रकृतिकर्म स्वयं रागादिभावसे युक्त है सो वह स्फटिक व आत्मा के रागादिभावमें निमित्त होता है । (५) लाल कागज व रागादिप्रकृति विपाकका सान्निध्य पाकर स्फटिक व आत्मा अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ ही रागादिभावसे परिणमाया जाता है । (६) योग्य उपादानका ऐसा ही स्वभाव है कि अनुकूल निमित्तका सान्निध्य पाकर तदनुरूप विकारभावसे परिणम जाता है । (७) स्फटिककी भांति आत्मा परसंग बिना स्वयं रागादिरूपसे नहीं परिणम सकता । (८) रागादिभावकी नैमित्तिकताके तथ्यका ज्ञाता पुरुष अपनेको रागादिरूप नहीं करता, अतः रागादिका अकर्ता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा शुद्धस्वभाव होनेके कारण स्वयं अस्वभावभावरूप रागादि भावका अकर्ता है । (२) रागादिभाव नैमित्तक होनेसे स्वभावभावके आश्रयसे यह हटा दिया जाता है ।

दृष्टि—१– अकर्तृनय (१९०) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—रागादिविकारको नैमित्तिक पराश्रित अस्वभावभाव जानकर उससे उपेक्षा करके सहज ज्ञानानन्दस्वभावी अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको रमाना ॥ २७८-२७९ ॥

अब ज्ञानीका अकर्तृत्व इस गाथामें कहते हैं—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**स्वयमेव**] आप ही [**रागद्वेषमोहं**] राग द्वेष मोहको [**वा कषायभावं**] तथा कषाय भावको [**आत्मन:**] आत्माके [**न च करोति**] नहीं करता [**तेन**] इस कारण [**स:**] वह ज्ञानी [**तेषां भावानां**] उन भावोंका [**कारक: न**] कर्ता नहीं है ।

तात्पर्य—ज्ञानी परभावोंको अपना स्वभाव नहीं मानता, अत: वह रागादिका कर्ता नहीं है ।

टीकार्थ—यथोक्त वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभावसे नहीं छूटता, इसलिये राग-द्वेष-मोह आदि भावोंसे अपने आप नहीं परिणमता और दूसरेसे भी नहीं

द्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति नियमः ।। "इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः । रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१७७।। ।। २८० ।।

तत्, तत्, कारक, तत्, भाव ।·मूलधातु—डुकृञ् करणे । पदविवरण—ण न य च–अव्यय । रायदोसमोहं रागद्वेषमोहं–द्वितीया एक० । कुव्वदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । कषायभावं–द्वितीया एक० । वा–अव्यय । सयं स्वयं–अव्यय । अप्पणो आत्मनः–षष्ठी एक० । ण न–अव्यय । सो सः–प्र० ए० । तेण तेन–तृ० एक० । कारगो कारकः–प्र० एक० । तेसिं तेषां–षष्ठी बहु० । भावाणं भावानां–षष्ठी बहुवचन ।। २८० ।।

दृष्टि—१– शुद्धनय (१६८) । २– उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२२) ।

प्रयोग—रागादिभावोंको औपाधिकभाव जानकर उनरूप अपनेको नहीं मानना और अपने सहज चैतन्यस्वभावमें रुचि करना ।। २८० ।।

अब अज्ञानीकी दशाको इस गाथामें कहते हैं:—[**रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव**] रागद्वेष और कषाय कर्मोंके होनेपर [**ये भावाः**] जो भाव होते हैं [**तैस्तु**] उन रूपोंसे [**परिणममानः**] परिणमता हुआ अज्ञानी [**रागादीन्**] रागादिकोंको [**पुनरपि**] बार-बार [**बध्नाति**] बांधता है ।

तात्पर्य—रागादिकर्मप्रकृतिका उदय होनेपर रागादिरूप मैं हूं इस श्रद्धासे परिणमता हुआ अज्ञानी फिर रागादि कर्मोंको बांधता है ।

टीकार्थ—यथोक्त वस्तुस्वभावको नहीं जानता हुआ अज्ञानी अपने शुद्ध स्वभावसे अनादि संसारसे लेकर च्युत हुआ ही है इस कारण कर्मके उदयसे हुए जो राग-द्वेष-मोहादिक भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादिक भावोंका कर्ता होता हुआ कर्मोंसे बंधता ही है, ऐसा नियम है । **भावार्थ**—अज्ञानी अपना यथार्थस्वभाव तो जानता नहीं है, परंतु कर्मके उदयसे जैसा कर्मरस झलके उसको अपना समझ परिणमता है तब उन भावोंका कर्ता होता हुआ कर्मोंसे बंधता ही है, ऐसा नियम है । **भावार्थ**—अज्ञानी अपना यथार्थस्वभाव तो जानता नहीं है, परंतु कर्मके उदयसे जैसा कर्मरस झलके उसको अपना समझ परिणमता है तब उन भावोंका कर्ता हुआ आगे भी बार-बार कर्म बांधता है यह निश्चित है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष रागादिभावका अकर्ता है । अब इस गाथामें बताया है कि रागादिको अपनाने वाला अज्ञानी जीव रागादिका कर्ता होता है और वह पुनः कर्मोंसे बँधता है ।

ततः स्थितमेतत्—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

रति अरति कषाय प्रकृति-के होनेपर हि भाव जो होते।
उनसे परिणमता यह, रागादिक बाँधता आत्मा ॥२८२॥

रागे च द्वेपे च कपायकर्मसु चैव ये भावाः। तस्तु परिणममानो रागादीन् वध्नाति चेतयिता ॥ २८२ ॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो राग-द्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ॥२८२॥

नामसंज्ञ—चेदा, शेष पूर्वगाथावत्। धातुसंज्ञ—पूर्व गाथावत्। प्रातिपदिक—चेदा, चेतयितृ, शेष पूर्वगाथावत्। मूलधातु—पूर्वगाथावत्। पदविवरण—चेदा चेतयिता-प्रथमा एकवचन, शेष पूर्वगाथावत् ॥ २८२ ॥

परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादिकोंको [बध्नाति] बांधता है।

तात्पर्य—कर्मप्रकृतिविपाकको आत्मरूप मानता हुआ जीव रागादिक कर्मोंको बांधता है।

टीकार्थ—वास्तवमें जो ये अज्ञानीके पुद्गलकर्मके निमित्तसे हुए राग-द्वेष-मोह आदि भाव हैं वे ही परिणाम फिर राग-द्वेष-मोह आदि परिणामके निमित्तभूत पुद्गलकर्म बंधके कारण होते हैं। भावार्थ—अज्ञानीके जो कर्मनिमित्तक राग-द्वेष-मोह आदिक परिणाम होते हैं वे फिर कर्मबंधके कारण होते हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि रागद्वेष आदि कषाय कर्मोंके होनेपर हुए भावोंसे परिणममान जीव फिर भी रागादिक कर्मोंको बाँधता है। अब इस गाथा में उसीके निष्कर्षको प्रसिद्ध करते हैं।

तथ्यप्रकाश—१— कर्मविपाकजभावोंको अभेद बुद्धिसे आत्मरूप मानने वाला कर्मोंसे बँधता है। २— कर्मविपाकजभावोंको ये मेरे हैं यों अपनाने वाला जीव भी कर्मोंसे बँधता है। ३—कर्मबन्धका कारण रागादिक है। ४—रागादिक होनेका कारण कर्मोदय है। ५—आत्मतत्त्व कर्मबन्धका कारण नहीं। ६— आत्मतत्त्व कर्मोदयका कार्य नहीं। ७— आत्मा रागादिका अकारक है।

सिद्धान्त—१— कर्मबन्धका निमित्तकारण उदयागत द्रव्यप्रत्यय है। २— उदयागत द्रव्यप्रत्ययोंमें कर्मबन्धनिमित्तत्व होवे उसका निमित्तकारण जीवका रागादिभावोंसे परिणमन

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं । एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८३ ॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानं । एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८४ ॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः । करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ २८५ ॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्त-

---

चेया, जावं, अपडिक्कमण, अपच्चक्खाण, च, दव्वभाव, अत्त, तावं, कत्तार, त, णादव्व । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, वण्ण वर्णने, कुव्व करणे, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अप्रतिक्रमण, द्विविध, अप्रत्याख्यान, तथा, एव, विज्ञेय, एतत्, उपदेश, च, अकारक, वर्णित, चेतयितृ, अप्रतिक्रमण, द्विविध, द्रव्य, भाव, तथा, अप्रत्याख्यान, एतत्, उपदेश, च, अकारक, वर्णित, चेतयितृ, यावत्, अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान, च, द्रव्यभाव,

---

[**एतेन उपदेशेन च**] इस उपदेशसे [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारकः वर्णितः**] अकारक कहा गया है । [**यावत्**] जब तक [**आत्मा**] आत्मा [**द्रव्यभावयोः**] द्रव्य और भावमें [**अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं**] अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान [**करोति**] करता है [**तावत्**] तब तक [**सः**] वह आत्मा [**कर्ता भवति**] कर्ता होता है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—द्रव्य अप्रत्याख्यान आदि निमित्त है और भाव अप्रत्याख्यान आदि नैमित्तिक है इस उपदेशसे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता है ।

टीकार्थ—आत्मा स्वतः रागादि भावोंका अकारक ही है, क्योंकि अन्यथा याने आप ही रागादिभावोंका कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ऐसे दो प्रकारपनेके उपदेशकी अनुपपत्ति होती है । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो यह वास्तवमें दो प्रकारका उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भावके निमित्तनैमित्तिकभावको बतलाता हुआ आत्माके अकर्तापनको बतलाता है । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्माके रागादिक भाव नैमित्तिक हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनोंके कर्तृत्वके निमित्तपनेका उपदेश व्यर्थ ही हो जायगा । और उपदेशके व्यर्थ होनेपर एक आत्माके ही रागादिक भावके निमित्तपनेकी प्राप्ति होनेपर सदा कर्तापनका प्रसंग आयेगा, उससे मोक्षका अभाव सिद्ध होगा । इस कारण आत्माके रागादिभावोंका निमित्त परद्रव्य ही होओ । ऐसा होनेपर आत्मा रागादिभावोंका अकारक ही है यह सिद्ध हुआ । तो भी जब तक रागादिकके निमित्तभूत परद्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तब तक नैमित्तिकभूत रागादिभावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं होता । और जब तक इन भावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान न हो तब तक आत्मा रागादिभावोंका कर्ता ही है । जिस समय रागादिभावोंके निमित्तभूत द्रव्योंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है, उसी समय नैमि-

तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात् । यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च । यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ॥ २८३-२८५ ॥

गाथावत् । जावं यावत्–अव्यय । अपडिक्कमणं अप्रतिक्रमणं–द्वितीया एक० । अपच्चक्खाणं अप्रत्याख्यानं–द्वि० एक० । च–अव्यय । दव्वभावाणं द्रव्यभावानां–षष्ठी बहु० । कुव्वइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । आदा आत्मा–प्रथमा एकवचन । तावं तावत् कत्ता कर्ता–प्र० ए० । सो सः–प्र० ए० । होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । णायव्वो ज्ञातव्यः–प्रथमा एकवचन ॥ २८३-२८५ ॥

निमित्त है, रागादिभाव नैमित्तिक है । ७– जब तक परद्रव्यका त्याग न किया जा सके तब तक रागका कैसे त्याग हो सकेगा ? ८– जब तक रागादिभावोंको न त्याग सके याने रागादिभावोंको अपनाये तब तक वह कर्ता है । ९– जब जीव मनसा वचसा कायेन परद्रव्यका त्याग कर देता है तभी वह रागादिभावोंको त्याग देता है । १०– जब रागादिभावोंको त्याग दिया तब वह अकर्ता ही है । ११– अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान (रागादिभाव) ये कर्मके कर्ता हैं । कर्मका कर्ता जीवद्रव्य नही । १२– यदि जीवद्रव्य कर्मका कर्ता हो तो सदा ही कर्ता रहना पड़ेगा क्योंकि जीव सदा है । १३– रागादिविकल्प अनित्य हैं सो जब स्वभावच्युत जीवोंके रागादिविकल्प है तब कर्ता है । १४– स्वभावाश्रय होनेपर विकल्पसंकल्प न रहनेसे ज्ञानी कर्ता नही है ।

सिद्धान्त—१– कर्मविपाकप्रतिफलित रागादिकको जो अपनाये वह अज्ञानी है । २– कर्मविपाकप्रतिफलित रागादिकको जो अत्यन्त दूर करे वह ज्ञानी है ।

दृष्टि—१–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) । २–प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—रागादि विकारका निमित्तके साथ अन्वयव्यतिरेक निरखकर उससे हटकर अपने स्व शाश्वत ज्ञानस्वभावमें रमकर तृप्त रहना ॥२८३--२८५॥

अब द्रव्य और भावकी निमित्तनैमित्तिकताका उदाहरण देते हैं:—[**अधःकर्माद्याः ये इमे**] अधःकर्म आदि जो ये [**पुद्गलद्रव्यस्य दोषाः**] पुद्गल द्रव्यके दोष हैं [**तान्**] उनको [**ज्ञानी**] ज्ञानो [**कथं करोति**] कैसे करे ? [**तु**] क्योंकि [**ये**] ये [**नित्यं**] सदा ही [**परद्रव्यगुणाः**] परद्रव्यके याने पुद्गलद्रव्यके गुण हैं । [**च**] और [**इदं**] यह [**अधःकर्मोद्देशिकं**] अधःकर्म और उद्देशिक [**पुद्गलमयं द्रव्यं**] पुद्गलमय द्रव्य [**यत्**] जो कि [**नित्यं**] सदा

प्रत्याचष्टे । यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात् । ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं, नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे ।

कुव्व करणे, हो सत्तायां, वच्च परिभाषणे । **प्रातिपदिक**—अधःकर्माद्य, पुद्गलद्रव्य, यत्, इदम्, दोष, कथं, तान्, ज्ञानिन्, परद्रव्यगुण, तु, यत्, नित्यं, अधःकर्मन्, उद्देशिक, च, पुद्गलमय, इदम्, द्रव्य, कथं, तत्, अस्मत्, कृत, यत्, नित्य, अचेतन, उक्त । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां । **पदविवरण**—आधाकम्माईया अधःकर्माद्याः–प्रथमा बहुवचन । पुग्गलदव्वस्स पुद्गलद्रव्यस्य–षष्ठी एक० । जे ये इमे इमे दोसा दोषाः–प्रथमा बहु० । कह कथं–अव्यय । ते तान्–द्वितीया बहु० । कुव्वइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

का निमित्तनैमित्तिकभाव है । **भावार्थ**—जो आहार पापकर्मसे उत्पन्न हो उसे अधःकर्मनिष्पन्न कहते हैं । जो आहारमात्र किसीके निमित्त ही बना हुआ हो उसे **उद्देशिक** कहते हैं । इन दोनों प्रकारके आहारका जो पुरुष सेवन करे उसके वैसे ही भाव होते हैं इस तरह द्रव्य और भावका जैसे निमित्तनैमित्तिक संबंध है, उसी तरह समस्त द्रव्योंका भावके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जानना कि जो परद्रव्यको ग्रहण करता है, उसके रागादिभाव होते हैं उनका कर्ता होता है और कर्मका बंध करता है । किन्तु जब ज्ञानी हो जाता है तब किसीके ग्रहण करनेका राग नहीं, रागादिरूप परिणमन भी नहीं, तब कर्मबंध भी नहीं होता । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नहीं है ।

अब परद्रव्यके त्यागका उपदेश करते हैं—**इत्यालोच्य** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार परद्रव्यका और अपने भावका निमित्तनैमित्तिकपना विचारकर परद्रव्यमूलक बहुभावोंकी परिपाटीको युगपत् उखाड़ फेंकनेका इच्छुक समस्त परद्रव्यको बलपूर्वक अलग करके अतिशयसे धारावाही पूर्ण एक संवेदनयुक्त अपने आत्माको प्राप्त होता है । जिससे कि जिसने कर्मबंधन मूलसे उखाड़ दिये हैं, ऐसा यह भगवान् आत्मा अपने आत्मामें ही स्फुरायमान होता है याने प्रकट होता है । **भावार्थ**—परद्रव्य और अपने भावका निमित्तनैमित्तिकभाव जानकर आत्महितेच्छु समस्त परद्रव्यका त्याग करे तो समस्त रागादिभावोंकी संतति हट जाती है, और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्मके बन्धनको काटकर स्वयंमें ही प्रकाशरूप प्रकट होता है ।

अब बन्धका अधिकार पूर्ण होते समय अंतमें मंगलरूप ज्ञानकी महिमा इस कलशमें कहते हैं—**रागादि** इत्यादि । **अर्थ**—बंधके कारणरूप रागादिके उदयको निर्दयतापूर्वक याने

प्रारम्भिक ५ गाथावों के नामसंज्ञ व धातुसंज्ञ प्रकाशित होनेसे रह गये हैं उनका विवरण

गाथा १—नामसंज्ञ—सव्वसिद्ध, धुव, अचल, अणोवम, गइ, पत्त, समयपाहुड, इम, ओ, सुय केवलिभणिय। धातुसंज्ञ—वंद स्तुतौ, वच्च व्यक्तायां वाचि।

गाथा २—नामसंज्ञ—जीव, चरित्तदंसणणाणट्ठिउ, त, हि ससमय पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय, त, परसमय। धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने।

गाथा ३—नामसंज्ञ—एयत्तणिच्छयगअ, समअ, सव्वत्थ, सुंदर, लोय, बंधकहा, एयत्त, त, विसंवादिणी। **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां।

गाथा ४—नामसंज्ञ—सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्व, वि, कामभोगबंधकहा, एयत्त, उवलंभ, णावरि, ण, सुलह, विहत्त। **धातुसंज्ञ**—भुंज भोगे, बंध बंधने।

गाथा ५—नामसंज्ञ—त, एयत्तविहत्त, अप्प, सविहव, जदि, पमाण, छल, ण। धातुसंज्ञ—दरस दर्शनायां, चुक्क भ्रंशने, घत्त गवेषणे, ग्गह ग्रहणे।

नोट—प्राकृतपदविवरण संस्कृतपदविवरण के साथ दिये गये। केवल २–१ जगह अन्तर आवेगाजहाँ संस्कृतपद द्विवचनकी जगह प्राकृतपद बहुवचन आता है। सो वहां प्राकृत पद के साथ विभक्ति अलग-अलग दी गई है।

त्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥ इति बंधो निष्क्रांतः ॥ २८६-२८७ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
वंधप्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

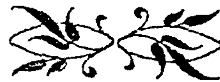
एक० । जं यत्–प्रथमा एक० । णिच्चं नित्यं–प्रथमा एक० । अचेयणं अचेतनं–प्रथमा एकवचन । उत्तं उक्तं–प्रथमा एकवचन ॥ २८६-२८७ ॥

नवकोटिविशुद्ध मुनिके कर्मबन्ध नहीं है ।

दृष्टि—१- निमित्तदृष्टि (५३अ) । २- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—परद्रव्य मुझमें राग नहीं करता, स्वभावतः आत्मा राग नहीं करता, किन्तु परद्रव्यविषयक रागादिविकल्प मुझे परतन्त्र बनाता यह जानकर रागादिविकल्पको छोड़कर अविकल्प सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावमें उपयोग लगाना ॥ २८६-२८७ ॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसार व उसकी श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित
समयसारव्याख्या आत्मख्यातिकी सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीकामें
बन्धप्ररूपक सातवां अंक समाप्त हुआ ।



यथा नाम कोऽपि पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः। तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ।।२८८।।
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन्। कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ।।
इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं। जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ।।२९०।।

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके तदसत्, न कर्मबद्धस्य

अवबोधने, कुण करणे, मुंच त्यागे, प आव प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, बन्धनक, चिरकालप्रतिबद्ध, तीव्रमंदस्वभाव, काल, च, तत्, यदि, न, अपि, छेद, न, तत्, बन्धनवश, सत्, काल, तु, बहुक, अपि, न, तत्, नर, विमोक्ष, इति, कर्मबन्धन, प्रदेशस्थितिप्रकृति, एवं, अनुभाग, जानत्, अपि, न, तत्, च, एव, शुद्ध। **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, डुकृञ् करणे, मुच्लृ मोक्षणे, प्र आप्लृ व्याप्तौ स्वादि।

कुछ करना नहीं रहा ऐसा है। **भावार्थ**—ज्ञान बंध और पुरुषको पृथक् करके पुरुषको मोक्ष प्राप्त कराता हुआ अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवंत प्रवर्त रहा है इस प्रकार ज्ञानका सर्वोत्कृष्टपना प्रकट करना यही उपादेय मोक्षतत्त्वके वर्णनके प्रारम्भमें है।

अब मोक्षकी प्राप्ति कैसे होती है? इसका समीक्षण करते हैं—**[यथा नाम]** जैसे **[बंधनके]** बंधनमें **[चिरकालप्रतिबद्धः]** बहुत कालका बंधा हुआ **[कश्चित् पुरुषः]** कोई पुरुष **[तस्य]** उस बन्धनके **[तीव्रमंदस्वभावं]** तीव्र मंद स्वभावको **[च]** और **[कालं]** कालको **[विजानाति]** जानता है कि इतने कालका बंध है। **[तु यदि]** किन्तु यदि उस बन्धनको आप **[छेदं न करोति]** काटता नहीं है **[तेन न मुच्यते]** तो वह उस बन्धसे नहीं छूट पाता **[अपि]** **[बंधनवशः सन्]** उस बन्धनके वश हुआ **[स नरः]** वह पुरुष **[बहुकेन]** बहुत **[कालेन अपि]** कालमें भी **[विमोक्षं न प्राप्नोति]** उस बन्धसे छूटने रूप मोक्षको प्राप्त नहीं करता **[इति]** उसी प्रकार जो पुरुष **]कर्मबंधनानां]** कर्मके बन्धनोंके **[प्रदेशस्थितिप्रकृति एवं अनुभागं]** प्रदेश स्थिति प्रकृति और अनुभागको **[जानन्नपि]** जानता हुआ भी **[न मुच्यते]** कर्मबन्धसे नहीं छूटता **[च यदि स एव शुद्धः]** किन्तु यदि वह स्वयं रागादिकको दूर करके शुद्ध होता है **[मुच्यते]** तो मोक्ष पाता है।

तात्पर्य—बन्धके स्वरूप ज्ञानमात्रसे मोक्ष नहीं होता, अतः बन्धकी चर्चा करके ही अपनेको मोक्षोपाय वाला नहीं मान लेना चाहिये।

टीकार्थ—आत्मा और बन्धका द्विधाकरण करना पृथक् करना मोक्ष है। वहाँ कोई कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानना मात्र ही मोक्षका कारण है। किन्तु वह ठीक नहीं है, कर्मसे बँधे हुए पुरुषको बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र ही मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बेड़ी आदिसे बँधे हुए पुरुषको बेड़ी आदि बन्धनके स्वरूपका जानना ही बेड़ी आदि कटनेका कारण नहीं होता उसी तरह कर्मसे बँधे हुए पुरुषको कर्मके बन्धका स्वरूप जानना

जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंततो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२६१॥

ज्यौं बन्ध चिन्तता भी, बन्धनबद्ध नहिं मुक्तिको पाता।
त्यौं बन्ध चिन्तता भी, यह जीव भि मोक्ष नहिं पाता ॥२६१॥

यथा बंधान् चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं। तथा बंधांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं।

बंधचिंताप्रबंधो मोक्षहेतुरित्यन्ये तदप्यसत्, न कर्मबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधो मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधवत्। एतेन कर्मबंधविषयचिंताप्रबंधात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते ॥ २६१ ॥

नामसंज्ञ—जह, बंध, चिंतंत, बंधणबद्ध, ण, विमोक्ख, तह, बन्ध, चिंतंत, जीव, वि, ण, विमोक्ख। **धातुसंज्ञ**—प आव प्राप्तौ। **प्रातिपदिक**—यथा, बन्ध, चिन्तत्, बन्धनबद्ध, न, विमोक्ष, तथा, बन्ध, चिन्तत्, जीव, न, अपि, विमोक्ष। **मूलधातु**—प्र आप्लृ व्याप्तौ। **पदविवरण**—जह यथा ण न तह वि ण तथा अपि न–अव्यय। बंधे बन्धान्–द्वितीया बहु०। चिंतंतो चिन्तन्–प्रथमा एक०। बंधणबद्धो बन्धनबद्धः–प्रथमा एक०। पावइ प्राप्नोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। विमोक्खं विमोक्षं–द्वि० एक०। जीवो जीवः–प्रथमा एकवचन ॥ २६१ ॥

प्रयोग—संसारमूल कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये सहज ज्ञानस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वको निरखते रहना ॥ २८८-२६० ॥

अब कहते हैं कि बन्धकी चिंता करनेसे भी बन्ध नहीं कटता—**[यथा]** जैसे कोई **[बंधनबद्धः]** बन्धनसे बंधा हुआ पुरुष **[बंधान् चिंतयन्]** उन बंधोंको विचारता हुआ **[विमोक्षं]** मोक्षको **[न प्राप्नोति]** नहीं प्राप्त कर पाता **[बंधान् चिंतयन्]** कर्मबन्धकी चिंता करता हुआ **[जीवोपि]** जीव भी **[विमोक्षं]** मोक्षको **[न प्राप्नोति]** नहीं प्राप्त कर पाता।

तात्पर्य—मात्र कर्मबन्धके चिन्तन व कर्मफलके अपायके चिन्तनरूप शुभोपयोग परिणामसे भी मोक्ष नहीं होता।

टीकार्थ—बंधकी चिंताका प्रबन्ध मोक्षका कारण है, ऐसा कोई अन्य लोग मानते हैं वह मानना भी असत्य है। कर्मबन्धनसे बँधे हुए पुरुषके उस बँधकी चिंताका प्रबन्ध कि यह बन्ध कैसे छूटेगा वह भी बन्धके अभावरूप मोक्षका कारण नहीं है; क्योंकि यह चिंताका प्रबंध बन्धसे छूटनेका हेतु नहीं है। जैसे कि बड़ी (सांकल) से बँधे हुए पुरुषको बन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र बन्धसे छूटनेका उपाय नहीं है। इस कथनसे कर्मबन्धविषयक चिंताप्रबन्धस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अंधी है उनका उत्थान किया गया है। **भावार्थ**—कर्मबन्धकी कर्मफलके अपायकी चिन्तामें धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। जो केवल शुभपरिणामसे ही मोक्ष

ऽपि पूर्वे आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे व्यापार्यन्ते ।। २९२ ।।

जह यथा य च उ तु तह तथा य च–अव्यय । बन्धे बन्धान्–द्वितीया बहु० । छित्तूण छित्त्वा–असमाप्तिकी क्रिया । बन्धणबद्धो बन्धनबद्धः, पावइ प्राप्नोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । विमोक्खं विमोक्षं–द्वि० ए० । बंधे बन्धान्–द्वितीया बहु० । जीवो जीवः–प्रथमा एक० । संपावइ संप्राप्नोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । विमोक्खं विमोक्षं–द्वितीया एकवचन ।। २९२ ।।

होनेसे जैसे कि बेड़ी सांकल आदिसे बँधे हुए पुरुषके सांकलका बन्ध काटना ही छूटनेका कारण है । इस कथनसे पहले कहे गये दोनों ही प्रकारके पुरुष आत्मा और बन्धके पृथक्-पृथक् करने में पौरुष करनेके लिये प्रेरित किये गये हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि कर्मबन्धविषयक चिन्तनसे भी कर्ममोक्ष नहीं होता । अब इस गाथामें मोक्षहेतु क्या है यह बताया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) बन्धका छेदन ही मोक्षका साक्षात् हेतु है । (२) बन्धछेदन निर्विकल्प सहज चिदानन्दैकस्वभाव अन्तस्तत्त्वके आश्रयके बलसे होता है ।

सिद्धान्त—(१) स्वशुद्धात्मतत्त्वकी अभेदोपासनाके बलसे बद्ध कर्म सब दूर हो जाते हैं । (२) उपाधिके अभावसे मोक्ष होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाध्यभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—सहजानन्दमय निज शुद्धात्मलाभके लिये सहजशुद्ध चैतन्यस्वरूपकी अभेदोपासनामें मग्न होना ।। २९२ ।।

प्रश्न—कर्मबन्धनका ही छेदना मोक्षका कारण कहा गया सो क्या यही मोक्षका कारण है ? **उत्तर**—[**बंधानां च स्वभावं**] बन्धोंके स्वभावको [**च**] और [**आत्मनः स्वभावं**] आत्माके स्वभावको [**विज्ञाय**] जानकर [**यः**] जो पुरुष [**बंधेषु**] बन्धोंके प्रति [**विरज्यते**] विरक्त होता है [**सः**] वह पुरुष [**कर्मविमोक्षणं करोति**] कर्मोंसे विमोक्षण करता है ।

तात्पर्य—अविकार सहज चित्प्रकाशमय आत्मस्वभावको व विकाररूप बन्धस्वभावको जानकर जो बन्धोंसे हटता है वह कर्मरहित होता है ।

टीकार्थ—जो ही पुरुष निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उस आत्माके विकारको करनेवाले बन्धोंके स्वभावको जानकर उन बन्धोंसे विरक्त होता है वही पुरुष समस्त कर्मोंसे मुक्त होता है । इससे आत्मा और बंधके पृथक्-पृथक् करनेके ही मोक्षके कारणपनेका नियम किया गया है । **भावार्थ**—आत्मा व बंधका पृथक्करण ही मोक्षका हेतु है ।

केनात्मबंधौ द्विधा क्रियेते ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२६४॥

प्रज्ञा छैनी द्वारा, अपने अपने विशिष्ट चिह्नोंसे ।
जीव तथा बन्धोंमें, भेद किये भिन्न वे होते ॥२६४॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां । प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ २६४ ॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं । तया हि तौ छिन्नौ नानात्मवश्यमापद्येते ततः प्रज्ञयैवात्मबंधयोर्द्विधाकरणं । ननु कथमात्मबंधौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्यवह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मांतःसंधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि । आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं

नामसंज्ञ—जीव, बंध, य, तहा, सलक्खण, णियय, पण्णाछेदणअ, उ, छिण्ण, णाणत्त, आवण्ण । **धातुसंज्ञ**—च्छिद छेदने, आ वण्ण वर्णने । **प्रातिपदिक**—जीव, बन्ध, च, तहा, स्वलक्षण, नियत, प्रज्ञाछेदक,

---

अपने लक्षणोंसे [**प्रज्ञाछेदकेन**] बुद्धिरूपी छैनीसे [**तथा**] उस तरह [**छिद्येते**] छेदे जाते हैं [**तु**] कि जिस तरह [**छिन्नौ**] छेदे हुए वे [**नानात्वं**] नानापनको [**आपन्नौ**] प्राप्त हो जायें ।

तात्पर्य—अपने-अपने नियत लक्षणसे जीव और बन्धको अलग-अलग जानकर प्रज्ञा छैनीसे उन्हें अलग-अलग कर देना चाहिये ।

टीकार्थ—आत्मा और बन्धको भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्यके विषयमें कर्ता आत्माके करणविषयक विचार किया जानेपर निश्चयतः आत्मासे पृथक् किसी करणकी असंभवता होनेसे भगवती प्रज्ञा याने ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही छेदनस्वरूप करण है । उस प्रज्ञाके द्वारा ही छेदे गये वे दोनों याने आत्मा व बन्ध नानापनेको अवश्य प्राप्त होते हैं अर्थात् पृथक्-पृथक् हो जाते हैं । इस कारण प्रज्ञाके द्वारा ही आत्मा और बन्धका पृथक्-पृथक् करना होता है । **प्रश्न**—आत्मा और बन्ध जो कि चेत्यचेतक भावके द्वारा अत्यन्त निकटताके कारण एकीभूत हो रहे हैं और भेदविज्ञानके अभावसे एक चेतककी तरह जो व्यवहारमें प्रवर्तते देखे जाते हैं वे प्रज्ञासे कैसे छेदे जा सकते हैं ? **समाधान**—आत्मा और बन्धके निश्चित स्वलक्षणकी सूक्ष्म अन्तरंग संधिमें इस प्रज्ञा छैनीको सावधान होकर पटकनेसे दोनोंको याने आत्मा और बंधको छेदा जा सकता है, पृथक् पृथक् किया जा सकता है । वहाँ आत्माका तो निश्चयसे समस्त

चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव चेतकतामेव प्रथयेन्न पुना रागादीन्, एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।। प्रज्ञा छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबंधे

प्रथमा एक० । बंधो वन्धः–प्रथमा एकवचन । य च तह तथा–अव्यय । सलक्खणेहिं–तृतीया बहु० । स्वलक्षणाभ्यां–तृतीया द्विवचन । णियएहिं–तृ० बहु० । नियताभ्यां–तृतीया द्विवचन । छिज्जंति–वर्तमान लट्

अज्ञानवश ज्ञेयज्ञायकभावकी अतिनिकटतासे एकसे हो रहे दीखते हैं, लेकिन तीक्ष्णबुद्धिरूपी छैनीको इनकी सूक्ष्म संधिपर ज्ञानाभिमुख होकर पटकना । उसके पड़ते ही दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं और तब आत्माको ज्ञानभावमें ही रखना और बन्धको अज्ञानभावमें डालना ।

अब इसी अर्थको काव्यमें कहते हैं—**प्रज्ञा** इत्यादि । **अर्थ**—प्रवीण व सावधान प्रमादरहित पुरुषोंके द्वारा आतमा और कर्म इन दोनोंके सूक्ष्म भीतरी संधिपर पटकी हुई यह तीव्र प्रज्ञारूपी छैनी शीघ्र ही अन्तरङ्गमें तो स्थिर और स्पष्ट प्रकाशरूप देदीप्यमान तेज वाले चैतन्यके प्रवाहमें मग्न आत्माको तथा अज्ञानभावमें नियमित बन्धको भिन्न-भिन्न करती हुई आत्मकर्मोभयकी संधिपर गिरती है । **भावार्थ**—यहाँ कार्य तो है आत्मा और बन्धको भिन्न-भिन्न करना । उसका कर्ता आत्मा है । और जिसके द्वारा कार्य हो वह करण भी आत्मा है । निश्चयनयतः कर्तासे पृथक् करण होता नहीं है । इस कारण आत्मासे अभिन्न यह प्रज्ञा ही इस कार्यमें करण है । सो प्रज्ञा द्वारा शरीरसे, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादिक भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्य भावमात्र अपना अनुभव रखना ही इनको भिन्न करना है । इसी विधिसे सब कर्मोंका नाश हो जाकर सिद्धपद प्राप्त हो जाता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आत्मा और बन्धको अलग करनेके प्रसङ्गमें मोक्ष का उपाय स्पष्ट बताया था । अब इस गाथामें यह बताया है कि आत्मा और बन्ध किस साधनसे अलग-अलग किये जाते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा और बन्धको अलग करनेरूप कार्यका कर्ता आत्मा ही होगा । (२) आत्माके जिस करणसे आत्मबन्धका द्विधाकरण होगा वह आत्मासे अभिन्न ही होगा । (३) आत्मबन्धके द्विधाकरणका साधन प्रज्ञा ही है । (४) प्रज्ञाके द्वारा छेदे गये वे दोनों अवश्य ही अलग-अलग हो जाते हैं । (५) बन्ध चेत्य है, आत्मा चेतक है इस निकटता से वे दोनों यद्यपि एकीभूतसे लग रहे हैं तथापि प्रज्ञा द्वारा उनके अपने-अपने स्वलक्षणोंको जुदा-जुदा पहचाननेसे वे छिन्न हो जाते हैं । (६) आत्माका लक्षण चैतन्य है जो किसी अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता और आत्मामें सदा तन्मय रहता है । (७) बन्धका लक्षण रागादिक

आत्मबंधौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २९५ ॥

जीव तथा बन्धोंसे, नियत लक्षणोंसे भेद यों करता ।
बन्ध वहां हट जावे, शुद्धात्मा गृहीत हो जावे ॥२९५॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां । बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥ २९५ ॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ, ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः । एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानम् ॥ २९५ ॥

नामसंज्ञ—जीव, बन्ध, य, तहा, सलक्खण, णियअ, बन्ध, छेएदव्व, सुद्ध, अप्प, य, घेत्तव्व । **धातुसंज्ञ**—च्छिद छेदने, ग्गह उपादाने । **प्रातिपदिक**—जीव, बन्ध, च, तथा, स्वलक्षण, नियत, बन्ध, छेत्तव्य, शुद्ध, आत्मन्, गृहीतव्य । **मूलधातु**—छिदिर छेदने रुधादि, गिण्ह ग्रहणे । **पदविवरण**—जीवो जीवः—प्रथमा एकवचन । बन्धो बन्धः—प्रथमा एक० । य च—अव्यय । तह तथा—अव्यय । छिज्जंति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहु० कर्मवाच्य क्रिया । छिद्येते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष द्विवचन कर्मवाच्य क्रिया । सलक्खणेहिं—तृ० वहु० । स्वलक्षणाभ्यां—तृ० द्विवचन । णियएहिं—तृ० वहु० । नियताभ्यां—तृ० द्विवचन । बन्धो बन्धः—प्रथमा एक० । छेएदव्वो छेत्तव्यः—प्रथमा एक० । सुद्धो शुद्धः—प्रथमा ए० । अप्प आत्मा—प्रथमा एकवचन । य च—अव्यय । घेत्तव्वो गृहीतव्यः—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ २९५ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षणोंको जानकर प्रज्ञा द्वारा उन्हें अलग-अलग कर दिया जाता है । अब इस गाथामें बताया है कि आत्मा और बन्धको अलग-अलग करके क्या करना चाहिये ?

तथ्यप्रकाश—(१) स्वलक्षणविज्ञानसे आत्मा और बन्धको अलग-अलग परख लिया जाता है । (२) आत्मा तो मात्र उपयोगस्वरूप है । (३) बन्ध रागादि लक्षण वाला है । (४) आत्मा और बन्धको अलग-अलग करके बन्धको तो छोड़ देना चाहिये और मात्र सहज सिद्ध आत्माको उपयोगमें रखना चाहिये ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा और बन्धका भेदविज्ञान कल्याणका प्रारम्भ है । (२) बन्धको छोड़कर मात्र चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करना कल्याणलाभ है ।

दृष्टि—१- वैलक्षण्यनय (२०३) । २- शून्यनय (१७३) ।

प्रयोग—भेदविज्ञानसे उपयोगस्वरूप आत्माको और रागादि बन्धनको अलग-अलग जानकर उपयोगस्वरूप सहजात्मतत्त्वमें उपयोग लगाना ॥ २९५ ॥

स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ।। २६६ ।।

घिप्पए गृह्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । अप्पा आत्मा–प्रथमा एकवचन कर्मवाच्यमें कर्म । जह यथा–अव्यय । पण्णाइ प्रज्ञया–तृ० एक० करणकारक । विहत्तो विभक्तः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । तह तथा–अव्यय । पण्णाइ प्रज्ञया–तृ० एक० । एव–अव्यय । घित्तव्वो गृहीतव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ।। २६६ ।।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा और बन्धको अलग-अलग कर देनेका प्रयोजन शुद्ध आत्माका ग्रहण करना है । (२) प्रज्ञाके द्वारा ही आत्मा और बन्धको अलग-अलग किया जाता है । (३) प्रज्ञाके द्वारा ही शुद्ध आत्माको ग्रहण किया जाता है । (४) आत्मा और बन्धके छेदनकी तरह शुद्ध आत्माको ग्रहण करना भी एक प्रज्ञाकरणके द्वारा ही सम्भव है ।

सिद्धान्त––(१) ज्ञान द्वारा ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप आत्माको सुसिद्ध किया जाता है । (२) निर्विकल्प सम्वेदन द्वारा शाश्वत ज्ञानस्वभावमें उपयोग अभेदरूपसे रम जाता है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) । २– नियतिनय (१७७) ।

प्रयोग––ज्ञानमात्र आत्माको निरखकर इसी शाश्वत ज्ञानस्वभावमें उपयोगको लगाना व रमाना ।। २९९ ।।

प्रश्न—आत्माको प्रज्ञाके द्वारा किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? **उत्तर**—[**यः चेतयिता**] जो चेतनस्वरूप आत्मा है [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**सः तु**] वह ही तो [**अहं**] मैं हूं ऐसा [**प्रज्ञया**] प्रज्ञाके द्वारा [**गृहीतव्यः**] ग्रहण करना चाहिये [**अवशेषाः**] और अवशेष [**ये भावाः**] जो भाव हैं [**ते**] वे [**मम परा**] मुझसे पर हैं याने भिन्न हैं [**इति ज्ञातव्याः**] इस प्रकार जानना चाहिये ।

तात्पर्य—जो ज्ञानमात्र हूं, जाननहार हूं वही मैं हूं ऐसा अन्तः अनुभव करना ही आत्माको ग्रहण करना है ।

टीकार्थ—निश्चयसे जो निश्चित निजलक्षणको अवलम्बन करने वाली प्रज्ञाके द्वारा विभक्त किया गया जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है वही यह मैं हूं और जो ये अवशेष अन्य अपने लक्षणसे पहचानने योग्य व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी व्यापक आत्माके व्याप्यपनेमें नहीं आते हुए मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । इस कारण मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने ही लिये, अपनेसे ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूं । जो मैं निश्चयतः ग्रहण करता हूं वह आत्माकी चेतना ही एक क्रिया होनेसे मैं उस क्रियासे चेतता ही हूं, चेतता हुआ ही चेतता हूं, चेतते

चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये। किंतु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि ॥ भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते। चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं। भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि। भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥ ॥ २९७ ॥

गृहीतव्य, यत्, चेतयितृ, तत्, अस्मद्, तु, निश्चयतः, अवशेष, यत्, भाव, तत्, अस्मद्, पर, इति, ज्ञातव्य। **मूलधातु**—ग्रह उपादाने क्र्यादि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—पण्णाए प्रज्ञया–तृतीया एक०। घित्तव्वो गृहीतव्यः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। जो यः–प्रथमा एक०। चेदा चेतयिता–प्र० एक०। सो सः–प्रथमा एक०। अहं–प्र० एक०। तु–अव्यय। णिच्छयदो निश्चयतः–अव्यय पंचम्यर्थे। अवसेसा अवशेषाः–प्रथमा बहुवचन। जे ये–प्रथमा बहु०। भावा भावाः–प्र० बहु०। ते–प्र० बहु०। मज्झ मम–षष्ठी एक०। परा पराः–प्रथमा बहु०। इत्ति इति–अव्यय। णायव्वा ज्ञातव्याः–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया ॥ २९७ ॥

सब गुणपर्यायोंमें व्यापक ऐसे चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है। **भावार्थ**—इस चैतन्यभावसे अन्य अपने स्वलक्षणसे भेदे गये जो कुछ भी कारकभेद धर्मभेद और गुणभेद हैं तो रहें, शुद्ध चैतन्यमात्रमें कुछ भी भेद नहीं है। शुद्धनयसे आत्माको अभेदरूप चिन्मात्र अनुभवना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्माको प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करना चाहिये। अब इस गाथामें बताया है कि प्रज्ञाके द्वारा आत्मा किस ढंगसे ग्रहण किया जाता है।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रज्ञा नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करती है। (२) प्रज्ञासे जिस शुद्ध आत्माको विभक्त निरखा गया वह चैतन्यमात्र आत्मा मैं हूं, ऐसा प्रज्ञाके द्वारा सहज शुद्ध आत्मतत्त्वका ग्रहण किया जाता है। (३) प्रज्ञाके द्वारा ही यह निर्णीत किया गया कि चेतनालक्षणसे शून्य रागादिबन्धन मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वसे अत्यन्त भिन्न हैं। (४) आत्माके ग्रहणमें मैं ही मेरे द्वारा मेरे लिये मुझसे मुझमें अपनेको ग्रहण करता हूं। (५) आत्माको ग्रहण करनेका अर्थ है आत्माको चेतना। (६) मैं ही चेतता हूं। (७) मैं चेतता हुआ ही चेतता हूं। (८) मैं चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूं। (९) मैं चेतते हुएके लिये ही चेतता हूं। (१०) मैं चेतते हुएसे ही चेतता हूं। (११) मैं चेतते हुएमें ही चेतता हूं। (१२) मैं चेतते हुएको ही चेतता हूं। (१३) इस अभेदसंचेतनमें कारकभेद न होनेसे चेतन करना भी कुछ नहीं यह तो शुद्ध चिन्मात्र भाव ही हूं मैं।

सिद्धान्त—(१) प्रारम्भमें आत्माको अभिन्न कारकोंमें ग्रहण किया जाता है। (२)

पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि । किंतु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च—ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा—न जानामि, न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि न जानंतं जानामि । किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो

यत्, भाव, तत्, अस्मद्, पर, इति, ज्ञातव्य, ज्ञातृ । **मूलधातु**—ग्रह उपादाने, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—पण्णाए प्रज्ञया—तृतीया एक० करणकारक । घित्तव्वो गृहीतव्यः—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । जो यः—प्र० एक० । दट्ठा द्रष्टा—प्रथमा एक० । सो सः—प्र० एक० । अहं—प्र० ए० । तु—अव्यय । णिच्छयओ निश्चयतः—

तात्पर्य—समस्त पर व परभावसे विभक्त दर्शनज्ञानसामान्यात्मक अपनेको अनुभवना परमार्थतः आत्मद्रव्यका अनुभव है ।

टीकार्थ—चेतनाके दर्शन ज्ञानके भेदका उल्लंघन नहीं होनेके कारण चेतकत्वकी तरह दर्शकपना व ज्ञातापना आत्माका निज लक्षण ही है । अतः मैं देखने वाले आत्माको ग्रहण करता हूं, जो निश्चयसे ग्रहण करता हूँ सो देखता हूं, देखता हुआ ही देखता हूं, देखते हुएके द्वारा ही देखता हूं, देखते हुएके लिये ही देखता हूं, देखते हुएसे ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूं और देखते हुएको ही देखता हूं अथवा न देखता हूं, न देखता हुआ देखता हूं, न देखते हुएके द्वारा देखता हूं, न देखते हुएके लिये देखता हूं, न देखते हुएसे देखता हूं, न देखते हुएमें देखता हूं, न देखते हुएको देखता हूं । किन्तु मैं सर्वविशुद्ध एक दर्शनमात्र भाव हूं । तथा और भी…मैं ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं, जो ग्रहण करता हूं सो निश्चयसे जानता ही हूं, जानता हुआ भी जानता हुआ ही जानता हूं, जानते हुएसे ही जानता हूं, जानते हुएके लिये ही जानता हूं, जानते हुएसे ही जानता हूं, जानते हुएमें ही जानता हूं, जानते हुए को ही जानता हूं । अथवा नहीं जानता, न जानता हुआ जानता हूं, न जानते हुएके द्वारा जानता हूं, न जानते हुएके लिये जानता हूं, न जानते हुएसे जानता हूं, न जानते हुएमें जानता हूं, न जानते हुएको जानता हूं । किन्तु सर्वविशुद्ध एक जाननक्रियामात्र भाव मैं हूं । **भावार्थ**– इस तरह ज्ञानपर छह कारक भेदरूप लगाकर फिर अभेदरूप करनेको कारक भेदका निषेध कर ज्ञानमात्र अपना अनुभव करना ।

प्रश्न—चेतना दर्शन ज्ञान भेदको कैसे उल्लंघन नहीं करती कि जिससे आत्मा द्रष्टा ज्ञाता हो जावे । उत्तर—वास्तवमें चेतना प्रतिभासरूप है, ऐसी चेतना दोरूप-

अशुद्ध शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति
आश्रय—आशय	५८२–१३
चेतयितुनिमित्तकेन—चेतयितृनिमित्तकेन	५९१–६
लादि पर—लादि१र	५९२–२
पूर्वकृत—पूर्वकृतं	६१२–१
यास ण याणाए–यासं ण याणए	६३७–३
घम्माधम्मं—धम्माधम्मं	६३७–१०
मध्वसानं—मध्यवसानं	६३९–१३
त्वरूपं—स्वरूपं	६४३–१
गृहीतुँ—गृहीतृ	६४५–५
विहार्पा—विहार्पी	६५२–५

१३८वें पेज पर ६७वां कलश लिखना गाथा टीका के अन्त में ४०

घृतकुम्भाधिधानेपि कुम्भो घृतमयो न चेत्
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः ।। ४० ।।

२३०वें पेज पर १२५ गाथा टीका के अन्त में ६५वां कलश लिखें—

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स।
कर्ता ।। ६५ ।

अपनी बातचीत

अयि आत्मन् ! तू क्या है ? विचार ! ज्ञानमय पदार्थ !! तेरा इन दृश्योंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नहीं, नहीं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं ! क्यों नहीं ? यों कि "कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता"। मै ज्ञानमय आत्मा हूँ, हूँ, स्वयं हूं, इसीलिये अनादिसे हूँ, मैं किसी दिन हुआ होऊं, पहिले न था यह बात नहीं। न था तो फिर हो भी नहीं सकता। फिर ध्यान दे—इस नर जन्मसे पहिले तू था ही ! क्या था ? अनंतकाल तो निगोदिया था। वहां क्या बीती ? एक सेकिण्डमें २३ बार पैदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, आंख, कान, मन तो था ही नहीं और था शरीर। ज्ञानकी ओरसे देखो तो जड़सा रहा; महासंक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुर्दशासे निकला। पृथ्वी हुवा तो खोदा गया, कूटा गया, ताड़ा गया, सुरंगसे फोड़ा गया। जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, विलोरा गया, गर्म आग पर डाला गया। अग्नि हुआ, तब पानीसे, राखसे, धूलसे, बुझाया गया, खुदेरा गया। वायु हुआ, तब पंखोंसे, विजलियोंसे ताड़ा गया, रबर आदिमें रोका गया। पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब··· काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया। कीड़े भी तुम्हीं बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी ! बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवाइयाँ डाल डाल कर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोंसे, खुरोंसे दबोचा व मारा गया। बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दुःख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठंडों मरे, गर्मियों मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये। शूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोंको छुरी भोंककर। कहीं तो जिन्दा ही आग में भूने जाते हैं।

यह दूसरोंकी कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई ? मोह बढ़ाये; कषाय किये; खाने, पीने, विषयोंकी धुन रही; नाना कर्म बांधे; मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यसेवन किये। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला तब यहां भी मोहराग द्वेष विषय कषायकी ही बात रही। तब...जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर है। कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट्, महान् धन-पति होकर अनेक संपदा पाई परन्तु वह सभी संपदायें थीं तो असार और क्लेशकी कारण !! इतने पर भी उन्हें छोड़ कर मरना ही तो पड़ा ! अबतो पाया ही क्या ? न कुछ। न कुछमें व्यर्थलालसा रख कर क्यों अपनी सर्व हानि कर रहे हो ? आत्मन् ! तू स्वभावसे ज्ञान-मय है, प्रभु है, स्वतन्त्र है, सिद्ध परमात्मा की जाति का है। क्या कर रहा ? उठ, चल, अपने स्वरूपमें बस। तू अकेला है, अकेला ही पुण्य-पाप करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही शुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता। देख ! चेत ! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयं में आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है। वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमें मग्न होने की धुन रख। सोच तो यही सोच—परमात्माका स्वरूप...उसकी भक्ति में रह। लोगोंको सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच। बोल तो यही बोल—शुद्धात्माका गुण गान...इसकी स्तुतिमें रह। लोगों से बोल, तो हित, मित, प्रिय वचन बोल। कर, तो ऐसाकर जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बनाओ। तू शुद्ध चैतन्य स्वभावी है; सहजभावका अनुभव कर। जप, जपः—"शुद्धचिद्रूपोऽहम्"

शिवमस्तु

चेतनाभ्युपगंतव्या ॥ अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् । तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥१८३॥ एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषां । ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥ ॥ २९८-२९९ ॥

प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । णादा ज्ञाता–प्रथमा एकवचन । शेष पूर्ववत् ॥ २९८-२९९ ॥

त्यागने योग्य हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्माको चेतनेमात्रकी क्रियासे ग्रहण करना चाहिये । अब चूंकि चेतना दर्शन व ज्ञानरूप है सो द्रष्टापन व ज्ञातापनके रूपसे आत्माको ग्रहण करनेका विधान इस गाथामें बताया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चेतना दर्शन और ज्ञानरूप है । (२) आत्माका लक्षण जैसे चेतयितापन है, ऐसे ही द्रष्टापन व ज्ञातापन स्वलक्षण ही है । (३) चेतना सामान्यविशेषात्मक है । (४) चेतनासामान्य दर्शन है । (५) चेतनाविशेष ज्ञान है । (६) आत्मा यदि दर्शनज्ञानस्वरूप न हो तो सामान्यविशेषात्मकता न होनेसे चेतनाका अस्तित्व ही संभव नहीं है । (७) चेतनाका अभाव होनेपर चेतन अचेतन हो जायगा अथवा चेतनका ही अभाव हो जायगा यह आपत्ति आती है । (८) चेतना दर्शनज्ञानात्मिका ही होती है । (९) मैं द्रष्टा आत्माको ग्रहण करता हूं सो कैसा ? मैं देखता ही हूं । (१०) देखता हुआ ही मैं देखता हूं । (११) देखते हुएके द्वारा ही देखता हूं । (१२) देखते हुएके लिये ही देखता हूं । (१३) देखते हुएसे ही देखता हूं । (१४) देखते हुएमें ही देखता हूं । (१५) देखते हुएको ही देखता हूं । (१६) इस अभेदसंदर्शनमें कारकभेद न होनेसे देखना भी कुछ नहीं, यह तो सर्वविशुद्ध दृशिमात्र भाव ही हूं मैं । (१७) मैं ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं सो कैसा ? मैं जानता ही हूं । (१८) जानता हुआ ही मैं जानता हूं । (१९) जानते हुएके द्वारा ही जानता हूं । (२०) जानते हुएके लिये ही जानता हूं । (२१) जानते हुएसे ही मैं जानता हूं । (२२) जानते हुएमें ही जानता हूं । (२३) जानते हुएको ही जानता हूँ । (२४) यह अभेदसंज्ञान कारकभेद न होनेसे जानना भी कुछ नहीं, यह तो सर्वविशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ मैं । (२५) दर्शनज्ञानात्मिका चेतनाके अतिरिक्त अन्य सर्व भाव हेय ही हैं ।

सिद्धान्त—(१) प्रारम्भमें आत्माको अभिन्न कारकोंमें देखा जाता है । (२) आत्मग्रहणका अभ्यास हो चुकनेपर आत्माका अभेदानुभव होता है ।

विविधा भावा पृथग्लक्षणाः तेऽहंनास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥ परद्रव्य-ग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् । बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥१८६॥ ॥३००॥

वचन क्रिया । बुहो बुधः–प्रथमा एक० । णाउं ज्ञात्वा–कृदंत असमाप्तिकी सम्बंधार्थक्रिया प्रक्रिया, अव्यय । सव्वे सर्वान् पराइए परकीयान् भावे भावान्–द्वितीया बहु० । मज्झं मम–षष्ठी एक० । इणं इदम्–प्रथमा एक० । इति–अव्यय । वयणं वचनं–द्वितीया एक० कर्मकारक । जाणंतो जानन्–प्र० एक० कृदन्त कर्त्रर्थ-प्रक्रिया । अप्पयं आत्मानं–द्वि० एक० । सुद्धं शुद्धं–द्वितीया एकवचन ॥ ३०० ॥

भी समस्त परद्रव्यको अपना नहीं बनाता, अपने निज भावको ही अपने जान अनुभवता है ।

अब इसी अर्थको कलशरूपमें कहते हैं—**सिद्धांतो** इत्यादि । **अर्थ**—उदात्त चित्तके चरित्र वाले मोक्षके इच्छुक पुरुष इस सिद्धान्तका सेवन करें कि मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूं और जो ये अनेक प्रकारके भिन्न लक्षणरूप भाव हैं वे मैं नहीं हूं, क्योंकि वे सभी भाव मेरे लिये परद्रव्य हैं । **भावार्थ**—स्वरूप निरखकर सदा ऐसा अनुभव करना चाहिये कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें बताया गया था कि प्रज्ञासे दर्शनज्ञानात्मिका चेतना ही ग्रहण करना चाहिये, चेतनाके अतिरिक्त अन्य सभी भाव हेय हैं । अब इस गाथामें उन्हीं अन्य सर्व भावोंको हेयताका समर्थन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो आत्मा व परके नियत स्वलक्षण विभागमें पड़े, वह प्रज्ञा है । (२) प्रज्ञा द्वारा जो स्व-परका विभाग कर स्वको स्वरूपसे, परको पररूपसे जाने वह ज्ञानी है । (३) ज्ञानी एक चिन्मात्र भावको आत्मस्वरूप जानता है । (४) ज्ञानी चेतनातिरिक्त सर्व भावोंको परकीय जानता है । (५) स्वकीय व परकीय भावोंको जानता हुआ ज्ञानी पर-भावोंको अपना मान ही नहीं सकता । (६) पर व आत्मामें निश्चयसे स्वस्वामीसम्बन्ध रंच भी नहीं है । (७) सर्व उपायोंसे चैतन्यभाव ही ग्रहण किया जाने योग्य है । (८) चेतनाति-रिक्त सर्वभाव छोड़ने योग्य ही हैं ।

सिद्धान्त—(१) मुझमें परपदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी नहीं है । (२) मुझमें स्वका ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है ।

दृष्टि—१– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक-नय (२८) ।

प्रयोग—परकीयभावको पर जानकर उनसे उपयोग हटाना और निज शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूपको आत्मस्वरूप जानकर इस निज अन्तस्तत्त्वमें उपयोग लगाना ॥३००॥

करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवति इति नियमः।

गतौ। **प्रातिपदिक**—स्तेयादि, अपराध, यत्, तत्, तु, शंकित, मा, किम्, अपि, चौर, इति, जन, विचरत्, यत्, न, अपराध, तत्, निःशङ्क, तु, जनपद, न, अपि, तत्, यत्, चिन्ता, कदाचित्, एवं, हि, सापराध, अस्मद्, तु, शङ्कित, चेतयितृ, यदि, पुनर्, निरपराध, निःशङ्क, अस्मद्, न। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भ्रमु चलने, बन्ध बंधने, उत् पद गतौ। **पदविवरण**—थेयाई स्तेयादीन्–द्वितीया बहुवचन। कुव्वदि करोति–

जो पुरुष [**स्तेयादीन् अपराधान्**] चोरी आदि अपराधोंको [**करोति**] करता है [**स तु**] वह [**जने विचरन्**] लोकमें विचरता हुआ मैं [**चोर इति**] चोर हूँ, ऐसा ज्ञात हुआ मैं [**केनापि मा बध्ये**] किसीके द्वारा पकड़ा न जाऊँ [**शंकितो भ्रमति**] इस प्रकार शंकासहित हुआ भ्रमण करता है [**यः**] जो [**अपराधान्**] कोई भी अपराध [**न करोति**] नहीं करता [**स तु**] वह पुरुष [**जनपदे**] देशमें [**निःशंकः भ्रमति**] निःशङ्क घूमता है [**यत्**] क्योंकि [**तस्य**] उसके [**बद्धुं चिंता**] बँधनेकी चिंता [**कदाचित् अपि**] कभी भी [**न उत्पद्यते**] नहीं उत्पन्न होती। [**एवं**] इसी प्रकार [**सापराधः**] अपराधसहित होता हुआ [**तु**] तो [**अहं**] मैं बँधूंगा ऐसा [**शङ्कितः**] शङ्कायुक्त [**चेतयिता**] आत्मा भ्रमण करता है [**यदि पुनः**] और यदि [**निरपराधः**] निरपराध रहूँ तो [**अहं**] मैं [**न बध्ये**] नहीं बँधूंगा। ऐसा [**निशंकः**] निःशङ्क रहता है।

तात्पर्य—मोह-राग-द्वेषरूप अपराध करने वाला जीव ही बँधता है, आत्मोपासक निरपराध आत्मा नहीं बँधता।

टीकार्थ—जैसे इस लोकमें जो पुरुष परद्रव्यको ग्रहण करनेके अपराधको करता है, उसीके बंधकी शङ्का होती है। और जो अपराध नहीं करता है उसके शङ्का सम्भव ही नहीं है। उसी प्रकार आत्मा भी जो ही अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यको ग्रहण करनेरूप अपराधको करता है, उसीके बन्धकी शङ्का होती है। परन्तु जो आत्मा शुद्ध हुआ उस अपराधको नहीं करता उसके वह शङ्का नहीं होती, यह नियम है। इस कारण सर्वथा समस्त परद्रव्यके भाव के त्याग द्वारा शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेपर ही निरपराधपना होता है।

भावार्थ—यदि कोई चोरी आदि अपराध करे तो उसको बँधनेकी शङ्का हो, निरपराधके शङ्का क्यों हो? उसी प्रकार यदि आत्मा परद्रव्यको ग्रहण करनेका अपराध करे तो उसको बन्धकी शङ्का होती ही है, यदि अपनेको शुद्ध अनुभवे, परको नहीं ग्रहण करे तो बँध की शङ्का कैसे हो? इस कारण परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण करनेसे ही जीव निरपराध होता है, ऐसा जानकर आत्माराधना करके निरपराध होओ।

को हि नामायमपराधः ?—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥ (युग्मम्)

संसिद्धि राध साधित, आराधित सिद्ध सर्व एकार्थक।
जो जीव राध अपगत, सो आत्मा है निरपराधी ॥३०४॥
जो जीव निरपराधी, वह निःशंक निःशल्य हो जाता।
निजको निज लखता यह, लगता आत्मानुराधनमें ॥३०५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थं। अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः॥ ३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति। आराधनया नित्यं वर्तते, अहमिति जानन् ॥ ३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः, अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधस्तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स

नामसंज्ञ—संसिद्धिराधसिद्ध, साधिय, आराधिय, च, एयट्ठ, अवगयराध, ज, खलु, चेया, त, अवराध, ज, पुण, णिरवराध, चेया, णिस्संकिअ, उ, त, आराहणा, णिच्चं, अम्ह, ति, जाणंत। **धातुसंज्ञ**—

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २—निमित्तदृष्टि, निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (५३अ, २०१)।

प्रयोग—निःशङ्क निर्बन्ध रहनेके लिये परद्रव्य व परभावके ग्रहणका अपराध नहीं नहीं करके स्वभावमें उपयुक्त होना॥ ३०१-३०३॥

प्रश्न—यह अपराध क्या है? **उत्तर**—[**संसिद्धिराधसिद्धं**] संसिद्धि, राध, सिद्ध [**साधितं च आराधितं**] साधित और आराधित [**एकार्थं**] ये एकार्थ शब्द हैं। [**यः खलु चेतयिता**] जो आत्मा [**अपगतराधः**] राधसे रहित हो [**सः**] वह आत्मा [**अपराधः भवति**] राधरहित याने अपराधी है [**यः पुनः**] और जो [**चेतयिता**] आत्मा [**निरपराधः**] अपराधरहित है [**सः तु**] वह [**निःशंकितः**] शंकारहित [**भवति**] है और सहजस्वरूप अपनेको [**अहं इति**] मैं हूं ऐसा [**जानन्**] जानता हुआ [**आराधनया**] आराधना द्वारा [**नित्यं वर्तते**] हमेशा वर्तता है।

तात्पर्य—आत्माकी दृष्टि न होना अपराध है, ऐसा अपराध करने वाला ही संसारमें

निरपराधो बंधनं नैव जातु । नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥ ॥ ३०४-३०५ ॥

एयट्ठ एकार्थ–प्रथमा एक० । अवगयराधो अपगतराधः–प्र० ए० । जो यः–प्र० ए० । खलु–अव्यय । चेदा चेतयिता–प्र० ए० । सो सः–प्र० ए० । होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । अवराधो अपराधः–प्र० ए० । णिरावराधो निरपराधः–प्र० ए० । णिस्संकिओ निःशंकितः–प्र० ए० । आराहणाइ आराधनया–तृतीया एक० । णिच्चं नित्यं–अव्यय । वट्टेइ वर्तते–प्र० एक० । अहं–प्र० एक० । ति इति–अव्यय । जाणंतो जानन्–प्रथमा एकवचन ॥ ३०४-३०५ ॥

भावार्थ–जो आत्मा अपनेको सहज अविकार स्वरूप निरखता है वह निरपराध है व निर्बन्ध है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रयमें बताया था कि अपराधी जीव सशंक होता हुआ कर्मबद्ध हो जाता है और निरपराध आत्मा निःशंक और अबन्ध रहता है । अब उसी अपराधके विषयमें इन दो गाथावोंमें बताया गया है कि वह अपराध क्या है और निरपराध की स्थिति क्या होती है ?

तथ्यप्रकाश—(१) राध आत्मसिद्धिको कहते हैं । (२) जिसके राध नहीं है उस भावको अपराध कहते हैं । (३) राधके इतने और नाम भाव समझनेके लिये जानना— १– संसिद्धि, २– सिद्धि, ३– साधन व ४– आराधना । (४) विभावपरिणामरहित निर्विकल्प-समाधिमें स्थित होकर निज शुद्धात्माकी उपलब्धि होना संसिद्धि है । (५) परद्रव्यका परिहार करके शुद्ध आत्मामें मग्नता होना सिद्धि है । (६) सर्वविकारभावोंसे हटकर शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी सेवा करना साधन है । (७) विकारभावका परिहार करके शुद्ध चित्स्वरूप आत्माकी उपासना करना आराधना है । (८) जिसके परद्रव्यका ग्रहण है, परभावमें आत्मरूपकी मान्यता है उसके शुद्धात्मसिद्धिका अभाव है । (९) जिसके शुद्धात्मसिद्धि नहीं है वह सापराध है । (१०) सापराधके सदैव बन्धशङ्का रहती है व बन्ध होता है, क्योंकि वह शुद्धात्मतत्त्वका अनाराधक है । (११) जो समग्र परद्रव्योंका परिहार करता है उसके शुद्धात्मसिद्धि होती है । (१२) जिसके शुद्धात्मसिद्धि है उसके बन्धशङ्काकी असंभवता है, क्योंकि उसके ज्ञानमात्र शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी उपासना बनी रहनेसे वह आराधक ही है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आराधक शुद्धात्मसेवी निरपराध हैं । (२) अशुद्ध सोपाधि सविकार आत्माकी सेवा करने वाले सापराध हैं । (३) निरपराध आत्मा निर्बन्ध होते हैं । (४) सापराध जीव अनन्त कर्मोंको बाँधते हैं ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ३– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । ४– परकर्तृत्व असद्भूत व्यवहार (१२९) ।

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च । निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ।।३०६।।
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव । अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ।।३०७।।

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुम्भ एव किं तस्य विचारेण । यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाऽप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात् । अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकष-

---

असोहि, अमयकुंभ । **धातुसंज्ञ**—पडि-क्कम पादविक्षेपे, पडि-सर गतौ, पडि-हर हरणे, नि इ गतौ, निंद निंदायां, गरह निन्दायां, सुज्झ नैर्मल्ये । **प्रातिपदिक**—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, च, निन्दा, गर्हा, शुद्धि, अष्टविध, विषकुम्भ, अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, अशुद्धि, अमृतकुम्भ । **मूलधातु**—प्रति क्रमु पादविक्षेपे भ्वादि, प्रति सृ गतौ भ्वादि, जुहो-

---

अनिंदा अगर्हा] अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा **[च एव]** और **[अशुद्धिः]** अशुद्धि यह आठ प्रकार का **[अमृतकुम्भः]** अमृतकुंभ है ।

तात्पर्य—विकल्परत रहना विषकुम्भ है, स्वभावरत रहना अमृतकुम्भ है ।

टीकार्थ—वास्तवमें अज्ञानी जनोंमें साधारणतया पाया जाने वाला जो अप्रतिक्रमणादि है वह शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाव वाला होनेके कारण स्वयमेव अपराधरूप होनेसे विषकुम्भ ही है; उसका विचार करनेका प्रयोजन ही क्या है ? क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं किन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि है वह समस्त अपराधविषदोषको हटानेमें समर्थ होनेसे अमृतकुंभ होनेपर भी प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमिकाको न देखने वाले पुरुषको वह द्रव्य-प्रतिक्रमणादि अपराध काटने रूप अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे विपक्ष अर्थात् बंधका कार्य करने वाला होनेसे विषकुम्भ ही है । परंतु अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करने वाली होनेसे साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है । और, इस प्रकार वह तीसरी भूमि व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिके भी अमृतकुम्भपना साधती है । और उस तीसरी भूमिसे ही आत्मा निरपराध होता है । उस तीसरी भूमिके अभावमें द्रव्य-प्रतिक्रमणादि अपराध ही है । इस कारण तीसरी भूमिसे ही निरपराधत्व है यह सिद्ध होता है । उसको प्राप्तिके लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि है । ऐसा होनेसे यह नहीं मानना कि निश्चयनयका शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादिको छुड़ाता है । किन्तु मात्र द्रव्यप्रतिक्रमणादि द्वारा छुड़ा नहीं देता, इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे अगोचर अप्रतिक्रम-

चात्रैव—कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमरणेयवित्थरविसेसं । तत्तो रिणयत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकम्मणं । इत्यादि । अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां । प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालंबनं । आत्मन्येवालानितं चित्तमासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥ यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् । तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥ प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः कषायभरगौरवादलसता

धारणा णियत्ती निवृत्तिः णिंदा निन्दा गरहा गर्हा सोही शुद्धिः अट्ठविहो अष्टविधः विसकुंभो विषकुंभः—प्रथमा एकवचन । होइ भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । अप्पडिक्कमणं अप्रतिक्रमणं अप्पडिसरणं

अज्ञानावस्थामें जो अप्रतिक्रमणादिक थे उनका तो कथा ही क्या ? वे तो विषकुम्भ हैं ही । यहाँ तो जो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक शुभप्रवृत्तिरूप थे, उनका एकांत पक्ष छुड़ानेको उन्हें विषकुम्भ कहा है, क्योंकि शुभप्रवृत्तियाँ कर्मबन्धकी ही कारण हैं । अप्रतिक्रमण व प्रतिक्रमणसे रहित जो तीसरी भूमि शुद्ध आत्मस्वरूप है वह अमृतकुम्भ कहा गया है, उस भूमिमें चढ़नेको उपदेश किया है । प्रतिक्रमणादिकको विषकुम्भ सुनकर जो प्रमादी होता है उसको कहते हैं कि यह जन नीचे नीचे क्यों गिरता है तीसरी भूमिमें ऊँचा-ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता ?

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये काव्य कहते हैं—**प्रमाद** इत्यादि । **अर्थ**—प्रमादयुक्त आलस्य भाव कैसे शुद्ध भाव हो सकता है ? क्योंकि कषायके बोझके गौरवसे हितकार्यमें आलस्य होना ही तो प्रमाद है । इस कारण आत्मीकरससे भरे स्वभावमें निश्चल हुआ मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है और थोड़े समयमें ही कर्मबन्धसे छूट जाता है । **भावार्थ**—प्रमाद तो कषायकी प्रचुरतासे होता है, इसलिये प्रमादीके शुद्धभाव नहीं होते । जो मुनि उद्यम करके स्वभावमें प्रवर्तता है वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त होता है ।

अब मुक्त होनेका अनुक्रम काव्यमें कहते हैं—**त्यक्त्वा** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष निश्चयसे अशुद्धताके करने वाले सब परद्रव्योंको छोड़कर स्वयं अपने निजद्रव्यमें लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सब अपराधोंसे रहित हुआ बंधके नाशको प्राप्त होकर नित्य उदयरूप हुआ अपने स्वरूपके प्रकाशरूप ज्योतिसे निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृतका प्रवाह उससे जिसकी महिमा पूर्ण है, ऐसा शुद्ध होता हुआ कर्मोंसे छूटता है । **भावार्थ**—मुमुक्षु पहले तो समस्त परद्रव्यका त्यागकर अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता है, सो सब रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बंधका नाश करता है सो फिर नित्य उदयरूप केवलज्ञानको पाकर शुद्ध होकर समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षको प्राप्त करता है । यही मोक्ष होनेकी रीति है । इस तरह मोक्षकी विधि बताकर मोक्षाधिकार पूर्ण किया जा रहा है ।

महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ।।१६१।। बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतत् नित्योद्योतस्फुटित-सहजावस्थमेकांतशुद्धं । एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ।।१६२।। इति मोक्षो निष्कांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः ।। ८ ।।

अगर्हा सोही शुद्धिः अमयकुंभो अमृतकुंभः—प्रथमा एकवचन ।। ३०६-३०७ ।।

पुरुषोंको बन्धकारी होनेसे विषकुम्भ है । ८– तृतीयभूमिका अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमणरूप वीतराग अप्रतिक्रमण स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूप होनेसे सर्वदोषोंको समूल नष्ट करता है अतः यह ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण साक्षात् अमृतकुम्भ है । ९– ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमणका संबंध हो तो द्रव्यप्रतिक्रमण भी अमृतकुम्भ कहलाता है । १०– वास्तवमें आत्मा ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमणरूप तृतीय भूमिका द्वारा ही निरपराध होता है । ११– तृतीय भूमिकाके अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमणके अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमण भी अपराध ही है । १२– द्रव्यप्रतिक्रमण तृतीय-भूमिकाके लिये अर्थात् निर्विकल्प समाधिके लिये ही किया जाता है । १३– चरणानुयोगमें द्रव्यप्रतिक्रमणको अमृतकुम्भ कहा है वह एक विधानकी दृष्टिसे युक्त है, किन्तु निश्चयप्रतिक्र-मणके बिना मात्र द्रव्यप्रतिक्रमणसे मुक्ति नहीं है यह तथ्य भी साथ-साथ जानना । १४– प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणका अगोचर अप्रतिक्रमणरूप शुद्धात्मसिद्धिलक्षण निश्चयप्रतिक्रमण ही अलौकिक सिद्धि प्रदान करता है । १५– उक्त १४ बातें प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा व शुद्धिके विषयमें भी घटित करना ।

सिद्धान्त—१– ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण शुद्धात्मतत्त्वकी परम अभेद आराधना है । २– अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण विकारोंमें अभेदबुद्धिरूप है ।

दृष्टि—१– शुद्धनय (४९) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमणको सर्वथा छोड़कर सरागचारित्रसे गुजर कर प्रतिक्रमणादि करते हुए निश्चयप्रतिक्रमणमें विहार कर प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण आदि सर्व विकल्पोंके अगोचर परमोपेक्षासंयममें रहनेका पौरुष करना ।। ३०६-३०७ ।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसार व उसकी श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित
समयसारव्याख्या आत्मख्यातिकी सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीकामें
मोक्षप्ररूपक आठवां अंक समाप्त हुआ ।

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पंजंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥ (चतुष्कम्)

जो द्रव्य जिन गुणोंमें, परिणमता वह अनन्य उनसे ।
त्यौं कटकादि दशावों-से अनन्य है सुवर्ण यहां ॥३०८॥
जीव व अजीवकी जो, परिणतियां हैं बताइ ग्रन्थोंमें ।
उनसे अनन्य जानो, उस जीव अजीव वस्तूको ॥३०९॥
नहिं उत्पन्न किसीसे, इस कारण कार्य है नहीं आत्मा ।
उत्पन्न नहीं करता, परको इससे न कारण वह ॥३१०॥
कर्मोंको आश्रय कर, कर्ता कर्ताको कर्म आश्रय कर ।
होते उत्पन्न यहां, जानो नहिं अन्यथा सिद्धी ॥३११॥

कज्ज, ण, त, त, अत्त, ण, किंचि, वि, कारण, अवि, ण, त, कम्म, कत्तार, तह, कम्म, य, णियम, सिद्धि, दु, ण, अण्णा । धातुसंज्ञ—पज्ज गतौ, जाण अवबोधने, हो सत्तायां, पडि इ गतौ, दिस प्रेक्षणे । **प्रातिपदिक**—द्रव्य, यत्, गुण, तत्, तत्, अन्यत्, यथा, कटकादि, तु, पर्यय, कनक, अनन्यत्, इह, जीव, अजीव,

---

अब आत्माका अकर्तापन दृष्टान्तपूर्वक प्रसिद्ध करते हैं—[**यत् द्रव्यं**] जो द्रव्य [**गुणैः**] जिन गुणोंसे [**उत्पद्यते**] उपजता है [**तत्**] वह [**तैः**] उन गुणोंसे [**अनन्यत्**] अनन्य [**जानीहि**] जानो, [**यथा**] जैसे [**इह**] लोकमें [**कनकं**] सुवर्ण [**कटकादिभिः**] अपने कटक कड़े आदि [**पर्यायैः**] पर्यायोंसे [**अनन्यत् तु**] अनन्य है याने कटकादि है वह सुवर्ण ही है । उसी तरह [**जीवाजीवस्य तु**] जीव और अजीवके [**ये परिणामाः तु**] जो परिणाम [**सूत्रे दर्शिताः**] सूत्र में कहे हैं [**तैः**] उन परिणामोंसे [**तं जीवं अजीवं वा**] उस जीव अजीवको [**अनन्यं**] अनन्य [**विजानाहि**] जानो याने जो परिणाम हैं वे द्रव्य ही हैं । [**यस्मात्**] जिस कारण [**स आत्मा**]

कार्यकारण भावो न सिद्धयति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् । तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्धयति । तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्धयति, अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते । अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति

सिद्धि, तु, न, अन्या । **मूलधातु**—उत् पद गतौ, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, प्रति इण् गतौ, दृशिर् प्रेक्षणे । **पदविवरण**—दवियं द्रव्यं–प्रथमा एकवचन । दु तु–अव्यय । पज्जएहिं पर्यायैः–तृतीया बहुवचन । कणयं कनकं–प्रथमा एक० । अणण्णं अनन्यं–प्रथमा एक० । इह–अव्यय । जीवस्स जीवस्य अजीवस्स अजीवस्य–षष्ठी एक० । दु तु–अव्यय । जे ये परिणामा परिणामाः–प्रथमा बहु० । देसिया देशिताः–प्रथमा बहु० । सुत्ते सूत्रे–सप्तमी एक० । तं जीवं अजीवं–द्वितीया एक० । तेहिं तैः–तृ० बहु० । अणण्णं अनन्यं–द्वितीया एक० । वियाणाहि विजानीहि–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । ण न–अव्यय । कुदोचि कदाचित्–अव्यय । वि अपि ण न ण न ण न य च दु तु ण न–अव्यय । उप्पण्णो उत्पन्नः–प्रथमा एक० । जम्हा यस्मात्–पंचमी एक० । कज्जं कार्यं–प्रथमा एकवचन । तेण तेन–तृ० एक० । आदा आत्मा–प्र० एक० । उप्पादेदि उत्पादयति–वर्तमान लट् प्रथम पुरुष एकवचन णिजन्त क्रिया । किंचि किंचित्–अव्यय । कारणं–

परिणाम ही जीवके कर्म हैं । इसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है उसके परिणाम उसके कर्म हैं । इस प्रकार जीव अन्यके परिणामोंका अकर्ता है ।

अब इस अर्थके कलशरूप काव्यमें जीव अकर्ता है तो भी इसके बंध होता है यह अज्ञानकी महिमा है ऐसा कहते हैं—**अकर्ता** इत्यादि । **अर्थ**—इस तरह अपने निज रससे विशुद्ध और स्फुरायमान चैतन्यज्योतिसे व्याप्त हुआ है लोकका मध्य जिसके द्वारा ऐसा यह जीव अकर्ता स्थित है तो भी इसके इस लोकमें प्रकट कर्म प्रकृतियोंसे बंध होता है, सो यह निश्चयतः अज्ञानकी ही कोई गहन महिमा है । **भावार्थ**—जिसका ज्ञान सब ज्ञेयोंमें व्यापने वाला है ऐसा यह जीव शुद्धनयसे अकर्ता ही है तो भी इसके कर्मका बंध होता है यह कोई अज्ञानकी बड़ी करतूत है ।

प्रसंगविवरण—"भूयत्थेणाभिगया" इत्यादि अधिकार गाथामें कथित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष इन नव पदार्थोंका वर्णन किया जा चुका । अब अन्तमें समयसारके लक्ष्यभूत सर्वविशुद्ध ज्ञानका वर्णन करनेके लिये सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार नामका अंतिम अधिकार आया है । इसमें सर्वप्रथम दृष्टान्तपूर्वक आत्माका अकर्तृत्व प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणामोंसे (पर्यायोंरूपसे) उत्पद्यमान होता रहता है । २– परिणाम दो प्रकारके होते हैं—(१) सहनियमित परिणाम, (२) क्रमनियमित परिणाम । ३–सहनियमित परिणाम गुणोंको याने शक्तियोंको कहते हैं, क्योंकि अनंत

卐 आत्मरमण 卐

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ॥ टेक ॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन० ॥१ ॥

हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं ॥
परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन० ॥२॥

आऊं उतरूं रमलूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या ॥
निज अनुभवरससे सहजतृप्त, मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन० ॥ ३ ॥

मंगलतंत्र

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूं ।
मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।
मैं सहज आनन्दमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयंतृप्त हूं ।
ॐ नमः शुद्धाय ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

卐 आत्म कीर्तन 卐

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक॥
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ॥
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ॥
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

चेया उ पयडीयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥ (युग्मम्)

आत्मा प्रकृतिके निमित, उपजता विनशता तथा ।
प्रकृति भी जीवके निमित, उपजती विनशती तथा ॥३१२॥
होता यों बन्ध दोनोंका, परस्परके निमित्तसे ।
आत्मा तथा प्रकृतिके, होता भव इस बन्धसे ॥३१३॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते । विनश्यति प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् । आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पादविनाशावासादयति । प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्त-

नामसंज्ञ—चेया, उ, पयडियट्ठं, पयडि, वि, चेययट्ठं, एवं, बन्ध, उ, दु, पि, अणण्णोणपच्चय, अप्प, पयडि, य, संसार, त । **धातुसंज्ञ**—उव पज्ज गतौ, वि नस्स नाशे, हव सत्तायां, जा प्रादुर्भावे । **प्रातिपदिक**—चेतयितृ, तु, प्रकृत्यर्थ, प्रकृति, अपि, चेतकार्थ, एवं, बंध, तु, द्वि, अपि, अन्योन्यप्रत्यय, आत्मन्, प्रकृति, च, संसार, तत् । **मूलधातु**—उत् पद गतौ, वि णस अदर्शने दिवादि, भू सत्तायां, जनी

रागादि अपराधको अन्तर्दृष्टिके बलसे दूर करना और सर्वविशुद्ध ज्ञानभावमें आपा अनुभवना ॥ ३०८-३११ ॥

अब इस अज्ञानकी महिमाको प्रकट करते हैं:—[**चेतयिता तु**] चेतयिता आत्मा तो [**प्रकृत्यर्थं**] ज्ञानावरणादि कर्मकी प्रकृतियोंके निमित्तसे [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**विनश्यति**] तथा विनाशको प्राप्त होता है और [**प्रकृतिरपि**] प्रकृति भी [**चेतकार्थं**] चेतक आत्माके लिये [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होती है [**विनश्यति**] तथा विनाशको प्राप्त होती है । [**एवं**] इस तरह [**आत्मनः च प्रकृतेः**] आत्मा और प्रकृति [**द्वयोः**] दोनोंके [**अन्योन्यप्रत्ययात्**] परस्पर निमित्तसे [**बंधः**] बंध होता है [**च तेन**] और उस बंधसे [**संसारः जायते**] संसार उत्पन्न होता है ।

तात्पर्य—जीव और अजीवकर्ममें परस्पर कर्ता-कर्मभाव तो नहीं है, किन्तु दोनोंके विकारपरिणमनमें वे दोनों परस्पर एक दूसरेके निमित्तभूत हैं ।

टीकार्थ—यह आत्मा अनादि संसारसे ही अपने और बंधके पृथक्-पृथक् लक्षणका

जा एसो पयडीयट्ठं चेया गोव विमुंचए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ ॥३१४॥
जया विमुञ्चए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

प्राकृतिक इन तंत्रोंको, जब तक जीव न छोड़ता ।
अज्ञानी बना तब तक, मिथ्यादृष्टी असंयमी ॥३१४॥
जब छोड़ देता आत्मा, अनन्त सब कर्मफल ।
तब निर्बन्ध हो होता, ज्ञायक दर्शक व संयमी ॥३१५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति । अज्ञायको भवेत्तान्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥
यदा विमुचति चेतयिता कर्मफलमनंतकं । तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुञ्चति तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति । स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

नामसंज्ञ—जा, एत, पयडीयट्ठं, चेया, ण, एव, अयाणअ, ताव मिच्छाइट्ठि, असंजअ, जया, चेया, कम्मप्फल, अणंतय, तया, विमुत्त, जाणअ, पासअ, मुणि । **धातुसंज्ञ**—वि-मुंच त्यागे, हव सत्तायां । **प्राति-**

बंधनसे संसार देखा जाता है । (११) इसी बंध और संसार होनेके कारण जीव और प्रकृतिके कर्तृकर्मत्वका व्यवहार होता है । (१२) निश्चयसे जीव और प्रकृतिमें कर्तृकर्मत्व नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मोदयविपाकके सान्निध्यमें जीव विकाररूप परिणमता है । (२) जीवके विकारभावके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २- निमित्तदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—भेदविज्ञानके अभावसे यह सब कर्मबन्धन व संसारसंकट हो रहा है यह जानकर आत्मस्वभाव और कर्मस्वभावके लक्षणका यथार्थ परिचय प्राप्त करना ॥३१२-३१३॥

अब कहते हैं कि जब तक आत्मा प्रकृतिके सिमित्तसे उपजना विनशना न छोड़े तब तक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंयत है—[**एष चेतयिता**] यह आत्मा [**यावत्**] जब तक [**प्रकृत्यर्थं**] प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना [**नैव विमुञ्चति**] नहीं छोड़ता [**तावत्**] तब तक [**अज्ञायकः**] अज्ञानी, [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**असंयतः**] असंयमी [**भवेत्**] है । [**यदा**] और जब [**चेतयिता**] आत्मा [**अनंतकं**] अनन्त [**कर्मफलं**] कर्मफलको [**विमुञ्चति**] छोड़ देता है [**तदा**] उस समय [**विमुक्तः**] बन्धसे रहित, [**ज्ञायकः दर्शकः**] ज्ञाता, द्रष्टा [**मुनिः**

विभागपरिणत्या च संयतो भवति तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ॥
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः । अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥१९६॥
॥ ३१४-३१५ ॥

अयाणओ अज्ञायकः–प्र० ए० । हवे भवेत्–विधिलिङ् अन्य पुरुष एक० । मिच्छाइट्ठी मिथ्यादृष्टिः–प्रथमा एक० । असंजओ असंयतः–प्र० ए० । कम्मप्फलं कर्मफलं–द्वितीया एक० । अणंतयं अनंतकं–द्वितीया एक० । विमुत्तो विमुक्तः–प्र० ए० । हवइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जाणओ ज्ञायकः पासओ दर्शकः मुणी मुनिः–प्रथमा एकवचन ॥ ३१४-३१५ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व छन्दोंमें बताया गया था कि जीव भेदविज्ञानके अभावसे प्रकृतिके निमित्त अपना विचित्र उत्पाद विनाश करता हुआ बद्ध और संसारी बनता है । अब इन दो छन्दोंमें बताया है कि यह जीव जैसे ही कर्मफलको छोड़ देता है वैसे ही यह ज्ञाता द्रष्टा संयमी निर्बन्ध होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जब तक जीवके आत्मस्वभाव व कर्मस्वभावके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है तब तक जीव रागादिकर्मोदयरूप प्रकृत्यर्थको नहीं छोड़ता है । (२) जब तक जीव प्रकृत्यर्थको नहीं छोड़ता तब तक वह रागादिरूप अपनेको श्रद्धान करनेसे मिथ्यादृष्टि है । (३) जब तक जीव प्रकृत्यर्थको नहीं छोड़ता तब तक वह चैतन्यमात्र अपनेको न जाननेसे अज्ञानी है । (४) जब तक जीव प्रकृत्यर्थको नहीं छोड़ता तब तक वह अपनेको रागादिरूप अनुभवनेसे रागादिरूप आचरण करनेसे असंयमी है । (५) जब तक जीवके परभावमें आत्मत्वका अध्यास है तब तक वह कर्ता होता है । (६) जब यह जीव आत्मस्वभाव व कर्मस्वभावके प्रतिनियत स्वलक्षणका यथार्थ ज्ञान कर लेता है तब यह जीव प्रकृत्यर्थको अर्थात् कर्मफलको छोड़ देता है । (७) कर्मफलको छोड़ देने वाला आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मतत्त्वका श्रद्धानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है । (८) कर्मफलको छोड़ देने वाला आत्मा भूतार्थ अन्तस्तत्त्वका ज्ञाता होनेसे सम्यग्ज्ञानी है । (९) कर्मफलको छोड़ देने वाला आत्मा ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके अनुरूप ज्ञानवृत्तिरूप परिणमनेसे संयमी है । (१०) कर्मफलको छोड़ देने वाला आत्मा आत्मस्वभाव व कर्मस्वभावमें एकत्वका अध्यास न कर सकनेसे अकर्ता है ।

सिद्धान्त—(१) भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्मा स्वरूपकी उपलब्धि करता है । (२) कर्मफलको त्यागकर ज्ञानवृत्तिमात्रसे परिणमनेके प्रतापसे आत्मा कर्मसे विमुक्त होता है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) । २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—प्रकृतिस्वभाव रागादिभावको छोड़कर चैतन्यचमत्कारमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग लगाना ॥ ३१४-३१५ ॥

मात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते ।। अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः । इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ।।१९७।। ।। ३१६ ।।

फल, उदित, न । **मूलधातु**—विद चेतनाख्याननिवासेषु, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एक० । पयडिसहावट्ठिओ प्रकृतिस्वभावस्थितः–प्र० एक० । दु तु पुण पुनः ण न–अव्यय । वेदेइ वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । कम्मफलं कर्मफलं–द्वि० एक० । जाणइ जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । उदियं उदितं–द्वि० ए० । वेदेइ वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।। ३१६ ।।

ज्ञाता ही रहता है भोक्ता नहीं होता ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**अज्ञानी** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावमें लीन होता हुआ सदाकाल उसका भोक्ता है, और ज्ञानी प्रकृतिस्वभावसे विरक्त रहता हुआ कभी भी भोक्ता नहीं है । सो इस प्रकार तत्त्वनिपुण पुरुषोंको ज्ञानीपने और अज्ञानीपनेके नियमको विचार करके अज्ञानीपनेको तो छोड़ना चाहिये और शुद्ध आत्ममय एक तेज (प्रताप) में निश्चल होकर ज्ञानीपनेको सेवना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व दो छन्दोंमें बताया गया था कि जब तक जीव प्रकृतिस्वभावको नहीं छोड़ता है तब तक वह अज्ञानी है और जब ही कर्मफलको अर्थात् प्रकृतिस्वभाव को छोड़ देता है तब ही वह निर्बन्ध ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है । अब इस गाथामें उस अज्ञानीही व ज्ञानीके विषयमें बताया है कि अज्ञानी तो कर्मफल भोगता है और ज्ञानी मात्र कर्मफलको जानता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अज्ञानीको सहज शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है । (२) शुद्धात्मत्वका ज्ञान न होनेसे अज्ञानी स्व व परमें एकत्वका ज्ञान दर्शन व परिणमन करता है । (३) स्व-परमें एकत्वका ज्ञान श्रद्धान परिणमन होनेसे जीव प्रकृतिस्वभावमें स्थित कहलाता है । (४) प्रकृतिस्वभावमें स्थित होनेसे जीव प्रकृतिस्वभावको अहंरूपसे अनुभव करता है । (५) प्रकृतिस्वभावको अहंरूपसे अनुभवता हुआ जीव कर्मफलको भोगता है । (६) ज्ञानीको सहज शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान है । (७) शुद्धात्मस्वरूपका ज्ञान होनेसे ज्ञानीके स्व व परमें भिन्नताका ज्ञान है, भिन्नताका श्रद्धान है और विभागरूपसे परिणमन है । (८) स्वपरविभाग का ज्ञाता प्रकृतिस्वभावसे हट जाता है । (९) प्रकृतिस्वभावसे हटनेके कारण ज्ञानी शुद्ध सहज आत्मस्वरूपको ही अहंरूपसे अनुभवता है । (१०) एक शुद्धात्मस्वरूपको अहंरूपसे अनुभवता हुआ जीव उदित कर्मफलको ज्ञेयमात्रपना होनेसे मात्र जानता है । (११) कर्मफलमें अहंरूपसे

र्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुञ्चति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव ।। ३१७ ।।

अधीत्य–असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त, सत्थाणि शास्त्राणि–द्वितीया बहु० । गुडदुद्धं गुडदुग्धं–द्वितीया एक० । पिवंता पिबन्तः–प्रथमा बहु० । पण्णया पन्नगाः–प्रथमा बहु० । णिव्विसा निर्विषाः–प्रथमा बहु० । हुंति भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया ।। ३१७ ।।

से अज्ञानीपन है । इसलिये ऐसा नियम किया जाता है कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें ठहरनेसे कर्मका भोक्ता ही है । **भावार्थ**—इस गाथामें "अज्ञानी कर्मके फलका भोक्ता ही है" यह नियम किया गया है । जैसे कि अभव्य बाह्य कारणोंके मिलनेपर भी कर्मके उदयको अपनाने का स्वभाव नहीं बदलता, इस कारण यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानीको शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं, अतः अज्ञानीके भोक्तापनेका नियम बनता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता होता है और ज्ञानी कर्मफलका भोक्ता नहीं । अब इस गाथामें अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है ऐसा नियम युक्ति दृष्टान्तपूर्वक दर्शाया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अभव्य जीव सदा अभव्यत्व अशुद्ध पारिणामिक भावमय होनेसे प्रकृतिस्वभावको याने कर्मविपाकलगावको स्वयं छोड़ता ही नहीं । (२) प्रकृतिस्वभावको छुड़ाने में समर्थ द्रव्य श्रुतज्ञान है सो श्रुतका विशिष्ट अध्ययन होनेपर भी वह नहीं छूटता । (३) अभव्य जीवको भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान नहीं होनेसे सदा अज्ञान ही रहता है । (४) सदा अज्ञानमय होनेके कारण अभव्य जीव सदा प्रकृतिस्वभावमें स्थित रहा करते हैं । (५) प्रकृतिस्वभावमें स्थित रहनेके कारण अभव्य जीव कर्मफलका भोक्ता होता ही है ।

सिद्धान्त—(१) अभव्य जीव सदा अज्ञानमयभाववान रहनेसे विकारलगाव बनाये रहता है । (२) मिथ्यात्वोदयवश श्रुताध्ययन करके भी अभव्य शुद्ध नहीं हो पाता ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २–उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—सहजात्मस्वरूपको व्यक्तिके लिये अपने आपको सहज अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध अन्तस्तत्त्व जानकर इसी स्वरूपकी ओर उपयोग लगाना ।। ३१७ ।।

अब ज्ञानी कर्मफलका अवेदक ही है, यह नियम किया जाता है—[ज्ञानी] ज्ञानी [निर्वेदसमापन्नः] वैराग्यको प्राप्त हुआ [मधुरं कटुकं] मीठा तथा कड़वा [अनेकविधं] इत्यादि अनेक प्रकारके [कर्मफलं] कर्मके फलको [विजानाति] जानता है [तेन] इस कारण [सः] वह [अवेदकः भवति] भोक्ता नहीं है ।

त्वादवेदक एव ।। ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं । जानन्परं करणवेदनयोरभावात् शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ।।१६८।। ।। ३१८ ।।

अवेदक, तत्, तत् । **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां । **पदविवरण**—णिव्वेयसमावण्णो निर्वेदसमापन्नः–प्रथमा एकवचन । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एकवचन । कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एक० । वियाणेइ विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । महुरं मधुरं कडुयं कटुकं बहुविहं बहुविधं–द्वि० ए० । अवेदओ अवेदकः–प्रथमा एक० । तेण तेन–तृतीया एक० । सो सः–प्रथमा एकवचन । होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।। ३१८ ।।

केवल ज्ञाता ही है, इस कारण शुद्ध स्वभावमें उपयुक्त हुआ वह अन्त: मुक्त ही है । कर्मका उदय आता है, प्रतिफलन होता है वहाँ ज्ञानी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं, सो जब तक यह निर्बलता रहती है तब तक कर्म जोर चला लें, कभी तो ज्ञानी कर्मका निर्मूल नाश करेगा ही । तथा वर्तमानमें शुद्ध स्वभावमें नियत है सो मुक्त-सा ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है । अब इस गाथामें बताया है कि ज्ञानी कर्मफलका अभोक्ता है अर्थात् भोक्ता नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अभेदभावश्रुत ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान जिसके है वह ज्ञानी है । (२) ज्ञानी परसे अत्यन्त जुदा है, अतः प्रकृतिस्वभावको स्वयं ही छोड़ देता है । (३) जिसने प्रकृतिस्वभावको छोड़ दिया है वह उदित शुभाशुभ कर्मफलका मात्र ज्ञाता है । (४) ज्ञानी परद्रव्यको अहंरूपसे अनुभव करनेमें असमर्थ है, अतः कर्मफलको नहीं भोग सकता । (५) जहाँ प्रकृतिस्वभावसे विरक्ति है, संसार शरीर भोगसे विरक्ति है वहाँ प्रकृतिस्वभावसे लगाव नहीं हो सकता । (६) ज्ञानी शुद्धात्मभावनाजन्य सहज अतीन्द्रिय आनन्दको छोड़कर इन्द्रियसुखमें कर्मफलमें नहीं लग सकता ।

सिद्धान्त—(१) भेदविज्ञान व अभेदान्तस्तत्त्वकी प्रतीति होनेसे ज्ञानी कर्मफलका मात्र साक्षी है, भोक्ता नहीं । (२) ज्ञानीकी दृष्टिमें परभावके नाते शुभ अशुभ कर्मफल परतत्त्व हैं ।

दृष्टि—१– अभोक्तृनय (१९२) । २– सादृश्यनय (२०२) ।

प्रयोग—पुण्य पाप कर्मविपाकको परभाव जानकर उसका मात्र ज्ञाता रहकर निष्कर्म ज्ञानस्वरूप स्वतत्त्वमें उपयोग लगाना ।। ३१८ ।।

अब ज्ञानीके ज्ञातृत्वको फिर पुष्ट करते हैं—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**बहुप्रकाराणि कर्माणि**] बहुत प्रकारके कर्मोंको [**नापि करोति**] न तो करता है [**नापि वेदयते**] और न भोगता है [**पुनः**] परन्तु [**बंधं**] कर्मके बन्धको [**च**] और [**कर्मफलं**] कर्मके फल [**पुण्यं च पापं**] पुण्य

कुत एतत् ?—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

ज्ञान नयनदृष्टी ज्यौं, होय अकर्ता तथा अभोक्ता भी ।
बन्ध मोक्ष कर्मोदय, निर्जरको जानता वह है ॥३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव । जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरा चैव ॥ ३२० ॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमेवौष्ण्यानु-

---

नामसंज्ञ—दिट्ठि, जह, एव, णाण, अकारय, तह, अवेदय, च, एव, य, बंधमोक्ख, कम्मुदय, णिज्जर, च, एव । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—दृष्टि, यथा, एव, ज्ञान, अकारक, तथा, अवेदक, च,

---

चेतनाशून्य है । (३) ज्ञानी कर्मचेतनाशून्य होनेसे अकर्ता है । (४) ज्ञानी कर्मफलचेतनाशून्य होनेसे अभोक्ता है । (५) ज्ञानी ज्ञानचेतनामय होनेसे शुभ अशुभ कर्मबंध व कर्मफलका मात्र जाननहार है । (६) अकर्ता अभोक्ता होनेसे शुद्धस्वभावमें नियत ज्ञानी अन्तर्वृत्तिकी अपेक्षा मुक्त ही की तरह है ।

सिद्धान्त—(१) निर्विकार अनन्तज्ञानादिसम्पन्न प्रभु पूर्णतः ज्ञानचेतनामय हैं । (२) सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वके अनुभवी प्रतीत्या ज्ञानचेतनामय है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) । २– अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय (४६ब) ।

प्रयोग—कर्मोंकी प्रकृति कर्ममें ही निरखकर कर्मोंके मात्र ज्ञाता रहना और अपनेको ज्ञानस्वरूपसे अभिन्न निरखकर आत्मस्वरूपका संचेतन करना ॥ ३१९ ॥

प्रश्न—ज्ञानी मात्र ज्ञाता ही कैसे है ? **उत्तर**—[**दृष्टिः यथा**] नेत्रकी तरह [**ज्ञानं**] ज्ञान [**अकारकं च अवेदकं एव**] अकर्ता और अभोक्ता ही है [**तथा**] तथा [**बंधमोक्षं**] बंध, मोक्ष [**च कर्मोदयं**] व कर्मोदय [**च**] और [**निर्जरां**] निर्जराको [**जानाति एव**] मात्र जानता ही है ।

तात्पर्य—ज्ञानका काम जानना ही है, परको करना व भोगना नहीं है ।

टीकार्थ—जैसे इस लोकमें नेत्र देखने योग्य पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्नताके कारण उनके करने और भोगनेकी असमर्थता होनेके कारण दृश्य पदार्थको न तो करता है और न भोगता है । अन्यथा याने यदि ऐसा न हो तो अग्निको जलाने वालेकी तरह व अग्निसे तप्तायमान लोहके पिंडकी तरह अग्निके देखनेसे नेत्रके कर्तापन व भोक्तापन अवश्य आ जायगा सो तो है

करोति न वेदयते च । किंतु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबंधं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ।। ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा ततः । सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षतां ।।१९९।। ।। ३२० ।।

अकारकं–प्रथमा एक० । अवेदयं अवेदकं–प्रथमा एक० । जाणइ जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । बंधमोक्खं बन्धमोक्षं–द्वितीया एक० । कम्मुदयं कर्मोदयं–द्वितीया एक० । णिज्जरं निर्जरां–द्वितीया एकवचन ।। ३२० ।।

अज्ञानी कहना सम्यक्त्व मिथ्यात्वकी ही अपेक्षा जानना ।

अब जो सर्वथा एकांतके आशयसे आत्माको कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध इस श्लोकमें कहते हैं—**ये तु** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष अज्ञानांधकारसे आच्छादित हुए आत्माको कर्ता मानते हैं, उनका मोक्षको चाहते हुए भी लौकिकजनकी तरह मोक्ष नहीं होता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी कर्मका अकर्ता व अभोक्ता है । अब इस गाथामें ज्ञानीके उसी अकर्तृत्व व अभोक्तृत्वका दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जैसे नेत्र दृश्यसे अत्यन्त विभक्त है, ऐसे ही ज्ञान कर्मसे अत्यन्त विभक्त है । (२) जैसे नेत्र दृश्यसे जुदा होनेसे दृश्यको करने व भोगनेमें असमर्थ है, ऐसे ही ज्ञान कर्मसे जुदा होनेसे कर्मको करने भोगनेमें असमर्थ है । (३) जैसे दृष्टि (नेत्र) तो मात्र देखती है, वैसे ही ज्ञान तो मात्र जानता है । (४) जैसे नेत्र अग्निशिखाको, अग्नि बढ़नेको, ज्वलन करनेको देखता मात्र है ऐसे ही ज्ञान कर्मबन्धको, मोक्षको, कर्मोदयको, निर्जराको मात्र जानता है । (५) ज्ञान नेत्रकी भाँति परका अकारक है व अवेदक है ।

सिद्धांत—(१) ज्ञान अर्थात् आत्मा कर्मका अकारक है । (२) ज्ञान अर्थात् आत्मा कर्मका अवेदक है ।

दृष्टि—१- अकर्तृनय (१९०) । २- अभोक्तृनय (१९२) ।

प्रयोग—अपनेको अपने प्रदेशोंमें ही परिसमाप्त निरखकर कर्मके करने व भोगनेकी मिथ्याबुद्धि तजकर कर्मदशाके मात्र जाननहार रहना ।। ३२० ।।

अब आत्माको लोककर्ता मानने वालोंका भी मोक्ष नहीं है, इस अर्थको गाथामें कहते हैं—[**लोकस्य**] लौकिक जनोंके मतमें [**सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्**] देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य प्राणियोंको [**विष्णुः**] विष्णु [**करोति**] करता है ऐसा मन्तव्य है [**च**] और इसी प्रकार [**यदि**] यदि [**श्रमणानामपि**] श्रमणोंके मतमें भी ऐसा माना जाय कि [**षड्वि-**

कानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धांतस्य समत्वात् । ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात्—लौकिकानामिव लोकोत्तरिका-

लोयसमण, दु, पि, णिच्च, सदा, एव, मणुयासुर, लोय । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, कुव्व करणे, दिस प्रेक्षणे। **प्रातिपदिक**—लोक, विष्णु, सुरनारकतिर्यङ्मानुष, सत्त्व, श्रमण, अपि, आत्मन्, यदि, षड्विध, काय, लोकश्रमण, एक, सिद्धान्त, यदि, विशेष, ण, लोक, विष्णु, श्रमण, अपि, आत्मन् एवं, न, किम्, अपि, मोक्ष, लोकश्रमण, द्वय, अपि, नित्यं, सदा, एव, मनुजासुर, लोक। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, दृशिर् प्रेक्षणे। **पदविवरण**—लोयस्स लोकस्य-षष्ठी एक०। कुणइ करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। विण्हू विष्णुः-प्रथमा एक०। सुरणारयतिरियमाणुसे सुरनारकतिर्यङ्मानुषान्-द्वितीया बहु०। सत्त्वान्-द्वितीया बहु०। समणाणं श्रमणानां-षष्ठी बहु०। पि अपि-अव्यय। अप्पा आत्मा-प्रथमा एक०। जइ यदि-अव्यय। कुव्वइ करोति-वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। छव्विहे षड्विधे-सप्तमी एक०। काये-सप्तमी एक०। लोगसमणाण लोकश्रमणानां-षष्ठी बहु०। एयं एवं-अव्यय। सिद्धंतं सिद्धान्तः-प्रथमा एक०। जइ यदि-अव्यय। ण न-अव्यय। दीसइ दृश्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। विण्हू

टीकार्थ—जो पुरुष आत्माको कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर होनेपर भी लौकिकपनेको उल्लंघन नहीं करते (छोड़ते), क्योंकि लौकिक जनोंके मतमें तो परमात्मा विष्णु सुर नारक आदि शरीरोंको करता है और मुनियोंके मतमें अपना आत्मा सुर नारक आदिको करता है। इस प्रकार अन्यथा माननेका सिद्धान्त दोनोंके समान है। इसलिये आत्माके नित्य कर्तापनके माननेसे लौकिकजनकी तरह लोकोत्तर मुनियोंका भी मोक्ष नहीं होता। **भावार्थ**—जो आत्माको इस लोकका कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिक जन सरीखे ही हैं, क्योंकि लौकिक जन तो ईश्वरको कर्ता मानते हैं और मुनियोंने भी आत्माको कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनोंका मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिक जनोंको मोक्ष नहीं है, उसी तरह उन मुनियोंको भी मोक्ष नहीं। जो निरपेक्ष कर्ता होगा वह सदा करता ही रहेगा, तथा वह कार्यके फलको भोगेगा ही, और जो फल भोगेगा उसके मोक्ष कैसा? अर्थात् मोक्ष हो ही नहीं सकता।

अब परद्रव्य और आत्मतत्त्वका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा काव्यमें कहते हैं—**नास्ति इत्यादि**। **अर्थ**—परद्रव्य और आत्मतत्त्वका कोई सम्बन्ध नहीं है, यों कर्ताकर्मसम्बन्धका अभाव होनेसे आत्माके परद्रव्यका कर्तापन कैसे हो सकता है? **भावार्थ**—परद्रव्य और आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तब फिर उनमें कर्ताकर्मसम्बन्ध कैसे हो सकता है? अतः आत्माके कर्तापन भी क्यों होगा?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञान कर्मदशाका अकारक व

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह कोवि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोह्मं वि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

व्यवहारवचन लेकर, मोही परद्रव्यको कहे मेरा ।
ज्ञानी निश्चय माने, मेरा अणुमात्र भी नहिं कुछ ॥३२४॥
जैसे कोइ कहे नर, ग्राम नगर देश राष्ट्र मेरा है ।
किन्तु नहीं वे उसके, वह तो यों मोहसे कहता ॥३२५॥
वैसे हि परपदार्थों-को अपना जानि आत्ममय करता ।
यह आत्मा भि मिथ्या-दृष्टी होता है निःसंशय ॥३२६॥
सो लौकिक श्रमणोंके, परमें कर्तृत्व भावको लखकर ।
परविविक्तके ज्ञानी, मिथ्यादृष्टी उन्हें कहते ॥३२७॥

नामसंज्ञ—ववहारभासिय, उ, परदव्व, अम्ह, अविदियत्थ, णिच्छय, उ, ण, य, अम्ह, परमाणुमिच्च, अवि, किंचि, जह, क, वि, णर, अम्ह, गामविसयणयरट्ठ, ण, य, त, त, उ, य, मोह, त, अप्प, एमेव,

---

प्रयोग—संसारमूल भ्रमको छोड़कर मोक्षमूल शुद्धात्मतत्त्वके ज्ञान श्रद्धान आचरणमें लगना ॥ ३२१-३२३ ॥

जो व्यवहारनयके वचनसे परद्रव्य मेरा है, ऐसे व्यवहारको ही निश्चयस्वरूप मान लेते हैं, वे अज्ञानी हैं, ऐसा अब दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—[अविदितार्थाः] जिन्होंने पदार्थका स्वरूप नहीं जाना है वे पुरुष [व्यवहारभाषितेन] व्यवहारके कहे हुए वचनोंके द्वारा [परद्रव्यं मम तु] परद्रव्य मेरा है ऐसा [भणंति] कहते हैं [तु] परन्तु ज्ञानी [निश्चयेन] निश्चयसे [परमाणुमात्रं अपि] परमाणु मात्र भी [किंचित् मम न च] कुछ मेरा नहीं है [जाणंति] ऐसा जानते हैं । [यथा] जैसे [कोपि] कोई [नरः] पुरुष [अस्माकं] हमारा [ग्रामविषयनगरराष्ट्रं]

प्रसंगविवरण—पूज्य श्री आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयप्राभृत ग्रन्थराजकी आत्मख्याति नामक टीका रचते समय पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरिने अपने इष्टको समयसारके नामसे इस कारण नमस्कार किया है कि इष्ट देवका सामान्यस्वरूप शुद्ध आत्मा है। सो प्रभु द्रव्यतः शुद्ध अन्तः सहज चैतन्यस्वरूप है ही और पर्यायतः भी शुद्ध प्रभु हैं। जो द्रव्यतः सहजस्वरूप है, उसकी आराधनासे ही प्रभु प्रभु हुए हैं। इसी अनादि अनन्त अहेतुक अन्तः सहजस्वरूपकी आराधनाके लिये यह ग्रन्थोपदेश है। अतः समयसारके लिये यहाँ सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वानुभवसे प्रकाशमान इस विशेषणसे यह सिद्ध हो गया कि आत्मा तथा ज्ञान मीमांसकसम्मत जैसा सर्वथा परोक्ष नहीं, किन्तु वह स्वानुभवसे स्वमें स्वयं स्वको जानता है। (२) इसी विशेषणसे सिद्ध है कि ज्ञान नैयायिकसम्मत जैसा स्वयं अपनेको नहीं जानता ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञान स्वसंवेद्य है। (३) चित्स्वभाव इस विशेषणसे सिद्ध हुआ कि नैयायिक-मीमांसकादिसम्मत जैसा गुणगुणीमें सर्वथा भेद नहीं, किन्तु वस्तु गुणमय है, आत्मा चैतन्यस्वभावमय है। (४) भावाय इस विशेषणसे शून्यवादसम्मत सर्वथा अभाववादका निराकरण हुआ, क्योंकि आत्मा सद्भूत है। (५) सर्वभावान्तरच्छिदे इस विशेषणसे सर्वज्ञता की सिद्धि हुई, मीमांसकसम्मत असर्वज्ञताका एकान्त नहीं। (६) इसी विशेषणसे सिद्ध है कि आत्मस्वरूप सर्वविकारोंसे परे है।

सिद्धान्त—(१) परमशुद्धचित्स्वरूप आत्मा शुद्धनयात्मक ज्ञानानुभूतिसे ज्ञातव्य है। (२) ज्ञान स्वसम्वेद्य है। (३) गुण गुणीमें भेद नहीं है। (४) आत्मा चैतन्यात्मक स्वास्तित्व से समवेत है। (५) आत्मा सर्व परपदार्थोंका ज्ञाता है। (इनकी दृष्टियाँ क्रमसे निम्नांकित हैं)

दृष्टि— १–शुद्धनय (४९)। २–कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)। ३–परमशुद्धनिश्चयनय (४४)। ४–अन्वयद्रव्यार्थिकनय (२७)। ५–स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५)।

प्रयोग—सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्वकी अर्थात् समयसारकी उपासनासे ही आत्मा सदाके लिये सकल संकटोंसे मुक्त होता है। अतः समस्त परपदार्थोंका ख्याल छोड़कर अपनेको सहजसिद्ध चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वरूप सहज अनुभवना चाहिये, ॐ शुद्धं चिदस्मि। यह प्रायोगिक अन्तस्तत्त्वभक्ति ही परमार्थतः समयसारके लिये नमस्कार है ॥१॥

टीकागत द्वितीय मंगलाचरणका अर्थ—अनन्तधर्मात्मक, प्रत्यगात्माके तत्त्वको अवलोकन करने वाली तथा दर्शाने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान होओ।

भावार्थ—जिसमें अनेक अंत (धर्म) हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं और कैसी है? प्रत्यक्—

मिथ्यादृष्टिरेव स्यात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।। एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः । तत्कर्तृ-

ग्रामविषयनगरराष्ट्र, न, च, तत्, तत्, तु, च, मोह, तत्, आत्मन्, एव, एव, मिथ्यादृष्टि, ज्ञानिन्, निस्संशयं, एतत्, यत्, परद्रव्य, अस्मद्, इति, जानन्त्, आत्मन्, तत्, न, अस्मद्, इति, द्वय, अपि, एतत्, कर्तृव्यवसाय, परद्रव्य, जानन्त्, इति, दृष्टिरहित । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, ज्ञा अवबोधने, जल्प व्यक्तायां वाचि भ्वादि, भू सत्तायां, डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—ववहारभासिएण व्यवहारभाषितेन–तृतीया एक० । उ तु–अव्यय । परदव्वं परद्रव्यं–प्रथमा एक० । मम–षष्ठी एक० । भणंति भणन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । अविदियत्था अविदितार्थाः–प्रथमा बहु० । जाणंति जानन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । णिच्छयेण निश्चयेन–तृतीया एक० । उ तु ण न य च–अव्यय । मह मम–षष्ठी एक० । परमाणुमिच्चं परमाणुमात्रं–प्रथमा एकवचन । अवि अपि–अव्यय । किंचि किंचित्–अव्यय । जह यथा–अव्यय । को कः–प्रथमा एकवचन । वि अपि–अव्यय । णरो नरः–प्रथमा एक० । जंपइ जल्पति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । अम्हं अस्माकं–षष्ठी बहु० । गामविसयणयररट्ठं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं–प्रथमा एक० । ण न य च–अव्यय । होंति भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । ताणि तानि–प्रथमा

कर्तापनका निश्चय है वह उनके सम्यग्दर्शनके न होनेसे ही है," ऐसा सुनिश्चित जाने । **भावार्थ**—ज्ञानी होकर भी यदि व्यवहारमोही हो, तो वह लौकिकजन हो या मुनिजन, दोनों

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**एकस्य** इत्यादि । **अर्थ**—चूंकि इस जगतमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सभी सम्बन्ध निषेधा गया है इस कारण जहाँ वस्तु भेद है वहाँ कर्ता-कर्मकी घटना ही नहीं है । अतः मुनिजन तथा लौकिकजन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको अकर्ता ही श्रद्धामें लाओ ।

अब अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानसे चेतन ही है, ऐसा काव्यमें कहते हैं—**ये तु** इत्यादि । **अर्थ**—अहो, जो पुरुष वस्तुस्वभावके नियमको नहीं जानते और जिनका पुरुषार्थ रूप तेज अज्ञानमें डूब गया है वे दीन होकर कर्मोंको करते हैं । अतः भाव कर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं है, अन्य नहीं है । **भावार्थ**—अज्ञानी मिथ्यादृष्टि वस्तुके स्वरूपका नियम जानता नहीं है, और परद्रव्यका कर्ता बनता है, तब चूँकि वह स्वयं यों अज्ञानरूप परिणमता है इस कारण अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानी ही है, अन्य नहीं है । ऐसा निश्चित समझिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकमें यह निष्कर्ष प्रसिद्ध किया था कि आत्मतत्त्व का परद्रव्यके साथ कर्तृकर्मत्व आदि कोई सम्बन्ध नहीं है । अब इन चार गाथाओंमें बताया है कि परद्रव्योंका जो अन्यके साथ कर्तृकर्मत्व स्वामित्व आदि कुछ भी सम्बन्ध मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ।

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥
अह जीवो एयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहिं कदं तं दोण्णिवि भुञ्जन्ति तस्स फलं ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

मिथ्यात्व प्रकृति मिथ्या दृष्टी यदि आत्माको करता है ।
तो फिर प्रकृति अचेतन, ही कारक प्राप्त होवेगा ॥३२८॥
अथवा यदि जीव करे, पुद्गलद्रव्यके मिथ्या प्रकृतिको ।
तो पुद्गल ही मिथ्या-दृष्टि हुआ किन्तु जीव नहीं ॥३२९॥
यदि जीव प्रकृति दोनों, हि पुद्गलके मिथ्यात्वको करते ।
तो दोनोंके द्वारा, कृत विधिका फल भजें दोनों ॥३३०॥
यदि प्रकृति जीव दोनों, पुद्गल मिथ्यात्वको नहीं करते ।
पुद्गलद्रव्य मिथ्यात्व, है यह कहना बने मिथ्या ॥३३१॥

नामसंज्ञ—मिच्छत्त, जदि, पयडि, मिच्छाइट्ठि, अप्प, तत्, अचेदण, ज, तुम्ह, पयडि, णणु, कारग, पत्त, अहवा, एत, जीव, पुग्गलदव्व, मिच्छत्त, त, पुग्गलदव्व, मिच्छाइट्ठि, ण, पुण, जीव, अह, जीव, पयडि, तह, पुग्गलदव्व, मिच्छत्त, त, दु, कद, त, दु, वि, त, फल, अह, ण, पयडि, ण, जीव, पुग्गलदव्व, मिच्छत्त, त, पुग्गलदव्व, मिच्छत्त, त, तु, ण, हु, मिच्छा । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, कुण करणे, भुंज भोगे । **प्रातिपदिक**—मिथ्यात्व, यदि, प्रकृति, मिथ्यादृष्टि, आत्मन्, तत्, अचेतना, युष्मद्, प्रकृति, ननु, कारका,

जाय **[तस्मात् ननु]** तो अहो सांख्यमतानुयायी **[ते अचेतना प्रकृतिः]** तेरे मतमें अचेतन प्रकृति **[कारका प्राप्ता]** जीवके मिथ्यात्वभावको करने वाली हो पड़ी ? **[अथवा]** अथवा **[एव जीवः]** यह जीव ही **[पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वं]** पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको **[करोति]** करता है **[तस्मात्]** ऐसा माना जाय तो ऐसा माननेसे **[पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः]** पुद्गलद्रव्य मिथ्या-दृष्टि हो पड़ा **[न पुनः जीवः]** जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा ? **[अथ]** अथवा यदि **[जीवः तथा प्रकृतिः]** जीव और प्रकृति दोनों **[पुद्गलद्रव्यं]** पुद्गलद्रव्यको **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्वरूप

क्रियमाणो पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धं ।। कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयोरज्ञा-

प्रथमा एक० । पत्तो प्राप्ता-प्र० एक० । अहवा अथवा-अव्यय । एसो एषः-प्र० ए० । जीवो जीवः-प्र० ए० । पुग्गलदव्वस्स पुद्गलद्रव्यस्य-षष्ठी एक० । कुणइ करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । मिच्छत्तं मिथ्यात्वं-द्वितीया एक० । तम्हा तस्मात्-पंचमी एक० । पुग्गलदव्वं पुद्गलद्रव्यं-प्रथमा एक० । मिच्छाइट्ठी मिथ्यादृष्टिः-प्रथमा एकवचन । ण पुण न पुनः-अव्यय । जीवो जीवः-प्रथमा एक० । अह अथ-

सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व आदि भावकर्मका कर्ता जीव है और भावकर्म उस जीवका कार्य है ।

भावार्थ—भावकर्मका कर्ता जीव ही है, यह इन गाथावोंमें सिद्ध किया है । परमार्थसे अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके भावका कर्ता होता ही नहीं है । इसलिये जो चेतनके भाव हैं उनका चेतन ही कर्ता होता है । इस जीवके अज्ञानसे जो मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणाम हुए हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं हैं । शुद्धनयकी तुलनामें उनको चिदाभास भी कहते हैं । इसलिये चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है । अभेददृष्टिमें तो जीव शुद्ध चेतनामात्र है, परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमन करता है तब उन विभाव परिणामोंसे युक्त होता है । उस समय परिणाम-परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभाव परिणामोंका कर्ता जीव ही है । अभेद दृष्टिमें तो कर्ता-कर्मभाव ही नहीं हैं, शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तु है । इस प्रकार यहां यह समझना कि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही है ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**कार्यत्वा** इत्यादि । **अर्थ**—कार्यपना होनेसे कर्म अकृत याने बिना किया नहीं होता । और ऐसा भी नहीं है कि वह भावकर्म जीव और प्रकृति इन दोनोंका किया हुआ हो, क्योंकि फिर तो जड़ प्रकृतिको भी उसको अपने कार्यका फल भोगनेका प्रसंग आता है तथा भावकर्म एक प्रकृतिका ही कार्य हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है । इस कारण इस भावकर्मका कर्ता जीव ही है व यह भावकर्म जीवका ही कर्म है, क्योंकि भावकर्म चेतनसे अन्वयरूप है । और पुद्गल ज्ञाता नहीं है इसलिये भावकर्म पुद्गलका नहीं है । **भावार्थ**—चेतनकर्म चेतनके ही हो सकता है; पुद्गलके चेतनकर्म कैसे होगा ?

अब जो कोई भावकर्मका भी कर्ता कर्मको ही मानते हैं उनको समझानेके लिये स्याद्वादसे वस्तुकी मर्यादाका सूचनाका काव्य कहते हैं—**कर्मैव** इत्यादि । **अर्थ**—कोई आत्मघातक

त्मनः कर्तृतां कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता । तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥ ॥ ३२८-३३१॥

प्रकृतिः–प्र० ए० । ण न–अव्यय । जीवो जीवः–प्र० ए० । पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं–द्वि० ए० । करेदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं–प्र० ए० । तं तत्–प्र० ए० । तु ण हु तु न खलु–अव्यय । मिच्छा मिथ्या–प्रथमा एकवचन ॥ ३२८-३३१ ॥

९–मिथ्यात्वादि भावकर्म जीवमें स्वभावसे नहीं होते, किन्तु मिथ्यात्वादि प्रकृत्युदयका निमित्त पाकर जीवमें होते । १०–मिथ्यात्वादि भावकर्म पुद्गलमें कभी संभव ही नहीं है । ११–शुद्धनयकी दृष्टिसे मिथ्यात्वादि भावकर्म चिदाभास हैं । १२–अशुद्धनिश्चयनयसे जीव मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है । १३– शुद्धनिश्चयनयसे जीव सम्यक्त्वादि स्वभावभावका कर्ता है । १४– परमशुद्धनिश्चयनय अथवा शुद्धनयकी दृष्टिसे जीव अकर्ता है । १५– मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता पुद्गल नहीं है । १६–जीव तो अपरिणामी हो और मिथ्यात्वादि प्रकृति हठपूर्वक जीवको मिथ्यादृष्टि आदि कर दे ऐसा वस्तुस्वभाव नहीं । १७–प्रकृति (कर्म) परिणमनस्वभावी है और जीव भी परिणमनस्वभावी है । १८–जीव और कर्म दोनोंके ही परिणमनस्वभावी होनेपर उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक संबंधकी व्यवस्था है तथा बंध मोक्षकी प्रक्रिया है । (१९) भिन्न पदार्थोंमें निमित्तनैमित्तिक संबंध हो सकता है । (२०) एक पदार्थ में कर्तृकर्मत्व है ।

सिद्धान्त—१–जीव मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है । २–कर्मप्रकृति मिथ्यात्वादिभावकर्मका कर्ता नहीं । ३–जीव अकर्ता व अभोक्ता है ।

दृष्टि—१–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २–उपादानदृष्टि (४९ब) । ३–शुद्धनय (४६) ।

प्रयोग—अपनी भूलके कारण किये गये भावकर्मको अपनी सुधके बलसे दूर कर अपने शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपमें विहार करना ॥ ३२८-३३१ ॥

अब आत्माके कर्तृत्व व अकर्तृत्वके सम्बन्धमें स्याद्वादशासनका निर्णय करते हैं—**[कर्मभिस्तु]** कर्मोंके द्वारा **[अज्ञानी]** जीव अज्ञानी **[क्रियते]** किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार **[कर्मभिः]** कर्मोंके द्वारा जीव **[ज्ञानी]** ज्ञानी किया जाता है, जीव **[कर्मभिः]** कर्मोंके द्वारा **[स्वाप्यते]** सुलाया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः]** कर्मोंके द्वारा ही **[जागर्यते]** जगाया जाता है **[कर्मभिः सुखीक्रियते]** कर्मोंके द्वारा जीव सुखी किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः दुःखीक्रियते]** कर्मोंके द्वारा दुःखी किया जाता है **[च]** **[कर्मभिः मिथ्यात्वं नीयते]** कर्मोंके द्वारा मिथ्यात्वको प्राप्त कराया जाता है **[चैव]**

तह्मा ण कोवि जीवो वघायत्रो अत्थि अह्म उवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मरणसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं ।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

कर्मोंसे अज्ञानी, किया जाता ज्ञानी भि कर्मोंसे ।
कर्म सुला देते हैं, कर्म हि इसको जगा देते ॥३३२॥
कर्म सुखी करता है, दुखी भि होता तथैव कर्मोंसे ।
कर्म हि मिथ्यात्व तथा, असंयमन भावको करता ॥३३३॥

पुरिस, एत, आयरियपरंपरागया, एरिसी, सुई, क, वि, जीव, अबंभचारि, अम्ह, उवएस, ज, भणिय, पर, त, पयडि, एत, अच्छ, किर, परघातनाम, इत्ति, तत्, ण, क, वि, वघायअ, उवदेस, संखुवएस, ज, एरिस, समण, त, पयडि, अप्प, अकारय, सव्व, अहवा, अम्ह, मिच्छसहाव, तुम्ह, एत, मुणंत, णिच्च, असंखिज्जपदेस, देसिअ, उ, समग, णवि, त, तत्तो, हीण, अहिअ, य, ज, जीवरूव, वित्थरदो, लोगमित्त, खु, त, किं,

---

[तस्मात्] इससे [कोपि जीवः] कोई भी जीव [अब्रह्मचारी न] अब्रह्मचारी नहीं है [अस्माकं तु उपदेशे] हमारे उपदेशमें तो ऐसा है [यस्मात्] कि [कर्म चैव हि] कर्म ही [कर्म अभिलषति] कर्मको चाहता है [इति भणितं] ऐसा कहा है। [यस्मात्] जिस कारण [सा प्रकृतिः] वह प्रकृति ही [परं] दूसरेको [हंति] मारता है [च] और [परेण हन्यते] परके द्वारा मारा जाता है [एतेन अर्थेन] इसी अर्थसे [परघात नाम इति भण्यते] यह परघात नामक प्रकृति है यह कहा जाता है [तस्मात्] इस कारण [अस्माकं उपदेशे]

जीवका जीवरूपक, विस्तृत लोकपरिमाण तक जानो ।
उससे हीन या अधिक, कैसे है कोइ कर सकता ।।३४३।।
यदि ऐसा मानो यह, ज्ञायक निज ज्ञानभावसे है ही ।
तो सिद्ध हुआ आत्मा, अपनेको आप नहिं करता ।।३४४।।

कर्मभिः सुखायते दुःखायते तथैव कर्मभिः । कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ।। ३३३ ।।
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च । कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ।। ३३४ ।।
यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित् । तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ।।
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति । एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ।। ३३६ ।।
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे । यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितं ।। ३३७ ।।
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः । एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ।। ३३८ ।।
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे । यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितं ।। ३३९ ।।
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः । तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ।। ३४० ।।
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति । एप मिथ्यास्वभावस्तवैतज्जानतः ।। ३४१ ।।
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये । नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ।। ३४२ ।।
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु । ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ।। ३४३ ।।
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं । तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ।।३४४।।

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति निद्राख्यकर्मोदयमंत-

---

तु, अज्ञानिन्, ज्ञानिन्, तथा, एव, च, मिथ्यात्व, असंयम, ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्लोक, शुभाशुभ, यावत्, किंचित्, यत्, तत्, सर्वजीव, अकारक, आपन्न, पुरुष, स्त्र्यभिलाषिन्, स्त्रीकर्मन्, पुरुष, एतत्, आचार्यपरम्परागता, ईदृशी, श्रुति, तत्, न, किम्, अपि, जीव, अब्रह्मचारिन्, तु, अस्मद्, उपदेश, यत्, भणित, पर, तत्, प्रकृति, एतत्, अर्थ, किल, परघातनामन्, इति, उपघातक, सांख्योपदेश, यत्, ईदृश, श्रमण, तत्, प्रकृति, आत्मन्, च, अकारक, सर्व, अथवा, अस्मद्, आत्मन्, एतत्, मिथ्यास्वभाव, युष्मद्, एतत्, जानत्, आत्मन्, नित्य, असंख्येयप्रदेश, दर्शित, तु, समय, न, अपि, तत्, ततः, हीन, अधिक, जीवरूप, विस्तरतः,

---

[**आत्मनः**] अपने [**आत्मानं**] आत्माको [**करोति**] करता है, ऐसा कर्तापनका पक्ष मानो तो [**तज्जानतः**] ऐसे जानते हुए [**तवैव**] तेरा [**एषः**] यह [**मिथ्यास्वभावः तु**] मिथ्यास्वभाव है [**यत्**] क्योंकि [**समये**] सिद्धान्तमें [**आत्मा**] आत्मा [**नित्यः**] नित्य [**असंख्येयप्रदेशः**] असंख्यातप्रदेशी [**दर्शितः**] कहा गया है [**ततः**] उससे [**सः**] वह [**हीनः च अधिकः कर्तुं**] हीन और अधिक किया जानेके लिये [**नापि शक्यते**] शक्य नहीं है [**विस्तरतः**] और विस्तार अपेक्षासे भी [**जीवस्य जीवरूपं**] जीवका जीवरूप [**खलु**] निश्चयतः [**लोकमात्रं**] लोकमात्र [**जानीहि**] जानो [**ततः**] उस परिमाणसे [**किं**] क्या [**सः**] वह [**हीनोऽधिकः वा**] हीन

ददाति कर्म हरति च ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः किंच—श्रुतिरप्येनमर्थमाह, पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात् । तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात् । एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः—जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो

पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया। सुहाविज्जइ सुखायते दुक्खाविज्जइ दुःखायते—वर्तमान० अन्य० एक० नामधातु भावकर्मप्रक्रिया। णिज्जइ नीयते—वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। भमाडिज्जइ भ्राम्यते—वर्तमान० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया। उड्ढं ऊर्ध्वं अहो अधः—अव्यय। तिरियलोयं तिर्यग्लोकं, किज्जइ क्रियते—वर्तमान० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया। सुहासुहं शुभाशुभं—प्र० एक० कर्मवाच्य कर्म। जम्हा यस्मात्—पंचमी एक०। कम्मं कर्म—प्र० एक०। कुव्वइ करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। हरइ हरति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। जं यत्—प्रथमा एक०। तम्हा तस्मात्—पंचमी एक०। सव्वजीवा सर्वजीवाः—प्र० बहु०। अकारया अकारकाः—प्र० बहु०। हुंति भवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया। आवण्णा आपन्नाः—प्रथमा बहु०। पुरिसित्थियाहिलासी पुरुषःस्त्र्यभिलाषी—प्रथमा एक०। स्त्रीकर्म—प्र० ए०। पुरिसं—द्वि० ए०। एसा एषा—प्र० ए०। आयरियपरंपरागया आचार्यपरम्परागता एरिसी ईदृशी

कर्म ही आत्माको सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीयकर्मके उदयके बिना सुखकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको दुःखी करता है क्योंकि असातावेदनीयकर्मके उदयके बिना दुःखकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके बिना मिथ्यात्वकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोहकर्मके उदयके बिना असंयमकी अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्माको ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें भ्रमाता है, क्योंकि आनुपूर्वीनामकर्मके उदयके बिना भ्रमणकी अनुपपत्ति है। अन्य जो भी कुछ शुभ अशुभ हैं, उन सबको कर्म ही करता है; क्योंकि प्रशस्त अप्रशस्त रागनामक कर्मके उदयके बिना उस शुभ अशुभकी अनुपपत्ति है। इस प्रकार सब ही को स्वतन्त्र होकर कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, इसलिये हम ऐसा निश्चय करते हैं कि सभी जीव नित्य एकांतसे अकर्ता ही हैं। और क्या—शास्त्र भी इसी अभिप्रायका समर्थन करता है। क्योंकि पुंवेदकर्म स्त्रीकी और स्त्रीवेदकर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है, इस वाक्य से कर्मकी ही अभिलाषारूप कर्मके कर्तृत्वके समर्थन द्वारा जीवके अब्रह्मका समर्थन न होनेसे जीवको अब्रह्मका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। तथा 'जो दूसरेको मारता है और दूसरेसे मारा

कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात् । न चावस्थिताऽसंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात् । न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचविकाशयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्य-

एएणअच्छेण एतेनअर्थेन—तृ० एक० । भण्णइ भण्यते—वर्तमान० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया । परघायणाम परघातनाम वघायओ उपघातकः—प्र० एक० । अत्थि अस्ति—व० अ० ए० क्रिया । घाएदि हंति—व० अ० ए० क्रिया । संखुवएसं सांख्योपदेशं—द्वितीया एक० । परूविंति प्ररूपयन्ति—व० अ० बहु० क्रिया । एरिसं ईदृशं—द्वि० ए० । समणा श्रमणाः—प्र० बहु० । तेसिं तेषां—षष्ठी बहु० । पयडी प्रकृतिः—प्र० ए० । कुव्वइ

होता है । इस कारण सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञानस्वभावमें स्थित होकर भी ज्ञायकभाव जब कर्मोंसे उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावोंका ज्ञान करता है तब अनादिकालसे ज्ञेय ज्ञानका भेद न समझनेके कारण परपदार्थको अपना मानने लगता है सो विशेषकी अपेक्षासे अज्ञानमयी परिणामोंके करनेके कारण उसका कर्ता मानना चाहिए । वह भी तब तक, जब तक कि इसे प्रकट भेदज्ञानकी पूर्णता न हो, पूर्णता हो जानेपर जब वह आत्माको ही आत्मा जानने लगता है, तब इस विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानमयी ज्ञानपरिणामोंसे परिणमन करता है, उस समय मात्र ज्ञाता होनेसे वह साक्षात् अकर्ता रहता है ।

भावार्थ—कितने ही जैन श्रमण भी स्याद्वादवाणीको अच्छे प्रकार न समझनेके कारण सर्वथा एकांतका अभिप्राय करते हैं, और विवक्षाको बदलकर यह कहते हैं कि 'आत्मा तो भावकर्मका अकर्ता ही है' कर्म प्रकृतिका उदय ही शरीर व भावकर्मको करता है । ऐसा सर्वथा एकान्तको मानने वाले उन मुनियोंपर जिनवाणीका कोप अवश्य होता है, क्योंकि जिनवाणीका कथन है कि प्रत्येक सत् अपना परिणमन करता रहता है, आत्मा भी अपना परिणमन करता है । जिनवाणीके कोपके भयसे यदि वे विवक्षाको बदलकर ऐसा कहें कि भावकर्मका कर्ता कर्म है और अपने आत्माका कर्ता आत्मा है, इस प्रकार हम आत्माको कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणीकी विराधना नहीं होती, तो उनका ऐसा कहना मिथ्या ही है । आत्मा द्रव्यसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है । इसलिए आत्माके कर्तृत्व और अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको 'यथार्थ मानना है' आत्माके कर्तृत्व और अकर्तृत्वके सबंधमें सत्यार्थ स्याद्वाद प्ररूपण इस प्रकार है । आत्मा सामान्य अपेक्षासे तो ज्ञानस्वभावमें ही स्थित है, परंतु मिथ्यात्वादि भावोंको जानते समय अनादिकालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानके अभाव

विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञान-भेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परि-णममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ॥ माऽकर्तारममी स्पृशंतु पुरुषं सांख्या इवा-

अप्पणो आत्मनः–षष्ठी ए० । कुणइ करोति–व० अ० ए० । मिच्छसहावो मिथ्यास्वभावः–प्र० ए० । तुम्हं मुणंतस्स तव जानतः–षष्ठी ए० । अप्पा आत्मा णिच्चो नित्यः असंखिज्जपदेसो असंख्यातप्रदेशः देसिओ

तरह वस्तुस्वरूप है उस तरह काव्यमें दिखलाते हैं—**क्षणिक** इत्यादि । **अर्थ**—इस लोकमें कोई एक क्षणिकवादी दार्शनिक तो आत्मतत्त्वको क्षणिक कल्पित करके अपने मनमें कर्ता भोक्तामें भेद करते हैं कर्ता अन्य है भोक्ता अन्य है उनके अज्ञानको यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं नित्य अमृतके समूहोंसे सींचता हुआ दूर करता है । **भावार्थ**—क्षणिकवादी कर्ता भोक्ता में भेद मानते हैं कि जो पहले क्षणमें वह दूसरे क्षणके नहीं है आचार्य कहते हैं कि हम उनको क्या समझावें ? यह चैतन्य ही उनका अज्ञान दूर करेगा जो कि अनुभवगोचर व नित्यरूप है । पहले क्षण जो आत्मा है वही दूसरे क्षणमें कहता है, सो जो मैं पहले था वही हूं ऐसा स्मरण पूर्वक प्रत्यभिज्ञान उसकी नित्यता दिखलाता है । इसलिये नित्यता व अनित्यताका सर्वथा एकांत मानना ये दोनों ही भ्रम हैं वस्तुस्वरूप नहीं है । स्याद्वाद शासन कथंचित् नित्यानित्यरूप वस्तुका स्वरूप कहता है वही सत्यार्थ है ।

अब ऐसे ही क्षणिक मानने वालोंको युक्तिसे काव्य द्वारा निषेध करते हैं—**वृत्त्यंश** इत्यादि । **अर्थ**—वृत्त्यंशोंके भेदसे वृत्तिमानके सर्वथा नाशकी कल्पनासे "अन्य करता है अन्य भोक्ता है" ऐसा एकान्त मत प्रकाशित करो । **भावार्थ**—क्षण क्षणकी प्रति अवस्थाभेदोंको वृत्त्यंश कहते हैं, उनको सर्वथा भेद जुदे-जुदे वस्तु माननेसे अवस्थाओंका आश्रयरूप जो वृत्ति-मान वस्तु है उसके नाशकी कल्पना करके जो ऐसा मानते हैं कि कर्ता दूसरा है और भोक्ता कोई दूसरा ही है । उसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकान्त मत प्रकाशित करो । जहाँ अवस्थावान् पदार्थका नाश हुआ वहाँ अवस्थायें किसके आश्रय होकर रहेंगी ? इस तरह पर्याय व द्रव्य दोनोंका नाश आता है तब शून्यका प्रसंग होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें यह निष्कर्ष दिखाया गया था कि परिण-मनस्वभावी जीव मिथ्यात्वादि प्रकृत्युदयका निमित्त पाकर मिथ्यात्वादि भावकर्मरूप परिणम जाता है । अब इन गाथावोंमें पूर्वपक्षपूर्वक उसी सिद्धान्तको पुष्ट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यहाँ मूल पूर्वपक्ष यह है कि जीव कूटस्थ ध्रुव अपरिणामी अकर्ता है । (२) जीव जब एकान्ततः अकर्ता है तो अज्ञान, निद्रा, सुख, दुःख, मिथ्यात्व,

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सोचिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

चूंकि किन्हीं पर्यायों-से नशता जीव किन्हींसे न नशे।
इससे वही है कर्ता, अथवा अन्य है यह सच सब ॥३४५॥
चूंकि किन्हीं पर्यायों-से नशता जीव किन्हींसे न नशे।
इससे वही है भोक्ता, अथवा अन्य है यह सच सब ॥३४६॥
जो कर्ता वही नहीं, भोक्ता जिसका विचार हो ऐसा।
उसको जानो मिथ्या-दृष्टी, जिन समयसे बाहर ॥३४७॥
अन्य कर्ता व भोक्ता, होता जिसका विचार हो ऐसा।
उसको जानो मिथ्या-दृष्टी, जिन समयसे बाहर ॥३४८॥

नामसंज्ञ—केहिंचि, पज्जय, दु णेव जीव, त, वा व चेव जीव, ज, त, अण्ण, णेयंत, ज, एत, सिद्धंत, णायव्व, मिच्छादिट्ठी, अणारिहद, अण्ण, ज, एत, सिद्धंत, णादव्व। **धातुसंज्ञ**—वि नस्स नाशे, कुव्व

अब अनेकान्त शासनसे इस क्षणिकवादको स्पष्टतया निषेधते हैं—**[यस्मात्]** जिस कारण **[जीवः]** जीव **[कैश्चित्तु पर्यायैः]** कितनी ही पर्यायोंसे तो **[विनश्यति]** विनाशको प्राप्त होता है **[तु]** और **[कैश्चित्]** किन्हीं भावोंसे **[नैव]** विनष्ट नहीं होता **[तस्मात्]** इस कारण **[स वा करोति]** वह ही करता है **[वा अन्यः]** अथवा अन्य करता है **[न एकांतः]** ऐसा एकान्त नहीं **[यस्मात्]** जिस कारण **[जीवः]** जीव **[कैश्चित्तु पर्यायैः]** कितनी एक पर्यायोंसे **[विनश्यति]** विनाशको प्राप्त होता है **[तु]** और **[कैश्चित्]** किन्हीं भावोंसे **[नैव]** विनष्ट नहीं होता **[तस्मात्]** इस कारण **[स वा वेदयते]** वही जीव भोक्ता होता है **[अन्यो वा]** अथवा अन्य भोक्ता है **[न एकांतः]** ऐसा एकान्त नहीं है। **[च यस्य एष सिद्धांतः]**

स्वरूपमें तन्मय आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है। (२) प्रत्यगात्मा भी अनन्तधर्मात्मक है जैसे कि सभी पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होते हैं। (३) अनन्त धर्मोंमें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारण गुण हैं। चेतनत्व असाधारण गुण हैं। अमूर्तत्व आदि अनेक साधारणासाधारण गुण हैं। इन गुणोंके परिणमनरूप गुणपर्यायें हैं। आकाररूप परिणमन द्रव्यपर्यायें हैं। इन सबके अतिरिक्त एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्म हैं। इन सबमें तादात्म्यसमवेत अनन्तधर्मात्मक आत्मवस्तु है। (४) अनन्तधर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन करने वाली द्रव्यवाणी अनेकान्तमयी मूर्ति है।

सिद्धान्त—(१) प्रत्यगात्मा अथवा आत्मा अनन्तधर्मात्मक है। (२) आत्मा साधारण गुण, असाधारणगुण व पर्याय सामान्य आदि अनंत धर्मोंसे अभिन्न स्वभाव वाला है। (३) आगममें अनन्तधर्मात्मक वस्तुका भेदविधिसे भी परिचय कराया है। (४) आगममें व्यवहारी जनोंके प्रतिबोधनार्थ भेदविधिसे भी प्रतिपादन है। (५) आगममें लौकिक जनोंको अभिप्राय, निमित्त व प्रयोजन बतानेके लिये एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें कर्तृत्व आदि बतानेकी भाषासे याने उपचार भाषासे भी वर्णन है।

दृष्टि—१–प्रमाणसिद्ध। २–अन्वयद्रव्यार्थिकनय (२७)। ३–व्यवहारनय (५०–६१)। ४–व्यवहार (६२-१०२)। ५–उपचार (१०३-१५२)।

प्रयोग—आत्मा अनन्तधर्मात्मक है उसे नय व प्रमाणसे भली प्रकार परखकर परसे विभक्त व अपनेमें तन्मय प्रत्यगात्माके तथ्यका ज्ञान सतत बनाये रहना चाहिये, यही जैन-शासनके अध्ययनका प्रयोजन व फल है।

टीकागत प्रतिज्ञापक छन्दका अर्थ—शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति होनेपर भी मेरी परिणति परपरिणतिका निमित्तभूत जो मोहनीय नामक कर्म है उसके अनुभाव (उदयविपाक) से अनुभाव्य (रागादि परिणाम) की व्याप्तिसे निरन्तर कल्माषित (मलीन) है, सो समयसारकी व्याख्या ही से मेरी इस अनुभूतिकी परमविशुद्धि होवे।

भावार्थ—टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि कहते हैं कि मैं परमशुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र अविकार आनन्दमय हूं, परन्तु द्रव्य कोई परिणमे बिना रहता नहीं, मैं भी परिणम रहा हूं, लेकिन मोहनीय नामक कर्मके उदयविपाकका निमित्त पाकर रागादि भावरूप मलिन परिणम रहा हूं। अब मैं सहज शुद्ध आत्मद्रव्यका निरूपण करने वाले समय-सार ग्रन्थराजकी व्याख्या कर रहा हूं सो इस व्याख्या करनेका मेरा प्रयोजन यही है कि रागादि-मलिन अनुभूति दूर होवे और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव सहज आत्मतत्त्वकी अनुभूति प्रतीति चर्यारूप मेरी परमविशुद्धि होवे।

प्रसंगविवरण—टीकाकार श्री सूरिजी समयसारकी व्याख्या करेंगे सो व्याख्या करने

भाव: । ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांत: । एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्य: करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्य: । क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवान्त:प्रतिभासमानत्वात् ।। आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकै:, कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परै: । चैतन्यं क्षणिकं प्रक-

---

अनार्हत । **मूलधातु**—वि णश अदर्शने, डुकृञ् करणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, परि भुज उपभोगे पालनाभ्यवहारयो: रुधादि, भुजोऽनवने इत्यनेन आत्मनेपदी । **पदविवरण**—केहिंचि कैश्चित्–अव्यय अन्त:

करने वाला अन्य पर्याय है और भोगने वाला अन्य ही पर्याय है । जैसे मनुष्य पर्यायमें शुभ अशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्यायमें भोगा । परन्तु द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तब जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है । जैसे मनुष्य पर्यायमें जो जीवद्रव्य था उसने शुभाशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्यायमें गया वहाँ उसी जीवने अपने कियेका फल भोगा । इस तरह वस्तुका स्वरूप अनेकांतरूप सिद्ध है, तो भी जो शुद्धनयको तो समझते नहीं और शुद्धनयके लोभसे वस्तुका प्रत्येक पर्याय जो वर्तमान कालमें एक एक अंश था उसीको वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयके विषयका एकांत पकड़ ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह नहीं भोगता है अन्य भोगता है और जो भोगता है वह करता नहीं है अन्य करता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव अरहंतमतके अनुयायी नहीं हैं । क्योंकि पर्यायके क्षणिकपना होनेपर भी द्रव्य तो चैतन्यचमत्कार अनुभवगोचर नित्य है । जैसे प्रत्यभिज्ञानसे ऐसा जाने कि जो बालक अवस्थामें मैं था वही अब तरुण अवस्थामें तथा वृद्ध अवस्थामें हूं, इसी तरह जो अनुभवगोचर स्व संवेदनमें आवे व जिनवाणी भी ऐसे ही कहे उसको न माने वही मिथ्यादृष्टि कहलाता है ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—आत्मानं इत्यादि । **अर्थ**—आत्माको संपूर्णतया शुद्ध चाहने वाले अज्ञानान्धोंने उस आत्मामें कालकी उपाधिके बलसे अधिक अशुद्धता मानकर अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर तथा शुद्ध ऋजुसूत्रनयमें अमर्याद प्रेरित होकर चैतन्यको क्षणिक कल्पना करके इस आत्माको छोड़ दिया । जैसे कि हारके सूतको न देखकर मात्र मोतियोंके देखने वाले हारको छोड़ देते हैं । **भावार्थ**—आत्मा तो द्रव्यपर्याय स्वरूप था, वह सर्वथा क्षणिक पर्यायस्वरूप मानकर छोड़ दिया गया तो उनको आत्माको प्राप्ति नहीं हुई । यहां हारका दृष्टांत है । जैसे मोतियोंका हार है उसमें सूत्रमें जो मोती पोये हुए हैं वे भिन्न-भिन्न दीखते हैं सो जो हार सूत्र सहित मोती नहीं दिखते, मोतियोंको हो भिन्न देख

स्त्येव नः ।।२०६।। व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते । निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।।२१०।। ।। ३४५-३४८ ।।

एयंतो एकान्तः—प्रथमा एकवचन । जो यः—प्र० ए० । कुणइ करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जस्स यस्य—षष्ठी एक० । एस एषः—प्रथमा एक० । सिद्धंतो सिद्धान्तः—प्रथमा एक० । णादव्वो ज्ञातव्यः—मिच्छादिट्ठी मिथ्यादृष्टिः—प्र० ए० । अणारिहदो अनार्हतः—प्रथमा एकवचन ।। ३४५-३४८ ।।

अब इस कथनको नयविभागसे काव्यमें कहते हैं—**व्यावहारिक** इत्यादि । **अर्थ**—केवल व्यवहारकी दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न दीखता है यदि निश्चयसे विचार किया जाय तो कर्ता और कर्म सदाकाल एक ही देखनेमें आता है । **भावार्थ**—व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है इसमें तो भेद ही दीखता है और शुद्ध निश्चयनय द्रव्याश्रित है, इसमें अभेद ही दीखता है । इसलिए व्यवहारमें तो कर्ता कर्मका भेद है और निश्चयनयमें अभेद है याने कर्ता कर्मका भेद नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावोंमें सिद्ध किया गया था कि अज्ञानी आत्मा अशुद्ध परिणामका कर्ता है । अब इसी विषयके स्पष्टीकरणके अर्थ इस गाथाचतुष्कमें बताया गया है कि जो जीव कर्ता है वही भोक्ता है यह एकान्त मिथ्या है और अन्य जीव कर्ता है अन्य जीव भोक्ता है यह एकान्त भी मिथ्या है ।

तथ्यप्रकाश—१—प्रतिसमय अगुरुलघुगुणके परिणमन होते ही रहनेसे जीवमें क्षणिकपना है । २— जीवका असाधारण गुण चैतन्य अचलित अन्वित होनेसे जीवमें नित्यपना है । ३— जीवमें क्षणिकत्व व नित्यत्व दोनों एक साथ हैं । ४— क्षणिकत्व व नित्यत्व होनेसे जीव किन्हीं पर्यायोंसे तो विनष्ट होता है और किन्हीं पर्यायोंसे विनष्ट नहीं होता । ५— यदि कोई यह एकान्त करे कि जो करता है वही भोगता तो वह मिथ्या है । ६— यदि कोई यह एकान्त करे कि अन्य कोई करता है अन्य कोई भोगता है तो वह मिथ्या है । ७—यदि जीवको कूटस्थ अपरिणामी नित्यैकान्त ऐसा एक माना जावे तो उस एकका मनुष्यादि भव ही न बना फिर करना भोगना ही नहीं बनता । ८—मनुष्यने तप किया देवने फल भोगा ऐसा अन्यतैकान्त मान कर दोनोंमें वही जीव न माना जाय तो फिर मोक्षसाधनादि सब व्यर्थ हो जावेंगे व हिंसादि पाप निरर्गल बढ़ जावेंगे । ९— वास्तविकता यह है कि पर्यायोंके क्षणिक होनेपर भी पर्यायी चैतन्यचमत्कारमय जीव शाश्वत अंतः प्रतिभासमान है । १०— निरुपाधि शुद्ध आत्माको बतानेकी धुनमें कुछ दार्शनिकोंने कालोपाधि भी हटाकर क्षणिक पर्यायको ही पूर्ण द्रव्य मान कर द्रव्यका सत्त्व पहिले या बादमें कुछ भी नहीं माना है जो कि बिल्कुल असंगत है । ११—

जैसे शिल्पी करता, भूषण कर्म नहिं कर्ममें तन्मय ।
वैसे जीव भि करता, कर्म नहीं कर्मसे तन्मय ॥३४९॥
जैसे शिल्पी करता, करणोंसे करणमें नहीं तन्मय ।
वैसे जीव भि करता, करणोंसे किन्तु नहिं तन्मय ॥३५०॥
जैसे शिल्पी गहता, करणोंको करणमें नहीं तन्मय ।
वैसे जीव भि गहता, करणोंको किन्तु नहिं तन्मय ॥३५१॥
ज्यौं शिल्पी कृतिफलको, भोगे फलसे न तन्मयी होता ।
त्यौं शिल्पी कृतिफलको, भोगे नहिं तन्मयी होता ॥३५२॥
त्यौं व्यवहाराशयका, दर्शन संक्षेपसे बताया है ।
अब निज परिणाम विहित, निश्चयनयका वचन सुनिये ॥३५३॥
ज्यौं शिल्पी करता है, चेष्टा उससे अनन्य होता वह ।
त्यौं भावकर्म करता, जीव भि उससे अनन्य हुआ ॥३५४॥
ज्यौं चेष्टा करता यह, शिल्पी फलमें अभिन्न दुख पाता ।
त्यौं चेष्टा कर आत्मा, फलमें भि अभिन्न दुख पाता ॥३५५॥

तु, ज, चिट्ठ, अणण्ण, त, णिच्चदुक्खिअ, तत्तो, अणण्ण, चेट्ठंत, दुहि, जीव । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, हो सत्तायां, गिण्ह ग्रहणे, भुंज भोगे, सुण श्रवणे, हव सत्तायां, चेट्ठ चेष्टायां । **प्रातिपदिक**—यथा, शिल्पिक,

तु] जैसे शिल्पी [**कर्म**] आभूषणादिक कर्मको [**करोति**] करता है [**तु स**] परन्तु वह [**तन्मयो न च भवति**] आभूषणादिकोंसे तन्मय नहीं होता [**तथा**] उसी तरह [**जीवोपि च**] जीव भी [**कर्म**] पुद्गलकर्मको [**करोति**] करता है । [**च**] तो भी [**तन्मयो न भवति**] कर्मसे तन्मय नहीं होता । [**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः**] शिल्पी [**करणैः**] हथौड़ा आदि करणोंसे [**करोति**] कर्म करता है । [**तु सः**] परन्तु वह [**तन्मयो न भवति**] उनसे तन्मय नहीं होता [**तथा**] उसी तरह [**जीवः**] जीव भी [**करणैः करोति**] मन, वचन, काय आदि करणोंसे कर्मको करता है [**च**] तो भी [**तन्मयो न भवति**] करणोंसे तन्मय नहीं होता । [**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः**] शिल्पी [**करणानि**] करणोंको [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है [**तु**] तो भी [**स तु**] वह [**तन्मयो न भवति**] उनसे तन्मय नहीं होता [**तथा**] उसी तरह [**जीवः**] जीव [**करणानि गृह्णाति**] मन, वचन, कायरूप करणोंको ग्रहण करता है [**तु च**] तो भी [**तन्मयो न भवति**] उनसे तन्मय नहीं होता । [**यथा**] जैसे [**शिल्पी तु**] शिल्पी [**कर्मफलं**] आभूषणादि कर्मोंके फलको [**भुंक्ते**] भोगता है [**तु च**] तो भी [**सः**] वह उनसे [**तन्मयो न भवति**] तन्मय नहीं होता

कद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्गलपरिणामात्मकं कर्म करोति कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म

ततः—अव्यय। सिप्पिओ शिल्पिकः—प्रथमा एकवचन। कम्मं कर्म—द्वितीया एकवचन। कुव्वइ करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सो सः—प्र० ए०। तम्मओ तन्मयः—प्र० ए०। होइ भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जीवो जीवः—प्रथमा एक०। कम्मं कर्म—द्वितीया एक०। करणेहिं करणैः—तृ० बहु०। गिण्हइ गृह्णाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। कम्मफलं कर्मफलं—द्वितीया एक०।

णामस्वरूप कर्मको करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यके परिणामस्वरूप करणों द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यके परिणामस्वरूप करणोंको ग्रहण करता है, और ग्राम धन आदि परद्रव्यके परिणामस्वरूप कुण्डलादि कर्मफलको भोगता है, किंतु अनेकद्रव्यत्वके कारण उनसे याने कर्म करण आदिसे अन्यपना होनेपर उनसे तन्मय नहीं होता, इस कारण वहाँ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रसे ही उनके कर्ता-कर्मपनेका और भोक्ता-भोग्यपनेका व्यवहार है। उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पाप आदि पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्मको करता है, मन वचन काय पुद्गलद्रव्य स्वरूप करणोंके द्वारा कर्मको करता है, मन वचन काय पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि पुद्गल द्रव्यके परिणामस्वरूप पुण्य पाप आदि कर्मों के फलको भोगता है, किन्तु अनेक द्रव्यपनेके कारण उनसे अन्य होनेपर उनसे तन्मय नहीं होता। इस कारण निमित्तनैमित्तिकभावमात्रसे ही वहां कर्ता-कर्मपने व भोक्ताभोग्यपनेका व्यवहार है। जैसे वही शिल्पी करनेका इच्छुक हुआ अपने हस्त आदिकी चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्मको करता है और दुःखस्वरूप अपने परिणामरूप चेष्टामय कर्मके फलको भोगता है उन परिणामोंको अपने एक ही द्रव्यपनेके कारण अनन्य होनेसे उनसे तन्मय होता है। इसलिये उनमें परिणाम-परिणामी भावसे कर्ताकर्मपनेका तथा भोक्ता-भोग्यपनेका निश्चय है। उसी तरह आत्मा भी करनेका इच्छुक हुआ अपने उपयोगकी तथा प्रदेशोंकी चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्मको करता है और दुःख स्वरूप अपने परिणामरूप कर्मके फलको भोगता है और अपने एक ही द्रव्यपनेके कारण अन्यपना न होनेपर उनसे तन्मय होता है। इस कारण परिणाम परिणामी भावसे उसीमें कर्ता कर्मपनेका और भोक्ता भोग्यपनेका

स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् । न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया स्थिति-रिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥ बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं तथा-

आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । णिच्छयस्स निश्चयस्य-षष्ठी एक० । वयणं वचनं परिणामकयं परिणामकृतं जं यत्-प्रथमा एकवचन । होइ भवति-व० अ० ए० । चिट्ठं चेष्टां-द्वि० एक० । कुव्वइ

ही है अन्यका कहना व्यवहार है ।

अब यही अर्थ काव्यमें कहते हैं—**यत्तु** इत्यादि । अर्थ—कोई वस्तु स्वयं परिणामी अन्य वस्तुका कुछ करती है ऐसा जो मत है वह मत व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही है निश्चयसे तो एकका दूसरा कुछ है ही नहीं । **भावार्थ**—एक द्रव्यके परिणमनमें अन्य द्रव्यको निमित्त देखकर यह कहा जाता कि अन्य द्रव्यने यह किया, निश्चयसे तो जो परिणाम हुआ वह अपना ही हुआ दूसरेने उसमें कुछ भी लाकर नहीं रक्खा, ऐसा जानना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें स्वपरिणमनरूप कर्तृत्वको सिद्ध करनेके लिये नित्यानित्यत्वकी व्यवस्था बताई गई थी । अब इस गाथासप्तकमें वास्तविक कर्तृकर्मत्व अभेद दर्शाया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–व्यवहारसे कर्ता कर्म भिन्न-भिन्न समझे जाते हैं, किन्तु निश्चयसे जो ही कर्ता है वही उसका कर्म है । २– व्यवहारसे अज्ञानी जीव स्वसंवेदनसे च्युत होता हुआ ज्ञानावरणादि कर्मोंको करता है, किन्तु उनसे तन्मय नहीं होता । ३– व्यवहारसे अज्ञानी जीव मन वचन कायके व्यापाररूप उपकरणोंके द्वारा कर्मोंको करता है, किन्तु उन उपकरणों से तन्मय नहीं होता । ४–व्यवहारसे अज्ञानी जीव कर्मोंको करनेके लिये योगव्यापाररूप उपकरणोंको ग्रहण करता है, किन्तु उनसे तन्मय नहीं होता । ५–जीव तो कर्म व योगव्यापारोंसे भिन्न टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप है, अतः कर्म व योग व्यापारोंसे कभी भी तन्मय नहीं होता । ६– व्यवहारसे अज्ञानी जीव शुद्धात्मभावनोत्थ सहजानन्दको न पाता हुआ शुभाशुभ कर्मफलोंको भोगता है, किन्तु उनसे तन्मय नहीं होता । ७– वास्तवमें अज्ञानी जीव शुद्धात्म-स्वरूपकी प्रतीतिके अभावमें अपने समुचित उपादानरूपसे मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्मको करता है वह उस समय उस भावकर्मसे अनन्य है । ८– वास्तवमें अज्ञानी जीव निश्चयरत्न-त्रयके अभावमें सुखदुःखादिके भोगनेके समय हर्षविषादरूप चेष्टाको करता हुआ दुःखी होता है वह हर्षविषादचेष्टासे अशुद्धोपादानरूपसे अनन्य है । ९– अज्ञानी जीव स्वसहजात्मज्ञानसे च्युत होकर व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मको करता है व भोगता है । १०– वास्तवमें अज्ञानी जीव कर्म-फलको आत्मरूप मानता हुआ अज्ञानरूप ज्ञानपरिणमनसे परिणमता है ।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जइ परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तइ परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥३६३॥

नामसंज्ञ—जह, सेडिया, दु, ण, पर, य, त, तह, जाणअ, त, पासअ, संजअ, दंसण, एवं, तु, णिच्छयणय, भासिय, णाणदंसणचारित्त, ववहारणय, वत्तव्व, त, समास, णाया, वि सय भाव, परदव्व, अप्प,

---

[परस्य न] परपदार्थ दीवार आदिकी नहीं है [सेटिका] सफेदी [सा च सेटिका भवति] तो सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [संयतः तु] संयत याने त्याग करने वाला आत्मा [परस्य न] परद्रव्यका नहीं है [संयतः स तु संयतः] संयत तो वह संयत ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी [परस्य न] परद्रव्यकी नहीं है, [सेटिका सा च सेटिका भवति] सफ़ेदी तो वह सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [दर्शनं तु] श्रद्धान [परस्य न] परपदार्थका नहीं है [दर्शनं तत्तु दर्शनं] श्रद्धान तो वह श्रद्धान ही है। [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें [निश्चयनयस्य भाषितं] निश्चयनयका कथन है [तस्य च] अब उस सम्बंध

ज्यौं परको श्वेत करे, सेटिका वहां स्वकीय प्रकृतीसे ।
त्यौं परको सरधाने, सम्यग्दृष्टी स्वभाव हि से ।।३६४।।
यौं व्यवहार विनिश्चय, दर्शन ज्ञान चारित्रमें जानो ।
ऐसा ही अन्य सकल, पर्यायोंमें भि नय जानो ।।३६५।।

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति । तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति । तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति । तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति । तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ।।
एवं तु निश्चयनयस्य च भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे । शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ।।
यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन । तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन । तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन । तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन । तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ।।
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे । भणितोऽन्येष्वपि पर्ययेषु एवमेव ज्ञातव्यः ।।

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदु-

---

प्रातिपदिक—यथा, सेटिका, तु, न, पर, च, तत्, तथा, ज्ञायक, दर्शक, संयत, दर्शन, एवं, तु, निश्चयनय, भाषित, ज्ञानदर्शनचरित्र, व्यवहारनय, वक्तव्य, तत्, समास, ज्ञातृ, अपि, स्वक, भाव, परद्रव्य, आत्मन्,

---

है [तथा] उसी प्रकार [**जीवः अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं पश्यति**] जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्यको देखता है [यथा] जैसे [**सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति**] सफेदी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [**ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं सेटयति**] ज्ञानी भी अपने स्वभावसे परद्रव्यको छोड़ता है [**यथा**] जैसे [**सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति**] सफेदी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है [**तथा**] उसी प्रकार [**सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन परद्रव्यं श्रद्धते**] सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावसे परद्रव्यको श्रद्धान करता है [**एवं तु**] इस प्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें [**व्यवहारनयस्य विनिश्चयः**] व्यवहारनयका निर्णय [**भणितः**] कहा गया है [**एवं अन्येषु पर्यायेषु अपि ज्ञातव्यः**] इसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें भी जानना चाहिये ।

तात्पर्य—आत्मा स्वयंमें अपने उपयोग परिणामरूप परिणमता है यह निश्चयनयका सिद्धान्त है और उपयोगके विषयभूत पदार्थके प्रति आतमाका कर्तृत्व बताना व्यवहारनयका विनिश्चय है ।

यथा दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि परद्रव्यं। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्, एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य

एकवचन। संजओ संयतः–प्रथमा एक०। दंसणं दर्शनं–प्र० ए०। एवं–अव्यय। णिच्छयणयस्स निश्चयनयस्य–षष्ठी एक०। भासियं भाषितं–प्रथमा एक० कृदन्त। णाणदंसणचरित्ते ज्ञानदर्शनचरित्रे–सप्तमी एक० द्वन्द्वसमास, सुणु शृणु–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया। ववहारणयस्स व्यवहारनयस्य–

ज्ञायक चेतयिता आत्मा कुछ होता है या नहीं ? ऐसा उन दोनोंका तात्त्विक सम्बन्ध विचारा जाता है। यदि चेतयिता आत्मा पुद्गल आदि परद्रव्यका है तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं। जैसे कि आत्माका होता हुआ ज्ञान आत्मा ही है ज्ञान कुछ पृथक् द्रव्य नहीं है। ऐसे परमार्थरूप तत्त्वसंबंधके जीवित (विद्यमान) होनेपर आत्मा पुद्गलादिकका होवे तो वह चेतयिता पुद्गलादिक ही होना चाहिये। ऐसा होनेपर आत्माके स्वद्रव्यका अभाव हो जायगा, किन्तु द्रव्यका अभाव नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्यको पलटकर अन्य द्रव्य होनेका निषेध तो पहले ही कह आये हैं। इसलिये चेतयिता आत्मा पुद्गलादिक परद्रव्यका नहीं होता। **प्रश्न**–चेतयिता आत्मा पुद्गलादि परद्रव्यका नहीं हैं तो किसका है ? **उत्तर**–चेतयिताका ही चेतयिता है। **प्रश्न**—वह दूसरा चेतयिता कौनसा है जिसका यह चेतयिता है ? **उत्तर**—चेतयितासे अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु स्वस्वामिअंश ही अन्य कहे जाते हैं। **प्रश्न**– यहां स्वस्वामिअंशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? **उत्तर**–कुछ भी नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञायक है वह निश्चयसे अन्य किसीका ज्ञायक नहीं है, ज्ञायक ज्ञायक ही है ऐसा निश्चय है।

किञ्च—यहाँ खड़िया प्रथम तो श्वेत गुणसे भरे स्वभाव वाला द्रव्य है। दीवार कुटी आदि परद्रव्य व्यवहारसे श्वैत्य है। अब श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्यकी श्वेत करने वाली खड़िया क्या है या नहीं ? इस प्रकार उन दोनोंका तात्त्विक संबंध विचारा जा रहा है–यदि खड़िया कुटी आदिककी है तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है अन्य नहीं है। जैसे कि आत्माका होता हुआ ज्ञान आत्मा ही है। ऐसे परमार्थरूप संबंधके विद्यमान होनेपर खड़िया कुटी आदिकी यदि हो तो कुटी आदिक ही होनी चाहिये। ऐसा होनेपर खड़ियाके स्वद्रव्यका नाश हो जायगा, किंतु द्रव्यका उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका

यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनि-

---

क्रिया । हु खलु–अव्यय । सेडिया सेटिका–प्रथमा एक० । अप्पणो आत्मनः–षष्ठी एक० । सहावेण स्वभा-

---

है, दशक दर्शक हो है । अपि च—यहाँ सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुणसे भरा है एक द्रव्य है, उसका व्यवहारसे श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य है । अब यहाँ दोनोंका परमार्थसे सम्बंध विचारा जा रहा है—श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्यकी श्वेत करने वाली सेटिका क्या है या नहीं ? यदि सेटिका कुटी आदिकी है तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं है । जैसे कि आत्माका होता हुआ ज्ञान आत्मा ही है अन्य द्रव्य नहीं है । ऐसे परमार्थरूप तत्त्व सम्बंधके जीवित (विद्यमान) होनेपर सेटिका कुटी आदिकी होती हुई कुटी आदि ही होगी । ऐसा होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा सो द्रव्यका उच्छेद नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्यको पलटकर अन्य द्रव्य होनेका निषेध पहले कर चुके हैं । इसलिये सेटिका कुड्यादिककी नहीं है । **प्रश्न**—सेटिका कुटी आदिकी नहीं है तो किसकी है ? **उत्तर**—सेटिका सेटिकाकी ही है । **प्रश्न**—वह दूसरी सेटिका कौनसी है जिसकी यह सेटिका है । **उत्तर**—इस सेटिकासे अन्य सेटिका तो नहीं है । तो क्या है ? स्वस्वामिअंश हैं वे ही अन्य हैं । स्वस्वामिअंशसे निश्चयनयमें क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं । तब यह ठहरा कि कि सेटिका अन्य किसीकी भी नहीं है सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है । जैसा यह दृष्टान्त है वैसा यह दार्ष्टान्त है इस जगतमें चेतयिता आत्मा ज्ञान दर्शन गुणसे परिपूर्ण परके अपोहन याने त्यागरूप स्वभाव वाला द्रव्य है, पुद्गल आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिता का अपोह्य याने त्याज्य है । अब यहाँ दोनोंके परमार्थतत्त्वरूप सम्बन्ध विचारा जा रहा है—त्यागने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्यका त्यागने वाला चेतयिता कुछ है या नहीं ? यदि चेतयिता पुद्गल आदि परद्रव्यका है तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है जैसे कि आत्माका ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा ही है अन्य द्रव्य नहीं । ऐसा तत्त्वसम्बन्ध विद्यमान होनेपर चेतयिता पुद्गल आदिका होता हुआ पुद्गल आदिक ही होगा । ऐसा होनेपर

खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः। अपि च सेटिका तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्। एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यं। तस्य तु व्यवहा-

---

वि अपि–अव्यय। सयेण स्वकेन भावेण भावेन–तृतीया एक०। पस्सइ पश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

परद्रव्यको अपने स्वभावसे परिणमन नहीं कराती हुई तथा जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त हैं, ऐसे श्वेतगुणसे भरे अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई तथा जिसको सेटिका निमित्त है ऐसा अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होते हुए कुटी आदिक परद्रव्यको अपने स्वभावसे सफेद करती है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। उसी तरह दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाव वाला चेतयिता आत्मा भी स्वयं पुद्गल आदि परद्रव्यके स्वभावसे परिणमन नहीं करता हुआ, और पुद्गल आदि परद्रव्यको भी अपने स्वभावसे परिणमन नहीं कराता हुआ तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त हैं ऐसा अपने दर्शनगुणसे भरे स्वभावके परिणाम से उत्पन्न होता हुआ तथा जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावसे देखता है ऐसा व्यवहार किया जाता है। अपि च——जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाव वाली सेटिका स्वयं कुड्यादि परद्रव्यके स्वभावसे परिणमन नहीं करती हुई, तथा कुड्यादि परद्रव्यको अपने स्वभावसे नहीं परिणमाती हुई, और जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त है ऐसा श्वेतगुणसे भरे अपने स्वभावके परिणाम से उत्पन्न होती हुई, तथा जिसको सेटिका निमित्त हैं ऐसा अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न कुटी आदि परद्रव्यको सेटिका अपने स्वभावसे श्वेत करती है। ऐसा व्यवहार किया जाता है। उसी तरह ज्ञानदर्शन गुणसे भरा परके अपोहन (त्याग) रूप स्वभाव वाला यह चेतयिता

दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च

लम्भने, वच परिभाषणे, अय् गतौ, श्रु श्रवणे, भण शब्दार्थे। **पदविवरण**—वंदित्वा-असमाप्तिकी क्रिया। सर्वसिद्धान्–द्वितीया बहुवचन, असमाप्तिकी क्रियाका कर्म। ध्रुवां; अचलां, अनुपमां–द्वितीया एकवचन, गतिका विशेषण। गतिं–द्वितीया एकवचन। प्राप्तान्–द्वितीया बहुवचन, सिद्धोंका विशेषण। वक्ष्यामि–

कुन्दाचार्य जो कुछ वर्णन करना हृदयमें रख रहे हैं उसमेंसे मंगलाचरण रूप तथा प्रतिज्ञा-संकल्परूप प्रथम गाथा प्रकट होती है।

मैं [**ध्रुवां**] ध्रुव [**अचलां**] अचल और [**अनुपमां**] अनुपम [**गतिं**] गतिको [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए [**सर्वसिद्धान्**] सभी सिद्धोंको [**वंदित्वा**] नमस्कार कर, [**अहो**] हे भव्यो, [**श्रुतकेवलिभणितं**] श्रुतकेवलियों द्वारा कहे हुए [**इदं**] इस [**समयप्राभृतं**] समयसार नामक प्राभृतको [**वक्ष्यामि**] कहूंगा।

तात्पर्य—सिद्धभगवान होनेका प्रोग्राम रखते हुए आचार्य सिद्धभगवंतको नमस्कार करके सिद्ध होनेके उपायभूत आराध्य समयप्रतिपादक समयप्राभृतका कथन करेंगे।

टीकार्थ—यहाँ अथ शब्द मंगलके अर्थको सूचित करता है। और प्रथमत एव (ग्रंथकी आदिमें) सब सिद्धोंको भाव-द्रव्यस्तुतिसे अपने आत्मामें और परके आत्मामें स्थापन कर इस समय नामक प्राभृतका (हम) भाववचन और द्रव्यवचन द्वारा परिभाषण आरम्भ करते हैं, इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। वे सिद्धभगवान् सिद्ध नामसे साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्दके स्थानीय आदर्श हैं। जिनका स्वरूप संसारी भव्य जीव चिंतवन कर, उनके समान अपने स्वरूपका ध्यान कर उन्हींके समान हो जाते हैं। और चारों गतियोंसे विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष, उसे पा लेते हैं। वह पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवरूपका अवलम्बन करती है, इस विशेषणसे सिद्ध हुआ कि चारों गतियां परनिमित्तसे होती हैं, इस-लिये ध्रुव नहीं हैं, विनश्वर हैं, इसलिये सिद्ध दशाका चारों गतियोंसे पृथक्पना प्रसिद्ध हुआ। वह गति अनादिकालसे अन्य भावके निमित्तसे हुए परमें भ्रमणकी विश्रांति (अभाव) के वशसे अचल दशाको प्राप्त हुई है, इस विशेषणसे चारों गतियोंमें परनिमित्तसे जो भ्रमण था उसका व्यवच्छेद हुआ। जगतमें समस्त जो उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण है—अद्भुत माहात्म्यके कारण जो किसीकी उपमा नहीं पा सकती। इस विशेषणसे चारों गतियोंमें किसी से समानता भी पायी जाती है इसका निराकरण हुआ। वह अपवर्गरूप है, धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्गमें न होनेसे वह मोक्षगति अपवर्ग कही गई है। ऐसी पंचम गतिको सिद्धभग-वान् प्राप्त हुए हैं। कैसा है समयप्राभृत ? अनादिनिधन परमागम शब्द-ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होनेसे तथा सब पदार्थोंके समूहके साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत

श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मस्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितुनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते । किंच यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः

क्रिया । सद्दहइ श्रद्दधाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः—प्रथमा

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—शुद्ध इत्यादि । अर्थ—जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें बुद्धि लगाई है, और जो तत्त्वका अनुभव करता है, ऐसे पुरुषके अन्यद्रव्य एकद्रव्यमें प्राप्त हुआ कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासित होता । ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्धस्वभावका उदय है । फिर अन्यद्रव्यके ग्रहणमें आकुलित हुए लोक शुद्धस्वरूपसे क्यों चिगते हैं ? भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे तत्त्वस्वरूप निरखनेसे अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्यमें प्रवेश नहीं दीखता, फिर भी ज्ञानमें अन्यद्रव्य प्रतिभासित होता है सो यह ज्ञान की स्वच्छताका स्वभाव है, ज्ञान उनको ग्रहण नहीं करता । लौकिकजन अन्यद्रव्यका ज्ञानमें प्रतिभास देख अपने ज्ञानस्वरूपसे छूटकर ज्ञेयके ग्रहण करनेकी बुद्धि करते हैं सो यह अज्ञान है । आचार्य देव उनपर दयालु होकर कह रहे हैं कि ये लोक तत्त्वसे क्यों चिगते हैं ।

अब इसी अर्थको काव्यसे और भी दृढ़ करते हैं—शुद्धद्रव्यस्वरस इत्यादि । अर्थ—शुद्ध द्रव्यका निज रसरूप परिणमन होनेसे क्या शेष अन्य द्रव्य उस स्वभावका हो सकता है ? अथवा क्या अन्यद्रव्यका स्वभाव हो सकता है ? जैसे चांदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है तथापि पृथ्वी चांदनीकी कदापि नहीं होती । उसी तरह ज्ञान ज्ञेय पदार्थको सदाकाल जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञानका कदापि नहीं होता है । भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखनेपर किसी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । जैसे चाँदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है परन्तु चाँदनीकी पृथ्वी कुछ नहीं लगती; उसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परंतु ज्ञानका ज्ञेय कुछ नहीं लगता । आत्माका ज्ञान स्वभाव है इसकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं

परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते । तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शन-गुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपर-द्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरा-पोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभाव-स्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते । एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शन-चारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः । एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः ॥ शुद्ध-द्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् । ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥२१५॥ शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेषमन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः । ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिर्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥ रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावद् ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यं । ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥ ॥ ३५६-३६५ ॥

भणितः—प्रथमा एक० कृदन्त । अण्णेसु अन्येषु—सप्तमी बहु० । पज्जएसु पर्ययेषु—सप्तमी बहु० । एमेव एव-मेव एवं एव—अव्यय । णायव्वो ज्ञातव्यः—प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ ३५६-३६५ ॥

११— आत्मा परद्रव्य परिग्रहको व्यवहारसे त्यागता है, किन्तु वह त्याज्य पदार्थसे तन्मय नहीं होता । १२—आत्मा परद्रव्यका श्रद्धाता है, किन्तु वह श्रद्धेय पदार्थसे तन्मय नहीं होता । १३—आत्माके सभी गुण पर्यायोंकी आत्मासे अनन्यता है, परसे नहीं । १४—मैंने भोजन भोगा, घर बनाया, घर छोड़ा आदि यह सब व्यवहारसे कहा जाता है । १५— वास्तवमें तो इसने अपने रागादि परिणामको ही भोगा, रागादि परिणामको ही किया, रागादि परिणामको ही छोड़ा । १६— प्रश्न—यदि व्यवहारसे परद्रव्यका जानना है तब तो निश्चयसे कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता ? १७— उत्तर—सर्वपरद्रव्यविषयक जानना हो रहा प्रभुके, इस कारण सर्वज्ञता में कोई संदेह नहीं, किन्तु सर्वको जानकर भी प्रभु सर्व परपदार्थोंमें तन्मय नहीं होते, अतः प्रभुको सर्वज्ञ व्यवहारसे कहा गया है ।

सिद्धान्त— १— परपदार्थविषयक ज्ञान आदि होनेपर परद्रव्यका ज्ञाता आदि व्यव-हारसे कहा गया है । २— ज्ञानादि परिणमन स्वयंमें स्वयंकी परिणतिसे होनेके कारण स्वज्ञाता आदि वास्तवमें कहा गया है । ३—स्वयं सहज परिपूर्ण आत्मा अनिर्वचनीय होनेके कारण सर्व भेदोंसे अतीत है ।

चारित्र ज्ञान दर्शन, कुछ भी नहिं है विषय अचेतनमें ।
तब फिर क्या घात करे, उन विषयोंमें मुधा आत्मा ॥३६६॥
चारित्र ज्ञान दर्शन, कुछ भी नहिं है करम अचेतनमें ।
तब फिर क्या घात करे, उन कर्मोंमें मुधा आत्मा ॥३६७॥
चारित्र ज्ञान दर्शन, कुछ भी नहिं है अजीव कायोंमें ।
तब फिर क्या घात करे, उन कायोंमें मुधा आत्मा ॥३६८॥
चारित्र ज्ञान दर्शन, का जो है घात होना बताया ।
पुद्गलद्रव्यका वहां, नहिं कोई घात बतलाया ॥३६९॥
जीवके कोइ जो गुण, हैं नहिं वे अन्य किन्हीं द्रव्योंमें ।
इससे सम्यग्दृष्टी के नहिं है राग विषयोंमें ॥३७०॥
राग द्वेष मिथ्याशय, जीव हि की हैं अनन्य परिणतियां ।
इस कारण रागादिक, शब्दादिकमें नहीं कुछ भी ॥३७१॥

वि, उ, णिदिट्ठ, जीव, ज, गुण, केइ, त, पर, दव्व त, सम्माइट्ठि, राग, विसय, राग, दोस, मोह, जीव, अणण्णपरिणाम, एत, कारण, सद्दादि, रागादि । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, घात हिंसायां । प्रातिपदिक—दर्शनज्ञानचारित्र, किंचित्, अपि, न, तु, अचेतन, विषय, तत्, किं, चेतयितृ, कर्मन्, काय, ज्ञान, दर्शन,

---

इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु कायेषु] उन कायोंमें [किं हंति] क्या घात करता है ? [ज्ञानस्य दर्शनस्य तथा चरित्रस्य] ज्ञानका, दर्शनका तथा चारित्रका [घातः] घात [भणितः] कहा गया है [तत्र] वहाँ [पुद्गलद्रव्यस्य तु] पुद्गलद्रव्यका तो [कोपि घातः] कुछ भी घात [नापि निर्दिष्टः] नहीं कहा गया । [ये केचित्] जो कुछ [जीवस्य गुणाः] जीवके गुण हैं [ते] वे [खलु] निश्चयसे [परेषु द्रव्येषु] परद्रव्योंमें [न संति] नहीं हैं [तस्मात्] इस कारण [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [विषयेषु] विषयोंसे [रागस्तु] राग ही [नास्ति] नहीं है । [रागः द्वेषः मोहः] राग-द्वेष-मोह ये सब [जीवस्यैव च] जीवके ही [अनन्यपरिणामाः] अभिन्न परिणाम हैं [एतेन कारणेन तु] इसी कारण [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादिकोंमें [न संति] नहीं हैं ।

तात्पर्य—जीव परविषयक विकल्प करके अपना ही घात करता है परका कुछ नहीं कर सकता ।

टीकार्थ—निश्चयसे जो जिसमें होता है वह उसके घात होनेपर घाता ही जाता है । जैसे दीपकमें प्रकाश है सो दीपकका घात होनेपर प्रकाश भी नष्ट हो जाता है । और जिसमें

द्रव्ये न भवंतीत्यायाति अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावन्तः केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः। अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खनिः? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वा-

तु-अव्यय। अचेयणे अचेतने विसये विषये-सप्तमी एक०। तम्हा तस्मात्-पचमी एक०। किं-अव्यय या द्वि० एक०। घादयदे हन्ति-वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। चेदयिदा चेतयिता-प्रथमा एक०। तेसु तेषु विसयेसु विषयेषु-सप्तमी बहु०। कम्मे कर्मणि-सप्तमी एकवचन। तेसु कम्मेसु तेषु कर्मसु-सप्तमी बहु०। काये-सप्तमी एक०। कायेसु कायेषु-सप्तमी बहु०। णाणस्स ज्ञानस्य दंसणस्स दर्शनस्य-षष्ठी

परद्रव्यपना होनेसे विषयोंमें रागादिक अज्ञानमय परिणाम नहीं है और अज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिमें भी रागादिक नहीं है। इस प्रकार रागादिक विषयोंमें न होते हुए व सम्यग्दृष्टिके भी न होते हुए वे हैं ही नहीं।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि जितने भी जीवके गुण हैं वे कोई भी अचेतन पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं। आत्माके अज्ञानमय परिणाम राग-द्वेष-मोह विकार अज्ञानवश जीवमें होते हैं, उनसे अपने ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुण घाते जाते हैं। अज्ञानका अभाव हो जानेपर आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब वे राग-द्वेष-मोह नहीं उत्पन्न होते। अब देखिये शुद्धद्रव्यकी दृष्टिमें पुद्गलमें भी रागद्वेष मोह नहीं है और सम्यग्दृष्टि जीवमें भी नहीं है। इस तरह वे रागादिक दोनोंमें ही नहीं हैं। तथा पर्यायदृष्टिसे देखिये तो रागादिक भाव जीवके अज्ञान अवस्थामें हैं, ऐसा निर्णय समझना।

अब इस अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**रागद्वेष** इत्यादि। **अर्थ**—इस आत्मामें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है। वस्तुत्वपर लगाई हुई दृष्टिसे देखे गये वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं याने द्रव्यरूप भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे उन राग द्वेषोंको प्रकटतया नाश करे जिससे कि पूर्ण प्रकाशरूप अचल दीप्तिवाली स्वाभाविक ज्ञानज्योति प्रकाशित हो। **भावार्थ**—रागद्वेष कुछ भिन्न द्रव्य नहीं हैं, ये तो जीवके अज्ञानभावसे होते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टिसे देखो तो राग द्वेष कुछ भी वस्तु नहीं। इस तरह देखनेसे घातक कर्मोंका नाश होता है व केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथादशकमें आत्माका कर्तृकर्मत्व आत्मामें ही बताया

अण्णादविएण अण्णादवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥

अन्य द्रव्यके द्वारा, अन्य द्रव्यका न गुण किया जाता ।
इस कारण द्रव्य सभी, उत्पन्न स्वभावसे होते ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः । तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥ ३७२ ॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीन्युत्पादयतीति शंक्यं—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात् । सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भ-

---

नामसंज्ञ—अण्णदविय, ण, गुणुप्पाअ, त, उ, सव्वदव्व, सहाव । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, उव पज्ज गतौ । **प्रातिपदिक**—अन्यद्रव्य, न, गुणोत्पाद, तत्, सर्वद्रव्य, स्वभाव । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, उत् पद

अपना घात करता है । १५– हे आत्मन्, विषयादिके निमित्त क्यों तू अपने गुणोंका घात करता है । १६– हे आत्मन्, धर्मके नामपर भी शब्दरूपादि विषयोंका तू क्यों घात करनेका विकल्प करता है । १७– हे आत्मन्, शब्दादि इन्द्रियविषयोंकी अभिलाषारूप जो रागादि विकारपरिणाम मनमें आता है उसका घात करना चाहिये । १८– रागादिकके आश्रयभूत कारण होनेसे शब्दादिक विषयोंका त्याग करना चाहिये ।

सिद्धान्त—१– परद्रव्यके घातादि परिणमनसे आत्माके दर्शनादि गुणका घात नहीं, क्योंकि परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मामें नहीं है । २– स्वयंके गुणोंके सुधार बिगाड़से स्वयंका सुधार बिगाड़ है ।

दृष्टि—१– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २– शुद्धनिश्चयनय, अशुद्ध-निश्चयनय (४६, ४७) ।

प्रयोग—अपनी उन्नतिके लिये परविषयक विकल्प छोड़कर सहज दर्शनज्ञानचारित्र-मय चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना ॥ ३६६-३७१ ॥

अब कलशरूप काव्यमें कहते हैं कि अन्यद्रव्यसे अन्यद्रव्यके गुण उत्पन्न नहीं होते । **रागद्वेषो** इत्यादि । **अर्थ**—तत्त्वदृष्टिसे रागद्वेषका उत्पन्न करने वाला अन्यद्रव्य कुछ भी नहीं दीखता क्योंकि सब द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने ही निज स्वभावमें अत्यंत प्रगट प्रकाशित होती है । **भावार्थ**—अन्यद्रव्यमें अन्यके गुणपर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं है स्वयं ही स्वयंमें होता है ।

अब अन्यद्रव्यके द्वारा अन्यद्रव्यका गुणोत्पाद नहीं होता यह तथ्य गाथामें कहते हैं:—

[अन्यद्रव्येण] अन्यद्रव्यके द्वारा **[अन्यद्रव्यस्य]** अन्यद्रव्यके **[गुणोत्पादः]** गुणका उत्पाद

किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति स्वस्वभावानतिक्रमात् सर्वद्रव्याणां निमित्तभूतद्रव्यांतराणि न स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यंते । अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।। यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कत-

ण न—अव्यय । कीरए क्रियते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया । सव्वदव्वा सर्वद्रव्याणि—

चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि अन्यके स्वभावसे अन्यद्रव्यके परिणामका उत्पाद नहीं देखा जाता । जब ऐसा है तो सभी द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि अपने स्वभावसे ही सब द्रव्योंके परिणामका उत्पाद देखा जाता है । और ऐसा होनेपर अपने स्वभावका उल्लंघन न होनेसे सभी द्रव्योंके निमित्तभूत अन्यद्रव्य स्वके परिणामके उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं, किन्तु सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावको नहीं स्पर्शते अपने स्वभावसे अपने परिणाम भावसे उत्पन्न होते हैं, इस कारण हम परद्रव्यको जीवके रागादिकका उत्पन्न करने वाला नहीं देख रहे हैं जिसपर हम कोप कर रहे हैं ।

भावार्थ—जिस आत्माके रागादिक उत्पन्न होते हैं वे उसके अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं । निश्चयनयसे विचारो तो रागादिकको उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य नहीं है । अन्यद्रव्य इनका निमित्तमात्र है । क्योंकि यह नियम है कि अन्यद्रव्य अन्यद्रव्यके गुणपर्यायको उत्पन्न नहीं करते । इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि मेरे रागादिकको परद्रव्य ही उत्पन्न कराता है, ऐसा एकांत करते हैं वे तथ्य न जाननेसे मिथ्यादृष्टि हैं । ये रागादिक जीवके प्रदेश में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है । सो मनन करें कि हम रागद्वेषकी उत्पत्तिमें अन्यद्रव्यपर क्यों कोप (गुस्सा) करें । राग-द्वेषका उपजना अपना ही अपराध है ।

अब इस अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**यदिह** इत्यादि । **अर्थ**—जो इस आत्मामें रागद्वेष रूप दोषकी उत्पत्ति है वहाँ परद्रव्यका कुछ भी दोष नहीं है । वहाँ तो स्वयं यह अपराधी अज्ञान ही फैलता है, यह विदित होवे और यह अज्ञान अस्तको प्राप्त होवे । मैं तो ज्ञानमात्र हूं । **भावार्थ**—अज्ञानी जीव राग-द्वेषकी उत्पत्ति परद्रव्यसे मानकर परद्रव्यपर कोप करता है कि यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है अरे, राग-द्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानसे अपनेमें ही होती है, वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं । सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त होवे और सम्यग्ज्ञान प्रगट होवे । मैं आत्मा तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूं ऐसा अनुभव

हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥२२१॥ ॥ ३७२ ॥

तृतीया एकवचन ॥ ३७२ ॥

जाता है। ९– कार्य उपादान कारणके सदृश हुआ करते हैं। १०– शब्दादिक बाह्यपदार्थ रागादिके आश्रयभूत कारण अथवा बहिरंग निमित्त कारण हैं, किन्तु उन बाह्य पदार्थोंका घात करनेसे रागादिका विनाश नहीं होता। ११– जो पुरुष मनमें हुए रागादिभावको नहीं जानता वही रागादिके आश्रयभूत बाह्य शब्दादि विषयोंका घात करनेका संकल्प करता है, वहाँ चित्तस्थ रागादिको मिटानेका उपाय नहीं बनता। १२– चित्तस्थ रागादिको मिटानेका उपाय अविकार सहज चैतन्यस्वभावका अवलम्बन है।

सिद्धान्त—१– परद्रव्यके गुण पर्याय आत्मामें नहीं हो सकते। २– आत्मा अपने स्वरूपकी सुध छोड़कर व्यर्थ विकल्परूप परिणमता है।

दृष्टि—१– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—अपने स्वरूपकी बेसुधीको रागादिका मूल जानकर अपनी सुध करके परभाव के असहयोग व स्वरूपके सत्याग्रह द्वारा अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको रमाना ॥ ३७२ ॥

अब जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्दरूप पुद्गल परिणत होते हैं वे यद्यपि इन्द्रियोंसे आत्माके जाननेमें आते हैं तो भी वे जड़ हैं, आत्माको यह नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो। आत्मा ही अज्ञानी होकर उनको भले बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है यह तथ्य गाथामें कहते हैं—[**पुद्गलाः**] पुद्गल [**बहुकानि**] बहुत प्रकारके [**निंदितसंस्तुतवचनानि**] निंदा और स्तुतिके वचनरूप [**परिणमंति**] परिणमते हैं [**तानि**] उनको [**श्रुत्वा**] सुनकर [**अहं भणितः**] मुझको कहा है ऐसा मानकर [**रुष्यति**] अज्ञानी जीव रोष करता है [**च पुनः**] और [**तुष्यति**] संतुष्ट होता है [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**शब्दत्वपरिणतं**] शब्दरूप परिणत हुआ है [**तस्य गुणः**] उसका गुण [**अन्यः**] तुझसे अन्य है [**तस्मात्**] सो हे अज्ञानी जीव [**त्वं किंचिदपि न भणितः**] तुझको तो कुछ भी नहीं कहा [**अबुद्धः**] तू अज्ञानी हुआ [**किं रुष्यसि**] क्यों रोष करता है? [**अशुभः वा शुभः**] अशुभ अथवा शुभ [**शब्दः**] शब्द [**त्वां न भणति इति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां शृणु**] मुझको सुन [**च**] और [**श्रोत्रविषयं आगतं**] श्रोत्रइन्द्रियके विषयको प्राप्त [**शब्दं**] शब्दको [**विनिर्ग्रहीतुं**] ग्रहण करनेके लिये [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेशोंको छोड़ [**न एति**] नहीं जाता। [**अशुभं शुभं वा**] अशुभ अथवा शुभ [**रूपं**] रूप [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां पश्य**] तू मुझको देख [**च**] और [**चक्षुर्विषयं आगतं रूपं**] चक्षुइन्द्रियके विषयभूत रूपको [**विनि-**

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

निन्दास्तुतिकीय वचन, नानाविध परिणमे हि पुद्गल ही ।
उसको सुनि क्यों रूषे, तूषे मुझको कहा भ्रम करि ॥३७३॥
शब्द विपरिणत पुद्गल, वह तुझसे सर्वथा पृथक् है जब ।
तुझको कहा नहीं कुछ, तब तू बन अज्ञ रूषे क्यों ॥३७४॥
शुभ अशुभ शब्द तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको सुन ही लो ।
श्रोत्रविषयगत इसको लेने आत्मा नहीं आता ॥३७५॥
शुभ अशुभरूप तुमको, नहिं प्रेरें तुम मुझको देखो ही ।
चक्षुविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३७६॥
शुभ अशुभ गन्ध तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको सूँघो ही ।
घ्राणविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३७७॥
शुभ व अशुभ रस तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको चख ही लो ।
रसनविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३७८॥
शुभ अशुभ परस तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको छू ही लो ।
कायविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३७९॥
शुभ व अशुभ गुण तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको जानो ही ।
बुद्धिविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३८०॥

त, च, एव, ण, य, सोयविसय, आगय, सद्द, रूव, चक्खुविसय, आगय, रूव, गंध, घाणविसय, आगय, गंध, रस, रसणविसय, रस, फास, कायविसय, फास, गुण, बुद्धिविसय, गुण, दव्व, एत्रं, तु, उवसम, ण, एव,

---

[रसनविषयं आगतं तु रसं] रसनाइन्द्रियके विषयभूत रसको **[विनिर्गृहीतुं]** ग्रहण करनेके लिये **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ **[न एति]** नहीं जाता । **[अशुभः वा शुभः स्पर्शः]** अशुभ व शुभ स्पर्श **[त्वां इति न भणति]** तुझको ऐसा नहीं कहता कि **[मां स्पृश]** तू मुझको स्पर्श (छू ले) **[च]** और **[कायविषयं आगतं स्पर्शं]** स्पर्शनइन्द्रियके विषय-भूत स्पर्शको **[विनिर्गृहीतुं]** ग्रहण करनेके लिये **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़

तं प्रकाशयितुमायाति । किं तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच यथा तदसन्निधाने तथा तदसन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते । स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते । तथा बहिरर्थः शब्दो रूपं गंधो रसः स्पर्शो गुणद्रव्ये च देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां शृणु मां पश्य मां जिघ्र मां रसय मां स्पर्श मां बुध्यस्वेति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति । नचात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति । किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा

गंधोपादाने, रस आस्वादनाक्रन्दनयोः फुस स्पर्शे शुद्धौ च, जाण अवबोधने, बुज्भ अवगमने, गच्छ गतौ । **प्रातिपदिक**–निन्दितस्तुतिवचन, पुद्गल, वहुक, तत्, च, पुनर्, अस्मद्, भणित, पुद्गलद्रव्य, शब्दत्वपरिणत, तत्, यदि, गुण, अन्य, तत्, न, तुम्ह, भणित, किंचित्, अपि, किं, अबुद्ध, अशुभ, शुभ, वा, शब्द, न, युष्मद्, अस्मद्, इति, तत्, एव, न, च, श्रोत्रविषय, आगत, शब्द, रूप, चक्षुर्विषय, गंध, घ्राणविषय, रस,

---

और परको उत्पन्न करनेके लिये अशक्त होनेसे दीपक, जैसा घटपटादि पदार्थोंके, सद्भावमें प्रकाशमान रहता है वैसा ही उनके सद्भावमें भी । इस प्रकार स्वरूपसे ही प्रकाशमान दीपक को वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त सुन्दर या असुन्दर घटपटादि बाह्य पदार्थ कुछ भी विकार पैदा नहीं करते । वैसे ही वाह्य पदार्थ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और गुणद्रव्य यज्ञदत्तका हाथ पकड़कर देवदत्तकी तरह आत्मासे यह नहीं कहते कि तू मुझे सुन, देख, सूंघ, आस्वादन कर, छू, समझ । और न आत्मा ही चुम्बकसे आकृष्ट सुईकी तरह अपने स्थानसे हटकर उन्हें जाननेके लिए उन तक जाता है । किन्तु वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकनेसे और परको उत्पन्न करनेमें अशक्त होनेसे जैसे कि बाह्य पदार्थोंके असन्निधानमें आत्मा स्वरूपसे ही जानता है वैसे ही बाह्यपदार्थके सन्निधानमें भी स्वरूपसे ही जानता है । इस प्रकार स्वरूपसे जानते हुए इस आत्माको वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त सुन्दर व असुन्दर शब्दादिक बाह्य पदार्थ रंचमात्र भी विकार पैदा नहीं करते । इस प्रकार आत्मा प्रदीपकी तरह परपदार्थके प्रति सदा ही उदासीन है, यही वस्तुस्वभाव है । तिसपर भी जो रागद्वेष होते हैं वह अज्ञान है ।

भावार्थ—आत्मा शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंधको सूंघकर, रसको चखकर, स्पर्शको स्पर्शकर, गुणद्रव्यको जानकर भला बुरा मान रागद्वेष बनाता है सो वह अज्ञान है । क्योंकि ये शब्दादिक तो जड़के गुण हैं, आत्माको कुछ नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो । और आत्मा भी स्वयं अपने प्रदेशोंको छोड़कर उनके ग्रहण करनेके लिये उनमें नहीं जाता है ।

यद्रागद्वेषौ तदज्ञानं ॥ पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं, यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव । तद्वस्तुस्थितिबोधबंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो, रागद्वेषमयी-

---

तानि–द्वि० बहु० । सुणिऊण श्रुत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । रूसदि रुष्यति तूसदि तुष्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन दिवादि क्रिया । य च–अव्यय । अहं–प्रथमा एक० कर्मवाच्य कर्म । पुणो पुनः–अव्यय । भणिदो भणितः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । किंचि किंचित् वि अपि किं–अव्यय । रूससि रुष्यसि–वर्तमान मध्यम पुरुष एकवचन दिवादि क्रिया । अबुद्धो अबुद्धः असुहो अशुभः सुहो शुभः सद्दो शब्दः–प्रथमा एक० । ण न–अव्यय । तं त्वां–द्वितीया एक० । भणइ भणति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । सुणसु शृणु–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । मं मां–द्वितीया एक० । ति इति–अव्यय । सो सः–प्र० एक० । च एव–अव्यय । ण न य च–अव्यय । एइ एति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । विणिग्गहिउं विनिर्गृहीतुं–हेत्वर्थे कृदन्त अव्यय । सोयविसयं श्रोत्रविषयं–द्वितीया एक० । आगयं आगतं–द्वि० एक० । सद्दं शब्दं–द्वि० ए० । रूवं रूपं–प्रथमा एक० । पिच्छ पस्स पश्य–आज्ञार्थे लोट् मध्यम० एक० क्रिया ।

भावार्थ—जिनका राग द्वेष दूर हो गया और अपने चैतन्यस्वभावको जिनने अंगीकार किया तथा अतीत अनागत वर्तमान कर्मका ममत्व जिनके न रहा ऐसे ज्ञानी सब परद्रव्यसे पृथक् होकर चारित्रको अंगीकार करते हैं । उस चारित्रके बलसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे पृथक् जो अपनी चैतन्यके परिणमन स्वरूप ज्ञानचेतना है उसका अनुभव करते हैं । यहाँ यह जानना कि मुमुक्षुने पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे भिन्न अपनेको ज्ञानचेतना मात्र आगम अनुमान स्वसंवेदन प्रमाणसे जाना और उसका श्रद्धान दृढ़ किया । सो यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थामें भी होता है । जब अप्रमत्त अवस्था होती है अपने स्वरूपका ही ध्यान करता है उस समय ज्ञानचेतनाका जैसा श्रद्धान किया था उसमें लीन होता है तब वह श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उत्पन्न कर साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें परद्रव्यको रागादिका अनुत्पादक बताया था । अब इस गाथादशकमें बताया है कि जब शुभ अशुभ विषयभूत परपदार्थ रागादिके उत्पादक नहीं है, फिर तू उन विषयोंको उपयोगमें लेकर क्यों व्यर्थ रोष तोष करता है, क्यों नहीं तथ्य जानकर उपशमभावको प्राप्त होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) रागादि विषयभूत पदार्थ भिन्न सत् हैं, आत्मा भिन्न सत् है । (२) विषयभूत पदार्थोंका गुण, पर्याय आदि कुछ भी आत्मामें होना असम्भव है । (३) इन्द्रिय विषयभूत पदार्थ आत्मापर जबरदस्ती नहीं करते कि तुम हमको सुनो, देखो, सूंघो, स्वादो व छुओ । (४) आत्मा भी अपने प्रदेशोंसे बाहर कहीं भी विषयोंको सुनने आदिके लिये जाता नहीं । (५) अज्ञानी जीव भ्रमसे ही विषयोंको इष्ट अनिष्ट समझकर वृथा रुष्ट तुष्ट होता है ।

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

दर्शन ज्ञान चरितमें, सुस्थित जीवोंको स्वसमय जानो।
औपाधिक मायाके, रुचियोंको परसमय जानो ॥२॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि। पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्।

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावाद-

प्रकृतिशब्द—जीव, चरित्र, दर्शन, ज्ञान, स्थित, तत्, स्व, समय, पुद्गल, कर्म, प्रदेश, पर, समय। **मूलधातु**—चर चरणे, दृशिर प्रेक्षणे, ज्ञा अवबोधने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, अय गतौ। **पदविवरण**—जीवः–प्रथमा एकवचन। चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण। तं–द्वि० ए०। स्वसमयं–द्वितीया एकवचन, कर्मकारक। जानीहि–ज्ञा धातु लोट्लकारका मध्यम पुरुष एकवचन। पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं–द्वितीया एक-

शक्य है। अतः शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादक समयसार ग्रन्थकी रचनाके आरम्भमें पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यने सिद्धभगवानका वन्दन किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वाभाविक स्थिति ध्रुव हुआ करती है। (२) उपाधिरहित केवल की स्थिति अचल हुआ करती है। (३) सिद्धदशा गतिरहित स्थिति है, अतः सिद्धको उपमा देनेको अन्य कुछ है ही नहीं, हाँ यही कहा जा सकता है कि सिद्धदशा तो सिद्धदशाके ही समान है। (४) भावस्तुतिसे भक्तके आत्मामें प्रभुका स्थापन होता है। (५) द्रव्यस्तुतिसे दूसरे आत्मा भी अपनेमें प्रभुका स्थापन करते हैं। (६) समयसारकी प्रामाणिकताके ३ चिह्न निर्देशित हैं—(क) अनादिनिधन परम्परागत आगमसे इसका प्राकट्य है। (ख) सकल पदार्थ का साक्षात्कार करने वाले प्रभुकी दिव्यध्वनिसे आगम निकला है। (ग) स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियोंने इसे बताया है। (७) इस रचनाका प्रयोजन मोहविध्वंस है।

सिद्धान्त—(१) सिद्धदशा कभी भी मिटती नहीं। (२) प्रभुस्तवनादिमें आत्मा अपने ही ज्ञानका परिणमन कर रहा है।

दृष्टि—१– सादिनित्य पर्यायार्थिक नय (३६)। २– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७२)।

प्रयोग—सिद्ध भगवंतकी अभिवन्दनाके समय अपनेमें यह आशय दृढ़ करना चाहिये कि मुझे सिद्धभगवान होना है ॥१॥

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमरोयवित्थरविसेसं।
तत्तो रिणयत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमरणं ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो रिणयत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिरणं संपडि य अरोयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
रिणच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ रिणच्चं य पडिक्कमदि जो।
रिणच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥

शुभ अशुभ विविध विस्तृत, पूर्वकृत कर्म जो हुए उनसे।
स्वयंको छुड़ाता जो, वह जीव प्रतिक्रमरणमय है ॥३८३॥
जिस भावसे भविष्यत्, शुभ व अशुभ कर्मबन्ध हो उससे।
स्वयंको छुड़ाता जो, वह प्रत्याख्यानमय आत्मा ॥३८४॥
शुभ अशुभ विविध विस्तृत, कर्म अभी जो उदीर्ण हैं उनको।
दोषरूप जो जाने, आत्मा आलोचनामय वह ॥३८५॥
आलोचना प्रतिक्रमरण, प्रत्याख्यानको नित्य करता जो।
वह आत्मा होता है, स्वयं स्वचेतक व चारित्री ॥३८६॥

नामसंज्ञ—कम्म, ज, पुव्वकय, सुहासुह, अरोयवित्थरविसेस, तत्तो, अप्प, तु, ज, त, पडिक्कमण, कम्म, ज, सुह, असुह, ज, भाव, भविस्सं, तत्तो, ज, त, पच्चक्खाण, चेया, ज, सुह, असुह, उदिण्ण, संपडि, य, अरोयवित्थरविसेस, त, दोस, ज, त, खलु, आलोयण, खलु, आलोयण, चेया, णिच्चं, पच्चक्खाण,

---

प्रयोग—परद्रव्यका आश्रय कर स्वकीयबुद्धि दोषसे अज्ञानी रागादिरूप परिणमता है यह तथ्य जानकर प्रज्ञादोषको याने भ्रमको छोड़कर अविकार ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥ ३७३-३८२ ॥

अब अतीत कर्मसे ममत्व छोड़ना प्रतिक्रमरण है, आगामी ममत्व न करनेकी प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है, वर्तमान कर्म जो उदयमें आया है उसका ममत्व छोड़े वह आलोचना है। ऐसा चारित्रका विधान है सो ही कहते हैं:—[पूर्वकृतं] अतीतकालमें किये हुये [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषं] ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार विस्तार विशेषरूप [शुभाशुभं] शुभ

कर्मकारणेभ्यो भावेभ्योत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य

मणं-प्रथमा एक०। कम्मं कर्म जं यत् सुहं शुभं असुहं अशुभं-प्रथमा एक०। जम्हि यस्मिन् भावह्मि भावे-सप्तमी एक०। बज्झइ वध्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। भविस्सं भविष्यत्-अव्यय। तत्तो ततः-पंचम्यर्थे अव्यय। णियत्तए निवर्तते-वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। जो यः सो सः चेया चेतयिता पच्चक्खाणं प्रत्याख्यानं-प्रथमा एक०। हवइ भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। उदिण्णं उदीर्ण-

अनुभवता है वह आत्मा चारित्रस्वरूप है।

टीकार्थ—जो आत्मा पुद्गलकर्मके उदयसे हुए भावोंसे अपने आत्माको दूर रखता है वह उस भावके कारणभूत पूर्व (अतीत) कालमें किये गये कर्मको प्रतिक्रमणरूप करता हुआ आप ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। वही आत्मा पूर्वकर्मके कार्यभूत आगामी बंधने वाले कर्मको प्रत्याख्यान रूप करता (त्यागता) हुआ आप ही प्रत्याख्यान स्वरूप होता है, तथा वही आत्मा वर्तमान कर्मके उदयसे अपनेको अत्यंत भेदसे अनुभव करता हुआ प्रवर्तता है वह आप ही आलोचना स्वरूप होता है। ऐसे यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ पूर्व कर्मके कार्यरूप और आगामी कर्मके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त अलग होता हुआ तथा वर्तमान कर्मके उदयसे अपनेको अत्यंत भिन्न अनुभवता हुआ अपने ज्ञानस्वभावमें ही निरंतर प्रवर्तन करनेसे आप ही चारित्र स्वरूप होता है। ऐसे चारित्ररूप होता हुआ अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवनेसे आप ही ज्ञानचेतना स्वरूप होता है ऐसा तात्पर्य है। **भावार्थ**—यहां निश्चयचारित्रकी प्रधानतासे कथन है। चारित्रमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है। सो निश्चयसे विचारनेपर जो आत्मा तीनों काल संबंधी कर्मोंसे आत्माको भिन्न जानता है, भिन्न श्रद्धान करता है और भिन्न अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इन तीनों स्वरूप आत्माका निरंतर अनुभवन करना सो चारित्र है। निश्चयचारित्रमें ज्ञानचेतनाका अनुभवन है। इसी अनुभवसे साक्षात् ज्ञान चेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रकट होता है।

अब ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतनाके परिणामको काव्यमें कहते हैं—ज्ञानस्य इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानकी चेतनासे ही ज्ञान अत्यंत शुद्ध निरंतर प्रकाशित होता है, परन्तु अज्ञानकी चेतनासे बंध दौड़ता हुआ ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है। **भावार्थ**—किसी वस्तुके प्रति उसीका एकाग्र होकर अनुभव रूप स्वाद लेना यह उसकी संचेतना कही जाती है। ज्ञानके प्रति ही

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥

कर्मफल वेदता जो, उसको निज रूप है बना लेता ।
वह फिर भि बांध लेता, दुखबीज हि अष्टकर्मोंको ॥३८७॥
कर्मफल वेदता जो, यह मैंने किया मानता ऐसे ।
वह फिर भि बांध लेता, दुखबीज हि अष्ट कर्मोंको ॥३८८॥
वेदता कर्मफल जो, हो जाता है सुखी दुखी आत्मा ।
वह फिर भि बांध लेता, दुखबीज हि अष्ट कर्मोंको ॥३८९॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलं । स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥३८७॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलं । स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥३८८॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यः चेतयिता । स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना । सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफल-

नामसंज्ञ—वेदंत, कम्मफल, अप्प, ज, दु, कम्मफल, त, त, पुणो, वि, वीय, दुक्ख, अट्ठविह, वेदंत,

मात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥ ३८३-३८४ ॥

अब ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतनाका फल कहते हैं—[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फल को अनुभवता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलं आत्मानं करोति**] कर्मफलको निजरूप करता है [**सः**] वह [**पुनरपि**] फिर भी [**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीज [**अष्टविधं तत्**] ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मको [**बध्नाति**] बांधता है । [**यस्तु**] जो [**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [**कर्मफलं मया कृतं जानाति**] उस कर्मफलको मैंने किया ऐसा जानता है [**स पुनरपि**] वह फिर भी [**दुःखस्य बीजं**] दुःखके बीज [**अष्टविधं तत्**] ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मको [**बध्नाति**] बाँधता है । [**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्मके फलको वेदता हुआ [**सुखितः च दुःखितः**] सुखी और दुःखी [**भवति**]

म्यँमवलंबे ॥२२५॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥१॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥२॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥ ३ ॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥ ५ ॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥ ६ ॥ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥ ७ ॥ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥८॥ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥९॥ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥ १० ॥ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥११॥ यदहमकार्षं यत्कु-

---

दुहिद, य, ज, चेदा, त, त, पुणो, वि, वीय, दुक्ख, अट्ठविह। **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, बंध बंधने, मुण ज्ञाने,

---

जो मैंने मनसे तथा वचनसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ २ ॥ जो मैंने मनसे तथा कायसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ३ ॥ जो मैंने वचनसे तथा कायसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ४ ॥ जो मैंने मनसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ५ ॥ जो मैंने वचनसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥६॥ जो मैंने कायसे किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥७॥ जो मैंने मनसे, वचनसे तथा कायसे किया और कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥८॥ जो मैंने मनसे, वचनसे और कायसे किया और अन्य करते हुएको अनुमोदा वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥९॥ जो मैंने मनसे, वचनसे तथा कायसे कराया और अन्य करते हुएको अनुमोदा, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१०॥ जो मैंने मनसे तथा वचनसे किया और कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥११॥ जो मैंने मनसे तथा वचनसे किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१२॥ जो मैंने मनसे व वचनसे कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१३॥ जो मैंने मनसे तथा कायसे किया और कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१४॥ जो मैंने मनसे तथा

मे दुष्कृतमिति ।।२७।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२८।। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। २९ ।। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३०।। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३१।। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३२।। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३३।। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३४।। यदहमकार्षं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३५।। यदहमचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३६।। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३७।। यदहमकार्षं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३८।। यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।३९।। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।४०।। यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।४१। यदहमचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।४२। यत्कुर्वंतमप्यन्यं

अष्टविध, वेदयमान, कर्मफल, अस्मद्, कृत, यत्, तु, कर्मफल, तत्, तत्, पुनर्, बीज, दुःख, अष्टविध,

---

हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२७।। जो मैंने कायसे कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। २८ ।। जो मैंने मनसे, वचनसे तथा कायसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।। २९ ।। जो मैंने मनसे, वचनसे व कायसे कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३०।। जो मैंने मनसे, वचनसे तथा कायसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३१।। जो मैंने मनसे तथा वचनसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३२।। जो मैंने मनसे तथा वचनसे कराया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३३।। जो मैंने मनसे तथा वचनसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३४।। जो मैंने मनसे तथा कायसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३५।। जो मैंने मनसे तथा कायसे कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३६।। जो मैंने मनसे तथा कायसे, अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३७।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३८।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे कराया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३९।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४०।। जो मैंने मनसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४१। जो मैंने मनसे कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।४२। जो मैंने मनसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४३।। जो मैंने वचनसे किया, वह मेरा

कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ।४। न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ।५। न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ।६। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ।७। न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।८। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।९। न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।१०। न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति ।११। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ।१२। न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ।१३। न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति ।१४। न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ।१५। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ।१६। न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति ।१७। न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ।१८। न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ।१९। न करोमि न कारयामि मनसा चेति ।२०। न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ।२१। न

मूलधातु—डुकृञ् करणे, बन्ध बन्धने, मन ज्ञाने दिवादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—वेदंतो वेदयमानः—

अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥५॥ मैं वचनसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥६॥ मैं कायसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥७॥ मैं मनसे, वचनसे तथा कायसे न करता हूं, न कराता हूं ॥८॥ मनसे, वचनसे तथा कायसे न तो मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥९॥ मनसे, वचनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१०॥ मनसे तथा वचनसे न मैं करता हूं, न कराता हूं ॥११॥ मनसे तथा वचनसे न मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१२॥ मनसे तथा वचनसे न तो मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१३॥ मनसे तथा कायसे न मैं करता हूं, न कराता हूं ॥१४॥ मनसे तथा कायसे न मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१५॥ मनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१६॥ वचनसे तथा कायसे न मैं करता हूं, न कराता हूं ॥१७॥ वचनसे तथा कायसे न मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१८॥ वचनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥१९॥ मनसे न तो मैं करता हूं, न कराता हूं ॥२०॥ मनसे न मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता

।४६। न करोमि कायेन चेति ।४७। न कारयामि कायेन चेति ।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ।४९। मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य । आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥ इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।१। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ।२। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।३। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।४। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।५। न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ।६। न करि-

---

एक० । दु तु–अव्यय । कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एक० । सो सः–प्रथमा एक० । तं–द्वि० एक० । पुणो

हूं ।४५। वचनसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।४६। कायसे न मैं करता हूं ।४७। कायसे न मैं कराता हूं ।४८। कायसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।४९। (इस प्रकार प्रतिक्रमणके समान आलोचनामें भी ४९ अङ्ग कहे) ।

अब इस कथनको कलशरूप काव्यमें कहते हैं:—**मोहविलास** इत्यादि । **अर्थ**—मोहके विलाससे फैले हुए इस उदीयमानमें कर्मकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मासे आत्माके द्वारा ही निरन्तर वर्त रहा हूं । **भावार्थ**—वर्तमानकालमें जो कर्मका उदय आ रहा है, उसके विषयमें ज्ञानी यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूं । मेरी तो दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है । उस दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मको देखने, जानने वाला हूं । मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूं । ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है । इस प्रकार आलोचना कल्प समाप्त हुआ ।

अब टीकामें प्रत्याख्यान कल्प कहते हैं । प्रत्याख्यान करने वाला कहता है कि—

मैं मनसे, वचनसे तथा कायसे भविष्यमें कर्म न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूँगा ॥१॥ मनसे तथा वचनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ॥२॥ मनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ॥३॥ वचनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ॥४॥ मनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ॥५॥ वचनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूँगा ॥६॥ कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा,

समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ।२५। न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति ।२६। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ।२७। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ।२८। न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।२९। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।३०। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।३१। न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति ।३२। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ।३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ।३४। न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ।३५। न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ।३६। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।३७। न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति ।३८। न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।४०। न करिष्यामि मनसा चेति ।४१। न कारयिष्यामि मनसा चेति ।४२। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।४३। न करिष्यामि वाचा चेति ।४४। न कारयिष्यामि वाचा चेति ।४५। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ।४६। न करिष्यामि कायेन चेति ।४७। न कारयिष्यामि कायेन चेति ।४८। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ।४९। प्रत्याख्याय

बीजं—द्वितीया एकवचन । दुक्खस्स दुःखस्य—षष्ठी एकवचन । अट्ठविहं अष्टविधं—द्वितीया एकचवन ।

करूंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।२४। वचनसे मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।२५। कायसे मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा ।२६। कायसे मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ।२७। कायसे मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।२८। मनसे, वचनसे तथा कायसे मैं न करूँगा ।२९। मनसे, वचनसे तथा कायसे न कराऊंगा ।३०। मनसे, वचनसे तथा कायसे मैं न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।३१। मनसे तथा वचनसे मैं न तो करूंगा ।३२। मनसे तथा वचनसे मैं न कराऊँगा ।३३। मनसे तथा वचनसे मैं न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।३४। मनसे तथा कायसे मैं न करूँगा ।३५। मनसे तथा कायसे मैं न कराऊँगा ।३६। मनसे तथा कायसे मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ।३७। वचनसे तथा कायसे न करूँगा ।३८। वचनसे तथा कायसे मैं न कराऊंगा ।३९। वचनसे तथा कायसे मैं न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।४०। मनसे मैं न करूंगा ।४१। मनसे मैं न कराऊंगा ।४२। मनसे मैं न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।४३। वचनसे मैं न तो करूंगा ।४४। वचनसे मैं न कराऊँगा ।४५। वचनसे मैं न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।४६। कायसे मैं न तो करूंगा ।४७। कायसे मैं न कराऊँगा ।४८। कायसे मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ।४९। (इस

नमात्मानमेव संचेतये ।८। नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।११। नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१२। नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१३। नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१४। नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१५। नाहमसातावेदनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१६। नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१७। नाहं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१८। नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्म-

---

वचन । दुहिदो दुःखितः—प्रथमा एकवचन । य च—अव्यय । हवदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन

मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-द्रष्टा ही होऊं। यहाँ यह जानना कि अविरत देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशामें ऐसा ज्ञान श्रद्धान ही प्रधान है और जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है।

मैं (ज्ञानरत) मतिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूं।१। मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं।२। मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्मके०, चैतन्यस्वरूप०।३। मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्मके०, चैतन्यस्वरूप०।४। मैं केवलज्ञानावरणीय कर्मके०, चैतन्यस्वरूप०।५।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ।६। मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।७। मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।८। मैं केवलदर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।९। मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।१०। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।११। मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।१२। मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्मके० चैतन्य०।१३। मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०।१४।

मैं सातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं।१५। मैं असातावेदनीय कर्मके०, चैतन्य०।१६।

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं।१७। मैं मिथ्यात्व मोहनीयकर्मके०।१८। मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्व मोहनीयकर्मके०

नाहं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३८। नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३९। नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।४०। नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।४१। नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।४२। नाहं पुंवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।४३। नाहं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।४४। नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे० ।४५। नाहं तिर्यगायुःकर्मफलं भुंजे ० ।४६। नाहं मानुषायुःकर्मफलं भुंजे० ।४७। नाहं देवायुःकर्मफलं भुंजे० ।४८। नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे० ।४९। नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे० ।४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे० ।५०। नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे ।५१। नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे० ।५२। नाहमेकेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे० ।५३। नाहं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे० ।५४। नाहं त्रीन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे० ।५५। नाहं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे० ।५६। नाहं पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे० ।५७। नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।५८। नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।५९। नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।६०। नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।६१। नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।६२। नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे ।६३। नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्म-

---

द्वि० ए० । पुणो पुनः—अव्यय । वि अपि—अव्यय । वीयं बीजं—द्वितीया एकवचन । दुक्खस्स दुःखस्य—षष्ठी

मोहनीयकर्मके० ।३६। मैं रतिनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३७। मैं अरतिनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३८। मैं शोकनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३९। मैं भयनोकषाय वेदनीय मोहनीयकर्मके० ।४०। मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।४१। मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।४१। मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।४३। मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।४४।

मैं नरकायु कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं ।४५। मैं तिर्यंचायु कर्मके० ।४६। मैं मनुष्यायु कर्मके० ।४७। मैं देवायु कर्मके० ।४८।

मैं नरकगतिनामकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं ।४९। मैं तिर्यचगतिनामकर्मके० ।५०। मैं मनुष्यगतिनामकर्मके० ।५१। मैं देवगतिनामकर्मके० ।५२। मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्मके० ।५३। मैं द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके० ।५४। मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके० ।५५। मैं चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके० ।५६। मैं पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्मके० ।५७। मैं आहारकशरीर नामकर्मके० ।५८। मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्मके० ।५९। मैं आहारकशरीरनामकर्मके० ।६०। मैं तैजसशरीरनामकर्मके० ।६१। मैं कार्मणशरीर

इति । यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपा-दात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेश-स्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । एवं किल समयस्य द्वैविध्य-मुद्धावति ॥ २ ॥

अन्य द्रव्योंसे अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होनेपर भी अपने स्वरूपसे न छूटनेसे टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है, ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब यह सब पदार्थोंके स्वभावके प्रकाशनेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञानको उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योतिके उदय होनेसे सब परद्रव्योंसे पृथक् होकर दर्शन-ज्ञानमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे एकत्वरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थिर होनेसे अपने स्वरूपको एकत्वरूपसे एक कालमें जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय कहलाता है। और जब यह अनादि अविद्यारूप मूल वाले कंदके समान मोहके उदयके अनुसार प्रवृत्तिकी आधीनतासे दर्शन-ज्ञान स्वभावमें निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूपसे छूट परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न मोह, रागद्वेषादि भावोंमें एक रूप हो प्रवृत्त होता है, तब पौद्गलिक कार्मण प्रदेशोंमें स्थित होनेसे परद्रव्यको अपनेसे अभिन्न, एक कालमें जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है, अतः परसमय ऐसी प्रतीति होती है। इस तरह इस जीव नामक पदार्थके स्वसमय और परसमय—ऐसे दो भेद प्रकट होते हैं।

भावार्थ—जीव नामक वस्तुको पदार्थ कहा है। वह इस प्रकार है कि पद तो 'जीव' ऐसे अक्षर समूह रूप है और इस पदसे जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकांतस्वरूप निश्चित किया जाय, वह उसका अर्थ है। ऐसा पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्ता स्वरूप है। दर्शनज्ञानमय चेत-नास्वरूप है, अनन्तधर्मस्वरूप द्रव्य है (और जो द्रव्य है, वह वस्तु है, गुण-पर्यायवान् है) वह स्व-परप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, आकाशादिकसे भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है और यद्यपि वह अन्य द्रव्योंसे एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित है तो भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। वह जब अपने स्वभावमें स्थित होता है, तब तो स्वसमय है और जब पौद्गलिक कर्मप्रदेशोंमें स्थित होता हुआ परस्वभाव—रागद्वेष-मोह-स्व-रूप परिणमन करता है तब परसमय है। ऐसे इस जीवके द्विविधता आती है।

प्रसङ्गविवरण—समयसारके परिभाषणमें पहिले समयसार शब्दका वाच्य बताना चाहिये। सो समयसार शब्द द्वारा वाच्य अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूपको एकदम कैसे समझाया जा सकता है सो पर्यायमुखेन पहिले समय याने आत्माको, स्वसमय व परसमयके लक्षणको बताया गया है ताकि आसानीसे यह बात समझी जा सके कि जो स्वसमय व पर-समयमें रहने वाला एकस्वरूप है वह समय है।

तथ्यप्रकाश—(१) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होनेसे जीव सत् है, पदार्थ है, इस कथनसे

मुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे ।९१। नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे० ।९२। नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे ।९३। नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे ।९४। नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे० ।९५। नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे० ।९६। नाहमम्लरसनामकर्मफलं भुंजे० ।९७। नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे० ।९८। नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे ।९९। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे० ।१००। नाहं सुरभिगन्धनामकर्मफलं भुंजे० ।१०१। नाहमसुरभिगन्धनामकर्मफलं भुंजे ।१०२। नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे० ।१०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे० ।१०४। नाहं पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे० ।१०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे ।१०६। नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे० ।१०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे० ।१०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे० ।१०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे० ।११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे० ।१११। नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे ।११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे० ।११३। नाहमुपघातनामकर्मफलं भुंजे० ।११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे० ।११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे० ।११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे० ।११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे० ।११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे० ।११९। नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे० ।१२०। नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।१२१। नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।१२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं

नामसंज्ञ—सत्थ, णाण, ण, ज, सत्थ, ण, किंचि, त, अण्ण, णाण, अण्ण, सत्थ, जिण, सद्द, णाण,

---

मैं गुरुस्पर्श नामकर्मके० ।९२। मैं लघुस्पर्श नामकर्मके० ।९३। मैं मृदुस्पर्श नामकर्मके० ।९४। मैं कर्कशस्पर्श नामकर्मके० ।९५। मैं मधुररस नामकर्मके० ।९६। मैं अम्लरस नामकर्मके० ।९७। मैं तिक्तरस नामकर्मके० ।९८। मैं कटुकरस नामकर्मके० ।९९। मैं कषायरस नामकर्मके० ।१००। मैं सुरभिगन्ध नामकर्मके० ।१०१। मैं असुरभिगन्ध नामकर्मके० ।१०२। मैं शुक्लवर्ण नामकर्मके० ।१०३। मैं रक्तवर्ण नामकर्मके० ।१०४। मैं पीतवर्ण नामकर्मके० ।१०५। मैं हरितवर्ण नामकर्मके० ।१०६। मैं कृष्णवर्ण नामकर्मके० ।१०७। मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्मके० ।१०८। मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वी नामकर्मके० ।१०९। मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्मके० ।११०। मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्मके० ।१११। मैं निर्माण नामकर्मके० ।११२। मैं अगुरुलघु नामकर्मके० ।११३। मैं उपघात नामकर्मके० ।११४। मैं परघात नामकर्मके० ।११५। मैं आतप नामकर्मके० ।११६। मैं उद्योत नामकर्मके० ।११७। मैं उच्छ्वास नामकर्मके० ।११८। मैं प्रशस्तविहायोगति नामकर्मके० ।११९। मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्मके० ।१२०। मैं साधारणशरीर नामकर्मके० ।१२१। मैं प्रत्येकशरीर नामकर्मके० ।१२२। मैं स्थावर नामकर्म

फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः। आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥२३२॥ अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयन-

अचेदण, ज, णिच्चं, त, जीव, दु, जाणअ, णाणि, णाण, च, जाणअ, अव्वदिरित्त, मुणेयव्व, णाण, सम्मा-

जब जीव सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूं ? परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आनेपर उनसे होने वाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों द्वारा कर्मचेतनाके त्यागकी भावना करके तथा समस्त कर्मोंका फल भोगनेके त्यागकी भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्माको ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था वाले जीवके ज्ञान-श्रद्धान में निरंतर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्तदशाको प्राप्त करके एकाग्रचित्तसे ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र अवस्थामें उपयोग लगाये और शुद्धोपयोग रूप हो, तब निश्चय-चारित्ररूप शुद्धोपयोग भावसे श्रेणी चढ़कर केवल ज्ञान प्राप्त करता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान-चेतना रूप परिणमन है सो होता है। पश्चात् आत्मा अनन्तकाल तक ज्ञानचेतना रूप ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न रहता है।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**निःशेष** इत्यादि। **अर्थ**—पूर्वोक्त प्रकारसे सकल कर्मोंके फलका संन्यास (त्याग) करनेसे चैतन्य लक्षण वाले आत्मतत्त्वको ही अतिशयतया भोगते हुए और अन्य उपयोगकी क्रिया तथा बाह्यकी क्रियामें प्रवृत्तिसे रहित बर्तने वाले अचल मुझ आत्माके यह कालकी आवली अनंत प्रवाहरूप बहो अर्थात् समस्त काल आत्मतत्त्वके अनुभवमें व्यतीत होवे। **भावार्थ**—ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि भावना करते हुए मानो साक्षात् केवली ही हो गया हो। सो अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है। यह योग्य ही है; क्योंकि इसी अन्तस्तत्त्वकी भावनासे आत्मा केवली होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेका परमार्थ उपाय यह अन्तस्तत्त्वका अवलम्बन है, बाह्य व्यवहारचारित्र इसीका साधन रूप है। इस सहजात्मावलम्बनके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्मको बांधता है, मोक्षका उपाय नहीं है।

अब पुनः यही भाव काव्यमें कहते हैं—**यः पूर्व** इत्यादि। **अर्थ**—पूर्वकालमें अज्ञान भावसे किये कर्मरूप विषवृक्षके उदय आये हुये फलको जो स्वामी होकर नहीं भोगता और वास्तवमें अपने आत्मस्वरूपसे ही तृप्त है, वह पुरुष वर्तमानकालमें रमणीय तथा आगामी कालमें रम्य निष्कर्म स्वाधीन सुखमयी अलौकिक दशाको प्राप्त होता है। **भावार्थ**—ज्ञान-

प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥२३३॥ इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् । समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥ ॥३८७-३८९॥

अवबोधने, विद ज्ञाने, मुण ज्ञाने, अभि उव इ गतौ। प्रातिपदिक—शास्त्र, ज्ञान, न, यत्, शास्त्र, न,

---

क्रियावोंके परिहार कर निष्कर्म ज्ञानमात्र आत्माका आश्रय रहना चाहिये । ८—अज्ञानचेतनाका विध्वंस करनेके लिये समस्तकर्मफलोंके भोगनेका परिहार करके केवल ज्ञानानन्द स्वभावमात्र आत्माका संचेतन होना चाहिये । ९—ज्ञानमात्र संचेतनके अलावा जो भी क्रियायें हुईं उन्हें मिथ्या जानना चाहिये अर्थात् मेरे स्वरूपमें वे क्रियायें नहीं थी, किन्तु संयोगप्रसंगमें हुई थी ऐसा जानना चाहिये । १०— मैं सर्वक्रियावोंसे विविक्त हूं ऐसा जानकर निष्कर्म ज्ञानमात्र स्वभावमें उपयोग रमाना चाहिये । ११— मैं अपने अचल चैतन्यस्वरूपका संचेतन करता हूं, उदित कर्मफलका प्रतिफलन आता है तो मेरे भोगे बिना ही उस सब कर्मफलको निकल जाने दो । १२— मेरा समस्त अनन्तकाल चैतन्यस्वरूपके आश्रयमें ही बीते । १३— कर्मविषवृक्षके फलको न भोगकर स्वसंचेतनमें तृप्त रहनेसे वर्तमानमें व सदा भविष्यमें शान्ति रहना निर्बाध है ।

सिद्धान्त—१—ज्ञानमात्र आत्माका ज्ञानरूपसे संचेतन करना आत्माका स्वभाव परिणमन है । २— ज्ञानमात्र आत्माका मोह राग-द्वेषादि अज्ञानमय भावोंरूप संवेदन करना विभाव परिणमन है ।

दृष्टि—१—शुद्धनिश्चयनय (४६) । २—अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका त्याग करके ज्ञानमात्र अपने आपको निरखते रहना ॥३८७—३८९॥

अब ज्ञानकी परविविक्तता गाथाओंमें कहते हैं—**[शास्त्रं]** शास्त्र **[ज्ञानं न भवति]** ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[शास्त्रं किंचित् न जानाति]** शास्त्र कुछ जानता नहीं है **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिन भगवान **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य **[अन्यत् शास्त्रं]** व शास्त्रको अन्य **[विदंति]** कहते हैं । **[शब्दः ज्ञानं न भवति]** शब्द ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[शब्दः किंचित् न जानाति]** शब्द कुछ जानता नहीं है **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य व **[शब्दं अन्यं]** शब्दको अन्य **[विदन्ति]** कहते हैं । **[रूपं ज्ञानं न भवति]** रूप ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[रूपं किंचित् न जानाति]** रूप कुछ जानता नहीं है **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य व **[रूपं अन्यत्]** रूपको अन्य **[विदंति]** कहते हैं । **[वर्णः ज्ञानं न भवति]** वर्ण ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]**

कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥
आयासंपि ण णाणं जह्मा यास ण याणए किंचि ।
तह्मा यासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणे तहा अण्णं ॥४०२॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

शास्त्र ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं शास्त्र जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, शास्त्र पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९०॥
शब्द ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं शब्द जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, शास्त्र पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९१॥
रूप ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं रूप जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, रूप पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९२॥
वर्ण ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं वर्ण जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, वर्ण पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९३॥
गन्ध ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं गन्ध जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, गन्ध पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९४॥

- स्पर्श, कर्म, कर्म, धर्म, धर्म, अधर्म, अधर्म, काल, काल, आकाश, आकाश, अध्यवसान, अध्यवसान, यत्,

[गंधः ज्ञानं न भवति] गन्ध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गन्धः किंचित् न जानाति] गन्ध कुछ जानता नहीं [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनेन्द्र देव [ज्ञानं अन्यत् गंधं अन्यं] ज्ञानको अन्य व गन्धको अन्य [विदन्ति] कहते हैं । [रसः ज्ञानं न भवति] रस ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [रसः किंचित् न जानाति] रस कुछ जानता नहीं [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनदेव [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञानको अन्य व [रसं च अन्यं] और रसको अन्य [विदन्ति] कहते हैं । [स्पर्शः ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः किंचित् न

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विदंति ॥३९०॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विदंति ॥३९१॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विदंति ॥३९२॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विदंति ॥३९३॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विदंति ॥३९४॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विदंति ॥३९५॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विदंति ॥३९६॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विदन्ति ॥३९७॥
धर्मो ज्ञानं व भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विदन्ति ॥३९८॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विदन्ति ॥३९९॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् । तस्मादन्यद् ज्ञानमन्यं कालं जिना विदंति ॥४००॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् । तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विदंति ॥४०१॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् । तस्मादन्यज्ज्ञानमध्वसानं तथान्यत् ॥४०२॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी । ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं मन्तव्यं ॥४०३॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं । धर्माधर्मं च तथा प्रवज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥४०४॥

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न

ज्ञाने अदादि, मन ज्ञाने, अभि उप या प्रापणे । **पदविवरण**—सत्थं शास्त्रं—प्रथमा एकवचन । णाणं ज्ञानं—प्रथमा एक० । ण न—अव्यय । हवइ भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जम्हा यस्मात्—

को अन्य **[धर्मं अन्यं]** धर्मको अन्य **[विदन्ति]** कहते हैं । **[अधर्मः ज्ञानं न भवति]** अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[अधर्मः किंचित् न जानाति]** अधर्म कुछ जानता नहीं **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य व **[अधर्मं अन्यं]** अधर्मको अन्य **[विदंति]** कहते हैं । **[कालः ज्ञानं न भवति]** काल ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[कालः किंचित् न जानाति]** काल कुछ जानता नहीं **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य व **[कालं अन्यं]** कालको अन्य **[विदन्ति]** कहते है । **[आकाशं अपि ज्ञानं न]** आकाश भी ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[आकाशं किंचित् न जानाति]** आकाश कुछ जानता नहीं **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य **[आकाशं अन्यत्]** आकाशको अन्य **[विदन्ति]** कहते हैं । **[तथा]** उसी प्रकार **[अध्यवसानं ज्ञानं न]** अध्यवसान ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[अचेतनं]** अचेतन है **[तस्मात्]** इस कारण **[जिनाः]** जिनदेव **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञानको अन्य व

ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः । न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शङ्कनीयः । एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः ।

एक० । अण्णं णाणं अण्णं सत्थं अन्यत् ज्ञानं अन्यत् शास्त्रं–द्वितीया एकवचन । शब्दः ज्ञानं–प्रथमा एक० । अण्णं णाणं अण्णं शब्दं अन्यत् ज्ञानं अन्यं शब्दं–द्वितीया एक० । विंति विदन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

चाहिये । यों अब देखिये—जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है, इसलिये ज्ञान और जीवमें अभेद है । स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक कुछ शंकनीय नहीं है । ऐसा होनेपर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है । तथा ज्ञान ही धर्म अधर्म है, ज्ञान ही दीक्षा है अथवा निश्चयचारित्र है । इस तरह जीवका पर्यायों के साथ भी अभेद निश्चयसाधित देखना चाहिये ।

अब इस प्रकार सब परद्रव्योंके साथ तो भेदके द्वारा तथा सब दर्शनादि जीव स्वभावोंके साथ अभेदके द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषको दूर करता हुआ, अनादिविभ्रममूलक धर्म अधर्म याने पुण्य पापरूप परसमयको दूर करके, स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षा को पाकर, दर्शनज्ञानचारित्रमें स्थितिरूप स्वसमयको व्यापकर मोक्षमार्गको आत्मामें ही परिणत करके जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव पा लिया है ऐसा व त्याग ग्रहणसे रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्ध एक ज्ञान ही अवस्थित हुआ देखना अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसम्वेदनसे अनुभव करना ।

भावार्थ—ज्ञान सब परद्रव्योंसे जुदा और अपने पर्यायोंसे अभेदरूप है, इस कारण आत्माके इस लक्षणमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामके लक्षणदोष नहीं रहते । अ व्याप्ति—लक्षणका पूरे लक्ष्यमें न रहना अव्याप्ति है, अति व्याप्ति—लक्षणका लक्ष्यके अलावा अलक्ष्य में भी रहना अतिव्याप्ति है । आत्माका लक्षण ज्ञान याने उपयोग अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है; इस कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं है और उपयोग अपनी सब अवस्थाओंमें है, इसलिये अव्याप्ति दोष नहीं है । यहाँपर ज्ञान कहनेसे आत्मा ही जानना, क्योंकि अभेदविवक्षामें गुण और गुणीका अभेद है; इसलिये विरोध नहीं । इस कारण ज्ञान ही कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको पहचान लेता है । अतः आत्मा ज्ञानको ही निरखकर इस ज्ञानमें अनादि अज्ञानज शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें प्रवृत्तिरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गमें आत्माको परिणमाकर सम्पूर्ण ज्ञानको जब प्राप्त होता है, तब फिर त्याग ग्रहणके लिये कुछ नहीं रहता । ऐसा साक्षात् समयसारस्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थभूत शुद्ध अवस्थित है उसको देखना । यहाँपर देखना तीन प्रकार

ज्ञानचारित्रस्थितित्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसम्पूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमेव स्थितं द्रष्टव्यं ॥ अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं । मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् । यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥ व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितं । कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥२३७॥ ॥ ३९०-४०४ ॥

रसो रसः–प्रथमा एक०। रसं–द्वि० एक०। फासो स्पर्शः–प्रथमा एक०। फासं स्पर्श–द्वितीया एक०। कम्मं कर्म–प्रथमा एक०। कम्मं कर्म–द्वितीया एक०। धम्मं धर्म–द्वितीया एक०। अधम्मो अधर्मः–प्रथमा एक०। अधम्मं अधर्म–द्वि० एक०। कालो कालः–प्र० ए०। कालं–द्वि० ए०। आयासं आकाशं–प्र० एक०। आयासं आकाशं–द्वितीया एक०। अज्झवसाणं अध्यवसानं–प्रथमा एक० तथा द्वि० ए०। जम्हा यस्मात्–पंचमी एक०। जाणइ जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। णिच्चं नित्यं–अव्यय। जीवो जीवः–प्र० ए०। णाणओ ज्ञायकः–प्र० एक०। णाणी ज्ञानी–प्र० एक०। णाणं ज्ञानं–प्र० ए०। जाणयादो ज्ञायकात्–पंचमी एक०। अव्वदिरित्तं अव्यतिरिक्तं–प्र० एक०। मुणेदव्वं मन्तव्यं–कृदन्त क्रिया।

अब काव्यमें कहते हैं कि ऐसे ज्ञानके देह भी नहीं है—**व्यतिरिक्तं** इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार ज्ञान परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित है। वह आहारक कैसे हो सकता है? जिससे कि इसके देहकी शङ्का की जा सके। **भावार्थ**—ज्ञान कर्म नोकर्म आदि सबसे निराला है सो ज्ञानके कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार कोई भी आहार नहीं। सो जो आहारक ही नहीं, उसके देह कैसा?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकमें कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका संन्यास कराकर ज्ञानमात्र सहजस्वरूपके संचेतनका मार्गदर्शन किया था। अब इस पञ्चदशकमें उसी ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको समस्त परद्रव्यों व परभावोंसे विविक्त दिखाया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यश्रुत व शब्द अचेतन है पुद्गलद्रव्यकी व्यञ्जनपर्याय है ज्ञान आत्माका शाश्वतस्वरूप है, चेतना है। (२) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श अचेतन हैं पुद्गलद्रव्यके गुण हैं, किन्तु ज्ञान आत्माका शाश्वतस्वरूप है, चेतनस्वरूप है। (३) कर्म अचेतन है कार्माण वर्गणा जातिके पुद्गलद्रव्योंकी पर्याय है, किन्तु ज्ञान आत्माका शाश्वतस्वरूप है, चेतनस्वरूप है। (४) धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य अचेतन हैं भिन्न स्वतंत्र द्रव्य हैं, किन्तु ज्ञान आत्मद्रव्यका शाश्वत स्वरूप है चेतनस्वरूप है। (५) अध्यवसानभाव अचेतन हैं, कर्मविपाकविकल्प हैं, किन्तु ज्ञान आत्माका शाश्वतस्वरूप है, चेतनस्वरूप है। (६) ज्ञान जीव-

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं । आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ।। ४०५ ।।
नापि शक्यते गृहीतुं यन्न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यं । स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्रसो वापि ।।
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् । नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ।।

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुँ मोक्तुं चाशक्यत्वात् । परद्रव्यं च न ज्ञानस्या

चेया, त, ण, एव, किंचि, वि, जीवाजीव, दव्व । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, सक्क सामर्थ्ये, ग्गह गहणे, वि मुंच त्यागे, गिण्ह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—आत्मन्, यत्, अमूर्त, न, खलु, तत्, आहारक, एवं, आहार, खलु, मूर्त, यत्, तत्, पुद्गलमय, न, अपि, यत्, परद्रव्य, तत्, किं, अपि, च, तत्, गुण, प्रायोगिक, वैस्रस, वा, अपि. विशुद्ध, चेतयितृ, जीवाजीव, द्रव्य । **मूलधातु**—भू सत्तायां, शक्लृ सामर्थ्ये, ग्रह उपादाने, वि मुच्लृ मोक्षणे । **पदविवरण**—अत्ता आत्मा–प्रथमा एकवचन । जस्स यस्य–षष्ठी ए० । अमुत्तो अमूर्तः–प्र० ए० ।

शक्यते] ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता [**स कोपि च तस्य**] वह कोई ऐसा ही आत्माका [**प्रायोगिकः वापि वैस्रसः गुणः**] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है । [**तस्मात्तु**] इसलिये [**यः विशुद्धः चेतयिता**] जो विशुद्ध आत्मा है [**सः**] वह [**जीवाजीवयोः द्रव्ययोः**] जीव अजीव परद्रव्यमें से [**किंचित् नैव गृह्णाति**] किसीको भी न तो ग्रहण ही करता है [**अपि किंचित् नैव विमुञ्चति**] और न किसीको छोड़ता है ।

तात्पर्य—आत्मा अमूर्त है वह किसी भी परद्रव्यको न ग्रहण कर सकता और जब ग्रहण ही कुछ नहीं है तो वह छोड़ हो क्या सकता है ?

टीकार्थ—प्रायोगिक अर्थात् परनिमित्तसे उत्पन्न हुए गुणकी सामर्थ्यसे तथा वैस्रसिक याने स्वाभाविक गुणकी सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्यके ग्रहण करने और छोड़नेका असमर्थपना होनेसे ज्ञान परद्रव्यको कुछ भी न ग्रहण करता है और न छोड़ता है । अमूर्तिक ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्यके मूर्तिक द्रव्य आहार नहीं है, क्योंकि अमूर्तिकके मूर्तिक पुद्गलद्रव्य आहार नहीं होता । इस कारण ज्ञान आहारक नहीं है । अतः ज्ञानके देहकी शंका न करना । **भावार्थ**— ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और कर्म नोकर्म रूप पुद्गलमय आहार मूर्तिक है । सो परमार्थसे आत्माके पुद्गलमय आहार नहीं है । आत्माका ऐसा ही स्वभाव है कि चाहे स्वभावरूप परिणमन करे या विभावरूप परिणमन करे, आत्माके अपने ही परिणामका ग्रहण त्याग है, परद्रव्यका ग्रहण त्याग कुछ भी नहीं है ।

अब कहते हैं कि देहरहित ज्ञानके मोक्षका कारण देह नहीं है—**एवं ज्ञानस्य** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकारसे) शुद्ध ज्ञानके देह ही विद्यमान नही है इसलिये ज्ञाताके देहमय चिन्ह (भेष) मोक्षका कारण नहीं है ।

पाखंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंग मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

पाखण्डीलिङ्गोंको, अथवा बहुविध गृहस्थ लिङ्गोंको ।
धारण करि अज्ञ कहें, लिङ्ग यही मोक्षका पथ है ॥४०८॥
लिङ्ग नहिं मोक्षका पथ, क्योंकि जिनेशने देहनिर्मम हो ।
लिङ्गबुद्धि तज करके, दर्शन ज्ञान चरितको सेया ॥४०९॥

पाखंडिलिगाणि वा गृहिलिगानि वा बहुप्रकाराणि । गृहीत्वा वदंति मूढा लिगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४०८॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हतः । लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते ॥४०९॥

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते । तदप्यनुपपन्नं सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकार-

---

नामसंज्ञ—पाखंडीलिंग, व, गिहिलिंग, व, बहुप्पयार, मूढ, लिग, इम, मोक्खमग्ग, इत्ति, ण, उ, लिङ्ग, देहणिम्मम, अरिह, दंसणणाणचरित्त । **धातुसंज्ञ**—ग्गह ग्रहणे, हो सत्तायां, मुंच त्यागे, सेव सेवायां । **प्रातिपदिक**—पाखण्डीलिङ्ग, गृहिलिङ्ग, बहुप्रकार, मूढ, लिङ्ग, इदम्, मोक्षमार्ग, इति, लिङ्ग, देहनिर्मम, अर्हत्, दर्शनज्ञानचारित्र । **मूलधातु**—ग्रह उपादाने, वद व्यक्तायां वाचि, भू सत्तायां, मुच्लृ मोक्षणे, सेव सेवायां । **पदविवरण**—पाखंडीलिङ्गाणि पाखण्डिलिगानि–द्वितीया बहु० । गिहिलिङ्गाणि गृहिलिङ्गानि–

मार्गः] मोक्षका मार्ग है । [**तु लिंगं मोक्षमार्गः न भवति**] परन्तु लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है [**यत्**] क्योंकि [**अर्हंतः**] अर्हंत देव भी [**देहनिर्ममाः**] देहसे निर्ममत्व होते हुए [**लिंगं मुक्त्वा**] लिंगको छोड़कर [**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते**] दर्शन ज्ञान चारित्रका ही सेवन करते हैं ।

तात्पर्य—जहाँ देहसे भी निर्मम होकर मोक्ष जाना होता है फिर देहलिङ्गको मोक्षका मार्ग कैसे कहा जा सकता है ।

टीकार्थ—कितने ही लोग अज्ञानसे द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिंगको ही अंगीकार करते हैं । वह भी (द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानना) अयुक्त है, क्योंकि सभी अरहंत देवोंके शुद्ध ज्ञानमयता होनेपर, द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरके ममत्वका त्याग है, तथा उस शरीरके आश्रित द्रव्यलिंगके त्यागसे दर्शनज्ञानचारित्रकी मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है । भावार्थ—यदि देहमय द्रव्यलिंग ही मोक्षका कारण होता तो अरहंतादिक देहका ममत्व छोड़ दर्शनज्ञानचारित्रका क्यों सेवन करते, द्रव्यलिंगसे ही मोक्षको प्राप्त हो जाते । इस

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

पाखण्डी व गृहस्थों-का लिङ्ग न कोइ मोक्षका पथ है।
दर्शन ज्ञान चरित्र हि, मोक्षका मार्ग जिन कहते ॥४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहिमयानि लिङ्गानि। दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदंति ॥ ४१० ॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ॥४१०॥

नामसंज्ञ—ण, वि, एत, मोक्खमग्ग, पाखंडीगिहिमय, लिङ्ग, दंसणणाणचरित्त, मोक्खमग्ग, जिण। **धातुसंज्ञ**—विद ज्ञाने। **प्रातिपदिक**–न, अपि, एतत्, मोक्षमार्ग, पाखण्डिगृहिमय, लिङ्ग, दर्शनज्ञानचारित्र, मोक्षमार्ग, जिन। **मूलधातु**—विद ज्ञाने अदादि। **पदविवरण**—ण वि न अपि–अव्यय। एस एषः–प्रथमा एकवचन। मोक्खमग्गो मोक्षमार्गः–प्र० ए०। पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि पाखण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि–प्र० बहु०। दंसणणाणचरित्ताणि दर्शनज्ञानचारित्राणि–द्वि० बहु०। मोक्खमग्गं मोक्षमार्ग–द्वि० ए०। जिणा जिनाः–प्र० बहु०। विंति विदन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया ॥ ४१० ॥

तात्पर्य—परमार्थतः सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका एकत्व ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

टीकार्थ—निश्चयसे द्रव्यलिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, क्योंकि शरीरके आश्रित होनेसे यह परद्रव्य है। इस कारण दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग हैं; क्योंकि इसको याने दर्शनज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्गको आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्यपना है। **भावार्थ**—मोक्ष सब कर्मोंके अभाव रूप आत्माका परिणाम है, इस कारण मोक्षका कारण भी आत्माका परिणाम ही हो सकता। दर्शनज्ञानचारित्र आत्माके परिणाम हैं, इसलिये निश्चयसे दर्शनज्ञानचारित्रात्मक आत्म-परिणाम ही मोक्षका मार्ग है। लिंग देहमय है, देह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये देह आत्माके मोक्षका मार्ग नहीं है। परमार्थसे अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्य कुछ नहीं करता यह नियम है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि देहलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। अब इस गाथामें इसी विषयका समर्थन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१– परद्रव्य आत्माका मोक्षमार्ग नहीं है। २– द्रव्यलिंग शरीराश्रित होनेसे परद्रव्यरूप है। ३– आत्माश्रित परिणाम स्वद्रव्यरूप है। ४– आत्माश्रित परिणाम आत्माका मोक्षमार्ग हो सकता है। ५– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मपरिणाम हैं अतः यह रत्नत्रय मोक्षमार्ग है।

सिद्धान्त—१– अविकार ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके आश्रयसे मोक्ष होता है।

तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यंते प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति

बन्धकथा--कर्ताकारक प्रथमा एकवचन। एकत्वे-सप्तमी० एकवचन। तेन-तृतीया एकवचन। विसं॰वादिनी-प्रथमा एकवचन कर्तृविशेषण। भवति-क्रिया।

अब यह द्वैविध्य बाधित किया जाता है अर्थात् समयकी द्विविधता ठीक नहीं है, क्योंकि वह बाधासहित है। वास्तवमें समयका एकत्व होना ही प्रयोजनीय है। समयके एकत्वसे ही यह जीव शोभा पा सकता है [**एकत्वनिश्चयगतः**] एकत्वके निश्चयको प्राप्त [**समयः**] समय [**सर्वत्रलोके**] सब लोकमें [**सुंदरः**] सुंदर है [**तेन**] इसलिए [**एकत्वे**] एकत्वमें [**बंधकथा**] दूसरेके साथ बंधकी कथा [**विसम्वादिनी**] विसम्वाद कराने वाली [**भवति**] है।

तात्पर्य—बन्धनमें संकट हैं, सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वमें पवित्रता व शान्ति है।

टीकार्थ--यहां समय शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि समय शब्दका अक्षरार्थ ऐसा है कि 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुणपर्यायोंको प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है। इसलिए सब ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवद्रव्य स्वरूप लोकमें जो कुछ पदार्थ हैं, वे सभी यद्यपि अपने द्रव्यमें अंतर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मोंका स्पर्श करते हैं तो भी परस्परमें एक दूसरेका स्पर्श नहीं करते और अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित हैं तो भी सदाकाल निश्चयसे अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते तथा समस्त विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्यमें हेतुपनासे सदा विश्वका उपकार करते हैं, परन्तु निश्चयसे एकत्वके निश्चयको प्राप्त होनेसे ही सुन्दरता पाते हैं, क्योंकि जो अन्य प्रकार हो जायें तो संकर व्यतिकर आदि सभी दोष उसमें आ जावें। इस तरह सब पदार्थोंका भिन्न भिन्न एकत्व सिद्ध होनेपर जीव नामक समयको बंधकी कथासे विसंवादकी आपत्ति होती है। क्योंकि बंधकथाका मूल पुद्गल कर्मके प्रदेशोंमें स्थित होना जिसका मूल है, ऐसी परसमयतासे पैदा हुई परसमय स्वसमयरूप द्विविधता जीवके आती है। अतः समयका एकत्व होना ही सुसिद्ध होता है।

भावार्थ--निश्चयसे सब पदार्थ अपने अपने स्वभावमें ठहरते हुए शोभा पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थकी अनादिकालसे पुद्गल कर्मके साथ बंध अवस्था है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए शोभा नहीं पाता। अतः एकत्व होना ही अच्छा है, उसी से यह जीव शोभा पा सकता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्वकी गाथामें स्वसमय और परसमय ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं, किन्तु यह आत्मवस्तुका सहजभाव नहीं है। सहज चैतन्यस्वभावके परिचयकी सुगमता

मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ।। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः । एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ।।२३६।। ।।४११।।

ब० । सागारणगारएहिं सागारैः अनगारैः–तृतीया बहु० । वा–अव्यय । गहिए गृहीतानि–द्वि० बहु० । दंसणाणचरित्ते दर्शनज्ञानचरित्रे–सप्तमी एक० । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । जुंज युंक्ष्व–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । मोक्खपहे मोक्षपथे–सप्तमी एकवचन ।। ४११ ।।

व्यवहारसे निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं, उनको नहीं छुड़ाते; परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्गमें लगनेसे ही मोक्ष होता है, केवल भेषमात्रसे मोक्ष नहीं है ।

अब इसी अर्थको काव्यमें दृढ़ करते हैं—**दर्शन** इत्यादि । **अर्थ**—आत्माका यथार्थरूप दर्शनज्ञानचारित्रका त्रिकस्वरूप है । सो मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको एक यही मोक्षमार्ग सदा सेवने योग्य है । **भावार्थ**—अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान ज्ञान रमण ही मोक्षमार्ग है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय आत्मपरिणाम मोक्षमार्ग है । अब इस गाथामें द्रव्यलिंगका ममत्व छुटाकर आत्माको परमार्थ मोक्षमार्गमें लगानेका उपदेश किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– देहलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि द्रव्यलिंग अनात्माश्रित है । २– सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मोक्षमार्ग है, क्योंकि यह रत्नत्रय आत्माश्रित है । ३–समस्तद्रव्यलिंगको त्यागकर दर्शनज्ञानचारित्रमें ही अपनेको लगाना मोक्षमार्गकी साधना है । ४–देहममत्वका त्याग ही समस्त द्रव्यलिंगका त्याग है ।

सिद्धान्त—१– अनात्माश्रित द्रव्यलिङ्ग आत्माके विकासका मार्ग नहीं है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ) ।

प्रयोग—गृहीत देहलिंगका ममकार छोड़कर, देहका ममकार छोड़कर अपने आत्माको दर्शनज्ञानचारित्रमय मोक्षमार्गमें लगाना ।।४११।।

अब मोक्षपथमें लगनेका उपदेश गाथामें कहते हैं:—हे भव्य तू [**मोक्षपथे**] मोक्षमार्गमें [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**स्थापय**] स्थापित कर [**च तं एव**] उसीका [**ध्याय**] ध्यान कर [**तं चेतयस्व**] उसीका अनुभव कर [**तत्रैव नित्यं विहर**] और उस आत्मामें ही निरंतर विहार कर, [**अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः**] अन्यद्रव्योंमें विहार मत कर ।

तात्पर्य—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें ही उपयुक्त रहना मोक्षार्थीका कर्तव्य है ।

टीकार्थ—अनादि संसारसे लेकर अपने बुद्धिदोषसे परद्रव्य रागद्वेषादिमें नित्य ही

ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्ये
ष्वपि मनागपि मा विहार्षीः ।। एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकस्तत्रैव स्थि
यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति । तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन् ।

णिजंत, ध्यै चिन्तायां, चिती संज्ञाने, वि हृञ् हरणे । पदविवरण—मोक्खपहे मोक्षपथे
एकवचन । अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एक० । ठवेहि स्थापय—आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष
णिजन्त क्रिया । तं—द्वि० ए० । झाहि ध्यायस्व—आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । तं—

का अनुभव करता है । **भावार्थ**—निश्चयमोक्षमार्गके सेवनसे अल्पकालमें ही मोक्षकी
होती है यह नियम है ।

अब कहते हैं कि जो द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रख
मोक्षको नहीं पाते उसकी सूचनाका काव्य है—**ये त्वेनं** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष इस
परमार्थस्वरूप मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहारमार्गमें स्थापित अपने आपसे द्रव्यमयलिङ्गी
बाह्य भेषमें ही ममता करते हैं, अर्थात् यह जानते हैं कि यही हमको मोक्ष प्राप्त कर
पुरुष तत्त्वके यथार्थज्ञानसे रहित होते हुए नित्य उदित अखंड अतुलप्रकाश वाले स्व
प्रभाके पुञ्ज, अमल समयसारको प्राप्त नहीं कर सकते **भावार्थ**—जिनको द्रव्यलिङ्गमें
है वे अब तक भी समयसारको नहीं पा सके ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें दर्शनज्ञानचारित्रमें आत्माको लगानेकी
दी गई थी । अब इस गाथामें और विस्तारसे उसीका समर्थन किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– रागद्वेषादि विकार कार्माण द्रव्यके अनुभाग होनेसे परद्र
२– रागद्वेषादि कर्मानुभागोंमें यह जीव अपने प्रज्ञादोषसे अनादिसे ठहरता चला आ
३–अपने स्वरूपकी सुध रूप प्रज्ञागुणसे यह आत्मा रागद्वेषादिसे हट सकता है । ४–रा
विकारसे हटकर ही यह आत्मा अपने आपको अपने दर्शनज्ञानचारित्रमें स्थित कर
है । ५–ज्ञानी पुरुष अन्यत्र चित्त न देकर एकाग्रतासे दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूपका ध्
करता है । ६–ज्ञानी पुरुष समस्त कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके परिहारसे शुद्धज्ञान चे
हुआ है सो वह दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूपको ही चेतता रहता है । ७–आत्माका ना
है जिसका संकेत है कि आत्मा गुणोंके द्वारा बढ़ता रहता है स्वगुणैर्वृंहति इति
८– अपने ब्रह्मस्वभाववशसे प्रतिक्षण गुणोंमें बढ़-बढ़कर उन परिणामोंमें तन्मय होक
दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपमें ही विहार करता है अर्थात् उपयोग रमाये रहता है । ९– ज्ञा
एक अचल आत्मतत्त्वमें उपयोग रखने वाला ज्ञानी यद्यपि ज्ञेयरूपसे सब ओरसे

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

पाखण्डी लिङ्गोंमें, तथा विविध सब गृहस्थ लिङ्गोंमें ।
जो ममत्व करते उन को न समयसार ज्ञात हुआ ॥४१३॥

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु। कुर्वंति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४१३ ॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहङ्कारं कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न

नामसंज्ञ—*पाखंडीलिंग, व, गिहिलिंग, व, बहुप्पयार, ज, ममत्त, त, ण, णाय, समयसार।* **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, ज्ञा अवबोधने। **प्रातिपदिक**—पाखण्डिलिंग, वा, गृहिलिंग, व, बहुप्रकार, यत्, ममत्व, तत्, न, ज्ञात। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—पाखंडीलिंगेसु पाखण्डिलिंगेषु गिहि-

---

ही ज्ञानमें विमुग्ध बुद्धि वाले तुषको ही संचित करते हैं वे तंदुलको नहीं संचित करते हैं। **भावार्थ**—जो व्यवहारमें ही मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं वे परमार्थ आत्माको नहीं जानते।

आगे इसी अर्थको काव्यमें दृढ़ करते हैं—**द्रव्यलिंग** इत्यादि। **अर्थ**—द्रव्यलिंगके मोहसे अंधे हुए पुरुषोंके द्वारा समयसार नहीं देखा जा सकता; क्योंकि इस लोकमें द्रव्यलिंग तो अन्यद्रव्यसे होता हैं और एक यह ज्ञान अपने आत्मद्रव्यसे होता है। **भावार्थ**—जो द्रव्यलिंगको ही अपना मानते हैं वे मोहान्ध हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें देहादिविषयक रागद्वेषादिसे हटाकर दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप साक्षात् मोक्षमार्गमें उपयुक्त कराया था। अब इस गाथामें उसी मार्गकी दृढ़ताके लिये बताया है कि जो साक्षात् मोक्षमार्गसे हटकर द्रव्यलिङ्गोंमें ममत्व करता है उसने समयसार ही नहीं जाना, फिर उसका कल्याण होगा ही कैसे ?

तथ्यप्रकाश—१- मैं मुनि हूं इस आशयमें द्रव्यलिङ्गके प्रति दृढ़ ममत्व बसा हुआ है। २-मैं श्रमणोपासक हूं, श्रावक हूं इस आशयमें भी श्रावकवेशरूप द्रव्यलिङ्गमें दृढ़ ममत्व बसा हुआ है। ३-द्रव्यलिङ्गमें ममत्व होनेसे मिथ्या अहंकारकी वृत्ति जगती रहती है। ४-वेशमें अहंकार करने वाले मुग्ध पुरुष विवेकसे च्युत रहते हैं। ५- द्रव्यलिङ्गकी ममता वाले मिथ्याहंकारी अविवेकी पुरुष परमार्थसत्य भगवान समयसारको निरख नहीं सकते। ६- जो व्यवहारमें ही विमूढ हो गये हैं वे परमार्थ सहजात्मस्वरूपपर दृष्टि भी नहीं कर पाते। ७-सहजात्मस्वरूपकी दृष्टि, प्रतीति, रुचि, अनुभूति बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

व्यवहारनय बताता, दोनों ही लिङ्ग मोक्षके पथ हैं।
निश्चय सब लिङ्गोंको, शिवपथमें इष्ट नहिं करता ॥४१४॥

व्यावहारिकः नयः पुनः द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे। निश्चयनयः न इच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थस्तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्। यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रांतं दृशिज्ञप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुष-संचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्। ततो ये व्यवहार-

---

नामसंज्ञ—ववहारिओ, पुण, णअ, दु, वि, लिंग, मोक्खपह, णिच्छयणअ, ण, मोक्खपह, सव्वलिंग। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, इच्छ इच्छायां। **प्रातिपदिक**—व्यावहारिक, पुनर्, नय, द्वि, अपि, लिङ्ग, मोक्षपथ,

---

नयका विषय अभेदरूप शुद्ध द्रव्य परमार्थ है। जो व्यवहारको ही निश्चय मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको समयसारकी प्राप्ति नहीं है, और जो परमार्थको परमार्थ जानते हैं उनको समयसारकी प्राप्ति होती है और वे ही मोक्ष पाते हैं।

अब काव्यमें कहते हैं कि बहुत कहनेसे क्या लाभ, एक परमार्थका ही चिंतवन करना—**अलमल** इत्यादि। **अर्थ**—बहुत कहनेसे और बहुतसे दुर्विकल्पोंसे बस होओ, उनसे कुछ लाभ नहीं। एक परमार्थका ही निरन्तर अनुभवन करना चाहिये। क्योंकि वास्तवमें अपने रसके फैलावसे पूर्ण ज्ञानके स्फुरायमान होने मात्र समयसार याने सहज परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य कुछ भी सार नहीं है। **भावार्थ**—परमार्थतः पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करना ही समयसार है।

अब इस समयसार ग्रंथकी पूर्णताका संकेत करते हैं—**इदमेकं** इत्यादि। **अर्थ**—आनन्दमय विज्ञानघनको प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अक्षय जगच्चक्षु पूर्णताको प्राप्त होता है। **भावार्थ**—यह समयप्राभृतग्रंथ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनों ही प्रकारसे अद्वितीय नेत्रके समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादिको प्रत्यक्ष दिखलाता है वैसे यह भी शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि द्रव्यलिङ्गमें ममत्व करने वालोंने समयसार ही न जान पाया। अब इस प्रसंगकी अन्तिम गाथामें बताया है कि व्यवहारनय तो मुनिलिङ्ग व भावलिङ्ग दोनोंको मोक्षमार्ग इष्ट करता है, किन्तु निश्चयनय किसी

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

जो भि समयप्राभृतको, पढ़कर सत्यार्थ तत्त्वसे लखकर।
अर्थमध्य ठहरेगा, वह सहजानन्दमय होगा ॥४१५॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा। अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यं ॥४१५॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य

नामसंज्ञ—ज, समयपाहुड, इम, अत्थतच्चदो, अत्थ, चेया, त, उत्तम, सोक्ख। **धातुसंज्ञ**—पढ पठने, जाण अवबोधने, ट्ठा गतिनिवृत्तौ, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—यत्, समयप्राभृत, इदम्, अर्थतत्त्वतः, अर्थ, चेतयितृ, तत्, उत्तम, सौख्य। **मूलधातु**—पठ पठने, ज्ञा अवबोधने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, भू सत्तायां। **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा ए०। समयपाहुडं समयप्राभृतं–द्वि० ए०। इणं इदम्–द्वि० ए०। पडिहूणं पठित्वा–

प्रयोग—मोक्षलाभके लिये मुनिलिङ्ग धारण कर उस देहलिङ्गसे उपेक्षा कर दर्शनज्ञानचारित्रवृत्तिमय शुद्ध ज्ञानघन आत्मतत्त्वमें उपयोग करना ॥ ४१४ ॥

अब पूज्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रंथको पूर्ण करते समय इसकी महिमाके रूपमें पढ़नेके फलकी गाथा कहते हैं—[**यः चेतयिता**] जो चेतयिता पुरुष (भव्यजीव) [**इदं समयप्राभृतं पठित्वा**] इस समयप्राभृतको पढ़कर [**अर्थतस्तत्त्वतः ज्ञात्वा**] अर्थसे और तत्त्वसे जान कर [**अर्थे स्थास्यति**] इसके अर्थमें ठहरेगा [**सः**] वह [**उत्तमं सौख्यं भविष्यति**] उत्तम सुखस्वरूप होगा।

तात्पर्य—जो भव्य जीव समयसारके वाच्य समयसारमें स्थित होगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा।

टीकार्थ—जो भव्य पुरुष निश्चयतः समयसारभूत भगवान परमात्माका विश्वप्रकाशकपना होनेके कारण विश्वसमयका प्रतिपादन करनेसे स्वयं शब्दब्रह्मस्वरूप इस शास्त्रको पढ़ करके विश्वप्रकाशनमें समर्थ परमार्थभूत चित्प्रकाशस्वरूप आत्माको निश्चित करता हुआ अर्थसे और तत्त्वसे जानकर इसी अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्ममें सर्वपौरुषसे स्थित होगा वह साक्षात् तत्क्षण प्रकट होने वाले एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमें सुस्थित और निराकुल होनेसे परमानन्दशब्दवाच्य उत्तम अनाकुलत्व लक्षण वाला सौख्यस्वरूप स्वयं ही होगा। **भावार्थ**—यह समयप्राभृतनामक शास्त्र समयको याने पदार्थ व आत्माको कहने वाला है। जो इस शास्त्रको पढ़कर इसके यथार्थ अर्थमें ठहरेगा वह परमब्रह्मको अनुभवेगा। इसीसे

निर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानंदशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वमेव भविष्यतीति ।। इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं । अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ।।२४६।। ।। ४१५ ।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ **सर्वविशुद्धज्ञान**प्ररूपको नवमोऽङ्कः ।। ८ ।।

चेतयिता–प्रथमा एकवचन । सो सः–प्रथमा एक० । होही भविष्यति–भविष्यत्काले लृट् अन्य पुरुष एक वचन क्रिया । उत्तमं–प्रथमा एकवचन । सोक्खं सौख्यं–प्रथमा एकवचन ।। ४१५ ।।

ग्रन्थ विश्वको जानने वाले भगवान परमात्माके स्वरूपका दर्शक है । (३) भगवान परमात्म कार्यसमयसार है, भगवान आत्मा ओघ कारणसमयसार है, क्षीणमोह वीतराग अन्तरात्मा समुचित कारणसमयसार है, समयप्राभृतग्रंथ परमागम समयसार है । (४) समयसार ग्रंथका अर्थसे अध्ययन करनेपर समयसार आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है । (५) समयसार ग्रन्थका भावभासनासे अध्ययन करनेपर समयसार आत्मतत्त्वका सानुभव सम्यग्ज्ञान होता है । (६) समयसारको अर्थसे व तत्त्वसे जानकर ज्ञानघन परमब्रह्म अन्तस्तत्त्व समयसारमें जो स्थित होता वह अलौकिक सहज परम आनन्दस्वरूप होता है । (७) अखण्ड अचल अबाधित स्वसंवेद्य ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व समयसार है । (८) आनन्दमय विज्ञानघन आत्मस्वरूपको स्पष्ट दर्शाता हुआ यह जगच्चक्षु समयसार ग्रन्थ पूर्णताको प्राप्त होता है । (९) आनन्दमय विज्ञानघन परमब्रह्मको प्रत्यक्ष दिखाता हुआ यह जगच्चक्षु सम्यग्ज्ञान अपने सहजविलाससे भरपूर होता है ।

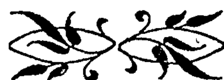
सिद्धान्त––(१) समयसार अभेद चैतन्यस्वरूप है । (२) कारणसमयसारके आश्रय से कार्यसमयसार होता है ।

दृष्टि––१–भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) । २–शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग––अलौकिक स्वाधीन सहज आनन्द पानेके लिये समयसार ग्रंथका अर्थसहित व भावभासनासहित अध्ययन मनन करके शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिके बलसे ज्ञानघन आत्मस्वरूपको ज्ञानमें बनाये रहना ।। ४१५ ।।

इति पूज्यश्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसारपर व पूज्यश्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित आत्मख्याति टीकापर **सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार**की

।। श्रीमत्सहजानन्दविरचित सप्तदशाङ्गी टीका समाप्त ।।



तथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगवंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

जानी सुनी अनुभवी, जीवोंने कामभोगवंधकथा ।
इससे विविक्त यह निज, एक स्वभावी न ज्ञात हुआ ॥४॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा । एकत्वस्योपलंभः नवरि न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्त्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृंभिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतर्माधिस्योत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वे-

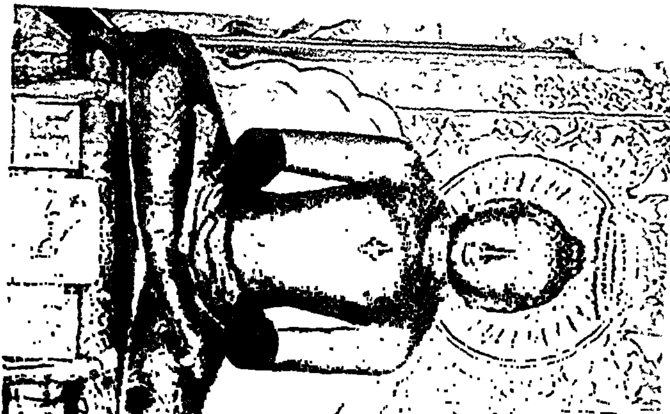
---

प्रकृतिशब्द—श्रुता, परिचिता, अनुभूता, सर्व, अपि, काम, भोग वन्ध, कथा, एकत्व, उपलम्भ, नवरि, न, सुलभ, विभक्त । **मूलधातु**—श्रु श्रवणे, चित् चेतने, भू सत्तायां, कमि कामनायां, भुज् भोगे, डुलभष् प्राप्तौ । **पदविवरण**—श्रुतपरिचितानुभूता–प्रथमा एकवचन, स्त्रीलिङ्ग । सर्वस्य–षष्ठी एक-

---

आ चुकी है । यह जीवलोक संसाररूपी चक्रके मध्यमें स्थित है, जो निरन्तर अनन्त बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भावरूप परावर्तन करनेसे भ्रमण करता रहता है, समस्त लोकको एकछत्र राज्यसे वश करने वाले बलवान मोहरूपी पिशाचसे बैलकी भाँति जोता जाता है, वेग से बढ़ी हुई तृष्णारूपी रोगके संतापसे जिसके अन्तरंगमें क्षोभ और पीड़ा हुई है, मृगकी तृष्णा के समान भ्रान्त-संतप्त होकर इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर दौड़ता है । इतना ही नहीं, परस्पर आचार्यत्व भी करता है अर्थात् दूसरेको भी कहकर अंगीकार कराता है । इसलिए काम-भोग की कथा तो सबको सुलभ है । परंतु निर्मल भेदविज्ञानरूपी प्रकाशसे स्पष्ट दिखाई देने वाला भिन्न आत्माका जो एकत्व है, वह यद्यपि सदा प्रकट रूपसे अंतरंगमें प्रकाशमान है, तो भी वह कषायोंके साथ एकरूप सरीखा हो रहा है, इसलिए उसका अत्यंत तिरोभाव हो रहा है— आच्छादित है । इस कारण अपनेमें अनात्मज्ञता होनेसे, न अपनेको स्वयं भी जाना और दूसरे आत्माके जानने वालोंकी संगति सेवा भी नहीं की, इसलिए वह एकत्व न कभी सुननेमें आया, न परिचयमें आया और न कभी अनुभवमें ही आया । इस कारण भिन्न आत्माके एकत्वकी सुलभता नहीं है ।

भावार्थ—इस लोकमें सभी जीव संसाररूप चक्रपर चढ़े पाँच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं । वहाँपर मोहकर्मके उदयरूप पिशाचसे जोते जाते हैं, इसी कारणसे विषयोंकी तृष्णा रूप दाहसे पीड़ित होते हैं । उसमें भी उस दाहकी शान्तिका उपाय इन्द्रियोंके रूपादि विषयों



राजस्थान पत्रिका
हार्दिक शुभकामनाएं!

अत एवैतदुपदर्श्यते—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।५।।

आत्मविभवके द्वारा, उस एकत्वविभक्तको लखाऊँ ।
यदि लख जावे मानो, न लखे तो दोष मत गहना ।।५।।

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन । यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ।।५।।

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुपयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा

प्रकृतिशब्द—तत्, एकत्वविभक्त, आत्मन्, स्व, विभव, यदि, प्रमाण, छल, न । मूलधातु—वि-भज विश्राणने । दृशिर् अवलोकने । वि–भू सत्तायां । प्र–मा माने । स्खल संचलने । गृह ग्रहणे ।

वैभव द्वारा [दर्शये] दिखलाता हूं, [यदि] जो मैं [दर्शयेयं] दिखलाऊँ तो उसे [प्रमाणं] प्रमाण (स्वीकार) करना [स्खलेयं] और जो कहींपर चूक जाऊँ तो [छलं] छल [न] नही [गृहीतव्यम्] ग्रहण करना ।

तात्पर्य—आचार्यदेव अपने वैभवसे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वको बता रहे हैं उसे भक्ति से सुनना व ग्रहण करना चाहिये ।

टीकार्थ—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्माका निज वैभव है उस सबसे मैं इस एकत्वविभक्त आत्माको दिखलानेके लिये उद्यत हुआ हूं । मेरे आत्माके निज वैभवका जन्म, इस लोकमें प्रकट समस्त वस्तुओंको प्रकाश करने वाला और स्यात् पदसे चिह्नित शब्द ब्रह्म–अरहंतके परमागमकी उपासनासे हुआ है । (यहां 'स्यात्' इस पदका तो कथंचित् अर्थ है अर्थात् किसी प्रकारसे कहना और सामान्यधर्मसे वचनगोचर सब धर्मोंका नाम आता है तथा वचनके अगोचर जो कोई विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है । इस तरह वह सब वस्तुओंका प्रकाशक है । इस कारण सर्वव्यापी कहा जाता है और इसीसे अरहंतके परमागमको शब्दब्रह्म कहते हैं । उसकी उपासनाके द्वारा मेरा ज्ञान वैभव उत्पन्न हुआ है) तथा जिसका जन्म समस्त विपक्ष—अन्यवादियों द्वारा ग्रहण किये गये सर्वथा एकांतरूप नयपक्षके निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष (सुस्पष्ट) निर्बाधयुक्तिके अवलंबनसे है; निर्मल विज्ञानघन आत्मामें अंतर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञ देव, अपरगुरु गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यंतके प्रसादसे प्राप्त हुए शुद्धात्मतत्त्वके अनुग्रहपूर्वक उपदेशसे जिसका जन्म है; निरन्तर झरते हुए आस्वादमें आये और सुन्दर आनन्दसे मिले हुए प्रचुर ज्ञानस्वरूप आत्माके स्वसम्वेदनसे जिसका जन्म है, ऐसा जो कुछ मेरे ज्ञानका वैभव है, उस समस्त वैभवसे उस एकत्वविभक्त आत्माका स्वरूप दिख-

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नहिं रागी न विरागी, केवल चैतन्यमात्र ज्ञायक यह ।
निर्नाम शुद्ध वह जो, ज्ञात हुआ वह वही शाश्वत ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः । एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥६॥

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यांतर-

---

नामसंज्ञ—ण, वि, अप्पमत्त, ण, पमत्त, जाणअ, दु, ज, भाव, एवं, सुद्ध, णाअ, ज, त, उ, त, चेव । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, भण कथने । **प्रकृतिशब्द**—न, अपि, अप्रमत्त, न, ज्ञायक, तु, यत्, भाव, एवं, शुद्ध, ज्ञात, यत्, तत्, तु, तत्, च, एव । **मूलधातु**—मदी मोहने, ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां, शुध शोचे, भण वाचि । **पदविवरण**—न–अव्यय, अपि–अव्यय । भवति–लट् प्रथम पुरुष एकवचन । अप्रमत्तः–प्रथमा एक० । न–

प्रयोग—आगम अभ्यास, दार्शनिक बोध, सविनय गुरुसेवा और तत्त्वमननकी प्रतिदिन साधना करते हुए सत्याग्रह (स्वभावदृष्टि) व असहयोग (परभावोंसे उपेक्षा) से अपनेमें अपने सहजस्वरूपके अनुभवनेका पौरुष करना ॥५॥

अब ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिये ? ऐसे प्रश्नका उत्तररूप गाथा सूत्र कहते हैं—[तु यः] अहो जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न] नहीं है और [न प्रमत्तः] न प्रमत्त ही है [एवं] इस तरह [शुद्धं] उसे शुद्ध [भणंति] कहते हैं [च यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायक रूपसे ज्ञात हुआ [सः] वह [स एव तु] वही है, अन्य कोई नहीं ।

तात्पर्य—अन्तस्तत्त्व स्वसम्वेद्य सहज प्रतिभासस्वरूप है ।

टीकार्थ—जो एक ज्ञायक भाव है, वह अपने आपसे ही सिद्ध होनेसे (किसीसे उत्पन्न नहीं होनेसे) अनादिसत्तारूप है और कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है, नित्य उद्योत रूप है, स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है । वह संसारकी अवस्थामें अनादिबंधपर्यायकी निरूपणा (अपेक्षा) से दूध जलकी तरह कर्मरूप पुद्गलद्रव्य सहित होनेपर भी द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा से देखा जाय, तब तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषायोंके उदयकी विचित्रतासे प्रवृत्त

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

चारित्र ज्ञान दर्शन, ज्ञायकके सुव्यवहारनय कहता।
शुद्धनय शुद्ध लखता, नहिं दर्शन आदि भेद वहां ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्। नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

आस्तां तावद् बंधप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यंते; यतो-ह्यनंतधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशा-

---

नामसंज्ञ—ववहार, णाणि, चरित्त, दंसण, णाण, णवि, णाण, ण, चरित्त, ण, दंसण, जाणग, सुद्ध। **धातुसंज्ञ**—उव-दिस प्रेक्षणे दाने च, दंस दर्शनायां, जाण अवबोधने, सुज्झ नैर्मल्ये। **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, ज्ञानिन्, चरित्र, दर्शन, ज्ञान, न, अपि, ज्ञान, न चरित्र, न, दर्शन ज्ञायक, शुद्ध। **मूलधातु**—हृ हरणे।

भेदरूप तथ्य अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषय हैं। शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें यह भी पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है—ऐसा आशय जानना। जिनमतका कथन स्याद्वादरूप है, इससे शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तुके धर्म जानना। अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ ही न समझना। जो वस्तुधर्म है, वह वस्तुका सत्त्व है, वह प्रयोजनवश ही हुआ भेद है। निर्विकल्प समाधि पानेके लिये शुद्धनयका प्रधान उपदेश है। अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे ऐसा नहीं समझना कि यह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं, आकाशके फूलकी तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व आता है। इसलिये स्याद्वादका शरण लेकर शुद्धनयका आलंबन करना चाहिये, स्वरूपकी प्राप्ति होनेके पश्चात् शुद्धनयका भी अवलंबन नहीं रहता।

प्रसंगविवरण—अनंतर पूर्व गाथामें प्रतिज्ञापन किया था कि उस एकत्वको मैं दिखाऊँगा सो इस गाथामें उसी एकत्वकी चर्चा की गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) यह ज्ञायकभाव (आत्माका सहज एकत्व स्वरूप) स्वतःसिद्ध अनादिनिधन है। (२) यह ज्ञायकभाव नित्य अंतः प्रकाशमान है। (३) यह ज्ञायकभाव स्पष्ट प्रतिभासस्वरूप है। (४) संसारावस्थामें शुभ अशुभ भाव प्रतिफलित होनेपर भी यह उन भावों रूप स्वभावसे नहीं परिणमता है। (५) समस्त पर व परभावोंसे भिन्न यह ज्ञायक है यही इसकी शुद्धता है। (६) अन्तरङ्ग ज्ञेयाकार होनेपर भी ज्ञेय पदार्थोंसे इस ज्ञायकका कुछ सम्बन्ध नहीं, कुछ कारकपना नहीं, किन्तु ज्ञायक ही अपनेमें अपने ज्ञानकर्मरूप परिणमता रहता है। (७) भेद किया जानेके कारण गुणोंका निरखना भी अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।।८।।

तो भी अनार्य जैसे, अनार्यभाषा विना नहीं समझे ।
व्यवहार विना प्राणी, परमार्थोपदेश नहिं समझे ।।८।।

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् । तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ।

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत

नामसंज्ञ—जह, णवि, सक्क, अणज्ज, अणज्जभास, विणा, उ, तह, ववहार, विणा, परमत्थुवएसण, असक्क । धातुसंज्ञ—सक्क सामर्थ्ये, गाह स्थापनाग्रहणप्रवेसेसु । प्रकृतिशब्द—यथा न, अपि, शक्य, अनार्य, अनार्यभाषा, विना, तु, तथा, व्यवहार, विना, परमार्थोपदेशन अशक्य । मूलधातु—शक्लृ-समर्थे,

पंडित पुरुषोंकी दृष्टिमें दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं और चारित्र भी नहीं, किन्तु एकमात्र शुद्ध ज्ञायक भाव ही है ।

भावार्थ—इस शुद्ध आत्माके कर्मबंधके निमित्तसे अशुद्धता आती है, यह बात तो दूर ही रहे, इसके तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रका भी भेद नहीं है । फिर भी व्यवहारी जन धर्मोंको ही समझते हैं, धर्मीको नहीं जानते, इसलिये वस्तुके कुछ असाधारण धर्मोंको उपदेशमें लेकर अभेदरूप वस्तुमें भी धर्मोंके नामरूप भेदको उत्पन्न करके ऐसा उपदेश करते हैं कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । अभेदमें भेद करनेसे इसको व्यवहार कहा गया है । परमार्थसे विचारा जाय तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्य अभेदरूप पिये हुए बैठा है, इस कारण भेद नहीं है । यद्यपि पर्याय भी द्रव्यका ही भेद है, अवस्तु नहीं है, तथापि यहाँ द्रव्यदृष्टिसे अभेदको प्रधान मानकर उपदेश है । अभेददृष्टिमें भेदको गौण करनेसे ही अभेद अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है, इस कारण भेदको गौण करके व्यवहार कहा है । तात्पर्य यह है कि भेददृष्टिमें निर्विकल्प दशा नही होती और सरागीके जब तक रागादिक दूर नहीं होते, तब तक विकल्प बना रहता है । इस कारण भेदको गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होनेके बाद तो भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है वहाँ नयका अवलम्बन ही नहीं रहता ।

तीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदान्तःसुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव । एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः ॥८॥

भाषा अनार्यभाषा तां । विना–अव्यय । तु–अव्यय । ग्राहयितुं–गृह्णन्तं प्रेरयितुं । 'तथा--अव्यय । व्यवहारेण–तृ० ए० । विना--अव्यय । परमार्थोपदेशनं–प्र० ए० । अशक्यं--शक्तं योग्यम् शक्यं, न शक्यं इति अशक्यम्--प्रथमा एकवचन ॥८॥

न समझता हुआ ब्राह्मणके सामने मेढ़ेकी तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहा कि इसने क्या कहा है ? तब उस ब्राह्मणकी भाषा तथा म्लेच्छकी भाषा—इन दोनोंका अर्थ जानने वाले अन्य किसी पुरुषने उसे म्लेच्छ भाषामें समझाया कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ है 'तेरा कल्याण हो ।' उस समय उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्दके आंसुओंसे उस म्लेच्छके नेत्र भर आये, इस तरह वह म्लेच्छ उस 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ समझ ही लेता है । उसी तरह व्यवहारी जन भी 'आत्मा' ऐसा शब्द कहे जानेपर यथावस्थित आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं समझता हुआ मेंढेकी तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है । और जब कोई व्यवहार परमार्थ मार्गपर सम्यग्ज्ञान रूप महारथको चलाने वाले सारथीके समान आचार्य या अन्य कोई विद्वान् व्यवहारमार्गको वर्तकर 'दर्शन ज्ञान चारित्र रूप जो सदा परिणमन करे, वह आत्मा है' ऐसा आत्मा शब्दका अर्थ कहता है तब उसी समय उत्पन्न हुए अत्यंत आनन्द वाले हृदयमें सुन्दर ज्ञानरूप तरंगोंसे प्रमुदित वह उस आत्मशब्दका अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है । इस प्रकार यहाँ जगतके म्लेच्छस्थानीयपना होनेसे और व्यवहारनयके म्लेच्छ भाषाके तुल्य होनेसे व्यवहार परमार्थका कहने वाला होनेसे उपदेश करने योग्य है । और ब्राह्मणको म्लेच्छित आचरण करना योग्य नहीं है, इस वचनसे निश्चय करें कि व्यवहारनय परमार्थदर्शीके अनुसरण करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ—शुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है, इस तथ्यको लोक जानते नहीं, किन्तु अशुद्धनयको ही जानते हैं, क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, इसलिये व्यवहारके द्वारा ही शुद्धनयरूप परमार्थको समझ सकते हैं । इस कारण व्यवहारनयका परमार्थोपदेशक होनेसे उपदेश किया जाता है । सो व्यवहारोपदेशमें आचार्य व्यवहारका आलंबन नहीं कराते हैं, किन्तु व्यवहारका आलंबन छुड़ाकर परमार्थमें पहुंचाते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके (आत्माके) ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है यह उपदेश व्यवहारसे ही है, परमार्थसे तो वह शुद्ध ज्ञायक ही है । इस

आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनी भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किंचिदप्यतिरिक्तं । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥९, १०॥

श्रुतकेवलिन्, तत् । **मूलधातु**—श्रु श्रवणे । अभि-गम्लृ गतौ, अत सातत्यगमने ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—यः–प्रथमा ए० । हि–अव्यय । श्रुतेन–तृ० ए० । अभिगच्छति–लट् अन्य० एक० । आत्मानं–द्वि० ए० । इमम्–द्वि० एकवचन । तु–अव्यय । केवलं- द्वि० ए० । शुद्धं–द्वि० ए० । तं–द्वितीया एक० कर्मकारक । श्रुतकेवलिनं–द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण । भणंति–लट् वर्तमान, अन्य पुरुष बहु० ।

(२) व्यवहार परमार्थके प्रतिबोधका प्रयोजक है । (३) परमभावदर्शी पुरुषोंको व्यवहारनय व व्यवहार अनुसरणीय नहीं होता ।

दृष्टि—१– अनुपचरित परमशुद्ध सद्भूतव्यवहार व उपचरित परमशुद्ध सद्भूतव्यवहार (६९अ-७०) । २– भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्य प्रतिपादक व्यवहार (८०) । ३– शुद्धनय (४९) ।

प्रयोग—हम अपने आत्माकी सहजशक्तियोंसे अपने आत्मस्वरूपका परिचय करके शक्तिभेदके विकल्पको त्यागकर अपनेमें विश्राम करें और चिद्ब्रह्मप्रकाशका अनुभव करें ॥८॥

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है ? उसके उत्तरमें गाथा सूत्र कहते हैं—[**यः**] जो जीव [**हि**] निश्चयतः [**श्रुतेन**] श्रुतज्ञानसे [**तु इमं**] इस अनुभवगोचर [**केवलं शुद्धं**] केवल एक शुद्ध [**आत्मानं**] आत्माको [**अभिगच्छति**] सम्मुख हुआ जानता है [**तं**] उसे [**लोकप्रदीपकराः**] लोकको प्रकाश करने वाले [**ऋषयः**] ऋषीश्वर [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**भणंति**] कहते हैं । [**यः**] जो जीव [**सर्वं**] सब [**श्रुतज्ञानं**] श्रुतज्ञानको [**जानाति**] जानता है [**तं**] उसे [**जिनाः**] जिनदेव [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**आहुः**] कहते हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**सर्वं ज्ञानं**] सब ज्ञान [**आत्मा**] आत्मा ही है [**तस्मात्**] इस कारण [**श्रुतकेवली**] वह श्रुतकेवली है ।

तात्पर्य—परमार्थतः आत्मा क्या जानता है इसका प्रतिपादन बाह्य ज्ञेयोंके निर्देशसे हो पाता है ।

टीकार्थ—जो श्रुतज्ञानसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सब श्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है । अब यहाँ विचारिये कि यहां निरूपण किया जाने वाला सब ही ज्ञान आत्मा है कि अनात्मा ? उनमेंसे अनात्मा कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि जड़रूप अनात्मा आकाशादि पांच द्रव्य हैं उनका

तदनुभवंति । तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावित-

---

नामसंज्ञ—ववहार, अभूयत्थ, भूयत्थ, देसिद, हु, सुद्धणय, भूयत्थ, अस्सिद, खलु, सम्माइट्ठि जीव। **धातुसंज्ञ**—वि-अव हर हरणे, भव सत्तायां, सुज्झ नैर्मल्ये, ने प्रापणे, अस्स आश्रयणे, हव सत्तायां, जीव प्राणधारणे, सम्-अंच पूजायां । **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, अभूतार्थ, भूतार्थ, देशित, खलु, शुद्धनय, भूतार्थ, आश्रित, खलु, सम्यग्दृष्टि, जीव । **मूलधातु**—वि-अव-हृ हरणे । भू सत्तायां । आ-श्रिञ् सेवायां । पदविव-

---

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथामें कहा गया था कि व्यवहारके विना परमार्थका समझाया जाना अशक्य है, अतः व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक है । सो यहाँ उसके विवरण की जिज्ञासाका समाधान है कि व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक कैसे है ?

तथ्यप्रकाश—(१) परमार्थतः आत्मा अपनेको (ज्ञेयाकारपरिणत अपनेको) ही जानता है । (२) परमार्थतः आत्मा किसे जानता है यह सीधा कहना अशक्य है सो आत्मा जिस समय जिस वस्तुके विषयमें जानकारी कर रहा है उस वस्तुको जानता है यों कहकर समझाया जाता है । (३) अन्य दृष्टान्तसे इस तथ्यको समझें जैसे घटको जानने वाला आत्मा परमार्थसे क्या जान रहा है ? परमार्थसे वह घटके विषयके ज्ञानरूपसे परिणत मात्र (शुद्ध) अपने आत्मा को जान रहा है, किन्तु परमार्थतः वह किसे जान रहा है यह सीधा कहना अशक्य है सो वह घटको जान रहा है यों कहकर समझाया जाता है । (४) परवस्तुको जाननेकी बात कहना व्यवहार है और उस प्रकारके ज्ञानसे परिणत मात्र (शुद्ध) आत्माको जानना यह परमार्थ है । (५) इस प्रकरणमें दृष्टान्त श्रुतकेवलीका दिया है जो द्वादशाङ्ग श्रुतको जानता है वह श्रुतकेवली परमार्थसे किसको जानता है ? वह परमार्थसे द्वादशांग श्रुतके विषयके ज्ञानसे परिणत मात्र (शुद्ध) आत्माको जानता है, किन्तु परमार्थतः वह किसे जानता यह सीधा कहना अशक्य है सो वह द्वादशाङ्ग श्रुतको जानता है यों व्यवहारसे समझाया जाता है । (६) अन्तर्दृष्टिसे व्यवहार व परमार्थ देखिये—श्रुतकेवली द्वादशाङ्गश्रुत ज्ञानको जानता है । यहाँ ज्ञान ज्ञानीका भेद किया वह व्यवहार है, भेद न कर आत्मा ही लक्षित हो वह परमार्थ है । (७) अन्तर्दृष्टि का दूसरा दृष्टान्त—घटज्ञानी व्यवहारसे घटज्ञानको जानता है, परमार्थतः वहां आत्माको जानता है । यहां ज्ञान ज्ञानीका भेद किया वह व्यवहार है, भेद न कर वहां आत्मा ही लक्षित हो वह परमार्थ है ।

सिद्धान्त—(१) परमार्थतः आत्मा आत्माको जानता है । (२) व्यवहारतः आत्मा परवस्तुको जानता है ।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।१२।।

शुद्ध शुद्धदेशक नय--को जानो परमभावदर्शी गण ।
जो अपरमभावस्थित, उनको व्यवहारदेशन है ।।१२।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः । व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ।।१२।।

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया

नामसंज्ञ--सुद्ध, सुद्धादेस, णायव्व, परमभावदरिसि, ववहारदेसिद, पुण, ज, दु, अपरम, भाव,

---

से प्रकट हुए स्वाभाविक एक ज्ञायकभावपनेसे जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसे शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं । इसलिए जो पुरुष शुद्धनयका आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि हैं और जो अशुद्धनयका सर्वथा आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनय निर्मली द्रव्यके समान है । इस कारण कर्मसे भिन्न आत्माको जो देखना चाहते हैं उन्हें व्यवहारनय अंगीकार नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ--यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है । जो सहज अस्तित्वमय है उसे भूतार्थ कहते हैं और जो सहज नहीं है, किन्तु औपाधिक है उसे अभूतार्थ कहते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि शुद्धनयका विषय सहज अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है इसकी दृष्टिमें भेद नहीं दीखता । इसलिये इसकी दृष्टिमें वह अभूतार्थ अविद्यमान-असत्यार्थ ही कहना चाहिये । यहाँ ऐसा समझिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयोजनके वशसे नयको मुख्य गौण करके कहती है । भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो प्राणियोंको अनादिकालसे है ही और उसका उपदेश भी बहुधा सभी परस्परमें करते हैं, किन्तु आगममें व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका सहायक जानकर किया है । चूँकि शुद्धनयका पक्ष इस जीवने कभी नहीं ग्रहण किया तथा उसका उपदेश भी कहीं कहीं है, इसलिये भगवंतोंने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर इसीका उपदेश मुख्यतासे दिया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसीका आश्रय करनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसके जाने बिना व्यवहारमें जब तक मग्न है तब तक आत्माका ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता ।

प्रसङ्गविवरण--शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा परमार्थ है उसको समझानेके लिये भेदविधिसे प्रतिपादन करने वाला व्यवहार प्रयोजनवान है, किन्तु परमभावदर्शी पुरुषोंको व्यवहारनय प्रयोजनवान नहीं, अतः व्यवहारनयका अनुसरण नहीं करना चाहिये यह प्रसंग इस

तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीय परमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—जइ जिणमयं पवज्जह

देश, परमभावदर्शिन्, व्यवहारदेशित, पुनस्, यत्, तु, अपरम, स्थित, भाव । मूलधातु—दृशिर् अवलोकने,

---

[पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरमभावमें अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पूर्ण भावको नहीं पहुंच सके ऐसी अवस्थामें तथा साधक अवस्थामें ही [स्थिताः] ठहरे हुए हैं वे [व्यवहारदेशिताः] व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

तात्पर्य—प्राक् पदवीमें व्यवहारनयका उपदेश प्रयोजनवान् है ।

टीकार्थ—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुए शुद्ध सोनेके समान वस्तुके उत्कृष्ट असाधारण भावका अनुभव करते हैं उनको प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकोंकी परम्परासे पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध सुवर्णके समान अपरमभावका अर्थात् अनुत्कृष्ट मध्यम भावका अनुभव नहीं होता । इस कारण शुद्धद्रव्यका ही कहने वाला होनेसे जिसने अचलित अखंड एकस्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है, ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्णावस्थाके समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है । परन्तु जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकोंकी परम्परासे पच्यमान अशुद्ध सुवर्णके समान वस्तुके अनुत्कृष्ट मध्यम भावका अनुभव करते हैं उनको अन्तिम पाकसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान वस्तुके उत्कृष्ट भावका अनुभव न होनेसे उस कालमें जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है । (क्योंकि व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्यको कहने वाला होनेसे भिन्न-भिन्न एक एकभावस्वरूप अनेकभाव दिखलाता है तथा वह विचित्र अनेक वर्णमालाके समान है । इस तरह अपने-अपने समयमें दोनों ही नय कार्यकारी हैं) क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है । (जिससे तरा जावे वह तीर्थ है, ऐसा तो व्यवहार धर्म है और जो पार होना वह व्यवहारधर्मका फल है अथवा अपने स्वरूप का पाना वह तीर्थफल है) । ऐसा ही दूसरी जगह भी 'जइ जिणमयं' इत्यादि गाथामें कहा है । **अर्थ**—यदि तुम जैनधर्मका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो, क्योंकि एक व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ याने व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा चिह्नित जिनेन्द्र भगवानके वचनमे जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष स्वयं मिथ्यात्व-कर्मके उदयका वमन करते हुए इस उत्कृष्ट परमज्योतिस्वरूप सनातन सर्वथा एकांतरूप कुनयके पक्षसे खंडित नहीं होने वाले समयसारको निरखते हैं ।

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप हैं, जहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे जो

ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥ व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः । तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां

प्रथमा एकवचन, कृदन्त क्रिया, परमभावदर्शिभिः—तृतीया बहु० कर्ताकारक । व्यवहारदेशिताः—प्रथमा०

चिह्नित जिनेन्द्र भगवानके वचनमें जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष स्वयं मिथ्यात्वकर्मके उदयका वमन करते हुए इस उत्कृष्ट परमज्योतिस्वरूप सनातन, सर्वथा एकांतरूप कुनयके पक्षसे खंडित होने वाले समयसारको निरखते हैं ।

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप है, वहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे जो सद्रूप है वह असद्रूप नहीं होता, जो एक है वह अनेक नहीं होता, नित्य है वह अनित्य नहीं होता, भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होता, शुद्ध है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयोंके विषयोंमें विरोध है, वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असद्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिस प्रकार विद्यमान वस्तु है, उसी प्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, झूठी कल्पना नहीं करता । इसलिये द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयोंमें प्रयोजनके वश शुद्ध द्रव्यार्थिकको मुख्यकर निश्चयनय कहता है और अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकको गौणकर व्यवहारनय कहता है । इस प्रकार जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं, वे इस शुद्ध आत्माको यथार्थ पाते हैं, अन्य सर्वथा एकांतवादी वस्तुतथ्यको नहीं पाते ।

अब कहते हैं कि व्यवहारनयको कथञ्चित् प्रयोजनवान् कहा है तो भी यह कुछ वस्तुभूत नहीं है । "व्यवहरण" इत्यादि । **अर्थ**—यद्यपि इस प्रथम पदवीमें याने जब तक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति न हुई हो तब तककी स्थितिमें जिन्होंने अपना पैर रखा है, ऐसे पुरुषोंके लिये व्यवहारनयको हस्तावलम्बतुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र, परद्रव्यभावोंसे रहित शुद्धनयके विषयभूत परम अर्थको अंतरंगमें अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूपमें लीनतारूप चारित्रभावको प्राप्त होते हैं, उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है अर्थात् शुद्धस्वरूपका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होनेके पश्चात् अशुद्ध नय कुछ भी प्रयोजनभूत नहीं है ।

अब आगेके कलशमें निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं—"एकत्वे" इत्यादि । **अर्थ**—शुद्धनयसे एकत्वमें नियत, अपने गुण पर्यायोंमें व्यापक, पूर्ण ज्ञानघन, अन्य द्रव्योंसे पृथक् इस आत्माका जो दर्शन है यह ही नियमसे सम्यग्दर्शन है और यह आत्मा उतने ही मात्र है । इस नव तत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर हमको तो एक यह आत्मा ही प्राप्त होओ ।

मिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥६॥ अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् । नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥७॥

सप्तमी एकवचन ॥१२॥

प्रयोजनवान् है । इसके विवरणके साथ अब यह निश्चित किया जा रहा है कि जिनशासनमें दोनों ही नय अपनी-अपनी भूमिकामें उपयोगी हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) जो सहज शुद्ध चिन्मात्र परमभावके अनुभवी हैं उनको शुद्धादेशक शुद्धनय ही ज्ञातव्य है । (२) जो जब तक परमभावमें स्थित नहीं हो सकते हैं उनको तब तक व्यवहारोपदेश उपकारी है । (३) शुद्धनय एकत्वविभक्त शुद्धद्रव्यका आदेश करता है । (४) व्यवहारनय गुणगुणीभेदरूप, नानागुणरूप, पर्यायभेदरूप अशुद्ध (भेदरूप अथवा मलिन) द्रव्यका आदेश करता है । (५) व्यवहारनयके उच्छेदसे तीर्थका (आत्मलाभोपायका) उच्छेद हो जायगा । (६) निश्चयनयके उच्छेदसे तीर्थफलका (आत्मलाभका) उच्छेद हो जायगा । (७) स्याद्वादरूप जिनवचनका जो सादर अभ्यास करते हैं वे यथाशीघ्र अखंड समयसार (सहज परमात्मतत्त्व) का अवलोकन कर लेते हैं । (८) प्राक् पदवीमें व्यवहारनय उपादेय है । (९) चैतन्यचमत्कारमात्र परम भावके अनुभवने वालोंको व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजक नहीं है । (१०) ज्ञानमात्र ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वका दर्शन सम्यग्दर्शन है । (११) सहज परमात्मतत्त्व शुद्धनयसे ज्ञातव्य है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धनयका विषय नयपक्षसे अतिक्रान्त अनुभाव्य समयसार है । (२) समस्त शास्त्र तत्त्वके प्रतिपादक हैं, अतः सभी व्यवहाररूप हैं, सो व्यवहारनयके उच्छेदसे मोक्षमार्ग व उसके उपायका विनाश हो जायगा । (३) निश्चयनय परमार्थज्ञानरूप है सो निश्चयनयके उच्छेदसे आत्मोपलब्धिका उच्छेद हो जायगा ।

दृष्टि—१– शुद्धनय (४९) । २– व्यवहार (६२ से १०२) । ३– परमशुद्धनिश्चयनयादि (४४ से ४९ तक) ।

प्रयोग—व्यवहारनय व निश्चयनयसे आत्मविज्ञान करके सर्व नयपक्षको गौण कर शुद्धनयसे अखंड एकत्वविभक्त समयसारको ध्यानमें रखे रहना चाहिये ॥१२॥

अब शुद्धनयसे जानना ही सम्यक्त्व है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—[**भूतार्थेन अभिगताः**] भूतार्थनयसे ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और [**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवरनिर्जराः**] आस्रव, संवर, निर्जरा [**बंधः**] बंध [**च**] और [**मोक्षः**] मोक्ष [**सम्यक्त्वं**] यह नवतत्त्व सम्यक्त्व है ।

जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकारहेतुरजीवः । केवला जीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवला जीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति । नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभाव-

---

सम्मत । धातुसंज्ञ --अभि-गम गतौ, बंध बंधने । प्रकृतिशब्द—भूतार्थ अभिगत, जीवाजीव, च, पुण्यपाप,

---

नहीं है । इसलिए इन तत्त्वोंमें भूतार्थनयसे जीव एकरूप ही प्रकाशमान है । उसी तरह अंतर्दृष्टिसे देखा जाय तब ज्ञायकभाव जीव है और जीवके विकारका कारण अजीव है, और केवल जीवविकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षण वाले हैं व जीवविकारके कारणरूप केवल अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नवतत्त्व जीवस्वभाव को छोड़कर स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्यायरूपसे अनुभव किए जानेपर भूतार्थ हैं तथा सब कालमें नहीं चिगते एक जीवद्रव्यके स्वभावको अनुभव करनेपर ये अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नौ तत्त्वोंमें भूतार्थनयसे देखा जाय तब जीव तो एकरूप ही प्रकाशमान है । ऐसे यह जीवतत्त्व एकत्वरूपसे प्रकट प्रकाशमान हुआ शुद्धनयसे अनुभव किया जाता है । यह अनुभवन ही आत्मख्याति है—आत्माका ही प्रकाश है, जो आत्मख्याति है वही सम्यग्दर्शन है । इस प्रकार यह सब कथन निर्दोष है, बाधारहित है ।

भावार्थ—इन नवतत्त्वोंमें शुद्धनयसे देखा जाय तो जीव ही एक चैतन्यचमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रकट हो रहा है । इसके अतिरिक्त जुदे-जुदे नवतत्त्व कुछ दिखाई नहीं देते । जब तक इस तरह जीवतत्त्वका जानना नहीं है, तब तक व्यवहारदृष्टिमें होकर पृथक् पृथक् नवतत्त्वोंका मानना है याने जीव पुद्गलकी बंधपर्यायरूप दृष्टिसे ये पदार्थ भिन्न-भिन्न दीखते हैं और जब शुद्धनयसे जीव पुद्गलका निज स्वरूप जुदा-जुदा देखा जाय, तब ये पुण्य पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं दीखती, वे निमित्तनैमित्तिक भावसे हुए थे सो निमित्तनैमित्तिक भाव जब मिट गया तब जीव पुद्गल जुदे-जुदे होनेसे दूसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता । वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्यका निजभाव द्रव्यके ही साथ रहता है तथा निमित्तनैमित्तिक भावका अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनयसे जीवको जाननेसे ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है । जब तक भिन्न-भिन्न नव ही पदार्थोंको जाने, और शुद्धनयसे आत्माको नहीं जाने तब तक पर्यायबुद्धि होनेसे सम्यक्त्व नहीं होता है ।

अब यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं "चिरं" इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार

'चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च, तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थमथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति

पाति रक्षति शुभात् इति पापं, मुच्लृ मोक्षणे । पदविवरण—भूतार्थेन—तृतीया वि० एक०, अभिगताः—प्रथमा

हैं । निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे चार तरहका है । जिसमें वह गुण तो न हो, किन्तु व्यवहारके लिये उसकी संज्ञा करना वह नामनिक्षेप है; अन्य वस्तुमें अन्यकी प्रतिनिधिरूप स्थापना करना कि यह वही है यह स्थापनानिक्षेप है; वर्तमान पर्यायसे अन्यका याने अतीत व भविष्य पर्यायोंका वर्तमानमें आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है, और वर्तमान पर्याय रूप वस्तुको वर्तमानमें कहना यह भावनिक्षेप है । ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षण भेदसे भिन्न-भिन्न विलक्षण रूप अनुभव किये जानेपर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षणसे रहित एक अपने चैतन्य-लक्षणरूप जीवस्वभावका अनुभव किये जानेपर चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं । इस तरह इन प्रमाण, नय और निक्षेपोंमें भूतार्थपनेसे एक जीव ही प्रकाशमान है ।

भावार्थ—इन प्रमाण, नय और निक्षेपोंका विस्तारसे व्याख्यान तद्विषयक ग्रंथोंमें से जानना । इन्हीसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है । ये साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं, क्योंकि ये ज्ञानके ही विशेष हैं, इनके विना वस्तुको यथाकथंचित् (एकान्तरूपसे) साधा जाय तब विपरीत हो जाता है । अवस्थानुसार व्यवहारके अभावकी तीन पदवियाँ हैं । प्रथम अवस्थामें प्रमाण आदिसे यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान और श्रद्धानकी सिद्धि करना । ज्ञान और श्रद्धान सिद्ध होनेके बाद प्रमाणादिकसे श्रद्धान करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है । किन्तु अब यहाँ दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके आलम्बनसे विशेष ज्ञान होता है और राग, द्वेष, मोह, कर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, इसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, केवलज्ञान होनेके बाद प्रमाणादिकका आलंबन नहीं रहता । उसके बाद तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है । वहांपर भी कुछ आलम्बन नहीं है इस कारण सिद्ध अवस्थामें भी प्रमाण-नय-निक्षेपका अभाव ही है ।

इसी अर्थका कलशरूप "उदयति" इत्यादि श्लोक कहते हैं । अर्थ—इन सब भेदोंका

जीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ।।१३।।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।
आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।१०।।

प्रथमा विभक्ति बहुवचन, बन्धः–प्रथमा एक०, मोक्षः–प्रथमा एक०, च–अव्यय, सम्यक्त्वम्–प्रथमा विभक्ति एकवचन ।।१३।।

नष्ट होगा) ऐसे पारिणामिक भावको प्रकट करता है । शुद्धनय एक, (द्वैत भावोंसे रहित) एकाकार तथा जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पोंके समूहका विलय (नाश) हो गया है, ऐसे आत्मस्वभावको प्रकट करता है । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्योंमें अपनी कल्पना करनेको **संकल्प** और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेदोंकी प्रतीतिको **विकल्प** कहते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथामें शुद्धनयका आदेश दिया गया है उसी शुद्धनयके प्रयोगकी इस गाथामें झाँकी है ।

तथ्यप्रकाश—(१) नवतत्त्व आदिका विविध प्रकाशन तीर्थप्रवृत्तिके लिये है । (२) एकत्वप्रकाशक भूतार्थनयसे नवतत्त्वोंके मूल स्रोतमें विलीन हो जानेसे शुद्ध ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्वकी अनुभूति होती है । (३) जीव और कर्मविषयक आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्षमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है, इसी कारण भूतार्थनयसे निरखनेपर ये तत्त्वभेद कुछ भी नहीं रहते । (४) वस्तुके अधिगमके उपायभूत प्रमाण नय निक्षेप उनके भेद प्रभेद तीर्थ-प्रवृत्तिके लिये हैं । (५) शुद्ध वस्तुमात्र जीवस्वभावका अनुभव होनेपर प्रमाण नय निक्षेप आदि विकल्प कुछ भी नहीं रहते ।

सिद्धान्त—(१) भूतार्थका आश्रय सम्यक्त्वका कारण है । (२) व्यवहारका अनुसरण तीर्थप्रवृत्तिका कारण है ।

दृष्टि—१– परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०) । २– भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक, भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (२६, ८२) ।

प्रयोग—व्यवहारनय व निश्चयनयसे आत्माके गुण पर्याय तत्त्वोंको जानकर उनका मूल स्रोत जो सहज चैतन्य है उसपर दृष्टि देकर परमविश्राम पावें ।।१३।।

अब निर्विकल्प शुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं––**(यः)** जो नय **(आत्मानं)** आत्माको **(अबद्धस्पृष्टं)** बंधरहित और परके स्पर्शरहित **(अनन्यं)** अन्यत्वरहित **(नियतं)** चलाचलता-

तायामभूतार्थं । तथात्मनोनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-

---

असंयुक्त, तत्, शुद्धनय । **मूलधातु**—दृशिर् अवलोकने, णीञ्—प्रापणे । **पदविवरण**—यः—प्रथमा एकवचन

के भेदरूप नहीं होते हुए एक मिट्टीके स्वभावका अनुभव करनेपर यह पर्यायभेद अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । उसी तरह आत्माको नारक आदि पर्यायभेदोंके रूपमें अनुभवनेपर पर्यायोंका अन्यत्व सत्यार्थ है, तो भी सब पर्यायभेदोंमें अचल एक चैतन्याकार आत्मस्वभावको लेकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । जैसे समुद्रको वृद्धि-हानि अवस्थारूप अनुभव करनेसे अनियतता भूतार्थ है तो भी नित्य स्थिर समुद्रस्वभावको अनुभवनेपर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । उसी तरह आत्माका वृद्धि हानि पर्यायभेदोंरूप अनुभव करनेपर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी नित्य व्यवस्थित निश्चल आत्माके स्वभावका अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । जैसे सुवर्णका चिकना, भारी और पीला आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे सुवर्णस्वभावको लेकर अनुभव करनेसे विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । उसी तरह आत्माका ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे चैतन्यमात्र आत्मस्वभावको लेकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । जैसे अग्निके निमित्तसे उत्पन्न उष्णतासे मिले हुए जलकी तप्तरूप अवस्थाका अनुभव करनेपर जलमें उष्णताकी संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तवमें शीतल स्वभावको लेकर जलका अनुभव करनेपर उष्णताकी संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है । उसी तरह कर्म निमित्तक मोहसंयुक्ततारूप अवस्था द्वारा आत्मा का अनुभव करनेपर संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है तो भी वास्तवमें आत्मबोधका बीजरूप चैतन्यस्वभावको लेकर अनुभव करनेपर मोहसंयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

भावार्थ—आत्मा पांच तरहसे अनेक रूप दीखता है—(१) अनादिकालसे कर्म पुद्गलके सम्बन्धसे बंधा हुआ व कर्मपुद्गलसे स्पर्श वाला दीखता है । (२) वह कर्मके निमित्तसे हुए नर नारकादिपर्यायोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूप दीखता है । (३) शक्तिके अविभागप्रतिच्छेद

पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं-बोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ॥१४॥

द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण, अनन्यकं–द्वि० ए० कर्मविशेषण, नियतं–द्वि० ए० कर्मविशेषण, अविशेषं–

कारण अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वे एकांत मत वाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आ जायगा और उस समय इस शुद्धनयका भी आलम्बन उन एकांतियोंकी तरह मिथ्यादर्शन हो जायगा। इसलिए सभी नयोंका कथंचित् रीतिसे श्रद्धान करनेपर सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना; मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकांत पक्ष न पकड़ लेना। इसी प्रकार इस गाथासूत्रका व्याख्यान टीकाकारने किया है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखता है, यह इस दृष्टिमें तो सत्यार्थ ही है, परंतु शुद्धनयकी दृष्टिमें बद्धस्पृष्ट आदि रूप असत्यार्थ है। इस कथनमें स्याद्वाद बतलाया गया है, उसे जानना। जो ये नय हैं वे श्रुतज्ञान प्रमाणके अंश हैं। वह श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है सो ये नय भी परोक्ष ही बतलाते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय बद्धस्पृष्टत्वादि पाँच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है, वह शक्ति तो परोक्ष आत्मामें है ही और उसकी व्यक्तियाँ कर्मसंयोगसे मति, श्रुत आदि ज्ञानरूप हैं, वे कथंचित् अनुभवगोचर हैं सो वे प्रत्यक्ष रूप भी कहलाती हैं तथा सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके (अल्पज्ञानीके) प्रत्यक्ष नहीं है तो भी यह शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है। जब तक जीव इस नयको नहीं जानता तब तक आत्माके पूर्ण रूपका ज्ञान श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्रीगुरुने इस शुद्धनयको प्रकट कर दिखलाया है कि बद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भावोंसे रहित पूर्ण ज्ञानघनस्वभाव आत्माको जानकर श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि नहीं करना।

यहाँ इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य "न हि विदधति" इत्यादि कहते हैं। अर्थ—टीकाकार यहाँ उपदेश करते हैं कि तुम उस सम्यक्स्वभावका अनुभव करो जिसमें ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव प्रकटपनेसे इस स्वभावके ऊपर तरते हैं तो भी प्रतिष्ठा नहीं पाते। क्योंकि द्रव्यस्वभाव नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं। पर्याय द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करता है, वह ऊपर ही रहता है। यह शुद्धस्वभाव सब अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। ऐसे स्वभावका मोहरहित होकर अनुभव करो, क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जब तक रहता है तब तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता। अतः

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥१३॥

नीहि–वि-जानीहि–लोट् आज्ञार्थ मध्यम पुरुष एकवचन ॥१४॥

दृष्टि—१– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २–परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०) । ३– उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२२) । ४– भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) । ५– उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) ।

प्रयोग—उपाधिका निमित्त पाकर होने वाले विभावोंसे पृथक् तथा प्रतिबोधके लिये किये जाने वाले भेदविकल्पोंसे परे शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय आत्माकी शुद्धनयके आलम्बनसे उपासना करना चाहिये ॥१४॥

शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी जो अनुभूति है, वही ज्ञानकी अनुभूति है, ऐसा आगे की गाथाकी उत्थानिकारूप काव्य कहते हैं 'आत्मानुभूति' इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनय स्वरूप आत्माकी अनुभूति है, वही इस ज्ञानकी अनुभूति है, ऐसा अच्छी तरह जानकर तथा आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके सदा सब तरफ ज्ञानघन एक आत्मा ही है, इस प्रकार देखना चाहिये । **भावार्थ**—पहिले सम्यग्दर्शनको प्रधान मानकर आत्मतत्त्व कहा गया था, अब ज्ञानको मुख्य करके कहते हैं कि यह शुद्धनयके विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वही सम्यग्ज्ञान है । अब इसीको गाथासे स्पष्ट करते हैं—

(यः) जो (**आत्मानं**) आत्माको (**अबद्धस्पृष्टं**) अबद्धस्पृष्ट (**अनन्यं**) अनन्य (**अविशेषं**) अविशेष तथा पूर्वगाथामें कथित नियत और असंयुक्त (**पश्यति**) देखता है वह (**अपदेशसूत्रमध्यं**) द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप अथवा शब्दसमयसे वाच्य व ज्ञानसमयसे परिच्छेद्य (**सर्वं जिनशासनं**) समस्त जिनशासनको (**पश्यति**) देखता है ।

तात्पर्य—जिनशासनका उद्देश्य सहजसिद्ध केवल अन्तस्तत्त्वको प्रसिद्ध करना है ।

टीकार्थ—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावरूप आत्माकी जो यह अनुभूति है, वही निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है । क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है, इसलिये जो यह ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्माकी अनुभूति है । किन्तु सामान्यज्ञानाकार तो प्रकट होने और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानके आच्छादित होनेसे इस विधिसे ज्ञानमात्र ही अनुभवमें आनेपर भी जो अज्ञानी है व ज्ञेयों (पदार्थों) में आसक्त हैं, उनको वह नहीं रुचता । वह इस प्रकार है—जैसे अज्ञानी व्यञ्जनलोभी लोकोंको अनेक तरहके शाक आदि भोजनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सामान्य लवणका तिरोभाव (अप्रकटता) तथा

यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्यलुब्धबुद्धानां। यथा सैंधवखि-

शासन, सर्व। **मूलधातु**—दृशिर् दर्शने, बधि बन्धने, स्पृश स्पर्शने। **पदविवरण**—यः–पुल्लिग प्रथमा एक० कर्ताकारक, पश्यति–लट् वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन, आत्मानं–द्वितीया विभक्ति एकवचन कर्मकारक,

आस्वाद लेते हैं, जैसे कि व्यञ्जनों (भोजनों) से जुदी सिर्फ लवणकी डलीका आस्वाद लेनेसे क्षारमात्र स्वाद जिस भाँति आता है, उसी भाँति आस्वाद लेते हैं। चूंकि ज्ञान है, वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है, सो इस तरह गुणगुणीकी अभेददृष्टिमें आया हुआ जो सब परद्रव्योंसे भिन्न, अपने सहज पर्यायोंमें एकरूप, निश्चल, अपने गुणोंमें एकरूप, पर निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न अपने ज्ञानका जो अनुभव है वही आत्मानुभव है। यही अनुभव भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका अनुभव है। शुद्धनयसे इसमें कुछ भेद नहीं है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—'**अखंडितं**' इत्यादि। **अर्थ**—वह उत्कृष्ट तेज प्रकाशरूप हमें होवे, जो सदा काल चैतन्यके परिणमनसे भरा हुआ है। जैसे लवणकी डली एक क्षाररसकी लीलाका आलम्बन करती है, उसी भाँति जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूपको आलम्बन करता है। जो कि तेज अखंडित है—याने ज्ञेयोंके आकारसे खंडित नहीं होता; अनाकुल है अर्थात् जिसमें कर्मके निमित्तसे हुए रागादिकोंसे उत्पन्न आकुलता नहीं है; अविनाशी है; जो अंतरंगमें तो चैतन्यभावसे देदीप्यमान अनुभवमें आता है और बाह्यमें वचनकायकी क्रियासे प्रकट देदीप्यमान है, जो सदा सहज आनन्दविलासमय है, जिसे किसीने रचा नहीं है और सदैव जिसका विलास उदयरूप है; एकरूप प्रतिभासमान है, ऐसा चैतन्यतेज हमारे उपयोगमें रहे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व यह कहा गया था कि शुद्धनयात्मिका जो ज्ञानानुभूति है वही आत्मानुभूति है, अब उसीके समर्थनमें कहते हैं कि जो ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको देखता है वह भावश्रुतज्ञानरूप सर्व जिनशासनको देखता है अर्थात् द्रव्यश्रुतके द्वारा वाच्य व भावश्रुत के द्वारा ज्ञेय जैनशासनके निष्कर्षरूप आदिमध्यान्तरहित समयसारको देखता है।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनशासन भावश्रुतरूप है, भावश्रुतज्ञानरूप है, ज्ञानकी अनुभूति आत्मानुभूति है, अतः आत्मदर्शन सर्वजिनशासनका दर्शन है। (२) सर्वत्र जीव ज्ञानका ही

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

चारित्र ज्ञान दर्शन, पालो सेवो सदा हि साधुजनो ।
किन्तु तीनों हि समझो, निश्चयसे एक आत्मा ही ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं । तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥१६॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावाद् यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च

नामसंज्ञ—दंसणणाणचरित्त, सेविदव्व, साहु, णिच्चं, त, पुण, ति, वि, अप्प, चेव, णिच्छयदो । धातुसंज्ञ—सेव सेवायां, साह साधने तृतीयगणी, जाण अवबोधने । प्रकृतिशब्द—दर्शनज्ञानचरित्र, सेवितव्य,

[साधुना] साधु पुरुषोंको [दर्शनज्ञानचरित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यं] निरन्तर [सेवितव्यानि] सेवन करने योग्य हैं [पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] उन तीनोंको ही [निश्चयतः] निश्चयनयसे [आत्मानं एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो ।

तात्पर्य—अनुरूप भेदोपासना व अभेदोपासनासे अपने आत्माकी सेवा करनी चाहिये ।

टीकार्थ—यह आत्मा जिस भावसे साध्य तथा साधन हो उसी भावसे नित्य सेवने योग्य है, ऐसा स्वयं विचार करके, दूसरोंके लिए व्यवहारनयसे ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषोंको दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदा सेवने योग्य हैं, किन्तु परमार्थसे देखा जाय, तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं हैं, आत्माके ही पर्याय हैं । जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुषके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभावको उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे देवदत्त पुरुष ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मामें भी आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्माके स्वभावको नहीं उल्लंघन करते, इस कारण ये आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, यह अपने आप ही प्रसिद्ध होता है । **भावार्थ**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्माके ही पर्याय हैं, कुछ जुदी वस्तु नहीं हैं, इसलिये साधु पुरुषोंको एक आत्माका ही सेवन करना चाहिये, यह निश्चय है और व्यवहारसे अन्यको भी सव्यवहार निश्चयका उपदेश करना चाहिये ।

अब इसी अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं—"**दर्शन**" इत्यादि । **अर्थ**—यह आत्मा प्रमाणदृष्टिसे देखा जाय तब एक कालमें मेचक याने अनेक अवस्थारूप भी है और अमेचक याने एक अवस्थारूप भी है । क्योंकि भेददृष्टिसे इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसी तीनरूपता है और

प्रद्योतते । स किल—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं । मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः । एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः । सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥
आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः । दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥१६॥

द्वितीया बहु० कर्मकारक । पुनः–अव्यय । जानीहि–लोट् मध्यम एक० । त्रीणि–द्वितीया बहु० । अपि–अव्यय । आत्मानं–द्वि० ए० । च–अव्यय । एव–अव्यय । निश्चयतः–हेत्वार्थे तस् अव्यय ॥१६॥

चारित्र यह सब एक आत्मा ही है । (५) दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमता हुआ आत्मा वस्तुतः एक है, सो आत्मा मेचकामेचक है । (६) दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत होनेसे आत्मा मेचक है । (७) ज्ञानज्योतिर्मात्र होनेसे आत्मा अमेचक है । (८) सहजात्मोपलब्धिका सुगम उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप परिणमना है ।

सिद्धान्त—(१) वस्तुतः आत्मा ही साध्य है व आत्मा ही साधन है । (२) आत्मा मेचकामेचक है । (३) आत्मा मेचक है । (४) आत्मा अमेचक है ।

दृष्टि—१–कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) । २–प्रमाणसिद्ध । ३–सत्तासापेक्षनानात्मक पर्यायार्थिक (६०) । ४–परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—आत्माका परिचय करके, आत्मतत्त्वका श्रद्धान करके, आत्माके सानुभव ज्ञान द्वारा आत्मामें रमण करके सहज आनंदमय ज्ञायकभावरूप अपनेको अनुभवना चाहिये ॥१६॥

अब इसी रत्नत्रयको दो गाथाओंमें दृष्टान्त द्वारा व्यक्त करते हैं—[**यथा नाम**] जैसे [**कोपि**] कोई [**अर्थार्थिकः पुरुषः**] धनका चाहने वाला पुरुष [**राजानं**] राजाको [**ज्ञात्वा**] जानकर [**श्रद्दधाति**] श्रद्धान करता है [**ततः**] उसके बाद [**तं**] उसकी [**प्रयत्नेन अनुचरति**] अच्छी तरह सेवा करता है [**एवं हि**] इसी तरह [**मोक्षकामेन**] मोक्षको चाहने वाला [**जीवराजः**] जीवरूप राजाको [**ज्ञातव्यः**] जाने [**पुनः च**] और फिर [**तथैव**] उसी तरह [**श्रद्धातव्यः**] श्रद्धान करे [**तु च स एव**] उसके बाद [**अनुचरितव्यः**] उसका अनुचरण करे अर्थात् तन्मय हो जाये ।

तात्पर्य—भेदोपासनाकी विधि आत्मतत्त्वका ज्ञान, श्रद्धान, आचरण है ।

टीकार्थ—निश्चयसे जैसे कोई धनको चाहने वाला पुरुष प्रयत्नसे पहले तो राजाको जानता है पश्चात् उसीका श्रद्धान करता है उसके पश्चात् उसीका सेवन करता है उसी तरह

श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कमेव स्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदात्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतराविवेकेन निःशङ्कमेव स्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

हि जीवराज, तथा, एव, च, पुनर्, तत् च, एव, तु, मोक्षकाम। **मूलधातु**—श्रत्-डुधाञ् धारणपोषणयोः। अनु-चर गत्यर्थः। ज्ञा अवबोधने। मुच प्रमोचने मोदे च। कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा। **पदविवरण**—यथा—अव्यय। नाम—प्रथमा एक०। कः—प्र० एक०। अपि—अव्यय। पुरुषः—प्रथमा एक० कर्ताकारक। राजनं—द्वितीया एक०। ज्ञात्वा—असमाप्तिकी क्रिया, श्रद्दधाति—श्रत् दधाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष ए०।

समय समस्त अन्य भावोंसे भेद न होनेके कारण निःशंक आत्मामें ही ठहरनेकी असामर्थ्यसे आत्माका आचरण न होनारूप परिणमन आत्माको नहीं साध सकता। इस तरह साध्य आत्माकी सिद्धिकी अन्यथानुपपत्ति प्रसिद्ध है।

भावार्थ—साध्य आत्माकी सिद्धि दर्शनज्ञानचारित्रसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है। क्योंकि पहले तो आत्माको जाने कि "यह मैं हूं" उसके अनन्तर इसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है। बिना जाने श्रद्धान किसका हो? फिर समस्त अन्य भावोंसे भेद करके अपनेमें स्थिर होवे ऐसे आत्माकी सिद्धि है। जब जानेगा नहीं तब श्रद्धान भी नहीं हो सकेगा। तब स्थिरता किसमें कर सकता है? इसलिये दूसरी तरह सिद्धि नहीं है, ऐसा निश्चय है।

अब इसीको दृढ़ करनेके लिये कलशरूप काव्य कहते हैं—"**कथमपि**" इत्यादि। **अर्थ**—किसी भी प्रकार तीनपनेको प्राप्त होनेपर भी एकरूपतासे च्युत न हुई, निर्मल उदयको प्राप्त हुई, अनंत चैतन्य चिह्न वाली इस आत्मज्योतिको हम निरन्तर अनुभवते हैं, क्योंकि अन्य प्रकारसे साध्य आत्माकी सिद्धि कभी नहीं होती किसी तरह नहीं होती। **भावार्थ**—आचार्य कहते हैं कि जिसके किसो तरह पर्यायदृष्टिसे तीनपना प्राप्त है तो भी शुद्धद्रव्यदृष्टिसे एकरूपता नहीं छूटी है तथा अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयको प्राप्त है ऐसी आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तर पूर्व गाथामें कहा गया था कि व्यवहारसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र सेवनीय है, निश्चयसे आत्मा सेवनीय है उसी कथनका प्रेक्टिकल रूपमें यहाँ विवरण किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) मोक्षमार्ग पानेके लिये प्रथम आत्माका कुछ परिचय आवश्यक है।

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

विधि विभाव देहोंमें, 'यह मैं मैं यह' की एकता जब तक ।
जिसकी मतिमें रहती, अज्ञानी जीव है तब तक ॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म । यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥१९॥

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु, नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु

नामसंज्ञ—कम्म, णोकम्म, य, अम्ह, इदि, अम्ह, च, कम्म, णोकम्म, ज, एत, खलु, बुद्धि, अप्पडिबुद्ध, ताव । धातुसंज्ञ—बुज्झ अवगमने, हो सत्तायां । प्रकृतिशब्द—कर्मन्, नोकर्मन्, च, अस्मत्, इति,

है । तो फिर यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है ? उसके स्वयं एकरूप गाथासूत्र कहते हैं—

[यावत्] जब तक इस आत्माके [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व भावकर्ममें [वा] और [नोकर्मणि] शरीर आदि नोकर्ममें [अहं कर्म नोकर्म] मैं कर्म नोकर्म हूं [च इति अहकं] और ये कर्म नोकर्म मैं हूं [एषा खलु] ऐसी निश्चयसे [मतिः] बुद्धि है [तावत्] तब तक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध याने अज्ञानी [भवति] है ।

तात्पर्य—विकार व शरीरमें आत्मत्वका अनुभवन होना अज्ञान है ।

टीकार्थ—जैसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि भावोंमें चौड़ा नीचें अवगाहरूप उदर आदिके आकार परिणत हुए पुद्गलके स्कंधोंमें यह घट है ऐसा और घटमें स्पर्श, रस, गंध और वर्णादि भाव हैं तथा पृथुबुध्नोदर आदिके आकार परिणत पुद्गल स्कंध हैं, ऐसा वस्तुके अभेदसे अनुभव है, उसी तरह कर्म—मोह आदि अंतरंग परिणाम और नोकर्म—शरीर आदि बाह्य वस्तुयें सब पुद्गलके परिणाम हैं जो कि आत्माके तिरस्कार करने वाले हैं, उनमें ये कर्म नोकर्म 'मैं हूं' तथा मोहादिक अंतरंग और शरीरादि बहिरंग कर्म आत्माके तिरस्कार करने वाले पुद्गल परिणाम मुझ आत्मामें हैं, इस प्रकार वस्तुके अभेदसे जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है । और जब किसी समय जैसे रूपी दर्पणके आकार को प्रतिभास करने वाली स्वच्छता ही है तथा उष्णता और ज्वाला अग्निकी है, उसी तरह अरूपी आत्माकी अपने परके जानने वाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं, ऐसी अपने आप ही अथवा दूसरेके उपदेशसे भेदविज्ञानमूलक अनुभूति उत्पन्न हो

ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥१६॥

यावत्--अव्यय । एषा–प्रथमा एक० स्त्रीलिङ्ग । खलु–अव्यय । बुद्धिः–प्रथमा एक० । अप्रतिबुद्धः–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तावत्–अव्यय ।

वता है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानी सहज अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्व मानता है । (२) अज्ञानी परपदार्थ व विभावमें आत्मत्व मानता है ।

दृष्टि—१– परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, शुद्धनय (३०, ४६) । २– संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२५) ।

प्रयोग—परपदार्थ व परभावोंसे भिन्न आत्माको अविकार चैतन्यस्वरूप निरखकर अपने सहज आनन्दका अनुभव करते हुए परम विश्राम पावें ॥१६॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि यह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किस तरह पहचाना जा सकता है उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं—**[यः]** जो पुरुष **[अन्यत् यत् परद्रव्यं]** अपनेसे अन्य जो परद्रव्य **[सचित्ताचित्तमिश्रं वा]** सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक, मिश्र ग्रामनगरादिक—इस सबको ऐसा समझे कि **[अहं एतत्]** मैं यह हूं **[एतत् अहं]** यह सब द्रव्य मैं हूं **[एतस्य अहं]** मैं इसका हूं **[एतत् मम अस्ति]** यह मेरा है **[एतत् मम पूर्वं आसीत्]** यह मेरा पूर्वमें था **[एतस्य अहमपि पूर्वं आसं]** इसका मैं भी पहले था **[पुनः]** तथा **[एतत् मम भविष्यति]** यह सब मेरा होगा **[अहमपि एतस्य भविष्यामि]** मैं भी इसका आगामी होऊँगा **[एतत्तु असद्भूतं]** ऐसा झूठा **[आत्मविकल्पं]** आत्मविकल्प करता है वह **[संमूढः]** मूढ़ है **[तु]** किन्तु जो पुरुष **[भूतार्थं]** परमार्थ वस्तुस्वरूपको **[जानन्]** जानता हुआ **[तं]** ऐसे झूठे विकल्पको **[न करोति]** नहीं करता है वह **[असंमूढः]** मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है ।

तात्पर्य—परमें व परभावमें आत्मत्वका अनुभवन करने वाला अज्ञानी है व सहजसिद्ध चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वका अनुभवन करने वाला ज्ञानी है ।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्निको मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करता है कि अग्नि ईंधन है तथा ईंधन अग्नि है, अग्निका ईंधन पहले था, ईंधनकी अग्नि पहले थी, अग्निका ईंधन आगामी होगा, ईंधनकी अग्नि आगामी होगी, इस तरह ईंधनमें ही

ल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिधनमस्ति नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति नाग्नेरिंधनमस्ति नेंधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति नाग्नेरिंधनं पूर्वमासीन्नेंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिंधनस्येंधनं पूर्वमासीन्नाग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्या-

---

करणे। **प्रातिपदिक**—अस्मद्, एतत्, एतत्, अस्मद्, अस्मद्, एतत्, अन्यत्, यत्, परद्रव्य, सचित्ताचित्तमिश्र, वा, अस्मद्, पूर्व, एतत्, एतत्, अस्मद् अपि, पूर्व, हि, पुनर्, अपि, अस्मद्, एतत्, अस्मद, अपि, एवं, तु, असद्भूत, आत्मविकल्प, संमूढ, भूतार्थ, जानत्, न, तु तत् असंमूढ। **मूलधातु**—भू सत्तायां, द्रु, गतौ, अस् भुवि, डुकृञ् करणे, मुह वैचित्ये वैचित्यमविवेकः, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—अहं–प्रथमा एक०। एतत्–प्रथमा एक०। एतत्–प्रथमा एक०। अहं–प्रथमा एक०। अहं–प्रथमा एक०। एतस्यं–षष्ठी एक०। एव–अव्यय। भवामि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया। मम–एकवचन। परद्रव्यं–प्रथमा एक। सचित्ताचित्तामिश्रं–प्रथमा एक०। वा–अव्यय। आसीत्–भूत लृङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मम–षष्ठी एक०।

अग्निकी अग्नि पहले थी, ईंधनका ईंधन पहले था तथा अग्निका ईंधन आगामी नहीं होगा, ईंधनकी अग्नि आगामी नहीं होगी, अग्निकी अग्नि ही आगामी कालमें होगी, ईंधनका ईंधन ही आगामी होगा। इस तरह किसीके अग्निमें ही सत्यार्थ अग्निका विकल्प जिस प्रकार हो जाता है, उसी तरह मैं यह परद्रव्य नहीं हूं, तथा यह परद्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूं, परद्रव्य परद्रव्य ही है तथा मेरा यह परद्रव्य नहीं है, इस परद्रव्यका मैं नहीं हूं, अपना ही मैं हूं, परद्रव्यका परद्रव्य है तथा इस परद्रव्यका मैं पहले नहीं था, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, अपना मैं ही पूर्वमें था, परद्रव्यका परद्रव्य पहले था तथा यह परद्रव्य मेरा आगामी न होगा, उसका मैं आगामी न होऊँगा, मैं अपना ही आगामी होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) आगामी होगा। ऐसा जो स्वद्रव्यमें ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है, यही प्रतिबुद्ध ज्ञानीका लक्षण है, इसीसे ज्ञानी पहचाना जाता है। **भावार्थ**—जो परद्रव्यमें आत्माका विकल्प करता है, वह तो अज्ञानी है। और जो अपने आत्माको ही अपना मानता है वह ज्ञानी है। ऐसा अग्नि ईंधनके दृष्टान्तसे दृढ़ निर्णय किया है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—'**त्यजतु**' इत्यादि। **अर्थ**—हे लोकके जीवो, अनादि संसारसे लेकर अब तक अनुभव किए मोहको अब तो छोड़ो और रसिक जनोंको रुचने वाला उदीयमान जो ज्ञान है उसे आस्वादन करो, क्योंकि इस लोकमें आत्मा है वह परद्रव्यके साथ किसी समयमें प्रगट रीतिसे एकत्वको किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता। इसलिए आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्यके साथ एकरूप नहीं होता। **भावार्थ**—आत्मा परद्रव्यके साथ किसी प्रकार किसी कालमें एकताको प्राप्त नहीं होता। इसलिए आचार्यने ऐसी प्रेरणा की है कि

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसाय—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमुग्धबुद्धी, जीव बना विविधभावसंयोगी ।
इससे कहता तन सुत, नारी भवनादि मेरे हैं ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानमें यह, झलका चित् नित्य ज्ञानदर्शनमय ।
वह पुद्गल क्यों होगा, फिर क्यों कहता कि यह मेरा ॥२४॥
यदि जीव बने पुद्गल, पुद्गल बन जाय जीव जो कबहूं ।
तो कहना बन सकता, पुद्गल मेरा न पर ऐसा ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं । बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं । कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ॥२४॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् । तर्हि शक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ॥२५॥

नामसंज्ञ—अण्णाणमोहिदमदि, अम्ह, इम, पुग्गल, दव्व, बद्ध, अबद्ध, च, तहा, जीव, बहुभावसंजुत्त, सव्वण्हुणाणदिट्ठ, जीव, उवओगलक्खण णिच्चं, कह, त, पुग्गलदव्वीभूद, ज, अम्ह, इम, जदि, त, पुग्गलदव्वीभूद, ज, अम्ह, इमं, जदि, त, पुग्गलदव्वीभूद, जीवत्त आगद, इदर, तो, सत्त, जे, अम्ह, इम, पुग्गल, दव्व । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, बु व्यक्तायां वाचि, सक्क सामर्थ्ये । **प्रातिपदिक**—अज्ञानमोहितमति, अस्मद,

---

कभी नहीं होऊँगा । ऐसे परिपूर्ण निर्णयके साथ सर्व परसे उपेक्षा करें और अपनेमें परम-विश्राम करें ॥२०-२१-२२॥

अब अप्रतिबुद्धके समझानेके लिये उद्यम करते हैं—[**अज्ञानमोहितमतिः**] अज्ञानसे जिसकी मति मोहित है ऐसा [**जीवः**] जीव [**भणति**] कहता है कि [**इदं**] यह [**बद्धं च अबद्धं**] शरीरादि बद्धद्रव्य, धनधान्यादि अबद्ध परद्रव्य [**मम**] मेरा है सो वह जीव [**बहुभावसंयुक्तः**] मोह रागद्वेषादि बहुत भावोंसे सहित है । परन्तु [**जीवः**] जीव पदार्थ तो [**सर्वज्ञज्ञानदृष्टः**] सर्वज्ञके ज्ञानमें देखा गया [**नित्यं**] नित्य [**उपयोगलक्षणः**] उपयोग लक्षण वाला है [**सः**] वह [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप [**कथं**] कैसे हो सकता है ? [**यत्**]

येन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं । तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि । यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् । पुद्गलद्रव्यश्च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत तत्तु न कथंचनापि स्यात् । तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोग-

---

कर्तृ विशेषण । मम—षष्ठी एक० । इदम्—प्रथमा एक० । भणति—लट् अन्य पुरुष एक० । पुद्गलं—प्रथमा एकवचन । द्रव्यम्—प्रथमा एक० । बद्धं—प्रथमा एक० । अबद्धं—प्रथमा एक० । च—अव्यय । तथा—अव्यय । जीवः—प्रथमा एकवचन कर्ता । बहुभावसंयुक्तः—कर्तृ विशेषण । सर्वज्ञज्ञानदृष्टः—प्रथमा एकवचन । जीवः—प्रथमा एकवचन । उपयोगलक्षणः—प्रथमा एकवचन । नित्यं—प्रथमा एकवचन या अव्यय । कथं अव्यय ।

तरह बतलाते हैं जैसे क्षारस्वभाव वाला लवण तो जलरूप हुआ दीखता है और द्रवत्वलक्षण वाला जल लवणरूप हुआ देखा जाता है, क्योंकि लवणका क्षारपना तथा जलका द्रवपना इन दोनोंके साथ रहनेमें अविरोध है इसमें कोई बाधा नहीं है । उसी तरह नित्य उपयोगलक्षण वाला जीवद्रव्य तो पुद्गलद्रव्य हुआ देखनेमें नहीं आता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हुआ नहीं दीखता, क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार—इन दोनोंकी तरह उपयोग तथा अनुपयोगके एक साथ रहनेका विरोध है, जड़ चेतन—ये दोनों किसी समय भी एक नहीं हो सकते । इसलिए तू सब तरहसे प्रसन्न हो अर्थात् अपना चित्त उज्ज्वल कर सावधान हो, अपने ही द्रव्यको अपने अनुभवरूप कर, ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है ।

यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है उसको उपदेश देकर सावधान किया है कि सर्वज्ञने ऐसा देखा है कि जड़ और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् है कदाचित् किसी प्रकारसे भी एकरूप नहीं होते । इस कारण हे अज्ञानी, तू परद्रव्यको एकरूपसे मानना छोड़ दे, ऐसा वृथा माननेसे कुछ लाभ नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**'अयि'** इत्यादि । **अर्थ**—हे भाई, तू किसी तरह भी महान् कष्टसे अथवा मरणावस्थाको प्राप्त हुआ भी तत्त्वोंका कौतूहली हुआ इस शरीरादि मूर्तद्रव्यका एक मुहूर्त (४८ मिनट) अपनेको पड़ौसी मानकर आत्माका अनुभव कर, जिससे कि अपने आत्माको विलासरूप सर्व परद्रव्योंसे पृथक् देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको शीघ्र ही छोड़ सके ।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव करे, उसमें लीन होवे और परीषह (कष्ट) आनेपर भी विचलित न हो तो घातियाकर्मका नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो लेगा । आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है, तब

अथाहाप्रतिबुद्धः--

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि जीव देह नहिं है, तो जो प्रभु आर्यकी स्तुती की है ।
वह सर्व झूठ होगा, इससे हि तन आत्मा जचता ॥१६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव । सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥२६॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—कांत्यैव स्नपयंति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धंति ये धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये । दिव्येन ध्वनिना सुखं

नामसंज्ञ—जदि, जीव, ण, सरीर, तित्थयरायरियसंथुदि, च, एव, सव्वा, वि, मिच्छा तेण, दु, अत्त, देह । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, दिह वृद्धौ । **प्रातिपदिक**—यदि, जीव, न, शरीर, तीर्थकराचार्यसंस्तुति, च, एव, सर्वा, अपि, मिथ्या, तत्, तु, आत्मन्, देह । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, तृ प्लवनतरणयोः, ष्टुञ् स्तुतौ, भू सत्तायां, दिह उपचये । **पदविवरण**—यदि–अव्यय । जीवः–प्रथमा एकवचन । न–अव्यय ।

'कांत्यैव' इत्यादि । **अर्थ**—जो अपने शरीरकी कांतिसे दसों दिशाओंको स्नान कराते हैं—निर्मल करते हैं, जो अपने तेजसे उत्कृष्ट तेज वाले सूर्यादिकके तेजको भी छिपा देते हैं, जो अपने रूपसे लोकोंका मन हर लेते हैं ऐसे दिव्यध्वनि (वाणी) द्वारा भव्योंके कानोंमें साक्षात् सुख अमृत बरसाते हुए तथा एक हजार आठ लक्षणोंको धारण करने वाले वे तीर्थंकर सूरि (मोक्षमार्गोपदेशक) वंदने योग्य हैं । इत्यादिक तीर्थङ्करोंकी स्तुति है वह सभी मिथ्या ठहरेगी । इसलिये हमारे तो यही एकान्तसे निश्चय है कि आत्मा है वह शरीर ही है पुद्गल द्रव्य ही है । ऐसा अप्रतिबुद्धने कहा । उसको आचार्य उत्तर देते हैं कि इस तरह नहीं है, अभी तूने नयविभाग नहीं समझा है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व कुलक गाथाओंमें अप्रतिबुद्ध जीवको भेदविज्ञानका प्रतिबोध कराया गया था उसको सुनकर यहाँ अप्रतिबुद्ध पुरुष अपने मनकी घुली-छुपी बात स्पष्ट कह रहा है ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्तवनग्रन्थोंमें स्तुति देहकी स्तुति करते हुए भी आती है सो उसमें भी प्रयोजन निमित्तनैमित्तिक भाव द्वारा आत्मगुणोंको ही बतानेका है, ऐसी स्तुति औपचारिक स्तुति कहलाती हैं । (२) औपचारिक स्तुतिकी वचनभाषाका अर्थ कोई सीधा उपादानभाषामें लगाये तो वह मिथ्या होता है ।

सिद्धान्त—(१) उपचारस्तवनादिमें प्रयोजन व निमित्तका परिचय होता है । (२)

नैवं नयविभागानभिज्ञोऽसि—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनय बताता, जीव तथा देह एक ही समझो।
निश्चयमें नहिं कबहूं, जीव तथा देह इक वस्तू ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः। न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः॥२७॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समावर्त्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानु-

---

नामसंज्ञ—ववहारणय, जीव, देह, य, खलु, इक्क, ण, दु, णिच्छय, जीव, देह, य, कदा, वि, एकट्ठ। **धातुसंज्ञ**—ने प्रापणे, भास व्यक्तायां वाचि, हव सत्तायां, जीव प्राणधारणे। **प्रकृतिशब्द**—व्यवहारनय, जीव, देह, च, खलु, एक, न, तु, निश्चय, जीव, देह, च, कदा, अपि, एकार्थ। **मूलधातु**—वि-अव-हृञ् हरणे, भाष व्यक्तायां वाचि, भू सत्तायां, ऋ गतिप्रापणयोः। **पदविवरण**—व्यवहारनय–प्रथमा एक० कर्ता। भाषते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। जीवः–प्रथमा एक०। देहः–प्रथमा एक०। च–अव्यय। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। खलु–अव्यय। एकः–प्रथमा एक०। न–अव्यय। तु–अव्यय।

एक द्रव्यसत्त्वको निरखनेके कारण उन्हें भिन्न-भिन्न कहता है, इसलिये व्यवहारनयसे ही शरीरका स्तवन करके आत्माका स्तवन माना जाता है, निश्चयसे नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अज्ञानीका विचार दिखाया था कि जीव और देह एक है। अब उसके समाधानमें कहा जा रहा है कि जीव और देहको एक कहना व्यवहार मात्रसे है, परमार्थसे तो जीव और देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते।

तथ्यप्रकाश—(१) सिद्धान्तग्रन्थोंमें जीवकी संयोगी पर्यायोंका वर्णन है, वहाँ भी सिर्फ देहमें ही जीवका व्यवहार नहीं, किन्तु उस समावर्तित अवस्थामें जीवका निर्देश है। (२) मात्र जीवस्वभावको निरखनेपर जीव देहसे तो भिन्न प्रकट सिद्ध है ही, किन्तु विकारभावसे भी यह जीव भिन्न है।

सिद्धान्त—(१) देहको आत्मा कहना उपचार है। (२) देहको देह व आत्माको आत्मा कहना यथार्थ व्यवहार है।

दृष्टि— १–द्रव्येद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१०६)। २– अनेक अपरसंग्रहभेदक व्यवहारनय (११)।

प्रयोग—अपने आत्माको देहसे भिन्न जानकर, देहका ख्याल छोड़कर ज्ञानमात्र आत्म-

तथाहि—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

चित्से न्यारे भौतिक, तनकी स्तुति कर भले मुनी माने।
श्री भगवत्केवलिकी, मैंने थुति वन्दना की है ॥२८॥

इममन्यं जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः। मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः। तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥२८॥

नामसंज्ञ—इम, अण्ण, जीव, देह, पुग्गलमय, मुणि, हु, संथुद, वंदिद, अम्ह, केवलि, भगवंत। **धातुसंज्ञ**—त्थुण स्तुतौ, वंद स्तुतौ, मन्न अववोधने। **प्रकृतिशब्द**—इदम्, अन्य, जीव, देह, पुद्गलमय, मुनि, खलु, संस्तुत, वंदित, अस्मद् केवलिन्, भगवत्। **मूलधातु**—ष्टुञ् स्तुतौ, मन-ज्ञाने दिवादि। **पदविवरण**—इमं–द्वितीया एक०। अन्यं–द्वि० ए०। जीवात्–पंचमी एक०। देहं–द्वि० एक०। पुद्गलमयं–द्वितीया ए०। स्तुत्वा–असमाप्तिकी क्रिया। मुनिः–प्रथमा एक०। मन्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। खलु–अव्यय। संस्तुतः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। वंदितः–प्रथमा एक० क्रिया कृदन्त। मया–तृतीया एक० कर्मवाच्ये कर्ता, केवली–प्रथमा एक०। भगवान्–प्रथमा ए० कर्मवाच्यमें कर्म ॥२८॥

प्रशंसा बताई जाती है। (२) परमार्थतः खुदके गुणकी प्रशंसासे उसकी प्रशंसा होती है।

दृष्टि— १–संश्लिष्ट विजात्यसद्भूतव्यवहार (१२५)। २–शुद्ध निश्चयनय (४६)।

प्रयोग—देहसे अत्यन्त भिन्न ज्ञानमात्र प्रभुको निरखकर प्रभुसमान अपने स्वभावको निरखें ॥२८॥

ऊपरकी बातको गाथासे कहते हैं—[तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चयमें [न युज्यते] ठीक नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीरके गुण [केवलिनः] केवलीके [न भवंति] नहीं है। [यः] जो [केवलिगुणान्] केवलीके गुणोंकी [स्तौति] स्तुति करता है [स] वही [तत्त्वं] परमार्थसे [केवलिनं] केवलीकी [स्तौति] स्तुति करता है।

तात्पर्य—वास्तवमें प्रभु परमात्माके गुणोंके स्तवनसे ही प्रभु परमात्माकी स्तुति बनती है।

टीकार्थ—जैसे सुवर्णमें चांदीके सफेद गुणका अभाव होनेके कारण निश्चयसे सफेदपनेके नामसे सोनेका नाम नहीं बनता, सुवर्णके गुण जो पीतपना आदि हैं उनके ही नामसे सुवर्ण

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेत्—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

नगरीके वर्णनमें, ज्यौं राजाकी न वर्णना होती ।
तन गुणके वर्णनमें, त्यौं नहिं प्रभुकी स्तुती होती ॥३०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति । देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥३०॥

तथाहि—प्राकारकवलितांवरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं । पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥२५॥ इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव—नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं । अक्षोभ-

---

नामसंज्ञ—णयर, वण्णिद, जह, ण, वि, राय, वण्णणा, कदा, देहगुण, थुव्वंत ण, केवलिगुण, थुद। धातुसंज्ञ—वण्ण वर्णने, हो सत्तायां। प्रकृतिशब्द—नगर, वर्णित, यथा, न, अपि, राजन्, वर्णनञ्, कृता, देहगुण, स्तूयमान, न केवलिगुण, स्तुत। मूलधातु—वर्ण-वर्णने, राजृ दीप्तौ, भू सत्तायां, ष्टुञ् स्तुतौ।

नय (२८)।

प्रयोग—प्रभुके गुणोंके स्तवनसे प्रभुका ध्यान बनाकर शुद्ध पर्यायको स्रोतमें मग्न कर सहजात्मस्वरूपका ध्यान करना चाहिये ॥२९॥

अब जिज्ञासा होती है कि आत्मा तो शरीरका अधिष्ठाता है, इसलिये शरीरकी स्तुति करनेसे आत्माका स्तवन निश्चयसे क्यों ठीक नहीं है ? इसका समाधानरूप गाथा दृष्टांतसहित कहते हैं—[यथा] जैसे [नगरे] नगरका [वर्णिते] वर्णन करनेपर [राज्ञः वर्णना] राजाका वर्णन [नापि कृता] किया नहीं [भवति] होता उसी तरह [देहगुणे स्तूयमाने] देहके गुणोंका स्तवन होनेपर [केवलिगुणाः] केवलीके गुण [स्तुता न] स्तवनरूप किये नहीं [भवन्ति] होते ।

तात्पर्य—नगरीका वर्णन होनेपर राजाका वर्णन न होनेकी तरह देहके गुणोंका वर्णन होनेपर परमात्माका वर्णन नहीं हो पाता ।

इसी अर्थका टीकामें काव्य कहा गया है—'प्राकार' इत्यादि । अर्थ—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोट (परकोटा) से आकाशको ग्रस लिया है अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है । बगीचोंकी पंक्तियोंसे जिसने भूमितलको निगल लिया है अर्थात् चारों ओरके बागोंसे पृथ्वी ढक गई है । कोटके चारों तरफ खाईके घेरेसे मानो पातालको पी रहा है अर्थात् खाई बहुत गहरी है । लोग ऐसे नगरका वर्णन करते हैं सो यद्यपि इसका अधिष्ठाता राजा है तो भी कोट, बाग,

अथ निश्चयस्तुतिमाह, तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्—

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

जो जीति इन्द्रियोंको, ज्ञानस्वभावी हि आपको माने।
नियत जितेन्द्रिय उसको, परम कुशल साधुजन कहते ॥३१॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं। तं खलु जितेन्द्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः।

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावाष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि

नामसंज्ञ—ज, इंदिय, णाणसहावाधिय, अत्त, त, खलु, जिदिंदिय, त, ज, णिच्छिद, साहु। **धातुसंज्ञ**—जिण जये, मुण ज्ञाने, भण कथने। **प्रकृतिशब्द**—यत्, इन्द्रिय, ज्ञानस्वभावाधिक, आत्मन्, तत्, खलु, जितेन्द्रिय, तत्, यत्, निश्चित, साधु। **मूलधातु**—इदि परमैश्वर्ये, जि-जये, मन-ज्ञाने, अत सातत्यगमने,

याणि] इन्द्रियोंको **[जित्वा]** जीतकर **[ज्ञानस्वभावाधिकं]** ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक **[आत्मानं]** आत्माको **[जानाति]** जानता है **[तं खलु]** उसको नियमसे **[ये निश्चिताः साधवः]** जो निश्चयनयमें स्थित साधुजन हैं **[ते]** वे **[जितेन्द्रियं]** जितेन्द्रिय ऐसा **[भणंति]** कहते हैं।

तात्पर्य—जो सहज ज्ञानस्वभावमय आत्माको अनुभव कर इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

टीकार्थ—जो मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन्द्रियके विषयोंके पदार्थ इन तीनोंको ही अपनेसे पृथक् कर सब अन्य द्रव्योंसे भिन्न अपने आत्माका अनुभव करता है, वह निश्चयसे जितेन्द्रिय है। कैसी हैं द्रव्येन्द्रियाँ? अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वशसे जिनसे समस्त स्व-परका विभाग नष्ट हो गया है और जो शरीर परिणामको प्राप्त हुई हैं अर्थात् आत्मासे ऐसे एक हो रही हैं कि भेद नहीं दिखता, उनको तो निर्मल भेदके अभ्यासकी प्रवीणतासे प्राप्त अन्तरंगमें प्रकट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभावके अवलम्बनसे अपनेसे पृथक् किया है, यही द्रव्येन्द्रियोंका जीतना हुआ। कैसी हैं भावेन्द्रियाँ? पृथक्-पृथक् विशेषोंको लिये हुए जो अपने विषय उनमें व्यापार करनेके कारण जो विषयोंको खंडखंड ग्रहण करती हैं अर्थात् ज्ञानको खंडखंडरूप जानती हैं, उनको प्रतीतिमें आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्तिसे अपनेसे भिन्न

द्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

एक० । ते–पुं० प्रथमा बहु० । भणंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । ये–प्रथमा बहु० पुं० । निश्चिताः–प्रथमा बहु० कर्तृ विशेषण । साधवः–प्रथमा बहु० कर्ता ॥३१॥

द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय उन तीनोंका जो सहज ज्ञायकस्वरूप जीवके साथ सांकर्य है, सम्बन्ध है उस दोषको दूर किया गया होनेसे ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषका परिहार हो जाता है ।

सिद्धान्त—(१) भूतार्थके आश्रयसे उपाधियोंका परिहार होता है । (२) शुद्धनयके आश्रयसे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वका प्रकाश होता है ।

दृष्टि— १–शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २–शुद्धनय (४६) ।

प्रयोग—विषयभूत पदार्थ, द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रियके लगावसे हटकर सहजसिद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वरूप अपनेको अनुभवना चाहिये ॥३१॥

अब भाव्य भावक संकरदोष दूर कर स्तुति कहते हैं—**[यः तु]** जो मुनि **[मोहं]** मोह को **[जित्वा]** जीतकर **[आत्मानं]** अपने आत्माको **[ज्ञानस्वभावाधिकं]** ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यभावोंसे अधिक **[जानाति]** जानता है **[तं साधु]** उस मुनिको **[परमार्थविज्ञायकाः]** परमार्थके जानने वाले **[जितमोहं]** जितमोह ऐसा **[विदन्ति]** जानते हैं ।

तात्पर्य—जो सहजज्ञानस्वभावमय आत्माको अनुभव कर मोहको जीत लेते हैं वे जितमोह कहलाते हैं ।

टीकार्थ—जो मुनि फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रकट उदयरूप होकर भावकरूपसे प्रगट हुए भी मोहकर्मको तदनुकूल परिणत आत्मा भाव्यके व्यावर्तनसे तिरस्कार करके (पृथक् करके) जिसमें समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो गया है, उसके रूपसे एकत्व होनेपर टंकोत्कीर्णवत् निश्चल, समस्त लोकके ऊपर तैरता, प्रत्यक्ष उद्योतरूपसे नित्य ही अन्तरंगमें प्रकाशमान, अविनाशी और आपसे ही सिद्ध हुआ परमार्थरूप भगवान् ऐसा वह ज्ञानस्वभाव, उसके द्वारा अन्य द्रव्यके स्वभावसे होने वाले सब ही अन्य भावोंसे परमार्थतः अतिरिक्त ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको अनुभव करता है वह निश्चयतः जितमोह जिन है । इस प्रकार यह द्वितीय निश्चयस्तुति हुई । इस ही प्रकार मोहके पदको बदलकर उसकी जगह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय—ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन—ये पांच इन्द्रियसूत्र द्वारा ऐसे सोलह पद पलटनेसे सोलह

सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभावेभ्यः सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥३२॥

लट् अन्य पुरुष एक०। आत्मानं–द्वितीया एक० कर्ता०। तं–द्वितीया एक०। जितमोहं–द्वितीया एक० कर्म-विशेषण। साधुं–द्वितीया एक० कर्म। परमार्थविज्ञायकाः–प्रथमा बहुवचन कर्ता या कर्तृ विशेषण। विदंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया ॥३२॥

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)। २–उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ)।

प्रयोग—विकारभावको नैमित्तिक अतएव अस्वाभाविक जानकर उससे अत्यंत उपेक्षा करके अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवना चाहिये ॥३२॥

आगे भाव्यभावकभावके अभाव द्वारा निश्चयस्तुति कहते हैं—[**जितमोहस्य तु साधोः**] जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके [**यदा**] जिस समय [**मोहः क्षीणः**] मोह क्षीण याने नष्ट [**भवेत्**] होता है [**तदा**] उस समय [**निश्चयविद्भिः**] निश्चयके जानने वाले [**खलु**] निश्चयसे [**सः**] उस साधुको [**क्षीणमोहः**] क्षीणमोह ऐसे नामसे [**भण्यते**] कहते हैं।

तात्पर्य—जितमोह साधुके निर्विकल्प समाधिबलसे जब मोह समूल नष्ट हो जाता है तब उसे क्षीणमोह कहते हैं।

टीकार्थ—इस निश्चयस्तुतिमें पूर्वोक्त विधान द्वारा आत्मासे मोहका तिरस्कार कर जैसा कहा, वैसे ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माका अनुभव करनेसे जितमोह हुआ, उसके जिस समय अपने स्वभावभावकी भावनाका अच्छी तरह अवलम्बन करनेसे मोह की संतानका ऐसा अत्यंत विनाश हो जाता है कि फिर उसका उदय नहीं होता, ऐसा भावक-रूप मोह जिस समय क्षीण होता है, उस समय याने भावकमोहका क्षय होनेपर आत्माके विभावरूप भाव्यभावका भी अभाव हो जाता है उस समय भाव्यभावकभावके अभावसे एकत्व होनेपर टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल परमात्माको प्राप्त हुआ 'क्षीणमोह जिन' ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधु पहले अपने बलसे उपशमभाव द्वारा मोहको जीते, पीछे जिस समय अपनी बड़ी सामर्थ्यसे मोहका सत्तामें से नाश कर ज्ञानस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है तब 'क्षीणमोह

यानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि । इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ।

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुःस्तोत्रं व्यवहारतोस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थंकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥ ॥३३॥

सत्तायां, साध संसिद्धौ, भण-शब्दार्थः । **पदविवरण**—जितमोहस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । यदा–अव्यय । क्षीणः–प्रथमा एक० । मोहः–प्रथमा एक० । साधोः–षष्ठी एक० । तदा–अव्यय । खलु–अव्यय । क्षीणमोहः–प्रथमा एक० । भण्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मलिङ् । सः–प्रथमा एक० कर्मवाच्यमें कर्म । निश्चयविद्भिः–तृतीया बहुवचन कर्मवाच्यमें कर्ता ॥३३॥

उच्छादित किये जानेपर निजरसके वेग द्वारा खेंचा हुआ एकस्वरूप होकर वह ज्ञान यथार्थरूप में किस पुरुषके प्रकट नहीं होता अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है ।

भावार्थ—निश्चय व्यवहारनयके विभागसे आत्माका और परका अत्यन्त भेद जो दिखलाया है, उसको जानकर ऐसा कौन पुरुष है कि जिसके भेदज्ञान नहीं होगा ? क्योंकि ज्ञान अपने स्वरससे आप अपना स्वरूप जानता है । इस प्रकार अप्रतिबुद्धने जो ऐसा कहा था कि हमें तो यह निश्चय है कि जो देह है वही आत्मा है, उसका निराकरण (समाधान) किया ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें निश्चयस्तुतिके प्रकरणमें भाव्यभावकसंकर दोष दूर करने वाली द्वितीय निश्चयस्तुति की गई थी अब भाव्यभावकभावके अभावसे होने वाले क्षीणमोहत्वकी उत्कृष्टता बताने वाली तृतीय निश्चयस्तुति की जा रही है ।

तथ्यप्रकाश—१—परमात्मपदके लाभके लिये अनिवारित ४ पौरुषोंका इस निश्चयस्तुतिके प्रकरणमें वर्णन हुआ है—(१) जितेन्द्रिय होना, (२) मोहका तिरस्कार होना, (३) जितमोह होना और (४) क्षीणमोह होना । २—यहाँ क्षीणमोह होनेका उपाय स्वभावभावकी निरन्तर दृढ़ भावना होना बताया गया है । ३—ज्ञानमें आत्मा व देहकी एकता पूर्णतया नष्ट होनेपर ज्ञान मात्र जाननरूपसे बर्तता हुआ प्रकट व प्रगत होता ही है ।

सिद्धान्त—(१) स्वभावभावकी भावनाका निमित्त पाकर भावक मोहकर्म कर्मत्वरहित हो जाता है । (२) आत्मा व देहादि परभावमें एकत्वबुद्धिके पूर्णतया नष्ट होनेपर जाननमात्र बर्तता हुआ ज्ञान विलसित होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ ब) । २– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध

पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्त्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि

ष्टने, ज्ञा अवबोधने। पदविवरण—सर्वान्-द्वितीया बहुवचन पुल्लिग कर्मविशेषण, भावान्-द्वितीया बहुवचन कर्म, यस्मात्-हेत्वर्थे पंचमी एक०, प्रत्याख्याति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, परान्-द्वि०

रहने, ग्रहणविकल्पका परिहार हो जावे, ऐसे ज्ञानको निश्चयसे प्रत्याख्यान कहते हैं।

टीकार्थ—जिस कारण यह ज्ञाता द्रव्य भगवान् आत्मा अन्य द्रव्यके स्वभावसे हुए अन्य समस्त परभावोंको अपने स्वभावभावसे व्याप्त न होनेसे पररूप जानकर त्यागता है, इस कारण जिसने पहले जाना है, वही पीछे त्याग करता है, दूसरा तो कोई त्यागने वाला नहीं है, ऐसे त्यागभाव आत्मामें ही निश्चित करके, त्यागके समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्रसे प्रवृत्त त्यागके कर्तृत्वका नाम होनेपर भी परमार्थसे देखा जाय तब परभाव के त्यागके कर्तृत्वका नाम अपनेको नहीं है, स्वयं तो इस नामसे रहित ज्ञानस्वभावसे नहीं छूटा है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—आत्माको परभावके त्यागका कर्तृत्व है, वह नाममात्र है। आप तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्यको पर जानो, फिर परभावका ग्रहण नहीं किया, यही त्याग है। ऐसा स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानके सिवाय कुछ भी दूसरा भाव नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व प्रकरणमें अज्ञानीको आत्मस्वरूपका प्रतिबोध किया है तब वह स्वयंको जानकर व श्रद्धान कर स्वयंके आचरणरूप ही रहना चाहता है सो यह अन्य द्रव्योंके त्याग बिना नहीं बनता है सो वह जानना चाहता है कि अन्य द्रव्योंका प्रत्याख्यान क्या है? उसके ही समाधानमें इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(१) नैमित्तिक भाव ज्ञाता भगवान आत्माके स्वभावमें व्याप्य न हो सकनेसे परभाव हैं। (२) पर व परभावको पररूप दृढ़तासे जान लेना ही प्रत्याख्यान है, क्योंकि आत्मा परपदार्थको न ग्रहण करता है, न त्यागता है। (३) जिस परपदार्थके विषयमें यह जीव लगावकी कल्पना करता है उसका तो ग्रहण करनेमें नाम लिया जाता है और जब उस पदार्थके विषयमें लगावकी कल्पना नहीं रहती तब उसका त्याग करनेमें नाम लिया जाता है।

सिद्धान्त—(१) यह जीव परद्रव्यको न ग्रहण करता है, न त्यागता है। (२) आत्मस्वभावमें व्याप्य नहीं होनेसे विकार परभाव हैं, पौद्गलिक हैं।

दृष्टि—१- परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २- विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयनय (४८)।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥२५॥

जैसे कोई पुरुष पर, वस्तूको पर हि जानकर तजता।
त्यौं सब परभावोंको, पर जानत विज्ञ है तजता ॥३५॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति। तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी।

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नोक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात् तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीय-

नामसंज्ञ—जह, णाम, क, वि, पुरिस, परदव्व, इम, इति तह, सव्व, परभाव, णाणि। **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, च्चय त्यागे, वि-मुंच त्यागे तृतीयगणे। **प्रातिपदिक**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, परद्रव्य, इदम्, इति, तथा, सर्व, परभाव, ज्ञानिन्। **मूलधातु**—द्रु गतौ, ज्ञा अवबोधने, त्यज हानौ वि-मुच्लृ मोक्षणे। **पदविवरण**—यथा–अव्यय, नाम–प्रथमा एक० या अव्यय, कः–प्रथमा एक०, अपि–अव्यय,

प्राप्त न हो; उसके पहले ही तत्काल सकल अन्य भावोंसे रहित आप ही यह अनुभूति प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—यह परभावके त्यागका दृष्टान्त कहा, उसपर दृष्टि पड़े, उससे पहले सब अन्य भावोंसे रहित अपने स्वरूपका अनुभव तो तत्काल हो ही जाता है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जब वस्तुको परकी जान ली, तब उसके पश्चात् ममत्व नहीं रहता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ज्ञानका प्रत्याख्यान बताया गया था, अब उसी विषयको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) परकीयभावोंमें आत्मीय प्रतिपत्ति होना व्यामोह है। (२) आत्माके सनातन असाधारण चिह्नसे भिन्न नैमित्तिक चिह्न परभाव हैं।

सिद्धान्त—१– अन्य वस्तुमें आत्माका आरोपण करना उपचार है, मिथ्या है। (२) आत्माके असाधारण शाश्वत गुणोंसे आतमाका परिचय पाना समीचीन उपाय है।

दृष्टि—(१) संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार व असंश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२३, १२५)। २– अभेद परमशुद्धनिश्चयनय, सभेद परमशुद्धनिश्चयनय (४४, ४५)।

प्रयोग—संश्लिष्ट व असंश्लिष्ट सब पर व परभावोंसे विविक्त सहजपरमात्मतत्त्वका

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥

मोह न मेरा कुछ है, मैं तो उपयोगमात्र एकाकी ।
यों जाने उसको मुनि, मोहनिर्ममत्व कहते हैं ॥३६॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विदंति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति किंचैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

नामसंज्ञ—ण, अम्ह, क, वि, मोह, उवओग, एव, अम्ह, इक्क, त, मोहणिम्ममत्त, समय, वियाणय । **धातुसंज्ञ**—अस सत्तायां, बुज्झ अवगमने, विद ज्ञाने, वि-जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—न, अस्मद्, किम्, अपि, मोह, उपयोग, एव, तत्, मोहनिर्ममत्व, समय, विज्ञायक । **मूलधातु**—अस भुवि, मुह वैचित्ये, बुध अवगमने, उप-युजिर् योगे, विद ज्ञाने । **पदविवरण**—न—अव्यय । अस्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक-

---

गलका विकार है, यही भावकका भाव है । जब यह चैतन्यके उपयोगके अनुभवमें आता है, तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादिरूप मलिन दीखता है । और जब इसका भेदज्ञान होवे कि चैतन्यकी शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है तथा यह कलुषता रागद्वेष मोहरूप है, और वह कलुषता द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्यकी है, ऐसा भेदज्ञान हो जाय तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहके भाव उनसे भेद अवश्य हो सकता है और आत्मा भी अपने चैतन्यके अनुभवरूप होगा ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं 'सर्वतः' इत्यादि । **अर्थ**—मैं सर्वांग अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भाव वाले एक अपने आपको यहाँ स्वयं अनुभवता हूं, इसी कारण यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्यका समूहरूप तेज पुंजका निधि हूं । इस तरह आन्तरिक भावकभावका अनुभव करे । इसी प्रकार गाथामें जो मोहपद है, उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन—ये सोलह पृथक्-

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥

धर्मादि पर न मेरे, मैं तो उपयोगमात्र एकाकी ।
यों जाने उसको मुनि, धर्मनिर्ममत्व कहते हैं ॥३७॥

न सन्ति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः । तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोंतस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम संति । किंचैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं

नामसंज्ञ—ण, अम्ह, धम्मआदि, उवओग, अम्ह, इक्क, त, धम्मणिम्ममत्त, समय, वियाणय । **धातुसंज्ञ**—अस्स सत्तायां, बुज्झ अवगमने, विद ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—न, अस्मद्, एक, तत्, धर्मनिर्ममत्व, समय, विज्ञायक । **मूलधातु**—अस भुवि, बुध अवगमने, विद ज्ञाने । **पदविवरण**—न–अव्यय अस्ति–वर्त-

---

स्तत्त्वके जाननहारको धर्मद्रव्यादिनिर्मम कहते हैं ।

टीकार्थ—अपने निजरससे प्रकट और निवारण नहीं किया जाय ऐसा जिसका फैलाव है तथा समस्त पदार्थोंके ग्रसनेका जिसका स्वभाव है, ऐसी प्रचंड चिन्मात्रशक्तिके द्वारा ग्रासीभूत होनेसे अत्यन्त निमग्नकी तरह आत्मामें प्रकाशमान जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व अन्य जीव ये समस्त परद्रव्य मेरे कुछ नहीं है । क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूपसे परमार्थतः अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूं और वे परद्रव्य उस मेरे स्वभावसे भिन्न होनेके कारण परमार्थसे बाह्य तत्त्वरूप छोड़नेको असमर्थ हैं । यहाँ ऐसा समझना कि यह आत्मा चैतन्यमें आप ही उपयुक्त हुआ परमार्थसे निराकुल एक आत्माको ही अनुभवता हुआ भगवान आत्मा ही जाना जाता है कि मैं प्रकट निश्चयसे एक ही हूं । इस कारण ज्ञेयज्ञायकभावमात्र से उपजात परद्रव्योंसे परस्पर मिलन होनेपर भी प्रकट स्वादमें आते हुए स्वभावभेदके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल व अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूं । क्योंकि सदाकाल ही अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे पदार्थोंकी ऐसी ही व्यवस्था है कि अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता । ऐसा यों ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान हुआ ।

यहांपर इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—'इति सति' इत्यादि । **अर्थ**—इस तरह पूर्वकथित रीतिसे भावकभावोंसे और ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान होनेपर सभी अन्य भावोंसे जब

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

मैं एक शुद्ध चिन्मय, शुचि दर्शनज्ञानमय अरूपी हूं।
अन्य परमाणु तक भी, मेरा कुछ भी नहीं होता ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी। नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः। समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेको नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञा-

---

नामसंज्ञ—अम्ह, इक्क, खलु, सुद्ध, दंसणणाणमइअ, सदा, अरूवि, ण, वि, अम्ह, किंचि, वि, अण्ण, परमाणुमित्त, पि। **धातुसंज्ञ**—सुज्झ शौचे, अस सत्तायां, दंस दर्शनायां। **प्रातिपदिक**—अस्मद्, एक, खलु,

---

स्वयं नहीं परिणमनेके कारण वास्तवमें सदा ही अरूपी हूँ। ऐसे सबसे पृथक् स्वरूपका अनुभव करता हुआ मैं प्रताप सहित हूं। ऐसे प्रताप रूप हुए मुझमें बाह्य अनेक प्रकार स्वरूपकी सम्पदासे समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तो भी परमाणु-मात्र द्रव्य भी मुझे आत्मीय रूप नहीं प्रतिभासित होता जिससे कि मेरे भावकरूपसे तथा ज्ञेयरूपसे मुझसे एक होकर फिर मोह उत्पन्न करे। क्योंकि मेरे निज रससे ही ऐसा महान् ज्ञान प्रकट हुआ है, जिसने मोहको मूलसे उखाड़ कर दूर किया है, जो फिर उसका अंकुर न उपजे ऐसा नाश किया है।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे लेकर मोहके उदयसे अज्ञानी था, सो श्रीगुरुके उपदेशसे और अपनी अच्छी होनहारसे ज्ञानी हुआ, अपने स्वरूपको परमार्थसे जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ। ऐसा अन्तस्तत्त्व जाननेसे मोहका समूल नाश हुआ, भावकभावसे और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ, स्वरूपसम्पदा अनुभवमें आई, तब फिर मोह क्यों उत्पन्न होगा?

अब जिस आत्माका अनुभव हुआ, उसकी महिमा आचार्य कहकर आशीर्वाद देते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मामें समस्त लोक मग्न होवे **'मज्जंतु'** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा विभ्रमरूप चादरको शक्तिसे डुबोकर (दूर कर) आप सर्वांग प्रकट हुआ है सो अब समस्त लोक इसके शांतरसमें एक ही समय अतिशयसे मग्न होवे। जो शांतरस समस्त

स्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति। यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुन:प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ।

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ता: ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥३२॥ ॥३८॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ **'पूर्वरंग:'** समाप्त: ।

अव्यय। शुद्ध:-प्रथमा एक०। दर्शनज्ञानमय:-प्रथमा एक०। सदा-अव्यय। अरूपी-प्रथमा एक०। न-अव्यय। अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मम-षष्ठी एक०। किंचित्-अव्यय। अन्यत्-प्रथमा एक०। अपि-अव्यय। अन्यत्-प्रथमा एक०। परमाणुमात्रं-प्रथमा एकवचन। अपि-अव्यय ॥३८॥

रसमें उन्हें लीन कर सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूप रंगभूमिके अन्तमें आचार्यने **"मज्जंतु"** इत्यादि श्लोक जो रचा है, वह अब आगे जीव अजीवके एकत्वका स्वांग वर्णन करेंगे इसकी सूचनारूप है। इस प्रकार यहाँ तक रंगभूमिका वर्णन किया।

प्रसंगविवरण—वर्तमान निश्चयस्तुतिके प्रकरणमें अन्तमें यह सिद्ध किया गया था कि आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें परिणत होनेका वर्णन करना सत्य स्तवन है। अब यहाँ यह बता रहे हैं कि दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें परिणत हुये आत्माको कैसा स्वरूपसंचेतन होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहोन्मत्त जीव अत्यन्त अप्रतिबुद्ध होता है। (२) अन्तस्तत्त्व तो सदा अन्तः है, उसकी सुध होना ही आत्मलाभ है। (३) अनन्तगुणपर्यायात्मकता विदित होने पर भी आत्मा चैतन्यमात्र स्वरूपमें अभेद होनेसे एक है। (४) ज्ञायकस्वभावमात्र होनेसे अनेक विध पर्याय व पुण्य-पापादि तत्त्वोंसे निराला होनेके कारण आत्मा शुद्ध है। (५) सामान्य-विशेषात्मक प्रतिभासस्वरूप होनेसे आत्मा दर्शनज्ञानमय है। (६) रूपी पदार्थ भी ज्ञेय हों तो भी कभी भी रूपादिरूप न होनेसे आत्मा अरूपी है। (७) ज्ञानीको कुछ भी अन्य द्रव्य आत्मीय रूपसे विदित ही नहीं होता सो कोई भी अन्य द्रव्य भावकरूपसे या ज्ञेयरूपसे एकरूप हो ही नहीं सकता, अत: मोहकी उत्पत्ति असंभव है।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वकीयचैतन्यस्वरूपमें अभेद होनेसे अखण्ड एक है। (२) आत्मा सर्वविकल्पोंसे विविक्त होनेसे शुद्ध है।

दृष्टि—१– परमशुद्धनिश्चयनय (४४)। २– शुद्धनय (४६)।

प्रयोग—अपनेको अरूपी व एक निरखकर सर्व विकल्पोंसे परे होकर शुद्ध प्रतिभास-मात्र अनुभवना चाहिये ॥३८॥

इस प्रकार समयसारव्याख्या आत्मख्यातिमें **'पूर्व रंग'** समाप्त हुआ।

कइ अध्यवसानोंमें, जीव कहें तीव्रमंदफलततिको ।
कोई आत्मा माने, इन नाना रूप देहोंको ॥४०॥
कोई कर्मोदयको, जीव कहें कर्मपाक सुख-दुखको ।
तीव्र मंद अंशोंमें, जो नाना अनुभवा जाता ॥४१॥
जीव कर्म दोनोंको, मिला हुआ कोई जीवको जाने ।
अष्टकर्म संयोग हि, कितने ही जीवको मानें ॥४२॥
ऐसे नाना दुर्मति, परतत्त्वोंको हि आत्मा कहते ।
वे न परमार्थवादी, ऐसा तत्त्वज्ञ दर्शाते ॥४३॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् । जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ॥३९॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवं । मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥४०॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति । तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥४१॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति । अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः । ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमाजनंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।

संजोग, दु, कम्म जीव, एवंविह, बहुविह, पर, अप्प, दुम्मेह, त, ण, परमट्ठवादि, णिच्छयवादि, णिद्दिट्ठ। **धातुसंज्ञ**—मुज्झ मोहे, प-रूव घटनायां, मन्न अवबोधने तृतीयगणे, इच्छ इच्छायां, हव सत्तायां, वद व्यक्तायां वाचि । **प्रकृतिशब्द**—आत्मन्, अजानत्, मूढ, तु, परात्मवादिन्, केचित्—अन्तः प्रथमा बहु० अव्यय,

---

ज्ञानावरणादि कर्मोके नाशसे विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, जैसे फूलकी कली खिलती है, उस तरह विकाशरूप है । जिसके रमनेका क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् जिसमें अनंत ज्ञेयों (पदार्थों) के आकार आकर झलकते हैं तो भी आप अपने स्वरूपमें ही रमता है, जिसका प्रकाश अनंत है, प्रत्यक्ष तेज द्वारा नित्य उदयरूप है धीर है, उदात्त है, इसीसे अनाकुल है सब इच्छाओंसे रहित निराकुल है । यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल ये तीन विशेषण शांतरूप नृत्यके आभूषण जानने चाहिये । ऐसा ज्ञान विलास करता है ।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानकी महिमा कही । जीव अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं, उनको यह ज्ञान ही भिन्न जानता है । जैसे कोई नृत्यमें स्वांग धारण कर आ जाय उसे यथार्थ जो जाने उसको स्वांग करने वाला नमस्कार कर अपना जैसाका तैसा रूप कर लेता है उसी तरह यहां भी जानना ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके होता है, मिथ्यादृष्टि यह भेद नहीं जानता ।

नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपाप-रूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । साताऽसातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः

द्वितीया एक० । अजानन्तः–प्रथमा बहु० । मूढाः–प्र० बहु० । तु–अव्यय । परात्मवादिनः–प्रथमा बहु० । केचित्–अव्यय तथा अन्तः प्रथमा बहुवचन । जीवं–द्वि० ए० । अध्यवसानं–द्वितीया ए० । कर्म–द्वि० ए० । च–अव्यय । तथा–अव्यय । प्र रूपयन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन चुरादिगणे क्रिया । अपरे–प्रथमा बहु० । अध्यवसानेषु–सप्तमी बहु० । तीव्रमन्दानुभागगं–द्वि० ए० । जीवं–द्वि० ए० । मन्यंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । तथा–अव्यय । अपरे–प्रथमा बहु० । नोकर्म–द्वि० ए० । जीवः–प्रथमा एक० ।

रागद्वेषसे मलिन अध्यवसान अर्थात् आशयरूप विभाव परिणाम ही जीव है, क्योंकि जैसे कालिमासे अलग अंगार दिखाई नहीं देता है वैसे अध्यवसानसे अलग अन्य कोई जीव दीखता नहीं । कोई कहते हैं कि पूर्व पश्चात् अनादिसे लेकर और आगामी अनंतकाल तक अवयव रूप एक भ्रमण क्रियारूपसे क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि इस कर्मसे भिन्न कुछ अन्य जीव देखनेमें नहीं आता । कोई कहते हैं कि तीव्र मंद अनुभवसे भेदरूप हुआ और जिसका अंत दूर है ऐसे रागरूप रससे भरी जो अध्यवसानकी संतान (परिपाटी) है वही जीव है, क्योंकि इससे अन्य कोई जुदा जीव देखनेमें वही आता । कोई कहते हैं कि नवीन और पुरानी अवस्था इत्यादि भावसे प्रवर्तमान जो नोकर्म वही जीव है, क्योंकि इस शरीरसे अन्य भिन्न कुछ जीव देखनेमें नहीं आता । कोई ऐसा कहते हैं कि समस्त लोकको पुण्यपाप रूपसे व्याप्त कर्मका विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभभावसे अन्य भिन्न कोई जीव देखनेमें नहीं आता । कोई कहते हैं कि साता असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्र-मंदत्व गुणोंसे भेदरूप हुआ जो कर्मका अनुभव वही जीव है क्योंकि सुख-दुःखसे अन्य भिन्न कोई जीव देखनेमें नहीं आता कोई कहते हैं कि श्रीखण्डकी तरह दो रूप मिला जो आत्मा और कर्म ये दोनों मिले ही जीव हैं क्योंकि समस्त रूपसे कर्मसे भिन्न कोई जीव देखनेमें नहीं आता है । कोई कहते हैं कि प्रयोजनभूत क्रियामें समर्थ कर्मसंयोग ही जीव है, क्योंकि कर्मके संयोगसे भिन्न कोई जीव देखनेमें नही आता जैसे कि आठ काठके टुकड़े मिलकर खाट हुई, तब अर्थक्रियामें समर्थ हुई सो आठ काठके संयोगसे अलग कोई खाट नहीं इसी तरह यहां भी जानना ऐसा मानते हैं । इस प्रकार आठ प्रकार तो ये कहे और अन्य भी अनेक प्रकार परको जो आत्मा कहते हैं वे दुर्बुद्धि है, उनको परमार्थसे जानने वाले उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते ।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों ही अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिल रहे हैं और अनादिसे ही पुद्गलके संयोगसे जीवकी विकार सहित अनेक अवस्थाएं हो रही हैं । यदि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तब जीव तो अपने चैतन्य आदि भावको नहीं छोड़ता और

पलभ्यमानत्वादिति केचित् एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशंति दुर्मेधसः किंतु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिश्यन्ते ॥३९-४०-४१-४२-४३॥

व० । परं–द्वि० ए० । आत्मानं–द्वि० ए० । वदन्ति–वर्तमान अन्य० व० । दुर्मेधसः–प्रथमा व० । ते–प्रथमा ब० । न–अव्यय । परमार्थवादिनः–प्रथमा व० । निश्चयवादिनः–तृ० व० । निर्दिष्टाः–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया क्तान्त ॥३९-४०-४१-४२-४३॥

अपनेको अनुभवना चाहिये ॥३९-४०-४१-४२-४३॥

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी नहीं हैं, सो क्यों नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं— [एते] ये पूर्व कहे हुए अध्यवसान आदिक [सर्वे भावाः] सभी भाव [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणमनसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञजिनदेवने [भणिताः] कहा है मो [ते जीवाः] वे जीव हैं [इति कथं उच्यंते] ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् नहीं कह सकते ।

तात्पर्य—पूर्वोक्त गाथामें अज्ञानीसम्मत जीव कुछ तो उपादानतया पौद्गलिक हैं, कुछ निमित्ततया पौद्गलिक हैं ।

टीकार्थ—चूँकि ये अध्यवसानादिक भाव सब पदार्थोंको साक्षात् देखने वाले भगवान् वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेवके द्वारा "पुद्गलद्रव्यपरिणामजन्य" कहे गये अतः चैतन्यभावसे शून्य पुद्गलद्रव्यसे भिन्न रूपसे कहे गये चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य होनेको समर्थ नहीं हैं इस कारण निश्चयसे आगम, युक्ति और स्वानुभव इन तीनों द्वारा बाधित होनेसे जो इन अध्यवसानादिकों को जीव कहते हैं वे परमार्थवादी याने सत्यार्थवादी नहीं है । ये सब जीव नहीं है, ऐसा जो सर्वज्ञका वचन है वह तो आगम है और यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है, क्या, सो कहते हैं—स्वयमेव उत्पन्न हुआ रागद्वेषसे मलिन अध्यवसान निश्चयतः जीव नहीं है, क्योंकि जैसे सुवर्ण कालिमासे पृथक् है, उसी प्रकार चित्स्वभावरूप ऐसे अध्यवसानसे भिन्न जीव भेद विज्ञानियोंको प्रतिभासित होता है, वे स्वयं प्रत्यक्ष चैतन्यभावको पृथक् अनुभव करते हैं ॥१॥ अनाद्यनंत पूर्वापरीभूत एक संसरणक्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म है वह भी जीव नहीं है क्योंकि कर्मसे पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियोंको प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥२॥ तीव्रमंद अनुभवसे भेदरूप हुआ दुरंत राग-रससे भरी अध्यवसानकी संतान भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संतानसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वरूप जीव भेदविज्ञानियोंको स्वयमेव प्राप्त है, वे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥३॥ नई पुरानी अवस्थादिके भेदसे प्रवृत्त हुआ जो नोकर्म है वह भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीरसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदविज्ञानियोंको स्वयंमेव प्राप्त है, वे स्वयं आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ॥४॥ समस्त जगतको

नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभावो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरि-

---

पदविवरण—एते–प्रथमा ब० । सर्वे–प्रथमा ब० । भावाः–प्रथमा ब० कर्मवाच्ये कर्म । पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्ना–प्रथमा बहु० । केवलिजिनैः तृतीया ब० कर्मवाच्यमें कर्ता । भणिताः–प्रथमा ब० कर्मवाच्यमें

ऐसा काव्यमें कहते हैं 'विरम' इत्यादि । **अर्थ**—हे भव्य, तुझे निष्प्रयोजन कोलाहल करने से क्या लाभ है, उस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको एकान्तमें स्वयं निश्चय लीन होकर छः महीना अभ्यास कर देख तो कि जिसका तेज प्रताप-प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है ऐसे आत्माकी अपने हृदयसरोवरमें प्राप्ति होती है या नहीं । **भावार्थ**—यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है, हाँ पर वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अपना स्वरूप तो विद्यमान ही है परन्तु भूल रहा है सो चेत कर देखे तो पास ही है । यहाँ छह महीनेका अभ्यास कहा सो ऐसा नहीं समझना कि इतना ही समय लगेगा, इसका होना तो अन्तर्मुहूर्तमात्रमें ही है परन्तु शिष्यको बहुत कठिन मालूम पड़े तब उसको समझाया है कि यदि बहुत काल भी समझनेमें लगेगा तो छह महीनेसे अधिक नहीं लगेगा । इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलको छोड़ इसमें लगनेसे शीघ्र स्वरूपकी प्राप्ति होगी, ऐसा उपदेश किया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व ५ गाथावोंमें अज्ञजनसम्मत जीवके परिचयका निर्देश किया था और अन्तमें कहा था कि ऐसा कहने वाले याने परको आत्मा कहने वाले परमार्थवादी नहीं है । सो उसी तथ्यका इस गाथामें वर्णन है कि पूर्वोक्त परात्मवादी किस कारणसे परमार्थवादी नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—१–पूर्वगाथोक्त ८ प्रकारका परात्मवाद परमार्थवाद नहीं है यह आगमसे सिद्ध है । २–पूर्वगाथोक्त ८ प्रकारका परात्मवाद युक्ति और अनुभवसे अथवा स्वानुभवगर्भित युक्तिसे भी सिद्ध नहीं होता । ३–स्वानुभवगर्भित युक्ति यह है कि—उन कल्पित ८ प्रकारोंसे अन्य चित्स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्व भेदविज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हुआ है । ४–यहाँ आत्मोपलब्धिके अर्थ छह माह तक भी पुरुषार्थ करनेका जो उपदेश किया है उसका कारण यह है कि अनंतानुबन्धी कषाय सम्यक्त्वघातक है और उस कषायका संस्कार छह

कथं चिदन्वयत्वप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

आठों ही कर्मोंको, पुद्गलमय ही जिनेन्द्र बतलाते ।
जिनके कि उदयका फल, सारा दुखरूप कहलाता ॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्व पुद्गलमयं जिना विदंति । यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्त्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः, तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्म-

---

नामसंज्ञ—अट्ठविह, पि, य, कम्म, सव्व, पुग्गलमय, जिण, ज, फल, त, दुक्ख, इति, विपच्चमाण। **धातुसंज्ञ**—विद ज्ञाने, वच्च व्यक्तायां वाचि । **प्रकृतिशब्द**—अष्टविध, अपि, च, कर्मन्, सर्व, पुद्गलमय, जिन, यत्, फल, तत्, दुःख, इति, विपच्यमान । **मूलधातु**—विद ज्ञाने, वच परिभाषणे, डुपचष् पाके। **पदविवरण**—अष्टविधं–द्वि० एक०, अपि–अव्यय, च–अ०, कर्म–द्वि० एक०, सर्व–द्वि० एक०, पुद्गलमयं–

ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे सभी पुद्गलमय हैं, ऐसा सर्वज्ञदेवका वचन है । विपाककी पराकाष्ठा को प्राप्त कर्मका फलरूपसे जो कहा जाता है वह कर्मफल अनाकुलतास्वरूप सुखनामक आत्माके स्वभावसे विलक्षण है, आकुलतामय है, इसलिए दुःख है । उस दुःखमें ही आकुलतास्वरूप अध्यवसान आदिक भाव समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिए वे यद्यपि चैतन्यसे सम्बंध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तो भी वे आत्माके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गलस्वभाव ही हैं ।

भावार्थ—यह आत्मा कर्मका उदय आनेपर दुःखरूप परिणमन करता है और जो दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है, इसलिए दुःखरूप भावमें चेतनके सम्बंध काभ्रम बन जाता है । परमार्थसे दुःखस्वरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है, इस कारण जड़ ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि अध्यवसान आदि भाव सब पुद्गलकर्मनिष्पन्न हैं सो उसपर यह आशंका होती है कि अध्यवसान आदि भावोंका तो चेतन में अन्वय दिखता याने शुभाशुभ भाव, सुख-दुःख भाव आदि चेतनमें ही पाये जाते, फिर इनको पुद्गलस्वभाव क्यों कहा गया है ? इसी प्रश्नका इस गाथामें समाधान किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जिस समय नवीन कर्मवर्गणावोंका बंध होता है उसी समय उन कर्मवर्गणावोंमें प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध व अनुभागबंध चारों बन्ध पड़ जाते हैं । (२) पूर्वबद्ध कर्मका जब अनुभाग उदित होता है तब उसका जो फल है वह दुःखरूप ही है । (३) अध्यवसानादि भाव दुःखरूप कर्मफल ही हैं और कर्म हैं पुद्गलमय, अतः अध्यवसानादि

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वणिणदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

ये अध्यवसानादिक, जीव कहे कहीं ग्रन्थमें वह सब ।
व्यवहारका हि दर्शन, जिनवरका पूर्व वर्णित है ॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः । जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनं । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य

नामसंज्ञ—ववहार, दरीमण, उवएस, वण्णिद, जिणवर, जीव, एत, सव्व, अज्झवसाणादि, भाव। **धातुसंज्ञ**—दरिस दर्शनायां, वण्ण वर्णने । **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, दर्शन, उपदेश, वर्णित, जिनवर, जीव, एतत्, सर्व, अध्यवसानादि, भाव । **मूलधातु**—दृशिर् प्रेक्षणे, वर्ण वर्णने, वर्ण स्तुतौ । **पदविवरण**—व्यव-

---

है । यदि इसीका एकांत किया जाय तब शरीर तथा राग, द्वेष, मोह पुद्गलमय ठहरेंगे, तब पुद्गलके घातसे हिंसा नहीं हो सकती और राग, द्वेष, मोहसे बंध नहीं हो सकता । इस प्रकार परमार्थसे संसार मोक्ष दोनोंका अभाव हो जाएगा । ऐसा एकांतरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है । अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहारका उपदेश न्यायप्राप्त है । इस प्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मेटकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ।

प्रसंगविवरण——अनन्तरपूर्व गाथामें अध्यवसानादिभावोंको पुद्गलस्वभाव बताया गया था । सो उस विषयमें यह आशंका होना प्राकृतिक है कि यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो उन्हें सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जीवरूपसे क्यों बताया गया है, इसी आशङ्काका समाधान इस गाथामें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश——(१) अध्यवसानादिक भाव अभूतार्थ हैं अर्थात् स्वयं सहज भूत (सत्) अर्थ (वस्तु) नहीं है । (२) अभूतार्थ होनेपर भी अध्यवसानादिको जीवरूपसे व्यवहृत करना तीर्थप्रवृत्तिके लिये न्याययुक्त है । (३) व्यवहार न माना जाय तो जीवोंकी हिंसा निःशङ्क होकर की जाने लगेगी, क्योंकि व्यवहार माना नहीं और परमार्थका ही एकान्त किया और परमार्थसे तो जीव शरीरसे भिन्न ही है, फिर शरीरपर शस्त्र चलानेमें क्या बुरा माना जायगा । (४) व्यवहार बिना तो जीवके कर्मबंधके अभावका भी प्रसंग होगा, क्योंकि जीव तो रागद्वेष मोहसे भिन्न है यह परमार्थैकान्त बन गया, फिर रागद्वेषमोहमूलक बन्ध कैसे होगा ?

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्:—

राया हु णिग्गदोत्ति य एसो वलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

बलसमुदयको राजा, इतना विस्तृत चला हुआ कहना।
व्यवहारमात्र चर्चा, निश्चयसे एक वर नृप है ॥४७॥
त्यों ही जहँ जीव कहा, अध्यवसानादि अन्य भावोंको।
व्यवहारमात्र चर्चा, निश्चित वहँ जीव एक हि है ॥४८॥

राजा खलु निगत इति चैप वलसमुदयस्यादेशः। व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोध्यवसानाद्यन्यभावानां। जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः। परमार्थतस्त्वेक एव राजा। तथैष जीवः

नामसंज्ञ—राय, हु, णिग्गद, इत्ति, य, एत, वलसमुदय, आदेस, ववहार, दु, तत्थ, एक, णिग्गद, राय, एमेव, य, ववहार, अज्झवसाणादिअण्णभाव, जीव, कद, सुत्त, तत्थ, एक्क, णिच्छिद, जीव। **धातुसंज्ञ**—आ-दिस प्रेक्षणे, वच्च व्यक्तायां वाचि। **प्रकृतिशब्द**—राजन्, खलु, निर्गत, इति, एतत्, बलसमुदय, आदेश, व्यवहार, तु, तत्र, एक, निर्गत, राजन्, एवं, एव, च, व्यवहार, अध्यवसानाद्यन्यभाव, जीव, इति, कृत, सूत्र, तत्र, एक, निश्चित, जीव। **मूलधातु**—राजृ दीप्तौ, निस्-गम्लृ गतौ, डुकृञ् करणे,

---

प्रवर्तता है, परमार्थसे तो जीव एक ही है, अध्यवसान आदि भाव जीव नहीं हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अध्यवसानादि भावोंको जीव व्यवहारसे कहा गया है। सो अब उसी विषयका स्पष्टीकरण इन दो गाथावोंमें दृष्टान्तपूर्वक किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) सेनासमूह राजासम्बंधित होनेसे और उसमें राजाका सद्भाव होनेसे सेनासमूहमें राजाका व्यपदेश होता है कि राजा पाँच योजनमें फैलकर जा रहा है। (२) सेनासमूहमें राजाका व्यवहार होनेपर भी वास्तवमें तो राजा एक है और अपने ही एक व्यक्तिके प्रमाण हैं। (३) अध्यवसानादि भाव (रागादि भाव) जीवसम्बंधित होनेसे व अध्यवसानादि भावका उस समय जीव आधार होनेसे अध्यवसानादि परभावोंमें जीवका व्यपदेश होता है कि अध्यवसानादि भाव जीव हैं। (४) अध्यवसानादि भावोंमें जीवका व्यवहार होनेपर भी परमार्थसे तो जीव एक ज्ञायकस्वभाव है और वह अपने स्वरूपमात्र है।

यद्येवं तर्हि किंलक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

अरस अरूप अगंधी, अव्यक्त अशब्द चेतनागुणमय ।
चिह्नाग्रहण अरु स्वयं असंस्थान जीवको जानो ॥४६॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं । जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥४६॥

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसम्वेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेनारूपणात्सकल-

नामसंज्ञ—अरस, अरूव, अगंध, अव्वत्त, चेदणागुण, असद्द, अलिंगग्गहण, जीव, अणिद्दिट्ठसंठाण ।

भावसे केवल एक रसवेदना परिणामकी प्रप्ति रूप नहीं है, इस कारण भी अरस है ॥५॥ इसके समस्त ही ज्ञेयोंका ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञेय ज्ञायकके एकरूप होनेका निषेध ही है, इसलिये रसके ज्ञानरूप परिणमनेपर भी आप रसरूप नहीं होता, इस कारण भी अरस है ॥६॥ इस प्रकार छः प्रकारसे रसके निषेधसे जीव अरस है । (इसी तरह अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द——इन चारों विशेषणोंका छह-छह हेतुओं द्वारा निषेध किया है सो इसी उक्त रीतिसे जान लेना, विशेष यह है कि शब्द पर्याय है सो शब्दके साथ पर्याय कहना) ।

अब अनिर्दिष्टसंस्थानको कहते हैं । पुद्गलद्रव्यसे रचे हुए संस्थान (आकार) से ही जीवका संस्थान कहा नहीं जा सकता इस कारण, अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानरूप अनन्त शरीरोंमें बर्तता है इस कारण, संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलद्रव्यमें ही है इस कारण, भिन्न-भिन्न आकाररूप परिणत जो समस्त वस्तु, उनके स्वरूपसे तदाकार हुए अपने स्वभावरूप सम्वेदनकी सामर्थ्य होनेपर भी स्वयं समस्त लोकके संवलनसे शून्य हुई जो अपनी निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति उस अनुभूतिसे किसी भी आकाररूप नहीं है, इस कारण जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है । ऐसे चार हेतुओंसे संस्थानका निषेध कहा । अब अव्यक्त विशेषण को सिद्ध करते हैं——छह द्रव्य स्वरूप लोक है, वह ज्ञेय है, व्यक्त है, ऐसे समस्त ज्ञेयसे

त्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणामनाच्चाशब्दः। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात् प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसम्वेदनशक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थान-

---

गणे। प्रातिपदिक—अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण, अशब्द, अलिंगग्रहण, जीव, अनिर्दिष्टसंस्थान। मूलधातु—रस आस्वादनस्नेहनयोः, रूप रूपक्रियायां, चिती संज्ञाने, शब्द भाषणे, लिगि चित्री-

---

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहकर इसके अनुभवकी प्रेरणा करते हैं। 'सकल' इत्यादि। **अर्थ**—हे भव्य आत्माओ! चिच्छक्तिसे रहित अन्य सकल भावोंको मूलसे शीघ्र छोड़कर और अच्छी प्रकार अपने चिच्छक्तिमात्र भावको अवगाहन करके समस्त पदार्थसमूहरूप लोकके ऊपर प्रवर्त रहे एकमात्र अविनाशी आत्माका आत्मामें ही अभ्यास करो, उसका साक्षात् अनुभव करो। **भावार्थ**—एक चैतन्यशक्तिमात्र आत्मामें ही उपयुक्त होओ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें यह बताते चले आ रहे थे कि अध्यवसानादिक भाव (रागादिक भाव) पुद्गलस्वभाव हैं, ये जीव नहीं हैं। सो यहाँ यह जिज्ञासा होनी प्राकृतिक ही है कि फिर वास्तवमें किस लक्षण वाला जीव है याने जीवका यथार्थस्वरूप क्या है? इसके समाधानमें इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलद्रव्यसे भिन्न होनेके कारण, पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे व पर्यायोंसे भिन्न होनेके कारण, पुद्गल द्रव्येन्द्रियका स्वामी न होनेके कारण, स्वभावतः भावेन्द्रियसे छूना आदि न होनेके कारण, सर्वसंवेदनस्वभाव होनेसे केवल स्पर्शज्ञान आदि किसी ज्ञानपरिणाममय होकर न छूने आदिके कारण, स्पर्श आदिको जानकर भी उससे तन्मय न होनेके कारण जीव स्पर्शादिरहित व शब्दादिरहित है। (२) यद्यपि जीवका संसारदशामें शरीरप्रमाण आकार है, मुक्तदशामें घट-बढ़का कारणभूत कर्म न रहनेसे कुछ न्यून चरमशरीरके प्रमाण आकार है, तथापि जीवका स्वयं सहज निरपेक्ष कोई आकार नहीं है। (३) आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य है वह अनुमानादि प्रमाणसे ग्रहणमें नहीं आता। (४) आत्मा चैतन्यस्वभावमय है।

सिद्धांत—(१) आत्मा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। (२) आत्मा नयप्रमाणातीत निर्विकलपस्वसम्वेदनसे गम्य है। (३) आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण वंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

नहिं वर्ण जीवका है, न गंध न रस न कोई सपरस है।
रूप न देह न कोई, संस्थान न संहनन इसका ॥५०॥

नामसंज्ञ—जीव, ण, अत्थि, वण्ण, ण, वि, गंध, रस, य, फास रूव, सरीर, संठाण, संहणण, जीव, ण, अत्थि, राग, दोस, मोह, णो, पच्चय, कम्म, णोकम्म च, अपि, त, वग्ग, वग्गणा, फड्ढय, अज्झप्प-ट्ठाण, अणुभायठाण, जोयट्ठाण, वंधठाण, उदयट्ठाण, मग्गणट्ठाण, ठिदिबंधट्ठाण, संकिलेसठाण विसोहि-ट्ठाण, संजमलद्धिट्ठाण, जीवट्ठाण, गुणट्ठाण, ज, दु, एत, सव्व, पुग्गलदव्व, परिणाम। धातुसंज्ञ—अस

[कर्म न] कर्म भी नहीं हैं [च नोकर्म अपि] और नोकर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं हैं [जीवस्य] जीवके [वर्गः नास्ति] वर्ग नहीं हैं [वर्गणा न] वर्गणा नहीं हैं [कानिचित् स्पर्धकानि] कोई स्पर्धक भी [न एव] नहीं हैं [जीवस्य] जीवके [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं हैं [वा] अथवा [बंधस्थानानि] वंधस्थान भी [न] नहीं हैं [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [न एव] नहीं हैं [कानिचित् मार्गणास्थानानि] कोई मार्गणास्थान भी [न] नहीं हैं [जीवस्य] जीवके [स्थितिबंधस्थानानि नो] स्थितिवंधस्थान भी नहीं हैं [वा] अथवा [संक्लेशस्थानानि] संक्लेशस्थान भी [न] नहीं हैं [विशुद्धिस्थानानि] विशुद्धिस्थान भी [न एव] नहीं हैं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धिस्थान भी

द्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे-सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे

किम्, नो, अध्यात्मस्थान, न, एव, अनुभागस्थान, जीव, न, किम्, योगस्थान, न, बंधस्थान, वा, न, एव, च, उदयस्थान, न, मार्गणास्थान, किम्, नो, स्थितिबंधस्थान, जीव, न, संक्लेशस्थान, वा, न, एव, विशुद्धिस्थान, नो, संयमलब्धिस्थान, वा, न, एव, जीवस्थान, न, गुणस्थान, च, जीव, यत्, तु, एतत्, सर्व, पुद्गलद्रव्य, परिणाम । **मूलधातु**—वर्ण वर्णने, रस आस्वादनस्नेहनयोः, स्पृश संस्पर्शने, विद सत्तायां दिवादि, बन्ध बन्धने, क्र्यादि, मृग अन्वेषणे, क्लिश उपतापे तुदादि, शुध शौचे दिवादि, सं-यम उपरमे भ्वादि । **पदविवरण**— जीवस्य–षष्ठी एक० । न–अव्यय । अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । वर्णः–प्रथमा एक० । न–अव्यय । अपि–अव्यय । गन्धः–प्रथमा एक० । न–अ० । अपि–

नहीं हैं, क्योंकि०····। ३ । चिकना, रूखा, ठंडा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल और कठोर—ये सब स्पर्श भी जीवके नहीं हैं क्योंकि···। ४ । स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। ५ । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ये जीव के नहीं हैं, क्योंकि०····। ६ । समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक—ये सब संस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। ७ । वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ये भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०···। ८ । प्रीतिरूप राग भी जीवका नहीं है, क्योंकि०···। ९ । अप्रीतिरूप द्वेष भी जीवका नहीं है, क्योंकि०····। १० । यथार्थ तत्त्वकी अप्राप्ति रूप मोह भी जीवका नहीं है, क्योंकि०····। ११ । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगस्वरूप प्रत्यय (आस्रव) भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। १२ । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तरायस्वरूप कर्म भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। १३ । छह पर्याप्तियोंसहित शरीर-योग्य वस्तुरूप (पुद्गलस्कंध) नोकर्म भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। १४ । कर्मके रसकी शक्ति

यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्न-

---

नो, अध्यात्मस्थानानि–प्रथमा बहु० । न, एव, च, अनुभागस्थानानि–प्र० बहु । जीवस्य–षष्ठी एक० । न, सन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । कानिचित्, योगस्थानानि–प्रथमा बहु० । न, बन्धस्थानानि–प्रथमा बहु० । वा–अव्यय । न, एव, च, उदयस्थानानि–प्रथमा बहु० । न, मार्गणास्थानानि–प्रथमा बहु० ।

ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका स्वरूप है, ऐसे मार्गणास्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि···। २३ । भिन्न-भिन्न विशेषोंको लिये प्रकृतियोंका कालान्तरमें साथ रहना जिनका लक्षण है, ऐसे स्थितिबंधके स्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। २४ । कषायके विपाककी उत्कृष्टता जिनका लक्षण है, ऐसे संक्लेशस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि····। २५ । कषायके विपाककी मंदता जिनका लक्षण है, ऐसे विशुद्धिस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०···। २६ । चारित्रमोहके उदयकी क्रमसे निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे संयमलब्धिस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। २७ । पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी, पञ्चेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जीवस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। २८ । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है, ऐसे सब गुणस्थान भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····। २९ । इस प्रकार ये सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाममय भाव हैं वे सब जीवके नहीं हैं । जीव तो परमार्थसे चैतन्यशक्तिमात्र है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**'वर्णाद्या'** इत्यादि । **अर्थ**—वर्णादिक अथवा रागमोहादिक उक्त सभी भाव इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं, इसी कारण अन्तः परमार्थतः देखने वालेको ये सब नहीं दीखते केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेद आत्मा ही दीखता है । **भावार्थ**—परमार्थनय अभेदरूप है, इसलिये उस दृष्टिसे देखनेपर भेद नहीं दीखता, उस नयकी दृष्टिमें चैतन्यमात्र पुरुष (आत्मा) ही दीखता है, इस कारण वे वर्णादिक तथा

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तंत्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

भाव व्यवहारसे ये, वर्णादिक गुणस्थान तक सारे।
बतलाये किन्तु निश्चय-नयसे नहिं जीव के कोई ॥५६॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः। गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥५६॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमालंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः पर-

---

नामसंज्ञ—ववहार, दु, एत, जीव, वण्णमादीय, गुणठाणंत, भाव, ण, दु, केई, णिच्छयणय। **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, ने प्रापणे। **प्रकृतिशब्द**—व्यवहार, तु, एतत्, जीव, वर्णाद्य, गुणस्थानान्त, भाव, न, तु, किं, निश्चयनय। **मूलधातु**—वि-अव हृञ हरणे भ्वादि, भू सत्तायां, णीञ् प्रापणे। **पदविवरण**—व्यवहा-

---

स्वभावकी दृष्टि व उमंग होनेकी घटनामें विकार पुद्गलस्वामिक विदित होते हैं।

दृष्टि—१— परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २— उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार (१०३ अ)। ३— विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८)।

प्रयोग—निमित्त व नैमित्तिक अन्य भावोंसे हटकर शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय अन्तस्तत्त्व में निःशङ्क आराम लेना चाहिये ॥ ५०-५१-५२-५३-५४-५५ ॥

अब शिष्य पूछता है कि वर्णादिक भाव जो कहे गये हैं वे यदि जीवके नहीं है तो अन्य सिद्धान्त ग्रन्थोंमें 'ये जीवके हैं' ऐसा क्यों कहा गया? उसका उत्तर गाथामें कहते हैं—

[**एते**] ये [**वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः**] वर्ण आदि गुणस्थानपर्यन्त भाव [**व्यवहारेण तु**] व्यवहारनयसे तो [**जीवस्य भवंति**] जीवके होते हैं, इसलिये सूत्रमें कहे हैं, [**तु**] परंतु [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयके मतसे [**केचित् न**] उनमें से कोई भी भाव जीवके नही है।

तात्पर्य—वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त भाव निश्चयनयसे जीवके नहीं, ये व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं।

टीकार्थ—यहाँपर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होनेसे पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे प्रसिद्ध जिसकी बंधपर्याय है ऐसे जीवके 'कुसुम्भके लाल रंगसे रंगे हुए रुईके वस्त्रकी भांति' औपाधिक वर्णादिभावोंको आलम्बन कर प्रवृत्त होता है, इसलिये वह व्यवहारनय दूसरेके भावोंको दूसरोंका कहता है। किंतु निश्चयनय द्रव्यके आश्रय होनेसे केवल एक जीवके स्वाभाविक भावको अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावोंको परके कहता है, निषेध करता है, इसलिये वर्ण आदि गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहारनयसे जीवके हैं, निश्चयनयसे नहीं हैं,

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

क्षीरनीरवत् जानो, व्यवहृत सम्बन्ध बाह्य भावोंसे ।
किन्तु नहिं जीवके वे, यह तो उपयोगमय न्यारा ॥५७॥

एतैश्च सम्वंधो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः । न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥५७॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्या·

नामसंज्ञ—एत, य, संवंध, जह, एव, खीरोदय, व, य, त, त, दु, उवओगगुणाधिग, ज । **धातुसंज्ञ**—सम्-बंध बंधने, मुण ज्ञाने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—एतत्, च, सम्वंध, यथा, एव, क्षीरोदक, ज्ञातव्य,

---

साथ सम्बन्ध न होनेसे निश्चयसे दूधका जल नहीं है । उसी प्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामोंसे मिला हुआ आत्मा पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होनेपर भी अपने लक्षणस्वरूप उपयोग गुणसे व्याप्त होनेके कारण सब द्रव्योंसे भिन्न प्रतीत होता है, इस कारण जैसे अग्निका और उष्णता गुणके साथ तादात्म्य स्वरूप संम्बन्ध है, उस प्रकार आत्माका वर्णादिकोंके साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं है । इसलिये निश्चयनयसे ये वर्णादिक पुद्गलपरिणाम हैं, जीवके नहीं हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि वर्ण आदिकसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं, सो अब उसी विषयमें जिज्ञासा हुई है कि वर्णादिक भाव निश्चयनयसे जीवके क्यों नहीं हैं, इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें दिया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–दूध और जलका मोटे रूपसे परस्पर अवगाह तो है, किन्तु संबन्ध संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं । २–अग्नि और उष्ण गुणका सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है । ३–संयोगसंबंधमें सम्बन्धी पदार्थ भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं । ४–वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन आदि जिनका उपादान पुद्गल है उनका व जीवका वर्तमान संबंध परस्पर अवगाह होने पर भी मात्र संयोग संबंध है ५–भिन्नताका परिचय असाधारण गुणसे होता है । ६–गुणस्थान, संयमस्थान, अध्यवसान आदि जिनका उपादान जीव है उन भावोंका जीव के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध तो है, किन्तु नैमित्तिक (पौद्गलिक) होनेसे, तुरन्त हट

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५६॥
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥ (त्रिकलम्)

पथमें लुटते पथिकों-को देख कहें लोग लोकव्यवहारी ।
यह पथ लुटता निश्चय-से न कोइ मार्ग लुटता है ॥५८॥
कर्म नोकर्म वर्णो—को जीवैकक्षेत्रावगाही लखि ।
यह वर्ण जीवका है, ऐसा व्यवहारसे हि कहा ॥५६॥
रूप रस गंध व फरस, शरीर संस्थान आदि इन सबको ।
निश्चयस्वरूपदर्शी, कहते व्यवहारचर्चा यह ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः । मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं । जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥५६॥
गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानं आदयः ये च । सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥६०॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत । तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण

नामसंज्ञ—पंथ, मुस्संत, लोग, ववहारि, एत, पंथ, ण, य, पंथ, कोई, तह, जीव, कम्म, णोकम्म, च, वण्ण, जीव, एत, वण्ण, जिण, ववहारदो, उत्त, गंधरसफासरूव, देह, संठाणमाइय, ज, य, सव्व, ववहार, य, णिच्छयदण्हु । **धातुसंज्ञ**—पास दर्शने, भण कथने, मुस चौर्ये स्पर्शे, वच्च व्यक्तायां वाचि ।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि व्यवहारनय फिर अविरोधक कैसे रहा ? उसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओंमें कहते हैं—[**पथि मुष्यमाणं**] जैसे मार्गमें स्थित हुएको लुटा हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर [**व्यवहारिणः**] व्यवहारी [**लोकाः**] जन [**भणंति**] कहते हैं कि [**एष पंथा**] यह मार्ग [**मुष्यते**] लुटता है, वहाँ परमार्थसे विचारा जाय तो [**कश्चित् पंथाः**] कोई मार्ग [**न च मुष्यते**] नहीं लुटता, पहुंचे हुए लोक ही लुटते हैं [**तथा**] उसी तरह [**जीवे**] जीवमें [**कर्मणां नोकर्मणां च**] कर्मोंका और नोकर्मोंका [**वर्णं**] वर्ण [**दृष्ट्वा**] देखकर

मोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यव-

बहुवचन, व्यवहारिण:–प्रथमा बहु० कर्तृ विशेषण, मुच्यते–कर्मवाच्य क्रिया वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०, कश्चित्–अव्यय अन्त: प्रथमा एक०, तथा–अव्यय, जीवे–सप्तमी एक०, कर्मणां–षष्ठी एक०, नोकर्मणां–षष्ठी एक०, वर्ण–द्वि० ए०, जीवस्य–षष्ठी एकवचन, एष:–प्रथमा एक०, जिनै:–तृतीया बहुवचन, व्यव-

वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना। क्योंकि जब एक द्रव्यको उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायोंसे अभेदरूप असाधारण गुणमात्रको प्रधानरूपसे कहा जाय, तब परस्पर द्रव्योंका निमित्तनैमित्तिक भाव तथा निमित्तसे हुए पर्याय ये सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्यकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते। इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं, इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। जब यह देखा जाय कि ये उस द्रव्यमें हैं तो व्यवहारनयसे यह जान सकते हैं, ऐसा नयविभाग है। यहाँ शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिसे कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि ये सब भाव सिद्धान्तमें व्यवहारनयसे जीवके कहे हैं। यदि निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टिसे देखा जाय तो वह व्यवहार कदाचित् सत्यार्थ कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहें तो सब व्यवहारका लोप हो जायगा, और ऐसा होनेसे परमार्थका भी लोप हो जायगा। इसलिये जिनेन्द्रदेवका उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकांत करना मिथ्यात्व है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व प्रकरणमें यह बताते चले आ रहे हैं कि सिद्धान्तमें व्यवहारनयसे तो वर्णादिक जीवके कहे गये हैं, किन्तु निश्चयसे जीवके नहीं हैं। सो यहाँ यह जिज्ञासा हुई कि फिर व्यवहार निश्चयका अविरोधक कैसे रहा? इसके उत्तरमें ये तीन गाथायें कही गई हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) एक द्रव्यके द्रव्य गुण पर्यायमें दूसरे द्रव्यके द्रव्य गुण पर्यायका आरोप किसी न किसी सम्बन्धके होनेके कारण हुआ करता है। (२) व्यवहारत: निर्णय यह है कि मार्गमें जाने ठहरने वाला धनिक मुसाफिर लुटेरों द्वारा लूट लिया जाता है सो उस मार्गमें ही न जाया जावे इस शिक्षाको देनेके लिये यों ही कहा जाता है कि यह मार्ग लुटता है या यह मार्ग लूट लेता है। (३) निश्चयत: निर्णय यह है कि मार्ग तो उस जगहके आकाशप्रदेश हैं, क्या वह आकाशका हिस्सा (मार्ग) लुटता है या लूटता है? न लुट सकता है, न लूट सकता है। (४) व्यवहारत: निर्णय यह है कि जीवके साथ बन्धपर्यायसे अवस्थित कर्म नोकर्मके वर्णको देखते हैं सो तीर्थप्रवृत्तिके लिये दृश्यमान नर, पशु आदिको जीव बताया जाता है जिससे यह प्रसिद्ध होता है कि वर्णादिक जीवके हैं। (५) निश्चयत: निर्णय यह है

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत्—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

संसारी जीवोंके, भवमें ही वर्ण आदि व्यवहृत हैं।
संसारप्रमुक्तोंके, नहिं वे वर्णादि होते हैं ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः। संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति यदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। ततः सर्वाष्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य

नामसंज्ञ—तत्थ, भव, जीव, संसारत्थ, वण्णादि, संसारपमुक्क, ण, हु, वण्णादि केई। **धातुसंज्ञ**—सम्-सर गतौ, ट्ठा गतिनिवृत्तौ, हो सत्तायां, प-मुंच त्यागे, अस सत्तायां। **प्रातिपदिक**—तत्र, भव, जीव, संसारस्थ, वर्णादि, संसारप्रमुक्त, न, खलु, वर्णादि, केचित्। **मूलधातु**—भू सत्तायां, जीव प्राणधारणे, मुच

के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। सो वर्णादिक तो पुद्गलकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त है और वर्णादिकका पुद्गलके साथ तादात्म्य है और जीवकी संसार-अवस्थामें तो वर्णादिक किसी तरह कह सकते हैं, परन्तु मोक्ष अवस्थामें सर्वथा ही नहीं। इसलिए जीवका वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा न्याय प्राप्त है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व कथनमें बताया था कि वर्णादिक जीवके नहीं है, क्योंकि वर्णादिकके साथ जीवका तादात्म्य नहीं है। सो अब यहाँ प्रश्न होता है कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य संबंध किस कारणसे नहीं है उसके उत्तरमें यह गाथा कही है।

तथ्यप्रकाश—१–किसी भी एक पदार्थका तादात्म्य उसके साथ है जो उस पदार्थकी सब अवस्थाओंमें रहे ही रहे। २—वर्णादिक पुद्गलमें सदा रहते ही हैं अतः वर्णादिक पुद्गलके हैं। ३—रागादिक पुद्गलकर्मके विपाकका निमित्त होनेपर ही होता है, पुद्गलविपाकका निमित्त हुए बिना नहीं होता, तथा रागादिक कर्मविपाकका ही प्रतिफलन है अतः रागादिक भी पौद्गलिक हैं। ४—यद्यपि संसारी जीवके साथ वर्णादिकका (पुद्गलका) संयोग सम्बंध है तो भी संसारसे मुक्त हुए जीवोंमें तो वर्णादिकके संयोगसंबंधका भी अवकाश नहीं, अतः वस्तुतः जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य संबंध नहीं।

सिद्धान्त—(१) त्रिकाल तादात्म्य वाले गुणसे ही वस्तुका सही परिचय होता है। (२) नैमित्तिकभावसे उपादानभूत द्रव्य अवस्थामें मलिन हो जाता है तथापि नैमित्तिकभावके साथ उपादानद्रव्यका तादाम्य नहीं है, उसका तो अधिकारी नियंता उपाधिभूत अन्य द्रव्य है।

दृष्टि—(१) अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय व सभेद परमशुद्धनिश्चयनय (४४–४५)।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मएणसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

यदि ऐसा मानोगे, ये सब वर्णादि जीव होते हैं।
तो फिर अन्तर न रहा, जीव अरु अजीव द्रव्योंमें ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि। जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति। तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति

नामसंज्ञ—जीव, च, एव, हि, एत, सव्व, भाव, इत्ति, जदि, हि, जीव अजीव, य, ण, विसेस, दु, कोई। **धातुसंज्ञ**—मन्न अवगमने, अस सत्तायां। **प्रातिपदिक**—जीव, च, एव, हि, एतत्, सर्व, भाव, इति, यदि, हि, जीव, अजीव, च, न, विशेष, तु, तत्, कश्चित्। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, मन ज्ञाने, शिष असर्वोपयोगे। **पदविवरण**—जीवः–प्रथमा एक०। च–अव्यय। एव–अव्यय। हि–अव्यय। एते–प्रथमा बहु०। सर्वे–प्रथमा बहु०। भावाः–प्रथमा बहु०। इति–अव्यय। मन्यसे–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक०।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य संबंध किस कारणसे नहीं है, उस कारणके सुननेके बाद भी यदि कोई जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्धका ही दुराग्रह करे तो क्या दोष होता है उस दोष, आपत्ति, विडम्बनाका इस गाथामें कथन किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) वर्णादिक भाव निरन्तर नवीन नवीन पर्यायोंसे जिस द्रव्यमें अन्वयरूपसे संतानरूपसे होते ही रहे उसके साथ वर्णादिकका तादात्म्य है वह है पुद्गलद्रव्य। (२) यदि वर्णादिक भावोंको उक्त प्रकारसे जीवमें अन्वित मान लिये जावें तो वह जीव नहीं रहा पुद्गल ही रहा, क्योंकि वर्णादिकसे व्याप्त पुद्गल ही होता। (३) जीव तो विशुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र है उसका प्रतिषेध किया ही नहीं जा सकता, इस कारण जीवको वर्णादिव्याप्त माननेका दुराग्रह करनेमें विडम्बना व दोष होता है।

सिद्धान्त—(१) जो भाव अपनी निरन्तर व्यक्तियोंसे (पर्यायोंसे) सदा जिसमें अन्वित रहता है उस भावकी उस द्रव्यमें तन्मयता है। (२) एक द्रव्यके लक्षणको अन्य द्रव्यमें स्वीकार करनेपर दोनों ही द्रव्योंका अभाव हो जाता है, किन्तु संयोग सम्बन्ध दिखानेको उपचारसे कह दिया जाता है।

दृष्टि— १– परमशुद्ध निश्चयनय (४४–४५)। २– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिगुणोपचारक व्यवहार (१११)।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोषः—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥ (युगलं)

यदि भवस्थ जीवोंके, होते वर्णादि भाव मानोगे ।
तो भवस्थ जीवोंके, रूपिपना प्राप्त हो जावेगा ॥६३॥
ऐसे इस लक्षणसे, पुद्गलद्रव्य ही जीव हो जाता ।
मोक्ष पाकर भि पुद्गल-के जीवपना प्रसक्त हुआ ॥६४॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः । तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥ एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते । निर्वाणमुपगतोपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद् द्रव्यस्य लक्षणमस्ति । ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति । रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव

नामसंज्ञ—अह, संसारत्थ, जीव, तुम्ह, वण्णादि, त, संसारत्थ, जीव, रूवित्त, आवण्ण, एवं, पुग्गलदव्व, जीव, तहलक्खण, मूढमदि, णिव्वाण, उपगद, वि, य, जीवत्त, पुग्गल, पत्त । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, जीव प्राणधारणे । **प्रातिपदिक**—अथ, संसारस्थ, जीव, युष्मद्, वर्णादि, तत्, संसारस्थ, जीव, रूपित्व, आपन्न, एवं, पुद्गलद्रव्यं, जीव, तथालक्षण, मूढमति, निर्वाण, उपगत, अपि, च, जीवत्व, पुद्गल, प्राप्त । **मूलधातु**—ष्ठा गतिनिवृत्तौ, जीव प्राणधारणे, लक्ष दर्शनाङ्कनयोः, लक्ष आलोचने, प्र-आप्लृ व्याप्तौ ।

भावार्थ—जो कोई वर्णादि भावोंसे जीवकी संसार अवस्थामें भी तादात्म्य सम्बन्ध मानता है, उसके मतमें भी जीवका अभाव ही प्रसक्त होता है, क्योंकि वर्णादिक तो मूर्तिमान द्रव्यके लक्षण हैं, ऐसा मूर्तिमान तो पुद्गलद्रव्य ही है, यदि वर्णादिक रूप जीव माना जाय, तब जीव भी पुद्गल ही ठहरेगा और जब जीव मुक्त होगा, तब वहाँ भी पुद्गल ही ठहरेगा, तब पुद्गलसे भिन्न तो जीव सिद्ध नहीं होगा । इस प्रकार जीवका अभाव बन बैठेगा । इसलिये वर्णादिक जीवके नहीं हैं, ऐसा ही निश्चय करना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा था कि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माननेका दुराग्रह करनेपर जीव व पुद्गल दोनों द्रव्योंका अभाव हो जायगा । इस चर्चापर यदि कोई यह माने कि जीवका संसार-अवस्थामें ही वर्णादिके साथ तादात्म्य है तो ऐसा माननेपर क्या दोष आता है उस दोषका इन दो गाथाओंमें वर्णन किया गया है ।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥ (युग्मम्)

एक दो तीन चौ पं-चेन्द्रिय वादर व सूक्ष्म पर्याप्ती ।
अन्य अपर्याप्तादिक, हैं ये नामकर्मकी प्रकृति ॥६५॥
पौद्गल कर्मप्रकृतिसे, जीवस्थानादि ये रचित होते ।
फिर इन पौद्गलभावों-को कैसे जीव कह सकते ॥६६॥

एकं च द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः । वादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः । प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ।

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् । तथा जीवस्थानानि वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीराकारादिमूर्त्तकार्यानुमेयं च ।

नामसंज्ञ—एक्क, च, दु, ति, य, चउ, पंच, इंदिय, जीव, वादरपज्जत्तिदर, पयडि, णामकम्म, एत, य, णिव्वत्त, जीवट्ठाण, करणभूदा, पयडि, पुग्गलमई, ता, कथं, जीव। **धातुसंज्ञ**—पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे, भण कथने। **प्रातिपदिक**—एक, च, द्वि, त्रि, च, चतुर् च, पंचन्, इन्द्रिय, जीव, वादरपर्याप्तेतर, प्रकृति, नामकर्मन्, एतत्, निर्वृत्त जीवस्थान, करणभूत, प्रकृति, पुद्गलमयी, तत्, कथं, जीव।

करणस्वरूप होकर [**जीवस्थानानि**] जीवसमास [**निर्वृत्तानि**] रचे गये हैं [**ताभिः**] उन [**पुद्गलमयीभिः**] पुद्गलमय [**प्रकृतिभिः**] प्रकृतियोंसे रचे हुएको [**जीवः**] जीव [**कथं**] कैसे [**भण्यते**] कहा जा सकता है ।

तात्पर्य—एकेन्द्रियादिक वादरादिक प्रकृतियोंसे रचे हुए जीवस्थानोंको निश्चयतः जीव कहा नहीं जा सकता ।

टीकार्थ—निश्चयनयसे कर्म और करणमें अभेदभाव होनेसे जो जिससे किया जाय वह वही है, ऐसा होनेपर जैसे सुवर्णका पत्र सुवर्णसे किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं उसी प्रकार जीवस्थान वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामकी पुद्गलमयी नामकर्मकी प्रकृतियोंसे किये गये होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं तथा नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलमयता आगममें प्रसिद्ध है और जो प्रत्यक्ष देखनेमें

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोन्यः ।।३९।। ।।६५-६६।।

करणभूताभिः–तृतीया वहु० । प्रकृतिभिः–तृतीया वहु० । पुद्गलमयीभिः–तृतीया वहु० । ताभिः–प्रथमा वहु० । कथं–अव्यय । भण्यते–भावकर्मप्रक्रिया कर्मवाच्य वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवः–प्रथमा एकवचन ।। ६५-६६ ।।

प्रकृतियोंका कार्य शरीराकार आदि मूर्त हैं इससे जान जाता है कि नामकर्मप्रकृतियां भी मूर्त हैं, अचेतन हैं । (६) चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं, विभाव हैं वे सव औपाधिक हैं, पौद्गलिक हैं । (७) वस्तुतः वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं ।

सिद्धान्त—(१) निश्चयसे कर्ता कर्म करण आदि कारक एक ही द्रव्यके होते हैं उन्हें भेद करके समझाया जाता है । (२) पुद्गलकर्मका कार्य सव पौद्गलिक है ।

दृष्टि— १— कारकारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) । २— अशुद्ध निश्चयनय (४७—४७अ) ।

प्रयोग—अपनेको पञ्चेन्द्रियादि किसी भी पर्यायमात्र अनुभव नहीं करके इन समस्त द्रव्यभावपर्यायोंसे पृथक् चैतन्यमात्र अनुभव करनेका भावपौरुप करना ।।६५-६६।।

अव कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्माके अतिरिक्त अन्य भावोंको जीव कहना सो सव ही व्यवहारमात्र है—[ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ताः] पर्याप्त, अपर्याप्त [सूक्ष्माः च वादरा] सूक्ष्म, वादर [ये च एव] आदि जो [देहस्य] देहकी [जीवसंज्ञाः] जीवसंज्ञाएँ कहीं हैं वे सभी [सूत्रे] सूत्रमें [व्यवहारतः] व्यवहारनयसे [उक्ताः] कही गई हैं ।

तात्पर्य—पर्याप्त, अपर्याप्त, वादर, सूक्ष्म आदि देहकी जीवसंज्ञायें व्यवहारनयसे कही गई हैं ।

टीकार्थ—वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीरकी संज्ञावोंको सूत्रमें जीवसंज्ञा द्वारा जो कहा है वह परकी प्रसिद्धिसे घृतके घड़ेकी तरह व्यवहार है । यह व्यवहार ईषत् प्रयोजनके लिये ही है । उसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं—जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्मसे लेकर घीका ही घड़ा देखा था, घृतसे खाली भिन्न घट नहीं देखा, उसको समझानेके लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृतका घट है, वह मिट्टीमय है, घृतमय नहीं है, ऐसे उस पुरुषके घटकी प्रसिद्धिसे समझाने वाला भी घृतका घट कहता है, ऐसा व्यवहार है । उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणीके अनादि संसारसे लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीवको नहीं जानता, उसको शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिए ऐसा सूत्रमें कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादि-

तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमयः इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ॥६७॥

यत्, च, एव, देह, जीवसंज्ञा, सूत्र, व्यवहारतः, उक्त। **मूलधातु**—परि-आप्लृ व्याप्तौ, दिह उपचये, सूत्र वेष्टने, वि-अव हृञ् हरणे, वच परिभाषणे। **पदविवरण**—पर्याप्तापर्याप्ताः–प्रथमा बहु०। ये–प्रथमा बहु०। सूक्ष्माः–प्रथमा बहु०। च–अव्यय। ये–प्रथमा बहु०। च–अव्यय। एव–अव्यय। देहस्य–षष्ठी एक०। जीवसंज्ञाः–प्रथमा बहु०। सूत्रे–सप्तमी एक०। उक्ताः–प्रथमा बहुवचन कृदन्त ॥६७॥

बच जावें (२) बादर आदिको जीव कहनेका द्वितीय प्रयोजन यह है कि साधारण जनोंको यथार्थ जीव समझाते समय पहिले तो इन्हें जीव कहकर बताना ही पड़ेगा कि ये वस्तुतः जीव नहीं हैं। (३) वर्णादिक भाव पुद्गलाश्रित होनेसे ये कोइ भी भाव जीव नहीं हैं।

सिद्धान्त––(१) देहोंकी जीवसंज्ञा उपचारसे है। (२) जीव तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है उसके वर्णादिक नहीं होते, वर्णादिक पौद्गलिक है।

दृष्टि–– १– संश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२५)। २– विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८)।

प्रयोग––वस्तुतः आत्माको देहसे अत्यन्त पृथक् जानकर चैतन्यस्वभावमात्र अन्तस्तत्व में ज्ञातृत्वमय परमविश्राम करनेका पौरुष करना ॥६७॥

अब कहते हैं कि जैसे वर्णादिकभाव जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिक भाव भी जीव नहीं हैं––**[यानि इमानि]** जो ये **[गुणस्थानानि]** गुणस्थान हैं वे **[मोहनकर्मणः उदयात् तु]** मोहकर्मके उदयसे होते हैं ऐसे **[वर्णितानि]** सर्वज्ञके आगममें वर्णन किये गये हैं **[तानि]** वे **[जीवाः]** जीव **[कथं]** कैसे **[भवन्ति]** हो सकते हैं **[यानि]** जो कि **[नित्यं]** हमेशा **[अचेतनानि]** अचेतन **[उक्तानि]** कहे गये हैं।

तात्पर्य––उपयोगमें प्रतिफलित ये विकार मोहकर्मके विपाक हैं, अचेतन हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं।

टीकार्थ––मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पुद्गलरूप मोहकर्मकी प्रकृतिके उदयपूर्वक होनेसे नित्य ही अचेतन हैं, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसीके अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्यायसे वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। यहाँ गुणस्थानों की नित्य अचेतनता आगमसे सिद्ध है और चैतन्यस्वभावसे व्याप्त आत्मासे भिन्नपनेसे वे गुणस्थानादि भेदज्ञानी पुरुषोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इस हेतुसे सिद्ध करना। अर्थात् चैतन्यमात्र आत्माके अनुभवसे ये बाह्य हैं, इसलिये अचेतन ही हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह,

स्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धं । तर्हि को जीव इति चेत् । अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं । जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥ वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो । नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः । इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा । व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं

यत्, इदम्, गुणस्थान, तत्, कथं, जीव, यत्, नित्यं, अचेतन, उक्त । **मूलधातु**—मुह वैचित्ये, वर्ण वर्णने, भू सत्तायां, अचिती संज्ञाने । **पदविवरण**—षष्ठी एकवचन । उदयात्—पंचमी एक० । तु—अव्यय । वर्णितानि—

सहित है, इसलिये अमूर्तिकपनेको ग्रहण करके लोक जीवके यथार्थस्वरूपको नहीं देख सकते, क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है । वर्णादिकसे रागादिका भी ग्रहण होता, सो यदि रागादिकको जीवका लक्षण कहा जाय तो उनकी व्याप्ति पुद्गलसे ही है, जीवकी सब अवस्थाओंमें रागादिककी व्याप्ति नहीं, इसलिये अव्याप्ति दोष आता है । इस प्रकार भेदज्ञानी पुरुषोंने परीक्षा कर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोषसे रहित चेतनपना ही जीवका लक्षण कहा है वही ठीक है । उसीने जीवका यथार्थस्वरूप प्रकट किया है । और वह जीव कभी चलाचल नहीं हैं, सदा मौजूद है । इसलिये जगत् इसी लक्षणको अवलम्बन करे, इसीसे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है ।

ऐसे लक्षणसे जीव तो प्रकट है तो भी अज्ञानी लोकोंको इसका अज्ञान किस तरह रहता है ? उसको आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित कहते हैं—**जीवाद** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षणके कारण जीवसे अजीव भिन्न है । ज्ञानी जन उसे अपने आप प्रकट उदय हुआ अनुभव करते हैं तो भी अज्ञानी जनोंके यह अमर्यादित मोह (अज्ञान) प्रकट फैलता हुआ कैसे अत्यन्त नृत्य करता है ? इसका हमको बड़ा अचम्भा है तथा खेद है ।

अब काव्य द्वारा कहते हैं कि मोह नृत्य करता है तो करे तो भी यह जीव ऐसा है— **अस्मिन्** इत्यादि । **अर्थ**—इस अनादिकालीन बड़े अविवेकरूप नृत्यमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य कोई नहीं है (अविवेकनाटचमें पुद्गल ही अनेक प्रकार दीखता है, जीव तो अनेक प्रकार नहीं है) और यह जीव, रागादिक पुद्गल विकारोंसे विलक्षण शुद्ध चैतन्यत्वायुमय मूर्ति है ।

भावार्थ—रागादि चैतन्यविकारको देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि यदि ये चैतन्यकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहें, तब तो ये चैतन्यके कहे जायेंगे, सो ऐसा नहीं है, मोक्षअवस्थामें इनका अभाव है । तथा इनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है । चैतन्यका अनुभव निराकुल है, सो चैतन्य ही जीवका स्वभाव जानना ।

जीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः । विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।।४५।। इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ।।६८।।

।। इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ।।१।।

बहु० । नित्यं–अव्यय प्रथमा एक० । अचेतनानि–प्रथमा बहु० । उक्तानि–प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया ।।६८।।

---

(३) कार्य सब कारणके अनुसार होते हैं, सो पुद्‌गलकर्मविपाकके ये प्रतिफलनस्वरूप गुणस्थान भी पुद्‌गल अथवा पौद्‌गलिक हैं । (४) चेतन वही है जो चेतनागुण व मात्र चेतनागुणकी परिणति हो, सो चैतन्यस्वभावसे व्याप्त आत्मासे अन्य हैं ये गुणस्थान, राग, विशुद्धिस्थान, संयमस्थान आदि, अतः ये सब अचेतन हैं । (५) परमार्थतः जीव अचल सनातन स्वसंवेद्य चैतन्यस्वरूप ही है, क्योंकि जो जीवमें निरन्तर एकरूप हो वही जीवस्वरूप है । (६) परमार्थ अखण्ड अचल जीवस्वरूपको दृष्टिमें यह सारा जगजाल ऐसा लगता है कि यह सारा नाच पुद्‌गल ही कर रहा है । (७) परमार्थ जीव व शेष अजीव भली-भाँति पृथक्-पृथक् ज्ञात होते ही यह ज्ञाता भगवान आत्मा चैतन्यमात्र शक्तिसे स्पष्ट प्रकाशमान होता है ।

सिद्धान्त—(१) पुद्‌गलकर्मोदयादिके निमित्तसे होने वाले विकार पौद्‌गलिक हैं, आत्मा तो केवल चैतन्यचमत्कारमात्र है । (२) आत्मा शाश्वत चैतन्यस्वभावसे व्याप्त है, अतः आत्मा चेतन है ।

दृष्टि—१– विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय (४८), २– परमशुद्धनिश्चयनय (४४-४५) ।

प्रयोग—अपने परमार्थ सहज चैतन्यस्वरूपको निरखते हुए उपयोगको अन्तः विकारसे परभावोंसे बिल्कुल हटाकर चैतन्यस्वरूपमें लीन होनेका पौरुष करना ।।६८।।

।। इति जीवाजीवाधिकार समाप्तः ।।

सिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्त्तते । तत्र वर्त्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति । तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञान-

वर्तने, सम्-चय पतनचयनयोः, हो सत्तायां, भण कथने, दरस दर्शनायां। प्रातिपदिक—यावत्, पि, विशेषान्तर, तु, आत्मास्रव, द्वि, अपि अज्ञानिन्, तावत्, तत्, क्रोधादि, जीव, क्रोधादि, वर्तमान, तत्, कर्मन्,

शित करनेका जिसका स्वभाव है, इसी कारण समस्त लोकालोकको साक्षात् करता है।

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्य तथा परभावोंके कर्ताकर्मपनेके अज्ञानको दूर कर स्वयं प्रकट प्रकाशमान होता है।

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक आस्रव और आत्माके भेदको नहीं जानता तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवोंमें लीन होकर कर्मोंका बंध करता है—[**जीवः**] यह जीव [**यावत्**] जब तक [**आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु**] आत्मा और आस्रव इन दोनोंके [**विशेषांतरं**] भिन्न-भिन्न लक्षणको [**न वेत्ति**] नहीं जानता (**तावत्**) तब तक (**स अज्ञानी**) वह अज्ञानी हुआ (**क्रोधादिषु**) क्रोधादिक आस्रवोंमें (**वर्तते**) प्रवर्तता है। (**क्रोधादिषु**) क्रोधादिकोंमें (**वर्तमानस्य तस्य**) वर्तते हुए उसके (**कर्मणः**) कर्मोंका (**संचयः भवति**) संचय होता है। (**खलु**) निश्चयतः (**एवं**) इस प्रकार (**जीवस्य**) जीवके (**बंधः**) कर्मोंका बंध (**सर्वदर्शिभिः**) सर्वज्ञदेवोंने (**भणितः**) कहा है।

तात्पर्य—स्वभाव व विभावमें भेदज्ञान न होनेके कारण अज्ञानी जीव विभावमें निःशंक प्रवर्तता है, अतएव उसके कर्मोंका विकट बन्ध होता रहता है।

टीकार्थ—जैसे यह आत्मा तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं देखता हुआ ज्ञानमें निःशंक होकर आत्मरूपसे प्रवृत्त होता है। वहाँ प्रवर्तन करने वालेके ज्ञानक्रियारूप प्रवृत्ति स्वभावभूत है, अतः उसका निषेध नही है। इसलिये उस ज्ञानक्रियासे जानता है। अर्थात् जाननमात्र रूपसे परिणमन करता है, उसी प्रकार संयोगसिद्धसम्बन्धरूप आत्मा और क्रोधादिक आस्रवमें भी अपने अज्ञानसे विशेष भेद न जानता हुआ जब तक उनके भेदको नहीं देखता तब तक निःशंक होकर क्रोधादिमें आत्मरूपसे प्रवृत्ति करता है। वहाँ प्रवृत्ति करते हुए उसके जो क्रोधादि क्रिया है वह परभावसे हुई है, इसलिये वे क्रोधादि प्रतिषेधरूप हैं तो भी उनमें स्वभावका अध्यास होनेके कारण आप क्रोध, राग और मोहरूप परिणमन करता है। अतः अपने अज्ञानभावसे परिणमन मात्र स्वभावजन्य उदासीन-ज्ञाता-द्रष्टा मात्र अवस्थाका त्याग कर यह अज्ञानी जीव क्रोधादिव्यापाररूप परिणमन करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिये कर्मोंका कर्ता है। अब यहाँ जो ज्ञानपरिणमनरूप प्रवर्तनेसे पृथक्

तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बंधः सिद्ध्येत् । सचानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तं ।।६९-७०।।

प्रथमा एकवचन कर्ता । क्रोधादिषु–सप्तमी एक० । वर्तमानस्य–षष्ठी एक० । तस्य–षष्ठी एक० । कर्मणः–षष्ठी एक० । संचयः–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवस्य–षष्ठी एक० । एवं–अव्यय । बन्धः–प्रथमा एक० । भणितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । खलु–अव्यय । सर्वदर्शिभिः–तृतीया बहुवचन ।। ६९-७० ।।

तथ्यको जाननेके लिये जीव और अजीवका कर्ताकर्मके वेशसे प्रवेश कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अज्ञानदशामें मूलमें कर्ताकर्मप्रवृत्तिकी बुद्धि ऐसी रहती है कि मैं समझदार तो करता हूं व इन क्रोधादिभावोंको करता हूं । (२) बाह्यमें कर्ताकर्मबुद्धि ऐसी रहती है कि मैं इन घट-पट आदि पदार्थोंको करता हूं, पुत्रादिको सुखी करता हूं आदि । (३) बाहरी कितना भी विवेक व प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान, वैराग्य व शान्ति तब तक नहीं बनती जब तक आत्मस्वरूप और औपाधिक भावोंमें स्व-परका अन्तर ज्ञात न हो जाय । (४) औपाधिक भाव पर हैं यह तब तक विदित नहीं होगा, जब तक ये विकार नैमित्तिक हैं यह ज्ञात न हो जाय । (५) विकारके नैमित्तिकपनेका ज्ञान स्वभावपरिचयके साथ अविनाभावी है । (६) मैं अविकारस्वरूप मात्र ज्ञाता हूं ये विभाव कर्मविपाकके प्रतिफलनके जुड़ावसे है, ऐसा ज्ञान होनेपर ही कर्मरसमें उपयोग नहीं जुड़ता ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा और आस्रवादिका भेद ज्ञात न होनेसे जो उनमें एकत्वकी बुद्धि है वह मोह है । (२) क्रोधादिक आस्रवमें प्रवर्तनका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मस्वरूप परिणत हो जाती है ।

दृष्टि—१– संश्लिष्टस्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२७) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—कर्मविपाकके प्रतिफलनसे विलक्षण सहज आत्मस्वभावको निरखना व उसमें गुप्त होनेका पौरुष करना ।।६९-७०।।

यहाँ प्रश्न होता है कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव किस कालमें होता है उसका उत्तर कहते हैं—[**यदा**] जिस समय [**अनेन जीवेन**] इस जीवके द्वारा [**आत्मनः**] अपना [**तथैव च**] और [**आस्रवाणां**] आस्रवोंका [**विशेषांतरं**] भिन्न लक्षण [**ज्ञातं भवति**] विदित हो जाता है [**तदा तु**] उसी समय [**तस्य**] उसके [**बंधः न**] बंध नहीं होता ।

तात्पर्य—आत्मस्वभाव और आस्रव विकारमें जब ही भेद दृढ़तासे हो जाता तब ही

क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वे॰ कवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृ॰ कर्मप्रवृत्तिर्निवर्त्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबंधोपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमा॰ त्रादेव बंधनिरोधः सिद्ध्येत् ॥७१॥

अनेन–तृतीया एक०। जीवेन–तृतीया एकवचन। आत्मनः–षष्ठी एक०। आस्रवाणः–षष्ठी बहुवचन। च–अव्यय। तथा–अव्यय। एव–अव्यय। ज्ञानं–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। विशेषान्तरं–प्रथमा एक०। तु–अव्यय। तदा–अव्यय। न–अव्यय। बंधः–प्रथमा एक०। तस्य–षष्ठी एकवचन ॥ ७१ ॥

चर्चाको सुनकर यह जाननेकी उत्सुकता होना प्राकृतिक है कि फिर जीवकी इस कर्तृकर्म॰ प्रवृत्तिकी निवृत्ति कब और कैसे होगी, इसी जिज्ञासाका इसमें समाधान किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुतः वस्तु स्वस्वभावमात्र है। (२) पौद्गलिक क्रोधप्रकृतिमें क्रोधविपाक होना उपादानतया परभाव है। (३) क्रोधप्रकृतिविपाकका निमित्त पाकर उपयोग में प्रतिफलित क्रोध औपाधिक परभाव है। (४) यहाँ भावके परिचयसे स्व-परका निर्णय किया गया है। (५) ज्ञानभावमें क्रोधभाव नहीं है, क्रोधभावमें ज्ञानभाव नहीं है। (६) ज्ञान आत्मा है, क्रोध आस्रव है। (७) आत्मा और आस्रवमें एकत्वबुद्धि होना अज्ञान है। (८) अपने आत्माको स्व और आस्रवको पर जान लेना भेदज्ञान है। (९) आत्मा और आस्रवमें भेद जानकर आत्माभिमुखताकी भावना सहित आत्माका जानना ज्ञान है। (१०) ज्ञान होने पर ज्ञानकी स्थिरतादि माफिक कर्मबन्धका निरोध हो जाता है।

सिद्धान्त—(१) वस्तु स्वस्वभावमात्र है। (२) पुद्गलकर्मका विपाक पुद्गल कर्ममें ही है। (३) कर्मविपाकके प्रतिफलनकी अशुद्धता जीवमें है। (४) आत्माको कर्मास्रवमय समझना अज्ञान है। (५) आत्माको विभाव आस्रवमय समझना अज्ञान है।

दृष्टि— १– शुद्धनय (४९)। २– अशुद्ध निश्चयनय (४७)। ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)। ४– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (११३)। ५– स्वजातिद्रव्ये स्वजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (११४)।

प्रयोग—अपनेको सहज ज्ञानस्वभावमात्र निरखते हुए नैमित्तिक विकारोंकी उपेक्षा करके अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवनेका उद्यम करना ॥७१॥

अब पूछते हैं कि ज्ञानमात्रसे ही बंधका निरोध कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं— **[आस्रवाणां च]** आस्रवोंके **[अशुचित्वं]** अशुचिपनेको **[च विपरीतभावं]** और विपरीतपनेको **[च दुःखस्य कारणानि इति]** तथा ये दुःखके कारण हैं, इस तथ्यको **[ज्ञात्वा]** जानकर

त्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्याकारणमेव । इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते । तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञाना-सिद्धेः । ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत् । किंच यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तं ? आस्र-

---

कारण, इति, च, ततः, निवृत्ति, जीव । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, आ-स्रु गतौ, अ-शुच्य अभिषवे, नि-वृतु वारणे दिवादि, डुकृञ् करणे । पदविवरण—ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया । आस्रवाणां–षष्ठी बहु० । अशु-

---

भेदज्ञान है वह अज्ञान है कि ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आस्रवसे अभेदज्ञान होनेसे उसका कोई अन्तर न हुआ, तथा यदि वह ज्ञान है तो आस्रवोंमें प्रवृत्तिरूप है या उनसे निवृत्तिरूप है ? यदि आस्रवोंमें प्रवर्तता है तो वह ज्ञान आस्रवोंसे अभेदरूप अज्ञान ही है इससे भी कोई विशे-षता न हुई और यदि वह ज्ञान आस्रवोंसे निवृत्तिरूप है तो ज्ञानसे ही बंधका निरोध क्यों नहीं कह सकते ? सिद्ध हुआ ही कह सकते हैं । ऐसा सिद्ध होनेपर अज्ञानके अंश क्रियानयका खण्डन हुआ । तथा जो आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान है वह भी आस्रवोंसे निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है, ऐसा कहनेसे ज्ञानके अंशरूप ज्ञाननयका निराकरण हुआ ।

भावार्थ—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःखके कारण हैं, और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है । इस प्रकार दोनोंको लक्षणभेदसे भिन्न जानकर आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है और उसके कर्मका बंध नहीं होता । यदि ऐसा जाननेसे भी कोई निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, अज्ञान ही हैं । **प्रश्न**—अविरतसम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी प्रकृतियोंका तो आस्रव नहीं होता, परन्तु अन्य प्रकृतियोंका तो आस्रव व बन्ध होता है, वह ज्ञानी है या अज्ञानी ? **समाधान**—सम्यग्दृष्टिके प्रकृतियोंका जो बंध होता है, वह अभिप्राय-पूर्वक नहीं है, सम्यग्दृष्टि होनेके पश्चात् परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव है । इस कारण जब तक इसके चारित्रमोहका उदय है तब तक उसके उदयके अनुसार आस्रव-बंध होते हैं, उसका स्वामित्व नहीं है । वह अभिप्रायमें निवृत्त होना ही चाहता है, इसलिए ज्ञानी ही कहा जाता है । मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध ही अनंत संसारका कारण है, यही यहाँ प्रधानतासे विवक्षित है । जो अविरतादिकसे बन्ध होता है, बह अल्पस्थिति अनुभागरूप है, दीर्घ संसारका कारण नहीं है, इसलिए प्रधान नहीं गिना जाता । ज्ञान बंधका कारण नहीं है । जब तक ज्ञानमें मिथ्या-त्वका उदय था तब तक अज्ञान कहलाता था, मिथ्यात्व चले जानेके बाद अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है । इसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं बनता; इसी कारण ज्ञानीके बंध नहीं है । विकार बन्धरूप है, वह बन्धकी पद्धतिमें है, ज्ञानकी पद्धतिमें

भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः। परपरणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः। ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥४७॥ ॥७२॥

पंचम्यां तसल्। निवृत्ति–द्वितीया एक०। करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। जीवः–प्रथमा एकवचन कर्ता ॥७२॥

उपचार है।

दृष्टि— १– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ व)। २– एकजातिपर्याये अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (१०७)।

प्रयोग—विकार भावोंको अशुचि, विपरीत व दुःखकारण जानकर उनसे उपेक्षा करके अपने पवित्र शान्तिधाम आत्मामें उपयोगको रमानेका पौरुप करना ॥७२॥

अब जिज्ञासा होती है कि आस्रवोंसे किस तरह निवृत्ति होती है? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—ज्ञानी विचारता है कि [खलु] निश्चयतः [अहं] मैं [एकः] एक हूं [शुद्धः] शुद्ध हूं [निर्ममतः] ममतारहित हूं [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं [तस्मिन् स्थितः] ऐसे स्वभावमें स्थित [तच्चित्तः] उसी चैतन्य अनुभवमें लीन हुआ [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सब आस्रवोंको [क्षयं] क्षयको [नयामि] प्राप्त कराता हूं।

तात्पर्य—अपनेको एक शुद्ध अविकार ज्ञानदर्शनघन निरखनेसे इसी स्वभावमें आत्मा लीन होता है और तब आस्रव दूर हो जाते हैं।

टीकार्थ—यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप, अनादि, अनंत नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूपसे तो एक हूं और समस्त कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरणस्वरूप जो कारकोंका समूह उसकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण याने दूरवर्ती निर्मल चैतन्य अनुभूति मात्ररूपसे शुद्ध हूं। तथा जिनका पुद्गलद्रव्य स्वामी है ऐसे क्रोधादि भावोंकी विश्वरूपता (समस्तरूपता) के स्वामित्वसे सदा ही नहीं परिणमनेके कारण उनसे ममतारहित हूं। तथा वस्तुका स्वभाव सामान्यविशेषस्वरूप है और चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है, इस कारण सामान्यविशेषस्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूं। ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थस्वरूप वस्तुविशेष हूं। इस कारण मैं इसी आत्मस्वभावमें समस्त परद्रव्यसे प्रवृत्तिकी निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्यके निमित्तसे जो विशेषरूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होती थीं, उनके निरोधसे इस चैतन्यस्वरूपको ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न होते हुए क्रोधादिक भावोंका क्षय करता हूं ऐसा आत्मामें निश्चय कर तथा जैसे बहुत कालका ग्रहण किया जो जहाज था, उसे जिसने छोड़ दिया है,

सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षययामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्त्तते ॥७३॥

विवरण—अहं–प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण । शुद्धः–प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण । निर्ममतः–प्रथमा एक० कर्तृविशेषण । ज्ञानदर्शनसमग्रः–प्रथमा एक० । तस्मिन्–सप्तमी एक० । स्थितः–प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण । तच्चित्तः–प्रथमा एक० कर्तृ विशेषण । सर्वान्–द्वितीया बहुवचन । क्षयं–द्वितीया एक० । नयामि–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया ॥७३॥

सहज अविकार केवल चैतन्यानुभवमात्र है । (४) प्रत्येक आत्मा औपाधिक भावोंसे विविक्त सहज स्वसत्त्वमात्र है । (५) समस्त परद्रव्यभावोंमें की प्रवृत्ति हटाकर पारमार्थिक सहज चिद्ब्रह्ममें ठहरने वाला उपयोगमें ज्ञानघन हुआ आत्मा आस्रवोंसे अलग हो जाता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा सहज अखण्ड चिज्ज्योतिस्वरूप है । (२) आत्मा सहज विज्ञानघनस्वभाव है । (३) आत्मद्रव्य सहज स्वसत्त्वमात्र है । (४) सहजशुद्धात्मभावनाके प्रतापसे आस्रवनिरोध हो जाता है ।

दृष्टि— १– परमशुद्धनिश्चयनय (४४) । २– भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) । ३– उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२२) । ४– शुद्धभावनासापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—अपनेको अविकारस्वभाव चिन्मात्र केवल निरखकर अपनेमें मग्न होनेका पौरुष करना ॥७३॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समान काल कैसे है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—[एते] ये आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीवके साथ निबद्ध हैं [अध्रुवाः] अध्रुव हैं [तथा] तथा [अनित्याः] अनित्य हैं [च] और [अशरणाः] अशरण हैं [दुःखानि] दुःखरूप हैं [च] और [दुःखफलाः] दुःखफल वाले हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] अलग हो जाता है ।

तात्पर्य—आस्रवोंकी असारता जानकर ज्ञानी आस्रवोंसे हट जाता है ।

टीकार्थ—लाख और वृक्ष इन दोनोंकी तरह वध्य घातक स्वभावरूप होनेसे आस्रव जीवके साथ निबद्ध हैं, सो वे अविरुद्धस्वभावपनेका अभाव होनेके कारण अर्थात् जीवगुणके घातकरूप विरुद्ध स्वभाव वाले होनेके कारण जीव ही नहीं हैं । आस्रव तो मृगीके वेगकी तरह बढ़ने वाले व फिर घटने वाले होनेके वे कारण अध्रुव हैं, किन्तु जीव चैतन्य भावमात्र है सो

खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव। नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव। इति विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्त्तते। तावदास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते याव-

---

तथा, अशरण, च, दुःख दुःखफल, इति, च, तत्। मूलधातु—जीव प्राणधारणे, नि-बन्ध बन्धने, ध्रु स्थैर्ये भ्वादि-ध्रु ध्रुव गतिस्थैर्ययोः तुदादि, नि-वृतु वर्तने भ्वादि। पदविवरण—जीवनिबद्धाः-प्रथमा बहुवचन।

निवृत्तिके समकालता है।

भावार्थ—आत्मस्वरूप और औपाधिक आस्रवमें भेद जान लेनेके बाद जितना अंश जिस-जिस प्रकार आस्रवोंसे निवृत्त होता है उस-उस प्रकार उतना अंश विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। इस ही प्रक्रियामें तो गुणस्थान ऊँचे-ऊँचे होते जाते हैं। और जब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त हो जाता है, तब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव आत्मा होता है। इस प्रकार आस्रवकी निवृत्तिका और ज्ञानके होनेका एक काल जानना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह संकेत दिया गया है कि आत्मस्वभाव अथवा आत्मा तथा आस्रवमें भेदज्ञान होनेपर ज्ञानघनभूत होता हुआ आत्मा आस्रवसे निवृत हो जाता है। सो जब इसी सम्बन्धमें यह जिज्ञासा हुई कि ज्ञान और आस्रवनिवृत्तिका काल वही एक अर्थात् समान कैसे है, इस जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें दिया है।

तथ्यप्रकाश—१-जीवमें प्रतिफलित आस्रव बध्यघातकस्वभाव होनेसे जीवनिबद्ध कहलाते हैं, किन्तु जीवका स्वभाव मोदक है, घातक नहीं। २- अतीव क्षणिकत्वकी (समय-समयमें नष्ट होनेकी) अपेक्षासे आस्रवको अध्रुव कहा गया है, किन्तु जीव शाश्वत एकस्वरूप है। ३- छद्मस्थके अनुभवनकी अपेक्षा जात्या कुछ ठहरे रहनेपर भी वेगकी घटा बढ़ी होनेसे उतनी भी क्रमसे स्थिरता न होनेसे आस्रवको अनित्य कहा गया है, किन्तु जीवस्वभाव समान स्थिर है। ४- कोई भी विभाव होते ही दूसरे क्षण भी नहीं रह पाता है, नष्ट हो जाता है अतः आस्रव अशरण है, किन्तु जीव सदा स्वयं स्वयंमें है, अतः शरण है। ५-क्रोधादि आस्रव का स्वरूप ही दुःखरूप है, जीवका स्वरूप आनन्दमय है। ६- आस्रवसे नये कर्म बंधते जिनके उदयसे आगे भी दुःख मिलेगा अतः आस्रव दुःखफल वाला है, किन्तु जीव आनन्दमय है उससे सदैव आनन्द ही प्रकट होगा। ७-जीवस्वभाव व आस्रवमें यथार्थतया भेदविज्ञान होते ही उपयोगमें कर्मरस हटता है और स्वभावका विकास होता है। ८- ज्ञानविकास व आस्रव-

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

कर्म तथा नोकर्मों-के परिणामको जीव नहिं करता।
यों सत्य मानता जो, वह सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानी ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं। न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा। किंतु परमार्थतः

नामसंज्ञ—कम्म, य, परिणाम, णोकम्म य, तह, एव, परिणाम, ण, एय, अत्त, ज, त, णाणि। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, जाण अवबोधने, हव सत्तायां। **प्रातिपदिक**—कर्मन्, च, परिणाम, नोकर्मन्, च,

---

होने वाले कर्मके परिणामको और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूपसे बाहर उत्पन्न होने वाले नोकर्मके परिणामको नहीं करता है, किन्तु उनके परिणमनोंके ज्ञानरूपसे परिणममान अपनेको ही जानता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है। इसका विवरण इस प्रकार है—ये मोहादिक वे स्पर्शादिक परिणाम परमार्थतः पुद्गलके ही हैं। सो जैसे घड़ेके और मिट्टीके व्याप्य-व्यापकभावके सद्भावसे कर्ता कर्मपना है, उसी प्रकार वे पुद्गलद्रव्यसे स्वतंत्र व्यापक कर्ता होकर किये गये हैं और वे आप अंतरंग व्याप्य रूप होकर व्याप्त हैं, इस कारण पुद्गलके कर्म हैं। परंतु पुद्गलपरिणाम और आत्माका घट और कुम्हारकी तरह व्याप्यव्यापक रूप नहीं है, इसलिये कर्ताकर्मत्वकी असिद्धि है। इसी कारण कर्म व नोकर्मके परिणामको आत्मा नहीं करता। किन्तु परमार्थसे पुद्गलपरिणाम विषयक ज्ञानका और पुद्गलका घट और कुम्हारकी तरह व्याप्यव्यापक भावका अभाव है, अतः उन दोनोंमें कर्ता-कर्मत्वकी सिद्धि न होनेपर आत्मपरिणामके और आत्माके घट मृतिकाकी तरह व्याप्यव्यापक भावके सद्भावसे आत्मद्रव्य कर्ताने आप स्वतंत्र व्यापक होकर ज्ञाननामक कर्म किया है, इसलिये वह ज्ञान आप ही आत्मासे व्याप्यरूप होकर कर्मरूप हुआ है, इसी कारण पुद्गल परिणामविषयक ज्ञानको कर्म (कर्मकारक) रूपसे करते हुए आत्माको आप जानता है, ऐसा आत्मा पुद्गलपरिणामरूप कर्म नोकर्मसे अत्यंत भिन्न ज्ञान-

रमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् । व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि, व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः । इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिंदंस्तमो, ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४६।। ।।७५।।

करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । एनं–द्वितीया एक० । आत्मा–प्रथमा एक० । यः–प्रथमा एक० । जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । ज्ञानी–प्रथमा एकवचन ।।७५।।

दिक परिणाम पुद्गलकर्मका कार्य है, आत्माका कार्य नहीं । ५–पुद्गल परिणाम (मोहादिक) आत्मामें प्रतिफलित होते हैं, ज्ञेय होते हैं, इस कारण मोहादिक परिणामका आत्माके साथ ज्ञेय ज्ञायक संबंधका व्यवहार है । ६– पुद्गलपरिणामके ज्ञेय होनेपर आत्माका कर्म पुद्गल परिणामविषयक ज्ञान है और आत्मा इस ज्ञानका कर्ता है, क्योंकि तब आत्मामें व्याप्य वह ज्ञान ही है । ७– अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव तदात्मकमें ही हुआ करता है अतदात्मकमें नहीं । ८–अंतर्व्याप्यव्यापकभावमें ही कर्ताकर्मपना होता । ९–पर व परभावोंसे विविक्त ज्ञानज्योतिर्मय सहज अन्तस्तत्त्वका प्रकाश जगनेपर परकर्तृत्वका भ्रम भारान्धकार नष्ट होकर शाश्वत अलौकिक सहज आनन्दका लाभ होता है ।

सिद्धान्त—१– मोह राग द्वेषादि अनुभागका प्रस्फुटन **कर्म**का परिणाम है । २– दृष्टिगत देहाकार आदि देहका परिणाम है । ३– कर्मनोकर्मादिविषयक प्रतिफलनविकल्प जीवका परिणाम है । ४–जीवाजीवविषयक यथार्थज्ञान ज्ञानीका परिणाम है ।

दृष्टि—१– सभेद अशुद्धनिश्चयनय (४७अ) । २– सभेद अशुद्धनिश्चयनय (४७अ) । ३– सभेद अशुद्धनिश्चयनय (४७अ) । ४– सभेद शुद्धनिश्चयनय (४६अ) ।

प्रयोग—अपनेको कर्म नोकर्म (देह) व आश्रयभूत बाह्य पदार्थ इन समस्त परद्रव्योंके परिणमनसे अलग ज्ञानमात्र निरखनेका पौरुष करना ।।७५।।

अब जिज्ञासा होती है कि जो जीव पुद्गल कर्मको जानता है, उसका पुद्गलके साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं है ? उसका उत्तर कहते हैं—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनेकविधं**] अनेक प्रकारके [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलद्रव्यके पर्यायरूप कर्मोंको [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चयसे [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यके पर्यायोंमें [**न परिणमति**] न तो परिणमित होता है [**न गृह्णाति**] न ग्रहण करता है [**न उत्पद्यते**] और न उत्पन्न होता है ।

तात्पर्य—पुद्गलकर्मसे अलग ही रहता हुआ आत्मा पुद्गलकर्मविषयक ज्ञान ही करता है, अतः पुद्गलकर्मके साथ आत्माका कर्ता-कर्मभाव नहीं है ।

टीकार्थ—चूंकि प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य ऐसे व्याप्यलक्षण वाले पुद्गल परिणामको,

शमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७६॥

अदने भ्वादि-गल स्रवणे चुरादि। पदविवरण--न–अव्यय। अपि–अव्यय। परिणमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। न–अव्यय। गृह्णाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। न–अव्यय। परद्रव्यपर्याये–सप्तमी एक०। ज्ञानी–प्रथमा एक०। जानन्–प्रथमा एकवचन कृदन्त। अपि–अव्यय। खलु–अव्यय। पुद्गलकर्म–प्रथमा एक०। अनेकविधम्–प्रथमा एकवचन ॥७६॥

कर्ता नहीं है। जीवका स्वभाव ज्ञाता है, वह आप ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ उसको जानता है। ऐसे जानने वालेका परके साथ कर्ता-कर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा कर्म व नोकर्मके परिणामको नही करता, ऐसा जो जानता वह ज्ञानी है। इसपर यह प्रश्न होता है कि पुद्गलकर्मको जीव जानता तो है, इस कारण तो जीवका पुद्गलकर्मके साथ कर्तृकर्मत्व भाव होना ही चाहिये उसके उत्तरमें इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(१) अन्तर्व्यापकको कर्ता कहते हैं। (२) अन्तर्व्याप्यको कर्म कहते हैं। (३) प्रत्येक कर्म प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य रूपमें होता है। (४) निश्चयतः प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य अभिन्न व्यापक द्वारा अभिन्न व्याप्य ही होते हैं। (५) पुद्गल कार्माणवर्गणाके प्रकृति अनुभागरूप परिणमनको वह पुद्गलद्रव्य ही ग्रहण कर रहा है वही पुद्गलद्रव्य उस विकाररूप बन रहा है, वही पुद्गलद्रव्य उस रूपसे अपनेको रच रहा है। उस पुद्गलपरिणाम को न जीव ग्रहण कर रहा, न उस विकाररूप बन रहा और न उसरूप अपनेको रच रहा। (६) जीव पुद्गलपरिणामविषयक ज्ञानको ग्रहण कर रहा उस ज्ञानरूप परिणम रहा उसी ज्ञान रूप अपनेको रच रहा सो जीव परद्रव्य पुद्गलकर्मको न ग्रहण कर सकता न कर्मरूप परिणम सकता, न कर्मरूप रचा जा सकता। (७) ज्ञानी पुद्गलकर्मको जानता है तो भी पुद्गलकर्मको कर नही सकता, क्योंकि पुद्गलकर्म जीवके द्वारा न प्राप्य है, न विकार्य है और न निर्वर्त्य है।

सिद्धान्त—१–ज्ञानी अनेकविध पुद्गलकर्मका ज्ञाता है। २–ज्ञानी पुद्गलकर्मज्ञेयाकार परिणमित केवल निज आत्माका ज्ञाता है। ३– ज्ञानी पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है।

दृष्टि— १– अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ)। २– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)। ३– प्रतिषेधक शुद्धनय प्रतिपादक व्यवहार (७०अ)।

प्रयोग—पुद्गलकर्मका सब कुछ पुद्गलकर्ममें ही होता ऐसा जानकर अपने अकर्तास्वभावरूप ज्ञानमात्र निजस्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष करना ॥७६॥

व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।।७७।।

णमति–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एक० । न–अव्यय । गृह्णाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । न–अव्यय । परद्रव्यपर्याये–सप्तमी एक० । ज्ञानी–प्रथमा एक० कर्ता । जानन्–प्रथमा एक० कृदन्त । अपि–अव्यय । खलु–अव्यय । स्वकपरिणामं–द्वितीया एक० । अनेकविधं–द्वितीया एकवचन ।।७७।।

जानता भी हो तो भी परद्रव्यका, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि पुद्गलकर्मको जानता भी है ज्ञानी तो भी पुद्गलकर्मके साथ जीवका कर्तृकर्मभाव नहीं है । इस विवरणके जाननेके बाद यह जिज्ञासा होती है कि पुद्गलकर्मके साथ क्षयोपशमादिका निमित्त पाकर हुए संकल्प-विकल्प आदि अपने परिणामको तो जीव जानता है फिर तो उस जीवका पुद्गलकर्मके साथ कर्तृ-कर्मभाव होना ही चाहिये । इस जिज्ञासाका समाधान करनेके लिये यह गाथा कही गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलकर्मके क्षयोपशमसे या उदयसे हुए संकल्प-विकल्परूप आत्मपरिणामको राग सुख-दुःख आदि आत्मपरिणामको यह जीव जानता है, फिर भी यह पुद्गलकर्मका न कर्ता है, न कर्म है । (२) पुद्गलकर्म तो अपने विपाकोदयादि अवस्थाका कर्ता है, जीवपरिणामका कर्ता नहीं है । (३) कर्मके बन्ध, विपाक आदि परिणमन कर्ममें ही व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य हैं । (४) जीवके संकल्प-विकल्प सुखवेदन दुःखवेदन आदि परिणाम जीवमें ही व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य हैं । (५) ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिभासित हो यह ज्ञेयके प्रमेयत्व गुणका प्रताप है, ज्ञान ज्ञेयविषयक ज्ञान करे यह ज्ञानस्वभावकी वृत्ति है ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलकर्मविपाकोदयका निमित्त पाकर हुए सुख-दुःखादि जीवपरिणामको जीव अनुभवता है । (२) जीवके सुख-दुःखादि परिणामके निमित्तभूत कर्मविपाकोदय का कर्ता पुद्गलकर्म है ।

दृष्टि— १– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) । २– सभेद अशुद्ध निश्चय-नय (४६अ) ।

प्रयोग—पुद्गलकर्मसे भिन्न पुद्गलकर्मनिमित्तक विकारविभावोंको मात्र जानकर उस ज्ञेयविकल्पसे भी हटकर अपने सहज अविकारस्वरूपमें लीन होनेका पौरुष करना ।।७७।।

अब पूछते हैं कि पुद्गलकर्मके फलको जानते हुए जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्म-भाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनंतं] अनन्त [पुद्गलकर्मफलं]

मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७८॥

णमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न–अव्यय। गृह्णाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। न–अव्यय। परद्रव्यपर्याये–सप्तमी एक०। ज्ञानी–प्रथमा एक० कर्ता। जानन्–प्रथमा एक० कृदन्त। अपि–अव्यय। खलु–अव्यय। पुद्गलकर्मफलं–द्वितीया एकवचन। अनन्तं–द्वितीया एकवचन ॥७८॥

अपने परिणामको जानता हुआ भी पुद्गलकर्मका न कर्ता है, न कर्म है। इस विवरणके जानने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि जब पुद्गलकर्मके फलको जीव जानता है, अनुभवता है तब उस जीवका पुद्गलकर्मके साथ कर्तृकर्मभाव क्यों नहीं होता? इस जिज्ञासाके समाधानमें यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(१) सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मविपाक पुद्गलमें ही प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य हैं। (२) सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मविपाकका सान्निध्य पाकर जो तदनुरूप प्रतिफलन उपयोगमें हुआ वह प्रतिफलन जीवमें व्याप्य, विकार्य व निर्वर्त्य है। (३) पुद्गलकर्मफलका जाननहार होकर भी जीव पुद्गलकर्मका न कर्ता है न भोक्ता है।

सिद्धान्त—(१) जीव पुद्गलकर्मफलका जाननहार है। (२) जीव पुद्गलकर्मफलविषयक ज्ञेयाकार परिणत मात्र अपनेको जानता है। (३) जीव पुद्गलकर्मका न कर्ता है, न भोक्ता है।

दृष्टि— १– अपरिपूर्ण उपचरित स्वभावव्यवहार (१०५अ)। २– कारककारकिभेदकसद्भूतव्यवहार (७३)। प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ)।

प्रयोग—कर्मफलको कर्ममें अन्तर्व्याप्य निरखकर उसके प्रतिफलनसे प्रभावित न होकर अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें परमविश्राम करनेका पौरुष करना ॥७८॥

अब यहाँ पूछते हैं कि जीवके परिणामको तथा अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जानने वाले पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं उसका उत्तर कहते हैं [**पुद्गलद्रव्यं अपि**] पुद्गल द्रव्य भी [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्यके पर्यायमें [**तथा**] उस प्रकार [**नापि**] नहीं [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**न गृह्णाति**] उसको ग्रहण भी नहीं करता और [**न उत्पद्यते**] न उत्पन्न होता है, किन्तु [**स्वकैः भावैः**] अपने भावोंसे ही [**परिणमति**] परिणमन करता है।

तात्पर्य—जैसे जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं, इसी प्रकार पुद्गलद्रव्यका

मंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः। ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्, व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्। अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्, विज्ञानार्च्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥ ॥७६॥

गतौ भ्वादि, पूरी अप्यायने दिवादि, गल अदने भ्वादि। **पदविवरण**—न–अव्यय। अपि–अव्यय। परिणमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न–अव्यय। गृह्णाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। न–अव्यय। परद्रव्यपर्याये–सप्तमी एक०। पुद्गलद्रव्यं–प्रथमा एक०। अपि–अव्यय। तथा–अव्यय। परिणमति, स्वकैः–तृतीया बहुवचन स्वार्थे कः। भावैः–तृतीया बहुवचन ॥७६॥

अतः इनके कर्तृकर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है। सो जब तक इन दोनोंमें करोंतकी तरह निर्दय होकर उसी समय भेदको उपजाकर भेदज्ञान प्रकाश वाला ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, यह भ्रमबुद्धि तभी तक है। **भावार्थ**—भेदज्ञान होनेके बाद पुद्गल और जीवके कर्तृकर्मभावकी बुद्धि नहीं रहती, क्योंकि भेदज्ञान नहीं होने तक ही अज्ञानसे कर्तृकर्मभावकी बुद्धि रहती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व स्थलमें जीव जीवके ही विषयमें यह बताया गया था कि जीव पुद्गलकर्मको, पुद्गलकर्मफलको व अपने परिणामको जानता है तो भी उसका पुद्गलकर्मके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। इस विवरणके सुननेके बाद यह जिज्ञासा होती है कि जीवपरिणामको, अपने परिणमनको और अपने विपाकको न जान सकने वाले पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं? इसके समाधानमें यह गाथा दी गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलकर्म अचेतन है वह न जीवके परिणामको जान सकता है, न अपने (पुद्गलकर्मके) परिणमनको जान सकता है, न अपने (कर्मके) विपाकको जान सकता है। (२) पुद्गलकर्म अपने परिणमनमें व अपने अनुभागमें ही अन्तर्व्यापक है वह जीवके परिणामको न ग्रहण कर सकता, न जीवपरिणामरूप परिणम सकता है, न जीवपरिणामरूपसे उत्पन्न हो सकता है। (३) पुद्गलद्रव्य जीवपरिणामका कर्ता नहीं है।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलकार्माणस्कन्ध अपने ही प्रकृतिस्थिति प्रदेश अनुभागरूपमें वर्तता है। (२) जीव संसारदशामें कर्मदशानुरूप अपने उपयोगके परिणमनरूप परिणमता है। (३) पुद्गलद्रव्य जीवके परिणामका न कर्ता है, न भोक्ता है।

दृष्टि—१– सभेद अशुद्ध निश्चयनय (४७अ)। २– सभेद अशुद्ध निश्चयनय

व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभाव-

---

कारण, तु, कर्तृ, आत्मन्, स्वक, भाव, पुद्गलकर्मकृत, न, तु, कर्तृ, सर्वभाव। **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, परि-णम प्रह्वत्वे, नि-ञिमिदा स्नेहने भ्वादि, नि-ञिमिदा स्नेहने दिवादि, अत सातत्यगमने। **पदविवरण**—जीवपरिणामहेतुं–द्वितीया एक०। कर्मत्वं–द्वि० ए०। पुद्गलाः–प्रथमा बहु० कर्ता। परिणमन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। पुद्गलकर्मनिमित्तं–द्वितीया एक०। तथा–अव्यय। एव–अव्यय। जीवः–

उसी प्रकार [**जीवः अपि**] जीव भी [**पुद्गलकर्मनिमित्तं**] पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर [**परिणमति**] परिणमन करता है। तो भी [**जीवः**] जीव [**कर्मगुणान्**] कर्मके गुणोंको [**नापि**] नहीं [**करोति**] करता [**तथैव**] उसी भांति [**कर्म**] कर्म [**जीवगुणान्**] जीवके गुणोंको नहीं करता। [**तु**] किंतु [**द्वयोरपि**] इन दोनोंके [**अन्योन्यनिमित्तेन**] परस्पर निमित्तमात्रसे [**परिणामं**] परिणाम [**जानीहि**] जानो [**एतेन कारणेन तु**] इसी कारणसे [**स्वकेन भावेन**] अपने भावोंसे [**आत्मा**] आत्मा [**कर्ता**] कर्ता कहा जाता है [**तु**] परंतु [**पुद्गलकर्मकृतानां**] पुद्गल कर्म द्वारा किये गये [**सर्वभावानां**] समस्त ही भावोंका [**कर्ता न**] कर्ता नहीं है।

तात्पर्य—जीवभाव व पुद्गलकर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव तो है, किन्तु उनमें परस्पर कर्तृकर्मभाव रंच भी नहीं है।

टीकार्थ—जिस कारण जीवपरिणामको निमित्तमात्र करके पुद्गल कर्मभावसे परिणमन करते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्तमात्र कर जीव भी परिणमन करता है। ऐसे जीवके परिणामका तथा पुद्गलके परिणामका परस्पर हेतुत्वका स्थापन होनेपर भी जीव और पुद्गलके परस्पर व्याप्यव्यापक भावके अभावसे जीवके तो पुद्गलपरिणामोंका और पुद्गलकर्मके जीवपरिणामोंका कर्तृकर्मपनेकी असिद्धि होनेपर निमित्तनैमित्तिक भावमात्रका निषेध नहीं है, क्योंकि परस्पर निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोंका परिणाम है। इस कारण मृत्तिकाके कलशकी तरह अपने भाव द्वारा अपने भावके करनेसे जीव अपने भावका कर्ता सदा काल होता है। तथा मृत्तिका जैसे कपड़ेकी कर्ता नहीं है, वैसे ही जीव अपने भाव द्वारा परके भावोंके करनेकी असमर्थतासे पुद्गलके भावोंका तो कर्ता कभी नहीं है ऐसा निश्चय है। **भावार्थ**—जीव और पुद्गलके परिणामोंकी परस्परनिमित्तमात्रता है तो भी उनमें परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है। पुद्गलकर्मविपाकके निमित्तसे जो जीवके भाव हुए उन भावोंका कर्ता तो जीवको अज्ञान दशामें कदाचित् कह भी सकते हैं, लेकिन जीव परभावका कर्ता कभी नहीं हो सकता।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

निश्चयनयदर्शनमें, आत्मा करता है आत्माको ही ।
अपनेको ही आत्मा, अनुभवता भव्य यों जानो ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मानेव हि करोति । वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥८३॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः

नामसंज्ञ—णिच्छयणय, एवं, अत्त, अप्प, एव, हि, पुणो, त, च, एव, अत्त, दु, अत्त । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, वेद वेदने, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—निश्चयनय, एव, आत्मन्, आत्मन्, एव, हि, पुनर्,

---

और भोक्तृभोग्यभाव है, यह अब आगेकी गाथामें कह रहे हैं—[**निश्चयनयस्य**] निश्चयनयके मतमें [**एवं**] इस प्रकार [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मानं एव हि**] अपनेको ही [**करोति**] करता है [**तु पुनः**] और फिर [**आत्मा**] वह आत्मा [**तं चैव आत्मानं**] अपनेको ही [**वेदयते**] भोगता है ऐसा तू [**जानीहि**] जान ।

तात्पर्य—वस्तुतः आत्मा अपने परिणामनका ही करता है और अपने परिणमनको ही भोगता है ।

टीकार्थ—जैसे पवनके चलने और न चलनेका निमित्त पाकर तरंगोंका उठना और विलय होना रूप दो अवस्था होनेपर भी पवन और समुद्रके व्याप्यव्यापकभावके अभावसे कर्ता-कर्मपनेकी असिद्धि होनेपर समुद्र ही आप उन अवस्थाओंमें अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंतमें उन अवस्थाओंमें व्याप्त होकर उत्तरंगनिस्तरंग रूप अपने एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, किसी दूसरेको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता और जैसे कि वही समुद्र उस पवन और समुद्रके भाव्यभावक भावके अभावसे परभावको पररूपसे अनुभव करनेके असामर्थ्यसे उत्तरंगनिस्तरंगस्वरूप अपनेको ही अनुभवता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्यको अनुभवता हुआ प्रतिभासित नहीं होता । उसी प्रकार पुद्गलकर्मके उदयके होने व न होनेका निमित्त पाकर जीवकी ससंसार और निःसंसार ये दो अवस्था होनेपर भी पुद्गलकर्म और जीवके व्याप्य-व्यापकभावके अभावसे कर्ताकर्मरूपकी असिद्धि होनेपर जीव ही आप अंतर्व्यापक

भावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥८३॥

वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । पुनः—अव्यय । तं—द्वितीया एक० । च—अव्यय । एव—अव्यय । जानीहि—आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । आत्मा—प्रथमा एक० । तु—अव्यय । आत्मानं—द्वितीया एकवचन ॥८३॥

अर्थ सहजशुद्ध स्वभावमें दृष्टि रखना चाहिये ॥८३॥

अब व्यवहारको दिखलाते हैं:—[तु व्यवहारस्य] परंतु व्यवहारनयके दर्शनमें [आत्मा] आत्मा [नैकविधं] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गल कर्मको [करोति] करता है [पुनः] और फिर [तदेव] उस ही [अनेकविधं] अनेक प्रकारके]पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [वेदयते] भोगता है।

तात्पर्य—निमित्तनैमित्तिकभाव होनेके कारण आत्मा व्यवहारनयसे पुद्गलकर्मको करता है व पुद्गलकर्मको भोगता है।

टीकार्थ—जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टी घड़ेको करती है तथा भाव्यभावकभावसे मिट्टी घड़ेको भोगती है तो भी वाह्य व्याप्यव्यापकभावसे कलश होनेके अनुकूल व्यापारको अपने हस्तादिकसे करने वाला तथा कलशमें भरे जलके उपयोगसे हुए तृप्तिभावको भाव्यभावक भावसे अनुभव करने वाला कुम्हार इस कलशको बनाता तथा भोगता है, ऐसा लोकोंका अनादिसे प्रसिद्ध व्यवहार रहा है। उसी प्रकार अन्तर्व्याप्यापकभावसे पुद्गलद्रव्य पौद्गलिक कर्मको करता है और भाव्यभावक भावसे पुद्गल द्रव्य ही उस कर्मको अनुभवता (भोगता) है तो भी वाह्य व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानसे पुद्गल कर्मके होनेके अनुकूल अपने रागादि परिणामको करता हुआ और पुद्गलकर्मके उदय होनेसे उत्पन्न विषयोंकी समीपतामें होने वाली अपनी सुखदुःखरूप परिणतिको भाव्यभावकभावसे अनुभव करने वाला जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। ऐसा अज्ञानी लोकोंका अनादिसंसारसे व्यवहार प्रसिद्ध है।

भावार्थ—परमार्थसे पुद्गलकर्मको पुद्गलद्रव्य ही करता है और पुद्गलकर्मके होनेके अनुकूल अपने रागादिपरिणामोंको जीव करता है, उसके इस निमित्तनैमित्तिकभावको देखकर अज्ञानी जीवको यह भ्रम हो जाता है कि जीव ही पुद्गल कर्मको करता है। सो यह अनादि अज्ञानसे प्रसिद्ध व्यवहार है। और जब तक जीव व पुद्गलका भेदज्ञान नहीं है, तब तक जीवको जीव व पुद्गलकी प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है, श्रीगुरु महाराज दोनोंमें भेदज्ञान कराके परमार्थ जीवका स्वरूप दिखलाकर अज्ञानीके प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि निश्चयनयके सिद्धान्तमें आत्मा अपने आत्माको ही करता है व अपने आत्माको ही भोगता है। इस कथनपर यह

कुर्वाण: पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ॥८४॥

वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । अनेकविधं–द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण । पुद्गलकर्म–द्वितीया एक० कर्म । तत्–द्वितीया एक० । च–अव्यय । एवं–अव्यय । वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । पुद्गलकर्म–द्वि० एक० । अनेकविधं–द्वितीया एकवचन कर्मविशेषण ॥८४॥

प्रयोजनमात्र जानकर निमित्तनैमित्तिक भावसे उपेक्षा कर अपने आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥८४॥

अब इस उक्त व्यवहारको दूषित करते हैं:—[यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करे [च] और [तत् एव] उसी को [वेदयते] भोगे तो [सः] वह [द्विक्रियाव्यतिरिक्तः] आत्मा दो क्रियासे अभिन्न [प्रसजति] प्रसक्त होता है सो यह [जिनावमतं] जिनदेवका अवमत है याने जिनमतसे अलग है ।

तात्पर्य—आत्मा अपने परिणामको तो करता भोगता है ही, अब यदि यह मान लिया जाय कि आत्मा पुद्गलकर्मको भी करता है व पुद्गलकर्मको भी भोगता है तो यह जिनमत नहीं किन्तु पूर्ण मिथ्या है ।

टीकार्थ—निश्चयतः यही सारी ही क्रिया परिणामस्वरूप होनेके कारण परिणामसे कुछ भिन्न वस्तु नहीं है और परिणाम भी परिणाम तथा परिणामी द्रव्य दोनोंकी अभिन्नवस्तुता होनेसे परिणामीसे पृथक् नहीं है । इस प्रकार क्रिया और क्रियावान्की अभिन्नता है । ऐसी वस्तुकी मर्यादा होनेपर जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसी अपने परिणामको अनुभवता है, भोगता है, उसी तरह व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गलकर्मको भी करे तथा भाव्यभावकभावसे पुद्गलकर्मका ही अनुभव करे, भोगे तो अपनी और परकी मिली दो क्रियाओंका अभेद सिद्ध हुआ । ऐसा होनेपर अपने और परके भेदका अभाव हुआ । इस प्रकार अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्माको अनुभवने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप जिनदेवने नहीं कहा है, इसलिये जिनदेवके मतके बाहर है । **भावार्थ**—जो पुरुष एक द्रव्यको दो द्रव्योंकी क्रियाओंका कर्ता मानता है, यह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्यसे मानना यह जिनदेवका मत नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जीव पुद्गलकर्मको करता है व भोगता है यह व्यवहारनयका मत है । अब उस व्यवहारको दूषण देनेके लिये यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परिणति क्रिया पर्यायसे भिन्न नहीं है । (२) पर्याय पर्यायवान्

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ।।८६।।

चूंकि उक्त मतहटमें, आत्माने स्वपरभाव कर डाला ।
सो दोकिरियावादी, मिथ्यादृष्टी हि होते वे ।।८६।।

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति । तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ।।८६।।

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिण-

---

नामसंज्ञ—ज, दु, अत्तभाव पुग्गलभाव, च, दु, वि, त, दु, मिच्छादिट्ठि, दोकिरियावादिण् । धातुसंज्ञ—कुव्व करणे, हो सत्तायां । प्रातिपदिक—यत्, तु, आत्मभाव, पुद्गलभाव, च, द्वि, अपि, तत्, तु,

---

प्रयोग—पुद्गलकर्मके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे निराला अपना अन्तस्तत्त्व निरखकर इस निजमें ही ज्ञानवृत्ति बनाये रहनेका पौरुष करना ।।८५।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि दो क्रियाओंका अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है ? उसका समाधान करते हैं—[यस्मात् तु] जिस कारण [आत्मभावं] आत्माके भावको [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गलके भावको [द्वौ अपि] दोनों ही को आत्मा [कुर्वन्ति] करते हैं ऐसा कहते हैं [तेन तु] इसी कारण [द्विक्रियावादिनः] दो क्रियाओंको एकके ही कहने वाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि ही [भवंति] हैं ।

टीकार्थ—चूंकि द्विक्रियावादी आत्मा और पुद्गल दोनोंके परिणामोंका कर्ता आत्माको मानते हैं, इस कारण वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है । सो एक द्रव्यके द्वारा दोनों द्रव्योंका परिणमन किया जा रहा है, ऐसा मुझे प्रतिभासित मत होवे । जैसे कुम्हारके घड़ेके होनेके अनुकूल अपना व्यापाररूप हस्तादिक क्रिया तथा इच्छारूप परिणाम अपनेसे अभिन्न तथा अपनेसे अभिन्नपरिणतिमात्रक्रियासे किये हुएको करता हुआ प्रतिभासित होता है और घट बनानेके अहंकारसे सहित होनेपर भी स्वव्यापारके अनुकूल मिट्टीसे अभेदरूप तथा मिट्टीसे अभिन्न मृत्तिकापरिणतिमात्र क्रिया द्वारा किये हुए मिट्टीके घटपरिणामको करता हुआ नहीं मालूम होता । उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानसे पुद्गलकर्मके अनुकूल अपनेसे अभिन्न, अपनेसे

परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु। यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म। या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥ एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य। एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥ नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।

आत्मभावं–द्वितीया एक०। पुद्गलभावं–द्वितीया एक०। च–अव्यय। द्वौ–द्वितीया द्विवचन। अपि–अव्यय। कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया। तेन–हेत्वर्थे तृतीया एक०। तु–अव्यय। मिथ्यादृष्टयः–

परिणामको भी नहीं उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती, ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एकरूप होकर परिणमन करें तो सब द्रव्योंका लोप हो जायगा।

अब इसी अर्थको दृढ़ करते हैं— **नैकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियायें भी नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता। **भावार्थ**—प्रत्येक द्रव्य अकेला ही अपने आपमें अपनी परिणति करता है।

अब अज्ञानविलय व बन्धविलयकी भावना करते हैं—**आसंसारत** इत्यादि। **अर्थ**—इस जगतमें मोही अज्ञानी जीवोंका यह "मैं परद्रव्यको करता हूं" ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका अहंकार रूप अत्यन्त दुर्निवार अज्ञानांधकार अनादि संसारसे लेकर चला आया है। यदि परमार्थ अभेद नयके ग्रहणसे वह एक बार भी नष्ट हो जाय तो ज्ञानघन आत्माको फिर कैसे बंध हो सकता है? **भावार्थ**—अज्ञान तो अनादिका ही है, परन्तु परमार्थनयके ग्रहणसे यदि दर्शनमोहका नाश कर एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय तो फिर मिथ्यात्व नहीं आ सकता तब उस मिथ्यात्वका बंध भी नहीं हो सकता और मिथ्यात्व गये बाद संसार-बंधन कैसे रह सकता है? उसका तो मोक्ष ही होगा।

और भी कहते हैं—**आत्म** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा तो अपने भावोंको ही करता है और परद्रव्य परके भावोंको करता है। क्योंकि अपने भाव तो अपने ही हैं तथा परभाव परके ही हैं। **भावार्थ**—आत्माका परमें कर्तृत्व नहीं, फिर भी परमें कर्तृत्व माने तो वह अज्ञान है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि एक द्रव्यको दो क्रियावोंका अनुभव करना बताना मिथ्यात्व है। अब उसी सम्बन्धमें पूछा गया कि दो क्रियावोंका अनुभव करने वाला बताना मिथ्यादृष्टि क्यों है? इसका समाधान इस गाथामें दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) कोई द्रव्य अपना भी परिणमन करे व दूसरेका भी परिणमन करे ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, क्योंकि ऐसा कभी भी होता नहीं। (२) जो पदार्थ परिणमता

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्व दो तरहका, जीव अरु अजीवरूप होता है।
अज्ञान मोह अविरति, क्रोधादि योग भी दो दो ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं । अविरति योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव । यथा च नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव । तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो

नामसंज्ञ—मिच्छत्त, पुण, दुविह, जीव, अजीव, तह, एव, अण्णाण, अविरदि, जोग, मोह, कोहादीअ, इम, भाव । **धातुसंज्ञ**—भव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—मिथ्यात्व, पुनर्, द्विविध, जीव, अजीव, तथा, एव, अज्ञान, अविरति, योग, मोह, इदम्, भाव । **मूलधातु**—विध विधाने, युजिर् योगे रुधादि, मुह वैचित्ये,

---

टीकार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् मयूर और दर्पणकी भाँति जीव अजीवके द्वारा हुवाये गये हैं, इसलिये जीव भी हैं और अजीव भी हैं। जैसे मयूरके नीले, काले, हरे, पीले आदि वर्ण रूप भाव मयूरके निज स्वभावसे भाये हुए मयूर ही हैं। और, जैसे दर्पणमें उन वर्णोंके प्रतिबिम्ब दिखते हैं, वे दर्पणकी स्वच्छता (निर्मलता) के विकार मात्रसे भाये हुए दर्पण ही है। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक भाव अपने अजीवके द्रव्यस्वभावसे (अजीवरूपसे) भाये हुए अजीव ही हैं तथा वे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव चैतन्यके विकारमात्रसे (जीवसे) भाये हुए जीव ही हैं। **भावार्थ**—पुद्गलकर्मके विपाकके निमित्तसे जीव विभावरूप परिणमन करते हैं सो वहाँ वे जो चेतनके विकार हैं, वे जीव ही हैं और जो पुद्गल मिथ्यात्वादिक कर्मरूप परिणमन करते हैं, वे पुद्गलके परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदयरूप होकर वे स्वादरूप होते हैं, वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं—(१) जीव मिथ्यात्वादि, (२) अजीव मिथ्यात्वादि। जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतियाँ हैं, वे पुद्गलद्रव्यके परमाणु हैं, अजीवमिथ्यात्व हैं उनका उदय हो तब उपयोगस्वरूप जीवके उपयोगकी स्वच्छताके कारण जिसके उदयका स्वाद आये, तब उसीके आकार उपयोग हो जाता है। और तब अज्ञानी जीवको उसका भेदज्ञान नहीं होता, सो वह उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। जब इसका भेदज्ञान ऐसा हो जाय कि जीवभावको जीव जानें और अजीवभावको अजीव जानें, तभी मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पौद्गलिक कर्म मिथ्या, अविरति अज्ञान योग निश्चेतन।
मिथ्या अविरति अज्ञान योग उपयोगमय चेतन ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः। उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्त्तं

नामसंज्ञ—पुग्गलकम्म, मिच्छ, जोग, अविरदि, अण्णाण, अज्जीव, उवओग, अण्णाण, अविरदि, मिच्छ, च, जीव, दु। धातुसंज्ञ—जीव प्राणधारणे। प्रातिपदिक—पुद्गलकर्मन् मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान, अजीव, उपयोग, अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व, च, जीव, तु। मूलधातु—पूरी आप्यायने, गल अदने, डुकृञ् करणे, युजिर् योगे, अ-ज्ञा अवबोधने। पदविवरण—पुद्गलकर्म–प्रथमा एक०। मिथ्यात्वं–प्रथमा एक०। योगः–प्रथमा एक०। अविरतिः–प्रथमा एक०। अज्ञानं–प्रथमा एक०। अजीवः–प्रथमा एक०।

[अजीवः] अजीव है वह तो **[पुद्गलकर्म]** पुद्गलकर्म है **[च]** और जो **[अज्ञानं]** अज्ञान **[अविरतिः]** अविरति **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्व **[जीवः]** जीव है **[तु]** सो **[उपयोगः]** उपयोग है।

तात्पर्य—मिथ्यात्वादिक कर्मप्रकृतियाँ तो अजीव हैं और उन प्रकृतियोंके विपाकका सान्निध्य पाकर उपयोगमें जो उस विपाकका प्रतिफलन व विकल्प होता है वह जीव (जीव-विकार) है।

टीकार्थ—जो निश्चयसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे अमूर्तिक चैतन्यके परिणामसे अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्यपरिणामके विकार हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि मिथ्यात्व आदि जीव व अजीव दोनोंरूप हैं, इसपर यह जिज्ञासा हुई कि वे जीव अजीवरूप कौन-कौन हैं? इसके समाधानमें यह गाथा आई है।

तथ्यप्रकाश—(१) मिथ्यात्वप्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोधादि १६ चारित्रमोहनीयप्रकृतियाँ, ज्ञानावरण व शरीर अङ्गोपाङ्गादि नामकर्म आदि ये सब अजीव द्रव्यप्रत्यय हैं। (२) मिथ्यात्वभाव, हिंसादि पापभाव, अज्ञान व भावयोग ये सब जीवरूप भावप्रत्यय हैं। (३) द्रव्यप्रत्यय जीवसे पृथक् हैं। (४) भावप्रत्यय पुद्गलकर्मसे पृथक् हैं।

सिद्धान्त—(१) द्रव्यप्रत्यय उपादानरूप पौद्गलिक हैं। (२) भावप्रत्यय उपादानतया जीवरूप हैं।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८६॥

उपयोग मोहयुतके, अनादिसे तीन परिणामन वर्ते ।
मिथ्या अज्ञान तथा, अविरति इन तीनको जानो ॥८६॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य । मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८६॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः ॥८६॥

नामसंज्ञ—उवओग, अणाइ, परिणाम, ति, मोहजुत्त, मिच्छत्त, अण्णाण, अविरदिभाव, य । **धातुसंज्ञ**—जु मिश्रणे, जाण अवबोधने । **प्रकृतिशब्द**—उपयोग, अनादि, परिणाम, त्रि, मोहयुक्त, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतिभाव, च, ज्ञातव्य । **मूलधातु**—उप-युजिर् योगे, मुह वैचित्ये, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—उपयोगस्य–षष्ठी एकवचन । अनादयः–प्रथमा बहु० । परिणामाः–प्रथमा बहुवचन । त्रयः–प्रथमा बहु० । मोहयुक्तस्य–षष्ठी एक० । मिथ्यात्वं–प्रथमा एक० । अज्ञानं–प्रथमा एक० । अविरतिभावः–प्रथमा एक० । च–अव्यय । ज्ञातव्यः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया ॥८६॥

सिद्धान्त—(१) उपयोग (जीव) स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपमात्र है । (२) स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपका स्वभाव स्वभावविकासरूप परिणमते रहनेका है । (३) उपाधिसम्पर्कमें जीव विकाररूप परिणमता है ।

दृष्टि—१– परमशुद्धनिश्चयनय (४४), शुद्धनय (४६) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६) । ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) ।

प्रयोग—मोहनीयकर्मविपाकके प्रतिफलनमें आत्मत्वबुद्धि होनेसे संसारसंकटोंकी परम्परा चलती है और ये प्रतिफलन मेरे स्वरूप नहीं, ऐसा दृढ़ निर्णय रखकर कर्मरससे हटकर अविकार सहज चैतन्यस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥८६॥

अब आत्माके इन तीन प्रकारके परिणामविकारोंका कर्तृत्व दिखलाते हैं—[एतेषु च] मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनोंके अनादिसे निमित्तभूत होनेपर [शुद्धः] यद्यपि शुद्धनय से एक शुद्ध [निरंजनः] निरञ्जन [उपयोगः] उपयोग याने आत्मा है तो भी [एतेषु च]

भूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात् ॥९०॥

उपयोगः–प्रथमा एकवचन, त्रिविधः–प्रथमा एक०, शुद्धः–प्रथमा एक०, निरंजनः–प्रथमा एक०, भावः–प्रथमा एक०, यं–द्वितीया एक०, सः–प्रथमा एक०, करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०, भावं–द्वितीया एक० कर्म, उपयोगः–प्रथमा एक० कर्ता, तस्य–षष्ठी एक०, सः–प्रथमा ए०, कर्ता–प्रथमा एकवचन ॥९०॥

तथ्यप्रकाश—(१) उदयागत मिथ्यादर्शन ज्ञानावरण व चारित्रमोह द्रव्यप्रत्ययका निमित्त होनेपर जीव त्रिविध विकृत होता है। (२) परमार्थसे जीव शुद्ध निरञ्जन अनादि-निधन चिन्मात्र वस्तु है। (३) विकारोंसे परिणाम परिणाम कर जिस-जिस भावको आत्मा करता है आत्मा उस उस भावका कर्ता होता है।

सिद्धान्त—(१) आत्मा मोहयुक्तदशामें अपने विकाररूप परिणमता है सो उस परि-णामका कर्ता है। (२) आत्मा परमार्थसे शुद्ध चिन्मात्र वस्तु है।

दृष्टि— १– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३)। २– शुद्धनय (१९८)।

प्रयोग—सर्व परसंगको बाह्य तत्त्व जानकर उससे विविक्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने को अनुभवनेका पौरुष करना ॥९०॥

आगे आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तापना होनेपर पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मत्व रूप होकर परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं—[**आत्मा**] आत्मा [**यं भावं**] जिस भावको [**करोति**] करता है [**तस्य भावस्य**] उस भावका [**कर्ता**] कर्ता [**सः**] वह [**भवति**] होता है [**तस्मिन्**] उसके कर्ता होनेपर [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयं**] अपने आप [**कर्मत्वं**] कर्मरूप [**परिणमते**] परिणमन करता है।

तात्पर्य—आत्मा जिस विभावको करता है उस विभावका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणम जाता है।

टीकार्थ—आत्मा निश्चयसे आप ही उस प्रकार परिणमन कर प्रगटरूपसे जिस भाव को करता है उसका यह कर्ता होता है, जैसे मंत्र साधने वाला पुरुष जिस प्रकारके ध्यानरूप-भावसे स्वयं परिणमन करता है, उसी ध्यानका कर्ता होता है और समस्त उस साधकके साधने योग्य भावकी अनुकूलतासे उस ध्यानभावके निमित्तमात्र होनेपर उस साधकके बिना ही अन्य सर्पादिककी विषकी व्याप्ति स्वयमेव मिट जाती है, स्त्री जन विडम्बनारूप हो जाती हैं और बंधन खुल जाते हैं इत्यादि कार्य मंत्रके ध्यानकी सामर्थ्यसे हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे मिथ्यादर्शनादिभावसे परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभावका कर्ता होता

ष्यो, विडंब्यंते योषितो, ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात् । तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥६१॥

भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, तस्य–षष्ठी एकवचन, भावस्य–षष्ठी एक०, कर्मत्वं–प्र० ए० अथवा अव्यय क्रियाविशेषण यथा स्यात्तथा, परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया, तस्मिन्–सप्तमी एक०, स्वयं–अव्यय, पुद्गलं–प्र० ए०, द्रव्यम्–प्रथमा एकवचन ॥ ६१ ॥

रूप परिणमन उपाधिसम्पर्क बिना सम्भव नहीं है ।

सिद्धान्त––(१) द्रव्यप्रत्ययके सन्निधानमें आत्मा अपने विकारभावसे परिणमता है । (२) आत्माके विकारभावके सन्निधानमें पुद्गलकार्माणद्रव्य अपने कर्मत्वरूप विकारसे परिणमता है । (३) परिणमन सबका अपने स्वयंमें स्वयंके लिये स्वयंसे स्वयंकी परिणतिसे होता है ।

दृष्टि— १– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । ३– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३), कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ) ।

प्रयोग—जीव और कर्मका औपाधिक परिणमन होनेसे परभावपना जानकर उससे मुक्त होनेकी सुगमतापर उत्साह बढ़ाना और उनसे मुक्त होनेके एकमात्र साधनभूत सहज चैतन्यस्वरूपमें रत होकर तृप्त होना ॥६१॥

अज्ञानसे ही कर्म होता है ऐसा अब तात्पर्य कहते हैं––[**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय [**सः जीवः**] वह जीव [**परं**] परको [**आत्मानं कुर्वन्**] आपरूप करता है [**च**] और [**आत्मानं अपि**] अपनेको [**परं**] पररूप [**कुर्वन्**] करता हुआ [**कर्मणां**] कर्मोंका [**कारकः**] कर्ता [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—स्व व परमें एकत्वकी अवस्था रखने वाला अज्ञानी है और कर्मका कर्ता है ।

टीकार्थ—यह आत्मा अज्ञानसे परके और अपने विशेषका भेदज्ञान न होनेपर अन्यको तो अपने करता है, और अपनेको अन्यके करता है, इस प्रकार स्वयं अज्ञानी हुआ कर्मोंका कर्ता होता है । जैसे शीत उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ जो पुद्गल परिणामकी शीत उष्ण अवस्था है वह पुद्गलसे अभिन्न होनेसे आत्मासे नित्य ही अत्यंत भिन्न है, वैसे उस प्रकारका अनुभव करानेमें समर्थ जो रागद्वेष सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणामकी अवस्था वह पुद्गलकी अभिन्नताके कारण आत्मासे नित्य ही अत्यन्त भिन्न है । तथा उस पौद्गलिककर्मविपाकके

शेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो (ज्ञानविरुद्धस्य) कर्ता प्रतिभाति ।।९२।।

द्वितीया एक० । अपि–अव्यय । च–अव्यय । परं–द्वितीया एक० । कुर्वन्–प्रथमा एक० कृदन्त । सः–प्रथमा एक० । अज्ञानमयः–प्रथमा एक० । जीवः–प्रथमा एक० कर्ता । कर्मणां–षष्ठी बहु० । कारकः–प्रथमा ए० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।।९२।।

क्रोधी हूं, मानी हूं इत्यादि । इस प्रकार वह परका कर्ता होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि आत्माके जीवपरिणाम विकार कर्मका कर्तृत्व होनेपर पुद्गलकार्माण द्रव्य स्वयं कर्मरूपसे परिणमता है । इसी विषयका मौलिक तात्पर्य यह है कि अज्ञानसे कर्मका प्रभव होता है यही इस गाथामें स्पष्ट किया है ।

तथ्यप्रकाश—१–परको आत्मरूप व आत्माको पररूप मानना अज्ञान है । २–अज्ञानसे आत्मा मैं रागी द्वेषी हूं आदि विधिसे भावकर्मका कर्ता है । ३– रागद्वेषप्रकृतिरूप पुद्गलपरिणाम आत्मासे अत्यन्त भिन्न है । ४– रागद्वेषप्रकृतिरूप पुद्गलपरिणाम पुद्गलसे अभिन्न है । ५– रागद्वेषप्रकृतिविपाकनिमित्तक रागद्वेषभावानुभव पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है । ६– रागद्वेषप्रकृतिविपाकनिमित्तक रागद्वेषभावानुभव उस समय जीवसे अभिन्न है । ७– जीव अज्ञानात्मक रागद्वेषविपाकरूपसे परिणम नहीं सकता, किन्तु उसरूपसे अपना परिणमना मानना, यह अज्ञानमय भाव है ।

सिद्धान्त— १– परको आत्मा माननेकी मान्यताका कर्तृत्व अज्ञानी जीवमें है । २– रागद्वेषप्रकृतिविपाकोदय होनेपर जीवमें रागद्वेषभावानुभवन होता है ।

दृष्टि— १– कारककारकिभेदक अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७३अ), अशुद्ध निश्चयनय (४७) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—विपरीतमान्यतासे ही विकारोंका प्रादुर्भाव जानकर यथार्थ ज्ञानबलसे विपरीत मान्यता समाप्त करके अपनेमें कृतार्थताका अभ्युदय करना ।।९२।।

अब कहते हैं कि ज्ञानसे कर्म नहीं उत्पन्न होता—**[जीवः]** जीव **[आत्मानं]** अपनेको **[परं]** पररूप **[अकुर्वन्]** नहीं करता हुआ **[च]** और **[परं]** परको **[आत्मानं अपि]** अपने रूप भी **[अकुर्वन्]** नहीं करता हुआ **[सः]** वह **[ज्ञानमयः]** ज्ञानमय **[जीवः]** जीव **[कर्मणां]** कर्मोंका **[अकारकः]** करने वाला नहीं **[भवति]** है ।

तात्पर्य—कर्मविपाकको आपा न माननेवाला ज्ञानी जीव कर्मका कर्ता नहीं होता है ।

टीकार्थ—यह जीव ज्ञानसे परका और अपना परस्पर भेदज्ञान होनेसे परको तो

न्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ॥९३॥

सत्तायां। पदविवरण—परं—द्वितीया एकवचन। आत्मानं—द्वितीया एकवचन। अकुर्वन्—अ-कुर्वन्—प्रथमा एक० कृदंत। सः—प्रथमा एकवचन। ज्ञानमयः—प्रथमा एक०। जीवः—प्रथमा एक० कर्ता। कर्मणां—षष्ठी बहु०। अकारकः—प्रथमा एक०। भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ॥९३॥

जाने। ऐसा होनेपर इनका कर्ता आत्मा नही होता ज्ञाता ही रहता है, क्योंकि ज्ञानी जानता है कि जैसे शीत-उष्ण अवस्था पुद्गलकी है वह आत्माकी नही, ऐसे ही रागादि अनुभाग दशा पुद्गलकर्मकी है वह आत्माकी नहीं है, आत्माकी दशा तो तद्विषयक अनुभव है जो कि पुद्गलसे बिल्कुल जुदा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि अज्ञानसे कर्मका प्रभव होता है। अब उसीके प्रतिपक्षमें कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान होनेसे कर्मका प्रभव नहीं होता है।

तथ्यप्रकाश—१– स्वपरका यथार्थ ज्ञान होनेसे आत्मा परको आपा नहीं मानता तथा आत्माको पररूप नहीं मानता है यही मूलमें ज्ञानमय भाव है। २– आत्मा स्वयं रागद्वेषादि विपाकरूप परिणम तो सकता ही नहीं था अब भेदज्ञान होनेसे अज्ञानात्मक रागद्वेषादिरूपसे रंच भी नहीं परिणमता। ३–ज्ञानीके यह स्पष्ट निर्णय है कि यह मैं तो मात्र जानता ही हूं, कर्मप्रतिफलन हो उसे भी मात्र जानता हूं, मूलतः रागरूप तो पुद्गल हैं। ४–मैं मात्र जानन भावका ही करने वाला हूं इस दृढ़ निर्णयके कारण ज्ञानी समस्त रागादि परभावोंका अकर्ता है।

सिद्धान्त—१– आत्मा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावसे है। २– आत्मा पुद्गलकर्मादि समस्त परपदार्थोंके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नहीं है। ३– स्वपरके यथार्थ ज्ञान और ज्ञानभावना करने वाला ज्ञानी अज्ञानमय कर्मका अकर्ता है।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८)। २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। ३– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—परको पर निजको निज जानकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें रत होकर कृतकृत्य होनेका पौरुष करना ॥९३॥

अब कहते हैं कि कैसे अज्ञानसे कर्म उत्पन्न होता है? [एषः] यह [त्रिविधः] तीन

कारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥९४॥

करणे, क्रुध क्रोधे, भू सत्तायां । पदविवरण—त्रिविधः–प्रथमा एक० । एषः–प्रथमा एक० । उपयोगः–प्रथमा एकवचन । आत्मविकल्पं–द्वितीया एक० । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । क्रोधः–प्रथमा एक० । अहं–प्रथमा एक० । कर्ता–प्रथमा एक० । तस्य–षष्ठी एक० । उपयोगस्य–षष्ठी एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः–प्रथमा एक० । आत्मभावस्य–षष्ठी एकवचन ॥९४॥

माननेसे अपने विकार सहित चैतन्य परिणामका यह अज्ञानी जीव कर्ता होता है और वह अज्ञानभाव कर्म होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानसे कर्म (भावकर्म) का प्रभव होता है और ज्ञानसे कर्मका प्रभव नहीं होता । सो अब यहाँ यह पूछा गया कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं इसीके समाधानमें यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सर्वज्ञता न होने तक जो भी सोपाधि सविकार चैतन्यपरिणाम है वह सब सामान्यसे अज्ञानरूप है । (२) सम्यक्त्व न होने तक मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान है । (३) मिथ्याज्ञानी याने प्रबल अज्ञानी अज्ञानसे भाव्य अपनेको और भावक कर्मविपाकरस क्रोधादि को एक आधाररूपसे अनुभव करके "मैं क्रोध आदि हूं" ऐसा विकल्प बनाता है सो वह सविकार चैतन्यपरिणामरूप भावकर्मका कर्ता होता है ।

सिद्धान्त—(१) जीव अज्ञानसे अज्ञानमय भावकर्मका कर्ता है । (२) अज्ञानदशामें भी पर्याय एक अवक्तव्य है उसका व्यवहारसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकारों में वर्णन होता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– सभेद अशुद्धनिश्चयनय (४७अ), उपचरित अशुद्ध सद्भूतव्यवहार (७५) ।

प्रयोग—अपने अविकार चित्स्वरूप और कर्मरसमें अभेदबुद्धिसे ही सर्वसंकट होना जानकर अविकार चित्स्वरूपमें ही आत्मत्व स्वीकार कर इस अन्तःस्वरूपमें मग्न होनेका पुरुषार्थ करना ॥९४॥

अज्ञानी धर्मद्रव्य आदि अन्य द्रव्योंमें भी कैसा आत्मविकल्प करता है:—[**एष**] यह [**त्रिविधः**] तीन प्रकारका [**उपयोगः**] उपयोग [**धर्मादिकं**] धर्म आदिक द्रव्यरूप [**आत्मविकल्पं**] आत्मविकल्प [**करोति**] करता है याने उनको अपने जानता है [**सः**] सो वह [**तस्य**] उस [**उपयोगस्य**] उपयोगरूप [**आत्मभावस्य**] अपने भावका [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है ।

कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ॥६५॥

लट् अन्य पुरुष एक० । धर्मादिकं–द्वितीया एक० । कर्ता–प्रथमा एक० । तस्य–षष्ठी एक० । उपयोगस्य–षष्ठी एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः–प्र० ए० । आत्मभावस्य–षष्ठी एकवचन ॥६५॥

वाले अज्ञानसे भावकर्मप्रभवकी बात बताई थी, अब ज्ञेयज्ञायकविधिसे परको आत्मत्व स्वीकारने वाले अज्ञानसे भावकर्मप्रभवकी बात इस गाथामें कही गई ।

तथ्यप्रकाश—(१) मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानसे जीव ज्ञेय परपदार्थको व ज्ञायक अपने आपको समान आधाररूपसे अनुभव करके परज्ञेयाकारमें यह मैं हूं इस विकल्पको करता है । (२) अज्ञानसे यह जीव परद्रव्य ज्ञानविकल्पको स्वयं आपा मानकर आज्ञनी सोपाधि चैतन्यपरिणामरूप आत्मभावका कर्ता होता है ।

सिद्धान्त—(१) अज्ञानी परपरिच्छित्तिविकल्पमें स्वत्व अनुभव कर सोपाधिचैतन्यपरिणामरूप भावकर्मका कर्ता होता है । (२) धर्मास्तिकायादि-परिच्छित्तिरूप विकल्पमें धर्मास्तिकायादिका आरोप होता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१२१) ।

प्रयोग—ज्ञेयोंसे पृथक् ज्ञेयाकारपरिच्छित्तिरूप विकल्पसे विविक्त ज्ञानमय एक ज्ञायक भावमें दृष्टि रखकर ज्ञेयज्ञायकसंकरता दूर कर परमविश्राम अनुभवना चाहिये ॥६५॥

यहां कर्तृत्वका मूल कारण अज्ञान है, इसीके समर्थनमें कहते हैं—[**एवं तु**] ऐसे पूर्वकथित रीतिसे [**मंदबुद्धिः**] अज्ञानी [**अज्ञानभावेन**] अज्ञानभावसे [**पराणि द्रव्याणि**] परद्रव्योंको [**आत्मानं**] अपनेरूप [**करोति**] करता है [**अपि च**] और [**आत्मानं**] अपनेको [**परं करोति**] पररूप करता है ।

तात्पर्य—यह मंदबुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव परको आत्मरूप व आत्माको पररूप अज्ञानके कारण मानता है ।

टीकार्थ—यह आत्मा मैं क्रोध हूं, मैं धर्मद्रव्य हूं इत्यादि पूर्वोक्त प्रकारसे परद्रव्योंको आत्मरूप करता है और अपनेको परद्रव्यरूप करता है, ऐसा यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तुके सम्बन्धसे रहित अमर्यादरूप शुद्ध चैतन्य धातुमय है तो भी अज्ञानसे सविकार सोपाधिरूप किये अपने चैतन्य परिणामरूपसे उस प्रकारका अपने परिणामका कर्ता प्रतिभासित होता है । इस प्रकार आत्माके भूताविष्ट पुरुषकी भांति तथा ध्यानाविष्ट पुरुषकी भांति कर्तापनेका मूल अज्ञान प्रतिष्ठित हुआ । यही अब स्पष्ट करते हैं–भूताविष्ट पुरुष (अपने शरीरमें भूतप्रवेश किया

भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरंवितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । यथा चापरीक्षकाचार्यदिशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनि-

---

मूलधातु—द्रु गतौ द्रवणे, डुकृञ् करणे, बुध अवगमने भ्वादि व दिवादि । **पदविवरण**—एवं–अव्यय । पराणि–द्वितीया वहुवचन । द्रव्याणि–द्वितीया वहुवचन । आत्मानं–द्वि० एक० । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । मंदबुद्धिः–प्रथमा एक० । तु–अव्यय । आत्मानं–द्वि० एक० । अपि–अव्यय । च–अव्यय ।

याने अपनेसे एकरूप मानता है । अतः वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है । यहाँ क्रोधादिकसे एक माननेका तो भूताविष्ट पुरुषका दृष्टांत है और धर्मादि अन्य द्रव्यसे एकता माननेका ध्यानाविष्ट पुरुषका दृष्टांत है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुग्ममें यह बताया गया था कि अज्ञानसे जीव भाव्यभावकविषयक अभेदबुद्धिसे भावकर्मका कर्ता है और परज्ञेयज्ञायकविषयक अभेदबुद्धिसे भावकर्मका कर्ता है । इस विवरणके बाद इस गाथामें निर्णय पुष्ट किया गया है कि कर्तृत्वका मूल अज्ञान ही है ।

तथ्यप्रकाश—१–जैसे भूताविष्ट पुरुष भूत और अपनेको एक करता हुआ अमानुषीय अटपट चेष्टा करता है इसी प्रकार कर्मविपाकाक्रान्त जीव कर्मरस और अपनेको एक करता हुआ स्वभावानुचित क्रोधादिविकार विकल्प करता है । २–जैसे महिषध्यानाविष्ट पुरुष विकल्प में भैंसा और अपनेको एक करता हुआ महाविषाणपनेके अध्याससे कैसे मनुष्योचित छोटे द्वार से निकलूँ ऐसा विकल्पविमूढ होकर असद्विकल्प करता है इसी प्रकार परज्ञेयध्यानाविष्ट जीव परज्ञेय व ज्ञायकरूप अपनेको एक करता हुआ परद्रव्यके अध्याससे मूर्च्छित होकर पररूपात्मविकल्पविमूढ होकर असद्विकल्प करता है ।

सिद्धान्त—१– परभावोंको व परद्रव्योंको आत्मरूप मानना मिथ्या है, केवल किसी सम्पर्कके कारण परद्रव्योको आत्मरूप मानना मिथ्या है, केवल किसी सम्पर्कके कारण परद्रव्योंको व परभावोंको आत्मरूप कहना रूढ़ हो गया है । २– वस्तुतः आत्मा परद्रव्यों व परभावोंसे विविक्त केवल चेतनामात्र है ।

दृष्टि—१– उपाधिज उपचरित प्रतिफलन व्यवहार (१०४), उपाधिज उपचरित स्वस्वभावव्यवहार (१०३), एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१०६), स्वजातिद्रव्ये स्वजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१०६अ) । २– परमशुद्धनिश्चयनय (४४), शुद्धनय (४६) ।

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वं—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

इस आत्माको कर्ता, होना अज्ञानमें बताया है।
ऐसा हि जानता जो, वह सब कर्तृत्वको तजता ॥९७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः। एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्तृत्वं ॥९७॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति। यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति। तथाहि—इहायमात्मा किलज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारम्वारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति। ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्ध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्।

नामसंज्ञ—एत, दु, कत्तार, अत्त, णिच्छयविदु, परिकहिद, एवं, खलु, ज, जाण अवबोधने, त, सव्वकत्तित्त। धातुसंज्ञ—विद ज्ञाने, परि-कह वाक्यप्रवन्धे, जाण अवबोधने, मुंच त्यागे। प्रकृतिशब्द—

जानता है। इसलिए अकृत्रिम, नित्य, एक ज्ञान ही मैं हूं और कृत्रिम, अनित्य, अनेक जो ये क्रोधादिक हैं, वे मैं नहीं हूं ऐसा जाने तब क्रोधादिक मैं हूं' इत्यादिक विकल्प अपनेमें किंचिन्मात्र भी नहीं करता। इस कारण समस्त ही कर्तृत्वको छोड़ता हुआ सदा ही उदासीन वीतराग अवस्था स्वरूप होकर ज्ञायक ही रहता है, इसीलिए निर्विकल्पस्वरूप अकृत्रिम नित्य कए विज्ञानघन हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—यदि कोई परद्रव्यके भावोंके अपने कर्तृत्वको अज्ञान जान ले तब आप विकल्पमें भी उसका कर्ता क्यों बने? अज्ञानी रहना हो तो परद्रव्यका कर्ता बने। इसलिए ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता। अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष निश्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप हुआ भी अज्ञानसे तृण सहित मिले हुये अन्नादिक सुन्दर आहारको खाने वाले हस्ती आदि तिर्यञ्चके समान होता है, वह शिखरिनी (श्रीखण्ड) को पीकर उसके दही मीठेके मिले हुए खट्टे मीठे रसकी अत्यन्त इच्छासे उसके रसभेदको न जानकर दूधके लिये गायको दुहता है।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष शिखरिनको पीकर उसके स्वादकी अतिइच्छासे रसके ज्ञान बिना ऐसा जानता है कि यह गायके दूधमें स्वाद है, अतः अतिलुब्ध हुआ गायको दुहता है,

अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः । अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्, शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ।।५८।। ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं । चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानाति एव हि करोति न किंचनापि ।।५९।। ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था, ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेद-

मुच्लृ मोक्षणे तुदादि । पदविवरण—एतेन–तृतीया एक० । तु–अव्यय । सः–प्रथमा एक० । कर्ता–प्रथमा एक० । आत्मा–प्रथमा एक० । निश्चयविद्भिः–तृतीया बहु० कर्मवाच्ये कर्ता । एवं–अव्यय । खलु–अव्यय ।

इत्यादि । **अर्थ**—जैसे अग्नि और जलकी उष्णता और शीतलताकी व्यवस्था ज्ञानसे ही जानी जाती है; लवण तथा व्यंजनके स्वादका भेद ज्ञानसे ही जाना जाता है । उसी प्रकार अपने रस से विकासरूप हुआ जो नित्य चैतन्यधातु उसका तथा क्रोधादिक भावोंका भेद भी ज्ञानसे ही जाना जाता है । यह भेद कर्तृत्वके भावको दूर करता हुआ प्रकट होता है ।

अब कहते हैं कि आत्मा अपने भावका ही कर्ता है—**अज्ञानं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप भी आत्माको ही करता हुआ आत्मा प्रकट रूपसे अपने ही भावका कर्ता है, वह परभावका कर्ता तो कभी नहीं है । अब आगेकी गाथाकी सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं— **आत्मा** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञानसे अन्य किसको करता है ? किसीको नहीं करता । तब परभावका कर्ता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारी जीवोंका मोह (अज्ञान) है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि यह निर्णय हुआ कि अज्ञानसे कर्मका प्रभव होता है । अब यहां यह निर्णय इस गाथामें दिया है कि ज्ञानसे कर्तृत्व नष्ट हो जाता है ।

तथ्यप्रकाश— १– पर और आत्माका एकत्व नहीं है, किन्तु प्राणी अज्ञानसे पर व आत्माके एकत्वका विकल्प करता है, इसीसे आत्मा कर्ता कहलाता है । २– जो अज्ञानसे होने वाले विकल्प कर्तृत्वके तथ्यको जानते हैं वह ज्ञानी है, वह कर्तृत्वको छोड़ देता है । ३– पर और आत्माको एकमेक जाननेका कारण ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका स्वाद लेनेसे भेदज्ञानकी शक्तिका मुद्रित हो जाना है । ४–पर और आत्माको एकरूपसे जाननेके कारण अज्ञानी जीव "मैं क्रोध हूं" इत्यादिरूप आत्मविकल्प करता है । ५– विकारोंमें आत्मविकल्प करनेसे निर्विकल्प विज्ञानघन स्वरूपसे भ्रष्ट होता हुआ यह अज्ञानी बारबार अनेक विकल्पोंसे परिणमता हुआ कर्ता कहा जाता है । ६– स्वभाव परभावका भेद जानने वाला ज्ञानी परतत्त्वसे भिन्न अपना स्वादभेदसंवेदन शक्तिवाला होता है । ७–मैं तो एक चैतन्यरस हूं, कषायें भिन्नरस हैं, भेदज्ञानमें ऐसा स्पष्ट ज्ञान रहता है । ८– सहजसिद्ध ज्ञानमात्र अपनेको स्वीकारने वाला तथा

तथा हि—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

व्यवहारमात्रसे यह, आत्मा करता घटादि द्रव्योंको ।
करणोंको कर्मोंको, नोकर्मोंको बताया है ॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि । करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥९८॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहि:कर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंत:कर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ॥९८॥

नामसंज्ञ—ववहार, दु, अत्त, घडपडरथ, दव्व, करण, य, कम्म, य, णोकम्म, इह, विविह । धातुसंज्ञ—कर करणे । प्रकृतिशब्द—व्यवहार, तु, आत्मन्, घटपटरथ, करण, च, कर्मन्, च, नोकर्मन्, इह, विविध । मूलधातु—वि-अव-हृञ हरणे, घट संघाते चुरादि, पट गतौ भ्वादि । पदविवरण—व्यवहारेण—तृतीया एक० । तु—अव्यय । आत्मा—प्रथमा एक० । करोति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । घटपटरथाणि—द्वितीया बहु० । द्रव्याणि—द्वितीया बहु० कर्मकारक । करणाणि—द्वितीया बहु० । च—अव्यय । कर्माणि—द्वि० बहु० । च—अ० । नोकर्माणि—द्वि० बहु० । इह—अव्यय । विविधानि—द्वितीया बहुवचन ॥९८॥

पट आदिको करनेका प्ररूपण किस प्रकार है इसके समाधानमें यह गाथा आई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा घटपट आदि परद्रव्योंको करता है यह उपचारसे कहा जाता है । (२) इस उपचारमें यद्यपि निमित्तनैमित्तिक परम्परा है तो भी निश्चयदृष्टिसे मिथ्या है । (३) आत्मा कर्म नोकर्म व इन्द्रियोंको करता है यह कथन भी उपचारसे है । (४) आत्माकी कर्ममें निमित्तता, नोकर्मादिमें निमित्तनिमित्तता आदि सम्बन्ध होनेपर भी जीवसे अत्यन्त भिन्न द्रव्य होनेसे निश्चयसे यह उपचारकथन मिथ्या है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा घट पट आदि परद्रव्यको करता है यह उपचार कथन है । (२) आत्मा कर्म नोकर्मको करता है यह भी उपचार कथन है ।

दृष्टि—१— असंश्लिष्टविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २— संश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार (१२५) ।

प्रयोग—आत्मा परभावका कर्ता है इस वार्ताको मोहचेष्टामात्र जानकर इस अज्ञानको छोड़कर अकारण अकार्य अविकार सहज ज्ञानस्वरूपमें रुचि करके संकटमुक्तिका पौरुष करना ॥९८॥

यह व्यवहारका मानना परमार्थदृष्टिमें सत्यार्थ नहीं है—[यदि] यदि [सः] वह

नियमेन तन्मयः स्यात् न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ॥६६॥

एकवचन क्रिया। नियमेन–तृतीया एक०। तन्मयः–प्रथमा एक०। भवेत्–विधि लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। यस्मात्–पंचमी एकवचन हेत्वर्थे। न–अव्यय। तन्मयः–प्र० ए०। तेन–तृतीया एक०। सः–प्रथमा एक०। न–अव्यय। तेषां–षष्ठी बहु०। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। कर्ता–प्रथमा एकवचन ॥६६॥

दोष आता है। (२) कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यमय नहीं है। (३) यदि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाय तो द्रव्यका ही उच्छेद जायगा। (४) एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, इस कारण कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं होता।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणामरूपसे परिणमता है। (२) आत्मा उपादानरूपसे परद्रव्योंका कर्ता नहीं है।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८)। २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२६)।

प्रयोग—अपनेको समस्त परसे भिन्न अतन्मय निहारकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ही उपयोग रखनेका पौरुष करना ॥६६॥

अब कहते हैं कि आत्मा व्याप्य-व्यापक भावसे तो परका कर्ता है ही नहीं, और निमित्तनैमित्तिक भावसे भी कर्ता नहीं है—[**जीवः**] जीव [**घटं**] घड़ेको [**न करोति**] नहीं करता [**एव**] और [**पटं**] पटको भी [**न**] नहीं करता [**शेषकाणि**] शेष [**द्रव्याणि**] द्रव्योंको भी (**नैव**) नहीं करता (**योगोपयोगौ च**) किन्तु जीवके योग और उपयोग दोनों (**उत्पादकौ**) घटादिक के उत्पन्नकरने वाले निमित्त हैं (**तयोः**) सो उन दोनोंका याने योग और उपयोगका यह जीव (**कर्ता**) कर्ता (**भवति**) है।

तात्पर्य—जीव घट-पटादिक करनेका निमित्त भी नहीं है, किन्तु जीवका योग व उपयोग घटादिकके होनेका निमित्त हो सकता है।

टीकार्थ—वास्तवमें घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप जो कर्म हैं उनको यह आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे नहीं करता। क्योंकि यदि ऐसे करे तो उनसे तन्मयताका प्रसंग आ जायगा। तथा यह आत्मा घट-पटादिको निमित्तनैमित्तिकभावसे भी नहीं करता, क्योंकि ऐसे करे तो सदा सब अवस्थाओंमें कर्तृत्वका प्रसंग आ जायगा। तब इन कर्मोंको कौन करता है, सो कहते हैं। इस आत्माके अनित्य योग और उपयोग ये दोनों जो कि सब अवस्थाओंमें व्यापक नहीं हैं, वे उन घटादिकके तथा क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप कर्मोंके निमित्तमात्रसे कर्ता

त्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिद-ज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥१००॥

घटं–द्वितीया एकवचन। न–अव्यय। एव–अव्यय। शेषकानि–द्वितीया बहु०। द्रव्याणि–द्वि० बहु०। योगो-पयोगौ–प्रथमा द्विवचन। उत्पादकौ–प्रथमा द्विवचन। च–अव्यय। तेषां–षष्ठी बहु०। भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। कर्ता–प्रथमा एकवचन ॥१००॥

कर्ता होता तो आत्मा घटादिमय व क्रोधादिमय हो जाता यह प्रसंगदोष आता। २–आत्मा यदि घटादिक व क्रोधादिक परद्रव्यपरिणामका निमित्तरूपसे कर्ता होता तो सदैव उनका कर्ता रहनेका प्रसंगदोष आता। ३–आत्माके योग उपयोग ही घटादि व क्रोधादि परद्रव्यात्म-रूपरिणामके निमित्तपनेसे कर्ता हैं याने योगोपयोगका निमित्त पाकर पुद्गलस्कंध स्वयं घटादि व कर्मादिरूप परिणम जाते हैं। ४–आत्मा अज्ञानसे वैसे विकल्प व व्यापार रूप परिणमता है, अतः आत्मा योग (व्यापार) व उपयोग (विकल्प) का कदाचित् कर्ता है। ५–आत्मद्रव्य परद्रव्यात्मक परिणामका कर्ता न उपादानरूपसे है और न निमित्तरूपसे है।

सिद्धान्त—१–आत्मा किसी भी परद्रव्यभावका कर्ता नहीं। २–आत्माके विकल्प व व्यापारका निमित्त पाकर घटादिक व कर्मादिक परद्रव्यपरिणाम होता है।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय।

प्रयोग—ज्ञानमात्र एक ज्ञायकस्वभाव मैं आत्मद्रव्य किसी भी परद्रव्यपरिणामका न तो उपादानरूपसे कर्ता हूं और न निमित्तरूपसे कर्ता हूं, मैं तो अकर्तृस्वभाव ध्रुव सहजज्ञान स्वभावमें रमकर कृतार्थ होऊंगा ऐसा ज्ञानप्रयोग करना चाहिये ॥१००॥

अब कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है:—[**पुद्गलद्रव्याणां**] पुद्गल द्रव्योंके [**परिणामाः**] परिणाम ये जो [**ज्ञानावरणानि**] ज्ञानावरणादिक [**भवंति**] हैं [**तानि**] उनको [**आत्मा**] आत्मा [**न करोति**] नहीं करता, ऐसा [**यः**] जो [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] है।

तात्पर्य—ज्ञानीकी दृढ़ श्रद्धा है कि आत्मा जानन सिवाय अन्य कुछ किसीका नहीं करता, सो वह कर्मको भी जान रहा है, करता नहीं।

टीकार्थ—वास्तवमें जो पुद्गलद्रव्यके परिणाम गोरसमें व्याप्त दही दूध मीठा खट्टा परिणाम की भांति पुद्गलद्रव्यसे व्याप्त होनेसे ज्ञानावरणादिक हैं उनको निकट बैठा गोरसा-ध्यक्षकी तरह ज्ञानी कुछ भी नहीं करता है। किन्तु जैसे वह गोरसाध्यक्ष गोरसके दर्शनको अपने परिणामसे व्यापकर मात्र देखता ही है, उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गलपरिणामनिमित्तक अपने ज्ञानको जो कि अपने व्याप्यरूपसे हुआ उसको व्यापकर जानता ही है। इस प्रकार

ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥१०१॥

बहु० । ज्ञानावरणानि–प्रथमा बहु० । न–अव्यय । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । तानि–द्वितीया बहु० । आत्मा–प्रथमा एक० । यः–प्र० ए० । जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सः–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । ज्ञानी–प्रथमा एकवचन ॥१०१॥

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—पुद्गलोंके परिणामको पुद्गलोंमें ही जानकर व अपने ज्ञानपरिणामको अपनेमें ही जानकर एकत्वविभक्त निज ज्ञायक स्वरूपका आश्रय लेकर सहज आनन्दका अनुभवन करना ॥१०१॥

अब कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्यके भावका कर्ता नहीं हैः—(**आत्मा**) आत्मा (**यं**) जिस (**शुभं अशुभं**) शुभ अशुभ (**भावं**) अपने भावको (**करोति**) करता है (**खलु**) वास्तवमें (**सः**) वह (**तस्य**) उस भावका (**कर्ता**) कर्ता होता है (**तत्**) वह भाव (**तस्य**) उसका (**कर्म**) कर्म (**भवति**) होता है (**तु स आत्मा**) और वही आत्मा (**तस्य**) उस भावरूप कर्मका (**वेदकः**) भोक्ता होता है ।

तात्पर्य—आत्मा अपने ही भावका कर्ता होता है व अपने ही भावका भोक्ता होता है ।

टीकार्थ—इस लोकमें आत्मा अनादिकालसे अज्ञानसे पर और आत्माके एकत्वके निश्चयसे तीव्र मंद स्वादरूप पुद्गल कर्मकी दोनों दशाओंसे स्वयं अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वादरूप आत्माके होनेपर भी स्वादको भेदरूप करता हुआ शुभ तथा अशुभ अज्ञानरूप भावको अज्ञानी करता है । वह आत्मा उस समय उस भावसे तन्मय होनेसे उस भावके व्यापकताके कारण उस भावका कर्ता होता है । तथा वह भाव भी उस समय उस आत्माकी तन्मयतासे उस आत्माका व्याप्य होता है, इसलिये उसका कर्म होता है । वही आत्मा उस समय उस भावकी तन्मयतासे उस भावका भावक होनेके कारण उसका अनुभव करने वाला होता है । वह भाव भी उस समय उस आत्माके तन्मयपनेसे आत्माके भावने योग्य होनेके कारण अनुभवने योग्य (भोगने योग्य) होता है । इस प्रकार अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है । **भावार्थ**—अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावरूप शुभाशुभभावोंका ही अज्ञान अवस्थामें कर्ता भोक्ता है, परद्रव्यके भावका कर्ता भोक्ता नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है । अब इसी संदर्भसे सम्बन्धित यह तथ्य इस गाथामें बताया है कि वास्तवमें अज्ञानी जीव भी

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

जो जिस द्रव्य व गुणमें, वह नहिं परद्रव्यमें पलट सकता।
परमें मिलता न हुआ, कैसे पर परिणमा सकता ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये। सोन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥१०३॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यांतरं गुणान्तरं वा संक्रामेत। द्रव्यांतरं गुणा-

---

नामसंज्ञ—ज, ज, गुण, दव्व, त, अण्ण, दु, ण, दव्व, त, अण्ण, असंकंत, कह, त, दव्व। **धातुसंज्ञ**—सम्-क्कम पादविक्षेपे, परि-नम नम्रीभावे प्रेरणार्थे। **प्रकृतिशब्द**—यत्, यत्, गुण, द्रव्य, तत्, अन्य, तु, न, द्रव्य, तत्, अन्यदसंक्रान्त, कथं, तत्, द्रव्य। **मूलधातु**—क्रमु पादविक्षेपे भ्वादि। **पदविवरण**—यः-प्रथमा

प्रयोग— निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसंगमें भी वस्तुस्वातंत्र्य जानकर अन्तःस्वभावदृष्टि करके निरुपाधिस्वातंत्र्यका आदर करके विशुद्ध चित्प्रकाशमात्र अपनेको अनुभवना ॥१०२॥

अब कहते हैं कि परभाव किसीके द्वारा भी नहीं किया जा सकता—[**यः**] जो द्रव्य [**यस्मिन्**] जिस अपने [**द्रव्ये**] द्रव्यस्वभावमें [**गुणे**] तथा अपने जिस गुणमें वर्तता है [**सः**] वह [**अन्यस्मिन् तु**] अन्य [**द्रव्ये**] द्रव्यमें तथा गुणमें [**न संक्रामति**] संक्रमण नहीं करता याने पलटकर अन्यमें नहीं मिल जाता [**सः**] वह [**अन्यदसंक्रान्तः**] अन्यमें नहीं मिलता हुआ वस्तुविशेष [**तत् द्रव्यं**] उस अन्य द्रव्यको [**कथं**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमा सकता है, अर्थात् कभी नहीं परिणमा सकता।

तात्पर्य—जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप, गुणरूप हो ही नहीं सकता तब अन्य द्रव्यको परिणमानेकी चर्चा ही नहीं उठ सकती।

टीकार्थ— इस लोकमें जो कोई वस्तुविशेष अपने चेतनस्वरूप तथा अचेतनस्वरूप द्रव्यमें तथा अपने गुणमें, अपने निजरसमें ही अनादिसे वर्तता है, वह वास्तवमें अपनी अचलित वस्तुस्थितिकी मर्यादाको भेदनेके लिये असमर्थ होनेके कारण अपने ही द्रव्य गुणमें रहते है। द्रव्यांतर तथा गुणांतररूप संक्रमण नहीं करता हुआ वह अन्य वस्तुविशेषको कैसे परिणमन करा सकता अर्थात् कभी नहीं परिणमन करा सकता। इसी कारण परभाव किसीके भी द्वारा नही किया जा सकता। **भावार्थ**—जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी नहीं पलट सकता,

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

पुद्गलमय कर्मोमें, आत्मा नहिं द्रव्य गुण कभी करता ।
उनको करता न हुआ, कर्ता हो कर्मका कैसे ?

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि । तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर-संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः द्रव्यांतरसंक्रम-मंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव

नामसंज्ञ—दव्वगुण, य, अत्त, ण, पुग्गलमय, कम्म, त, उभय, अकुव्वंत, त, कहं, त, त, कत्तार । धातुसंज्ञ—पूर पालनपूरणयोः, गल स्रवणे, कुण करणे, कुव्व करणे । प्रातिपदिक—द्रव्यगुण, च, आत्मन्, न, पुद्गलमय, कर्मन्, तत्, उभय, अकुर्वत्, तत्, कथं, तत्, कर्तृ । मूलधातु—पूरी आप्यायने, गल स्रवणे,

है । अन्य द्रव्यरूप हुए बिना अन्य वस्तुका परिणमन कराये जानेकी असमर्थतासे उन द्रव्योंको तथा गुणोंको अन्यमें नहीं धारता हुआ परमार्थसे उस मृत्तिकामय कलशनामक कर्मका निश्चय से कुम्भकार कर्ता नहीं प्रतिभासित होता । उसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य और पुद्गलके गुणोंमें अपने रससे ही वर्तमान हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव को और अपने गुणको निश्चयसे नहीं धारण कर सकता । क्योंकि अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें तथा अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यके गुणोंमें संक्रमण होनेकी असमर्थता है । इस प्रकार अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें संक्रमणके बिना अन्य वस्तुको परिणमानेकी असमर्थता होनेसे उन द्रव्य और गुण दोनोंको उस अन्यमें नहीं रखता हुआ आत्मा उस अन्य पुद्गलद्रव्यका कैसे कर्ता हो सकता है, कभी नहीं हो सकता । इस कारण यह निश्चय हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि कोई भी द्रव्य किसी भी पर के परिणमनको नहीं कर सकता । सो अब इस कथनसे अपना प्रायोजनिक निश्चय बताया है इस गाथामें कि इस कारण यह ठीक रहा कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निमित्तभूत वस्तु उपादानमें अपना द्रव्य, गुण, क्रिया, प्रभाव कुछ भी नहीं डालता । (२) प्रभावका अर्थ है—भाव याने होना, प्र याने प्रकृष्टरूपसे होना सो यह भाव प्रभाव उपादानका परिणमन है । (३) निमित्तभूत वस्तुके सान्निध्यमें उपादान अपनेमें प्रभाव उत्पन्न कर लेता । (४) चूंकि यह प्रभाव निमित्तभूत वस्तुके सान्निध्य बिना

अतोन्यस्तूपचारः—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूरण परिणामं ।
जीवेरण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवहेतु होनेपर, विधिके बन्धपरिणामको लख कर ।
जीव कर्म करता है, ऐसा उपचारमात्र कहा ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं । जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०५ ॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्वि-

---

नामसंज्ञ—जीव, हेदुभूद, बंध, दु, परिणाम, जीव, कद, कम्म, उवयारमत्त । धातुसंज्ञ—पास दर्शने, भण कथने । प्रकृतिशब्द—जीव, हेतुभूत, बन्ध, तु, परिणाम, जीव, कृत, कर्मन्, उपचारमात्र । मूलधातु—जीव प्राणधारणे, बन्ध बन्धने, दृशिर् प्रेक्षणे, डुकृञ् करणे, भण शब्दार्थे, उप·चर गत्यर्थे भक्षणेपि भ्वादि, चर संशये चुरादि । पदविवरण—जीवे–सप्तमी एकवचन । हेतुभूते–स० ए० । बंधस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । दृष्ट्वा–असमाप्तिकी क्रिया । परिणामं–द्वि० एक० । जीवेन–तृतीया एकवचन कर्मवाच्ये कर्ता ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि यह निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है । अब इस गाथामें बताया कि इससे विपरीत कहना याने जीवने कर्म किया यह कहना उपचारमात्र है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पौद्गलिक कार्माणवर्गणामें कर्मत्व होनेका निमित्तभूत अशुद्धोपादान आत्मा है । (२) आत्मा कर्मत्वका निमित्तभूत स्वभावसे नहीं है । (३) अज्ञानभावसे परिणम रहा ही आत्मा कर्मत्वका निमित्तभूत है । (४) कर्मत्वका निमित्तभूत होनेसे जीवको कर्मका कर्ता कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है । (५) विज्ञानघनभ्रष्ट विकल्पक बहिरात्मावोंके ही परकर्तृत्वका विकल्प होता है । (६) निमित्तनैमित्तिक भावके कारण निमित्तको नैमित्तिककार्यका कर्ता कहना उपचारसे ही है, उपचार ही है, परमार्थ नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) निमित्तत्व बतानेके प्रयोजनवश निमित्तमें कर्तृत्वका आरोप किया जाता है । (२) वास्तविक विधि तो उसी द्रव्यका सब कुछ उसी द्रव्यमें बतानेकी होती है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व असद्भूतव्यवहार (१२९) । २– अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय, शक्तिबोधक परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, सभेद शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, सभेद अशुद्धनिश्चयनय, विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनय (४४, ४५, ४६, ४६अ, ४७, ४७अ, ४८, ४९) ।

प्रयोग—एकका दूसरेके साथ सम्बन्ध नहीं, प्रभाव नहीं, सब अपने-अपने स्वरूपा-

कथं इति चेत्—

जोधेहिं कदे जुदे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योद्धादि युद्ध करते, करता नृप युद्ध यह कहे जनता ।
व्यवहारसे किये त्यों, ज्ञानावरणादि आत्माने ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः । तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न तु परमार्थः । तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो न परमार्थः ॥१०६॥

नामसंज्ञ—जोध, कद, जुद्ध, राय, कद, इति, लोग, तह, ववहार, कद, णाणावरणादि, जीव। **धातुसंज्ञ**—जुज्झ संप्रहारे, जंप व्यक्तायां वाचि । **प्रकृतिशब्द**—योध, कृत, युद्ध, राजन्, कृत, इति, लोक, तथा, व्यवहार, कृत, ज्ञानावरणादि, जीव । **मूलधातु**—युध संप्रहारे दिवादि, राजृ दीप्तौ भ्वादि, जल्प व्यक्तायां वाचि मानसे च भ्वादि, लोकृ दर्शने भ्वादि, लोकृ भाषार्थे चुरादि । **पदविवरण**—योधैः–तृतीया बहु० । कृते–सप्तमी एकवचन कृदन्त । युद्धे–सप्तमी एक० । राज्ञा–तृ० ए० । कृतं–प्रथमा एक० कृदन्त । इति–अव्यय । जल्पते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । लोकः–प्रथमा एक० । तथा–अव्यय । व्यवहारेण–तृ० ए० । कृतं–प्रथमा एक० । ज्ञानावरणादि–प्रथमा एक० । जीवेन–तृतीया एकवचन ॥१०६॥

शिक्षा दिला सकता है ।

सिद्धान्त—(१) कार्यमें जो निमित्त हो उसे कार्यका कर्ता कहना उपचार है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) ।

प्रयोग—जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये, इस उपचारकथनमें यह तथ्य निहार करके कि जीवके विकल्प व व्यापारका निमित्त पाकर यह सब कर्मबोझ बन गया सो अब निर्विकल्प निष्क्रिय ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करना ताकि अपनेको परमविश्राम मिले और निकटकालमें सदाके लिये कर्ममुक्त होकर संसार-संकटसे छुटकारा मिले ॥१०६॥

अब ऐसा निश्चय हुआ कि—[**आत्मा**] आत्मा [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्यको [**उत्पादयति**] उत्पन्न करता है [**च**] और [**करोति**] करता है [**बध्नाति**] बाँधता है [**परिणामयति**] परिणमता है [**च**] तथा [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है ऐसा [**व्यवहारनयस्य**] व्यवहारनयका [**वक्तव्यं**] वचन है ।

तात्पर्य—आत्मा अपने भावको ही करता है, फिर निमित्तनैमित्तिक भाव दिखनेसे

भावेपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ।। १०७ ।।

दाने । **पदविवरण**—उत्पादयति करोति, बध्नाति, परिणामयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। आत्मा–प्रथमा एकवचन । पुद्गलद्रव्यं–द्वितीया एक० । व्यवहारनयस्य–षष्ठी एक० । वक्तव्यं–प्रथमा एकवचन कृदन्त ।

पर आगमका यह सिद्धान्त वाला व्यवहार बनता है "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।"

सिद्धान्त—(१) निमित्तत्व होनेसे आत्मा पुद्गलद्रव्यको करता है यह उपचार किया जाता है । (२) आत्माके योग उपयोगका निमित्त पाकर पुद्गलकार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानबलसे अविकार ज्ञानस्वभावका अनुभव करके अपनेको निर्भर रहने देनेका पौरुष करना ।। १०७ ।।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह उपचार किस तरहसे है, उसका उत्तर दृष्टांत द्वारा देते हैं—**[यथा]** जैसे **[राजा]** राजा **[दोषगुणोत्पादकः]** प्रजाके दोष और गुणोंका उत्पन्न करने वाला है **[इति]** ऐसा **[व्यवहारात्]** व्यवहारसे **[आलपितः]** कहा है **[तथा]** उसी प्रकार **[जीवः]** जीव **[द्रव्यगुणोत्पादकः]** पुद्गल द्रव्यमें द्रव्य गुणका उत्पादक है, ऐसा **[व्यवहारात्]** व्यवहारसे **[भणितः]** कहा गया है ।

टीकार्थ—जैसे प्रजाके व्याप्यव्यापक भावसे स्वभावसे ही उत्पन्न जो गुण और दोष उनमें राजाके व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तो भी लोक कहते हैं कि गुण दोषका उपजाने वाला राजा है, ऐसा उपचार (व्यवहार) है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके व्याप्य-व्यापक भावसे ही उत्पन्न गुण, दोषोंमें जीवके व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तो भी उन गुण दोषोंका उपजाने वाला जीव है, ऐसा उपचार है । **भावार्थ**—जैसे लोकमें कहते हैं कि जैसा राजा हो, वैसी ही प्रजा होती है, ऐसा कहकर गुण, दोषका कर्ता राजाको कहा जाता है, उसी प्रकार जैसा जीवका विभाव हो उसके अनुसार कर्मबंध होता है ऐसा जानकर पुद्गल द्रव्यके गुण दोषका कर्ता जीवको कहते हैं । जब परमार्थदृष्टिसे विचारो तो यह उपचार है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि जीव कर्मको करता है, बांधता है आदि कथन व्यवहारनयका वचन है । अब इसी कथनको इस गाथामें उदाहरणपूर्वक प्रसिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–जिस पुरुषमें गुण व दोष उत्पन्न होते हैं उस पुरुषमें ही वे गुण व

सामरणपच्चया खलु चउरो भरणांति वंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य वोद्धव्वा ॥१०६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

सामान्यतया प्रत्यय, चार कहे गये बन्धके कर्ता ।
मिथ्यात्व तथा अविरति, कषाय अरु योगको जानो ॥१०६॥
उनके फिर भेद कहे, जीव गुणस्थानरूप हैं तेरह ।
मिथ्यादृष्टी आदिक, केवलज्ञानी सयोगी तक ॥११०॥
पुद्गलकर्म उदयसे, उत्पन्न हुए अतः अचेतन ये ।
वे यदि कर्म करें तो, उनका वेदक नहीं आत्मा ॥१११॥
चूंकि गुणस्थानक ये, आस्रव करते हैं कर्मको इससे ।
जीव अकर्ता निश्चित, ये आस्रव कर्मको करते ॥११२॥

नामसंज्ञ—सामण्णपच्चय, खलु, चउ, वंधकत्तार, मिच्छत्त, अविरमण, कसायजोग, य, वोद्धव्व, त, पुणो, वि, य, इम, भणिद, भेद, दु, तेरसवियप्प, मिच्छादिट्ठी आदि, जाव, सजोगि, चरमंत, एत, अचेदण,

---

प्रयोग—अपने शुभाशुभविकारोंके निमित्तसे यह पुण्यपापमय संसारविडम्बना बन रही है, अतः संसारविडम्बनासे निवृत्त होनेके लिये अविकार ज्ञानस्वभावकी उपासनाका परम-पौरुष करना ॥१०८॥

अब जिज्ञासा होती है कि पुद्गल कर्मका कर्ता यदि जीव नहीं है तो कौन है, इस का काव्य कहते हैं—**जीवः** इत्यादि । **अर्थ**—यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता तो उस पुद्गलकर्मको कौन करता है ? ऐसी आशंका करके अब तीव्र वेग वाले मोहका याने कर्तृकर्मत्वविषयक अज्ञानका नाश करनेको पुद्गलकर्मका कर्ता बताया जा रहा है, सो हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषो तुम सुनो ।

अब पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है सो सुनिये—[चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सा-

केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्यु रेव किं जीवस्यात्रापतितं । अथायं तर्कः पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति स किलाविवेको यतो खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम । अथैतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां

एतत्, कर्मन्, प्रत्यय, यत्, तत्, जीव, अकर्तृ, गुण, च, कर्मन् । मूलधातु—सम्-अण शब्दार्थे भ्वादि, प्राणने दिवादि, प्रति-अप गतौ भ्वादि, युजिर् योगे, वुध अववोधने, चिती संज्ञाने, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि । पदविवरण—सामान्यप्रत्ययाः–प्रथमा वहु० । खलु–अव्यय । चत्वारः–प्रथमा वहुवचन । भण्यन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहुवचन कर्मवाच्ये क्रिया । वन्धकर्तारः–प्रथमा वहु० । मिथ्यात्वं–प्रथमा एक० । अविरमणं–प्रथमा एक० । कपाययोगो–प्रथमा द्विवचन । च–अव्यय । वोद्धव्याः–प्रथमा वहुवचन कृदन्त क्रिया । तेषां–षष्ठी वहु० । पुनः–अव्यय । अपि–अव्यय । च–अव्यय । अयं–प्रथमा एक० । भणितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त कर्मवाच्य क्रिया । भेदः–प्रथमा एक० । तु–अव्यय । त्रयोदशविकल्पः–प्रथमा एक० । मिथ्यादृष्ट्यादिः–प्र० ए० । यावत्–अव्यय । सयोगिनः–षष्ठी एक० । चरमान्तः–

नहीं अथवा यहाँ यह तर्क है कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादिका वेदन करता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्मको करता है । यह तर्क बिल्कुल अज्ञान है, क्योंकि आत्मा भाव्यभावक भावके अभावसे मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्मोंका भोक्ता भी निश्चयसे नहीं है तो पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्यमय सामान्य चार प्रत्यय व उनके विशेष भेदरूप तेरह प्रत्यय जो कि गुण शब्दसे कहे गये हैं वे ही केवल कर्मोंको करते हैं । इस कारण जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है और वे गुणस्थान ही उनके कर्ता हैं, क्योंकि वे गुण पुद्गलद्रव्यमय ही हैं । इससे पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है यह सिद्ध हुआ । **भावार्थ**—'अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता कभी नहीं होता' इस न्यायसे आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है, वंधके कर्ता तो योगकषायादिकसे उत्पन्न हुए गुणस्थान हैं । वे वास्तवमें अचेतन पुद्गलमय हैं । इसलिए वे पुद्गलकर्मके कर्ता हैं, जीवको कर्ता मानना अज्ञान है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि जीव कर्मद्रव्यगुणोत्पादक है यह उपचारसे कहा गया, निश्चयतः जीव पुद्गलकर्मको कुछ नहीं करता । इस विवरणपर जिज्ञासा होती है कि फिर पुद्गलकर्मको करता कौन है ? इसके समाधानमें ये ४ गाथायें आई हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है । (२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग—ये ४ पुद्गलकर्मके प्रकार हैं, अतः ये चार पुद्गलकर्मके कर्ता हैं । (३) मिथ्यात्वका भेद प्रथम गुणस्थान, अविरतिके भेद १ से ५ गुणस्थान, कषायके भेद १ से १०

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

ज्यौं आत्मासे तन्मय, उपयोग तथैव क्रोध हो तन्मय ।
जीव व अजीवको फिर, अभिन्नता प्राप्त होवेगी ॥११३॥
इस तरह जीव जो है, वही नियमसे अजीव होवेगा ।
एकत्व दोष यह ही, आस्रव नोकर्म कर्मोंमें ॥११४॥
उपयोगमयी आत्मा, यदि है अन्य हि व अन्य क्रोधादिक ।
कर्म नोकर्म प्रत्यय, तो तद्वत् भिन्न आत्मासे ॥११५॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोपि तथा यद्यनन्यः । जीवस्याजीवस्य चवमनन्यत्वमापन्नं ॥ ११३ ॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः । अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ॥ ११४ ॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता । यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माण्यन्यत् ।

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः । तथा सति

नामसंज्ञ—जह, जीव, अणण्णुवओग, कोह, वि, तह, जदि, अण्ण, जीव, अजीव, य, अणण्णत्त, आवण्ण, एवं, इह, जो, दु, जीव, त, च, एव, दु, णियमदो, तह, अजीव, इत, एयत्त, दोस, पच्चयणोकम्म-कम्म, अह, तुम्ह, अण्ण, कोह, अण्णुवओगपग्ग, चेद, जह, कोह, तह, पच्चय, कम्म, णोकम्म, अवि, अण्ण। **धातुसंज्ञ**—आ-वण्ण घटनायां, हव सत्तायां, चेत करणाववोधनयोः। **प्रकृतिशब्द**—यथा, जीव, अनन्य, जीव, अजीव, च, एवं, अन्यत्व, आपन्न, एवं, इह, यत्, तु, जीव, तत्, च, एव, तु, नियमतः, तथा, अजीव,

---

[**अथ**] अब इस दोषके भयसे [**ते**] तेरे मतमें [**क्रोधः**] क्रोध [**अन्यः**] अन्य है और [**उपयोगात्मकः**] उपयोगस्वरूप [**चेतयिता**] आत्मा (**अन्यः**) अन्य (**भवति**) है तो (**यथा क्रोधः**) जैसे क्रोध (**अन्यः**) आत्मासे अन्य है (**तथा**) उसी प्रकार (**प्रत्ययाः**) प्रत्यय (**कर्म**) कर्म (**नोकर्म अपि**) और नोकर्म ये भी (**अन्यत्**) आत्मासे अन्य ही हैं, ऐसा निश्चय करो ।

तात्पर्य—क्रोध, प्रत्यय व शरीर ये सभी आत्मासे भिन्न हैं ।

टीकार्थ—जैसे जीवके साथ तन्मयतासे जीवसे उपयोग अनन्य (एकरूप) है, उसी

इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषान्नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वं ।। ११३-११५ ।।

एक० । अयं–प्रथमा एक० । एकत्वे–सप्तमी एक० । दोषः–प्रथमा ए० । प्रत्ययनोकर्मकर्मणां–षष्ठी बहु० । अथ–अव्यय । ते–षष्ठी एक० । अन्यः–प्रथमा एक० । क्रोधः–प्रथमा एक० । अन्यः–प्रथमा एक० । उपयोगात्मकः–प्रथमा एक० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । चेतयिता–प्रथमा एकवचन । यथा–अव्यय । क्रोधः–प्र० ए० । तथा–अव्यय । प्रत्ययाः–प्र० बहु० । कर्म, नोकर्म–प्रथमा एक० । अपि–अव्यय । अन्यत्–प्रथमा एकवचन ।। ११३-११५ ।।

सिद्धान्त—१– जीव द्रव्यकर्मोका कर्ता भोक्ता उपचारसे है । २– जीव भावकर्मोका कर्ता निश्चयनयाभिमुख व्यवहारसे है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—शुद्ध शान्त रहनेके लिये जड़क्रोधादिसे व जड़क्रोधादिके प्रतिफलनसे विविक्त चैतन्यमात्र उपयोगस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें अधिष्ठित होना चाहिये ।। ११३-११५ ।।

अब सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वभावपना सिद्ध करते हैं—**(यदि पुद्गलद्रव्यं)** यदि पुद्गलद्रव्य **(जीवे)** जीवमें **(स्वयं)** स्वयं **(न बद्धं)** नहीं बँधा **(कर्मभावेन)** कर्मभावसे **(स्वयं)** स्वयं **(न परिणमते)** नहीं परिणमन करता है **(इदं तदा)** ऐसा मानो तो यह पुद्गलद्रव्य **(अपरिणामि)** अपरिणामी **(भवति)** प्रसक्त होता है **(च)** और **(कार्मणवर्गणासु)** कार्मणवर्गणावोंके **(कर्मभावेन)** कर्मभावसे **(अपरिणममानासु)** नहीं परिणमनेपर **(संसारस्य)** संसारका **(अभावः)** अभाव **(प्रसजति)** ठहरेगा **(वा)** अथवा **(सांख्यसमयः)** सांख्य मतका प्रसंग आयेगा । **(जीवः)** यदि जीव ही **(पुद्गलद्रव्याणि)** पुद्गलद्रव्योंको **(कर्मभावेन)** कर्मभावसे **(परिणामयति)** परिणमन कराता है ऐसा माना जाय तो **(स्वयं अपरिणममानानि)** आप ही परिणमन न करते **(तानि)** उन पुद्गलद्रव्योंको **(चेतयिता)** यह चेतन जीव **(कथं नु)** कैसे **(परिणामयति)** परिणमा सकता है, यह प्रश्न हो सकता है **(अथ)** अथवा **(पुद्गलद्रव्यं)** पुद्गलद्रव्य **(स्वयमेव हि)** आप ही **(कर्मभावेन)** कर्मभावसे **(परिणमते)** परिणमता है, ऐसा माना जाय तो **(जीवः)** जीव **(कर्म)** कर्मरूप पुद्गलको **(कर्मत्वं)** कर्मरूपसे **(परिणामयति)** परिणमाता है **(इति)** ऐसा कहना **(मिथ्या)** झूठ हो जाता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि **(पुद्गलद्रव्यं)** पुद्गलद्रव्य **(कर्मपरिणतं)** कर्मरूप परिणत हुआ **(नियमात् चैव)** नियमसे ही **(कर्म)** कर्मरूप **(भवति)** होता है **(तथा)** ऐसा होनेपर **(तच्चैव)** वह पुद्गलद्रव्य ही **(ज्ञानावरणादिपरिणतं)** ज्ञानावरणादिरूप परिणत **(तत्)** पुद्गलद्रव्यको **(तत् चैव)**

यदि यह पुद्गल वस्तु, स्वयं हि परिणमे कर्मभावोंसे ।
सो जीव परिणमाता, पुद्गलको कर्म यह मिथ्या ॥११९॥
कर्मरूप परिणत हो, पुद्गल ही कर्मरूप होता है ।
सो वह पुद्गल वस्तू, ज्ञानावरणादिपरिणत है ॥१२०॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन । यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ ११६ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन । संसारस्याभावः प्रसज्यते सांख्यसमयो वा ॥ ११७ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन । तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ।
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यं । जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥ ११९ ॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलद्रव्यं । तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥ १२० ॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः ? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्म-

धातुसंज्ञ—बंध बंधने, परि-नम नम्रीभावे, हो सत्तायां, प-सज्ज समवाये, मुण ज्ञाने । **प्रकृतिशब्द**—जीव, न, स्वयं, बद्ध, न, स्वयं, कर्मभाव, यदि, पुद्गलद्रव्य, इदं, अपरिणामिन्, तदा, कार्माणवर्गणा, च, अपरिणममाना, कर्मभाव, संसार, अभाव, सांख्यसमय, वा, जीव, पुद्गलद्रव्य, कर्मभाव, तत्, स्वयं, अपरिणममान, कथं, नु, चेतयितृ । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, बन्ध बन्धने, परि-णम प्रह्वत्वे, पूरी आप्यायने, गल स्रवणे, द्रु गतौ, भू सत्तायां, सम्-सृ गतौ भ्वादि । **पदविवरण**—जीवे–सप्तमी एकवचन । न–अव्यय । स्वयं–अव्यय । बद्धं–प्रथमा एक० कृदन्त । न–अव्यय । स्वयं–अव्यय । परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष

है, इसलिये संसारका अभाव नहीं हो सकता, उसके समाधानमें प्रश्न है कि यदि जीव पुद्गलको परिणमित कराता है तो वह *स्वयं अपरिणमितको परिणमित कराता है या स्वयं* परिणमितको परिणमित कराता है ? यदि इनमें से पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमितको कोई नहीं परिणमा सकता, क्योंकि स्वयं अपरिणमितको परके द्वारा परिणमानेकी सामर्थ्य नहीं होती । स्वतः शक्ति जिसमें नहीं होती, वह परके द्वारा भी नहीं आ सकती । यदि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्यको जीव कर्मभावसे परिणमाता है, ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने आप परिणमित हुए को अन्य परिणमानेवालेकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तुकी शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती । इसलिये पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे । ऐसा होनेपर जैसे कलशरूप परिणत हुई मिट्टी अपने आप कलश ही है, उसी भाँति जडस्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ *पुद्गलद्रव्य ही आप ज्ञानावरण* आदि कर्म ही है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्यका परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**स्थिते** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकी परिणमनशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई । उसके सिद्ध होनेपर पुद्गलद्रव्य

णादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं । स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥ ॥ ११६-१२० ॥

अन्य पुरुष एक० । कर्मभावेन–तृ० ए० । पुद्गलं–प्र० ए० । द्रव्यम्–प्र० ए० । जीवः–प्र० ए० । कर्म–द्वि० एक० । कर्मत्वं–द्वि० ए० या क्रियाविशेषण अव्यय । इति–अव्यय । मिथ्या–अ० । नियमात्–पंचमी एक० । कर्मपरिणतं, कर्म–प्र० ए० । भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ ११६-१२० ॥

प्रयोग—पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमनस्वभाव है उसको जीवपरिणाम निमित्तमात्र है, किन्तु जीव उसे करता नहीं है, ऐसा जानकर पुद्गलसे भिन्न निज परमात्मतत्त्वकी उपासना करनेका पौरुष करना ॥ ११६-१२० ॥

अब जीवद्रव्यका परिणामित्व सिद्ध करते हैं—सांख्यमतानुयायी शिष्यसे आचार्य कहते हैं कि हे भाई [तव] तेरी बुद्धिमें [यदि] यदि [एष जीवः] यह जीव [कर्मणि] कर्ममें [स्वयं] स्वयं [बद्धः न] बँधा नहीं है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादि भावोंसे [स्वयं] स्वयं [न परिणमति] नहीं परिणमता [तदा] तो [अपरिणामी] वह जीव अपरिणामी [भवति] प्रसक्त होता है [जीवे] और जीवके [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादि भावों द्वारा [स्वयं अपरिणममाने] स्वयं परिणत न होनेपर [संसारस्य अभावः] संसारका अभाव [प्रसज्यते] प्रसक्त हो जायगा [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत प्रसक्त हो जावेगा । यदि कोई कहे कि [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म जो [क्रोधः] क्रोध है वह [जीवं] जीवको [क्रोधत्वं] क्रोधभावरूप [परिणमयति] परिणमाता है तो [स्वयं अपरिणममानं] स्वयं न परिणत हुए [तं] जीवको [क्रोधः] क्रोधकर्म [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमा सकता है ? [अथ] यदि [ते एषा बुद्धिः] तेरी ऐसी समझ है कि [आत्मा] आत्मा [स्वयं] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभावसे [परिणमते] परिणमन करता है तो [क्रोधः] पुद्गलकर्मरूप क्रोध [जीवं] जीवको [क्रोधत्वं] क्रोधभावरूप [परिणामयति] परिणमाता है [इति मिथ्या] ऐसा कहना मिथ्या ठहरता है । इसलिये यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोधमें उपयुक्त अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकाररूप परिणमता है, ऐसा [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है [मानोपयुक्तः] मानसे उपयुक्त होता हुआ [मानः] मान ही है, [माउवजुत्तो] मायासे उपयुक्त [माया] माया ही है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभसे उपयुक्त होता हुआ [लोभः] लोभ ही [भवति] है ।

टीकार्थ—जीव कर्ममें स्वयं नहीं बँधा हुआ क्रोधादि भावसे आप नहीं परिणमे तो वह जीव वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा । ऐसा होनेपर संसारका अभाव आता है अथवा

क्रोधादिकर्म पुद्गल, जीवको कर्मरूप परिणमावे ।
स्वयं अपरिणमतेको, कैसे विधि परिणमा देगा ॥१२३॥
यदि यह आत्मा वस्तू, स्वयं हि परिणमे क्रोधभावोंसे ।
तो कर्म परिणमाता, आत्माको कर्म यह मिथ्या ॥१२४॥
क्रोधोपयुक्त आत्मा, क्रोध तथा मान मान उपयोगी ।
मायोपयुक्त माया, लोभ तथा लोभ उपयोगो ॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः । यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः । संसारस्याभावः प्रसज्यते सांख्यसमयो वा ॥१२२॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं । तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः । क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ।
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा । मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्मक्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा

धातुसंज्ञ—परि-नम नम्रीभावे, हो सत्तायां, प-सज्ज समवाये, हव सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—न, स्वयं, बद्ध, कर्मन्, न, स्वयं, क्रोधादि, यदि, एतत्, युष्मद्, जीव, अपरिणामिन्, तदा, अपरिणममान, स्वयं, जीव, क्रोधादि, भाव, संसार, अभाव, सांख्यसमय, वा, पुद्गलकर्मन्, क्रोध, जीव, क्रोधत्व, तत्, स्वयं, अपरिणममान, कथं, नु, क्रोध, अथ, स्वयं, आत्मन्, क्रोधभाव, एतत्, युष्मद्, बुद्धि, क्रोध, जीव, क्रोधत्व, इति, मिथ्या, क्रोधोपयुक्त, क्रोध, मानोपयुक्त, च, मान, एव, आत्मन्, मायोपयुक्त, माया, लोभोपयुक्त, लोभ ।

हुआ गरुड ही है, उसी भाँति यह जीवात्मा अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप परिणत उपयोगरूप हुआ स्वयमेव क्रोधादिक ही होता है । इस प्रकार जीवका परिणामस्वभाव होना सिद्ध हुआ ।
भावार्थ—जीव परिणामस्वभाव है । जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं **स्थितेति**—इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार जीवके अपने स्वभावसे ही हुई परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई । उसके सिद्ध होनेसे यह जीव अपने जिस भावको करता है उसीका वह कर्ता होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा पंचकमें पुद्गलद्रव्यका स्वयं परिणामित्व बताया गया था । अब इस गाथा पंचकमें जीवका स्वयं परिणामित्व बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– जीवको कर्ममें स्वयं बद्ध व क्रोधादिभावसे परिणत न माननेपर जीव अपरिणामी बन बैठेगा । २– यदि जीवको अपरिणामी माना जायगा तो संसारके अभाव

तथाहि--

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

आत्मा जो भाव करे, होता वह उस भावका कर्ता ।
ज्ञानमय भाव बुधका, अज्ञानमय हि अबुधका है ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः । ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्या-

---

नामसंज्ञ—ज, भाव, अत्त, अत्त, कत्तार, त, त, कम्म, णाणि, त, णाणमअ, अण्णाणमअ, अणाणि । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे, हो सत्तायां । **प्रकृतिशब्द**—यत्, भाव, आत्मन्, कर्तृ, तत्, तत्, कर्मन्, ज्ञानिन्, तत्, ज्ञानमय, अज्ञानमय, अज्ञानिन् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, अत सातत्यगमने, भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने । **पदविवरण**—यं-द्वितीया एकवचन । करोति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । भावं-द्वि० एक०

क्रोधादिकर्म जीवपरिणामको करता नहीं, अतः कायरताका कोई प्रसंग नहीं ऐसा जानकर अपने अविकार सहज ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखकर निजस्वरूपमें ही दृष्टि रखनेका पौरुष करना । ॥ १२१-१२५ ॥

अब उक्त अर्थको लेकर भावोंका विशेषकर कर्ता कहते हैं:—[**आत्मा**] आत्मा [**यं भावं**] जिस भावको [**करोति**] करता है [**तस्य कर्मणः**] उस भावरूप कर्मका [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है । वहाँ [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके तो [**सः**] वह भाव [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय है और [**अज्ञानिनः**] अज्ञानीके [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय है ।

टीकार्थ—इस प्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणमनस्वभाव वाला होनेपर भी जिस भावको अपने करता है, कर्मत्वको प्राप्त हुए उस भावका ही कर्तापना प्राप्त होता है । सो वह भाव ज्ञानीका ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसको अच्छी प्रकारसे स्व-परका भेदज्ञान हो गया है, जिससे सब परद्रव्य भावोंसे भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदित हो गई है । परंतु अज्ञानीके अज्ञानमय भाव ही है, क्योंकि उसके भली-भांति स्वपरके भेदज्ञानका अभाव होनेसे भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यंत अस्त हो गई है । **भावार्थ**—ज्ञानीके तो अपना परका भेदज्ञान हो गया है इसलिये ज्ञानीके तो अपने ज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है, किन्तु अज्ञानीके अपना परका भेदज्ञान नहीं है इस कारण अज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथापंचकमें जीवको परिणामी सिद्ध करते हुए प्रसिद्ध किया था कि जीव अपने जिस भावको करता है उसीका कर्ता होता है । सो उसी स्वकर्तृत्व

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१२७॥

भाव अज्ञानमय है, अज्ञानीको सु कर्मका कर्ता ।
ज्ञानमय भाव बुधका, सो नहिं वह कर्मका कर्ता ॥१२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि । ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु

नामसंज्ञ—अण्णाणमअ, भाव, अणाणि, त, कम्म, णाणमअ, णाणि, दु, ण, त, दु, कम्म । **धातुसंज्ञ**—कुण करणे । **प्रकृतिशब्द**—अज्ञानमय, भाव, अज्ञानिन्, तत्, कर्मन्, ज्ञानमय, ज्ञानिन्, तु, न, तत्,

---

आत्मस्वरूपमें ठहरा हुआ वह ज्ञानी परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेषोंसे पृथग्भूत हो जानेके कारण अपने रससे ही परमें अहंकार निवृत्त हो गया है, ऐसा हुआ निश्चयसे केवल जानता ही है, राग-द्वेषरूप नहीं होता । इसलिये ज्ञानमय भावसे ज्ञानी हुआ परद्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप आत्माको नहीं करता हुआ कर्मोंको नहीं करता है । **भावार्थ**—इस आत्माके क्रोधादिक मोहकी प्रकृतिका उदय आनेपर उसका अपने उपयोगमें रागद्वेषरूप मलिन स्वाद आता है, सो मोही जीव भेदज्ञानके बिना अज्ञानी हुआ ऐसा मानता है कि यह रागद्वेषमय मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, यही मैं हूं, इस प्रकार अज्ञानरूप अहंकारसे आच्छन्न हुआ प्राणी कर्मोंको बांधता है । इस प्रकार अज्ञानमय भावसे कर्मबंध होता है और जब ऐसा है कि ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग तो मेरा स्वरूप है, 'वह मैं हूं' तथा रागद्वेष हैं वे कर्मके रस हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा भेदज्ञान होनेपर ज्ञानी होता है, तब अपनेको रागद्वेष भावरूप नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, तब कर्मको नहीं करता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है । अब इस गाथामें उससे संबंधित इस जिज्ञासाका समाधान किया गया है कि अज्ञानमयभावसे क्या होता है और ज्ञानमयभावसे क्या होता है ?

तथ्यप्रकाश—१– अज्ञानीके सम्यक् स्वपरविवेक नहीं होता है । २– स्वपरविवेक न होनेसे एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि नहीं बनती । ३– एकत्वविभक्त आत्माकी दृष्टि न होनेसे

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

ज्ञानमय भावसे तो, ज्ञान परिणाम ही जनित होता।
इस कारण ज्ञानीके, सारे परिणाम ज्ञानमय ही हैं ॥१२८॥
भाव अज्ञानमयसे, होता अज्ञानभाव इस कारण।
अज्ञानी आत्माके, भावहि अज्ञानमय होते ॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः। यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः। यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो-ऽज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः। यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः

नामसंज्ञ—णाणमअ, भाव, णाणमअ, च, एव, भाव, ज, त, णाणि, सव्व, भाव, दु, णाणमअ, अण्णाणमअ, भाव, अण्णाणि, च, एव, भाव, ज, त, भाव, अण्णाणमअ, अणाणि। **धातुसंज्ञ**—जा प्रादुर्भावे। **प्रकृतिशब्द**—ज्ञानमय, भाव, ज्ञानमय, च, एव, भाव, यत्, तत्, ज्ञानिन्, सर्व, भाव, खलु, ज्ञानमय, अज्ञानमय, भाव, अज्ञान, च, एव, भाव, यत्, तत्, भाव, अज्ञानमय, अज्ञानिन्। **मूलधातु**—जनी प्रादुर्भावे दिवादि, ज्ञा अवबोधने। **पदविवरण**—ज्ञानमयात्, भावात्–पंचमी एकवचन। ज्ञानमयः–प्रथमा एकवचन।

ही करना चाहिये ॥१२७॥

अब अगली गाथाके अर्थकी सूचनाका काव्य कहते हैं—**ज्ञानमय** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होते हैं अन्य नहीं होता यह क्यों? और अज्ञानीके अज्ञानमय ही सब भाव होते हैं अन्य नहीं यह कैसे? इसी प्रश्नकी उत्तररूप गाथा कहते हैं—**[यस्मात्]** जिस कारण **[ज्ञानमयात् भावात् च]** ज्ञानमय भावसे **[ज्ञानमय एव]** ज्ञानमय ही **[भावः]** भाव **[जायते]** उत्पन्न होता है। **[तस्मात्]** इस कारण **[ज्ञानिनः]** ज्ञानीके **[खलु]** निश्चयसे **[सर्वे भावाः]** सब भाव **[ज्ञानमयाः]** ज्ञानमय हैं। और **[यस्मात्]** जिस कारण **[अज्ञानमयात् भावात् च]** अज्ञानमय भावसे **[अज्ञान एव]** अज्ञानमय ही **[भावः]** भाव **[जायते]** उत्पन्न होता है **[तस्मात्]** इस कारण **[अज्ञानिनः]** अज्ञानीके **[अज्ञानमयाः]** अज्ञानमय ही **[भावाः]** भाव उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य—ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होते हैं और अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होते हैं।

टीकार्थ—जिस कारण निश्चयसे अज्ञानमय भावसे जो कुछ भाव होता है, वह सभी

अथैतदेव दृष्टांतेन समर्थयते —

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥ (युग्मम्)

स्वर्णमयी पाससे, होते उत्पन्न कुण्डलादि विविध ।
लोहमयी वस्तूसे, होते उत्पन्न लोहमयी ॥१३०॥
अज्ञानी आत्माके, होते अज्ञानभाव नानाविध ।
ज्ञानी आत्माके तो, ज्ञानमयी भाव ही होते ॥१३१॥

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः । अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ॥ १३० ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते । ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवंति ॥ १३१ ॥

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमानाज्जांबूनदकुंडलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयः । कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय

नामसंज्ञ—कणयमअ, भाव, कुंडलादि, भाव, अयमयय, भाव, जह, तु, कडयादि, अण्णाणमअ, भाव, अणाणि, वहुविह, वि, णाणि, णाणमअ, सव्व, भाव, तह । धातुसंज्ञ—जा प्रादुर्भावे, हो सत्तायां । प्रकृतिशब्द—कणयमय, भाव, कुण्डलादि, भाव, अयोमयक, भाव, यथा, तु, कटकादि, अज्ञानमय, भाव,

दिक भाव उत्पन्न होते हैं [तथा] उसी प्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानीके [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भावसे [बहुविधा अपि] अनेक तरहके [अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायंते] उत्पन्न होते हैं [तु] परन्तु [ज्ञानिनः] ज्ञानीके [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवंति] होते हैं ।

तात्पर्य— अज्ञानीके शुभाशुभ भावोंमें आत्मबुद्धि होनेसे अज्ञानमयभाव होते, ज्ञानीके सहजज्ञानस्वरूपमें आत्मबुद्धि होनेसे ज्ञानमयभाव होते ।

टीकार्थ—जैसे कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी होनेपर भी जैसा कारण हो, उस स्वरूप कार्य होते हैं, अतः सुवर्णमय भावसे सुवर्णजातिका उल्लंघन न करने वाले होनेसे सुवर्णमय ही कुंडल आदिक भाव होते हैं, सुवर्णसे लोहमयी कड़ा आदिक भाव नहीं होते । और लोहमय भावसे लोहकी जातिको उल्लंघन न करने वाले लोहमय कड़े आदिक भाव होते हैं, लोहसे सुवर्णमय कुण्डल आदिक भाव नहीं होते, उसी प्रकार जीवके स्वयं परिणामस्व-

ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ॥१३०-१३१॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां। द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुतां ॥६८॥

प्र० बहु०। अज्ञानमयात्, भावात्–पंचमी एक०। अज्ञानिनः–षष्ठी एक०। बहुविधाः–प्र० बहु०। अपि–अव्यय। ज्ञानिनः–षष्ठी एक०। ज्ञानमयाः, सर्वे, भावाः–प्रथमा बहुवचन। भवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ १३०-१३१ ॥

दृष्टि, प्रतीति व रुचि है उस काल यह आत्मा अज्ञानमयभाव वाला है।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६), अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय (४६ब)। २–अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—अविकार सहज शुद्ध आत्मत्वकी उपलब्धि बिना ही संसार संकट है, अतः अविकार सहजशुद्ध अंतस्तत्त्वमें आत्मत्वका अनुभव करनेका पौरुष करना ॥ १३०-१३१ ॥

अब अगली गाथाकी सूचनाके अर्थ श्लोक कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि। अज्ञानी अज्ञानमय भावोंकी भूमिकाको व्याप्त कर आगामी द्रव्यकर्मके निमित्तभूत भावोंकी हेतुताको प्राप्त होता है। इसी अर्थको पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं—[**जीवानां**] जीवोंके [**या**] जो [**अतत्त्वोपलब्धिः**] अन्यथास्वरूपका जानना है [**सः**] वह [**अज्ञानस्य**] अज्ञानका [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवस्य**] जीवके [**अश्रद्धानत्वं**] जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह [**मिथ्यात्वस्य**] मिथ्यात्वका [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवानां**] जीवोंके [**यत्**] जो [**अविरमणं**] अत्यागभाव [**भवेत्**] है [**असंयमस्य**] वह असंयमका [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवानां**] जीवोंके [**यः**] जो [**कलुषोपयोगः**] मलिन याने जानपनेकी स्वच्छतासे रहित उपयोग है [**सः**] वह [**कषायोदयः**] कषायका उदय है [**तु यः**] और जो [**जीवानां**] जीवोंके [**शोभनः**] शुभरूप [**वा**] अथवा [**अशोभनः**] अशुभरूप [**कर्तव्यः**] प्रवृत्तिरूप [**वा**] अथवा [**विरतिभावः**] निवृत्तिरूप [**चेष्टोत्साहः**] मन वचन कायकी चेष्टाका उत्साह है [**तं**] उसे [**योगोदयं**] योगका उदय [**जानीहि**] जानो। [**एतेषु**] इनके [**हेतुभूतेषु**] हेतुभूत होनेपर [**यत्तु**] जो [**कर्मवर्गणागतं**] कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [**ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं**] ज्ञानावरण आदि भावोंसे आठ प्रकार [**परिणमते**] परिणमन करता है [**तत्**] वह [**कार्मणवर्गणागतं**] कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [**यदा**] जब [**खलु**] वास्तवमें [**जीवनिबद्धं**] जीवमें निबद्ध होता है [**तदा तु**] उस समय [**परिणामभावानां**] उन अज्ञानादिक परिणाम भावोंका [**हेतुः**] कारण [**जीवः**] जीव [**भवति**] होता है।

तात्पर्य—प्रकृतिविपाक, कर्मास्रव व कर्मबन्ध, तथा जीवविभाव अपने अपने उपादान

योग उदय वह जानो, जो चेष्टोत्साह होय जीवोंके ।
शुभ हो तथा अशुभ हो, हेय उपादेय अथवा हो ॥१३४॥
इनके निमित्त होने पर पुद्गल कर्मवर्गणागत जो ।
परिणमता आठ तरह, ज्ञानावरणादि भावोंसे ॥१३५॥
कार्माणवर्गणागत, वह कर्म जीवनिबद्ध होता जब ।
तब ही कारण होता, जीव विपरिणामभावोंका ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्वोपलब्धिः । मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वं ॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणं । यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां सः कषायोदयः ॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः । शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु । परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा । तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणमभावानां ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः । तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः अविरमण-

---

जीव, तत्, कषायोदय, तत्, योगोदय, यत्, जीव, तु, चेष्टोत्साह, शोभन, अशोभन, वा, कर्तव्य, विरति-भाव, वा, एतत्, हेतुभूत, कार्मणवर्गणागत, यत्, तु, अष्टविध, ज्ञानावरणादिभाव, तत्, खलु, जीवनिबद्ध, कार्मणवर्गणागत, यदा, तदा, तु, हेतु, जीव, परिणामभाव । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुलभष् प्राप्तौ भ्वादि, अ-सम्-यम संयमने, अ-वि-रमु रमणे, नि-बध बन्धने, चेष्ट चेष्टायां भ्वादि, षह मर्षणे चुरादि, षह चक्यर्थे चक्यर्थस्तृप्तिः दिवादि, शुभ शोभार्थे तुदादि । **पदविवरण**—अज्ञानस्य-षष्ठी एक० । सः, उदयः-प्रथमा एकवचन । या-प्रथमा एक० स्त्रीलिङ्ग । जीवानां-षष्ठी बहु० । अतत्त्वोपलब्धिः-प्रथमा एकवचन । मिथ्यात्वस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । उदयः-प्रथमा एकवचन । जीवस्य-षष्ठी एक० । अश्रद्दधानत्वं, उदयः-प्रथमा एक० । असंयमस्य-षष्ठी एक० । तु-अव्यय । यत्-प्रथमा एक० । जीवानां-षष्ठी बहुवचन ।

व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता है, यह योगका उदय है । इन पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदयस्वरूप चारों भावोंके हेतुभूत होनेपर कार्माणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावोंसे अष्ट प्रकार जो स्वयमेव परिणमता है । वह कर्मवर्गणागत ज्ञानावरणादिक कर्म जब जीवमें निबद्ध होता है, तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे पर और आत्माके एकत्वका निश्चय कर अज्ञानमय अतत्त्वश्रद्धानादिक अपने परिणामस्वरूप भावोंका कारण होता है । **भावार्थ**—यहाँ अज्ञानभावके भेदरूप जो मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योगरूप परिणाम कहे गये हैं, वे पुद्गलके परिणाम हैं और उनका स्वाद अश्रद्धानादिकरूपसे ज्ञानमें आता है ये विभाव ज्ञानावरणादि आगामी कर्मबंधके कारण हैं अर्थात् जीव उन मिथ्यात्वादि भावोंके उदय होनेका निमित्त पाकर अपने अज्ञानभावसे अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंके रूपमें परिणमन करता है, सो उन अपने अज्ञानरूप भावोंका उपादानकारण यह जीव होता है, निमित्तकारण कर्मविपाक होता है ।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

जीवके राग आदिक, विधिके परिणाम साथ होवें तो ।
यों जीव कर्म दो के, रागादि प्रसक्त होवेंगे ॥१३७॥
इन राग आदिसे यदि, होता परिणाम जीव एकहि का ।
तो उदयागत विधिसे, जीवपरिणाम पृथक् ही है ॥१३८॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः । एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने । एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः । तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ।

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भव-

नामसंज्ञ—जीव, दु, कम्म, य, सह, परिणाम, रागादि, एवं, जीव, कम्म, च, दो, वि, रागादि, आवण्ण, दु, परिणाम, जीव, रागमादि, त, कम्मोदयहेदु, विणा, जीव, परिणाम । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, जा प्रादुर्भावे । **प्रकृतिशब्द**—जीव, तु, कर्मन्, च, सह, परिणाम, रागादि, एवं, जीव, कर्मन्, च, द्वि, अपि, रागादित्व, आपन्न, एक, तु, परिणाम, जीव, रागादि, तत् कर्मोदयहेतु, विना, जीव, परिणाम । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, परि-णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, रंज रागे भ्वादि दिवादि, जनी प्रादुर्भावे । **पदविवरण**—

प्रयोग—जीव अपनी स्वभावदृष्टि तजकर रागादिरूपसे परिणमता है तब द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मके आस्रवका निमित्त होता है । अतः अपने अविकार ज्ञानस्वभावमय आत्माकी दृष्टि का पौरुष करना ताकि द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मास्रवका निमित्त न हो सके ॥१३२-१३६॥

अब जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथक् ही है इसका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हैं—[तु जीवस्य] यदि ऐसा माना जाय कि जीवके [रागादयः] रागादिक [परिणामाः] परिणाम [खलु] वास्तवमें [कर्मणा च सह] कर्मके साथ होते हैं [एवं] इस प्रकार तो [जीवः च कर्म] जीव और कर्म [द्वे अपि] ये दोनों ही [रागादित्वं आपन्ने] रागादि परिणामको प्राप्त हो पड़ते हैं । [तु] परन्तु [रागादिभिः] रागादिकोंसे [परिणामः] परिणमन तो [एकस्य जीवस्य] एक जीवका ही [जायते] उत्पन्न होता है [तत्] वह [कर्मोदयहेतु विना] कर्मके उदयरूप निमित्त कारणसे पृथक् [जीवस्य परिणामः] जीवका ही परिणाम है ।

तात्पर्य—जीवका परिणमन जीवमें, पुद्गलकर्मका परिणमन पुद्गलकर्ममें है, कोई भी परिणमन दोनोंका एक नहीं है ।

पत्तिः । अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ॥ १३७-१३८ ॥

जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जीवस्य–षष्ठी एक० । रागादिभिः–तृतीया बहु० । तत्–अन्ययार्थे हेतो । कर्मोदयहेतुभिः–तृतीया बहु० । विना–अव्यय । जीवस्य–षष्ठी एकवचन । परिणामः–प्रथमा एकवचन ॥ १३७-१३८ ॥

का निमित्त होनेपर भी अपनी स्वभावदृष्टिके अभावसे अपनी निर्बलताके कारण हुए जानकर अपनी स्वभावदृष्टिको प्रबल बनावें ताकि कर्मफल अव्यक्त होकर निकल जावें और संसार-बन्धनसे बच जावें ॥ १३७-१३८ ॥

अब कहते हैं कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे पृथक् ही है:—[यदि] यदि [**जीवेन सह चैव**] जीवके साथ ही [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्यका [**कर्मपरिणामः**] कर्मरूप परिणाम होता है, तो [**एवं**] इस प्रकार [**पुद्गलजीवौ द्वौ अपि**] पुद्गल और जीव दोनों [**खलु**] ही [**कर्मत्वं आपन्नौ**] कर्मत्वको प्राप्त हो जावेंगे [**तु**] परंतु [**कर्मभावेन**] कर्मरूपसे [**परिणामः**] परिणाम [**एकस्य**] एक [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्यका होता है [**तत्**] इसलिये [**जीवभावहेतुभिः बिना**] जीवभाव निमित्तकारणसे पृथक् [**कर्मणः**] कर्मका [**परिणामः**] परिणाम है।

तात्पर्य—कर्मपरिणमन जीवसे पृथक् ही है जैसे कि जीवपरिणाम पौद्गलिक कर्मसे पृथक् है।

टीकार्थ—यदि पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम उसके निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणाम रूप परिणत जीवके साथ ही होता है, इस प्रकार तर्क उपस्थित किया जाय तो जैसे मिली हुई हल्दी और फिटकरी दोनोंका साथ ही लाल रंगका परिणाम होता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोंके ही कर्मपरिणामकी प्राप्तिका प्रसंग आ जायगा, किन्तु एक पुद्गलद्रव्यके ही कर्मत्व परिणाम होता है। इस कारण कर्मबन्धके निमित्तभूत जीवके रागादिस्वरूप अज्ञानपरिणामसे पृथक् ही पुद्गलकर्मका परिणाम है।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम होना यदि पुद्गल व जीव दोनोंका ही माना जाय तो दोनोंके ही कर्मपरिणामका प्रसंग आ जायगा, किन्तु जीवका अज्ञानरूप रागादिपरिणाम कर्मका निमित्तमात्र है। इस कारण पुद्गलकर्मका परिणाम जीवसे पृथक् ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया गया था कि जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथग्भूत है। अब इन दो गाथावोंमें बताया है कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे पृथग्भूत है।

तथ्यप्रकाश—१–पुद्गलद्रव्यका परिणमन पुद्गलद्रव्यमें पुद्गलद्रव्यके अकेलेके परिण-

अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ।। १३९-१४० ।।

एकस्य–षष्ठी एक० । तु–अव्यय । परिणामः–प्रथमा एक० । पुद्गलद्रव्यस्य–षष्ठी एक० । कर्मभावेन–तृ० एक० । तत्–अव्ययभावे । जीवभावहेतुभिः–तृ० बहु० । विना–अव्यय । कर्मणः–षष्ठी एक० । परिणामः–प्रथमा एकवचन ।। १३९-१४० ।।

प्रयोग—पुद्गलकर्मविपाक पुद्गलकर्मका परिणाम है उससे भिन्न अपनेको ज्ञानाकार मात्र निरखकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें रमनेका पौरुष करना ।।१३९-१४०।।

अब पूछते हैं कि आत्मामें कर्म बद्धस्पृष्ट है कि अबद्धस्पृष्ट ? उसका उत्तर नयविभाग से कहते हैं—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धं] बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टं] छुआ हुआ है [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितं] व्यवहारनयका वचन है [तु] और [जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्धस्पृष्ट [भवति] है अर्थात् न बँधा है, न छुआ है ऐसा [शुद्धनयस्य] कथन शुद्धनयका है ।

तात्पर्य—व्यवहारनयसे जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट ज्ञात होता है, किन्तु शुद्धनयसे अबद्धस्पृष्ट ज्ञात होता है ।

टीकार्थ—जीव और पुद्गलकर्मको एक बंधपर्यायरूपसे देखनेपर उस समय भिन्नताका अभाव होनेसे जीवमें कर्म बँधे हैं और छुए हैं ऐसा कहना तो व्यवहारनयका पक्ष है और जीव तथा पुद्गलकर्मके अनेकद्रव्यपना होनेसे अत्यन्त भिन्नता है, अतः जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट नहीं है, ऐसा कथन निश्चयनयका पक्ष है ।

भावार्थ—निश्चयनय तो एक द्रव्यको देखता है सो उसके मतसे कोई भी पदार्थ बद्धस्पृष्ट नहीं है, व्यवहारनय घटनाको भी निरखता है सो व्यवहारनयसे बद्धस्पृष्ट है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुगलमें बताया गया था कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे पृथग्भूत है । इस वर्णनपर जिज्ञासा हुई कि तो क्या कर्म आत्मामें बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है इस जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– संसारदशामें जीव और पुद्गलकर्मका एकबन्धपर्यायपना है । २– बन्धावस्थामें जीव और पुद्गलकर्मकी भिन्नता विदित नहीं होती । ३– जीवमें कर्म बद्ध है व स्पृष्ट है यह व्यवहारनयका सिद्धान्त है । ४– जीव और पुद्गलकर्म ये भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अतः जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है यह निश्चयनयका सिद्धान्त है । ५– घटना व वस्तुगतताकी दृष्टिसे दोनों अपनी-अपनी दृष्टिमें तथ्यभूत हैं । ६– बद्धाबद्धादिविकल्परूप शुद्धात्मस्वरूप नहीं है ।

ततः किं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

बद्ध व अबद्ध विधि है, जीवमें नयका पक्ष यह जानो।
किन्तु जो पक्षव्यपगत, उसको ही समयसार कहा ॥१४२॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं । पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्त-

---

नामसंज्ञ—कम्म, बद्ध, अबद्ध, जीव, एवं, तु, जाण, णयपक्ख, पक्खातिक्कंत, पुण, ज, त, समयसार । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, भण कथने । **प्रकृतिशब्द**—कर्मन्, बद्ध, अबद्ध, जीव, एवं, तु, नयपक्ष,

---

अर्थात् छोड़ देता है, वही समस्त विकल्पोंसे दूर रहता हुआ स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन-स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है । वहाँ जो जीवमें कर्म बँधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म नहीं बँधा है' ऐसे एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्पको नहीं छोड़ता । और जो जीवमें कर्म नहीं बँधा है, ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म बँधा है' ऐसे विकल्परूप एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्पको नहीं छोड़ता, और जो 'जीवमें कर्म बँधा भी है तथा नहीं भी बँधा है' ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षोंको नहीं छोड़ता हुआ विकल्पको नहीं छोड़ता । इसलिये जो सभी नयपक्षोंको छोड़ता है, वही समस्त विकल्पोंको छोड़ता है तथा वही समयसारको जानता है, अनुभवता है ।

भावार्थ—जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है तथा नहीं बँधा है, ये दोनों नयपक्ष हैं । उनमें से किसीने तो बंधपक्षको ग्रहण कर लिया, उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; किसीने अबंधपक्ष ग्रहण किया, उसने भी विकल्प ही लिया और किसीने दोनों पक्ष लिए, उसने भी पक्षका ही विकल्प ग्रहण किया । लेकिन जो ऐसे विकल्पोंको छोड़ देता व किसी भी पक्षको नहीं पकड़ता, वही शुद्ध पदार्थका स्वरूप जानकर सहज अविकार समयसारको प्राप्त कर लेता है । नयोंका पक्ष पकड़ना राग है, और रागमें सहज अन्तस्तत्त्व ज्ञानमें नहीं ठहरता सो सब नयपक्षोंको

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥ एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥ एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥ एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥ एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥ एकस्य भावो न तथा परस्य

अति-क्रमु पादविक्षेपे, भण शब्दार्थः । **पदविवरण**—कर्म-प्रथमा एक० । बद्धं, अबद्धं-प्रथमा एक० । जीवे-

---

परनिमित्तसे अनेक होते हैं, उन सबको गौण कर शुद्धनयमें पहुंचना, फिर शुद्धनयके पक्षको छोड़ शुद्धस्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र होनेसे वीतराग दशा होती है ।

अब बद्ध अबद्ध पक्षके छुड़ानेकी तरह मोही अमोही पक्षको प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य** इत्यादि । **अर्थ**—जीव मोही है यह एक नयका पक्ष है और दूसरे नयका पक्ष है कि जीव मोही नहीं है । इस तरह ये दोनों ही चैतन्यमें पक्षपात है । जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है ।

अब मोही अमोही पक्ष छुड़ानेकी भाँति रागी अरागी पक्षको प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य** इत्यादि । **अर्थ**—यह जीव रागी है एक नयका तो ऐसा पक्ष है और दूसरे नय का ऐसा पक्षपात है कि रागी नहीं है । ये दोनों ही चैतन्यमें नयके पक्षपात हैं । जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, उसके उपयोगमें तो जो चित् है, वह चित् ही है ।

अब रागी अरागी पक्ष छुड़ानेकी भांति अन्य पक्षोंको भी प्रकट कहकर छुड़ाते हैं—**एकस्य दुष्टो** इत्यादि । **अर्थ**—एक नयके तो द्वेषी हैं ऐसा पक्ष है और दूसरे नयके द्वेषी नहीं है ऐसा पक्ष है ऐसे ये चैतन्यमें दोनों नयोंके दो पक्षपात हैं । तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञानमें तो चित् चित् ही है । एक नयके कर्ताका पक्ष है, दूसरे नयके कर्ता नहीं ऐसा पक्ष है, ऐसे ये चैतन्यमें दोनों नयोंके दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसकी दृष्टिमें तो चित् चित् ही है । एक नयके भोक्ता है, दूसरे नयके भोक्ता नहीं यह पक्ष है । ऐसे चैतन्यमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, अतः उसके ज्ञान में तो चित् चित् ही है । एक नयके मतमें जीव है, दूसरे नयके मतमें जीव है ऐसा नहीं ये चैतन्यमें दोनों नयोंके पक्षपात हैं, किन्तु तत्त्ववेदी पक्षपातरहित है, उसके उपयोगमें तो चित् चित् ही है । एक नयके मतमें सूक्ष्म है, दूसरे नयके मतमें सूक्ष्म है ऐसा नहीं, ऐसे ये चैतन्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥ एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥ एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥ एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥ स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षां । अंतर्बहिः समरसैकरसस्व-

एक० । पक्षातिक्रान्तः–प्रथमा एक० । पुनः–अव्यय । भण्यते–वर्तमान लट् भावकर्मप्रक्रिया अन्य पुरुष एक-

अब तत्त्ववेदीका अनुभव दिखलाते हैं—**इंद्रजाल** इत्यादि । **अर्थ**—विपुल चंचल विकल्प तरंगों द्वारा उछलने वाले इस समस्त इन्द्रजालको जिसका स्फुरण ही तत्काल विलीन कर देता है वह चैतन्यमात्र तेजः पुंज मैं हूं । **भावार्थ**—अविकार सहज चैतन्यका अनुभव ही ऐसा है कि इसके होनेसे समस्त नयोंका विकल्परूप इंद्रजाल उसी समय विलीन हो जाता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है । यह व्यवहारनयसे कहा गया है, किन्तु शुद्धनयके मतमें जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है । इस विवरणपर यह जिज्ञासा हुई कि इन दोनों नयपक्षोंके विषयमें होना क्या चाहिये ? इसका समाधान इस गाथामें दिया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवमें कर्म बद्ध है यह व्यवहारनयका पक्ष है । (२) जीवमें कर्म अबद्ध है यह निश्चयनयका पक्ष है । (३) जीवमें कर्म बद्ध है ऐसा जिसने विकल्प किया उसने यद्यपि जीवमें कर्म अबद्ध है इस विकल्पका अतिक्रमण किया तो भी विकल्पातीत तो न रहा । (४) जीवमें कर्म अबद्ध है ऐसा जिसने विकल्प किया उसने यद्यपि जीवमें कर्मबद्ध है इस विकल्पका अतिक्रमण किया तो भी विकल्पातीत तो न रहा । (५) जीवमें कर्म बद्ध है और अबद्ध है जिसने ऐसा विकल्प किया उसने दोनों पक्षोंका ही अतिक्रमण न किया सो विकल्पातीत तो है ही कहाँ ? (६) जो समस्त विकल्पोंका अभाव कर दे वह ही निर्विकल्प ज्ञानघनस्वभाव होता हुआ साक्षात् समयसार है । (७) तत्त्वज्ञानी आत्मा दोनों पक्षपातोंसे रहित है, उसके तो चित् (चेतन) चित् ही है, बद्ध अबद्ध आदि नहीं ।

सिद्धान्त—(१) जीवमें कर्म बद्ध है । (२) जीवमें जीवस्वरूप ही है, कर्म बद्ध नहीं है । (३) जीव निर्विकल्प अखण्ड चिन्मात्र है ।

दृष्टि—१– पराधिकरणत्व असद्भूतव्यवहार (१३४) । २– परमशुद्धनिश्चयनय (४४), प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । ३– शुद्धनय (४९), परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०), शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (३०अ) ।

पक्षातिक्रांतस्य किं स्वरूपमिति चेत्—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

शुद्धात्मतत्त्व ज्ञाता, दोनों नयपक्ष जानता केवल।
नहिं पक्ष कोइ गहता, वह तो नयपक्ष परिहारी ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः। न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः।

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति। तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृ-

---

नामसंज्ञ—दु, वि, णय, भणिय, णवरिं, तु, समयपडिवद्ध, ण, दु, णयपक्ख, किंचि, वि, णयपक्खपरिहीण। **धातुसंज्ञ**—ने प्रापणे, भण कथने, जाण अवबोधने, गिण्ह ग्रहणे। **प्रकृतिशब्द**—द्वि, अपि, नय, भणित, केवलं, तु, समयप्रतिबद्ध, न, तु, नयपक्ष, किंचित्, अपि, नयपक्षपरिहीन। **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, ज्ञा अवबोधने, ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, ग्रह उपादाने क्र्यादि, पक्ष परिग्रहे भ्वादि चुरादि। **पदविवरण**—

चारित्रमोहके पक्षका राग हुआ। हाँ, जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको केवल जानता ही रहे, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवलीकी तरह ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, साक्षीमात्र होता है।

अब इस अर्थको मनमें धारण कर तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है—**चित्स्वभाव** इत्यादि। **अर्थ**—चैतन्यस्वभावके पुञ्जसे भावित भाव अभावस्वरूप एक भावरूप परमार्थरूपसे एक अपार समयसारको समस्त बंधकी परिपाटीको दूर करके मैं अनुभवता हूं। **भावार्थ**—परद्रव्यविषयक कर्ताकर्मभावसे बंधकी चली आई हुई परिपाटी दूर कर मैं समयसारका अनुभव करता हूं, जो कि अपार है अर्थात् जिसके अनन्त ज्ञानादि गुणका पार नही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि पक्षातिक्रान्त आत्मा समयसार है। सो इसी विषयमें प्रश्न हुआ कि पक्षातिक्रान्तका स्वरूप क्या है? इसीका समाधान इस गाथामें किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) केवलज्ञानी प्रभु विश्वके साक्षी मात्र होनेसे श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहारनय व निश्चयनयका केवल स्वरूप ही जानते है, किंतु किसी भी पक्षको ग्रहण नही करते। (२) प्रभु सर्वज्ञताके कारण ज्ञानघनभूत है, अतः श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अतिक्रान्त होनेसे नयपक्षके परिग्रहसे दूर है। (३) श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठनेपर भी परतत्त्वका परिग्रहण करनेकी उत्सुकता निवृत्त हो जानेसे व्यवहारनय व निश्चयनयका मात्र स्वरूप

पक्षातिक्रांत एव समयसार इत्यवतिष्ठते—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

सर्वनयपक्ष अपगत, जो है उसको हि समयसार कहा।
यह ही केवल सम्यग्, दर्शन संज्ञान कहलाता ॥१४४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभते इति केवलं व्यपदेशं। सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥ १४४॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः। यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंतीः श्रुतज्ञान-

---

नामसंज्ञ—सम्मद्दंसणणाण, एत, इत्ति, णवरि, ववदेस, सव्वणयपक्खरहिद, भणिद, ज, त, समय-

---

तथा नाना प्रकारके नयोंके पक्षोंको अवलम्बन कर अनेक विकल्पोंसे आकुलता उत्पन्न करानेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धिको भी गौण कर तथा श्रुतज्ञानको भी आत्मतत्त्वके स्वरूपमें सन्मुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्परूप होकर तत्काल अपने निजरससे ही प्रकट हुआ आदि, मध्य और अन्तके भेदसे रहित अनाकुल एक (केवल) समस्त पदार्थ समूहरूप लोकके ऊपर तैरतेकी तरह अखंड प्रतिभासमय, अविनाशी, अनन्त विज्ञानघन परमात्मस्वरूप समयसारको ही अनुभवता हुआ सम्यक् प्रकार देखा जाता है, श्रद्धान किया जाता है, सम्यक् प्रकार जाना जाता है। इस कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार ही है। **भावार्थ**—पहले तो आगमज्ञानसे आत्माको ज्ञानस्वरूप निश्चय करना, पीछे इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञानको भी ज्ञानमात्रमें ही मिलाना तथा श्रुतज्ञानरूप नयोंके विकल्प मेट श्रुतज्ञानको भी निर्विकल्प कर एक ज्ञानमात्रमें मिलाना और अखण्ड प्रतिभासका अनुभव करना यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, ये दर्शन ज्ञान आत्मासे कुछ पृथक् नहीं है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**आक्रामन्** इत्यादि। **अर्थ**—नयोंके पक्ष बिना निर्विकल्प भावको प्राप्त हुआ जो समय (आगम व आत्मा) का सार सुशोभित होता है, जो कि निश्चित पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है अर्थात् उन्होंने अनुभवसे जान लिया है वही यह भगवान्, जिसका विज्ञान ही एक रस है, ऐसा पवित्र पुराण पुरुष है। इसको ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा कुछ अन्य नामसे कहो, जो कुछ है सो यह एक ही है, मात्र तीर्थप्रवृत्तिके लिये वह अनेक नामोंसे कहा जाता है।

आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ।।६४।। विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं। न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।।६५।। यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं। यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।।६६।। ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः। ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने

अववोधने, डुलभष् प्राप्तौ भ्वादि, पक्ष परिग्रहे, रह त्यागे भ्वादि चुरादि; भण शब्दार्थः। पदविवरण—

होती और करनेरूप क्रिया जाननेरूप क्रियाके अन्दर नही प्रतिभासित होती इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और करोतिक्रिया दोनों भिन्न-भिन्न है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नही है। **भावार्थ**—जिस समय जीव ऐसा परिणाम करता है कि मैं परद्रव्यको करता हूं, उस समय तो उस परिणमन क्रियाका कर्ता ही है ज्ञातामात्रकी स्थिति नही है। तथा जिस समय ऐसा परिणमन करता है कि वह परद्रव्यको जानता है उस समय उस जानन क्रियारूप ज्ञाता ही है वहाँ कर्तृत्वभाव नही है। **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टिके जब तक चारित्रमोहका उदय है तब तक कषायरूप परिणमन होता है, तब तक उसे कर्ता कहें या नही? **समाधान**—अविरतसम्यग्दृष्टि आदिके परद्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नही है, परन्तु कर्मके उदयकी झाँकीका कषायरूप परिणमन है, उसका यह ज्ञाता है, इसलिये अज्ञानसम्बन्धी कर्तृत्व अविरत सम्यग्दृष्टिके भी नही है तथापि निमित्तकी बलाधानतासे विभाव परिणमनका फल कुछ होता है, किन्तु वह संसारका कारण नहीं है। जैसे जड़ कटनेके बाद वृक्ष कुछ समय तक हरा रहता है, परन्तु वह हरापन सूखनेकी ओर ही है, ऐसे ही मिथ्यात्वमूल कटनेके बाद कुछ राग-द्वेष रहें, किन्तु वे मिटनेकी ओर ही हैं और जितने हैं उतनेका भी स्वामित्व सम्यग्दृष्टिके आशयमें नही है।

कर्ता इत्यादि। **अर्थ**—निश्चयतः कर्ता तो कर्ममें नही है और कर्म भी कर्तामें नही है। इस प्रकार दोनोंका ही परस्पर अत्यन्त निषेध है तब क्या कर्ता-कर्मकी कहीं स्थिति हो सकती है? नहीं हो सकती। तब वस्तुकी मर्यादा व्यक्तरूप यह सिद्ध हुई कि ज्ञाता तो सदा ज्ञानमें ही है और कर्म है वह सदा कर्ममें ही है। तो भी अहो! यह मोह (अज्ञान) नेपथ्यमें क्यों नाचता है? **भावार्थ**—कर्म तो पुद्गल है, और जीव चेतन है। सो जीव तो पुद्गलमें नहीं है और पुद्गल जीवमें नहीं है, तब इन दोनोंके कर्ता-कर्म भाव कैसे बन सकता है? इससे जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, पुद्गलका कर्ता नहीं है और पुद्गलकर्म है, वह कर्म ही है। ऐसे ये दोनों प्रकट भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं तो भी अज्ञानीका यह मोह कैसे नाचता है कि मैं तो कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है यह बड़ा अज्ञान है। इस अनहोनीपर आचार्यने बत शब्द कहकर खेद प्रकट किया है। अथवा इस तरह मोह नाचे तो नाचो, परन्तु वस्तु

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि। ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चैश्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥६९॥ ॥१४४॥

॥ इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोंऽकः ॥ २ ॥

क्रिया। इति–अव्यय। केवलं–अव्ययभावे। व्यपदेशं–द्वितीया एक०। सर्वनयपक्षरहितः–प्रथमा एकवचन। भणितः–प्र० ए० कृदन्त। यः, सः–प्र० ए०। समयसारः–प्रथमा एकवचन ॥१४४॥

जाननक्रिया नहीं, जाननक्रियामें करणक्रिया नहीं। (१३) सम्यग्ज्ञान प्रकाशमें ज्ञानी कर्ता नहीं होता तब कार्माणवर्गणा कर्मरूप नहीं होती।

सिद्धान्त—१– सम्यक् ज्ञानबलसे आत्मा आत्मामें उपयुक्त होता है। (२) समयसार अविकल्प अखण्ड चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व है।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६), अपूर्ण शुद्धनिश्चयनय। (४६ब), २–अखंड परमशुद्धनिश्चयनय (४४)।

प्रयोग—सर्वनयपक्षरहित होकर दर्शनज्ञानसामान्यात्मक आत्मतत्त्वको अन्तः अनुभवने का पौरुष करना ॥ १४४ ॥

॥ इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित समयसारव्याख्या आत्मख्यातिमें कर्तृकर्माधिकार सम्पूर्ण ॥२॥



कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

है पापकर्म कुत्सित, सुशील है पुण्यकर्म जग जाने।
शुभ है सुशील कैसा, जो भवमें जीवको डारे ॥१४५॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलं। कथं तद् भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात् शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् शुभाशुभमोक्षबंधमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः। तथाहि—

अपि, सुशील, कथं, तत्, सुशील, यत्, संसार। **मूलधातु**—अ-शुभ शोभार्थे चुरादि, शील समाधौ भ्वादि, सम्-सृ गतौ, प्र-विश प्रवेशने तुदादि णिजन्त। **पदविवरण**—कर्म—द्वितीया एक०। अशुभं—द्वितीया एक०।

जानो। परन्तु परमार्थदृष्टिसे कहते हैं कि [यत्] जो [संसारं] प्राणीको संसारमें ही [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है [तत्] वह कर्म [सुशीलं] शुभ, अच्छा [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है?

तात्पर्य—संसारप्रवेशक कर्ममें अच्छा बुराका भेद नहीं मानना वे सब हेय हैं।

टीकार्थ—कितने ही लोकोंका ऐसा पक्ष है कि कर्म एक होनेपर भी शुभ-अशुभके भेद से दो भेदरूप है, क्योंकि (१) शुभ और अशुभ जो जीवके परिणाम हैं, वे उसको निमित्त हैं उस रूपसे कारणके भेदसे भेद है। (२) शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाममय होनेसे स्वभाव के भेदसे भेद है और (३) कर्मका जो शुभ-अशुभ फल है, उसके रसास्वादके भेदसे भेद है तथा (४) शुभ-अशुभ मोक्ष तथा बंधके मार्गकी आश्रितता होनेपर आश्रयमें भेदसे भेद है। इस प्रकार इन चारों हेतुओंसे कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है, ऐसा किसीका पक्ष है। परन्तु वह पक्ष उसका निषेध करने वाले प्रतिपक्षसे सहित है। अब यही कहते हैं—शुभ व अशुभ जीवका परिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक ही है, सो उसके एक होनेपर कारणका अभेद होनेसे कर्म भी एक ही है तथा शुभ अथवा अशुभ पुद्गलका परिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक ही है और उसके एक होनेपर स्वभावके अभेदसे कर्म भी एक ही है। शुभ अथवा अशुभ कर्मके फलका रस केवल पुद्गलमय होनेसे एक है और उसके एक होनेपर आस्वादके अभेदसे कर्म भी एक ही है। शुभ अशुभरूप मोक्ष और बंधका मार्ग ये दोनों पृथक् है, केवल जीवमय तो मोक्षका मार्ग है और केवल पुद्गलमय बंधका मार्ग है अतः वे अनेक हैं, एक नहीं हैं और उनके एक न होनेपर केवल पुद्गलमय बंधमार्गकी आश्रितताके कारण आश्रयके

मोक्षबंधमार्गौ तु प्रत्येकं केवलंजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबंधमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म । हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥ ॥१४५॥

पुरुष बहुवचन । कथं–अव्यय । तत्–प्रथमा एकवचन । सुशीलं–प्रथमा एक० । यत्–प्रथमा एक० । संसारं–द्वि० ए० । प्रवेशयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन णिजंत ॥१४५॥

अब इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं—**हेतु** इत्यादि । **अर्थ**—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारोंके सदाकाल ही अभेदसे कर्ममें भेद नहीं है, इसलिये बंधके मार्गको आश्रय कर कर्म एक ही माना है क्योंकि सभी कर्म याने शुभ तथा अशुभकर्म दोनों ही स्वयं निश्चयसे बंधके ही कारण है ।

प्रसंगविवरण—पूर्व कर्तृकर्माधिकारमें जीव व पुद्गलकर्मके संबंधमें कर्तृकर्मत्वप्रतिषेध, निमित्तनैमित्तिकभाव आदि कई स्थलोंमें पुद्गलकर्मकी चर्चा आई थी । वही पुद्गलकर्म अब इस पुण्यपापाधिकारमें दो पात्र बनकर प्रवेश करता है । इस गाथामें उन्हीं पुण्यपाप दोनों वेशोंकी समीक्षा की गई है ।

तथ्यप्रकाश—१–यद्यपि शुभपरिणामसे पुण्यबंध व अशुभपरिणामसे पाप बंध होनेसे याने कारणभेद होनेसे पुण्य पाप ये भिन्न-भिन्न हैं तथापि शुभ अशुभ दोनों जीवपरिणाम अज्ञानमय होनेसे एक अज्ञानमय है और कारणभेद न होनेसे पुण्य पाप दोनों एक ही है । २—यद्यपि पुण्य शुभपुद्गलपरिणाम है, पाप अशुभपुद्गलपरिणाममय है तथापि है केवल पुद्गलमय, अतः स्वभावका भेद न होनेसे दोनों एक ही है । ३–यद्यपि पुण्य शुभफलपाक है, पाप अशुभफलपाक है तथापि हैं दोनों पुद्गलमय विकाररूप, अतः अनुभवके अभेदसे दोनों कर्म एक ही हैं । ४– यद्यपि लौकिक जीवोंको ऐसा मालूम होता है कि पुण्य तो मोक्षमार्ग है और पाप बंधमार्ग है, लेकिन ऐसा है नहीं, मोक्षमार्ग तो केवल जीवमय है और बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है, यों पुण्यपाप दोनों केवल पुद्गलमय बन्धमार्गाश्रित है, अतः आश्रयका अभेद होनेसे पुण्यपाप दोनों कर्म एक ही हैं ।

सिद्धान्त—(१) प्रकृत्यादिभेदसे पुण्य व पापकर्ममें भेद है । (२) दुःखरूपत्व आदिकी दृष्टिसे पुण्यपापमें अभेद है ।

दृष्टि—१– वैलक्षण्यनय (२०३) । २– सादृश्यनय (२०२) ।

प्रयोग—पुण्य-पापकर्मको, पुण्य-पापकर्मके फल सुख-दुःखको, पुण्य-पापके हेतुभूत शुभाशुभभावको विकृतपनेकी दृष्टिसे एक समान जानकर उन सबसे उपेक्षा करके निष्कर्म

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत् ॥ १४६ ॥

जीव प्राणधारणे, शुभ शोभने, डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—सौर्वणिकं-प्रथमा एकवचन । अपि-अव्यय । निगलं-प्रथमा एक० । बध्नाति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । कालायसं-प्रथमा एकवचन । यथा-अव्यय । पुरुषं, जीवं-द्वितीया एकवचन । शुभं, अशुभं-प्रथमा एकवचन कर्तृविशेषण । वा-अव्यय । कृतं-प्रथमा एकवचन कृदन्त । कर्म-प्रथमा एकवचन कर्तृकारक ॥१४६॥

इच्छासे व्रत तप आदि करता है वह राख पानेके लिये चंदनबनको जलानेकी तरह व्रतादिक को व्यर्थ नष्ट करता है । ४– जो शुद्धात्मभावनाके साधनके लिये तपश्चरणादिक करता है वह परम्परया मोक्ष प्राप्त कर लेता है । ५– भले ही ज्ञानी जीवको शेषभवपर्यंत पुण्यकर्म तत्काल बन्धनरूप है तो भी पुण्य व पुण्यफलमें राग न होनेसे एवं चित्स्वभाव उपास्य होनेसे वह मोक्षमार्गी है ।

सिद्धान्त—१–द्रव्यप्रत्यय नवकर्मास्रवके साक्षात् निमित्तभूत है । २–कर्मविपाकोदय याने वही द्रव्यप्रत्यय जीवविकारका साक्षात् निमित्तभूत है ।

दृष्टि—१–निमित्तदृष्टि (५३अ) । २–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३) ।

प्रयोग—पुण्य पापके बंधनसे हटनेके लिये बन्धनरहित अविकार सहज ज्ञानस्वरूप मात्र अपनेको मनन करना चाहिये ॥१४६॥

अब शुभ अशुभ दोनों ही कर्मोंका निषेध करते हैं—[**तस्मात् तु**] इस कारण [**कुशीलाभ्यां**] उन दोनों कुशीलोंसे [**रागं**] प्रीति [**मा कुरुत**] मत करो [**वा**] अथवा [**संसर्गं च**] संबंध भी [**मा**] मत करो [**हि**] क्योंकि [**कुशीलसंसर्गरागेण**] कुशीलके संसर्ग और रागसे [**विनाशः स्वाधीनः**] विनाश होना स्वाधीन है ।

तात्पर्य—कोई कुशीलोंसे राग व संसर्ग करे तो उसका विनाश होना प्राकृतिक ही है ।

टीकार्थ—कुशील शुभ-अशुभ कर्मके साथ राग और संसर्ग करना दोनों ही निषिद्ध हैं, क्योंकि ये दोनों ही कर्मबंधके कारण हैं । जैसे कुशील, मनको रमाने वाली अथवा नहीं रमाने वाली कुट्टनी हथिनीके साथ राग और संगति करने वाले हाथीका विनाश अपने आप है सो राग व संसर्ग उस हाथीको नहीं करने चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि पुण्य-पाप दोनों ही कर्मबन्धहेतु हैं । अब इस गाथामें उन दोनों ही कर्मोंको दूर करनेका उपदेश किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– शुभ (पुण्य), अशुभ (पाप) दोनों ही कर्म कुशील हैं । २– बंधके कारणभूत होनेसे दोनों ही कुशील कर्मोंका राग करना व संसर्ग करना निषिद्ध किया गया है ।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टांतेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥ (युग्मम्)

जैसे कोई मानव, कुशीलमय जानकर किसी जनको ।
तज देता उसके प्रति, संसर्ग व रागका करना ॥१४८॥
वैसे ही कर्म-प्रकृति-को कुत्सितशील जानकर ज्ञानी ।
तज देते हैं उसका, संसर्ग व रागका करना ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय । वर्जयति तेन समकं संसग रागकरणं च ॥ १४८ ॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा । वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥ १४९ ॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टिनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति । तथा

प्राकृतशब्द—जह, णाम, क, वि, पुरिस, कुच्छियसील, जण, त, समय, संसग्ग, रायकरण, एमेव, कम्मपयडि, सीलसहाव, कुच्छिद, य, तस्संसग्ग, सहावरय । **प्राकृतधातु**—कुच्छ निन्दायां, वज्ज वर्जने, परि-हर हरणे । **प्रकृतिशब्द**—यथा, नाम, किं, अपि, पुरुष, कुत्सितशील, जन, तत्, समय, संसर्ग, समकं, रागकरण, च, एवं, एव, कर्मप्रकृतिशीलस्वभाव, च, कुत्सित, च, तत्संसर्ग, स्वभावरत । **मूलधातु**—पुर अग्रगमने, कुत्स अवक्षेपणे चुरादि, शील समाधौ, ज्ञा अवबोधने, वृजी वर्जने अदादि रुधादि चुरादि, परि-हृञ हरणे भ्वादि । **पदविवरण**—यथा—अव्यय । नाम—अव्ययार्थे । कः—प्र० ए० । अपि—अव्यय । पुरुषः—

मुखको लीलारूप करती मनको रमाने वाली, सुन्दर अथवा असुन्दर कुट्टिनी हथिनीको बुरी समझकर उसके साथ राग तथा संसर्गके नहीं करता, उसी प्रकार रागरहित ज्ञानी आत्मा अपने बन्धके लिये समीप उदय आतीं शुभरूप अथवा अशुभरूप सभी कर्मप्रकृतियोंको परमार्थ से बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्गको नहीं करता । **भावार्थ**—जैसे हाथीके पकड़ने को कोई जंगलमें बड़ा गड्ढा खोदकर उसपर बाँसपंच बिछाकर बांसपंचसे ऊपर बांस व कागजसे झूठी हथिनी बनाकर हथिनी दिखलावे, तब हाथी कामांध हुआ उससे राग तथा संसर्ग कर गड्ढेमें पड़ पराधीन होकर दुःख भोगता है, किन्तु (चतुर) हाथी उससे राग, संसर्ग नहीं करता, उसी प्रकार कर्मप्रकृतियोंको अच्छी समझ अज्ञानी जन उनसे राग तथा संसर्ग करता है, तब बन्धमें पड़ संसारके दुःख भोगता है, परन्तु ज्ञानी उनसे संसर्ग तथा राग कभी नहीं करता ।

अथोभयं कर्मबंधहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी विधिको बांधे, छोड़े विधिको विराग विज्ञानी।
यह भागवत वचन है, इससे विधिमें न राग करो ॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः। एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च। कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात्। तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥ निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल, प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः। तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं, स्वयं विन्दन्त्येते परममममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥ ॥१५०॥

प्राकृतशब्द—रत्त, कम्म, जीव, विरागसंपत्त, एत, जिणोवदेस, त, कम्म, मा। **प्राकृतधातु**—रज्ज रागे, बंध बंधने, मुंच त्यागे। **प्रकृतिशब्द**—रक्त, कर्मन्, जीव, विरागसंप्राप्त, एतत्, जिनोपदेश, तत्, कमन्, मा। **मूलधातु**—रन्ज रागे, वन्ध वन्धने, डुकृञ् करणे, मुच्लृ मोक्षणे तुदादि, सम्-प्र-आप्लृ प्रापणे, जि जये अभिभवे च भ्वादि। **पदविवरण**—रक्तः–प्रथमा एकवचन। बध्नाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। कर्म–द्वितीया एक०। मुच्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया। विरागसंप्राप्तः, एषः, जिनोपदेशः—प्रथमा एक०। तस्मात्–पंचमी एकवचन हेत्वर्थे। कर्मसु–सप्तमी बहु०। मा–अव्यय। रज्यस्व–आज्ञायां लोट् मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया॥ १५०॥

तथ्यप्रकाश—(१) जो रागादिमें रक्त है उसके संसारविषयक कर्मबन्धन होता है। (२) जो रागादिसे विरक्त होकर भी कर्मविपाकवश रागी बनता है उसके शरीरविषयक कुछ काल तक कर्मबन्धन होता। (३) जो पूर्णतया विकारसे विरक्त है वह कर्मसे छूट जाता है। (४) शुभ अशुभ दोनों ही कर्म राग उपरागके निमित्तभूत होनेसे बन्धहेतु हैं, अतः दोनों ही कर्म प्रतिषेध्य हैं। (५) नैष्कर्म्य अवस्था होनेपर ज्ञानी अशरण नहीं होता, किन्तु ज्ञानमें ज्ञान समाया होनेसे वह वास्तविक सशरण है और परम अमृत तत्त्वका अनुभव करता है।

सिद्धान्त—(१) रागी जीव कर्म बांधता है यह उपचार कथन है। (२) रागका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं यह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका सिद्धान्त है। (३) अशुद्धद्रव्यार्थिकका प्रतिपादन व्यवहार है, उपचार नहीं। (४) रागरहित जीव कर्मसे शून्य हो जाता है।

प्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः। सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः। केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली। मननमात्रभावमात्रतया मुनिः। स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी। स्वस्य ज्ञानस्य भावमात्रतया स्वभावः स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ॥१५१॥

गतौ, शुध शौचे, मनु अवबोधने तनादि, ज्ञा अवबोधने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, प्र-आप्लृ प्रापणे, निर् वन संभक्तौ। **पदविवरण**—परमार्थः–प्रथमा एक०। खलु–अव्यय। समयः, शुद्धः, यः, केवली, मुनिः, ज्ञानी–प्रथमा एकवचन। तस्मिन्–सप्तमी एक०। स्थिताः–प्रथमा बहुवचन। स्वभावे–प्र० एक०। मुनयः–प्रथमा बहु०। प्राप्नुवन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन। निर्वाणं–द्वितीया एकवचन ॥ १५१ ॥

सत्तारूप प्रवर्तनके कारण स्वभाव है तथा अपनी चेतनाका सत्तारूप होनेसे सद्भाव है। ऐसे शब्दोंके भेद होनेपर भी वस्तुभेद नहीं है। **भावार्थ**—मोक्षका उपादान कारण आत्मा ही है और आत्माका परमार्थसे ज्ञानस्वभाव है, अतः जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, आत्मा है वह ज्ञान ही है, इसलिये ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहना युक्त है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सिद्धान्त द्वारा शुभ अशुभ कर्मको प्रतिषेध्य बताकर सिद्ध किया था कि शुभ अशुभकर्म दोनों बंधहेतु है। इस विवरणपर यह जिज्ञासा होती है कि तब फिर मोक्षहेतु क्या है? इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञान ही मोक्षहेतु है, क्योंकि मात्र ज्ञान ही रहना, पूर्णतया परसे पृथक् हो जाना मोक्ष है सो वह मोक्ष परविविक्त सहजज्ञानस्वरूपकी आराधनासे ही हो सकता है। (२) ज्ञान शुभाशुभकर्मके बन्धका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूप व स्वभाव बन्धके लिये नहीं होता। (३) ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) ही परमार्थ है, क्योंकि ज्ञानभाव समस्त कर्मादिसे न्यारा चिज्ज्योतिमात्र वस्तु है। (४) ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) ही समय है, क्योंकि यह चेतन पदार्थ ही एक साथ स्वयं जानता व परिणमता है अथवा सम्यक् अय (ज्ञान) वाला है अथवा समरसीभावसे शुद्धस्वरूपमें इसका गमन है। (५) यह ज्ञान शुद्ध है, क्योंकि यह केवल चिन्मात्र वस्तु है। (७) यह ज्ञान मुनि है, क्योंकि यह ज्ञानभाव मननमात्र भाव है। (८) यह ज्ञान ज्ञानी है, क्योंकि यह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। (९) विशुद्ध यह ज्ञान (ज्ञानमय आत्मा) अपने भवनमें जाननस्वरूपमें निर्विकल्प स्थित होकर निर्वाणको प्राप्त करता है।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध चित्स्वभावकी आराधनासे कर्ममोक्ष होता है। (२) यह ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व अभेद शुद्ध चिज्ज्योतिमात्र है।

दृष्टि—१– शुद्ध भावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब)। २– शुद्धनय (४९)।

प्रयोग—केवल चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्वमें स्थित होनेका पौरुष करना, क्योंकि इस विधिसे ही निर्वाण प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ।। १५२ ।।

। अअव्ययस्थितः, यः–प्र० ए० । करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तपः–द्वितीया एक० । व्रतं–द्वि० ए० । धारयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तत्, सर्वं, वालतपः, वालव्रतं–द्वि० ए० । वदंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहु० । सर्वज्ञाः–प्रथमा वहुवचन ।। १५२ ।।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग—परमार्थमें न ठहर सकने वाले जीवकी क्रियायें सब दुर्गतिके हेतुभूत जानकर परमार्थ सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ।। १५२ ।।

अब ज्ञान और अज्ञान दोनोंको क्रमशः मोक्ष और बंधका हेतु निश्चित करते हैं—[**व्रतनियमान्**] व्रत और नियमोंको [**धारयंतः**] धारण करते हुए [**तथा**] तथा [**शीलानि च तपः कुर्वंतः**] शील और तपको करते हुए भी [**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मासे बाह्य हैं [**ते**] वे [**निर्वाणं**] मोक्षको [**न**] नहीं [**विंदंति**] पाते ।

तात्पर्य—सहज ज्ञानस्वभावमय अन्तस्तत्त्वसे अपरिचित जन कैसा भी व्रत नियम तप धारण करें तो भी वे मोक्षको नहीं पाते हैं ।

टीकार्थ—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि ज्ञानका अभाव होनेपर स्वयं अज्ञानरूप हुए अज्ञानियोंके अन्तरङ्गमें व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मका सद्भाव होनेपर भी मोक्ष का अभाव है । अज्ञान ही बंधका हेतु है, क्योंकि अज्ञानका अभाव होनेपर स्वयं ज्ञानरूप हुए ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है । **भावार्थ**—ज्ञान होनेपर ज्ञानीके व्रत नियम शील तपोरूप शुभकर्म बाह्यमें विशेष न होने पर भी मोक्ष होता है । और अज्ञानीके बहुत अधिक बाह्य तप व्रत नियमकी प्रवृत्ति हो तो भी उनको मोक्ष नहीं है ।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**यदेत** इत्यादि । **अर्थ**—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव और निश्चल ज्ञानस्वरूप हुआ शोभायमान होता है, तब ही यह मोक्षका कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव मोक्षस्वरूप है और इसके सिवाय जो अन्य है वह बन्धका कारण है, क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है । इस कारण ज्ञानस्वरूप अपना होना ही अनुभूति है, इस प्रकार निश्चयसे बन्धमोक्षके हेतुका विधान किया है । **भावार्थ**—ज्ञानात्मक आत्मपदार्थका ज्ञानात्मकपनेसे प्रवर्तना ही मोक्षका हेतु है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें ज्ञानकी मोक्षहेतुता व अज्ञानकी बंधहेतुताका संकेत दिया गया था । अब उसी तथ्यका एक ही इस गाथामें नियमरूप वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश–(१) ज्ञानशून्य अज्ञानीजन लगनसे व्रतादि कर शुभभाव करें तो भी ज्ञान

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

परमार्थबाह्य जो हैं, वे नहिं मोक्षके हेतुको जानें ।
संसारभ्रमण कारण, पुण्यहि अज्ञानसे चाहें ॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति । संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥ १५४ ॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवर्त्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः

प्राकृतशब्द—परमट्ठवाहिर, ज, त, अण्णाण, पुण्ण, संसारगमणहेदु, वि, मोक्खहेतु । प्राकृतधातु—जाण अवबोधने, मुच त्यागे, इच्छ इच्छायां । प्रकृतिशब्द—परमार्थवाह्य, यत्, तत्, अज्ञान, पुण्य, संसारगमनहेतु, अपि, मोक्षहेतु, अपि, मोक्षहेतु, अजानत् । मूलधातु—ऋ गतौ जुहोत्यादि (अर्यते इति अर्थः) ज्ञा अवबोधने, पूञ् पवने क्र्यादि, इषु इच्छायां तुदादि । पदविवरण—परमट्ठवाहिरा परमार्थवाह्याः-

---

तात्पर्य—अज्ञानियोंको मोक्षहेतुभूत अन्तस्तत्त्वदृष्टि नहीं मिली, अतः पुण्यको ही मोक्षका कारण समझकर सेवते हैं ।

टीकार्थ—इस लोकमें कई एक जीव समस्त कर्मके पक्षका क्षय होनेसे सम्भावित निजस्वरूपके लाभरूप मोक्षको चाहते हुए भी और उस मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानके होनेमात्र एकाग्रतालक्षण समयसारभूत सामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा लेकर भी दुरंत कर्मके समूहके पार होनेकी असामर्थ्यसे परमार्थभूत ज्ञानके होनेमात्र जो सामायिक चारित्रस्वरूप आत्माका स्वभाव उसको न पाते हुए अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामस्वरूप कर्मसे तो निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणामस्वरूप कर्मके द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्मके अनुभवकी गुरुता और लघुताकी प्राप्तिमात्रसे ही संतुष्ट चित्त वाले हुए स्थूल लक्ष्यतारूप स्थूल अनुभवगोचर संक्लेशरूप कर्मकांडको तो छोड़ते हैं, परन्तु समस्त कर्मकांडको मूलसे नहीं उखाड़ते । सो वे स्वयं अपने अज्ञानसे केवल अशुभकर्मको बंधका कारण मान व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्म बंधके कारणको बंधका कारण नहीं जानते हुए उसको मोक्षका कारण अङ्गीकार करते हैं ।

भावार्थ—कितने ही जीव अधिक संक्लेशपरिणामरूप कर्मको तो बंधका कारण जानकर छोड़ देते हैं और मोटी विशुद्धता परिणाम रूप कर्मसहित बर्तते हैं । वे बाहरी प्रवृत्तिको ही बंध-मोक्षका कारण जानते हैं तथा सकल कर्मोंसे रहित अपने स्वरूपको मोक्षका कारण

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादिक तत्त्वोंका, प्रत्यय सम्यक्त्व बोध संज्ञान ।
रागादि त्याग चारित, यही त्रितय मोक्षका पथ है ॥१५५॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानं । रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥ १५५ ॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं । रागादिपरिहरणस्वभावेन

प्राकृतशब्द—जीवादीसद्दहण, सम्मत्त, त, अधिगम, णाण रायादीपरिहरण, चरण, एत, दु, मोक्खपह । प्राकृतधातु—परि-हर हरणे, सम्-अंच-पूजासंकोचनसंचयेषु, चर गतौ । प्रकृतिशब्द—जीवादिश्रद्धान, सम्यक्त्व, तत्, अधिगम, ज्ञान, रागादिपरिहरण, चरण, एतत्, तु, मोक्षपथ । मूलधातु—श्रद्-

---

शुभकर्मप्रवर्तन करनेपर भी शुभकर्मको अनात्मस्वभाव जानकर उससे उपेक्षा कर शुभाशुभकर्मसे हटकर अपने अन्तःप्रकाशमान ज्ञानस्वरूपमें रत होकर सहज संतुष्ट होनेका पौरुष करना ॥ १५४ ॥

अब उन जीवोंको परमार्थस्वरूप मोक्षका कारण दिखलाते हैं—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान तो [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है और [तेषां] उन जीवादि पदार्थोंका [अधिगमः] अधिगम [ज्ञानं] ज्ञान है तथा [रागादिपरिहरणं] रागादिकका त्याग [चरणं] चारित्र है [एष तु] सो यही [मोक्षपथः] मोक्षका मार्ग है ।

तात्पर्य—निश्चयतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है ।

टीकार्थ—मोक्षका कारण निश्चयसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है । उनमें जीवादिपदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान स्वभावसे ज्ञानका होना तो सम्यग्दर्शन है; जीवादिपदार्थोंके ज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है; तथा रागादिके त्याग स्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है । इस कारण ज्ञान ही परमार्थरूपसे मोक्षका कारण है । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ज्ञानके ही परिणमन हैं । अतः ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है । ज्ञान अभेदविवक्षासे आत्मा ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि पुण्यकर्मके पक्षपाती जन पुण्यकर्मको ही मोक्षहेतु समझकर पुण्यको ही चाहते हैं । इस विवरण पर यह जिज्ञासा हुई कि फिर मोक्षका हेतु क्या है ? इस जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– ज्ञान ही परमार्थभूत मोक्षका कारण है । २– मोक्षका कारण जो

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

परमार्थ छोड़ करके, ज्ञानी व्यवहारमें नहीं लगते।
क्योंकि परमार्थदर्शी, मुनिके क्षय कर्मका होता ॥१५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे न विद्वांसः प्रवर्तते। परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥१५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्। परमार्थमोक्ष

प्राकृतशब्द—णिच्छट्ठ, ववहार, विदुस, परमट्ठ, अस्सिद, दु, जदि, कम्मक्खय, विहिअ। **प्राकृतधातु**—मुंच त्यागे, प-वत्त वर्तने। **प्रकृतिशब्द**—निश्चयार्थ, व्यवहार, न, विद्वस्, परमार्थ, आश्रित, तु, यति, कर्मक्षय, विहित। **मूलधातु**—मुच्लृ मोक्षणे तुदादि, विद ज्ञाने, प्र-वृतु वर्तने भ्वादि, श्रिञ् सेवायां

प्रयोग—सर्वत्र ज्ञानभावको ही मोक्षहेतु जानकर विशुद्ध ज्ञानात्मक स्वमें ही रत होकर अपनेको सकलसंकट रहित करनेका पौरुष करना ॥१५५॥

अब परमार्थरूप मोक्षके कारणसे भिन्न कर्मका निषेध करते हैं—**[विद्वांसः]** पंडित जन **[निश्चयार्थं]** निश्चयनयके विषयको **[मुक्त्वा]** छोड़कर **[व्यवहारे]** व्यवहारमें **[न प्रवर्तन्ते]** प्रवृत्ति नहीं करते हैं **[तु]** क्योंकि **[परमार्थं]** परमार्थभूत-आत्मस्वरूपका **[आश्रितानां]** आश्रय करने वाले **[यतीनां]** यतीश्वरोंके ही **[कर्मक्षयः]** कर्मका नाश **[विहितः]** कहा गया है।

तात्पर्य—व्यवहार क्रियामें ही प्रवृत्ति रखनेसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु परमार्थ सहज ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे ही मोक्ष होता है, तप व्रत आदि तो अशुभसे बचाकर शुद्धताके लिये अवसर देने वाले हैं।

टीकार्थ—परमार्थभूत मोक्षके कारणसे रहित और व्रत तप आदिक शुभकर्मस्वरूप ही किन्हींके मतमें मोक्षका हेतु है सो वह सभी निषिद्ध किया गया है, क्योंकि व्रत तप आदि अन्यद्रव्यस्वभाव है, उस स्वभावसे ज्ञानका परिणमन नहीं होता तथा परमार्थभूत मोक्षका कारण एक द्रव्यस्वभावरूप होनेके कारण स्वभावसे ही ज्ञानका परिणमन होता है। **भावार्थ**—मोक्ष आत्माको होता है सो उसका कारण भी आत्माका स्वभाव ही होना चाहिए। जो अन्य द्रव्यका स्वभाव है उससे आत्माको मोक्ष कैसे होगा? इसलिए शुभ कर्म पुद्गलद्रव्यका स्वभाव है वह आत्माके मोक्षका कारण नहीं है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है, वही आत्माके परमार्थभूत मोक्षका कारण है।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानाकरणं साधयति--

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥ (त्रिकलम)

ज्यौं वस्त्र श्वेतरूपक, मलमेलन लिप्त होय ढक जाता ।
त्यौं यह सम्यक्त्व यहां, मिथ्यात्वमलसे ढक जाता ॥१५७॥
ज्यौं वस्त्र श्वेतरूपक, मलमेलनलिप्त होय ढक जाता ।
त्यौं जानो ज्ञान यहां, अज्ञानमलसे ढक जाता ॥१५८॥
ज्यौं वस्त्र श्वेतरूपक, मलमेलनलिप्त होय ढक जाता ।
त्यौं जानो चारित यह, कषायमलसे हि ढक जाता ॥१५९॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः । मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः । अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः । कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यं ।

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः

प्राकृतशब्द—वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, मिच्छत्तमलोच्छण्ण, तह, सम्मत्त, खु, वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, अण्णाणमलोच्छण्ण, तह, णाण, णायव्व, वत्थ, सेदभाव, जह, मलमेलणासत्त, कसायमलोच्छण्ण, तह, चारित्त, वि, णादव्व । **प्राकृतधातु**—नस्स नाशे, च्छाद संवरणे, जाण अवबोधने, हो सत्तायां, नस्स नाशे, कस तनूकरणे । **प्रकृतिशब्द**—वस्त्र, श्वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, मिथ्यात्वमलावच्छन्न, तथा, सम्यक्त्व, खलु, ज्ञातव्य, वस्त्र, श्वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, अज्ञानमलावच्छन्न, तथा, ज्ञान, ज्ञातव्य, वस्त्र, श्वेतभाव, यथा, मलमेलनासक्त, कषायमलावच्छन्न, चारित्र, अपि, ज्ञातव्य ।

करके व्यवहारप्रवर्तनको छोड़कर परमार्थ ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेका पौरुष करना ॥१५६॥

अब मोक्षके कारणभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्रका आच्छादक कर्म है यह बताते हैं—[यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतपना [मलमेलनासक्तः] मलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है [तथा] उसी भांति [मिथ्यात्वमलावच्छन्नं] मिथ्यात्वमलसे व्याप्त हुआ [सम्यक्त्वं] आत्माका सम्यक्त्वगुण [खलु] निश्चयसे

कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धं ॥ १५७-१५९ ॥

णाण-प्र० ए० । होदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णायव्वं ज्ञातव्यं-प्रथमा एकवचन कृदन्त । वत्थस्स वस्त्रस्य-षष्ठी एक० । सेदभावो श्वेतभावः-प्रथमा एक० । जह यथा-अव्यय । णासेदि नश्यति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । मलमेलणासत्तो मलमेलनासक्तः-प्रथमा एक० । कसायमलोच्छण्णं कषायमलावच्छन्नः-प्रथमा एक० । तह तथा-अव्यय । चारित्तं चारित्रं-प्रथमा एक० । पि अपि-अव्यय । णादव्वं ज्ञातव्यं-प्रथमा एकवचन कृदन्त ॥ १५७-१५९ ॥

हेतुत्वका प्रतिषेध किया था । अब प्रतिषेध्य उन्हीं कर्मोंको मोक्षहेतुतिरोधायिता इस गाथामें प्रसिद्ध की है ।

तथ्यप्रकाश—१-समस्त कर्म रत्नत्रयस्वरूप मोक्षहेतुका तिरोधान करते हैं, अतः कर्म प्रतिषेध्य है । २--ज्ञानका सम्यक्त्व स्वभाव (सम्यक्पना) मोक्षका हेतु है वह मिथ्यात्व कर्ममल परभावसे तिरोहित है । ३--ज्ञानका ज्ञानस्वभाव मोक्षका हेतु है वह अज्ञान (ज्ञानावरण) नामक कर्ममल परभावसे तिरोहित है । ४--ज्ञानका चारित्रस्वभाव मोक्षका हेतु है वह कषाय कर्ममल परभावसे तिरोहित है । ५- ये पौद्गलिक कर्म निमित्तरूपसे मोक्षहेतुके बाधक हैं और इन कर्मोंके निमित्तभूत व नैमित्तिकभूत शुभाशुभ कर्म निजमें मोक्षहेतुके बाधक हैं । ६--शुद्धोपयोगसे पूर्व होने वाले शुभोपयोगके साधनभूत कर्म मोक्षहेतुके परम्परया साधक है, साक्षात् बाधक है ।

सिद्धान्त—(१) पौद्गलिक कर्मविपाक मोक्षहेतुका निमित्तरूपसे बाधक है । (२) शुभाशुभभाव मोक्षहेतुका उपादानतया बाधक है ।

दृष्टि—१- निमित्तदृष्टि (५३अ) । २- उपादानदृष्टि (४९ब) ।

प्रयोग—पुण्यपापकर्मको व पुण्यपापभावको अलक्षित करके अन्तःप्रकाशमान परमार्थमोक्षहेतुभूत ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥ १५७-१५९ ॥

अब कर्म स्वयमेव बंध है, यह सिद्ध करते हैं;—[सः] वह आत्मा स्वभावतः [सर्वज्ञानदर्शी] सबका जानने देखने वाला है तो भी [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्मरूपी रजसे [अवच्छन्नः] आच्छादित हुआ [संसारसमापन्नः] संसारको प्राप्त होता हुआ [सर्वतः] सब प्रकार से [सर्वं] सब वस्तुको [न विजानाति] नहीं जानता ।

तात्पर्य—ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव होनेपर भी संसारस्थ प्राणी कर्माच्छादित होनेसे सर्वज्ञाता नहीं हो पाता ।

टीकार्थ—जिस कारण स्वयमेव ज्ञानरूप होनेसे सब पदार्थोंको सामान्य विशेषतासे

र्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बंधावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते। ततो नियतं स्वयमेव कर्मेव बंधः अतः स्वयं बंधत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं ॥१६०॥

रयेण कर्मरजसा–तृतीया एक०। णियेण निजेन–तृ० एक०। अवच्छण्णो अवच्छन्नः–प्रथमा एक०। संसारसमावण्णो संसारसमापन्नः–प्रथमा एक०। ण न–अव्यय। विजाणदि विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सव्वदो सर्वतः–अव्यय पंचम्यर्थे। सव्वं सर्व–द्वितीया एक०॥ १६०॥

षित व विकल्पसंकटापन्न है।

दृष्टि–– १– परमशुद्धनिश्चयनय (४४)। २– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३)। ३– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—शुभाशुभभावोंको साक्षात् परमार्थदृष्टिका बाधक जानकर उनसे उपेक्षा करके अबाधस्वभाव शाश्वत अन्तःप्रकाशमान ज्ञानस्वरूपके अभिमुख रहनेका पौरुष करना ॥१६०॥

अब कर्मका मोक्षहेतुतिरोधायीपना दिखलाते हैं—[**सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं**] सम्यक्त्वको रोकने वाला [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरदेवोंने [**परिकथितं**] कहा है [**तस्योदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] यह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि हो जाता है [**इतिज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये। [**ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं**] ज्ञानको रोकने वाला [**अज्ञानं**] अज्ञान है ऐसा [**जिनवरैः परिकथितं**] जिनवर देवोंने कहा है [**तस्योदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] यह जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**भवति**] होता है ऐसा [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए। [**चारित्रप्रतिनिबद्धः**] चारित्रको रोकने वाला [**कषायः**] कषाय है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनेन्द्रदेवोंने [**परिकथितः**] कहा है [**तस्य उदयेन**] उसके उदयसे [**जीवः**] यह जीव [**अचारित्रः**] अचारित्री [**भवति**] हो जाता है ऐसा [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

तात्पर्य—मिथ्यात्व अज्ञान व कषायके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी व अचारित्री हो जाता है।

टीकार्थ—सम्यक्त्व जोकि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसको रोकने वाला अज्ञान है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ज्ञानके अज्ञानपना है; और चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसका प्रतिबंधक कषाय है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रपना है। इस कारण कर्ममें स्वयमेव मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका तिरोधायिपना होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है। **भावार्थ**—मोक्षके कारणरूप स्वभाव हैं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र। इन तीनोंके प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हैं इसलिये वे इन तीनोंको प्रकट नहीं होने देते, इस कारण कर्मका प्रतिषेध किया गया है। अशुभ कर्म मोक्षका हेतु तो क्या है बाधक ही है, परन्तु शुभकर्म भी बंधरूप ही है। इस

प्रतिषिद्धं । संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा । सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०६॥ यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा, कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः । किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्मोक्षाय

पडिणिबद्ध, कसाय, जिणवर, परिकहिय, तस्स, उदय, जीव, अचरित्त, णादव्व । **धातुसंज्ञ**—पडि-णि-वंध बंधने, परि-कह वाक्यप्रबन्धे, जाण अवबोधने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्ध, मिथ्यात्व,

---

दूर होनेपर ज्ञान, स्वयं अपने मोक्षके कारणमय स्वभावरूप हुआ निर्बाध प्रगट होता है ।

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जब तक कर्मका उदय है, तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है तथा कर्म और ज्ञान दोनों एक साथ किस तरह रहते हैं ? इसके समाधानमें काव्य कहते हैं—**यावत्** इत्यादि । **अर्थ**—जब तक कर्म उदयको प्राप्त है और ज्ञानके सम्यक् विरतिभाव नहीं है, तब तक कर्म और ज्ञान दोनोंका समुच्चय (एकत्रीकरण) भी कहा गया है और तब तक भी इसमें कुछ क्षति नहीं । किन्तु, इस आत्मामें अवशपने जो कर्म प्रकट होता है वह तो बंधके ही लिये है और मोक्षके लिये एक परम ज्ञान ही निर्णीत है जो कि स्वतः विमुक्त है अर्थात् सदैव परद्रव्यभावोंसे भिन्न है । **भावार्थ**—जब तक सम्यग्दृष्टि के संज्वलनकषायका भी उदय है तब तक उसके ज्ञानधारा व कर्मधारा दोनों चलती हैं । कर्म तो अपना कार्य करता ही है और वहींपर ज्ञान है, वह भी अपना कार्य करता है । एक ही आत्मामें ज्ञान और कर्म दोनोंके इकट्ठे रहनेमें भी विरोध नहीं आता । जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानका परस्पर विरोध है, उस प्रकार कर्मसामान्यके और ज्ञानके विरोध नहीं है ।

अब कर्म और ज्ञानका नयविभाग दिखलाते हैं—**मग्नाः** इत्यादि । **अर्थ**—कर्मनयके अवलम्बनमें तत्पर याने कर्मनयके पक्षपाती तो डूबे हुए हैं ही, क्योंकि वे ज्ञानको नहीं जानते हैं, पर जो परमार्थ ज्ञानको तो जानते नहीं और ज्ञाननयके पक्षपाती हैं वे भी डूबे हुए हैं, क्योंकि वे आवश्यक क्रियाकांडको छोड़कर स्वच्छन्द हो मन्द उद्यमी हैं, किन्तु जो आप निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्मको तो करते नहीं तथा प्रमादके वश भी नहीं होते, स्वरूपमें उत्साहवान हैं, वे लोकके ऊपर तैरते हैं ।

भावार्थ—यहां सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया गया है क्योंकि सर्वथा एकान्तका अभिप्राय होना ही मिथ्यात्व है । परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानना नहीं और व्यवहार दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप क्रियाकांडके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसमें ही तत्पर रहना और उसीका पक्षपात करना है, सो कर्मनय है । कर्मनयके पक्षपाती, ज्ञानको तो जानते नहीं हैं और इस कर्मनयमें ही खेदखिन्न हैं वे संसार समुद्रमें मग्न ही हैं ।

यत्पीतमोहं, मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन। हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्ध-केलि, ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥ ॥ १६१-१६३ ॥

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम्।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्याती

पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽकः ॥ ३ ॥

परिकथितं–प्र० ए०। तस्स तस्य–षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन–तृतीया एक०। जीवो जीवः–प्र० एक०। अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक०। होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। णायव्वो ज्ञातव्यः–प्र० ए० कृदन्त क्रिया। चारित्तपडिणिवद्धं चारित्रप्रतिनिवद्धं–प्र० ए०। कसायं कषायः–प्र० ए०। जिणव-रेहिं जिनवरैः–तृतीया बहु०। परिकहियं परिकथितं–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तस्स तस्य–षष्ठी एक०। उदयेण उदयेन–तृतीया एक०। जीवो जीवः–प्रथमा एक०। अचरित्तो अचरित्रः–प्रथमा एक०। होदि भवति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। णायव्वो ज्ञातव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ १६१–१६३ ॥

जान लिया तब वह कर्म रंगभूमिसे निकल गया। उसके बाद ज्ञान अपनी शक्तिसे यथार्थ प्रकाशरूप हुआ। इस प्रकार कर्म नृत्यके अखाड़ेमें पुण्य-पापरूप दो भेषमें बनकर नाचता था, उसे ज्ञानने जब यथार्थ जान लिया कि कर्म एकरूप ही है, तब कर्म एकरूप होकर निकल गया।

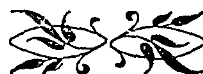
प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कर्मको स्वयं बन्धस्वरूप बताया गया था। अब उसके समर्थनमें दिखाया गया है कि कर्म मोक्षहेतुका तिरोधायी है।

तथ्यप्रकाश—(१) सम्यक्त्व स्वभावका प्रतिबंधक मिथ्यात्वकर्म है, उसके उदयका निमित्त पाकर ही ज्ञानके (आत्माके) मिथ्यादृष्टित्व होता है। (२) ज्ञानस्वभावका प्रतिबंधक अज्ञान (ज्ञानावरण) है उसके उदयसे ही ज्ञानके अज्ञानपना होता है। (३) चारित्रस्वभावका प्रतिबंधक कषायकर्म है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रता होती है। (४) शुभाशुभ कर्म मोक्षहेतुके प्रतिबंधक है।

सिद्धान्त—(१) मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीवके मिथ्यात्व होता है। (२) ज्ञानावरण के उदयसे जीवके अज्ञान होता है। (३) कषायप्रकृतियोंके उदयसे जीवके अचारित्र होता है।

दृष्टि—१, २, ३– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (५३)।

प्रयोग—निमित्तभूत व नैमित्तिकभूत शुभाशुभभावोंको अलक्षित कर परमार्थ ज्ञान-मात्र भावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥ १६१-१६३ ॥



तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति —

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥ (युगलम्)

मिथ्यात्व तथा अविरति, कषाय अरु योग चेतनाचेतन ।
जीवमें विविध प्रत्यय, अभेद परिणाम हैं उसके ॥१६४॥
वे प्रत्यय होते हैं, ज्ञानावरणादि कर्मके कारण ।
उनका कारण होता, रागद्वेषादि भावयुत आत्मा ॥१६५॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु । बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति । तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्कि-

कषाययोग, च, संज्ञासंज्ञ, तु, बहुविधभेद, जीव, तत्, एव, अनन्यपरिणाम, ज्ञानावरणाद्य, तत्, तु, कर्मन्, कारण, तत्, अपि, जीव, च, रागद्वेषादिभावकर । **मूलधातु**—रमु क्रीडायां, भिदिर विदारणे रुधादि, परिणम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां, रन्ज रागे । **पदविवरण**—मिच्छत्तं मिथ्यात्वं–प्रथमा एक० । अविरमणं–प्र० ए० ।

रति, कषाय और योग पुद्गलके परिणाम ज्ञानावरण आदि पुद्गलोंके आनेके निमित्त होनेसे वे प्रकट आस्रव तो हैं, किन्तु उन असंज्ञ आस्रवोंमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके आगमनके निमित्तपनाके निमित्त हैं, आत्माके अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह परिणाम । इस कारण नवीन मिथ्यात्व आदिक कर्मके आस्रवके निमित्तपनाका निमित्तपना होनेसे राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं और वे अज्ञानीके ही होते हैं ऐसा तात्पर्य गाथाके अर्थमें से ही प्राप्त होता है ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवणका निमित्त तो मिथ्यात्वादि कर्मके उदयरूप पुद्गलके परिणाम हैं और उन कर्मोंके आनेका निमित्त उदयागतकर्म बन जायें उस निमित्तपनेका निमित्त जीवके राग द्वेष मोहरूप परिणाम हैं, उनको चिद्विकार भी कहते हैं, वे जीवके अज्ञान अवस्थामें होते हैं । सम्यग्दृष्टिके अज्ञान अवस्था होती नहीं क्योंकि मिथ्यात्वसहित ज्ञानको अज्ञान कहते हैं । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हो गया है इसलिये यहाँ ज्ञान अवस्थामें अज्ञानमय रागादि नहीं हैं । फिर भी अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहके उदयसे जो रागादिक होते हैं, उनका यह स्वामी नहीं है, उदयकी बलवत्ता है, उनको ज्ञानी रोगके समान समझकर

तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद्रागद्वेपमोहा एवास्रवा:, ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्था-देवापद्यते ॥१६४-१६५॥

ते–प्रथमा वहु० । दु तु–अव्यय । कम्मस्स कर्मण:–पष्ठी एक० । कारणं–प्रथमा एक० । होंति भवंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन क्रिया । तेसिं तेपां–पष्ठी वहु० । पि अपि–अव्यय । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एक० । जीवो जीव:–प्रथमा एक० । य च–अव्यय । रागदोसादिभावकरो रागद्वेपादिभाव-कर:–प्रथमा एकवचन ॥ १६४-१६५ ॥

भाव है ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४६ब) । २– उपादानदृष्टि (४६ब) । ३– निमित्तदृष्टि (५३अ) । ४–उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—कर्मवन्धका मूल कारण अपने रागादिभावोंको जानकर रागादिभावोंसे छुट-कारा पानेके लिये रागादिविकारशून्य सहजज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥१६५॥

अब ज्ञानीके उन आस्रवोंका अभाव दिखलाते हैं:—[**सम्यग्दृष्टे:**] सम्यग्दृष्टिके [**आ-स्रवबंध:**] आस्रव बंध [**नास्ति**] नहीं है [**तु**] किंतु [**आस्रवनिरोध:**] आस्रवका निरोध है [**तानि**] उनको [**अबध्नन्**] नहीं बांधता हुआ [**स:**] वह [**संति**] सत्तामें मौजूद [**पूर्वनि-बद्धानि**] पहले बांधे हुए कर्मोंको [**जानाति**] मात्र जानता है ।

टीकार्थ—चूंकि वास्तवमें ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंसे परस्पर विरोधी अज्ञानमय भाव रुक जाते हैं इस कारण आस्रवभूत राग, द्वेप, मोह भावोंके निरोधसे ज्ञानीके आस्रवका निरोध होता ही है । इसलिये ज्ञानी, आस्रवनिमित्तक ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मोंको नहीं बांधता । किन्तु सदा उन कर्मोंका अकर्ता होनेसे नवीन कर्मोंको नहीं बाँधता हुआ पहले बंधे हुए सत्तारूप अवस्थित उन कर्मोंको केवल जानता ही है ।

भावार्थ—ज्ञानी होनेपर अज्ञानरूप राग द्वेष मोह भावोंका निरोध होता है और आस्रव के निरोधसे नवीन बंधका निरोध होता है तथा जो पूर्व बंधे हुए सत्तामें स्थित हैं, उनका ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता । यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहका उदय है, पर उसको ऐसा जानना कि यह उदयकी बलवत्ता है, वह अपनी शक्तिके अनुसार उनको रोगरूप जानकर दूर करता ही है इसलिये वे हुए भी अनहुए सरीखे कहे जाते हैं, वहाँ जो अल्पस्थिति अनुभागरूप बंध होता वह अज्ञानके पक्षमें नहीं गिना जाता, अज्ञानके पक्षमें तो जो मिथ्यात्व व अनंतानुबंधीके निमित्तसे बँधता है, वह गिना जाता है । इस प्रकार ज्ञानीके आस्रव व बंध नहीं गिना गया ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आस्रवका स्वरूप बताया गया था और यह

निरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्‌गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्तानिनवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ॥१६६॥

षष्ठी एकवचन । आसवणिरोहो आस्रवनिरोधः–प्रथमा एक० । संते सन्ति–द्वितीया एकवचन कृदन्त। पुव्वणिवद्धे पूर्वनिवद्धानि–द्वितीया वहु० । जाणदि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सो सः–प्रथमा एक० । ते तानि–द्वितीया वहु० । अवंधंतो अवध्नन्–प्रथमा एकवचन ॥ १६६ ॥

सिद्धान्त—(१) ज्ञानी जीवके शुद्धभावका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्वके आस्रवका निरोध हो जाता है । (२) ज्ञानी पूर्वनिबद्ध कर्मोंका मात्र जाननहार होता है, भोक्ता नहीं ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– अभोक्तृनय (१९२) ।

प्रयोग—*ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे संसारसंकटमूलकर्मास्रवका निरोध हो जाता* है, अतः सकल विकल्प परिग्रह त्यागकर एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका आलम्बन लेना चाहिये ॥ १६६ ॥

अब राग, द्वेष, मोह भावोंके ही आस्रवपनेका नियम करते हैं—[**जीवेन कृतः**] जीव के द्वारा किया गया [**रागादियुक्तो भावः**] रागादियुक्त भाव [**बंधको भणितः**] नवीन कर्मका बंध करने वाला कहा गया है [**तु**] परंतु [**रागादिविप्रमुक्तः**] रागादिक भावोंसे रहित भाव [**अबंधकः**] बंध करने वाला नहीं है, [**केवलं**] केवल [**ज्ञायकः**] जानने वाला ही है ।

तात्पर्य—अज्ञानभावके कारण जीवमें उमंगसे उठे रागादिकभाव मिथ्यात्वादि प्रकृति का बंध करने वाले हैं ।

टीकार्थ—वास्तवमें इस आत्मामें राग, द्वेष, मोहके मिलापसे उत्पन्न हुआ भाव (अज्ञानमय ही भाव) आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है जैसे कि चुंबक पत्थरके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको चलाता है, परन्तु उन रागादिकोंके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव स्वभावसे ही आत्माको कर्म करनेमें अनुत्सुक रखता है जैसे कि चुम्बक पाषाण के संसर्ग बिना सुईका स्वभाव चलने रूप नहीं है इस कारण रागादिकोंसे मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्मके कर्तृत्वमें प्रेरक होनेके कारण नवीन बंधका करने वाला है, परन्तु रागादिकसे न मिला हुआ भाव अपने स्वभावका प्रगट करने वाला होनेसे केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्मका किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है । **भावार्थ**—रागादिकके मिलाप से हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्मबंध करने वाला है और रागादिकसे नहीं मिला ज्ञानमय भाव कर्मबंधका करने वाला नहीं है, यह सिद्धान्त रहा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके आस्रवका अभाव

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

फल पक्क हो पतित फिर, जैसे वह वृन्तमें नहीं लगता।
कर्मभाव हटनेपर, फिर न जीवके उदित होता ॥१६८॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्ते। जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १६८ ॥

यथा खलु पक्वं फलं वृंतात्सकृद्विश्लिष्टं सन्न पुनर्वृन्तसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो

नामसंज्ञ—पक्क, फल, पडिय, जह, ण, फल, पुणो, विंट, जीव, कम्मभाव, पडिय, ण, पुण, उदय। **धातुसंज्ञ**—पड पतने, बज्झ बंधने, उप-इ गतौ। **प्रातिपदिक**—पक्व, फल, पतित, यथा, न, फल, पुनस्, वृन्त, जीव, कर्मभाव, पतित, न, पुनस्, उदय। **मूलधातु**—डुपचष् पाके भ्वादि, फल निष्पत्तौ भ्वादि, पत्लृ गतौ भ्वादि, पत गतौ चुरादि, वन्ध वन्धने, उप-इण् गतौ। **पदविवरण**—पक्के पक्वे–सप्तमी एक०। फलह्मि फले–सप्तमी एक०। पडिए पतिते–सप्तमी एक०। जह यथा–अव्यय। ण न–अव्यय। फलं–प्रथमा

दृष्टि—१– निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (५३ब)। २– उपादानदृष्टि (४९ब)।

प्रयोग—रागादिसंपृक्त भाव आत्माको बन्धन संकटमें रखने वाला है ऐसा जानकर अपने रागादिरहित सहज ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥१६७॥

अब रागादिकसे न मिले ज्ञानमय भावका संभव दिखलाते हैं:—[**यथा**] जैसे [**पक्वे फले पतिते**] पके फलके गिर जानेपर [**पुनः**] फिर [**फलं**] वह फल [**वृंते**] उस डंठलमें [**न बध्यते**] नहीं बंधता, उसी तरह [**जीवस्य**] जीवके [**कर्मभावे**] कर्मभावके [**पतिते**] झड़ जानेपर [**पुनः**] फिर वह [**उदयं**] उदयको [**न उपैति**] प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य—कर्मोदयज भाव जीवभावसे पृथक् ज्ञात होनेपर फिर कर्मोदयजभाव जीवभावरूप नहीं अनुभवा जा सकता।

टीकार्थ—जैसे पका हुआ फल गुच्छेसे एक बार पृथक् होता हुआ वह फल फिर गुच्छेसे सम्बन्धित नहीं होता, उसी प्रकार कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ भाव एक बार भी जीवभावसे पृथक् होता हुआ फिर जीव भावको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार रागादिकसे न मिला हुआ भाव ज्ञानमय ही संभव है। **भावार्थ**—जीव अज्ञानसे कर्मोदयज भावोंको अपना मान कर उसे जीवभाव बना देता है। यदि स्वलक्षणके परिचयसे आस्रव और जीवस्वभावका परिचय यथार्थतया प्राप्त कर ले तो फिर *कर्मोदयज भाव जीवभावसे नहीं* जुड़ सकते सो यह सब रागादिसे असंकीर्ण ज्ञानमयभावका चमत्कार है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**भावो** इत्यादि। **अर्थ**—रागद्वेष मोहसे

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

पूर्वबद्ध सब प्रत्यय, ज्ञानीके पृथ्विपिण्ड सम जानो ।
बँधे हुये विधिसे वे, बँधे नहीं किन्तु आत्मासे ॥१६९॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य । कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १६९ ॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेनैव बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि स्वभावत

नामसंज्ञ—पुढवीपिंडसमाण, पुव्वणिबद्ध, दु, पच्चय, त, कम्मसरीर, दु, त, बद्ध, सव्वे, पि, णाणि । **धातुसंज्ञ**—प्रति-अय गतौ, बंध बंधने । **प्रातिपदिक**—पृथ्वीपिण्डसमान, पूर्वनिबद्ध, तु, प्रत्यय, तत्, कर्मशरीर, तु, तत्, बद्ध, सर्व, अपि, ज्ञानिन् । **मूलधातु**—प्रति-अय गतौ, बन्ध बन्धने । **पदविवरण**—पुढवी-

---

निबद्धाः] पहले बँधे हुए [**सर्वेपि**] सभी [**प्रत्ययाः**] कर्म [**पृथिवीपिंडसमानाः**] पृथ्वीके पिंड समान हैं [**तु**] और वे [**कर्मशरीरेण**] कार्मण शरीरके साथ [**बद्धाः**] बंधे हुए हैं ।

तात्पर्य—कर्म व कर्मोदयज भावसे भिन्न आत्मस्वरूपको जाननेपर कर्म पृथ्वीपिण्डके समान पुद्गलपिण्ड मात्र ही नजर आते हैं ।

टीकार्थ—जो पहले अज्ञानसे बांधे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे ज्ञानीके अन्य द्रव्यरूप अचेतन पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे पृथिवीके पिंड समान हैं । और वे सभी अपने पुद्गलस्वभावसे कार्मण शरीरसे ही एक होकर बँधे हैं, परन्तु जीवसे नहीं बँधे हैं । इस कारण ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव स्वभावसे ही सिद्ध है ।

भावार्थ—जब आत्मा अन्तस्तत्त्वका ज्ञानी हुआ, तब ज्ञानीके भावास्रवका तो अभाव हुआ ही और द्रव्यास्रव जो कि मिथ्यात्वादि पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं वे कार्मण शरीरसे स्वयमेव बँध रहे हैं, अन्तः ऐसा ज्ञान होनेसे व आत्माभिमुख परिणमन होनेसे भावास्रवके बिना वे आगामी कर्मबंधके कारण नहीं हैं, और पुद्गलमय हैं इस कारण अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीवसे स्वयमेव ही भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**भावा** इत्यादि । **अर्थ**—भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ ज्ञानी द्रव्यास्रवसे तो स्वयमेव ही भिन्न है, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही एक भाव वाला है, इस कारण निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है । **भावार्थ**—भावास्रव जो राग द्वेष मोहका लगाव उसका तो ज्ञानीके अभाव हो गया है और जो द्रव्यास्रव हैं पुद्गलपरिणाम हैं, उनसे तो स्वयं स्वरूपतः भिन्न है, इसलिये ज्ञानी निरास्रव ही है ।

कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत्—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥१७०॥

क्योंकि चारों हि आस्रव, दर्शनज्ञानगुणकी विपरिणतिसे ।
बांधते कर्म नाना, होता ज्ञानी अतः अबन्धक ॥ १७० ॥

चतुर्विधा अनेकभेदं वध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां । समये समये यस्मात् तेनावंध इति ज्ञानी तु ॥ १७० ॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः

नामसंज्ञ—चहुविह, अणेयभेय, णाणदंसणगुण, समय, समय, ज, त, अवंध, इत्ति, णाणि, दु । **धातुसंज्ञ**—वंध वंधने, दंस दर्शनायां द्वितीयगणी । **प्रातिपदिक**—चतुर्विध, अनेकभेद, ज्ञानदर्शनगुण, समय, समय, यत्, तत्, अवंध, इति, ज्ञानिन्, तु । **पदविवरण**—चहुविह चतुर्विधाः–प्रथमा वहु० । अणेयभेयं अनेकभेदं–द्वितीया एकवचन । वंधंते वध्नन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहुवचन क्रिया । णाणदंसणगुणेहिं–

अनेक भेदके कर्मोंको [बध्नंति] बाँधते हैं [तेन] इस कारण [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबंधः] अबंधरूप है [इति] ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह न होनेसे ज्ञानीको अबंधक कहा गया है ।

टीकार्थ—ज्ञानी तो आस्रवभावकी भावनाके अभिप्रायके अभावसे निरास्रव ही है, किन्तु उस ज्ञानीके भी द्रव्यास्रव प्रति समय अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको बाँधता है, सो उसमें ज्ञानगुणका परिणमन ही कारण है । **भावार्थ**—अज्ञानमय आस्रवभाव न होनेसे ज्ञानीके मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियोंका आस्रव तो होता ही नहीं है, और जो कर्म अब भी बँध रहे हैं सो चारित्रकी निर्बलतासे बँध रहे हैं । उसमें निमित्त चारित्रमोहनीयका उदय है । वहाँ भी विकारभावमें राग नहीं है सो साधारण आस्रव है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानीके द्रव्यास्रवका भी अभाव है । इस कथनपर यह जिज्ञासा हुई कि ज्ञानी होनेपर भी आगममें दशम गुणस्थान तक बन्ध कहा गया है फिर यहाँ यह कैसे कहा गया कि ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है । इस जिज्ञासाका समाधान इस गाथासे प्रारंभ किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–आस्रवभावोंकी भावना (लगाव) का अभिप्राय न होनेसे ज्ञानीको निरास्रव कहा गया है । २–ज्ञानी होनेपर भी द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तसे कुछ प्रकृतियोंका आस्रव दशम गुणस्थान तक होता रहता, उसमें आस्रवभाव भावनाका अभिप्राय कारण नहीं है, उसमें ज्ञानगुणका जघन्य परिणाम अथवा क्षोभ कारण है । ३–जहां रंच भी अव्यक्त भी क्षोभ नहीं है वहाँ साम्परायिक आस्रव नहीं, किन्तु योग रहने तक ईर्यापथ आस्रव है । ४–यहाँ

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

चूँकि यह ज्ञानगुण फिर, जघन्य अवबोधसे पुनः नाना ।
अन्यरूप परिणमता, सो माना ज्ञानको बन्धक ॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते । अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥ १७१ ॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांतर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ॥१७१॥

नामसंज्ञ—ज, दु, जहण्ण, णाणगुण, पुणो, वि, अण्णत्त, णाणगुण, त, दु, त, बंधग, भणिद । **धातुसंज्ञ**—परि-णम प्रह्वत्वे, भण कथने । **प्रातिपदिक**—यत्, तु, जघन्य, ज्ञानगुण, पुनर्, अपि, अन्यत्व, ज्ञान, गुण, तत्, तु, तत्, बंधक, भणित । **मूलधातु**—परि-णम प्रह्वत्वे, भण शब्दार्थः । **पदविवरण**—जम्हा यस्मात्–पंचमी एक० । जहण्णादो जघन्यात्–पं० एक० । णाणगुणादो ज्ञानगुणात्–पं० एक० । पुणो पुनः–अव्यय । वि अपि–अव्यय । परिणमदि परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । अण्णत्तं अन्यत्वं–प्रथमा एक० । णाणगुणो ज्ञानगुणः–प्रथमा एक० । तेण तेन–तृतीया एक० । दु तु–अव्यय । सो सः–प्रथमा एक० । बंधगो बंधकः–प्रथमा एक० । भणिदो भणितः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ १७१ ॥

होता है उसका कारण कोई ज्ञानगुणपरिणाम है । अब उसीके सम्बन्धमें जिज्ञासा हुई कि कैसे ज्ञानगुणपरिणाम बंधका कारण है ? इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें किया गया है । ज्ञानगुणका यह जघन्यभाव चारित्रमोहके विपाकके निमित्तसे है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानगुणका जघन्य परिणाम रागादि विकारभावोंसे परिणमनेके कारण होता है । (२) जब तक ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन है तब तक वह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणमन करता रहता है । (३) ज्ञानगुणका जघन्य भाव अन्तर्मुहूर्तविपरिणामी होनेसे अन्य-अन्यरूपसे परिणाम होता है । (४) ज्ञानगुणका यह जघन्यभाव यथाख्यात चारित्रावस्थासे पहिले तक याने दशम गुणस्थान तक रहता है । (५) ज्ञानगुणका जघन्यभाव अवश्यंभाविरागका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण होता है ।

सिद्धान्त—(१) कषायसहित ज्ञानदशा जघन्यज्ञान कहलाता है । (२) ज्ञानका जघन्य भाव पौद्गलिककर्मास्रवका निमित्त कारण है ।

दृष्टि—१– सभेद अशुद्धनिश्चयनय (४७अ) । २– निमित्तत्वदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—ज्ञानगुणकी जघन्यता दूर करनेके लिये अविकार परिपूर्ण सहज ज्ञानस्वभावमें आत्मत्व अनुभव करनेका सत्पुरुषार्थ करना ॥१७१॥

त्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् । अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् । संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं, वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं

यत्–प्रथमा एक० । परिणमदे परिणमते–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन । जहण्णभावेण जघन्यभावेन–

नहीं होता । सो इस जघन्यभावसे ही ऐसा जाना जा रहा है कि इसके अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक विद्यमान है, उसीसे बन्ध होता है वह चारित्रमोहके उदयसे है, अज्ञानमय भाव नहीं है । इसलिये ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान सम्पूर्ण न हो तब तक ज्ञानका ही ध्यान निरन्तर करना याने ज्ञानको ही जानना, ज्ञानको ही आचरना । इसी मार्गसे चारित्रमोहका नाश होता है और केवलज्ञान प्रकट होता है । जब केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तब सब तरहसे साक्षात् निरास्रव होता है । यहाँ अबुद्धिपूर्वक रागादिक होनेपर भी बुद्धिपूर्वक रागादिक न होनेसे ज्ञानी को निरास्रव कहा है । अबुद्धिपूर्वक रागका अभाव होनेके बाद तो केवलज्ञान ही उत्पन्न होता, तब उसे साक्षात् सर्वप्रकारसे निरास्रव जानिये ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**संन्य** इत्यादि । **अर्थ**—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धिपूर्वक सभी रागको निरंतर दूर करता हुआ और अबुद्धिपूर्वक रागको भी जीतनेके लिये बारंबार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्तिका स्पर्श करता हुआ तथा ज्ञानके समस्त पलटनोंको दूर करता हुआ ज्ञानके पूर्ण होता हुआ आत्मा शाश्वत निरास्रव होता है ।

भावार्थ—जब ज्ञानीने समस्त रागको हेय जाना तब उसके मेटनेके लिए उद्यमी होता ही है और जो आस्रव हो रहे हैं सो उनमें इसके आस्रव भावोंकी भावनाका अभिप्राय नहीं है । अतः ज्ञानीको निरास्रव कहा गया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि ज्ञानगुणका जघन्यभाव यथाख्यातचारित्रावस्थासे पहिले तक कर्मबन्धका हेतु है । तो इस कथनपर यह जिज्ञासा होती है कि फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे रहा ? इसी जिज्ञासाका समाधान इस गाथामें करते हुए सिद्ध किया है कि ज्ञानी बुद्धिपूर्वक आस्रवभावका अभाव होनेसे निरास्रव है, किन्तु वही जब तक जघन्य ज्ञानरूप रहता है तब तक उसके किन्हीं प्रकृतियोंका आस्रव है ।

तथ्यप्रकाश—१–ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव न होनेसे निरास्रव ही है । २–ज्ञानी होकर भी जब तक ज्ञान जघन्य भावरूपमें परिणम रहा है तब तक अबुद्धिपूर्वक

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥
संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

पूर्वबद्ध सब प्रत्यय, ज्ञानीके रह रहे हैं सत्तामें ।
उपयोगयुक्त यदि हों, तो बांधे कर्मभावोंसे ॥१७३॥
सत्तास्थ निरुपभोग्या, बाला स्त्री यथा है मानवके ।
उपभोग्य हुए बांधे, तरुणी नारी यथा नरको ॥१७४॥
वे निरुपभोग्य विधि ज्यौं, पाकसमय भोगयोग्य हो जायें ।
त्यौं ही ज्ञानावरणा-दिक पुद्गलकर्मको बांधे ॥१७५॥
इस कारणसे सम्यग्-दृष्टी आत्मा अबंधक कहा है ।
क्योंकि रागादि नहिं हों, तो प्रत्यय हैं नहीं बन्धक ॥१७६॥

नामसंज्ञ—सव्व, पुव्वणिबद्ध, दु, पच्चय, सम्मदिट्ठि, उवओगप्पाओग्ग, कम्मभाव, दु, णिरुवभोज्ज, बाला, इत्थी, जह, एव, पुरिस, त, उवभोज्ज, तरुणी, इत्थी, जह, णर, णिरुवभोज्ज, तह, जह, उवभोज्ज,

---

[बाला स्त्री] बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती उस प्रकार [निरुपभोग्यानि] उपभोगके अयोग्य [भूत्वा] होकर भी [तानि] वे ही जब [उपभोग्यानि] भोगने योग्य होते हैं तब [बध्नाति] जीवको, पुरुषको बांधते हैं अर्थात् जीव पराधीन हो जाता है, [यथा] जैसे कि [तरुणी स्त्री] वही बाला स्त्री जवान होकर [नरस्य] पुरुषको बाँध लेती है अर्थात् पुरुष उसके आधीन हो जाता है यही बँधना है। [एतेन तु कारणेन] इसी कारणसे [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [अबंधकः] अबंधक [भणितः] कहा गया है क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रव-भाव जो राग-द्वेष-मोह उनका अभाव होनेपर [प्रत्ययाः] मिथ्यात्व आदि प्रत्यय सत्तामें होने पर भी [बंधकाः] आगामी कर्म बंधके करने वाले [न] नहीं [भणिताः] कहे गये हैं ।

टीकार्थ—जैसे सत्ता अवस्थामें तत्कालकी विवाहित बाल स्त्रीकी तरह पहिले अनुप-

बंधहेतुत्वात् । विजहति नहि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः । तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥११८॥ रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो

णिबद्धा पूर्वनिबद्धाः–प्रथमा बहु० । दु तु–अव्यय । संति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । सम्मादिट्ठिस्स सम्यग्दृष्टेः–षष्ठी एक० । उवओगप्पाउग्गं उपभोगप्रायोग्यं–क्रियाविशेषण यथा स्यात्तथा, बंधंते बध्नन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन । कम्मभावेण कर्मभावेन–तृतीया एक० । संति–प्रथमा बहु० कृदंत, दु तु–अव्यय । णिरुवभोज्जा निरुपभोग्यानि–प्र० बहु० । बाला–प्रथमा एक० । इत्थी स्त्री–प्रथमा एक० । जह यथा–अव्यय । णरस्स नरस्य–षष्ठी एक० । होदूण भूत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । निरुवभोज्जा निरुपभोग्यानि–प्र० बहु० । तह तथा–अव्यय । बंधदि बध्नाति–वर्तमान लट् अन्य० बहु० । जह यथा–अव्यय ।

ज्ञानी होता है तब सर्वथा निरास्रव हो जाता है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—विजहति इत्यादि । **अर्थ**—यद्यपि अपने अपने समयमें उदय आने वाले पूर्वबद्ध द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी अपनी सत्ताको नहीं छोड़ रहे याने वे हैं तो भी ज्ञानीके समस्त रागद्वेष मोहके अभावसे नवीन कर्मका बंध कभी अवतार नहीं धरता । **भावार्थ**–राग द्वेष मोह भावोंके बिना सत्तामें रहने वाले द्रव्यास्रव बंधका कारण नहीं है । यहां सर्वत्र बताये गये राग द्वेष मोहके अभावसे बुद्धिपूर्वक होने वाले रागादिका अभाव समझना ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानके जघन्य भावसे अनुमीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकविपाक होनेसे दशम गुणस्थान तक ज्ञानी नाना पुद्गलकर्मसे बँधता है । सो इस कथनपर प्रश्न हुआ कि जब द्रव्य प्रत्ययसंतति पाई जा रही है तो फिर ज्ञानीको निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्नका समाधान इस गाथाचतुष्कमें किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१--बद्धकर्म जब सत्तामें रह रहे हैं तब वे कर्म उपभोग्य नहीं हैं । २–जब वे कर्म उदयमें आते हैं तब ज्ञानीके उसके अनुभागरसमें राग न होनेसे अज्ञानमय राग द्वेष मोहरूप आस्रव भाव नहीं है । ३–अज्ञानमय राग द्वेष मोहरूप आस्रवभावके अभावसे ज्ञानीके द्रव्यप्रत्यय प्रायोग्य नवकर्मके आस्रवके हेतु नहीं हो पाते । ४--जैसे बाला स्त्री अनुपभोग्य है वह जब युवती होगी उससे पहिले पुरुष यदि विरक्त हो तब वह कभी भी उपभोग्य न हो सकी, ऐसे ही जब कर्म सदवस्थ हैं तब अनुपभोग्य हैं, वे जब विपाकोदयमें आवेंगे उससे पहिले ही यह जीव यदि ज्ञानमय व विराग हो जाय तो वे कभी भी उपभोग्य न हो सके । ५–अबुद्धिपूर्वक (अव्यक्त) उपभोगको यहाँ उपभोग नहीं माना है ।

सिद्धान्त—१--अविकार सहज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी उपासनामें कर्म अनुपभोग्य हो जाते हैं । २--द्रव्यप्रत्ययोंको निमित्तत्वका निमित्त अध्यवसान न मिलनेसे वे द्रव्यप्रत्यय बन्धक

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

रति अरति मोह आस्रव, संज्ञानीके न होंय इस कारण ।
आस्रवभावके बिना, प्रत्यय बन्धक नहीं होते ॥ १७७ ॥
मिथ्यादि चार प्रत्यय, होते हैं अष्ट कर्मके कारण ।
प्रत्यय भि रागहेतुक, रागादि बिना न विधि बांधे ॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः । तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥१७७॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितं । तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥१७८॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो

नामसंज्ञ—राग, दोप, मोह, य, आसव, ण, अत्थि, सम्मादिट्ठि, त, आसवभाव, विणा, हेदू, ण, पच्चय, हेदु, चदुव्वियप्प, अट्ठवियप्प, कारण, भणिद, त, पि, य, रागादि, त, अभाव, ण । **धातुसंज्ञ**—रज्ज रागे, दुस वैकृत्ये अप्रीतौ च, अस सत्तायां, हो सत्तायां, भण कथने, वन्ध वन्धने । **प्रातिपदिक**—राग, द्वेष,

---

कारणके कारणका अभाव होनेपर कार्यका अभाव प्रसिद्ध होनेसे ज्ञानीके बन्ध नहीं है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि, रागद्वेषमोहके अभाव बिना नहीं हो सकता ऐसा जो अविनाभाव नियम यहाँ कहा है सो वह मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिकोंका अभाव जानना इस प्रायोगिक प्रक्रियामें उन्हींको रागादि माना गया है । सम्यग्दृष्टि होनेके बाद कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रहता है सो वहांपर नहीं गिना, वह गौण है इसलिये उन भावास्रवोंके बिना द्रव्यास्रव बंधके कारण नहीं हैं, कारणका कारण न हो तो कार्यका भी अभाव हो जाता है यह सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है इसके बन्ध नहीं है । यहाँ सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहनेकी अपेक्षा यह है कि प्रथम तो जिसके ज्ञान हो वही ज्ञानी कहलाता है सो सामान्यज्ञानकी अपेक्षा तो सभी जीव ज्ञानी हैं और सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानकी अपेक्षा देखा जाय तो सम्यग्दृष्टिके सम्यग्ज्ञान है उसकी अपेक्षा ज्ञानी है, किन्तु मिथ्यादृष्टिके सम्यग्ज्ञान नहीं, अतः वह अज्ञानी है । यदि सम्पूर्ण ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञानी कहा जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं, क्योंकि जब तक सर्वज्ञ न हो तब तक औदयिक अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक सिद्धान्तमें कहा है । इस तरह तथ्य विधिनिषेध अपेक्षासे निर्बाध सिद्ध होते हैं सर्वथा एकांतसे कुछ भी नहीं सधेगा । सो

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः। ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालं ॥१२१॥ ॥१७७-१७८॥

ण न—अव्यय। अत्थि संति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन। सम्मदिट्ठिस्स सम्यग्दृष्टेः—षष्ठी एक०। तम्हा तस्मात्—पंचमी एक०। आसवभावेण आस्रवभावेन—तृतीया ए०। विणा विना—अव्यय। हेदू हेतवः—प्रथमा बहु०। ण न—अव्यय। पच्चया प्रत्ययाः—प्र० बहु०। होंति भवंति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु०। हेदू हेतवः—प्रथमा बहु०। चदूवियप्पो चतुर्विकल्पः—प्रथमा एकवचन। अट्ठवियप्पस्स अष्टविकल्पस्य—षष्ठी एक०। कारणं—प्रथमा एक०। भणिदं भणितं—प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। तेसिं तेषां—षष्ठी बहु०। पि अपि—अव्यय। य च—अव्यय। रागादी रागादयः—प्रथमा बहु०। तेसिं तेषां—षष्ठी बहु०। अभावे—सप्तमी एक०। ण न—अव्यय। बज्झंति बध्यन्ते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया क्रिया ॥१७७-१७८॥

हैं अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता था। २--देशसंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी रागद्वेषमोह नहीं हैं। ३--प्रमत्तविरत सम्यग्दृष्टिके अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी राग द्वेष मोह नहीं है। ४—अप्रमत्तविरत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण संबंधी तथा संज्वलनतीव्रोदयजनित राग द्वेष मोह नहीं है। ५--श्रेणिगत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें तत्तद्योग्य स्थूल संज्वलन रागादि नहीं है। ६—सूक्ष्मसाम्परायमें सूक्ष्मसंज्वलन लोभ आदि कोई भी राग नहीं है। ७—द्रव्यप्रत्यय द्रव्यास्रवका निमित्त बने इसका निमित्त भावास्रव होता है। ८—ज्ञानीके गुणस्थानानुसार राग द्वेष मोह नहीं है अतः उसके द्रव्यप्रत्यय द्रव्यास्रवके हेतु नहीं होते, अतः ज्ञानीके बन्ध नहीं कहा गया। ६—ज्ञानीके संसारस्थिति वाला कर्मबन्ध न होनेसे सरागदशामें हुए अल्पबंधको यहाँ बन्ध नहीं कहा गया।

सिद्धान्त—१—ज्ञानीके सहजसिद्ध ज्ञानस्वभावकी भावना होनेसे अज्ञानमय भावास्रव नहीं होते। २—द्रव्यप्रत्यय नवीनकर्मबन्धके निमित्तभूत हैं।

दृष्टि—१—ज्ञाननय (१६४)। २—निमित्तदृष्टि (५३ अ)।

प्रयोग—सर्व विरुद्धतावोंको संकटोंको दूर करनेके लिये सर्वविकारोंको परभाव जानकर उनका लगाव छोड़कर अपने अविकार चैतन्यस्वरूपके अभिमुख रहनेका प्रवर्तन करना ॥१७७-१७८॥

अब इसी अर्थका समर्थन दृष्टांत पूर्वक करते हैं:—[**यथा**] जैसे [**पुरुषेण**] पुरुषके द्वारा [**गृहीतः**] ग्रहण किया गया [**आहारः**] आहार [**स उदराग्निसंयुक्तः**] वह उदराग्निसे युक्त हुआ [**अनेकविधं**] अनेक प्रकार [**मांसवसारुधिरादीन्**] मांस वसा रुधिर आदि [**भावान्**] भावों रूप [**परिणमति**] परिणमता है [**तथा तु ज्ञानिनः**] उसी प्रकार ज्ञानीके [**पूर्वं बद्धाः**]

बंध एव हि ॥१९२॥ धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं, त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणां। तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः, पूर्णं ज्ञान-

नयपरिहीन, तु, तत् जीव। मूलधातु—ग्रह उपादाने क्र्यादि, परि-णम प्रह्वत्वे, बन्ध बन्धने। **पदविवरण**—जह यथा—अव्यय। पुरिसेण पुरुषेण—तृतीया एक०। आहारो आहारः—प्रथमा एक०। गहिओ गृहीतः—प्र० एक०। परिणमदि परिणमति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक०। सो सः—प्र० एक०। अणेयविहं अनेकविधं—क्रियाविशेषण अव्ययरूपे, मंसवसारुहिरादी मांसवसारुधिरादीन्—द्वि० बहु०। भावे भावान्—द्वि० बहु०। उयरग्गिसंजुत्तो उदराग्निसंयुक्तः—प्र० ए०। तह तथा—अव्यय। णाणिस्स ज्ञानिनः—षष्ठी एक०। दु तु—अ०। पुव्वं पूर्व—क्रियाविशेषण अव्ययरूपे, जे ये—प्र० बहु०। बद्धा बद्धाः—प्रथमा बहु०। पच्चया प्रत्ययाः—प्रथमा

यहाँ इसी अर्थका तात्पर्य कहते हैं—**इद** इत्यादि। **अर्थ**—यहाँ पहले कथनका यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उस शुद्धनयका त्याग न होनेसे तो कर्मका बन्ध नहीं होता और उसके त्यागसे कर्मका बन्ध होता ही है। फिर उस शुद्धनयके ही ग्रहणको दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं—**धीरो** इत्यादि। **अर्थ**—चलाचलपनेसे रहित, सर्व पदार्थोंमें विस्तार युक्त, महिमावान, अनादिनिधन, कर्मोंको मूलसे नाश करने वाला शुद्धनय धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा कभी छोड़ने योग्य नहीं है, क्योंकि शुद्धनयमें स्थित पुरुष बाहर निकलते हुए अपने ज्ञानकी व्यक्तिविशेषोंको तत्काल समेटकर सम्पूर्ण ज्ञानघनका समूह स्वरूप, निश्चल शांतरूप, ज्ञानमय प्रतापके पुञ्जको अवलोकते अर्थात् अनुभवते हैं।

भावार्थ—शुद्धनय समस्त ज्ञानके विशेषोंको गौणकर तथा समस्त परनिमित्तसे हुए भावोंको गौण कर चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वको शुद्ध नित्य अभेद एक स्वरूप ग्रहण करता है। सो ऐसे सहज शुद्ध चिन्मात्र अपने आत्माको जो अनुभव कर एकाग्र स्थित हैं वे ही समस्त कर्मोंके समूहसे विविक्त अविकार ज्ञानमूर्ति स्वरूप अपने आत्माको देखते हैं। आध्यात्मिक शुद्धनयमें अन्तर्मुहूर्त ठहरनेसे शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। सो इसको अवलंबन कर जब तक केवलज्ञान न उत्पन्न हो तब तक फिर इससे छूटना नहीं, ऐसा आचार्यदेवका उपदेश है। अब आस्रवका अधिकार पूर्ण हो रहा है। यहाँ रंगभूमिमें आस्रवका स्वांग बना था उसको ज्ञानने यथार्थ जान स्वांगको हटवा दिया और आप सहज विशुद्ध प्रगट हुआ इस प्रकार ज्ञानकी महिमा काव्य द्वारा कहते हैं—**रागादिनां** इत्यादि। **अर्थ**—रागादिक आस्रवोंके झट सर्वतः दूर होनेसे नित्य उद्योत रूप किसी परम वस्तुको अंतरंगमें अवलोकन करने वाले पुरुषका अचल, अतुल यह ज्ञान अति विस्ताररूप फैलता हुआ अपने निज रसके प्रवाहसे सब लोक पर्यंत अन्य भावोंको अंतर्मग्न करता हुआ उदय रूप प्रगट हुआ।

भावार्थ—शुद्धनयके अवलंबनसे जो पुरुष अंतरंगमें चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्वको एकाग्र

अथ संवराधिकारः

अथ प्रविशति संवरः । आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रवन्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्यविजयं संपादयत्संवरं । व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुरज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

नामसंज्ञ—उवओग, कोहादि, ण, को, वि, उवओग, कोह, च, एव, हि, उवओग, ण, खलु, कोह, अट्ठवियप्प, कम्म, णोकम्म, च, अवि, ण, उवओग, य, कम्म, णोकम्म, च, अवि, णो, एयं, तु, अविवरीद,

अब रंगभूमिमें संवर प्रवेश करता है । प्रथम ही टीकाकार मंगलके लिये चिन्मय ज्योतिका अनुमोदन करते हैं—**आसंसार** इत्यादि । **अर्थ**—अनादि संसारसे लेकर अपने विरोधी संवरको जीतकर एकांतपनेसे मदको प्राप्त हुए आस्रवके तिरस्कारसे जिसने नित्य ही जीत पाई है ऐसे संवरको उत्पन्न कराती हुई, परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्तसे हुए भावोंसे भिन्न, अपने यथार्थ स्वरूपमें नियमित, उज्ज्वल, देदीप्यमान, निजरसके ही प्राग्भारसे युक्त चिन्मय ज्योति प्रकट हो फैलती है । **भावार्थ**—अनादिकालसे संवर आस्रवका विरोधी है, उस संवरको आस्रवने जीत लिया था इसलिये मदसे उन्मत्त होकर सारे विश्वपर नृत्य कर रहा था । अब भेदज्ञानके बलसे इस ज्ञानज्योतिने आस्रवका तिरस्कार कर संवरको प्राप्त कर विजय पाई । अब सब पररूपोंसे भिन्न अपने स्वरूपमें निश्चल होकर यह ज्योति निर्बाध फैल रही है ।

वहाँ संवरके प्रवेशके प्रारंभमें ही समस्त कर्मोंके संवरणके परम उपायरूप भेदविज्ञान की अभिवन्दना करते हैं:—[**उपयोगे**] उपयोगमें [**उपयोगः**] उपयोग है [**क्रोधादिषु**] क्रोध आदिकोंमें [**कोऽपि उपयोगः**] कोई भी उपयोग [**नास्ति**] नहीं है [**च**] और [**हि**] निश्चयसे [**क्रोधे एव**] क्रोधमें ही [**क्रोधः**] क्रोध है [**उपयोगे**] उपयोगमें [**खलु**] निश्चयतः [**क्रोधः नास्ति**] क्रोध नहीं है, [**अष्टविकल्पे कर्मणि**] आठ प्रकारके ज्ञानावरण आदि कर्मोंमें [**च**] तथा [**नोकर्मणि अपि**] शरीर आदि नोकर्मोंमें भी [**उपयोगः नास्ति**] उपयोग नहीं है [**च**] और [**उपयोगे**] उपयोगमें [**कर्म च नोकर्म अपि**] कर्म और नोकर्म भी [**नो अस्ति**] नहीं है [**एतत्तु**] ऐसा [**अविपरीतं**] सत्यार्थ [**ज्ञानं**] ज्ञान [**जीवस्य**] जीवके [**यदा**] जिस कालमें [**भवति**] हो जाता है [**तदा**] उस कालमें [**उपयोगशुद्धात्मा**] केवल उपयोग स्वरूप

जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं । जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात् । क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति परस्परमत्यंतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात् । न च यथा ज्ञानस्य जानत्तास्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि, क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानत्तापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वं । किं च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधारा-

उपयोग, न, खलु, क्रोध, अष्टविकल्प, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, न, उपयोग, च, कर्मन्, नोकर्मन्, च, अपि, नो, एवं, तु, अविपरीत, ज्ञान, यदा, तु, जीव, तदा, न, किंचित्, भाव, उपयोग, शुद्धात्मन् । **मूलधातु**— उप-युजिर् योगे, अस भुवि, भू सत्तायां, क्रुध-क्रोधे दिवादि, डुकृञ् करणे, शुध शौचे दिवादि । **पदविवरण** – उवओगे उपयोगे–सप्तमी एकवचन । उवओगो उपयोगः–प्रथमा एकवचन । कोहादिसु क्रोधादिषु–सप्तमी एक० । ण न–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । को कः–प्र० ए० । वि अपि–

आदि क्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि क्रोधनादिरूप क्रिया क्रोधादिकसे अभिन्न-प्रदेशी होनेके कारण क्रोधनादि रूप क्रिया क्रोधादिमें ही है तथा क्रोधादिकमें अथवा कर्म नोकर्ममें ज्ञान नहीं है और ज्ञानमें क्रोधादिक अथवा कर्म नोकर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञानका तथा क्रोधादिक और कर्म नोकर्मका आपसमें स्वरूपका अत्यन्त विपरीतपना है उनका स्वरूप एक नहीं है । इसलिए परमार्थरूप आधाराधेय सम्बन्धका शून्यपना है । तथा ज्ञानका जैसे जानन-क्रियारूप जानपना स्वरूप है वैसे ही क्रोधनादि रूप क्रियापना स्वरूप बन जाय व क्रोधादिक का क्रोधत्व आदिक क्रियापना जैसे स्वरूप है उस तरह जानन क्रिया स्वरूप बन जाय यह किसी तरहसे भी स्थापन नहीं किया जा सकता है । क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधनादि क्रिया स्वभावभेदसे भिन्न-भिन्न ही प्रकट प्रतिभासमान हैं, और स्वभावके भेदसे ही वस्तुका भेद है यह नियम है । इस कारण ज्ञानका और अज्ञानस्वरूप क्रोधादिकका आधाराधेय भाव नहीं है । और क्या ? देखिये जैसे एक ही आकाशद्रव्यको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके जब आधाराधेयभाव निरखा जाता है तब आकाशके सिवाय अन्य द्रव्योंका अधिकरणरूप आरोपका निरोध होनेसे बुद्धिको भिन्न आधारकी अपेक्षा नहीं रहती । और भिन्न आधारकी अपेक्षा न रहनेपर एक ही आकाशको एक आकाशमें ही प्रतिष्ठित निरखने वालेको आकाशका आधार अन्य द्रव्य नहीं प्रतिभात होता है । इसी तरह जब एक ही ज्ञानको अपनी बुद्धिमें स्थापित कर आधाराधेय भाव निरखा जाता है तब शेष अन्य द्रव्योंका अधिरोप करनेके निरोधसे ही बुद्धिको भिन्न आधारकी अपेक्षा नहीं रहती । भिन्न आधारकी अपेक्षा बुद्धिमें न रहनेपर एक

साधु सिद्धं भेदविज्ञानं । चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयोरंतर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च । भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥ एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोह-

एतत्–प्र० एक० । तु, अविवरीदं अविपरीतं–प्र० एक० । जइया, यदा–अव्यय । दु तु–अव्यय । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवस्स जीवस्य–षष्ठी एक० । तइया तदा–अव्यय । ण

तो जाननेमात्र ही है और ज्ञान में जो रागादिककी कलुषता व आकुलतारूप संकल्प विकल्प प्रतिभासित होते हैं ये सब पुद्गलके विकार हैं, जड़ हैं । यह भेदविज्ञान सब विभाव भावोंके मेटनेका कारण होता है और आत्मामें परमसंवरभावको प्राप्त करता है । इसलिये सत्पुरुषोंसे कहते हैं कि भेदविज्ञान पाकर रागादिकोंसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानघन आत्माका आश्रय लेकर शाश्वत सहज आनन्दको प्राप्त होओ ।

ऐसा यह भेदविज्ञान, जिस समय ज्ञानकी रागादिविकाररूप विपरीतपनेकी कणिका को नहीं प्राप्त करता हुआ अविचलित ठहरता है, उस समय वह ज्ञान शुद्धोपयोगमयात्मकता से ज्ञान रूप ही केवल हुआ किंचिन्मात्र भी राग द्वेष मोह भावको नहीं रचता । उस भेदविज्ञानसे शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है और शुद्धात्माकी प्राप्तिसे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभावों का अभावस्वरूप संवर होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व आस्रवाधिकार पूर्ण होकर आस्रव निष्क्रान्त हो गया था । अब क्रमप्राप्त संवरतत्त्वका प्रवेश हुआ है, सो इसमें सर्वप्रथम समस्तकर्मके संवरण (आस्रवनिरोध) का परमोपायरूप भेदविज्ञान दर्शाया है ।

तथ्यप्रकाश—१–एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि प्रत्येकके प्रदेश समस्त अन्यसे अत्यन्त भिन्न हैं । २–उपयोगमें याने उपयोगस्वरूप आत्मद्रव्यमें क्रोधादि कर्म नहीं हैं, क्रोधादिकर्मोंमें उपयोग नहीं है । ३–गुणमुख्यतासे कथन करनेपर ज्ञानमें क्रोध नहीं है, क्रोधमें ज्ञान नहीं है । ४–ज्ञानमें ज्ञान ही है अथवा आत्मामें आत्मा ही है । ५–क्रोधमें क्रोध ही है अथवा कर्ममें कर्म ही है ।

सिद्धान्त—१–जीव अपने स्वरूपमें तन्मय है, पुद्गल अपने स्वरूपमें तन्मय है । २–आत्मद्रव्यमें कर्म, नोकर्म, विभाव कुछ भी नहीं है ।

दृष्टि—१–स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) । २–परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) ।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ ? इति चेत्—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

ज्यौं अग्नितप्त काञ्चन,, कांचन परिणामको नहीं तजता ।
त्यौं कर्मोदयपीडित, ज्ञानी भी ज्ञान नहिं तजता ॥१८४॥
ज्ञानी सुजानता यों, अज्ञानी रागको हि निज माने ।
अज्ञान अन्ध आवृत, वह आत्मस्वभाव नहिं जाने ॥१८५॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति । तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं । एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं । अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ।

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज् ज्ञानी सन्नेवं जानाति । यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन

नामसंज्ञ—जह, कणय, अग्गितवियं, पि, कणयहाव, ण, त, तह, कम्मोदयतविद, ण, णाणि, उ, णाणित्त, एवं, णाणि, अण्णाणि, राय, एव, आद, अण्णाणतमोच्छण्ण, आदसहाव, अयाणंत । **धातुसंज्ञ**—तव तपने तृतीयगणे, परि-च्चय त्यागे तृतीयगणे, उद्-अय गतौ, जहा त्यागे, जाण अवबोधने, मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—यथा, कनक, अग्नितप्त, अपि, कनकभाव, न, तत्, तथा, कर्मोदयतप्त, न, ज्ञानिन्, तु, ज्ञानित्व,

---

भावार्थ—आत्मस्वभाव व औपाधिक भावमें भेदविज्ञान होनेसे आत्मा जब ज्ञानी होता है तब कर्मके उदयसे संतप्त हुआ भी अपने ज्ञानस्वभावसे नहीं चिगता । यदि कोई पदार्थ स्वभावसे चिग जाय तो वस्तुका ही नाश हो जायगा ऐसा न्याय है । इसलिये कर्मके उदयके समय ज्ञानी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता । और जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही होता है । इसलिये यह पूर्ण निश्चित है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथायुग्ममें यह निष्कर्ष निकला था कि भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है । सो उसी सम्बन्धमें इस गाथायुग्ममें इस जिज्ञासाका समाधान बताया है कि कैसे भेदविज्ञानसे शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है ।

तथ्यप्रकाश—१-ज्ञानी कर्मविपाकसे आच्छन्न होकर भी ज्ञानीपनको नहीं छोड़ता ।

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर ? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्धात्मतत्त्व ज्ञाता, शुद्ध हि आत्मस्वरूपको पाता ।
जाने अशुद्ध आत्मा, जो वह पावे अशुद्धात्मा ॥१८६॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः । जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १८६ ॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः । यदि कथम-

नामसंज्ञ—सुद्ध, तु, वियाणंत, सुद्ध, च, एव, अप्पय, जीव, जाणंत, दु, असुद्ध, असुद्ध, एव, अप्पय । **धातुसंज्ञ**—जाण अवबोधने, लभ प्राप्तौ, सुज्झ नैर्मल्ये । **प्रातिपदिक**—शुद्ध, तु, विजानत्, शुद्ध, च, एव, अप्पय, जीव, जानत्, दु, अशुद्ध, एव, अप्पय । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, डुलभष प्राप्तौ भ्वादि, शुध शौचे ।

तात्पर्य—उपयोगमें सहज अविकार चैतन्यस्वरूप आनेसे उपयोगमें तो तुरंत ही शुद्धात्माका लाभ है, पर्यायतः भी शीघ्र शुद्धात्मतत्वका लाभ होगा ।

टीकार्थ—जो पुरुष सदा ही अविच्छेदरूप धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माको पाता हुआ स्थित है वह पुरुष "ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होते हैं" ऐसे न्याय कर आगामी कर्मके आस्रवके निमित्तभूत राग, द्वेष, मोहकी संतान (परिपाटी) के निरोधसे शुद्ध आत्माको ही पाता है । और जो जीव नित्य ही अज्ञानसे अशुद्ध आत्माको पाता हुआ स्थित है वह जीव 'अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है' इस न्यायसे आगामी कर्मके आस्रवके निमित्तभूत राग-द्वेष-मोहकी संतानका निरोध न होनेसे अशुद्ध आत्माको ही पाता है । इस कारण शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे ही संवर होता है ।

भावार्थ—जो पुरुष अखंड धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माका अनुभव करता है उसके आस्रवका निरोध हो जाता है सो वह तो शुद्ध आत्मतत्त्वको ही पाता है और जो अज्ञानसे अशुद्ध आत्माको अनुभव करता है वह अशुद्ध विकृत आत्माको ही पाता है, क्योंकि उसके आस्रव नहीं रुकते, उपयोग कलुषित रहता ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—**यदि** इत्यादि । **अर्थ**—यदि आत्मा

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥ (त्रिकलम्)

आत्माको आत्माके, द्वारा रोकि अघ पुण्य योगोंको ।
दर्शनज्ञानावस्थित, परमें वाञ्छारहित होकर ॥१८७॥
जो सर्वसंगको तजि, आत्मा आत्मीय आपको ध्याता ।
कर्म नोकर्मको नहिं, ध्यावे चिन्ते स्वकीय केवलता ॥१८८॥
वह दर्शन ज्ञानमयी, अनन्य आत्मीय ध्यानको करता ।
कर्म प्रविमुक्त आत्मा, को पाता शीघ्र अपनेमें ॥१८९॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः । दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१८७॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मन आत्मा । नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चेतयत्येकत्वं ॥१८८॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः । लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तं ॥१८९॥

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे प्रवर्तमानं, दृढतरभेदविज्ञानावष्टंभेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुंध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्ये-

---

नामसंज्ञ—अप्प, अप्प, दोपुण्णपापजोय, दंसणणाण, ठिद, इच्छाविरअ, य, अण्ण, ज, सव्वसंगमुक्क, अप्प, अप्प, अप्प, ण, वि, कम्म, णोकम्म, एयत्त, अप्प, झायंत, दंसणणाणमअ, अणण्णमअ, अचिर, अप्प,

---

अपनेको अपना स्वरूपसर्वस्व माननेके उपयोगसे अज्ञानमय परिणमन होता है ।

दृष्टि—१-ज्ञाननय (१९४) । २-अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—सर्व विकारसंकट नष्ट करनेके लिये अपने सहजसिद्ध अविकार चित्प्रकाशरूप अपनेको आपा अनुभवनेका पौरुष करना ॥१८६॥

अब वह संवर किस तरहसे होता है ? यह बताते हैं—[यः] जो [आत्मा] जीव [आत्मानं] आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्यपाप योगोंसे [रुन्ध्वा] रोककर [दर्शनज्ञानं] दर्शनज्ञानमें [स्थितः] ठहरा हुआ [अन्यस्मिन् इच्छाविरतः]

वाप्नोति । एष संवरप्रकारः ।। निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः । अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ।।२२८।।
।। १८७-१८९ ।।

पदविवरण—अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । अप्पणा आत्मना–तृतीया एकवचन । रुंधिऊण रुन्ध्वा–असमाप्तिकी क्रिया । दोपुण्णपापजोएसु–सप्तमी बहु० । द्विपुण्यपापयोगयोः–सप्तमी द्विवचन । दंसणणाणम्हि दर्शनज्ञाने–सप्तमी एक० । ठिदो स्थितः–प्रथमा एक० । इच्छाविरओ इच्छाविरतः–प्र० एक० । य च–अव्यय । अण्णम्हि अन्यस्मिन्–सप्तमी एक० । जो यः–प्र० ए० । सव्वसंगमुक्को सर्वसंगमुक्तः–प्रथमा एक० । झायदि ध्यायति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एकवचन । अप्पणो आत्मनः–षष्ठी एक० । अप्पा आत्मा–प्रथमा एक० । ण न–अव्यय । अपि–अव्यय । कम्मं कर्म–द्वि० ए० । णोकम्मं नोकर्म–द्वि० एक० । चेदा चेतयिता–प्र० ए० । चेयेइ चेतयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । एयत्तं एकत्वं–द्वि० एक० । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । झायंतो ध्यायन्–प्रथमा एक० कृदन्त । दंसणणाणमओ दर्शनज्ञानमयः–प्रथमा एक० । अणण्णमओ अनन्यमयः–प्रथमा ए० । लहइ लभते–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया । अचिरेण–तृ० एक० । अप्पाणं आत्मानं–द्वि० ए० । एव–अव्यय । सो सः–प्रथमा एक० । कम्मविप्पमुक्कं कर्मविप्रमुक्तं–द्वितीया एकवचन ।। १८७-१८९ ।।

नोकर्मसे अत्यन्त विविक्त अपने स्वरूपमें एकाग्र होकर ध्यान करता हुआ रहे वह अन्तरात्मा थोड़े समयमें ही सर्व कर्मोंसे पृथक् हो जाता है । सम्वरकी विधि यही है ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—निज इत्यादि । अर्थ—भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने स्वरूपकी महिमामें लीन पुरुषोंको नियमसे शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होती है और उस शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर समस्त अन्य द्रव्योंसे दूर अचलित स्थित पुरुषोंका अक्षय कर्ममोक्ष होता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि कैसे शुद्धात्माके उपलम्भसे सम्वर होता है । अब उसी सम्वरका प्रायोगिक प्रकार इस गाथात्रिकलमें कहा गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह जीव रागद्वेषमोहमूलक शुभ अशुभ योगमें प्रवर्तता चला आया है । (२) दृढ़तर भेदविज्ञानसे आत्मशक्ति द्वारा शुभाशुभयोगका प्रवर्तन निरुद्ध हो जाता है । (३) दृढ़तरभेदविज्ञानसे शुभाशुभयोगका निरोध कर यह आत्मा शुद्ध चेतनामात्र अन्तस्तत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है । (४) सहजस्वरूपमें प्रतिष्ठित आत्मा निःसंग व निष्प्रकम्प हो जाता है । (५) स्वरूपप्रतिष्ठित, निःसङ्ग, निष्कम्प आत्मा परतत्त्वसे विविक्तता होनेसे चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्धात्माको प्राप्त हुआ है । (६) शुद्धात्माको प्राप्त आत्मा सर्वपरभावसे पृथक् होकर शीघ्र ही अपनेको कर्मविमुक्त कर लेता है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्माकी उपलब्धिसे योगनिरोध होनेसे कर्मोंका संवर होता है ।

नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः, इति ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावे भवति कर्माभावः, तदभावे नोकर्माभावः, तदभावे च भवति संसाराभावः।

णोकम्म, पि, णिरोह, णोकम्मणिरोह, य, संसारविरोहण। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, जा प्रादुर्भावे, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—तत्, हेतु, भणित, अध्यवसान, सर्वदर्शिन्, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव, च, योग, च, हेत्वभाव, नियम, ज्ञानिन्, आस्रवनिरोध, आस्रवभाव, विना, कर्मन्, अपि, निरोध, कर्मन्, अभाव,

---

योग ये चार [**अध्यवसानानि**] अध्यवसान [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वज्ञदेवोंने [**भणिताः**] कहे हैं सो [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**हेत्वभावे**] इन हेतुओंका अभाव होनेसे [**नियमात्**] नियमसे [**आस्रवनिरोधः**] आस्रवका निरोध [**जायते**] होता है [**च**] और [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभावके बिना [**कर्मणः अपि**] कर्मका भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है [**च**] और [**कर्मणः अभावेन**] कर्मके अभावसे [**नोकर्मणां अपि**] नोकर्मोंका भी [**निरोध**] निरोध [**जायते**] होता है [**च**] तथा [**नोकर्मनिरोधेन**] नोकर्मके निरोध होनेसे [**संसारनिरोधनं**] संसारका निरोध [**भवति**] होता है।

तात्पर्य—ज्ञानीके अध्यवसान नहीं होनेसे आस्रव कर्म व नोकर्मके निरोधपूर्वक संसारका निरोध हो जाता है।

टीकार्थ—आत्मा और कर्मके एकत्वके अध्यासमूलक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान मोही जीवके विद्यमान हैं ही, वे अध्यवसान राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रव भावके कारणभूत हैं, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्मका कारण है और नोकर्म संसारका कारण है। इस कारण आत्मा नित्य ही आत्मा और कर्मके एकत्वके अध्याससे आत्माको मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय मानता है। उस अध्याससे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव भावोंको भाता है उससे कर्मका आस्रव होता है, कर्मसे नोकर्म होता है और नोकर्मसे संसार प्रगट होता है। परंतु जिस समय यह आत्मा, आत्मा और कर्मके भेदज्ञानसे शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्माको अपनेमें पाता है उस समय मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगस्वरूप, आस्रवभावोंके कारणभूत अध्यवसानोंका इसके अभाव होता है, मिथ्यात्व आदिका अभाव होनेसे राग-द्वेष मोहरूप आस्रव भावका अभाव होता है, राग-द्वेष-मोहका अभाव होनेसे कर्मका अभाव होता

द्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥ भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन । अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥ भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात्

एक० । य च–अव्यय । जोगो योगः–प्रथमा एक० । य च–अव्यय । हेउअभावे हेत्वभावे–सप्तमी एक० । णियमा नियमात्–पंचमी एक० । जायइ जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक० । आसवणिरोहो आस्रवनिरोधः–प्र० ए० । आसवभावेण आस्रवभावेन–तृतीया एक० । विणा विना–अव्यय । जायइ जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । कम्मस्स कर्मणः–षष्ठी एक० । वि अपि–अव्यय । णिरोहो निरोधः–प्रथमा एकवचन । कम्मस्स कर्मणः–षष्ठी एक० । अभावेण अभावेन–तृतीया एक० । य च–अव्यय । णोकम्माणं नोकर्मणां–षष्ठी बहु० । पि अपि–अव्यय । जायइ जायते–

से बँधे हैं ।

भावार्थ—आत्मा और कर्मकी एकताके माननेसे ही संसारनिमित्तक कर्मबन्धन है । इस कारण कर्मबन्धका मूल भेदविज्ञानका अभाव ही है । जो बँधे हैं वे भेदविज्ञानके अभावसें बँधे हैं और जो सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञानके होनेपर ही हुए हैं । इस कारण भेदविज्ञान ही मोक्षका मूल कारण है ।

अब संवरका अधिकार पूर्ण करते समय संवरके होनेसे होने वाली ज्ञानकी महिमा बताते हैं—**भेदज्ञानो** इत्यादि । **अर्थ**—भेदविज्ञानका प्रवर्तन करनेसे शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्त्वकी प्राप्तिसे रागके समूहका प्रलय हुआ, रागके समूहका प्रलय करनेसे कर्मोंका सम्वर हुआ तथा कर्मोंका सम्वर होनेसे परम संतोषको धारण करता हुआ निर्मल प्रकाशरूप रागादिकी कलुषतासे रहित एक नित्य उद्योतरूप यह ज्ञान निश्चल उदयको प्राप्त हुआ है । इस प्रकार रंगभूमिमें सम्वरका स्वांग हुआ था उसको ज्ञानने जान लिया सो नृत्य कर वह रंगभूमिसे निकल गया ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकलमें किस प्रकारसें सम्वर होता है यह बताया गया था । अब इस गाथात्रिकलमें उस सम्वरके होनेका क्रम बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा और कर्ममें एकत्वका अध्यास होनेसे जीव अपनेको मिथ्यात्व अज्ञान अविरति व योगरूप मानता है जिससे ये अध्यवसान होते हैं । (२) अध्यवसान होनेसे रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव होते हैं । (३) आस्रवभाव होनेसे कर्मबन्ध होता है । (४) बद्धकर्मविपाक शरीररचनाका कारण है । (५) शरीरसे संसार प्रकट होता है । (६) आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होनेसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माकी उपलब्धि होती है । (७) शुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माकी उपलब्धि होते ही अध्यवसानोंका अभाव होता है । (८) अध्यवसानोंका अभाव होनेसे आस्रवभावका अभाव होता है । (९) आस्रवभावका अभाव होनेपर

अथ निर्जराधिकारः

अथ प्रविशति निर्जरा—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

उपभोग इन्द्रियोंके, द्वारा चेतन अचेतनोंके जो।
करता सम्यग्दृष्टी, वह सब है निर्जरा हेतू ॥१९३॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां। यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥१९३॥

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव। य एव रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतना-

---

नामसंज्ञ—उवभोग, इंदिय, दव्व, अचेदण, इदर, ज, सम्मदिट्ठि, त, सव्व, णिज्जरणिमित्त। धातुसंज्ञ—द्रव प्राप्तौ, कुण करणे, जर वयोहानौ झरणे च। प्रातिपदिक—उपभोग, इन्द्रिय, द्रव्य, अचेतन,

---

अब निर्जरा प्रवेश करती है—**रागाद्या** इत्यादि। **अर्थ**—रागादिक आस्रवोंके रोकने से अपनी सामर्थ्य द्वारा आगामी सब ही कर्मोंको मूलमें दूर ही से रोकता हुआ परमसंवर ठहर रहा था, अब इस संवरके होनेके पहले बँधे हुए कर्मोंको जलानेके लिये निर्जरारूप अग्नि फैलती है जिससे कि ज्ञानज्योति निरावरण होती हुई फिर रागादिभावोंसे मूर्छित नहीं होती।

भावार्थ—संवर होनेपर नवीन कर्म तो बँधते नहीं और जो पहले बँधे हुए थे वे झड़ रहे, तब ज्ञानका आवरण दूर होनेसे ज्ञान ऐसा विशुद्ध हो जाता है कि फिर वह ज्ञान रागादिरूप नहीं परिणमता, सदैव विशुद्ध प्रकाशरूप ही रहता है।

अब निर्जराका स्वरूप कहते हैं—[**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**यत्**] जो [**इंद्रियैः**] इंद्रियोंसे [**अचेतनानां**] अचेतन और [**इतरेषां**] अन्य चेतन [**द्रव्याणां**] द्रव्योंका [**उपभोगं**] उपभोग [**करोति**] करता है [**तत् सर्वं**] वह सब [**निर्जरानिमित्तं**] निर्जराका निमित्त है।

तात्पर्य—कर्मोदयरूप निर्जरणके समय प्राप्त उपभोगके आश्रय हुए रागमें राग न होनेके कारण ज्ञानीके संसारनिमित्तक कर्मबन्ध न होनेसे वह उपभोग निर्जराका ही निमित्त

स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितं ॥१९३॥

बहु० । जं यत्–द्वितीया एकवचन । कुणदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एकवचन कर्ताकारक । तं तत्–प्रथमा एकवचन । सव्वं सर्व–प्रथमा एक० । णिज्जरणिमित्तं निर्जरानिमित्तं–प्रथमा एकवचन ॥ १९३ ॥

२–नवीन कर्मबन्धका कारण न बनकर उदयागत द्रव्यप्रत्ययका निकल जाना द्रव्यनिर्जरा है । ३–उपभोगमें राग होनेसे मिथ्यादृष्टिका उपभोग कर्मबंधका निमित्त होता है । ५–निर्जरा होना व बन्धका न होना गुणस्थानके अनुसार समझना । ४–मिथ्यादृष्टिके निर्जरा गजस्नानवत् बंध कराती हुई होती है ।

सिद्धान्त—१– उदयागत द्रव्यप्रत्ययके निमित्तसे चेतन अचेतन द्रव्योंका उपभोग होता है । २– समस्त परभावसे विरक्त होनेसे ज्ञानीके कर्मनिर्जरण होता है । ३– अज्ञानीके रागादिभाव होनेके कारण कर्मबन्ध होता है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) । २– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) । उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—बन्धहेतुभूत रागादिसे दूर होनेके लिये निज सहज ज्ञानज्योतिमें उपयोगको स्थिर करनेका पौरुष करना ॥१९३॥

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं—[**द्रव्ये उपभुज्यमाने**] द्रव्यकर्मके व वस्तुके भोगे जानेपर [**सुखं वा दुःखं**] सुख अथवा दुःख [**नियमात्**] नियमसे [**जायते**] उत्पन्न होता है । [**वा**] और [**उदीर्णं**] उदयमें आये हुए [**तत् सुखदुःखं**] उस सुख दुःखको [**वेदयते**] अनुभव करता है [**अथ**] फिर वह सुख दुःखरूप भाव [**निर्जरां याति**] निर्जराको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—ज्ञानीके सुख दुःख आता है, किन्तु उसमें लगाव न होनेसे वह भाव आगेको बंधनका कारण न बनकर निर्जीर्ण हो जाता है ।

टीकार्थ—परद्रव्यके भोगनेमें आनेपर तन्निमित्तक सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे उदय होते हैं, क्योंकि वह वेदना साता तथा असाता इन दोनों भावोंका अतिक्रमण नहीं करती । सो यह सुख दुःखरूप भाव जिस समय अनुभवा जाता है उस समय मिथ्यादृष्टिके तो रागादिभावोंके होनेसे आगामी कर्मबन्धका निमित्त होकर झड़ता हुआ भी निर्जरारूप नहीं होता हुआ बन्ध ही कहना चाहिये । और सम्यग्दृष्टिके उस सुख दुःखके अनुभवसे रागादि भावोंका अभाव होनेसे आगामी बंधका निमित्त न होनेसे केवल निर्जरा रूप ही होता है सो निर्जरारूप हुआ निर्जरा ही कहना चाहिये, बन्ध नहीं कहा जा सकता । **भावार्थ**—द्रव्यकर्मको

जैरैव स्यात् । तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल । यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥ ॥ १९४ ॥

जायदि जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । सुखं–प्रथमा एक० । वा–अव्यय । दुक्खं दुःखं–प्रथमा एक० । वा–अव्यय । तं तत् सुहदुक्खं सुखदुःखं उदिण्णं उदीर्ण–प्रथमा एकवचन या द्वितीया एकवचन । वेददि वेद्यते या वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । अह अथ–अव्यय । णिज्जरं निर्जरां–द्वितीया एक० । जादि याति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ॥ १९४ ॥

सिद्धान्त—(१) कर्मरससे विविक्त शुद्ध ज्ञानमात्रके अनुभवसे विभावनिर्जरण होता है । (२) विभावनिर्जरण होनेपर द्रव्यनिर्जरण होता ही है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४अ) ।

प्रयोग—कर्मोदयज सातासाताविकल्पसंकटसे दूर होनेके लिये प्रतिफलित कर्मरसको परभाव जानकर उससे विमुख होकर अपने सहज ज्ञानरसका स्वाद लेनेका पौरुष करना ॥१९४॥

अब आगेके कथनकी सूचनाका कलश कहते हैं—**तज्ज्ञान** इत्यादि । **अर्थ**—वास्तवमें वह सामर्थ्य ज्ञान अथवा वैराग्यकी है कि कोई कर्मको भोगता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता । सो अब उस ज्ञानकी सामर्थ्य दिखलाते हैं—[**यथा**] जैसे [**वैद्यः**] वैद्य [**पुरुषः**] पुरुष [**विषं उपभुंजानः**] विषको भोगता हुआ भी [**मरणं**] मरणको [**न उपयाति**] नहीं प्राप्त होता [**तथा**] उसी तरह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पुद्गलकर्मणः**] पुद्गल कर्मके [**उदयं**] उदयको [**भुंक्ते**] भोगता है तो भी [**नैव बध्यते**] बंधता नहीं है ।

तात्पर्य—अविकार अन्तस्तत्त्वके ज्ञान होनेके सामर्थ्यसे कर्मफलभोगमें उपेक्षा होनेके कारण ज्ञानीके संसारबन्धक बन्ध नहीं होता ।

टीकार्थ—जैसे कोई वैद्य, दूसरेके मरणका कारणभूत विषको भोगता हुआ भी अव्यर्थ विद्याकी सामर्थ्यसे विषकी मारणशक्तिके निरुद्ध हो जानेसे विषसे मरणको प्राप्त नहीं होता, उसी तरह अज्ञानियोंको रागादि भावोंके सद्भावसे बंधके कारणभूत पुद्गलकर्मके उदयको भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञानकी अमोघ सामर्थ्यसे रागादिभावोंके अभाव होनेपर कर्मके उदयकी आगामी बंध करने वाली शक्ति निरुद्ध हो जानेसे आगामी कर्मोंसे नहीं बंधता ।

भावार्थ—जैसे कोई वैद्य पुरुष अपनी विद्याकी सामर्थ्यसे विषकी मारणशक्तिका अभाव करता है सो वह उस विषको खानेपर भी उससे नहीं मरता, उसी तरह ज्ञानीके ज्ञानकी सामर्थ्यसे कर्मके उदयकी बंध करने रूप शक्तिको हटा देता है । इस कारण उसके कर्मका

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥१९६॥

अरति भावसे जैसे, मदिरा पीता पुरुष नहीं मदता।
द्रव्यभोगमें तैसे, विरक्त ज्ञानी नहीं बँधता ॥१९६॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः। द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥१९६॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः

नामसंज्ञ—जह, मज्ज, पिवमाण, अरदिभाव, ण, पुरिस, दव्वुवभोग, अरद, णाणि, वि, ण, तह, एव। **धातुसंज्ञ**—पी पाने, मज्ज गर्वे, वज्झ बंधने। **प्रातिपदिक**—यथा, मद्य, पिबमान, अरतिभाव, न, पुरुष, द्रव्योपभोग, अरत, ज्ञानिन्, अपि, न, तथा, एव। **मूलधातु**—पा पाने भ्वादि, मदी हर्षे दिवादि, वन्ध वन्धने। **पदविवरण**—जह यथा—अव्यय। मज्जं मद्यं—द्वितीया एक०। पिवमाणो पिबन्—प्रथमा एक०

द्रव्यार्थिकनय (२४अ)।

प्रयोग—कर्मबंधसे छुटकारा पानेके लिये वर्तमान कर्मफलका ज्ञातामात्र रहकर निर्विकल्प अविकारस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी आराधना करना ॥१९५॥

अब वैराग्यकी सामर्थ्य दिखलाते हैं—[**यथा**] जैसे [**पुरुषं**] कोई पुरुष [**मद्यं**] मदिराको [**अरतिभावेन**] अप्रीतिसे [**पिबन्**] पीता हुआ [**न माद्यति**] मतवाला नहीं होता [**तथैव**] उसी तरह [**ज्ञानी अपि**] ज्ञानी भी [**द्रव्योपभोगे**] द्रव्यके उपभोगमें [**अरतः**] विरक्त होता हुआ [**न बध्यते**] कर्मोंसे नहीं बँधता।

तात्पर्य—कर्मोदयवश उपभोग होनेपर भी मूल विरक्तिके कारण ज्ञानी बँधता नहीं है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष मदिराके तीव्र अप्रीतिभाव वाला होता हुआ मदिरा (शराब) को पीता हुआ भी तीव्र अरतिभावके सामर्थ्यसे मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी रागादिभावोंके अभावसे सब द्रव्योंके उपभोगके प्रति तीव्र विरागभावमें वर्तता हुआ विषयोंको भोगता हुआ भी तीव्र विरागभावकी सामर्थ्यसे कर्मोंसे नहीं बँधता।

अब कलशरूप काव्यमें उत्थानिका कहते हैं—**नाश्नुते** इत्यादि। **अर्थ**—यह पुरुष, विषयोंको सेवता हुआ भी विषय सेवनेके निजफलको नहीं पाता, क्योंकि वह ज्ञान वैभव तथा विरागताके बलसे विषयोंका सेवने वाला होनेपर भी सेवने वाला नहीं है।

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥१९७॥

सेता हुआ न सेवे, कोइ नहीं सेते भी सेवक है।
परजन कार्य निरत भी, प्राकरणिक भी नहीं होता ॥१९७॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्। प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः। तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसञ्चितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विपयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव। मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वा-

नामसंज्ञ—सेवंत, वि, ण, असेवमाण, वि, सेवग, कोई, पगरणचेट्ठा, क, वि, ण, य, पायरण, इत्ति, त। धातुसंज्ञ—सेव सेवायां, प-कर करणे, हो सत्तायां। प्रातिपदिक—सेवमान, अपि, असेवमान, अपि, सेवक, कश्चित्, प्रकरणचेष्टा, किम्, अपि, न, च, प्राकरण, इति, त। मूलधातु—सेव सेवायां, भू सत्तायां। पदविवरण—सेवंतो सेवमानः-प्रथमा एक०। वि अपि-अव्यय। ण न-अव्यय। सेवइ सेवते-वर्तमान लट्

सेवता हुआ भी [सेवकः] सेवने वाला कहा जाता है [कस्यापि] जैसे किसी पुरुषके [प्रकरणचेष्टा अपि] किसी कार्यके करनेकी चेष्टा तो है [च सः] किन्तु वह [प्राकरणः] कार्य करने वाला स्वामी हो [इति न भवति] ऐसा नहीं है।

टीकार्थ—जैसे कोई पुरुष किसी कार्यकी प्रकरणक्रियामें व्याप्रियमाण होकर भी याने उस सम्बंधी सब क्रियाओंको करता हुआ भी उस कार्यका स्वामी नहीं है। किन्तु दूसरा कोई पुरुष उस प्रकरणमें व्याप्रियमाण न होकर भी याने उस कार्य सम्बंधी क्रियाको नहीं करता हुआ भी उस कार्यका स्वामीपन होनेसे उस प्रकरणका करने वाला कहा जाता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्वसंचित कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए इन्द्रियोंके विषयोंको सेवता हुआ भी रागादिक भावोंका अभाव होनेके कारणसे विषयसेवनके फलके स्वामीपनका अभाव होनेसे असेवक ही है। किन्तु, मिथ्यादृष्टि विषयोंको नहीं सेवता हुआ भी रागादिभावोंका सद्भाव होनेके कारण विषय सेवनेके फलका स्वामीपना होनेसे विषयोंका सेवक ही है।

भावार्थ—जैसे कोई व्यापारी स्वयं कार्य न करके नौकरके द्वारा कारखानेका कार्य कराता है, तो वह स्वयं कार्य न करता हुआ भी स्वामित्वके कारण दूकान सम्बंधी हानि-लाभ का फल हर्ष विषाद पाता है। किन्तु नौकर स्वामित्वबुद्धि अभावमें व्यापार करता हुआ भी

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

उदयविपाक विविध है, कर्मोके श्री मुनीश दर्शाये ।
वे नहिं स्वभाव मेरे, मैं तो हूं एक ज्ञायक सत् ॥१९८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः । न तु ते मम स्वभावः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥ १९८ ॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञाय-

---

नामसंज्ञ—उदयविवाग, विविह, कम्म, वण्णिअ, जिणवर, ण, दु, त, अम्ह सहाव, जाणगभाव, दु, अम्ह, इक्क । **धातुसंज्ञ**—वण्ण वर्णने । **प्रातिपदिक**—उदयविपाक, विविध, कर्मन्, वर्णित, जिनवर, न, तु, अस्मद्, स्वभाव, ज्ञायकभाव, तु, अस्मद्, एक । **मूलधातु**—वि-डुपचप पाके, वर्ण वर्णने । **पदविवरण**—उदयविवागो उदयविपाकः–प्रथमा एकवचन । कम्माणं कर्मणाम्–षष्ठी बहु० । वण्णिओ वर्णितः–प्र० एक० ।

उपयोग हटाकर निज सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयोग करनेका पौरुष करना ॥ १९७ ॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि वास्तवमें सामान्यसे अपनेको और परको ऐसा जानता है:—[**कर्मणां**] कर्मोंका [**उदयविपाकः**] उदयविपाक [**जिनवरैः**] जिनेश्वर देवोंने [**विविधः**] अनेक तरहका [**वर्णितः**] कहा है [**ते**] वे [**मम स्वभावाः**] मेरे स्वभाव [**न तु**] नहीं हैं [**तु अहं**] किन्तु मैं [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] मात्र ज्ञायकस्वभावस्वरूप हूं ।

तात्पर्य—कर्मोदयविपाकज भाव मेरे स्वभाव नहीं, मैं तो सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूं ज्ञानी ऐसा जानता है ।

टीकार्थ—जो कर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं है । मैं तो यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी परभावका अपनेको स्वामी न माननेसे प्राकरणिक नहीं है । अब इस गाथामें उसीके सम्बन्धमें यह बतलाया है कि वह कौनसा ज्ञान है जिससे कि ज्ञानी परभावका स्वामी नहीं बनता है ।

तथ्यप्रकाश—१– जीवमें नाना प्रकारके विभाव कर्मोदयविपाकसे उत्पन्न होते हैं । २–कर्मोदयविपाकप्रभव भाव आत्माके स्वभाव नहीं है । ३–आत्मा तो वस्तुतः एक ज्ञायक भाव स्वभाव मात्र है । ४–ज्ञानी स्वभाव व परभावमें स्पष्ट भेद समझता है ।

सिद्धान्त—१–रागद्वेषादिविभाव कर्मविपाकोदयका निमित्त पाकर ही होते हैं । २–परभाव मेरे स्वभाव नहीं है । ३–मैं तो एक अखंड चिद्रूप हूं ।

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं तावज्जानाति—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

रागप्रकृति पुद्गल है, राग विभाव है उदयफल उसका ।

वह भाव नहीं मेरा, मैं तो हूं एक ज्ञायक सत् ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः । नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ १९९ ॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोहं । एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि । एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ॥१९९॥

नामसंज्ञ—पुग्गलकम्म, राग, त, विवागोदय, एत, ण, दु, एत, अम्ह, भाव, जाणगभाव, दु, अम्ह, इक्क । **धातुसंज्ञ**—हव सत्तायां, रज्ज रागे । **प्रातिपदिक**—पुद्गलकर्मन्, राग, तत्, विपाकोदय, एतत्, न, तु, एतत्, अस्मद्, भाव, ज्ञायकभाव, तु, अस्मद्, एक । **मूलधातु**—वि-डुपचष पाके, भू सत्तायां । **पदविवरण**—पुग्गलकम्मं पुद्गलकर्म–प्रथमा एकवचन । रागो रागः–प्रथमा एक० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । एसो एषः–प्र० ए० । ण न–अव्यय । दु तु–अव्यय । एस एषः–प्र० ए० । मज्झ मम–षष्ठी एक० । भावो भावः–प्र० ए० । जाणगभावो ज्ञायकभावः–प्र० ए० । हु खलु–अव्यय । अहं–प्रथमा एक० । इक्को एकः–प्रथमा एकवचन ॥ १९९ ॥

तो एक सहज ज्ञायकभाव स्वभाव है, क्योंकि यह आत्माका निरपेक्ष निरुपाधि शाश्वत सहज भाव है । ५–ज्ञानी अपनेको ज्ञायकस्वभावमात्र जानता हुआ रागादि परभावको छोड़ता हुआ ज्ञानवृत्तिरूप परिणमता रहता है । ६– ज्ञानी आत्मा ज्ञानमात्र स्वको जाननेसे ज्ञानसम्पन्न है व रागादि परभावको छोड़नेसे वैराग्यसंपन्न है ।

सिद्धान्त—१–रागप्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागभाव होता है । २–जीवका स्वभाव शाश्वत ज्ञायकभाव है ।

दृष्टि— १–उपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) । २–अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—अध्रुव, अशरण, दुःखरूप, दुःखफल वाले, भिन्न, असार परभावोंसे अत्यन्त उपेक्षा करके निज सहज एक ज्ञायकस्वभावमय अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना ॥१९९॥

अब औपाधिक भावोंकी परभावता जाननेका फल बताते हैं—[एवं] इस तरह

पादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुंचति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति । सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे

उदय, कर्मविपाक, च, तत्त्व, विजानत् । **मूलधातु**—ज्ञा अववोधने, मुच मोक्षणे, वि-ज्ञा अववोधने । **पदविवरण**—एवं–अव्यय । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एकवचन कर्ताकारक । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया

हैं । **भावार्थ**——–परद्रव्यसे तो राग हो और अपनेको माने कोई सम्यग्दृष्टि तो उसके सम्यक्त्व कैसे कहा जा सकता, वह तो व्रत समिति पाले तो भी स्वपरका यथार्थ ज्ञान न होनेसे मिथ्यात्वपापसे युक्त ही है । जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक चारित्रमोह होनेसे बंध तो होता ही है । ज्ञान होने मात्रसे तो बंधसे छूटना नहीं होता, ज्ञान होनेके बाद उसीमें लीन होनेरूप शुद्धोपयोगरूप चारित्र हो तो बंधन कटता है । इसलिये राग होनेपर बंधका न होना मानकर स्वच्छंद होना तो मिथ्यादृष्टिका चिन्ह ही है । प्रभुने सिद्धांतमें मिथ्यात्वको पाप कहा है । यहां मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधीके रागको प्रधान करके अज्ञानी कहा है, क्योंकि अपने और परके ज्ञान श्रद्धानके बिना परद्रव्यमें तथा उसके निमित्तसे हुए भावोंमें आत्मबुद्धि हो तथा राग द्वेष हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नहीं हुआ । मुनिभेष लेकर कोई व्रतसमिति भी पाले वहां पर जीवोंकी रक्षासे तथा शरीर संवंधी यत्नसे प्रवर्तनेसे, अपने शुभभाव होनेसे याने परद्रव्य संबंधी भावोंसे अपना मोक्ष होना माने और पर जीवोंका घात होना, अयत्नाचाररूप प्रवर्तना योगकी अशुभ क्रिया होना इत्यादि परद्रव्योंकी क्रियासे ही अपनेमें बंध माने तब तक भी समझना कि इसके स्व और परका ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंध मोक्ष तो अपने भावोंसे था, परद्रव्य तो आश्रयमात्र था उसमें विपर्यय माना, यों कोई परद्रव्यसे ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करे तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं है । किन्तु जिसको निज सहजस्वरूप का अनुभव हुआ और कुछ काल तक चारित्रमोहके रागादिक भी रहे तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य सम्बन्धी शुभाशुभ क्रियामें प्रवृत्ति भी रहे तो भी वह ज्ञानी ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है इससे निवृत्त होनेसे ही मेरा भला है, उनको रोगके समान जानता है व पीड़ा सही नहीं जाती सो उनका इलाज करनेमें प्रवर्तता है तो भी इसके उनसे राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो रागको रोग माने उसके राग कैसा ? उसके मेटनेका ही उपाय करता है सो मेटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनसे मानता है । अध्यात्मपौरुषके प्रकरणमें मिथ्यात्वसहित रागको ही राग कहा गया है वह सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं और जिसके मिथ्यात्वसहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । अज्ञानी मनुष्य या तो व्यवहारको सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट हो जाता है अथवा निश्चयको अच्छी तरह नहीं जानकर व्यवहारसे ही मोक्ष मानता है

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥ (युग्मम्)

परमाणुमात्र भी हो, जिसके रागादिभावकी मात्रा ।
वह सर्वागमधर भी, आत्माको जान नहिं सकता ॥२०१॥
आत्माको नहिं जाने, तथा अनात्मा भि जो नहीं जाने ।
जीवाजीव न जाने, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो ॥२०२॥

परमाणुमात्रकमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य । नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२०१॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् । कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२०२॥

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं । यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात् । ततो य

नामसंज्ञ—परमाणुमित्तय, पि, हु, रायादि, तु, ज, ण, वि, त, अप्प, तु, सव्वागमधर, वि, अप्प, अयाणंत, अणप्प, च, अवि, त, अयाणंत, कह, सम्मदिट्ठि, जीवाजीव, अयाणंत । **धातुसंज्ञ**—विज्ज सत्तायां,

---

तु] आत्माको [नापि] नहीं [जानाति] जानता [च] और [आत्मानं] आत्माको [अजानन्] नहीं जानता हुआ [अनात्मानं अपि] परको भी [अजानन्] नहीं जानता हुआ [जीवाजीवौ] इस तरह जीव और अजीव दोनों पदार्थोंको भी [अजानन्] नहीं जानता हुआ [सः] वह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

टीकार्थ—जिस जीवके अज्ञानमय रागादिक भावोंका लेशमात्र है वह जीव प्रायः श्रुतकेवलीके समान होनेपर भी ज्ञानमय भावके अभावके कारण आत्माको नहीं जानता । और जो अपने आत्माको नहीं जानता है वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता । क्योंकि स्वरूपके सत्त्व और परस्वरूपके असत्त्वसे एक वस्तु निश्चयमें आता है । इस कारण जो आत्मा और अनात्मा दोनोंको नहीं जानता है वह जीव अजीव वस्तुको ही नहीं जानता तथा जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । इस कारण रागी ज्ञानके अभावसे सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

तात्पर्य—जो परद्रव्य व परभावोंसे विविक्त चित्प्रकाशमात्र स्वको नहीं जानता वह

रागिणो नित्यमत्ताःसुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः । एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥ ॥ २०१-२०२ ॥

सव्वागमधरो सर्वागमधरः–प्र० ए० । वि अपि–अव्यय । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । अयाणंतो अजानन्–प्रथमा एक० । अणप्पयं अनात्मानं–द्वि० एक० । च–अव्यय । अवि अपि–अव्यय । सो सः–प्र० एक० । अयाणंतो अजानन्–प्रथमा एक० । कह कथं–अव्यय । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । जीवाजीवे–प्रथमा बहु० । जीवाजीवौ–प्रथमा द्विवचन । अयाणंतो अजानन्तः–प्रथमा बहुवचन ॥ २०१-२०२ ॥

चैतन्यस्वरूपमय है उसको प्राप्त होओ याने पर व परभावसे विविक्त शुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथावोंमे यह प्रसिद्ध किया गया था कि रागी पुरुष याने औपाधिक भावोंमें लगाव रखने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं होता है । सो अब इस गाथायुगलमें यह दर्शाया गया है कि रागी पुरुष सम्यग्दृष्टि कैसे नहीं होता है ।

तथ्यप्रकाश—१–जिसके रागादि अज्ञानमय भावोंका यदि रंच भी सद्भाव हो तो वह ज्ञानमय भावके नहीं होनेसे आत्माको नहीं जानता है । २–जो आत्माको आत्मरूपसे नहीं जानता वह अनात्माको अनात्मरूपसे नहीं जान पाता । ३–किसी भी एक वस्तुका निश्चय स्वरूपसे सत्त्व और पररूपसे असत्त्वके निर्णयसे होता है । ४–जो आत्मा अनात्माको नहीं नहीं जानता है वह आस्रवादिक तत्त्वोंको भी नहीं जानता । ५–जो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं । ६–परभावमें अनुरक्त जीव ज्ञानमयस्वरूपका ज्ञान श्रद्धान न होने सम्यग्दृष्टि नहीं है ।

सिद्धान्त—१–अज्ञानमय रागादि भावको आत्मस्वरूप मानने वाला अज्ञानी है । २– आत्माको स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावसे आत्मरूप समझने वाला ज्ञानी ही परद्रव्यको परद्रव्य रूपसे समझ सकता है ।

दृष्टि—१–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २–स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय व परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८, २९) ।

प्रयोग—संसारसंकटसे छूटनेके मार्गमें चलनेके लिये अपनेको औपाधिक भावोंसे विविक्त ज्ञानमात्र अनुभवनेका पौरुष करना ॥२०१–२०२॥

यदि जानना चाहो कि आत्माका स्वपद कहाँ है ? सो सुनिये—[आत्मनि] आत्मामें [अपदानि] अपदरूप [द्रव्यभावान्] द्रव्य भावरूप सभी भावोंको [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतं]

मेकमेवेदं स्वाद्यं। एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं। अपदान्येव भासंते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥ एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन् स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वां

स्थिर, एक, इदम्, भाव, उपलभ्यमान, स्वभाव। **मूलधातु**—मुच्लृ मोक्षणे ग्रह उपादाने, डुलभप प्राप्तौ। **पदविवरण**—आदम्हि आत्मनि–सप्तमी एकवचन। दव्वभावे द्रव्यभावान्–द्वितीया बहुवचन। अपदे अप-

दनस्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, स्थाय भाव है। अतः वह ज्ञानमात्र भाव आत्माका पद है सो ज्ञानियोंके यही एक स्वाद लेने योग्य है।

अब इस अर्थको कलशमें कहते हैं—**एकमेव** इत्यादि। **अर्थ**—वही एक पद आस्वादने योग्य है जो आपदावोंका पद नहीं है अर्थात् जिस पदमें कोई भी आपदा नहीं रह सकती तथा जिसके आगे अन्य सभी पद अपद प्रतिभासित होते हैं। **भावार्थ**—एक ज्ञान ही आत्मा का परमार्थ पद है इसमें कुछ भी आपदा नहीं है इसके आगे अन्य सभी पद आपदा स्वरूप (आकुलतामय) होनेसे अपद हैं।

अब बताते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञानका अनुभव किस तरह करता है—**एकज्ञायक** इत्यादि। **अर्थ**—एक ज्ञायकमात्र भावसे भरे हुए ज्ञानके महास्वादको लेता हुआ यह आत्माके अनुभव (आस्वाद) के प्रभावसे विवश आत्मा विशेषके उदयको गौण करता हुआ सामान्यको ग्रहण करता हुआ समस्त ज्ञानको एकत्वको प्राप्त कराता है।

भावार्थ—एकस्वरूप सहज ज्ञानके रसीले स्वादके सामने अन्य रस फीके हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके विकल्पसे होते हैं। सो जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लिया जाता है याने अनुभव किया जाता है तब सब ज्ञानके भेद गौण हो जाते हैं एक ज्ञान ही स्वयं ज्ञेयरूप हो जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अज्ञानमय राग वाला जीव ज्ञानमय निज आत्मपदको न जाननेसे सम्यग्दृष्टि नहीं है। अब इस गाथामें उस ज्ञानमात्र निज पदको बताया गया है व उसको ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१– आत्मामें गुण व द्रव्यव्यञ्जन पर्यायें हैं व अनेकों गुणव्यञ्जन पर्यायें है। २– जो भाव आत्माके स्वभावरूप नहीं, किन्तु औपाधिक हैं वे अस्थायी भाव हैं। ३–जो भाव आत्मामें नियत नहीं, किन्तु अनियत दशावोंरूप हैं वे अस्थायी भाव हैं। ४– जो अनेक रूप होते रहते हैं, एकरूप नहीं वे भाव अस्थायी भाव हैं। ५– जो भाव क्षणविनश्वर हैं शाश्वत नहीं वे भाव अस्थायी भाव हैं। ६– जो कभी हुए, कभी न हुए याने व्यभिचारी हैं अव्यभिचारी नहीं याने शाश्वत सहज नहीं वे सब अस्थायी भाव हैं। ७–अस्थायी भाव आत्मा में शाश्वत स्थान न पानेके कारण अपद हैं। ८– स्वभावरूप, नियत, एक, शाश्वत, अव्यभि-

तथाहि—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल सर्वज्ञान एक हि पद ।
वह यह परमार्थ जिसे, पाकर निर्वाण मिलता है ॥२०४॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं । स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ।

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिंदंति । किं तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनंदंति । तथाहि—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदंति ।

नामसंज्ञ—आभिणिसुदोहिमणकेवल, च, त, एक्क, एव, पद, त, एत, परमट्ठ, ज, णिव्वुदि । **धातुसंज्ञ**—हो सत्तायां, लभ प्रापणे, जा गतौ । **प्रातिपदिक**—आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवल, च, तत्,

---

ही करते हैं । इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हो गये हैं ऐसे आत्माके स्वभावभूत एक ज्ञान को ही आलम्बन करना चाहिये । उस ज्ञानके आलम्बनसे ही निज पदकी प्राप्ति होती है, उसीसे भ्रमका नाश होता है, उसीसे आत्माका लाभ होता है और अनात्माके परिहारकी सिद्धि होती है । ऐसा होनेपर कर्मके उदयकी मूर्छा नहीं होती, राग द्वेष मोह नहीं उत्पन्न होते, रागद्वेष मोहके बिना फिर कर्मका आस्रव नहीं होता, आस्रव न होनेसे फिर कर्मबंध नहीं होता, और जो पहले कर्म बांधे थे वे उपभुक्त होते हुए निर्जराको प्राप्त होते हैं और तब सब कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है ।

भावार्थ—ज्ञानमें भेद कर्मोंके विघटन (क्षयोपशमादि) के अनुसार होते हैं सो वे ज्ञानविकासभेद कुछ ज्ञानसामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, बल्कि ज्ञानस्वरूपको ही प्रगट करते हैं । इसलिए भेदोंको गौण कर एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन करके आत्माका ध्यान करना । इसीसे सब सिद्धि होती है ।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—**अच्छाच्छाः** इत्यादि । **अर्थ**—समस्त पदार्थोंके समूहरूप रसके पीनेके बहुत बोझसे मानो मतवाले हुए अनुभवमें आये हुए ज्ञानके भेद निर्मलसे निर्मल अपने आप उछलते हैं—वह यह भगवान अद्भुतनिधि वाला चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरोंसे अभिन्नरस हुआ एक होनेपर भी अनेकरूप हुआ दोलायमान प्रवर्तता है । **भावार्थ**—जैसे बहुत रत्नोंसे भरा समुद्र सामान्यदृष्टिसे देखो तो एक जलसे भरा है तो भी

बध्यते, प्राग्बद्धं कर्मोपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ।। अच्छाच्छा: स्वयमुच्छलंति यदिमा: संवेदनव्यक्तयो निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव । यस्याभिन्नरस: स एप भगवानेकोऽप्यनेकीभवन् वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर: ।।१४१।। किंच––क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखै: कर्मभि: क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं । साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ।।१४२।। ।। २०४ ।।

प्रथमा एक० । सो स:–प्र० ए० । एसो एप:–प्र० ए० । परमट्ठो परमार्थ:–प्र० ए० । जं यं–द्वितीया एक० । लहिदुं लब्ध्वा–असमाप्तिकी क्रिया । णिव्वुदिं निर्वृतिं–द्वि० एक० । जादि याति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन क्रिया ।। २०४ ।।

आत्मभ्रान्ति नष्ट होती है । ८– आत्मभ्रान्ति नष्ट होते ही आत्मलाभ होता है । ९– आत्मलाभ होते ही अनात्मतत्त्वका परिहार होता है । १०– अनात्मतत्त्वका परिहार होते ही कर्मोदय मूर्च्छा नहीं कर पाते हैं । ११– कर्मोदयमूर्च्छा नष्ट होते ही राग द्वेप मोह नहीं होते । १२– रागादिका अभाव होनेपर फिर कर्मका आस्रव नहीं होता । १३– कर्मास्रव न होनेपर कर्मबन्ध नहीं होता । १४– कर्मास्रवका व कर्मबन्धका अभाव होनेपर प्राग्बद्ध कर्म भुगकर निर्जीर्ण हो जाते हैं । १५– आस्रवाभाव, बन्धाभाव व निर्जरा हो होकर समस्त कर्मका अभाव होते ही साक्षात् मोक्ष हो जाता है । १६– इस स्वसंवेद्य शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मपदके पाये बिना कोई कितने ही कठोर व्रत तप आदि करे तो भी उसका मोक्ष असम्भव है । वह सब चेष्टा क्लेशमात्र है ।

सिद्धान्त—१– मति श्रुत अवधि मन:पर्ययज्ञान आत्माके एकदेश शुद्ध विभाव गुणव्यञ्जन पर्यायें हैं । २– केवलज्ञान आत्माका स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याय है । ३– शाश्वत ज्ञानमात्र सहज भाव आत्माका शाश्वत आत्मभूत स्वभाव है ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४९ब) । २– सभेद शुद्धनिश्चयनय (४६अ) । ३– अखंड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—निर्विकल्प निराकुल आत्मानुभव पानेके लिये व्यक्तरूप मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान आदि ज्ञानपर्यायोंके स्रोतभूत एक ज्ञानमात्रस्वभावका उपयोग करने व बनाये रहनेका पौरुष करना ।। २०४ ।।

अब ज्ञानलाभका उपदेश करते हैं—हे भव्य [यदि] यदि तुम [कर्मपरिमोक्षं] कर्मका सब तरफसे मोक्ष करना [इच्छसि] चाहते हो [तु] तो [तत् एतत् नियतं] उस इस

शून्या नेदमुपलभंते । इदमनुपलभमानाश्च न कर्मभिर्विप्रमुच्यंते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयं ।। पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल । तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ।।१४३।। ।। २०५ ।।

द्वितीया एकवचन । पयं पदं–द्वितीया एक० । वहू वहवः–प्रथमा वहु० । वि अपि–अव्यय । ण न–अव्यय । लहंति लभंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष वहु० । तं तद्–द्वितीया एक० । गिण्ह गृहाण–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० । णियदं नियतं–द्वि० ए० । एदं एतत्–द्वितीया एक० । जदि यदि–अव्यय । इच्छसि–वर्तमान लट् मध्यम पुरुष एकवचन । कम्मपरिमोक्खं कर्मपरिमोक्षं–द्वितीया एकवचन ।।२०५।।

वह हीन कलास्वरूप है मतिज्ञानादिरूप है । उस ज्ञानकी कलाके अभ्याससे पूर्णकला याने केवलज्ञानस्वरूप कला प्रकट होती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जिसका लाभ पाकर ही मोक्ष प्राप्त होता है उस सहज ज्ञानमात्र आत्मपदका आलंवन लेना चाहिये । अब इस गाथामें उसी तथ्यका व्यतिरेक सम्वन्ध पूर्वक समर्थन करके इस ज्ञानपदके ग्रहणका अनुरोध किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानकी उपलब्धि केवल ज्ञानके ज्ञानमें ही ज्ञानके प्रकाशनसे होती है । (२) समस्त कर्मों (क्रियावों) द्वारा भी कर्ममें ज्ञानका प्रकाश असम्भव है, अतः कर्मसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती । (३) ज्ञानशून्य क्रियाकाण्डके पक्षपाती अनेक कर्मोंको करके भी इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं कर पाते । (४) शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मपदको न पाने वाले कर्मोंसे नहीं छूट सकते । (५) कर्मसे मोक्ष चाहने वाले पुरुषोंको केवल ज्ञानके आलम्बन द्वारा इस एक नियत ज्ञानमात्र आत्मपदका आलम्बन लेना चाहिये । (६) यह सहज ज्ञानमात्र आत्मपद सहजज्ञानकला द्वारा सुलभ है । (७) कल्याण चाहने वाले जीवोंको निज ज्ञानकलाके बलसे एक नियत अपने सहज ज्ञानस्वभावका उपयोग करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानगुणरहित याने अज्ञानी जीव ज्ञानमात्र इस आत्मपदको न प्राप्त कर अपद विकारोंमें ही रमते हैं । (२) एक सहज ज्ञानमात्र आत्मपदका आलम्बन होनेपर कर्ममोक्ष होता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—समस्त कर्मविपदावोंसे मुक्तिका लाभ लेनेके लिये नियत शाश्वत एक सहज ज्ञानमात्र स्वभावकी दृष्टि प्रतीति अनुभूति बनाये रहनेका पौरुष करना ।। २०५ ।।

और क्या ? [एतस्मिन्] हे भव्य जीव इस ज्ञानमें [नित्यं] सदा [रतः भव] रुचिसे लीन होओ और [एतस्मिन्] इसीमें [नित्यं] हमेशा [संतुष्टः] भव संतुष्ट होओ और [एतेन] इसी

अथैवं तव तन्नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति । तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा अन्यान् प्राक्षीः ।। अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात् । सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ।।१४४।। ।। २०६ ।।

संतुट्ठो संतुष्टः–प्रथमा एक० । होहि भव–आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । णिच्चं नित्यं–अव्यय । एदम्हि एतस्मिन्–सप्तमी एक० । एदेण एतेन–तृतीया एक० । होहि भव–आज्ञार्थ लोट् मध्यम पुरुष एक० । तित्तो तृप्तः–प्रथमा एक० । होहदि भविष्यति--भविष्यत् लृट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तुह तव–षष्ठी एक० । उत्तमं–प्रथमा एक० । सोक्खं सौख्यं–प्रथमा एकवचन ।। २०६ ।।

सब प्रयोजन सिद्ध हैं, ज्ञानी अन्यके परिग्रहणसे क्या करेगा ? **भावार्थ**—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अनन्त शक्तिधारक सर्वार्थसिद्धस्वरूप स्वयं देव है । फिर ज्ञानीके अन्य परिग्रहके सेवन करनेसे क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानगुणसे रहित जीव सहज ज्ञानमय आत्मपद नहीं पाते, अतः मोक्षके इच्छुक आत्मा इस सहज ज्ञानमात्र भावको ग्रहण करें । अब इस गाथामें बताया है कि सहज ज्ञानमात्र आत्मपदको ग्रहण कर इसीमें रत होओ, संतुष्ट होवो व तृप्त होओ ।

तथ्यप्रकाश—(१) जितना यह ज्ञानमात्र भाव है इतना ही यह सत्य आत्मा है अतः इस सहज ज्ञानमात्र भावमें ही नित्य रुचि करो । (२) जितना यह ज्ञानमात्र है इतना ही सत्य आशीष है, अतः ज्ञानमात्रभावके द्वारा इस ज्ञानमात्रमें ही सदा संतुष्ट रहो । (३) जितना यह ज्ञानमात्र भाव है इतना ही सत्य अनुभवनेके योग्य है, अतः ज्ञानमात्र भावके ही द्वारा नित्य तृप्त रहो । (४) आत्मरत आत्मसंतुष्ट आत्मतृप्त आत्मामें अलौकिक आनन्द स्वयं प्राप्त होता है । (५) जो सहज ज्ञानमात्र आत्मपदमें रमते हैं उनके सर्वार्थ सिद्ध हैं, उन्हें अन्य पदार्थके परिग्रहणका कुछ प्रयोजन नहीं रहता ।

सिद्धान्त—(१) सहजज्ञानस्वभावमें रमने वाले ज्ञानी स्वतंत्र सहज आनन्दका अनुभव करते हैं । (२) आत्मपदसे अनभिज्ञ अज्ञानी जीव ही कर्मरसविषयक विकल्पमें रमण कर आकुलताका अनुभव करते हैं ।

दृष्टि—१– अनीश्वरनय (१८६) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—परमार्थ आनन्द पानेके लिये सहज ज्ञानस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वमें रमने व तृप्त रहनेका पौरुष करना ।। २०६ ।।

तत्त्वदृष्ट्यवष्टंभाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति । ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ॥२०७॥

षष्ठी एक० । इमं इदं–प्र० ए० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । दव्वं द्रव्यं–प्रथमा एक० । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । अप्पणो आत्मनः–षष्ठी एक० । परिग्गहं परिग्रहं–द्वितीया एकवचन । तु–अव्यय । णियदं नियतं–अव्यय यथा स्यात्तथा । वियाणंतो विजानन्–प्रथमा एकवचन ॥२०७॥

उसका स्व है और वही उस स्वका स्वामी है । (२) स्व व स्वामित्वका अभेदपरिचय होनेसे ज्ञानी अपना परिग्रह अपने आपको ही जानता है । (३) ज्ञानीका परद्रव्यके बारेमें भी अपने प्रयोगके लिये दृढ़ निर्णय है कि यह (परद्रव्य) मेरा स्व नहीं है और न मैं इसका (परद्रव्यका) स्वामी हूं । (४) अपने स्वरूपको ही अपना सर्वस्व माननेके कारण ज्ञानी जीव परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता ।

सिद्धान्त—१– परद्रव्यका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें होना असम्भव होनेसे परद्रव्य मेरा कुछ नहीं है । २– आत्माका सर्वस्व यह स्वयं आत्मा है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । २– उपादानदृष्टि (४९ब) ।

प्रयोग—दुःखके हेतुभूत भ्रमभावको दूर करनेके लिये परद्रव्यको अपनेसे भिन्न निरखना व अपने आपके सर्वस्वभूत ज्ञानमात्र भावको ही उपयोगमें लेना ॥ २०७ ॥

इस कारण मैं भी परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता हूं—**[यदि]** यदि **[परिग्रहः]** परिग्रह **[मम]** मेरा हो **[ततः]** तो **[अहं]** मैं **[अजीवतां]** अजीवपनेको **[गच्छेयं]** प्राप्त हो जाऊँगा **[तु यस्मात्]** तो चूंकि **[अहं]** मैं **[ज्ञाता एव]** ज्ञाता ही हूं **[तस्माद्]** इस कारण **[परिग्रहः]** कुछ भी परिग्रह **[मम]** मेरा **[न]** नहीं है ।

तात्पर्य—मैं वह हूं जो मेरेसे तन्मय है । बाह्य परिग्रह मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, अतः स्वस्वरूपातिरिक्त कुछ भी मेरा नहीं है ।

टीकार्थ—यदि मैं अजीव परद्रव्यको ग्रहण करूं तो यह अजीव मेरा स्व अवश्य हो जाय और मैं भी उस अजीवका अवश्य स्वामी ठहरूं । परन्तु अजीवका जो स्वामी है वह निश्चयसे अजीव ही होता है इस तरह मेरे विवशपनेसे अजीवपना आ पड़ेगा । किन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है, उसीका मैं स्वामी हूं, इस कारण मेरे अजीवपना मत होओ, मैं तो ज्ञाता ही होऊँगा परद्रव्यको नहीं ग्रहण करूँगा यह मेरा निश्चय है । **भावार्थ**—वस्तुतः जीवमें तन्मय तो जीवस्वरूप ही है उसीसे जीवका स्वस्वामीसम्बंध है । और अजीवके स्वरूपके साथ अजीवका स्वस्वामीसम्बन्ध है । इस कारण यदि अजीव परिग्रह जीवका माना

ममाजीवत्वमापद्येत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो माभून्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृह्णामि, अयं च मे निश्चयः ।। २०८ ।।

अहं–प्र० ए० । अजीवदं अजीवतां–द्वितीया ए० । तु–अव्यय । गच्छेज्ज गच्छेयं–लिङ् उत्तम पुरुप एक० । णादा ज्ञाता–प्र० ए० । एव–अव्यय । अहं–प्रथमा एक० । जम्हा यस्मात्–पंचमी एक० । तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । ण न–अव्यय । परिग्गहो परिग्रहः–प्र० ए० । मज्झ मम–षष्ठी एकवचन ।।२०८।।

सिद्धान्त—(१) मैं अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हूं । (२) मैं परद्रव्यके क्षेत्र, काल, भावसे नहीं हूं ।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) ।

प्रयोग—मैं अचेतन नहीं हूं, अन्य द्रव्यरूप नहीं हूं, मैं ज्ञानमात्र हूं, अतः मैं मात्र ज्ञाता ही रहूँगा, मैं किसी भी परद्रव्यको ग्रहण न करूँगा ऐसा अपना दृढ़ निर्णय रखकर परद्रव्यके विकल्पसे भी हटकर अपनेमें ज्ञानमात्र रहकर परमविश्राम पानेका पौरुष करना ।। २०८ ।।

अब ज्ञानीका आत्मशौर्य बतलाते हैं—[**छिद्यतां वा**] छिद जावे [**भिद्यतां वा**] अथवा भिद जावे [**नीयतां वा**] अथवा कोई ले जावे [**अथवा**] अथवा [**विप्रलयं यातु**] नष्ट हो जावे [**यस्मात् तस्मात्**] चाहे जिस तरहसे [**गच्छतु**] चला जावे, [**तथापि**] तो भी [**खलु**] वास्तवमें [**परिग्रहः**] परद्रव्य परिग्रह [**मम**] मेरा [**न**] नहीं है ।

तात्पर्य—समस्त परपदार्थ भिन्न सत्तावाले हैं, इस कारण परद्रव्यकी कुछ भी परिणति हो वह मेरा कुछ नहीं है ।

टीकार्थ—परद्रव्य चाहे छिद जावे या भिद जावे या कोई ले जावे, या नाशको प्राप्त हो जावे, या जिस तिस प्रकार याने कैसे ही चला जावे तो भी मैं परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता, क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है और न मैं परद्रव्यका स्वामी हूं, परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है, परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मैं ही मेरा स्व है, मैं ही मेरा स्वामी हूं ऐसा मैं जानता हूं । **भावार्थ**—प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी सत्तामें है, मैं भी मात्र अपने सत्त्वसे हूं तब मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा ज्ञानी जानता है, अतः ज्ञानीके समस्त परद्रव्यसे उपेक्षा है, इसी कारण ज्ञानीके परद्रव्य परिग्रह नहीं होता ।

अब इसी अर्थको इत्थं इत्यादि कलशमें कहते हैं—इस प्रकार सामान्यसे समस्त परिग्रहको छोड़ कर स्व व परके अविवेकके कारणभूत अज्ञानको छोड़नेके लिये मन वाला

स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ।। इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं । अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ।।१४५।। ।। २०९ ।।

लोट् अन्य पुरुष एकवचन । वा–अव्यय । भिज्जदु भिद्यतां–कर्मवाच्य लोट् अन्य पुरुष एकवचन । णिज्जदु नीयतां–कर्मवाच्य लट् अन्य पुरुष एक० । अहव अथवा–अव्यय । जादु यातु–लोट् अन्य पुरुष एकवचन । विप्पलयं विप्रलयं–द्वितीया एकवचन । जम्हा यस्मात्–पंचमी एक० । तम्हा तस्मात्–पं० एक० । गच्छदु गच्छतु–आज्ञार्थ लोट् अन्य पुरुष एक० । तह तथा–अव्यय । वि अपि–अव्यय । हु खलु–अव्यय । ण न–अव्यय । परिग्गहो परिग्रहः–प्रथमा एक० । मज्झ मम–षष्ठी एकवचन ।। २०९ ।।

नहीं रखता, अतः ज्ञानी अपरिग्रही है । ९– ज्ञानीका दृढ़ निश्चय है कि मेरा मात्र मैं ही सर्वस्व हूं और मैं अपने इस स्वरूपसर्वस्वका ही स्वामी हूं ।

सिद्धान्त—१–ज्ञानी स्वमें तन्मय अखण्ड ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वको ही आपा मानता है । २–परद्रव्यमें या किसी भी द्रव्यमें जो भी परिणति होती है वह उस ही के परिणमनेसे होती है, कहीं उस रूप अन्य द्रव्य नहीं परिणम जाता है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) । २– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८, २९) ।

प्रयोग—समस्त परद्रव्योंको अपनेसे अत्यन्त भिन्न मानकर उनकी कुछ भी परिणति हो उससे हर्ष विषाद न मानकर अपने सहज ज्ञानस्वभावमें ही रमकर तृप्त होना चाहिये ।।२०९।।

अब बतलाते हैं कि ज्ञानीके धर्मका अर्थात् पुण्यका भी परिग्रह नही है––[**अनिच्छः**] इच्छारहित आत्मा [**अपरिग्रहः**] परिग्रहरहित [**भणितः**] कहा गया है [**च**] और [**णाणी**] ज्ञानी [**धम्मं**] धर्म अर्थात् पुण्यको [**न**] नहीं [**इच्छति**] चाहता है [**तेन**] इस कारण [**सः**] वह [**धर्मस्य**] धर्मका याने पुण्यका [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है [**तु**] वह तो [**ज्ञायकः**] मात्र ज्ञायक [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—ज्ञानी द्रव्यपुण्यको तो उपादानतया भी अत्यन्त भिन्न जानता है और भावपुण्यको औपाधिक होनेके कारण अपनेसे भिन्न जानता है सो वह ज्ञातामात्र है, पुण्यका भी परिग्रही नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है । जिसके इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके होता नहीं है, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव

स्य भावस्य इच्छाया अभावाद् धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१० ॥

अव्यय । ण न–अव्यय । इच्छदे इच्छति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । धम्मं धर्मं–द्वितीया एकवचन । अपरिग्गहो अपरिग्रहः–प्रथमा एक० । दु तु, धम्मस्स धर्मस्य–षष्ठी एक० । जाणगो ज्ञायकः–प्रथमा एकवचन । तेण तेन–तृतीया एक० । सो सः–प्रथमा एक० । होई भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ २१० ॥

सिद्धान्त—(१) सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका उपशमादि होनेसे ज्ञानीके अज्ञानमय भाव न होनेसे ज्ञानमय भाव ही होता है । (२) ज्ञानी अंतः ज्ञानवृत्तिरूप परिणमता है ।

दृष्टि—१– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २–शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग—पुण्यभाव होनेपर भी उसे अपना स्वरूप न जानकर उससे परे अविकार ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका पौरुष करना चाहिये ॥ २१० ॥

अब ज्ञानीके पापका परिग्रह नहीं है यह बताते हैं—**[अनिच्छः]** इच्छारहित पुरुष **[अपरिग्रहः]** अपरिग्रह **[भणितः]** कहा गया है । **[च]** और **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अधर्मं]** अधर्म याने पापको **[न]** नहीं **[इच्छति]** चाहता है । **[तेन]** इस कारण **[सः]** वह **[अधर्मस्य]** अधर्मका **[अपरिग्रहः]** परिग्रही नहीं है, किन्तु **[ज्ञायकः]** अधर्मका ज्ञायक ही **[भवति]** होता है ।

तात्पर्य—पापभावको कर्मरस जानने वाले ज्ञानीको पापभावसे रंच भी लगाव नहीं है, प्रत्युत विरक्ति ही है, इस कारण असातादि पापकर्म रस भी प्रतिफलित हो तब भी ज्ञानी के अधर्मका परिग्रह नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है । उसके परिग्रह नहीं जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है । किन्तु अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव है । इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छाका अभाव होनेसे अधर्मको पापको नहीं चाहता है, इस कारण ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय एक ज्ञायक भावका सद्भाव होनेसे यह अधर्मका केवल ज्ञायक ही है । और इसी प्रकार अधर्मपदके परिवर्तनसे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शनके सोलह सूत्र लगा लेना चाहिये । **भावार्थ**—ज्ञानीको अपने सहज स्वरूपकी अनुभूति हुई है तब उसकी कभी बाह्य प्रवृत्ति भी हो तो भी ज्ञानमय भावको न छोड़कर होती है, अतः जब चारित्रमोहकी बलवत्तासे असंयम भाव होता है तब उसे औपाधिक विकार जानकर उससे उपेक्षाभाव रखता

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता भुक्ति ।
इससे भुक्तिपरिग्रह-विरहित ज्ञायक पुरुष होता ॥२१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति अशनं । अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१२॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य

नामसंज्ञ—अपरिग्गह, अणिच्छ, भणिद, णाणि, य, ण, असण, अपरिग्गह, दु, असण, जाणग, त, त । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, इच्छ इच्छायां, अस भक्षणक्षेपणयोः, जाण अवबोधने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—अपरिग्रह, अनिच्छ, भणित, ज्ञानिन्, च, न, अशन, अपरिग्रह, तु, अशन, ज्ञायक, तत्, तत् । **मूलधातु**—नञ्-परि-ग्रह उपादाने क्र्यादि, इषु इच्छायां तुदादि, भण शब्दार्थः, अश भोजने क्र्यादि, ज्ञा

२–ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव दृष्टिमें होनेसे ज्ञानी ज्ञायक ही रहता है ।

दृष्टि— १–प्रतिषेधकशुद्धनय (४६अ) । २–शुद्धनय (१६८) ।

प्रयोग—पापविपाकरस भी उपयोगमें झलके तब भी उसे परप्रतिफलन जानकर उससे उपेक्षा कर अपने निष्पाप ज्ञानस्वरूपमें ही उपयुक्त होनेका पौरुष करना ॥२११॥

अब ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है यह बताते हैं [**अनिच्छः**] इच्छारहित पुरुष [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा गया है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अशनं**] भोजनको [**न**] नहीं [**इच्छति**] चाहता है । [**तेन**] इस कारण [**सः**] वह [**अशनस्य**] भोजनका [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है [**तु**] किन्तु वह [**ज्ञायकः**] भोजनका ज्ञायक ही [**भवति**] होता है ।

तात्पर्य—असाताके उदयवश क्षुधा होनेपर भी क्षुधा रोगकी इच्छा न होनेसे क्षुधा रोगकी औषधिभूत भोजनकी कामना न होनेसे ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है ।

टीकार्थ—इच्छा परिग्रह है । उसके परिग्रह नहीं है, जिसके इच्छा नहीं है । इच्छा तो अज्ञानमय भाव है । अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता । ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है । इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छाका अभाव होनेसे भोजनको नहीं चाहता है, अतः ज्ञानीके अशन (भोजन) का परिग्रह नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञानमय एक ज्ञायक भावके होनेसे अशन (भोजन) का केवल ज्ञायक ही होता है । **भावार्थ**—ज्ञानीके न क्षुधा रोगकी इच्छा है और न आस्थामें क्षुधाकी चिकित्साकी इच्छा है अतः ज्ञानी अशनका अपरिग्रही है ।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

निर्वाञ्छक अपरिग्रह, कहा है ज्ञानी न चाहता पान।
इससे पानपरिग्रह-विरहित ज्ञायक पुरुष होता ॥२१३॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानं। अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१३॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञान्यज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ॥ २१३ ॥

नामसंज्ञ—पाण, पाण, शेष पूर्वगाथावत्। **धातुसंज्ञ**—पा पाने, शेष पूर्वगाथावत्। **प्रातिपदिक**—पान, पान, शेष पूर्वगाथावत्। **मूलधातु**—पा पाने शेष पूर्वगाथावत्। **पदविवरण**—पाणं पानं-द्वितीया एक०। पाणस्स पानस्य-षष्ठी एकवचन। शेष पूर्वगाथावत् ॥२१३॥

अज्ञानमयभाव है, अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छाका अभाव होनेसे पानको नहीं चाहता, अतः ज्ञानीके पानपरिग्रह नहीं है। यह ज्ञानी तो मात्र ज्ञानमय एक ज्ञायक भावके सद्भावसे केवल ज्ञायक ही है। **भावार्थ**—ज्ञानीके पान आदि किसी भी विकारकी कामना न होनेसे वह पान आदि सर्व परिग्रहसे रहित है।

प्रसंगविवरण—ज्ञानीके अपरिग्रहत्वके स्थलमें पुण्य, पाप, अशनका अपरिग्रहत्व बतलाकर अब पानका अपरिग्रहत्व इस गाथामें बताया है।

तथ्यप्रकाश—(१) असातावेदनीयके तीव्रतर तीव्र मंद मंदतर विपाकोदयके निमित्तसे तृषावेदना होती है। (२) वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे अशक्तिके कारण वेदना असह्य हो जाती है। (३) चारित्रमोहके उदयसे जल आदि ग्रहण करनेकी इच्छा होती है। (४) क्षुधा, असाता व पानेच्छा आदि विकारोंको औपाधिक अस्वभावभाव जाननेसे ज्ञानीको इनकी इच्छा नहीं है। (५) अज्ञानमय इच्छाके अभावसे ज्ञानीके इन किन्हीं भी विकारोंका परिग्रह नहीं है वह तो मात्र ज्ञायक है।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानीके बहिस्तत्त्वके प्रति इच्छा, मूर्च्छा नहीं है। (२) ज्ञानी दर्पणमें बिम्बकी तरह उपयोगमें प्रतिफलित कर्मरसका ग्रहण करने वाला नहीं है, वह तो ज्ञानमात्र है।

अथैवमयमशेषभावांतरपरिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ।। पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः । तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावं ।।१४६।। ।। २१४ ।।

सर्व, भाव, च, न, ज्ञानिन्, ज्ञायकभाव, नियत, निरालम्ब, तु, सर्वत्र । **मूलधातु**—इषु इच्छायां तुदादि । **पदविवरण**—एवं–अव्यय । आदिए आदिकान्–द्वितीया बहु० । दु तु–अव्यय । विविहे विविधान्–द्वितीया बहु० । सव्वे सर्वान्–द्वितीया बहु० । य च–अव्यय । ण न–अव्यय । इच्छदे इच्छति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । जाणगभावो ज्ञायकभावः–प्रथमा एक० । णियदो नियतः–प्र० ए० । णीरालंबो निरालम्बः–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । सव्वत्थ सर्वत्र–अव्यय ।। २१४ ।।

कर्मविपाकसे ज्ञानीके यदि उपभोग होता है तो होओ । अब यहाँ रागका वियोग होनेसे निश्चयसे वह उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता । **भावार्थ**—पूर्वबद्ध कर्मोंका विपाकोदय होनेपर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है सो वहाँ अज्ञानी तो उसे अज्ञानमय रागभावसे भोगता है, अतः अज्ञानीके उपभोगका परिग्रह है, किन्तु ज्ञानी अज्ञानमय राग न होनेसे वह उपभोगता हुआ भी परिग्रही नहीं, किन्तु ज्ञायक है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व ४ गाथाओंमें बताया गया था कि ज्ञानी जीव धर्म (पुण्य), अधर्म (पाप), अशन व पानको नहीं चाहता है, अतः ज्ञानीके उनका परिग्रह नहीं । अब इस गाथामें उसी कथनका उपसंहार करते हुए कहा है कि ऐसे ही जो और परभाव हैं उन सबको भी ज्ञानी नहीं चाहता है वह सर्वत्र निरालम्ब है और मात्र ज्ञायक है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पुण्य पाप भोजन पानको न चाहनेकी भाँति ज्ञानी विषयकषाय आदिक सभी परभावोंको नहीं चाहता है । (२) परद्रव्यभावोंको न चाहनेसे ज्ञानीके उनका परिग्रह नहीं है । (३) ज्ञानीके मात्र ज्ञानमय भाव बर्तनेसे अन्य किसीको स्वीकार नहीं करता है, अतः वह निष्परिग्रह है । (४) ज्ञानी समस्त परभावपरिग्रहशून्य होनेसे समस्त अज्ञानका वमन कर चुका है । (५) ज्ञानी किसी परभावको स्वीकार न करनेसे समस्त अन्य पदार्थोंका आलम्बन तज देता है । (६) ज्ञानी सिर्फ जाननहार रहनेसे अपनेको साक्षात् विज्ञानघन अनुभवता है ।

सिद्धांत—(१) आत्मद्रव्य समस्त पर व परभावोंसे रहित है । (२) ज्ञानी भावान्तरोंका ज्ञायकमात्र होनेसे सर्व भावान्तरोंके आलम्बनसे रहित है ।

दृष्टि—१– शून्यनय (१७३) । २– अकर्तृनय (१९०), अभोक्तृनय (१९२) ।

स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात् । न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टो ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्। अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो न कांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात् । ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ।। २१५ ।।

तस्स तस्य–षष्ठी एक० । सो सः–प्रथमा एक० । णिच्चं नित्यं–अव्यय । कंखां कांक्षां–द्वितीया एक० । अणागयस्स अनागतस्य–षष्ठी एक० । य च–अव्यय । उदयस्स उदयस्य–षष्ठी एक० । ण न–अव्यय । कुव्वए करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एकवचन ।। २१५ ।।

अज्ञानमय भावरूप वांछाका अभाव है इस कारण अनागत कर्मके उदयका उपभोग भी ज्ञानीके परिग्रह नहीं है । **भावार्थ**—अतीत उपभोग तो बीत ही चुका, ज्ञानी उसका स्मरण ही नहीं करता, अनागतकी वांछा नहीं करता और वर्तमानके भोगमें राग नहीं करता, वह तो उपभोगको हेय जानता उसमें राग किस तरह हो सकता है ? अतः ज्ञानीके तीनों ही कालके कर्मके उदयका उपभोग परिग्रह नहीं है । कदाचित् ज्ञानी वर्तमानमें उपभोगके कारण जो मिलाता है सो पीड़ा न सही जा सकनेके कारण रोगीकी तरह उसका इलाज करता है सो यह चारित्रमोहोदयज निर्बलताका दोष है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी किसी भी परद्रव्य व परभावको नहीं चाहता । अब इस गाथामें इस ही तथ्यका सयुक्तिक निरूपण किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वसंवेदनजन्य अलौकिक आनन्द पाने वाला ज्ञानी अतीत उपभोग का स्मरण भी नहीं करता है । (२) स्वसम्वेदनकी धुन रखने वाला ज्ञानी भावी उपभोगकी कल्पना भी नहीं करता है । (३) शुद्ध ज्ञानानन्दानुभवको ही सार जानने वाला ज्ञानी वर्तमान उपभोगसे हटनेका ही आशय रखता है । (४) वर्तमान उपभोगमें भी अज्ञानमय राग न होनेसे ज्ञानीका वर्तमान उपभोग भी परिग्रह नहीं है । (५) जिस ज्ञानीके वर्तमान उपभोग भी परिग्रह नहीं उसके अतीत व भावी उपभोगके परिग्रहपनेकी सम्भावना ही क्या है ? (६) किसी भी परद्रव्यका आलम्बन जहाँ नहीं है वह परिणाम स्वसंवेदनज्ञानरूप हो जाता है । (७) सहज ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वकी प्रतीति रखने वाले ज्ञानीका चित्त वैषयिकसुखानन्दकी वासना से रहित होता है । (८) शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावनासे संतुष्ट ज्ञानी ही अभेद परमार्थ ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है । (९) अभेद परमार्थ ज्ञानस्वरूप ही सहज परमात्मतत्त्व है । (१०) सहज परमात्मतत्त्वका अनुभवी ही परमात्मपदस्वरूप मोक्षको प्राप्त होता है ।

तद्भवनापूर्वं स विनश्यति कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो विनश्यति । किं स वेदयते ? इति कांक्ष्यमाणभाववेदनानवस्था । तां च

उभय, अपि, न, कदा, अपि । **मूलधातु**—विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, वि-णश अदर्शने दिवादि, कांक्षि कांक्षायां भ्वादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन । वेददि वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । वेदिज्जदि वेद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । समए समए समये समये–सप्तमी एक० । विणस्सदे विनश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । उहयं उभयं–प्रथमा एक० ।

हैं वे विभावभावोंके उत्पाद तथा विनाशस्वरूप होनेके कारण क्षणिक हैं । वहाँ जो वेदकभाव आगामी चाहा जाने योग्य वेद्यभावको अनुभव करता सो वह वेदकभाव जब तक बने तब तक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है । उसके नष्ट होनेपर वेदकभाव किसका अनुभव करे ? यदि वह वेदकभाव कांक्ष्यमाण वेद्यभावके बाद होने वाले अन्य वेद्यभावको वेदन करता है तो उसके होनेसे पहले ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब उस वेद्यभावको कौन वेद सकता है ? यदि वेदकभावके बाद होने वाला अन्य वेदकभाव उस वेद्यभावको वेदेगा तो उस वेदकभावके होनेके पहले वह वेद्यभाव नष्ट हो गया तब वह वेदकभाव कौनसे भावको वेदे ? ऐसा कांक्षमाणभाव अर्थात् वेदनेकी वांछामें आने योग्य भावके वेदनेकी अनवस्था है कहीं ठहराव ही नही हो पायगा । अतः उस अनवस्थाको जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी इच्छा नहीं करता । **भावार्थ**—वेदकभाव और वेद्यभाव इन दोनोंमें काल भेद है याने जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है । इसलिये ज्ञानी दोनोंको विनाशीक जानकर तथा वेद्यभाव कभी वेदा ही नहीं जा सकता यह जानकर आप जानने वाला ही रहता है ।

अब इसी अर्थका स्पष्टीकरण करनेके लिये कलशरूप काव्य कहते हैं—**वेद्य** इत्यादि । **अर्थ**—वेद्यवेदकभावके चलायमान होनेसे याने समय समयमें नष्ट होते रहनेसे वांछितभाव वेदा ही नहीं जाता । इस कारण ज्ञानी कुछ भी आगामी भोगोंकी वांछा नहीं करता और सभीसे वैराग्यको प्राप्त होता है । **भावार्थ**—वेद्यवेदक विभावके कालभेद है इसलिये उन दोनों भावोंके योगकी विधि मिलती नहीं तब उपभोगकी वांछा ज्ञानी क्यों करेगा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी भावी उपभोगको नहीं चाहता है । अब इस गाथामें उसका कारण बताया गया कि ज्ञानी आगामी उपभोगको क्यों नहीं चाहता है ?

तथ्यप्रकाश—(१) सुख दुःखादिको भोगने वाला रागादिविकल्प वेदकभाव है ।

तथाहि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्भवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

संसारदेहविषयक, जो हैं बन्धोपभोगके कारण ।
उन सब अध्यवसानों-में ज्ञानी राग नहिं करता ॥२१७॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः । संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः कतरेऽपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः । यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः । यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः । यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः । नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रति-

नामसंज्ञ—बंधुवभोगणिमित्त, अज्भवसाणोदय, णाणि, संसारदेहविसय, ण, एव, राग । **धातुसंज्ञ**—उद्-पज्ज गतौ । **प्रातिपदिक**—बन्धोपभोगनिमित्त, अध्यवसानोदय, ज्ञानिन्, संसारदेहविषय, ण, एव, राग । **मूलधातु**—उत् पद गतौ चुरादि । **पदविवरण**—बंधुवभोगणिमित्ते बन्धोपभोगनिमित्तेषु–सप्तमी

वे बंधके निमित्तभूत है और जितने अध्यवसानोदय शरीरविषयक हैं उतने वे उपभोगके निमित्तभूत हैं । सो जितने बंधके निमित्तभूत हैं उतने तो रागद्वेष मोह आदिक हैं और जितने उपभोगके निमित्तभूत है उतने सुख-दुःखादिक हैं । इन सबमें ही ज्ञानीके राग नहो है, क्योंकि अध्यवसान नाना द्रव्योंका स्वभाव है अतः टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाले ज्ञानीके उसका प्रतिषेध है । **भावार्थ**—संसार देहभोग सम्बन्धी रागद्वेष मोह अध्यवसान हैं और सुख-दुःखादिक भी अध्यवसान हैं वे नाना द्रव्यके स्वभाव है अर्थात् पुद्गल तथा जीवद्रव्यके संयोगरूपसे हुए हैं । ज्ञानी तो अपनेको एक ज्ञायकस्वभाव मानता है, अतः ज्ञानीके अध्यवसानोंका प्रतिषेध है, ज्ञानीके उनमें प्रीति नहीं है ।

अब इसी अर्थको श्लोकमें कहते हैं—**ज्ञानिनो** इत्यादि । **अर्थ**—रागरससे रिक्त होने के कारण कर्म परिग्रहभावको नहीं प्राप्त होता । जैसे कि लोध फिटकरीसे कषायला नहीं किये गये वस्त्रमें रंगका लगना अङ्गीकार न हुआ वस्त्रपर बाहर ही लोटता है याने वस्त्रमें प्रवेश नहीं करता । **भावार्थ**—जैसे लोध फिटकरी लगाये बिना वस्त्रपर रंग नहीं चढ़ता उसी तरह ज्ञानीके राग भावके बिना कर्मके उदयका भोग परिग्रहपनेको प्राप्त नहीं होता ।

पुनः **ज्ञानवान्** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी निजरससे ही समस्त रागरसके त्यागरूप स्वभाव वाला है, इस कारण कर्मके मध्यमें पड़ा हुआ भी वह समस्त कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्भे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्भे जहा लोहं ॥२१९॥ (युग्मम्)

सब द्रव्योंमें ज्ञानी, रागप्रमोचन स्वभाव वाला है ।
कर्ममध्यगत रजसे, लिप्त न ज्यौं कीचमें सोना ॥२१८॥
किन्तु अज्ञानसेवी, सब द्रव्योंमें प्ररक्त रहता सो ।
कर्ममध्यगत सबसे, लिप्त यथा कीचमें लोहा ॥२१९॥

ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः । नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं ॥२१८॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः । लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं ॥२१९॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते तदलेपस्वभावत्वात् । तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभाव-

---

नामसंज्ञ—णाणि, रागप्पजह, सव्वदव्व, कम्ममज्भगद, णो, रजय, दु, कद्दममज्भ, जहा, कणय, अण्णाणि, पुण, रत्त, सव्वदव्व, कम्मज्भगद, कम्मरय, दु, कदममज्भ, जहा, लोह । **धातुसंज्ञ**—जहा त्यागे, लिंप लेपने । **प्रातिपदिक**—ज्ञानिन्, रागप्रहाय, सर्वद्रव्य, कर्ममध्यगत, नो, रजस्, तु, कर्दममध्य, यथा, कनक, अज्ञानिन्, पुनर्, रक्त, सर्वद्रव्य, कर्ममध्यगत, कर्मरजस्, तु, कर्दममध्य, यथा, लोह । **मूलधातु**—ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, लिप उपदेहे तुदादि । **पदविवरण**—णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । रागप्पजहो

[**कर्मरजसा**] कर्मरजसे [**लिप्यते**] लिप्त होता है [**यथा**] जैसे कि [**कर्दममध्ये**] कीचमें पड़ा हुआ [**लोहं**] लोहा ।

तात्पर्य—अज्ञानी रागी होनेसे बँधता है, ज्ञानी विरक्त होनेसे नहीं बँधता ।

टीकार्थ—जैसे निश्चयसे सुवर्ण कीचड़के बीचमें पड़ा हुआ भी कीचड़से लिप्त नहीं होता, क्योंकि सुवर्णका स्वभाव कर्दमसे न लिपनेके स्वभाव वाला ही है; उसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्मके बीचमें पड़ा हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञानी सब परद्रव्यगत-रागके त्यागके स्वभावपनेके होनेके कारण कर्मसे अलिप्तस्वभावी है । तथा जैसे लोहा कर्दमके मध्य पड़ा हुआ कर्दमसे लिप्त हो जाता है, क्योंकि लोहेका स्वभाव कर्दमसे लिप्त होनेरूप ही है; उसी तरह अज्ञानी प्रकटपने कर्मके बीच पड़ा हुआ कर्मसे लिप्त होता है, क्योंकि अज्ञानी सब परद्रव्योंमें किये गये रागका उपादान स्वभाव होनेसे कर्ममें लिप्त होनेके स्वभाव वाला है । **भावार्थ**—जैसे कीचड़में पड़े हुए सुवर्णके काई मैल जंग नहीं लगता, और लोहेके काई

शक्यते । अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेत् ज्ञानं भवत्संततं ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ।।१५०।। ।। २१८-२१९ ।।

दव्वेसु सर्वद्रव्येषु–सप्तमी बहु० । कम्ममज्झगदो कर्ममध्यगतः–प्र० एक० । लिप्पदि लिप्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । कम्मरएण कर्मरजसा–तृतीया एक० । दु तु–अव्यय । कद्दममज्झे कर्दममध्ये– सप्तमी एक० । जहा यथा–अव्यय । लोहं–प्रथमा एकवचन ।। २१८-२१९ ।।

राजी होनेके कारण कर्मसे लिपनेके स्वभाव वाला है जैसे कि कर्दममें पड़ा हुआ लोहा कर्दमसे लिपनेके स्वभाव वाला है । (५) जीवका बन्धन अज्ञानके कारण होता है बाह्य वस्तुके उपभोगके कारण नहीं ।

सिद्धान्त—(१) एक द्रव्यके द्वारा दूसरा द्रव्य परिणमाया नहीं जा सकता । (२) द्रव्य स्वयंके परिणमनके द्वारा स्वयंकी परिणति क्रियासे स्वयंमें परिणमता है ।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) । २– कारककारकिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय (७३) ।

प्रयोग—स्वभाव व परभावमें अभेदबुद्धि न होकर स्वभावमें उपयुक्त होनेपर कर्मलेप नहीं होता है ऐसे निर्णयके बलसे स्वभावके अभिमुख रहनेका पौरुष करना ।। २१८-२१९ ।।

अब पूर्व गाथाके अर्थको दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं—**[विविधानि]** अनेक प्रकारके **[सचित्ताचित्तमिश्रितानि]** सचित्त अचित्त और मिश्रित **[द्रव्याणि]** द्रव्योंको **[भुंजानस्यापि]** भक्षण करते हुए भी **[शंखस्य]** शंखका **[श्वेतभावः]** सफेदपना **[कृष्णकः कर्तुं]** काला किया जानेके लिये **[नापि शक्यते]** रंच भी शक्य नहीं **[तथा]** उसी तरह **[विविधानि]** अनेक प्रकारके **[सचित्ताचित्तमिश्रितानि]** सचित्त अचित्त और मिश्रित **[द्रव्याणि]** द्रव्योंको **[भुंजानस्यापि]** भोगते हुए भी **[ज्ञानिनः]** ज्ञानीका **[ज्ञानं अपि]** ज्ञान भी **[अज्ञानतां नेतुं न शक्यं]** अज्ञानपनेको किया जाना शक्य नहीं है । और जैसे **[स एव शंखः]** वही शंख **[यदा]** जिस समय **[तकं श्वेतस्वभावं]** अपने उस श्वेतस्वभावको **[प्रहाय]** छोड़कर **[कृष्णभावं]** कृष्णभावको **[गच्छेत्]** प्राप्त होवे **[तदा]** तब **[शुक्लत्वं]** सफेदपनको **[प्रजह्यात्]** छोड़ देता है **[तथा]** उसी तरह **[ज्ञानी अपि]** ज्ञानी भी **[खलु यदा]** निश्चयसे जब **[तकं ज्ञानस्वभावं]** अपने उस ज्ञानस्वभावको **[प्रहाय]** छोड़कर **[अज्ञानेन परिणतः]** अज्ञानरूपसे परिणत होवे **[तदा]** उस समय **[अज्ञानतां]** अज्ञानपनेको **[गच्छेत्]** प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—ज्ञानी किसी भी परद्रव्यके द्वारा अज्ञानरूप नहीं हो सकता है ।

टीकार्थ—जैसे परद्रव्यको भक्षण करते हुए भी शंखका श्वेतपन परद्रव्यके द्वारा काला

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि। शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं।
तथा ज्ञानिनोऽपि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि। भुंजानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुं ।।२२१।।
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय। गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ।।२२२।।
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय। अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ।।२२३।।

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः। यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्। तथा यदा स

संख, सेदसहाव, तय, किण्हभाव, तइया, सुक्कत्तण, तह, णाणि, वि, हु, जइया, णाणसहाव, तय, अण्णाण, परिणद, तइया, अण्णाणद। **धातुसंज्ञ**—भुंज भक्षणे भोगे च, सक्क सामर्थ्ये, कर करणे, ने प्रापणे, प-जहा त्यागे, गच्छ गतौ। **प्रातिपदिक**—भुंजान, अपि, विविध, सचित्ताचित्तमिश्रित, द्रव्य, शंख, श्वेतभाव, न, अपि, कृष्णक, तथा, ज्ञानिन्, अपि, विविध, सचित्ताचित्तमिश्रित, द्रव्य, भुंजान, अपि, ज्ञान, न, शक्य,

---

इस कारण ज्ञानीके परका किया बन्ध नहीं है आप ही अज्ञानी बने तब अपने अपराधके कारण से बंध होता है। **भावार्थ**—जैसे शंख सफेद है वह काले पदार्थको भक्षण करे तो भी काला नहीं होता, जब स्वयं ही कालिमारूप परिणमे तब काला होता है उसी प्रकार ज्ञानी उपभोग करता हुआ भी अज्ञानरूप नहीं होता जब वह स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमन करे तब अज्ञानी होता है, तभी अज्ञानके कारण बंध करता है।

अब इस तथ्यको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**ज्ञानिन्** इत्यादि। **अर्थ**—हे ज्ञानी ! तुझे कुछ भी कर्म करनेके लिये उचित नहीं है तो भी यदि यह कहा जा रहा है कि परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूं सो यह बड़े खेदकी बात है कि जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है सो तू खोटा खाने वाला है। यदि तू कहे कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता ऐसा सिद्धान्तमें कहा इसलिये भोगता हूं, तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप हुआ अपने स्वरूपमें निवास कर तो बंध नहीं है अन्यथा याने यदि भोगनेकी इच्छा करेगा तो तू निश्चित अपने अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा। **भावार्थ**—परद्रव्यके भोगने वालेको तो लोकमें चोर अन्यायी कहते हैं। सिद्धान्तमें जो उपभोगसे बंध नहीं कहा है वह ऐसे है कि ज्ञानी यदि इच्छाके बिना परकी बरजोरीसे उदयमें आयेको भोगे तो उसके बंध नहीं कहा और जो इच्छासे भोगेगा तो आप स्वयं अपराधी हुआ, तब बंध क्यों न होगा ?

अब इसी अर्थका दृढ़ीकरण काव्यमें करते हैं—**कर्तारं** इत्यादि। **अर्थ**—कर्म अपने

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्, कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः। ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा, कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥ ॥ २२०-२२३ ॥

सेदभावो श्वेतभावः–प्रथमा एक०। ण न–अव्यय। वि अपि–अव्यय। सक्कदि शक्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मवाच्य क्रिया। किण्हगो कृष्णकः–प्रथमा एक०। काउं कर्तुं–कृदन्त प्रयोजनार्थे। तह तथा–अव्यय। णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक०। वि अपि–अव्यय। सच्चित्ताचित्तमिस्सिए सचित्ताचित्तमिश्रितानि–द्वि० बहु०। दव्वे द्रव्याणि–द्वितीया बहु०। भुंजंतस्स भुंजानस्य–षष्ठी एक०। वि अपि–अव्यय। णाणं ज्ञानं–प्रथमा एक०। ण न–अव्यय। सक्कं शक्यं–प्रथमा एक०। अण्णाणदं अज्ञानतां–द्वि० एक०। णेदुं नेतुं–कृदन्त प्रयोजनार्थे। जइया यदा–अव्यय। स सः–प्रथमा एक०। एव–अव्यय। संखो शंखः–प्रथमा एकवचन। सेदसहावं श्वेतस्वभावं–द्वितीया एक०। तयं तकं–द्वितीया एकवचन। पजहिदूण प्रहाय–असमाप्तिकी क्रिया। गच्छेज्ज गच्छेत्–विधिलिङ् अन्य पुरुष एकवचन। किण्हभावं कृष्णभावं–द्वितीया एकवचन। तइया तदा–अव्यय। सुक्कत्तणं शुक्लत्वं–द्वि० ए०। पजहे प्रजह्यात्–लिङ् अन्य पुरुष एक० क्रिया। तह तथा–अव्यय। णाणी ज्ञानी–प्र० ए०। णाणसहावं ज्ञानस्वभावं–द्वि० ए०। तयं तकं–द्वि० ए०। पजहिदूण प्रहाय–अव्यय। अण्णाणेण अज्ञानेन–तृ० ए०। परिणदो परिणतः–प्र० ए०। तइया तदा–अव्यय। अण्णाणदं अज्ञानतां–द्वि० ए०। गच्छेज्ज गच्छेत्–लिङ् अन्य पुरुष एकवचन ॥२२०–२२३॥

दृष्टि—१–अकर्तृत्वनय (१९०)। २–अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—वस्तुतः परद्रव्यका उपभोग किया ही नहीं जा सकता, मात्र मिथ्या विकल्प ही भोगा जा पाता यह तथ्य जानकर भोगनेकी इच्छा छोड़कर ज्ञानानुभूतिका ज्ञानरूप पौरुष करना। २२०–२२३॥

अब पूर्वोक्त गाथार्थको दृष्टांतसे दृढ़ करते हैं:— [**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोकमें [**कोपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं तु**] आजीविकाके लिये [**राजानं**] राजाको [**सेवते**] सेवता है [**तत्**] तो [**स राजापि**] वह राजा भी उसको [**सुखोत्पादकान्**] सुखके उपजाने वाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोगोंको [**ददाति**] देता है [**एवमेव**] इसी तरह [**जीवपुरुषः**] जीव नामक पुरुष [**सुखनिमित्तं**] सुखके लिये [**कर्मरजः**] कर्मरूपी रजको [**सेवते**] सेवता है [**तत्**] तो [**तत्कर्म अपि**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुखके उपजाने वाले [**विविधान् भोगान्**] अनेक प्रकारके भोगोंको [**ददाति**] देता है [**पुनः**] और [**यथा**] जैसे [**स एव पुरुषः**] वही पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं**] आजीविकाके लिये [**राजानं**] राजा को [**न सेवते**] नहीं सेवता है [**तत्**] तो [**स राजा अपि**] वह राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुखके उपजाने वाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोगोंको [**न ददाति**] नहीं देता है [**एवमेव**] इसी तरह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**विषयार्थं**] विषयोंके लिये [**कर्मरजः**] कर्म-

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं। तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं। तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं। तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखो०।
एवमेव सम्यग्दृष्टिर्विषयार्थं सेवते न कर्मरजः। तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।

यथा कश्चित्पुरुषः फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति। तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति। यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति। तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यं। त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं, किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्। तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो

भोग, सुखोत्पादक, एवं, एव, जीवपुरुष, कर्मरजस्, सुखनिमित्त, तत्, तत्, अपि, कर्मन्, विविध, भोग, सुखोत्पादक, यथा, पुनर्, तत्, एव, पुरुष, वृत्तिनिमित्त, न, राजन्, तत्, तत्, अपि, न, राजन्, विविध, भोग, सुखोत्पादक, एवं, एव, सम्यग्दृष्टि, विषयार्थं, न, कर्मरजस्, तत्, तत्, न, कर्मन्, विविध, भोग, सुखोत्पादक। **मूलधातु**—सेव सेवायां, डुदाञ् दाने जुहोत्यादि। **पदविवरण**—पुरिसो पुरुषः—प्रथमा ए०। जह यथा—अव्यय। को कः—प्रथमा एक०। वि अपि—अव्यय। इह—अव्यय। वित्तिणिमित्तं वृत्तिनिमित्तं—

फल नहीं देता। उसी तरह सम्यग्दृष्टि फलके लिये कर्मको नहीं सेवता तो वह कर्म भी उसको फल नहीं देता, यह कहनेका तात्पर्य है। **भावार्थ—** कोई फलकी इच्छासे कर्म करे तो उसका फल मिलता है इच्छाके बिना कर्म करे तो उसका फल नहीं मिलता। ज्ञानीपर पूर्वकर्मविपाकवश कुछ घटना बने तो भी उससे अलग रहता हुआ ज्ञानस्वभावमें ही रुचि रखता है, अतः न अब वैसा कर्मफल मिला और वैसा कर्मबन्ध न होनेसे आगे भी कर्मफल न मिलेगा।

अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि जिनको फलकी इच्छा नहीं है, वह कर्म क्यों करेगा इसके समाधानमें काव्य कहते हैं—**त्यक्तं** इत्यादि। **अर्थ**—जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है और कर्म करता है यह हम विश्वास नहीं करते परंतु यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञानीके भी किसी कारणसे कुछ कर्म इसके वश बिना आ पड़ते हैं उनके आनेपर भी यह ज्ञानी निश्चल परमज्ञानस्वभावमें ठहरता हुआ कुछ कर्म करता है या नहीं करता यह कौन जानता है। **भावार्थ**—ज्ञानीके परवशतासे कर्म आ पड़े हैं, उनके होनेपर भी ज्ञानी ज्ञानसे चलायमान नहीं होता, ऐसे परमज्ञानस्वभावमें स्थित हुआ यह ज्ञानी कर्म करता है कि नहीं यह बात कौन जान सकता है, ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है अज्ञानीका सामर्थ्य ज्ञानीके परिणामको जाननेका नहीं है। यहाँ ज्ञानी कहनेसे अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी समझना। उनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा आहार विहार करने वाले मुनियोंकी बाह्यक्रिया प्रवर्तती है तो भी अंतरंग मिथ्यात्वके अभावसे तथा यथासंभव कषायके अभावसे परिणाम

विहाय स्वयं जानंत: स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ।।१५४।। ।। २२४-२२७ ।।

बहु० । जह यथा–अव्यय । पुण पुनः–अव्यय । सो सः–प्रथमा एक० । चिय चैव–अव्यय । पुरिसो पुरुषः–प्रथमा एक० । वित्तिणिमित्तं वृत्तिनिमित्तं–क्रियाविशेषण । ण न–अव्यय । सेवदे सेवते, रायं राजानम्–द्वि० एक० । सो सः–प्रथमा एक० । ण न–अव्यय । सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्र० ए० । विषयत्थं विषयार्थं–अव्यय । सेवए सेवते, ण न, कम्मरयं कर्मरजः–द्वि० ए० । सो सः, ण न, देइ ददाति, कम्मो कर्म–प्र० ए० । विविहे विविधान्, भोए भोगान्, सुहुप्पाए सुखोत्पादकान्–द्वितीया वहुवचन ।। २२४-२२७ ।।

सुखके लिये नहीं सेवने वाले ज्ञानीको वह कर्म विषयसुखोत्पादक शुद्धात्मभावनाविनाशक रागादिभावोंका कारण नहीं बनता । (४) कर्मफलका परित्याग करने वाले ज्ञानीपर कर्मविपाकवश कुछ परिस्थिति पड़नेपर भी वह तो निष्कंप ज्ञानस्वभावके ही अभिमुख रहता है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मफलसे विरक्त शुद्धात्मभावनापरिणतके कर्मनिर्जरा होती है । (२) परभावरागसे बँधा कर्म उदयकालमें आकुलतारूप परभावोपभोगका निमित्त होता है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—भोगोपभोगकी आकांक्षारहित होकर शुद्ध अन्तस्तत्त्वका लक्ष्य रखकर भी हो रहे कर्मविपाकका मात्र जाननहार रहनेका पौरुष करना ।। २२४-२२७ ।।

अब सम्यग्दृष्टिका निःशंकित अंग कहते हैं—[**सम्यग्दृष्टयः जीवाः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**निःशंका भवंति**] निःशंक होते हैं [**तेन**] इसी कारण [**निर्भयाः**] निर्भय हैं और [**यस्मात्**] चूंकि वे [**सप्तभयविप्रमुक्ताः**] सप्तभयसे रहित हैं [**तस्मात्**] इस कारण [**निःशंकाः**] निःशंक हैं ।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि आत्मस्वरूपमें निःशंक होनेसे निर्भय है और निर्भय होनेसे निःशंक है ।

टीकार्थ— जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही समस्त कर्मोंके फलकी अभिलाषासे रहित होते हुए पूर्ण निरपेक्षतासे प्रवर्तन करते हैं इस कारण ये अत्यंत निःशंक सुदृढ़ निश्चयी होनेसे अत्यन्त निर्भय होते हैं ।

अब सप्तभयरहितका कलशकाव्योंमें वर्णन होगा उनमें इहलोक तथा परलोक संबंधी दो भयोंका निराकरण कहते हैं—**लोक** इत्यादि । **अर्थ**—यह चैतन्यस्वरूप लोक ही विविक्त आत्माका शाश्वत एक और सर्वकालमें प्रगट लोक है, क्योंकि मात्र चैतन्यस्वरूप लोकको यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव अकेला अवलोकन करता है । यह चैतन्यलोक ही तेरा है और इससे भिन्न दूसरा कोई लोक याने इहलोक या परलोक तेरा नहीं, ऐसा विचारते हुए ज्ञानीके इह-

नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५६॥ यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिर्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः। अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निःशंकः सततं

भयविप्रमुक्त, यत्, तत्, तु, निश्शंक। मूलधातु—जीव प्राणधारणे, निस्-शकि शंकायां भ्वादि। पदविवरण—सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः-प्रथमा एक०। जीवा जीवाः-प्रथमा एक०। णिस्संका निःशंकाः-प्रथमा

अब अरक्षाके भयका निराकरण करते हैं—यत् इत्यादि। अर्थ—जो सत्स्वरूप है वह कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता ऐसी नियमसे वस्तुकी मर्यादा है। यह ज्ञान भी (ज्ञानमय आत्मा भी) स्वयं सत्स्वरूप वस्तु है उसका निश्चयसे दूसरेके द्वारा रक्षण कैसा ? इस प्रकार उस ज्ञानकी अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है इस कारण ज्ञानीके अरक्षाका भय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो निःशंक होता हुआ अपने सहज ज्ञानस्वरूपका सदा स्वयं अनुभव करता है। **भावार्थ**—ज्ञानी ऐसा जानता है कि सत् कभी नष्ट नहीं होता, ज्ञान स्वयं सत्स्वरूप है इस कारण ज्ञान स्वयं ही रक्षित है। ज्ञानीके अरक्षाका भय नहीं। वह तो निःशंक रहता हुआ अपने सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

अब अगुप्तिभयका निराकरण करते हैं—स्वं रूपं इत्यादि। अर्थ—निश्चयतः वस्तुका निजरूप ही वस्तुकी परम गुप्ति है, स्वरूपमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। और अकृत सहजज्ञान ही पुरुषका स्वरूप है। अतः ज्ञानीके कुछ भी अगुप्ति नहीं है, ज्ञानीको अगुप्तिका भय कैसे हो सकता है ज्ञानी तो निःशंक हुआ निरंतर स्वयं सहज अपने ज्ञानभावका सदा अनुभव करता है। **भावार्थ**—जिसमें किसी चोर आदिका प्रवेश नहीं हो सके ऐसे गढ़ दुर्गादिकका नाम गुप्ति है, उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। और जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हुआ हो, वहाँ रहनेसे जीवको भय उत्पन्न होता है। ज्ञानी ऐसा जान चुका है कि जो वस्तुका निज स्वरूप है उसमें दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता है यही परमगुप्ति है। आत्माका स्वरूप ज्ञान है उसमें किसीका प्रवेश नहीं है। इसलिये ज्ञानीको भय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो अपने सहज ज्ञानस्वरूपका निःशंक होकर निरंतर अनुभव करता है।

अब मरणभयका निराकरण करते हैं—प्राणो इत्यादि। **अर्थ**—प्राणोंके उच्छेद होनेको मरण कहते हैं सो आत्माका प्राण निश्चयतः ज्ञान है, वह स्वयमेव शाश्वत है इसका कभी उच्छेद नहीं हो सकता, इस कारण आत्माका मरण नहीं है। तब फिर ज्ञानीके मरणका भय कैसे हो ? ज्ञानी तो निःशंक हुआ निरन्तर अपने सहज ज्ञानभावका स्वयं सदा अनुभव करता है। **भावार्थ**—इंद्रियादिक प्राणोंके विनाशको मरण कहते हैं, आत्माके इंद्रियादिक प्राण

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो, यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १६० ॥ टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः, सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म । तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः, पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥ ॥ २२८ ॥

पंचमी एकवचन । दु तु–अव्यय । निस्संका निश्शंकाः–प्रथमा बहुवचन ॥ २२८ ॥

फलाकांक्षारहित तत्त्वज्ञ आत्मा निःशङ्क और निर्भय रहते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानी कर्मफलाकांक्षारहित होनेसे कर्मनिरपेक्ष रहते हैं । (२) कर्मनिरपेक्ष रहनेसे ज्ञानीकी स्वभावाभिमुख रहनेमें निःशङ्क वृत्ति रहती है । (३) आत्मविषयमें अत्यन्त निःशङ्क होनेसे ज्ञानी अत्यन्त निर्भय रहते हैं । (४) निज सहज परमात्मतत्त्वकी भावनारूप अमृतके स्वादसे तृप्त सम्यग्दृष्टि घोर उपसर्गमें भी अविकार सहजस्वरूपकी लगनको नहीं छोड़ते । (५) सप्तभयरहित होनेसे ज्ञानी शुद्धात्मस्वरूपमें निष्कम्प निःशङ्क होते हुए स्वरूपसे च्युत नहीं होते । (६) ज्ञानी सहज स्वयं अमर ज्ञानस्वरूपको ही लोक व पर (उत्कृष्ट) लोक माननेके कारण इहलोक परलोकभयसे रहित होते हैं । (७) वस्तुतः ज्ञानस्वरूप यह निज आत्मा ही सदा वेदा जाता है अन्य पदार्थ नहीं, इस निर्णयके कारण ज्ञानी वेदनाभयसे रहित होते हैं । (८) अविनाशी निज सत्त्वको देखकर ज्ञानी अत्राणभयसे रहित होते हैं । (९) परप्रवेशरहित सहज गुप्त अन्तस्तत्त्वको निरखकर ज्ञानी अगुप्तिभयसे रहित होते हैं । (१०) दर्शनज्ञानमय वास्तविक प्राणकी शाश्वतता निरखकर ज्ञानी मरणभयसे रहित होते हैं । (११) अन्य परिणामसे अत्यन्त विविक्त अचल आत्मस्वभावको निरखकर ज्ञानी आकस्मिक भयसे रहित होते हैं ।

सिद्धान्त—(१) सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध निर्दोष सहजपरमात्मतत्त्वकी आराधना करते हुए निःशङ्क रहते हैं ।

दृष्टि—१– उपादानदृष्टि (४६ब) ।

प्रयोग—निर्दोष सहजसिद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनाके पौरुषके बलसे निःशङ्क व निर्भय रहना ॥ २२८ ॥

अब अष्ट अङ्गोंमें से प्रथम निःशङ्कित अङ्गका प्रताप कहते हैं—[यः] जो [चेतयिता] आत्मा [कर्मबंधकरान्] कर्मबन्धके हेतुभूत मोहके करने वाले [तान् चतुरोपि पादान्] मिथ्यात्वादिभावरूप चारों पादोंको [छिनत्ति] काटता है [सः] वह आत्मा [निःशंकः सम्यग्दृष्टिः]

भावान्निश्शंकः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२२६॥

बहु० । छिंददि छिनत्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । ते तान्–द्वितीया बहु० । कम्मबंधमोहकरे कर्मबन्धमोहकरान्–द्वितीया बहु० । सो सः–प्रथमा एकवचन । णिस्संको निःशंकः–प्रथमा एक० । चेदा चेतयिता–प्रथमा एक० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ २२६ ॥

सम्यग्दृष्टिके नहीं है । (६) शुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वमें निःशंक निर्भय निष्कम्प ज्ञानीके पूर्वबद्धकर्मनिर्जरा निश्चित है ।

सिद्धान्त—(१) निरास्रव शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावना परिणत ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—निरास्रव शुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्वकी अनुभूतिका पौरुष करना ॥ २२६ ॥

आगे निःकांक्षित गुण कहते हैं:—[**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**कर्मफलेषु**] कर्मोंके फलोंमें [**तथा**] तथा [**सर्वधर्मेषु**] समस्त वस्तुधर्मोंमें [**कांक्षां**] वांछा [**न तु**] नहीं [**करोति**] करता है [**सः**] वह आत्मा [**निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः**] निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—किसी भी परभावमें व परद्रव्यमें ज्ञानी इच्छा नहीं करता है अतः वह निःकांक्ष है ।

टीकार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपनेसे सब ही कर्मोंके फलोंमें तथा सभी वस्तुके धर्मोंमें वांछाके अभावसे निर्वांछक है, इस कारण इसके कांक्षा (इच्छा) कृत बंध नहीं है किन्तु निर्जरा ही है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिके कर्मफलमें तथा सब धर्मोंमें अर्थात् कांच सोना आदि पदार्थोंमें निन्दा प्रशंसा आदिक वचनरूप पुद्गलके परिणमनमें अथवा एकान्तिवादियों द्वारा माने हुए अनेक प्रकारके सर्वथा एकांतरूप व्यवहार धर्मके भेदोंमें वांछा नहीं है । इस कारण ज्ञानीके वांछाकृत बंध नहीं है । वर्तमानकी पीड़ा सही नहीं जानेसे उसके मेटनेके इलाजकी वांछा चारित्रमोहके उदयसे है । सो यह उसका आप कर्ता नहीं होता, कर्मका उदय जानकर उसका ज्ञाता है । इस कारण ज्ञानीके वांछाकृत बंध नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें निःशंकित अङ्गधारी सम्यग्दृष्टिका वर्णन किया था । अब क्रमप्राप्त इस गाथामें क्रमप्राप्त निःकांक्षित अङ्गधारीका वर्णन किया है ।

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

जो नहिं करे जुगुप्सा, समस्त धर्मों व वस्तुधर्मोंमें ।
है वह निर्विचिकित्सक, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३१॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां । स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२३१॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साऽभावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः किंतु निर्जरैव ॥२३१॥

नामसंज्ञ—ज, ण, जुगुप्प, चेदा, सव्व, एव, धम्म, त, खलु, णिव्विदिगिच्छ, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, मुण ज्ञाने । **प्रातिपदिक**—यत्, न, जुगुप्सा, चेतयितृ, सर्व, एव, धर्म, तत्, खलु, निर्विचिकित्स, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, मन ज्ञाने दिवादि । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन । ण न–अव्यय । करेदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जुगुप्पं जुगुप्सां–द्वितीया एक० । चेदा चेतयिता–प्रथमा एक० । सव्वेसि सर्वेषां–षष्ठी बहु० । एव–अव्यय । धम्माणं धर्माणां–षष्ठी बहु० । सो सः–प्रथमा एक० । खलु–अव्यय । णिव्विदिगंछो निर्विचिकित्सः–प्रथमा एक० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्र० ए० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त ॥ २३१ ॥

ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—जो क्षुधादि दोषोंमें उद्विग्नता व अशुचि पदार्थोंमें ग्लानि नहीं करता वह निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि है ।

टीकार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयपने से सभी वस्तु धर्मोंमें जुगुप्साके अभावसे निर्विचिकित्स याने ग्लानिरहित है इस कारण इसके विचिकित्साकृत बंध नहीं है, किन्तु निर्जरा ही होती है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि क्षुधादि कष्टोंमें उद्विग्नता नहीं करता तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्योंमें ग्लानि नहीं करता व जुगुप्सानामक कर्मप्रकृतिके उदय से जो भाव आता है वह परभाव है उसका कर्ता नहीं होता है । इस कारण ज्ञानीके जुगुप्साकृत बंध नहीं है । प्रकृति रस (फल) खिराकर निकल जाती है इस कारण निर्जरा ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगका वर्णन किया गया था । अब इस गाथामें क्रमप्राप्त निर्विचिकित्सित अंगका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–सहजशुद्धात्मतत्त्वकी भावना होनेके कारण सम्यग्दृष्टि समस्त वस्तुधर्मोंमें ग्लानि, निंदा, दोष व द्वेष नहीं करता । २–सम्यग्दृष्टि दुर्गन्धादिकमें खेद नहीं मानता । ३–सम्यग्दृष्टि क्षुधा आदि वेदनाओंमें म्लान नहीं होता । ४–सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जनोंकी सेवामें ग्लानि, निन्दा, दोष व द्वेष दृष्टि नहीं करता । ५– परद्रव्यद्वेषनिमित्तक बन्ध सम्यग्दृष्टिके नहीं

दृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३२॥

असंमूढः–प्रथमा एक० । चेदा चेतयिता–प्रथमा एक० । सव्वेसु सर्वेषु–सप्तमी बहु० । कम्मभावेषु कर्मभावेषु–सप्तमी बहु० । सो सः–प्रथमा एक० । अमूढदिट्ठी अमूढदृष्टिः–प्र० एक० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्रथमा एक० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया ॥ २३२ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सम्यग्दृष्टिके निर्विचिकित्सित अङ्गका वर्णन किया गया था । अब इस गाथामें अमूढदृष्टि अंगका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–सम्यग्दृष्टि निजसहजात्मत्वके श्रद्धान ज्ञान आचरणके बलसे शुभाशुभकर्मजनित परिणामोंमें निर्मोह रहता है । २–सम्यग्दृष्टि बाह्यविषयोंमें अमूढ रहता है । ३–सम्यग्दृष्टि परसमयमें मूढ नहीं है । ४–सम्यग्दृष्टिके मूढताकृत बन्ध नहीं है ।

सिद्धान्त—१–निश्चयरत्नत्रयभावनाके बलसे जीव परभावोंमें मूढ नहीं होता ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कर्मविपाकज समस्त भावोंको आत्मस्वरूपसे भिन्न जानकर उनमें सर्वथा असम्मूढ रहना ॥२३२॥

अब उपगूहन गुण कहते हैं—[यः] जो जीव [सिद्धभक्तियुक्तः] सिद्धोंकी भक्तिसे युक्त हो [तु] और [सर्वधर्माणां] औपाधिक सब धर्मोंका [उपगूहनकः] गोपने वाला हो [सः] वह [उपगूहनकारी] उपगूहनकारी [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्य—जो विकारभावोंको प्रकट न होने दे और आत्मशक्तिको बढ़ावे वह ज्ञानी स्थितिकरणपालक है ।

टीकार्थ—सम्यग्दृष्टि निश्चयसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपनेसे समस्त आत्मशक्तियोंको बढ़ानेसे उपबृंहक होता है, इस कारण इसके जीवशक्तिके दुर्बलपनेसे किया गया बंध नहीं है किंतु निर्जरा ही है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि जीव आश्रयभूत पदार्थका त्यागकर विकार भावोंको प्रकट नहीं होने देता और अन्तःप्रकाशमान निज ज्ञायक भावको ही ज्ञानमें रखता है, वह सम्यग्दृष्टि उपगूहक है व उपबृंहक है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सम्यग्दृष्टिके अमूढदृष्टि अंगका वर्णन किया गया था । अब इस गाथामें क्रमप्राप्त उपगूहन अंगका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१–सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मभावनारूप पारमार्थिक सिद्धिभक्तिसे युक्त है । २– सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वरागादिविभावधर्मोंका प्रच्छादक होता है, विनाशक होता है ।

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गमें पतित निज, परको जो मार्गमें लगाता है।
वह मार्गस्थापक है, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥२३४॥

उन्मार्ग गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता। स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२३४॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३४॥

नामसंज्ञ—उम्मग्ग, गच्छंत, सग, पि, मग्ग, ज, चेदा, त, ठिदिकरणाजुत्त, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व। **धातुसंज्ञ**—गच्छ गतौ, ट्ठव स्थापनायां। **प्रातिपदिक**—उन्मार्ग, गच्छत्, स्वक, अपि, मार्ग, यत्, चेतयितृ, तत्, स्थितिकरणयुक्त, सम्यग्दृष्टि, मंतव्य। **मूलधातु**—गम्लृ गतौ, ष्ठा गतिनिवृत्तौ णिजंत। **पदविवरण**—उम्मग्गं उन्मार्ग–द्वितीया एक०। गच्छंतं–द्वि० ए०। सगं स्वकं–द्वि० ए०। पि अपि–अव्यय। मग्गे मार्गे–सप्तमी एक०। ठवेदि स्थापयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। जो यः–प्रथमा एक०। चेदा चेतयिता–प्रथमा एक०। सो सः–प्रथमा एक०। ठिदिकरणाजुत्तो स्थितिकरणयुक्तः–प्रथमा एक०। सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्र० ए०। मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ॥ २३४ ॥

जाते हैं इसलिये निर्जरा ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सम्यग्दृष्टिके उपगूहन अंगका वर्णन किया गया था। अब क्रमप्राप्त स्थितिकरण अंगका इस गाथामें वर्णन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१–कर्मविपाकवश मिथ्यात्वरागादिरूप उन्मार्गमें जानेके अवसरमें स्वयं को सम्यग्दृष्टि अध्यात्मयोग पौरुषसे रत्नत्रयरूप सन्मार्गमें स्थापित करता है। २–उन्मार्गमें जाते हुए परको सम्यग्दृष्टि सद्वचनादिके सहयोगसे सन्मार्गमें स्थापित करता है। ३–मार्गच्यवन कृत बन्ध सम्यग्दृष्टिके नहीं है।

सिद्धान्त—१–ज्ञानमयताके कारण ज्ञानी अपनेको शिवमार्गमें स्थित रखता है।

दृष्टि—१–कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहारनय (७३)।

प्रयोग—अपनेको ज्ञानमात्र निरखते हुए अपने रत्नत्रयमार्गमें स्थित रहनेका उपयोग रखना ॥२३४॥

आगे वात्सल्य गुणकी गाथा कहते हैं—[यः] जो जीव [**मोक्षमार्गे**] मोक्षमार्गमें स्थित [**त्रयाणां साधूनां**] आचार्य उपाध्याय साधुवोंका अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों सम्यग् भावोंका [**वत्सलत्वं**] वात्सल्य [**करोति**] करता है [**सः**] वह [**वत्सलभावयुतः**] वत्सलभावसहित [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि है [**ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिये।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

विद्यारथ आरोही, जो हितकर मार्गको प्रकट करता ।
वह है ज्ञानप्रभावी, सम्यग्दृष्टी उसे जानो ॥ २३६ ॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता । स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥ २३६ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोस्य ज्ञानप्रभावनाऽप्रकर्पकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ रुन्धन्

नामसंज्ञ—विज्जारह, आरुढ, मणोरहपह, ज, चेदा, जिणणाणपहावि, सम्मादिट्ठि, मुणेयव्व। धातुसंज्ञ—भम भ्रमणे। प्रातिपदिक—विद्यारथ, आरूढ, मनोरथपथ, यत्, चेतयितृ, तत्, जिनज्ञानप्रभाविन्, सम्यग्दृष्टि, मन्तव्य। मूलधातु—भ्रम अनवस्थाने दिवादि। पदविवरण—विज्जारहं विद्यारथं-द्वितीया एकवचन। आरूढो आरूढः-प्रथमा एक०। मणोरहपहेसु मनोरथपथेषु-सप्तमी बहु०। भमइ

सिद्धान्त—(१) ज्ञानी अपनेमें अपने स्वभावपरिणमनको अपनेसे अभेदबुद्धिसे स्वयं देखता है।

दृष्टि—१- कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)।

प्रयोग—अपनेमें आत्मत्वकी प्रतीति सहित अपने सहजस्वरूपको जानते हुए ज्ञानमात्र अपनेमें अपनी उपासना करना ॥ २३५ ॥

आगे प्रभावना गुण कहते हैं—[यः] जो जीव [विद्यारथं आरूढः] विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ [मनोरथपथेषु] मनोरथके मार्गमें [भ्रमति] भ्रमण करता है [सः चेतयिता] वह ज्ञानी [जिनज्ञानप्रभावी] जिनेश्वरके ज्ञानकी प्रभावना करने वाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये।

टीकार्थ—निश्चयसे चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयपनेसे ज्ञानकी समस्त शक्तिके जगानेके द्वारा प्रभावके उपजानेसे प्रभावना करने वाला है, इस कारण इसके ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—प्रभावना नाम प्रकृष्टरूपसे हुवानेका है, जो अपने ज्ञानको निरंतर अभ्यास से प्रगट करता है, बढ़ाता है उसके प्रभावना अङ्ग होता है, ज्ञानीके ज्ञानविकास वृद्धिगत है उसके अप्रभावनाकृत कर्मका बन्ध नहीं है। ज्ञानीकी भूमिकामें कर्म रस देकर खिर जाता है इस कारण निर्जरा ही है। यहाँ गाथामें ऐसा कहा है कि जो विद्यारूपी रथमें आत्माको स्थापन करके भ्रमण करता है वह ज्ञानकी प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है सो यह निश्चय प्रभावना

स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ।।१६२।। इति निर्जरा निष्क्रांता ।। २३६ ।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
निर्जराप्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः ।। ६ ।।

ए० । सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिः–प्र० ए० । मुणेयव्वो मन्तव्यः–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया ।। २३६ ।।

---

(३) सम्यग्दृष्टि अन्तस्तत्त्वोपलब्धिरूप विद्यारथपर आरूढ होकर ख्याति लाभ इच्छा आदि चित्तकल्लोलोंको सहजात्मध्यानरूप शस्त्रसे नष्ट कर देता है। (४) अप्रभावनाकृत बन्ध सम्यग्दृष्टिके नहीं है। (५) सम्यग्दृष्टिके पूर्वसंचित कर्मकी निश्चित निर्जरा है। (६) शुद्ध-नयके आश्रयसे उत्पन्न निःशंकादि अष्ट गुण सम्वरपूर्वक भावनिर्जराके उपादान कारणभूत हैं। (७) व्यवहाररत्नत्रय साधक है, निश्चयरत्नत्रय साध्य है। (८) व्यवहाररत्नत्रयमें स्थित सरागसम्यग्दृष्टिके योग्य प्रवृत्तिरूप भी निःशंकादि अष्ट गुण होते हैं।

सिद्धान्त—(१) निश्चयज्ञानप्रभावक गुण द्वारा ज्ञानी जीव निजशुद्धिके लिये संवर-पूर्विका भावनिर्जरा करता है।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहारनय (७३)।

प्रयोग—ज्ञानरूप रथमें आरूढ होकर याने ज्ञानमें उपयोगको लगाकर सहजानन्दमय ज्ञानतत्त्वकी प्रभावनासे कृतार्थ होनेका पौरुष करना ।। २३६ ।।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयसार व उसकी श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचित
समयसारव्याख्या आत्मख्यातिकी सहजानन्दसप्तदशाङ्गी टीकामें
निर्जराप्ररूपक छठवां अंक समाप्त हुआ।



जैसे तैल लगाये, कोई पुरुष धूलपूर्ण भूमीमें ।
स्थित होकर शस्त्रोंसे, नाना व्यायाम करता है ॥२३७॥
ताड़ बांस कदलीको, विछेदता भेदता हि व्यायामी ।
करता उपघात वहां, सजीव निर्जीव द्रव्योंका ॥२३८॥
नानाविध करणोंसे, उपघात कर रहे हुए पुरुषके ।
चिपटी हुइ धूलीका, किस कारणसे हुआ बन्धन ॥२३९॥
तैल लगा उस नरके, इस कारणसे हि धूलिबंध हुआ ।
निश्चयसे यह जानो, हुआ नहीं कायचेष्टासे ॥२४०॥
यों यह मिथ्यादृष्टी, विविध चेष्टामें वर्तमान हुआ ।
उपयोगसे रागादि, करता लिपता बँधे रजसे ॥२४१॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले । स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२३७॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः । सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२३८॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः । निश्चयतश्चिन्त्यतां किंप्रत्ययकस्तु तस्य रजोबंधः ॥२३९॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः । निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४०॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु । रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२४१॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते । तस्य

च्चयग, दु, रयबंध, ज, त, दु, णेहभाव, त, ठाण, त, त, रयबंध, णिच्छयदो, विण्णेय, ण, कायचेट्ठा, सेसा, एवं, मिच्छादिट्ठि, वट्टंत, बहुविहा, चिट्ठा, रायाइ, उवओग, कुव्वंत, रय । धातुसंज्ञ—ट्ठा गतिनिवृत्तौ, कर करणे, च्छिद छेदने, भिंद विदारणे, कुव्व करणे, चिन्त चिन्तने, लिप लेपने । **प्रातिपदिक**—यथा, नामन्, किम्, अपि, पुरुष, स्नेहाभ्यक्त, तु, रेणुबहुल, स्थान, च, शस्त्र, व्यायाम, च, तथा, तालीतल-

---

नित्य भोजन करने वाला धीर, उदार, अनाकुल निरुपाधि ज्ञान अपनी सहज अवस्थाको याने जाननरूप क्रियाको नचाता हुआ प्रकट होता है । **भावार्थ**—बन्धके स्वाङ्गको दूर करने वाला अविकार सहज ज्ञानस्वभावमयका ज्ञान शुद्ध प्रकट हो नृत्य करेगा उसकी महिमा इस काव्यमें प्रकट की है । ऐसा सहज आनन्दमय निरुपाधि ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रकट रहो ।

अब बन्ध तत्त्वके स्वरूपका विचार करते हैं । यहाँ प्रथम बन्धके कारणको प्रकट करते हैं—**[यथा नाम]** जैसे **[कः अपि पुरुषः]** कोई पुरुष **[स्नेहाभ्यक्तः तु]** तैलसे अवलिप्त हुआ **[रेणुबहुले]** बहुत धूली वाले **[स्थाने]** स्थानमें **[स्थित्वा च]** स्थित होकर **[शस्त्रैः व्यायामं]** हथियारोंसे व्यायाम **[करोति]** करता है, वहाँ **[तालीतलकदलीवंशपिंडीः]** ताड़,

एवं मिथ्यादृष्टिरात्मनि रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा बध्यते । तस्य कतमो बन्धहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि,

---

गतिनिवृत्तौ, डुकृञ् करणे, छिदिर् छेदने, भिदिर् भेदने, चिति स्मृत्यां, लिप उपदेहे तुदादि । **पदविवरण**— जह यथा—अव्यय । णाम नाम—प्रथमा एक० । को कः—प्रथमा एक० । वि अपि—अव्यय । पुरिसो पुरुषः—प्र० ए० । णेहभत्तो स्नेहाभ्यक्तः—प्रथमा एक० । दु तु—अव्यय । रेणुबहुलम्हि रेणुबहुले—सप्तमी एक० । ठाणे स्थाने—सप्तमी एक० । ठाइदूण स्थित्वा—असमाप्तिकी क्रिया । य च—अव्यय । करेइ करोति—वर्तमान

अनेक प्रकारके करण भी उस रजके बँधनेका कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा, उनके भी उन करणों द्वारा रजका बन्ध हो जानेका प्रसङ्ग हो जायगा । तथा सचित्त अचित्त वस्तुओंका उपघात भी उस रजके लगनेका कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा उनके भी सचित्त अचित्तका घात करने से रजका बन्ध हो जानेका प्रसङ्ग आ जायगा । इसलिये न्यायके बलसे यह ही सिद्ध हुआ कि उस पुरुषमें जो तैल आदिका मर्दन है वही बन्धका कारण है । ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मामें राग आदि भावोंको करता हुआ स्वभावसे ही कर्मके योग्य पुद्गलोंसे भरे हुए लोकमें काय वचन मनकी क्रियाको करता हुआ अनेक प्रकारके करणों द्वारा सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूपी धूलिसे बँधता है । वहाँ विचारिये कि बन्धका कारण कौन है ? वहाँ प्रथम तो यही देखिये कि स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ लोक बन्धका कारण नहीं है, यदि उनसे बन्ध हो तो लोकमें सिद्धोंके भी बन्धका प्रसङ्ग आयेगा । काय वचन मनकी क्रियास्वरूप योग भी बन्धके कारण नहीं है, यदि उनसे बन्ध हो तो मन, वचन, कायकी क्रिया वाले यथाख्यातसंयमियोंके भी बन्धका प्रसङ्ग हो जायगा । अनेक प्रकारके करण भी बन्धके कारण नहीं हैं, यदि उनसे बन्ध हो तो केवलज्ञानियोंके भी बन्धका प्रसङ्ग हो जायगा । तथा सचित्त अचित्त वस्तुओंका उपघात भी बन्धका कारण नहीं है, यदि उनसे बँध हो तो समितिमें तत्पर याने यत्नरूप प्रवृत्ति करने वाले साधुवोंके भी सचित्त अचित्त वस्तु के घातसे बन्धका प्रसङ्ग हो जायगा । इस कारण न्यायके बलसे यही सिद्ध हुआ कि जो उपयोगमें रागादिका करना है वह बन्धका कारण है । **भावार्थ**—यहाँ निश्चयनयकी मुख्य दृष्टि से बन्ध होनेके कारणपर विचार किया गया है । बन्धका यथार्थ कारण विचारनेसे यही सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि पुरुष राग, द्वेष, मोह भावोंको अपने उपयोगमें करता है सो ये रागादिक

कर्म वा, न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् । यदैक्यमुपयोगभू :समुपयाति रागादिभिः स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणां ॥१३४॥ ॥ २३७-२४१ ॥

विण्णेयं विज्ञेयं–प्र० ए० । ण न–अव्यय । कायचेट्ठाहिं कायचेष्टाभिः–तृ० बहु० । सेसाहिं शेषाभिः–तृतीया बहु० । एवं–अव्यय । मिच्छादिट्ठी मिथ्यादृष्टिः–प्र० ए० । वट्टन्तो वर्तमानः–प्र० ए० । बहुविहासु बहुविधासु–सप्तमी बहु० । चिट्ठासु चेष्टासु–सप्तमी बहु० । रायादी रागादीन्–द्वितीया बहु० । उवओगे उपयोगे–सप्तमी एक० । कुव्वंतो कुर्वाणः–प्र० ए० । लिप्पइ लिप्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मवाच्यप्रक्रिया क्रिया । रयेण रजसा–तृतीया एकवचन ॥ २३७-२४१ ॥

बन्ध नहीं है, क्योंकि समितिसे चलते हुए साधुके पदतलसे किसी कुन्थु जीवका उपघात होनेपर भी साधुके बन्ध नहीं है । (५) बन्ध तो मात्र उपयोगमें रागादिके करनेसे है ।

सिद्धान्त—(१) परद्रव्यके किसी भी प्रकारके परिणमनसे जीवका परिणाम नहीं होता । (२) कर्मविपाकको आत्मीय माननेके विकल्पका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाओंका कर्मत्व परिणमनरूप बन्ध होता है ।

दृष्टि—१– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—उपयोगमें रागादिके करनेको ही विपत्तिका मूल जानकर रागादि परभावसे उपयोग हटाकर सहज ज्ञानानन्द स्वभावमें उपयोग लगाना ॥ २३७-२४१ ॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टिके बन्ध क्यों नहीं होता ?—[**यथा**] जैसे [**पुनः स चैव**] फिर वही [**नरः**] मनुष्य [**सर्वस्मिन् स्नेहे अपनीते**] समस्त तैलादिक हटा दिये जानेपर [**रेणुबहुले**] बहुत धूलि वाले [**स्थाने**] स्थानमे [**शस्त्रैः व्यायामं करोति**] शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है, [**तालीतलकदलीवंशपिण्डीः**] ताड़, तमाल, केला, बांस आदिके वृक्षको [**छिनत्ति च भिनत्ति**] छेदता है और भेदता है [**तथा**] और [**सचित्ताचित्तानां**] सचित्त अचित्त [**द्रव्याणां**] द्रव्योंका [**उपघातं करोति**] उपघात करता है । [**नानाविधैः करणैः**] नाना प्रकारके करणोंसे [**उपघातं कुर्वतः तस्य**] उपघात करने वाले उसके [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**चिन्त्यतां**] विचारिये कि [**रजोबंधः**] धूलिका बन्ध [**किंप्रत्ययकः न**] किस कारणसे नही होता [**तस्मिन् नरे**] उस पुरुषके [**यः**] जो [**स अस्नेहभावः**] वह अचिक्कणता है [**तेन**] उससे [**तस्य**] उसके [**अरजोबंधः**] धूलिका अबंध है [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**विज्ञेयं**] यह जानना चाहिये [**शेषाभिः कायचेष्टाभिः**] शेष कायकी चेष्टाओंसे [**न**] नहीं [**एवं**] इस प्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**बहुविधेषु**] बहुत प्रकारके [**योगेषु**] योगोंमें [**वर्तमानः**] वर्तता हुआ [**उपयोगे**] उपयोगमें [**रागादीन्**] रागादिकोंको [**अकुर्वन्**] नहीं करता हुआ [**रजसा**] कर्म रजसे [**न लिप्यते**] लिप्त

तैल नहीं उस नरके, इससे उसके न धूलिबन्ध हुआ ।
निश्चयसे यह जानो, हुआ न कुछ कायचेष्टासे ॥२४५॥
यों यह सम्यग्दृष्टी, विविध भोगोंमें वर्तमान हुआ ।
उपयोगमें रागादि, करता न न कर्मसे बँधता ॥२४६॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति । रेणुवहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः । सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२४३॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः । निश्चयतश्चिन्त्यतां किंप्रत्ययको न रजोवन्धः ॥२४४॥
यः सोऽस्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्यारजोवन्धः । निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेपाभिः ॥२४५॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो वहुविधेषु योगेषु । अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते स्नेहाभ्यंगस्य बंधहेतोरभावात् । तथा सम्यग्दृष्टिः आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरे-

---

णिच्छयदो, किंपच्चयग, ण, रयवन्ध, ज, त, अणेहभाव, त, णर, त, त, अरयवंध, णिच्छयदो, विण्णेय, ण, कायचेट्ठा, सेसा, एवं, सम्मादिट्ठि, वट्टंत, वहुविह, जोग, अकरंत, उवओग, रागाइ, ण, रय । **धातुसंज्ञ**—कर करणे, भिद भेदने, कुव्व करणे, चिन्त चिन्तने, लिप लेपने । **प्रातिपदिक**—यथा, पुनस्, तत्, चैव, नर, स्नेह, अपनीत, सर्व, सन्त्, रेणुवहुल, स्थान, शस्त्र, व्यायाम, तथा, तालीतलकदलीवंशपिण्डी,

---

कर्मरूप धूलसे नहीं बँधता । क्योंकि इसके बन्धका कारण रागके योगका अभाव है । **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टिके पूर्वोक्त सब सम्बन्ध होनेपर भी अज्ञानमय रागका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नहीं होता ।

अब इसी अर्थका कलश कहते हैं——**लोकः कर्म** इत्यादि । **अर्थ**——इस कारण कर्मोंसे भरा हुआ लोक हो सो भले ही रहो, मन वचय कायके चलनस्वरूप योग है सो भले ही रहो, पूर्वोक्त करण भी भले रहो और पूर्वकथित चेतन अचेतनका घात भी भले हो, परंतु अहो, यह सम्यग्दृष्टि रागादिकोंको उपयोगभूमिमें नहीं लाता हुआ केवल एक ज्ञानरूप परिणत होता हुआ पूर्वोक्त किसी भी कारणसे निश्चयतः बन्धको प्राप्त नहीं होता । **भावार्थ**—लोक, योग, करण, चेतन अचेतनका घात——ये बन्धके कारण नहीं बताये गये हैं सो यहाँ ऐसा नहीं समझना कि परजीवकी हिंसासे बन्ध नहीं कहा, इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी । देखभाल कर चलने वाले सम्यग्दृष्टि जीवके चलनेमें अबुद्धिपूर्वक कभी परजीवका घात भी हो जाता है तो भी उससे बन्ध नहीं होता । किन्तु जहांपर बुद्धिपूर्वक जीव मारनेके भाव होंगे तो वहाँ

यतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः । अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां, द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥ जानाति यः स न करोति करोति यस्तु, जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः । रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि बन्धहेतुः ॥१६७॥ ॥ २४२-२४६ ॥

भिदिर् भेदने, चिति स्मृत्यां, लिप उपदेहे । **पदविवरण**—नोट—इन पांच गाथावोंके प्रायः सभी शब्द पूर्व की पांच गाथावोंमें है सो उनकी तरह पदविवरण समझ लेवें ।

मन, वचन, कायकी चेष्टा होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता । (३) उपयोगमें रागादिकको न करते हुए ज्ञानीके अनेक बाह्यसंग होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता । (४) उपयोगमें रागादिक को न करते हुए ज्ञानीके सचित्ताचित्त वस्तुका उपघात होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता ।

सिद्धान्त—(१) परभावविविक्त शुद्ध ज्ञानमात्र सहजात्मतत्त्वकी भावनाका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व नहीं आता ।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कर्मानुभागमें उपयोग न लगाकर सहज चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग रखना ॥ २४२-२४६ ॥

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको बताते हैं—[**यः**] जो पुरुष [**मन्यते**] ऐसा मानता है कि [**हिनस्मि**] मैं पर जीवोंको मारता हूं [**च**] और [**परैः सत्त्वैः**] परजीवोंके द्वारा मैं [**हिंस्ये**] मारा जाता हूं [**सः**] वह पुरुष [**मूढः**] मोही है [**अज्ञानी**] अज्ञानी है [**तु अतः**] और इससे [**विपरीतः**] विपरीत आशय वाला यथार्थ मानने वाला [**ज्ञानी**] ज्ञानी है ।

तात्पर्य—परके द्वारा अन्य परका घात किया जानेकी मान्यता होना निश्चयदृष्टिसे मिथ्या भाव है ।

टीकार्थ—मैं परजीवोंको मारता हूं और परजीवोंके द्वारा मैं मारा जा रहा हूं, यह आशय निश्चित अज्ञान है और जिसके ऐसा अज्ञान है, जिसके ऐसा अध्यवसाय है वह अज्ञानीपन होनेके कारण मिथ्यादृष्टि है । और जिसके ऐसा आशयरूप अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपन होनेके कारण सम्यग्दृष्टि है । **भावार्थ**—निश्चयनयसे कर्ताका स्वरूप यह है कि स्वयंमें अकेला जिस भावरूप परिणमे उसको उस भावका कर्ता कहते हैं, परमार्थसे कोई किसीका मरण नहीं कर सकता, निमित्ततः आयुक्षयसे मरण होता । जो पर प्राणीके द्वारा परका मरण मानता वह अज्ञानी है । निमित्तनैमित्तिक भावसे कर्मघटनाको कर्ता कहना व्यवहारनयका वचन है, आश्रयमात्रसे परप्राणीको कर्ता कहना उपचारवचन है, उसे उस प्रकार मानना सम्यग्ज्ञान है ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानं ? इति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

आयुविलयसे मरना, जीवोंका हो जिनेश यह कहते ।
आयु नहीं तुम हरते, फिर कैसे घात कर सकते ॥२४८॥
आयुविलयसे मरना, जीवोंका हो जिनेश यह कहते ।
आयु हरी जाती नहिं, किमि उनसे घात हो सकता ॥२४९॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं। आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥ २४८ ॥
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं। आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥ २४९ ॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् स्वायुः-

---

नामसंज्ञ—आउक्खय, मरण, जीव, जिणवर, पण्णत्त, आउ, ण, तुम्ह, कह, तुम्ह, मरण, कय, त, आउक्खय, मरण, जीव, जिणवर, पण्णत्त, आउ, ण, तुम्ह, कह, तुम्ह, मरण, कय, त । **धातुसंज्ञ**—हर हरणे । **प्रातिपदिक**—आयुक्षय, मरण, जीव, जिनवर, प्रज्ञप्त, आयुष्, न, युष्मद्, कथं, युष्मद्, मरण, कृत,

---

कहा है सो यह मानना कि मैं परजीवको मारता हूं यह अज्ञान है, क्योंकि **[तेषां]** उन परजीवोंके **[आयुः]** आयुकर्मको **[त्वं न हरसि]** तू नहीं हरता **[त्वया]** तो तूने **[मरणं]** उनका मरण **[कथं कृतं]** कैसे किया ? तथा **[जीवानां]** जीवोंका **[मरणं]** मरण **[आयुःक्षयेण]** आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा **[जिनवरैः]** जिनेश्वर देवोंने **[प्रज्ञप्तं]** कहा है सो मैं परजीवों से मारा जाता हूं यह मानना अज्ञान है, क्योंकि परजीव **[तव]** तेरे **[आयुः]** आयुकर्मको **[न हरंति]** नहीं हरते, इसलिये **[तैः]** उनके द्वारा **[ते मरणं]** तेरा मरण **[कथं कृतं]** कैसे किया गया ?

तात्पर्य—किसीके द्वारा किसी अन्यका मरण मानना अज्ञान है, क्योंकि मरण तो अपनी-अपनी आयुके क्षयसे ही होता है ।

टीकार्थ—निश्चयसे जीवोंका मरण अपने आयुकर्मके क्षयसे ही होता है, क्योंकि आयुकर्मक्षयका अभाव होनेपर मरणका हुवाना अशक्य है । और अन्यका आयुकर्म अन्यके द्वारा हरा जाना शक्य नहीं है, क्योंकि आयुकर्म तो अपने उपभोगसे ही क्षयको प्राप्त होता है । इस कारण कोई अन्य किसी अन्यका मरण किसी प्रकार भी नहीं कर सकता । अतः मैं परजीव

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्ता ? इति चेत्—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

परसे मैं हूं जीवित, परजीवोंको भि मैं जिलाता हूं।
यों माने अज्ञानी, इससे विपरीत है ज्ञानी ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्त्वैः । स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति

नामसंज्ञ—ज, य, पर, सत्त, त, मूढ, अण्णाणि, णाणि, एत्तो, दु, विवरीद । धातुसंज्ञ—मन्न अवबोधने, जीव प्राणधारणे । प्रातिपदिक—यत्, च, पर, सत्त्व, तत्, मूढ, अज्ञानिन्, ज्ञानिन्, अतः, तु, विप-

---

प्रयोग—किसी जीवके हिंसाविषयक अध्यवसायसे किसी अन्यका मरण नहीं होता, ऐसा जानकर परको मारता हूं या परके द्वारा मैं मारा जाता हूं । इस मिथ्या अध्यवसायको छोड़ना ॥ २४८-२४९ ॥

प्रश्न—मरणका अध्यवसाय अज्ञान है यह तो जान लिया, परन्तु उस मरणका प्रतिपक्षी जो जीनेका अध्यवसाय है उसकी क्या बात है ? **उत्तर**—[यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं परजीवोंको जिलाता हूं [च] और [परैः सत्त्वैः च] और परजीवोंके द्वारा [जीव्ये] मैं जीवित किया जा रहा हूं [स मूढः] वह मूढ है [अज्ञानी] अज्ञानी है [तु] परन्तु [अतः] जो इससे [विपरीतः] विपरीत है [ज्ञानी] वह ज्ञानी है याने जो किसीके द्वारा किसी अन्यका जीवन नहीं मानता वह ज्ञानी है ।

तात्पर्य—किसी अन्यके द्वारा किसी अन्यका जीवन मानना भी अज्ञान है, क्योंकि जीवन अपने-अपने आयुकर्मके उदयसे ही होता है ।

टीकार्थ—परजीवोंको मैं जिलाता हूं और परजीवोंके द्वारा मैं जीवित रहता हूं ऐसा आशय निश्चयसे अज्ञान है जिसके यह आशय हो वह जीव अज्ञानीपनके कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनके कारण सम्यग्दृष्टि है । **भावार्थ**—ऐसा मानना कि मुझे पर जीव जिलाते हैं और मैं परजीवको जिलाता हूं, यह अज्ञान है । जिसके अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है, जिसके वस्तुस्वातन्त्र्य व यथार्थ निमित्तनैमित्तिक भावका ज्ञान है वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें हिंसाविषयक अध्यवसायको अज्ञानपना सिद्ध किया था । अब इस गाथामें हिंसाध्यवसायके विषयभूत जीवनाध्यवसायका अज्ञानपना बताया

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ?—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥ (युग्मम्)

आयु उदयसे जीना, जीवोंका हो जिनेश यह कहते ।
आयु नहीं तुम देते, कैसे जीवित भि कर सकते ॥२५१॥
आयु उदयसे जीना, जीवोंका हो जिनेश यह कहते ।
आयु न दी जा सकती, फिर उनसे जीवना कैसे ॥२५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः । आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥२५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः । आयुश्च न ददति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥२५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् । आयुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथं-

---

नामसंज्ञ—आऊदय, जीव, एवं, सव्वण्हु, आउ, च, ण, तुम्ह, कहं, तुम्ह, जीविय, कय, त, आऊदय, जीव, एवं, सव्वण्हु, आउ, च, ण, तुम्ह, जीविय, कय, त । **धातुसंज्ञ**—जीव प्राणधारणे, भण कथने, दा दाने । **प्रातिपदिक**—आयुरुदय, जीव, एव, सर्वज्ञ, आयुष्, च, ण, युष्मद्, कथं, युष्मद् जीवित, कृत, तत्, आयुरुदय, जीव, एवं, सर्वज्ञ, आयुष्, कथं, कथं, तु, युष्मद्, जीवित, कृत, [तत् । **मूलधातु**—जीव प्राण-

---

णामोंसे ही उपजना होता है इस कारण दूसरा दूसरेका जीवन किसी तरह भी नहीं कर सकता । अतः मैं परको जिलाता हूं तथा परके द्वारा मैं जिलाया जाता हूं ऐसा अध्यवसाय निश्चयसे अज्ञान है । **भावार्थ**—जैसे मरणका अध्यवसाय अज्ञान है ऐसे ही जीवनका अध्यवसाय भी अज्ञान है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि हिंसाध्यवसायका विपक्षभूत जीवनाध्यवसाय भी अज्ञान है । अब इन दो गाथाओंमें बताया गया है कि जीवनाध्यवसाय अज्ञानभाव कैसे है ?

तथ्यप्रकाश—(१) जीवन अपने आयुकर्मके उदयसे होता है । (२) आयुकर्मका क्षय हुए बिना जीवन नहीं हो सकता । (३) किसीको आयुकर्मका देना अन्य जीवके द्वारा नहीं हो सकता । (४) आयुकर्म तो अपने परिणामसे ही अर्जित होता है । (५) अन्य जीवके द्वारा अन्यका जीवन किया जाना अशक्य है । (६) उक्त कारणोंसे यह सिद्ध है कि मैं परजीवोंको

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो स्वयं इतर जीवों-को करता है सुखी दुखी माने ।
वह मोही अज्ञानी, इससे विपरीत है ज्ञानी ॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति । स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि, परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेहं, इत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५३ ॥

नामसंज्ञ—ज, अप्प, दु, दुःखिदसुहिद, सत्त, इत्ति, त, मूढ, अण्णाणि, णाणि, एत्तो, दु, विवरीद । **धातुसंज्ञ**—मन्न अवबोधने, कर करणे । **प्रातिपदिक**—यत्, आत्मन्, तु, दुःखित सुखित, सत्त्व, इति, तत्, मूढ, अज्ञानिन्, ज्ञानिन्, अतः, तु, विपरीत । **मूलधातु**—मन ज्ञाने, डुकृञ् करणे । **पदविवरण**—जो यः–प्रथमा एकवचन । अप्पणा आत्मना–तृतीया एक० । दु तु–अव्यय । मण्णदि मन्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । दुःखिदसुहिदे दुःखितसुखिते–द्वि० बहु० । करेमि करोमि–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया । सत्ते सत्त्वान्–द्वि० बहु० । इति–अव्यय । सो सः–प्र० ए० । मूढो मूढः–प्र० एक० । अण्णाणी अज्ञानी–प्र० ए० । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । एत्तो अतः–पंचम्यर्थे अव्यय । दु तु–अव्यय । विवरीयो विपरीतः–प्रथमा एकवचन ॥ २५३ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) परजीवोंको मैं दुःखी करता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है । (२) परजीवोंको मैं सुखी करता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है । (३) परजीवोंके द्वारा मैं दुःखी किया जाता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है । (४) परजीवोंके द्वारा मैं सुखी किया जाता हूं, यह अध्यवसाय अज्ञान है । (५) जिसके दुःखकर्तृत्वाध्यवसाय है वह अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है । (६) जिसके सुखकर्तृत्वाध्यवसाय है वह अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है । (७) जिसके दुःखकर्तृत्वाध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है । (८) जिसके सुख कर्तृत्वाध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है ।

सिद्धान्त—(१) दुःखसुखकरणाध्यवसाय भी कर्मबन्धका निमित्त कारण है ।

दृष्टि—१– निमित्तत्वदृष्टि (५३अ) ।

प्रयोग—बन्धके कारणभूत इस दुःखसुखकरणाध्यवसायको भी छोड़कर निज सहज शुद्धात्मस्वरूपमें उपयोग लगाना ॥ २५३ ॥

प्रश्न—दुःख सुख देते हुए अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? **उत्तर**—[यदि] यदि [सर्वे

स्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितश्च क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं । सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं । अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्

जीव, दुक्खिदसुहिद, जदि, सव्व, कम्म, च, ण, तुम्ह, कह, तुम्ह, सुहिद, कद, त । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, दा दाने, अस सत्तायां । प्रातिपदिक—कर्मोदय, जीव, दुःखितसखित, यदि, सर्व, कर्मन्, युष्मद्, कथं, कृत,

सुखी [भवंति] होते हैं [च] और वे [तव] तुझको [कर्म] कर्म [न ददति] दे नहीं सकते तो [तैः] उनके द्वारा [त्वं सुखितः] तू सुखी [कथं कृतः] कैसे किया गया ?

तात्पर्य—साता असाता प्रकृतिकर्मोदयसे ही जीव सुखी दुःखी होते हैं तो किसीने किसी दूसरेको सुखी दुःखी किया यह मानना अज्ञान है ।

टीकार्थ—सुख-दुःख तो जीवोंको अपने कर्मोदयसे ही होते हैं, क्योंकि कर्मोदयका अभाव होनेपर उन सुख-दुःखोंके होनेकी अशक्यता है । और अन्य पुरुषके द्वारा अपना कर्म अन्यको दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह कर्म अपने-अपने परिणामोंसे ही उत्पन्न होता है, इस कारण अन्य कोई अन्य दूसरेको सुख-दुःख किसी तरह भी नहीं दे सकता । अतः "मैं परजीवोंको सुखी दुःखी करता हूं और परजीवोंसे मैं सुखी-दुःखी किया जाता हूं" यह अध्यवसाय निश्चयसे अज्ञान है । भावार्थ—सब जीव अपने-अपने कर्मोदयसे सुखी दुःखी होते हैं । फिर भी जो ऐसा माने कि मैं परजीवको सुखी-दुःखी करता हूं और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं तो यह मानना निश्चयसे अज्ञान है । हां, आश्रयभूत कारण याने नोकर्मकी दृष्टिसे अन्यको अन्यका सुख-दुःखका करने वाला कहते हैं सो यह उपचार है । निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे सुख-दुःखका करने वाला कर्मोदय है ।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—सर्वं इत्यादि । अर्थ—इस लोकमें जीवोंके जीवन मरण दुःख सुख सभी सदैव नियमसे अपने-अपने कर्मोदयसे होते हैं । तब कोई पुरुष अन्यके जीवन मरण दुःख सुखको करता है, यह मानना अज्ञान है । भावार्थ—कोई जीव किसी दूसरेको सुख-दुःख देनेका निमित्त कारण भी नहीं है, फिर भी किसीको अन्यका सुख-दुःखदाता मानना, यह बिल्कुल अज्ञान है ।

अब फिर इसी अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं—अज्ञान इत्यादि । अर्थ—इस पूर्वकथित अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परका जीवन, मरण, दुःख-सुख होना मानते हैं वे पुरुष "मैं इन कर्मोंको करता हूं" ऐसे अहंकाररससे कर्मोंके करनेके इच्छुक याने मारने जिलानेके सुखी दुःखी करनेके इच्छुक प्राणी नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्माका ही घात करने वाले होते हैं । भावार्थ—जो परको मारने जिलाने तथा सुख-दुःख करनेका आशय

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥ (युगल

जो मरे दुखी होवे, वह सब है कर्म उदयसे फिर तो ।
मारा दुखी किया मैं, क्या ये नहिं भाव हैं मिथ्या ॥२५७॥
जो न मरे न दुखी हो, वह सब भी कर्म उदयसे फिर तो ।
न दुखी किया न मारा, क्या ये नहिं भाव हैं मिथ्या ॥२५८॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः । तस्मात्तु मारितस्ते दुःखापितश्चेति न खलु मिथ्या ?
यो न म्रियते न च दुःखितः सोपि च कर्मोदयेन चैव खलु, तस्मान्न मारितो नो दुःखापितश्चेति न खलु मिथ्या ?

यो हि म्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति च स खलु कर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात् । ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः,

---

नामसंज्ञ—ज, ज, य, दुहिद, कम्मोदय, त, सव्व, त, दु, मारिद, तुम्ह, दुहाविद, च, इदि, ण, दु, मिच्छा, ज, ण, ण, य, दुहिद, त, वि, कम्मोदय, च, एव, खलु, त, ण, मारिद, च, इदि, ण, दु, मिच्छा। धातुसंज्ञ—मर प्राणत्यागे, दुक्ख दुःखने, जा प्रादुर्भावे । प्रातिपदिक—यत्, यत्, च, दुःखित, कर्मोदय, तत्, सर्व, तत्, तु, मारित, युष्मद्, दुःखापित, च, इति, न, तु, मिथ्या, यत्, न, च, दुःखित, तत्, अपि, च, कर्मो-

---

अब दुःखी सुखी करनेके अध्यवसायका मिथ्यापन कहते हैं—[**यः म्रियते**] जो मरता है [**च यः दुःखितो जायते**] और जो दुःखी होता है [**सः**] वह [**सर्वः**] सब [**कर्मोदयेन**] कर्मोदयसे होता है [**तस्मात् तु**] इस कारण [**मारितः च दुःखितः इति**] "मैं मारा गया, मैं दुःखी किया गया" [**ते**] तेरा यह अभिप्राय [**खलु न मिथ्या**] क्या मिथ्या नहीं है ? तथा [**यः न म्रियते**] जो नहीं मरता [**च न दुःखितः**] और न दुःखी होता [**सोपि च**] वह भी [**कर्मोदयेन चैव खलु**] वास्तवमें कर्मोदयसे ही होता है [**तस्मात्**] इस कारण [**न मारितः नो दुःखितश्च इति**] "मैं मारा नहीं गया और न दुःखी किया" यह भी अभिप्राय [**खलु मिथ्या न**] क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है ।

तात्पर्य—जब जीव अपने-अपने कर्मोदयसे सुखी दुःखी होते हैं तब किसी अन्यको अन्यके सुख दुःखका कर्ता मानना अज्ञान ही है ।

टीकार्थ—वास्तवमें जो मरता है, जीता है, दुःखी होता है तथा सुखी होता है वह सब अपने कर्मोदयसे होता है । क्योंकि उस कर्मके उदयका अभाव होनेपर उस जीवके उस

एसा दु जा मई दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५६ ॥

यदि तेरी मति यह हो, जीवोंको मैं सुखी दुखी करता ।
तो यह मोहितमति हो, बांधे शुभ या अशुभ विधिको ॥२५६॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति । एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं वध्नाति कर्म ॥२५६॥

परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यव-

नामसंज्ञ—एता, दु, जा, मइ, तुम्ह, दुक्खिदसुहिद, सत्त, ते, एता, तुम्ह, मूढमइ, सुहासुह, कम्म । धातुसंज्ञ—कर करणे, वंध बन्धने । प्रातिपदिक—एतत्, तु, या मति, युष्मद्, दुःखित, सुखित, सत्त्व, इति,

(१२६ब) ।

प्रयोग——परपदार्थके विषयमें सभी प्रकारके अध्यवसानोंको छोड़कर अविकल्प सहज-सिद्ध अन्तस्तत्त्वमें उपयोग करना ॥ २५७-२५८॥

अब यही अध्यवसाय कर्मबन्धका कारण है यह कहते हैं—हे आत्मन् [**ते तु**] तेरी [**इति एषा या मतिः**] ऐसी यह जो बुद्धि है कि मैं [**सत्त्वान्**] जीवोंको [**दुःखितसुखितान्**] सुखी दुःखी [**करोमि**] करता हूं [**एषा ते**] सो यह तेरी [**मूढमतिः**] मूढबुद्धि ही [**शुभाशुभं कर्म**] शुभाशुभ कर्मोंको [**बध्नाति**] बांधती है ।

तात्पर्य——दूसरे जीवोंको दुःखी सुखी आदि करनेका जो अहंकार है वह कर्मबन्धका निमित्त कारण है ।

टीकार्थ——परजीवोंको मैं मारता हूं, नहीं मारता हूं, दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय है वह मिथ्यादृष्टिके होता है । यही अध्यवसाय स्वयं रागादिरूपपनेके कारण उसके शुभाशुभ बन्धका कारण है । **भावार्थ**—दुःखी सुखी करने आदिका मिथ्या अध्यवसाय बन्धका कारण है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें मिथ्या अध्यवसायोंका उपसंहारात्मक निष्कर्ष बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि उक्त समस्त अध्यवसाय कर्मबन्धका हेतुभूत है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मैं दूसरे जीवको सुखी दुःखी करता हूं यह अज्ञानमय अध्यवसाय स्वयं रागादि विकाररूप है । (२) रागादि विकाररूप अज्ञानमय अध्यवसाय शुभाशुभ कर्म-बन्धका निमित्त कारण है । (३) स्वभावच्युतिके कारण इन अध्यवसानोंका कार्य बन्धन ही है, अन्य कुछ नहीं ।

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥ (युग्मम्)

दुखी सुखी करता हूं, हो अध्यवसान भाव यदि तेरे।
तो वह अघका बन्धक, अथवा है पुण्यका बन्धक ॥२६०॥
मारूं जीवन देऊं, हो अध्यवसान भाव यदि तेरे।
तो वह अघका बन्धक, अथवा है पुण्यका बन्धक ॥२६१॥

दुःखितसुखितान् सत्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते। तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६०॥
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते। तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥२६१॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोध्यवसायः स एव बंधहेतुः, इत्यवधारणीयं न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बंधस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं। एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि, मारयामि

नामसंज्ञ—दुक्खिदसुहिद, सत्त, ज, एवं, अज्झवसिद, तुम्ह, त, पापबंधग, वा, पुण्ण, वा, बंधग, सत्त, ज, एवं, अज्झवसिद, तुम्ह, आदि। धातुसंज्ञ—कर करणे, हो सत्तायां, मर प्राणत्यागे, जीव प्राण-

---

और अशुभका कारण दूसरा ही है। अज्ञानपनेकी अपेक्षासे दोनों अध्यवसाय एक ही हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अध्यवसायोंको कर्मबन्धका हेतु बताया गया था। अब इन दो गाथावोंमें उन्हीं अध्यवसायोंकी विशेषरूपसे बंधहेतुताका अवधारण किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१–रागमय अध्यवसाय अज्ञानसे उत्पन्न होता है। २–अज्ञानमय अध्यवसाय कर्मबन्धका हेतु है। ३–पुण्यकर्म पापकर्म दोनोंके ही बंधका हेतु अध्यवसाय है। ४–दुःखी करने घात करनेके अशुभ अहंकारमें भी हेतु अज्ञानमय अध्यवसाय है। ५–सुखी करने जीवन करनेके शुभ अहंकारमें भी हेतु अज्ञानमय अध्यवसाय है। ६–शुभ अशुभ इन दोनों अहंकारोंमें जीव शुद्धात्मभावनासे च्युत है। ७–शुभाहंकाररसनिर्भर अध्यवसाय पुण्य-बन्धका हेतु है। ८–अशुभाहंकाररसनिर्भर अध्यवसाय पापबन्धका हेतु है। ९– अन्य जीवके जीवन मरण सुख दुःख उन्हींके उपार्जित कर्मके उदयके निमित्तसे हैं। १०– निमित्तनैमित्तिक योग भी न हो फिर भी अन्यके कार्यका कर्ता किसी परको बताना असद्भूत व्यवहार है।

सिद्धान्त—१–पापबन्ध व पुण्यबंध दोनोंका हेतु अध्यवसाय है। २–जीवोंको सुख

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा वा मारेउ ।
एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अध्यवसितसे बन्धन, प्राणी मारो तथा नहीं मारो ।
निश्चयनयके मतमें, जीवोंका बन्ध विवरण यह ॥२६२॥

अध्यवसितेन वंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु । एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद् भवतु, कदाचिन्मा भवतु । य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य वंधहेतुः निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥२६२॥

नामसंज्ञ—अज्झवसिद, वंध, सत्त, मा, व, एत, वन्धसमास, जीव, णिच्छयणय । **धातुसंज्ञ**—मर प्राणत्यागे । **प्रातिपदिक**—अध्यवसित, वन्ध, सत्त्व, मा, वा, एतत्, बन्धसमास, जीव, निश्चयनय । मृङ् प्राणत्यागे । **पदविवरण**—अज्झवसिदेण अध्यवसितेन–तृतीया एक० । वंधो वन्धः–प्रथमा एकवचन । सत्ते सत्त्वान्–द्वि० वहु० । मारेउ मारयतु–लोट् आज्ञाद्यर्थे अन्य पुरुष एकवचन णिजंत क्रिया । एसो एषः–प्रथमा एक० । जीवाण जीवाना–पष्ठी वहु० । णिच्छयणयस्स निश्चयनयस्य–षष्ठी एकवचन ॥२६२॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें अध्यवसायको बन्धहेतु बताया गया था । अब यह बताया जायगा कि अध्यवसाय ही पाप व पुण्य है । जिनमेंसे प्रथम ही इस गाथामें बताया है हिंसाविषयक अध्यवसाय ही हिंसा है ।

तथ्यप्रकाश—१–जीवोंका प्राणवियोग उनके कर्मोदयकी विचित्रताके वश होता है । २–जो जीव अन्य जीवके प्रति "इसे मारूं" ऐसा अध्यवसाय करता है उसे हिंसाका पाप लग ही गया, चाहे वह जीव मरे या न मरे । ३–हिंसाविषयक अध्यवसाय (अभिप्राय) ही निश्चयसे उसके बंधका कारण है व कर्मबन्धका मूल निमित्त कारण है । ४–निश्चयसे अन्यप्राणवियोगरूप परभाव किसी अन्य जीवके द्वारा किया ही नहीं जा सकता ।

सिद्धान्त—१--नवीन कर्मबन्धका साक्षात् निमित्त कारण उदयागत द्रव्यप्रत्यय (कर्म) है । २--उदयागत द्रव्यप्रत्ययोंमें कर्मबन्धनिमित्तपना आवे इसका निमित्त अध्यवसाय है । ३--अध्यवसाय करनेसे आत्मा खुद ही अपनी विकृतियोंसे बुरा बँधा हुआ है ।

दृष्टि—१--निमित्तदृष्टि (५३ अ) । २--निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (२०१) । ३--अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—अपने अध्यवसायसे ही बंध होता है, ऐसा जानकर रागादिक अपध्यान छोड़

यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबंधहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः ॥२६३-२६४॥

तथा, अपि, च, सत्य, दत्त, ब्रह्मन्, अपरिग्रहत्व, च, एव, अध्यवसान, यत्, तत्, तु, पुण्य । मूलधातु—डुकृञ् करणे, बन्ध बन्धने । पदविवरण—एवं–अव्यय । अलिये अलीके–सप्तमी बहु० । अदत्ते–सप्तमी एक० । अबंभचेरे अब्रह्मचर्ये–सप्तमी एक० । परिग्गहे परिग्रहे–सप्तमी एक० । च एव–अव्यय । कीरइ क्रियते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । अज्झवसाणं अध्यवसानं–प्रथमा एक० । जं यत्–प्रथमा एक० । तेण तेन–तृ० ए० । दु तु–अव्यय । वज्झए वध्यते–वर्तमान० अन्य० एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । पावं पापं–प्र० ए० । तह वि तथा अपि–अव्यय । सच्चे सत्ये–स० ए० । दत्ते–स० ए० । बंभे ब्रह्मणि–सप्तमी एक० । अपरिग्गहत्तणे अपरिग्रहत्वे–स० ए० । कीरइ क्रियते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । अज्झवसाणं अध्यवसानं–प्रथमा एक० । जं यत्–प्र० एक० । तेण तेन–तृ० ए० । वज्झदि बध्यते–पूर्वोक्त क्रिया । पुण्णं पुण्यं–प्रथमा एकवचन ॥ २६३-२६४ ॥

कारण है । **भावार्थ**—जैसे कि हिंसामें अध्यवसाय पापबंधका कारण है, वैसे ही असत्य, अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह इनमें भी अध्यवसाय पापबंधका कारण है । तथा जैसे अहिंसामें अध्यवसाय पुण्यबंधका कारण है, वैसे ही सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहपना इनमें किया गया अध्यवसाय पुण्यबंधका कारण है । इस प्रकार पाँच पापोंका अभिप्राय तो पापबंध करता है और पाँच व्रतरूप एक देश व सर्व देशका अभिप्राय पुण्यबंध करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें यह बताया गया था कि हिंसाविषयक अध्यवसाय ही हिंसा है । अब इन दो गाथावोंमें बताया गया है कि जैसे हिंसाविषयक अध्यवसाय ही हिंसा है ऐसे ही झूठ आदि विषयक अध्यवसाय ही झूठ आदिक पाप है व उससे पापका बंध है । तथा इसी प्रकार अहिंसाके पुण्यत्वकी भाँति सत्य आदिक पुण्य है व उससे पुण्यका बंध है ।

तथ्यप्रकाश—१–जैसे हिंसाविषयक अध्यवसाय अज्ञानसे होता है वैसे ही झूठ आदि विषयक अध्यवसाय भी अज्ञानसे होता है । २–जैसे अहिंसा (नहीं मारूं) विषयक अध्यवसाय (अहंकाररसनिर्भर आशय) अज्ञानसे होता है वैसे ही सत्य आदि विषयक अहंकाररसनिर्भर आशय (अध्यवसाय) अज्ञानसे होता है । ३–हिंसादि पापविषयक अध्यवसाय पापबन्धका हेतु है । ४–अहिंसासत्यादि विषयक अध्यवसाय पुण्यबन्धका हेतु है ।

सिद्धान्त—१–अध्यवसाय जीवका अज्ञानमय परिणमन है । २–व्रतविषयक अध्यवसाय पुण्यकर्मके बन्धका निमित्त है । ३–अव्रतविषयक अध्यवसाय पापकर्मके बन्धका निमित्त है ।

दृष्टि—१–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २, ३–निमित्तदृष्टि (५३ अ) ।

वस्तु आश्रयभूतं। न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसूनुं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो

च, वस्तुतः, तु, वन्ध, अध्यवसान, वन्ध। मूलधातु—प्रति इण् गतौ, भू सत्तायां, अस् भुवि। पदविवरण—वत्थुं वस्तु—द्वितीया एकवचन। पडुच्च प्रतीत्य—असमाप्तिकी क्रिया। जं यत्—प्रथमा एक०। पुण पुनः—अव्यय। अज्झवसाणं अध्यवसानं—प्रथमा एक०। दु तु—अव्यय। होदि भवति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जीवाणं जीवानां—षष्ठी बहु०। ण य न च—अव्यय। वत्थुदो वस्तुतः—पंचम्यर्थे अव्यय।

क्योंकि कारणके प्रतिषेधसे ही कार्यका प्रतिषेध होता है। देखिये—बंधहेतु अध्यवसानको हेतुपना होनेपर भी बाह्य वस्तु बंधका हेतु नहीं है, क्योंकि जैसे कोई मुनीन्द्र ईर्यासमितिरूप प्रवर्त रहा है उसके चरणसे हना गया जो कालका प्रेरा अतिवेगसे शीघ्र आकर पड़ा कोई उड़ता हुआ जीव मर गया, तो भी उसके मर जानेसे मुनीश्वरको हिंसा नहीं लगती सो बंधके कारणभूत अध्यवसायके कारणभूत बाह्यवस्तुकी बन्धकारणता न होनेसे बाह्य वस्तुको बंधका कारणपना माननेमें अनैकांतिक हेत्वाभासपना आता है। अतः जीवका अतद्भावरूप बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है। जीवका तद्भावस्वरूप अध्यवसान ही बंधका कारण है।

भावार्थ—निश्चयनयसे बन्धका हेतु तो अध्यवसान ही है। बाह्य वस्तुएं अध्यवसान के आश्रयभूत हैं, उनमें उपयोग देनेसे अध्यवसान व्यक्त होता है, इस कारण बाह्य वस्तु उपचारसे अध्यवसानका कारण कहा जाता है। बाह्य वस्तुके विना निराश्रय यह अध्यवसान नहीं होता। इस कारण बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है। यदि बन्धका कारण बाह्य वस्तु ही कहा जावे तो कोई मुनि ईर्यासमितिसे यत्न कर गमन करता हो उस समय उसके पैरोंके नीचे कोई उड़ता जीव आ पड़ा और मर गया तो उसकी हिंसा मुनीश्वरको क्यों नहीं लगती? सो यहाँ बाह्य दृष्टिसे देखा जाय तो हिंसा हुई, परन्तु मुनिके हिंसाका अध्यवसान नहीं है, इसलिए वह जीवका मरणरूप परघात बंधका कारण नहीं है। हाँ बाह्य वस्तुके बिना निराश्रय अध्यवसाय प्रकट नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तुका निषेध करना उपदेशमें बताया है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अव्रताध्यवसाय पापबन्धका हेतु है और व्रताध्यवसाय पुण्यबंधका हेतु है। अब इसीके समर्थन व अन्ययोगव्यवच्छेदके लिये इस गाथाका अवतार हुआ है।

तथ्यप्रकाश—(१) अध्यवसाय ही कर्मबन्धका निमित्त है। (२) पंचइन्द्रियके विषयभूत चेतन अचेतन बाह्य पदार्थ कर्मबन्धका निमित्त नहीं है। (३) बाह्य पदार्थ तो कर्मबन्धके

एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि वंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

दुखी सुखी जीवोंको, करता हूं बांधता छुड़ाता हूं ।
यहँ ऐसी मूढमती, निरर्थिका है अतः मिथ्या ॥२६६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बंधयामि तथा विमोचयामि, या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या।

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि विमोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं

नामसंज्ञ—दुक्खिदसुहिद, जीव, तह, ज, एता, मूढमइ, णिरत्थया ता, हु, तुम्ह, मिच्छा। **धातुसंज्ञ**—कर करणे, वन्ध वन्धने, वि मुंच त्यागे। **प्रातिपदिक**—दुःखितसुखित, जीव, तथा, यत्, एतत्, मूढमति, निरर्थिका, तत्, खलु, मिथ्या। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, वन्ध वन्धने, वि मुच्लृ मोक्षणे तुदादि। **पदविवरण**—दुक्खिदसुहिदे दुःखितसुखितान्–द्वितीया बहु०। जीवे जीवान्–द्वि० बहु०। करेमि करोमि–

उक्त प्रकारसे बंधकारणपनेसे निश्चय किये गये अध्यवसानका अपनी अर्थक्रियाकारिता न होनेसे मिथ्यापना यहाँ दिखलाते हैं—मैं [जीवान्] जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी सुखी [करोमि] करता हूँ [बंधयामि] बंधाता हूं [तथा] और [विमोचयामि] छुड़ाता हूं [या एषा ते मूढमतिः] ऐसी जो तेरी मूढ बुद्धि है [सा] वह [निरर्थिका] निरर्थक है अतएव [खलु] निश्चयसे [मिथ्या] मिथ्या है।

तात्पर्य—विकल्पका बाह्यवस्तुके परिणमनपर कोई अधिकार नहीं, फिर भी परपदार्थमें कुछ करनेका अध्यवसाय करना नियमसे मिथ्यात्व है।

टीकार्थ—परजीवोंको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं इत्यादि, तथा बँधाता हूं, छुड़ाता हूं इत्यादि, जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या है, क्योंकि परभावका परमें व्यापार न होनेसे स्वार्थक्रियाकारीपनका अभाव होनेके कारण "मैं आकाशके फूलको तोड़ता हूं" इस अध्यवसायकी तरह वह झूठा है, मात्र अपने अनर्थके लिए ही है। **भावार्थ**—जिस विकल्पका जो करनेका भाव है वह जब विकल्पसे होता ही नहीं है तो वह विकल्प निरर्थक है, मोही जीव परको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, किन्तु परजीव इसके विकल्प करनेसे दुःखी सुखी नहीं होते तब ऐसी बुद्धि निरर्थक होनेसे मिथ्या है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अध्यवसान ही कर्मबन्धका निमित्त कारण है और द्वितीय कुछ भी वस्तु बन्धका कारण नहीं है। अब इस गाथामें

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ? इति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥

अध्यवसानसे बँधते, कर्मोसे जीव छूटते हैं जो।
मोक्षमार्गमें सुस्थित, उनका फिर क्या किया तुमने ॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा वध्यंते कर्मणा यदि हि। मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोपि त्वं ॥२६७॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्वंधनं मोचनं जीवानां। जीवस्तु अस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न

नामसंज्ञ—अज्झवसाणणिमित्त, जीव, कम्म, जदि, हि, मोक्खमग्ग, ठिद, य, ता, कि, तुम्ह। **धातुसंज्ञ**—वज्झ बंधने, मुंच त्यागे, कर करणे। **प्रातिपदिक**—अध्यवसाननिमित्त, जीव, कर्मन्, यदि, हि, मोक्षमार्ग, स्थित, च, तत्, किम्, युष्मद्। **मूलधातु**—बन्ध बन्धने, मुच्लृ मोक्षणे, डुकृञ् करणे। **पदविवरण**—अज्झवसाणणिमित्तं अध्यवसाननिमित्तं–अव्यय यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषण। जीवा जीवाः–प्रथमा

करता। क्योंकि इसके अध्यवसाय न होनेपर भी जीव अपने सरागवीतरागपरिणामों द्वारा बंध मोक्षको प्राप्त होता है और इसके अध्यवसाय होनेपर भी जीव अपने सरागवीतरागपरिणामके अभाव होनेसे बंध मोक्षको नहीं प्राप्त होता। इसलिये अध्यवसान परमें अकिंचित्कर है इसी कारण स्वार्थक्रियाकारी नहीं और मिथ्या है।

अब इस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते है—**अनेना** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा इस निरर्थक अध्यवसानसे मोहित हुआ आत्मा ऐसा जगतमें कुछ भी नहीं है जिस रूप अपनेको नहीं करता हो। **भावार्थ**—यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायसे भूला हुआ आत्मा चतुर्गति संसारमें जितनी अवस्थायें हैं, जितने पदार्थ हैं उन सब स्वरूप हुआ मानता है, अपने विविक्त शुद्धस्वरूपको नहीं पहिचानता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी न होनेसे मिथ्या है। अब इस गाथामें यह बताया गया है कि अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी कैसे नहीं है ?

तथ्यप्रकाश—१–कोई परजीवको बाँधनेका विकल्प करता है सो उसके विकल्प करनेसे यदि परजीव बँध जावे तब यह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी कहावेगा। २– कोई परजीवको मुक्त करानेका विकल्प करता है सो उसके विकल्प करनेसे यदि परजीव मुक्त हो जावे तो तब यह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी कहावेगा। ३– परजीवको बाँधनेका विकल्प करनेपर

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥ (युगलम्)

अध्यवसितसे प्राणी, सब कुछ करता हि जीव अपनेको ।
पशु नारक देव मनुज, नानाविध पुण्य पापोंको ॥२६८॥
धर्म अधर्म हि अथवा, जीव अजीव व अलोक लोक तथा ।
अध्यवसितसे प्राणी, अपनेको सर्व कर लेता ॥२६९॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् । देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥२६८॥ धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च । सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥२६९॥

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकम् इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्य-

---

नामसंज्ञ—सव्व, जीव, अज्झवसाण, तिरियणेरयियै, देवमणुय, य, सव्व, पुण्ण, पाप, च, णेयविह, धम्माधम्म, च, तहा, जीवाजीव, आलोयलोय, च, सव्व, जीव, अज्झवसाण, अप्प । **धातुसंज्ञ**—कर करणे ।

अपनेको करने वाला कहा जाता है ।

टीकार्थ—जैसे यह आत्मा ऐसे याने पूर्वोक्त क्रिया वाले हिंसाके अध्यवसानसे अपने को हिंसक करता है, और अन्य अध्यवसानोंसे यह आत्मा अपनेको अन्य बहुत प्रकार करता है; उसी प्रकार उदयमें आये हुए नारकके अध्यवसानसे अपनेको नारकी करता है, उदयमें आये हुए तिर्यंचके अध्यवसानसे अपनेको तिर्यंच करता है, उदयमें आये हुए मनुष्यके अध्यवसानसे अपनेको मनुष्य करता है, उदयमें आये हुए देवके अध्यवसानसे अपनेको देव करता है, उदयमें आये हुए सुख आदि पुण्यके अध्यवसानसे अपनेको पुण्यरूप करता है, उदयमें आये हुए दुःख आदि पापके अध्यवसानसे अपनेको पापरूप करता है और उसी प्रकार जाननेमें आये हुए धर्मास्तिकायके अध्यवसानसे अपनेको धर्मास्तिकायरूप करता है, जाने हुए अधर्मास्तिकाय के अध्यवसानसे अपनेको अधर्मास्तिकाय रूप करता है, जाने हुए अन्य जीवके अध्यवसानसे अपनेको अन्य जीवरूप करता है, जाने हुए पुद्गलके अध्यवसानसे अपनेको पुद्गलरूप करता है, जाने हुए लोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको लोकाकाशरूप करता है, जाने हुए अलोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको अलोकाकाशरूप करता है । **भावार्थ**—अपना परमार्थरूप नहीं

ध्यवसायेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ।। विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं । मोहैककंदोध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ।।१७२।। ।। २६८-२६९ ।।

जीवाजीवो–द्वितीया बहुवचन । अलोयलोयं अलोकलोकं–द्वि० ए० । सव्वे सर्वान्–द्वि० बहु० । करेइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जीवो जीवः–प्रथमा एक० । अज्झवसाणेण अध्यवसानेन–तृतीया एक० । अप्पाणं आत्मानम्–द्वितीया एकवचन ।। २६८-२६९ ।।

---

(९) जाने जा रहे धर्मास्तिकायके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको धर्मास्तिकायरूप बना देता है । (१०) जाने जा रहे अधर्मास्तिकायके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको अधर्मास्तिकायरूप बना देता है । (११) जाने जा रहे अन्य जीवके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको अन्य जीवरूप बना देता है । (१२) जाने जा रहे पुद्गलके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको पुद्गलरूप बना देता है । (१३) जाने जा रहे लोकाकाशके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको लोकाकाशरूप बना देता है । (१४) जाने जा रहे अलोकाकाशके जाननविकल्पके मोहरूप अध्यवसानसे जीव स्वस्वभावसे च्युत होता हुआ अपनेको अलोकाकाशरूप बना देता है । (१५) घटाकारपरिणत ज्ञान उपचारसे घट कहा जाने की तरह धर्मास्तिकायादिका जाननरूप विकल्प भी उपचारसे धर्मास्तिकायादि कहा जाता है ।

सिद्धान्त—(१) क्रियागर्भ विपच्यमान ज्ञायमान सम्बन्धी अध्यवसानसे जीव अपनेको नानारूप कर लेता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय, उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (४७, २४) ।

प्रयोग—परभावविषयक अध्यवसानसे जीवकी नाना दुर्गतियाँ जानकर उन अध्यवसानोंको छोड़कर ज्ञानमात्र स्वरूपमें आत्मभावना करना ।। २६८-२६९ ।।

अब बताते है कि अज्ञानरूप अध्यवसाय जिनके नहीं है वे मुनि कर्मसे लिप्त नहीं होते—[**एतानि**] ये पूर्वोक्त अध्यवसाय तथा [**एवमादीनि**] इस तरहके अन्य भी [**अध्यवसानानि**] अध्यवसाय [**येषां**] जिनके [**न संति**] नहीं हैं [**ते मुनयः**] वे मुनिराज [**अशुभेन**] अशुभ [**वा**] अथवा [**शुभेन कर्मणा**] शुभकर्मसे [**न लिप्यंते**] लिप्त नहीं होते ।

तात्पर्य—अपनेको परभावरूप नहीं अनुभवने वाले मुनि शुभ व अशुभ दोनों प्रकारके कर्मसे लिप्त नहीं होते ।

टीकार्थ—ये पूर्वोक्त जो तीन प्रकारके अध्यवसाय हैं अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र,

चाचारित्रं । यत्पुनर्नारकोहमित्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैकभावस्य कर्मोदयजनितनारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् । यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । ततो बंध निमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामे-

---

न–अव्यय । अत्थि संति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । जेसिं येषां–षष्ठी बहु० । अज्झवसाणाणि अध्यवसानानि–प्रथमा बहु० । एवं–अव्यय । आदीणि आदीनि–प्र० बहु० । ते–प्र० बहु० । असुहेण सुहेण कम्मेण

मुनिकुंजर हैं । ऐसे कोई-कोई विरले पुरुष सत् अहेतुक ज्ञप्ति एक क्रिया वाले, सत् अहेतुक एक ज्ञायकभावस्वरूप और सत् अहेतुक एक ज्ञानरूप विविक्त आत्माको जानते हुए उसीका सम्यक् श्रद्धान करते हुए और उसीका आचरण करते हुए निर्मल स्वच्छन्द स्वाधीन प्रवृत्तिरूप उदयको प्राप्त अमंद प्रकाश रूप अन्तरङ्ग ज्योतिःस्वरूप हैं, इसी कारण अज्ञान आदिके अत्यन्त अभावसे शुभ तथा अशुभ कर्मसे नहीं लिप्त होते ।

भावार्थ—"मैं परको मारता हूं" आदि अध्यवसान तो क्रियागर्भाध्यवसान है । तथा "मैं नारक हूं" आदि अध्यवसान विपच्यमानाध्यवसान हैं । तथा "मैं परद्रव्यको जानता हूं" आदि ज्ञायमानाध्यवसान हैं । सो इन अध्यवसानोंमें जीव तब तक प्रवर्तता है जब तक आत्माके रागादिकके तथा आत्माके व नारकादिकके तथा आत्माके व ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यके भेद न जाने । वह अध्यवसाय भेदज्ञानके बिना मिथ्याज्ञानरूप है, मिथ्यादर्शनरूप है तथा मिथ्याचारित्र रूप है । ऐसे यह मोही तीन प्रकार प्रवर्तता है । जिनके ये अध्यवसान नहीं है वे मुनिकुंजर हैं, वे ही आत्माको सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धान करते हैं, सम्यक् आचरण करते हैं । इस कारण अज्ञानके अभावसे उत्तम तत्त्वज्ञ आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हुए कर्मोंसे लिप्त नहीं होते ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें बताया गया था कि यह जीव अज्ञानमय अध्यवसायसे अपनेको नानारूप करता रहता था । अब इस गाथामें बताया है कि वे अध्यवसाय जिन जीवोंके नहीं हैं वे मुनि शुभ अशुभ किसी कर्मसे लिप्त नहीं होते ।

तथ्यप्रकाश—१– अध्यवसान तीन प्रकारके होते हैं—(१) क्रियागर्भाध्यवसान, (२) विपच्यमानाध्यवसान, (३) ज्ञायमानाध्यवसान । २– सत् अहेतुक ज्ञप्तिक्रियामात्र निज आत्मामें व रागद्वेषविपाकमयी हननादि क्रियावोंमें अन्तर न जाननेके कारण विविक्त आत्माका

किमेतदध्यवसानं नामेति चेद्—

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धि व्यवसाय अथवा, अध्यवसान विज्ञान चित्त तथा ।
परिणाम भाव अरु मति, ये सब एकार्थवाचक हैं ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं। एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२७१॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं। तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः। व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः। मननमात्रत्वान्मतिः। विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं चेतनमात्र·

नामसंज्ञ—बुद्धि, ववसाअ, वि, य, अज्झवसाण, मइ, य, विण्णाण, एकट्ठ, एव, चित्त, भाव, य, परिणाम। **धातुसंज्ञ**—बुज्झ अवगमने, मन्न अवबोधने, चेत करणाववोधनयोः। **प्रातिपदिक**—बुद्धि, व्यवसाय, अपि, च, अध्यवसान, मति, च, विज्ञान, एकार्थ, एव, सर्व, चित्त, भाव, च, परिणाम। **मूलधातु**—

तात्पर्य—बुद्धि व्यवसाय आदिक भिन्न-भिन्न अपेक्षावोंसे अध्यवसान भावके ही वाचक हैं।

टीकार्थ—स्व और परका भेद ज्ञान न होनेपर जीवको मात्र मान्यता अध्यवसान है। वही बोधनमात्रपनेसे बुद्धि है, प्रसङ्गमें लगे रहनेसे व्यवसाय है, जाननमात्रपनेसे मति है, विज्ञप्तिमात्रपनेसे विज्ञान है, चेतनमात्रसे चित्त है, चेतनके भवनमात्रपनेसे भाव है और परिणमनमात्रपनेसे परिणाम है। इस प्रकार ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। **भावार्थ**—ये जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे हैं वे सभी इस जीवके परिणाम हैं। जब तक स्व और परका भेद ज्ञात न हो तब तक परमें और अपनेमें जो एकत्वके निश्चयरूप बुद्धि आदिक होते हैं वे सब अध्यवसान ही हैं।

अब कहते हैं कि जो अध्यवसान त्यागने योग्य कहा गया है सो मानो सब व्यवहार का त्याग कराकर निश्चयका ग्रहण कराया गया है—**सर्वत्रा** इत्यादि। **अर्थ**—समस्त वस्तुओं में जो अध्यवसान हैं वे सब जिनेन्द्र भगवानने त्यागने योग्य कहे हैं सो ऐसा मैं मानता हूं कि परके आश्रयसे प्रवर्तने वाला सभी व्यवहार छुड़ाया गया है। तब फिर यह सत्पुरुष सम्यक् प्रकार एक निश्चयको ही निश्चलतासे अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी आत्मस्वरूप महिमामें स्थिरता क्यों नहीं धारण करते? **भावार्थ**—जिनेश्वरदेवने अन्य पदार्थोंमें जो आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाया है सो ऐसा समझना चाहिए कि पराश्रित सभी व्यवहार छुड़ा दिया है। इस कारण शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें स्थिरता रखो ऐसा

एवं ववहारणश्रो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

निश्चयनयसे जानो, यह सब व्यवहारनय निषिद्ध अतः ।
निश्चयनयाश्रयी मुनि, पाते निर्वाणपदको हैं ॥२७२॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन । निश्चयनयाश्रिताः पुनः मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणं।

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः । तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि परा-

---

नामसंज्ञ—एवं, ववहारणअ, पडिसिद्ध, णिच्छयणय, णिच्छयणयासिद, पुण, मुणि, णिव्वाण। **धातुसंज्ञ**—जाण अववोधने, प आव प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—एवं, व्यवहारनय, प्रतिपिद्ध, निश्चयनय, निश्चयनयाश्रित, पुनर्, मुनि, निर्वाण । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, प्र आप्लृ व्याप्तौ स्वादि । **पदविवरण**—एवं-अव्यय । ववहारणओ व्यवहारनयः-प्रथमा एक० । पडिसिद्धो प्रतिपिद्धः-प्रथमा एक० । जाण जानीहि-

---

अब उक्त गाथार्थका स्पष्टीकरण करते है—[**एवं**] इस प्रकार याने पूर्वकथित रीतिसे [**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय [**निश्चयनयेन**] निश्चयनयके द्वारा [**प्रतिषिद्धः**] प्रतिपिद्ध [**जानीहि**] जानो [**पुनः**] क्योंकि [**निश्चयनयनयाश्रिताः**] निश्चयके आश्रित है [**मुनयः**] मुनिराज [**निर्वाणं**] मोक्षको [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त करते हैं ।

तात्पर्य—व्यवहारनये समस्त तत्त्वोंको जानकर उन भेदविकल्पोसे भी परे होकर परमशुद्धनिश्चयनयका आश्रय कर लेने वाले मुनिराज मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ—आत्माश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय है । वहाँ बंधका कारणपना होनेसे पराश्रित समस्त अध्यवसान मुमुक्षुओंको उस अध्यवसानका निषेध करते हुए आचार्यने वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कर दिया है, क्योंकि अध्यवसानकी तरह व्यवहारनयके भी पराश्रितपनेका अन्तर नहीं है । और इस प्रकार भी व्यवहारनय निषेध करने योग्य है कि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय लेने वाले ही मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनयका आश्रय एकांततः कभी मुक्त न होने वाला अभव्य भी करता है । **भावार्थ**—आत्माके परके निमित्तसे होने वाले अनेक भाव सब व्यवहारनयके विषय है । इस कारण व्यवहारनय तो पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वह निश्चयनयका विषय है । इस कारण निश्चयनय आत्माश्रित है । अध्यवसान भी पराश्रित होनेसे व्यवहारनयका ही विषय है । इसलिये जो भले प्रकार अध्यवसानका त्याग है वह सब व्यवहारनयका ही त्याग है । जो निश्चयके आश्रय प्रवर्तते हैं वे तो कर्मसे छूटते हैं और जो एकांतसे व्यवहारनय

कथमभव्येनाश्रीयते व्यवहारनयः ? इति चेत्—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

जिनवरके बतलाये, व्रत समिति गुप्ति तथा शील तपको ।
यह अभव्य करता भी, अज्ञानी मूढदृष्टी है ॥ २७३ ॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं । कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७३ ॥

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रमभव्योऽपि कुर्यात् तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ॥२७३॥

नामसंज्ञ—वदसमिदीगुत्ति, सीलतव, जिणवर, पण्णत्त, कुव्वंत, वि, अभव्व, अण्णाणि, मिच्छदिट्ठि, दु। **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे। **प्रातिपदिक**—व्रतसमितिगुप्त, शीलतपस्, जिनवर, प्रज्ञप्त, कुर्वन्त्, अपि, अभव्य, अज्ञानिन्, मिथ्यादृष्टि, तु। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे। **पदविवरण**—वदसमिदीगुत्तीओ व्रतसमितिगुप्तयः—प्रथमा बहु०। सीलतवं शीलतपः—प्रथमा एक०। जिणवरेहिं जिनवरैः—तृतीया बहु०। पण्णत्तं प्रज्ञप्तं—प्रथमा एक०। कुव्वंतो कुर्वन्—प्रथमा एक०। वि अपि—अव्यय। अभव्वो अभव्यः—प्रथमा एक०। अण्णाणी अज्ञानी—प्रथमा एक०। मिच्छदिट्ठि मिथ्यादृष्टिः—प्रथमा एक०। दु तु—अव्यय ॥ २७३ ॥

मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि उसके निश्चयचारित्रका कारणस्वरूप ज्ञान और श्रद्धान नहीं है।

भावार्थ—अभव्य जीव महाव्रत समिति गुप्ति रूप व्यवहारचारित्रको पाले तो भी वह निश्चय सम्यग्ज्ञान श्रद्धानके बिना सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता और अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें निश्चयनयकी उपयोगिता दिखाकर समस्त पर द्रव्याश्रित व्यवहार प्रतिषिद्ध कर दर्शाया गया था कि पराश्रित व्यवहारका तो अभव्य भी आश्रय करते हैं बड़े दुर्धर तप आदि करते हैं, किन्तु उनका मोक्ष नहीं होता। अब इस गाथा में उसी व्यवहारनयका अभव्यके द्वारा आश्रय किया जानेकी रीति बताई गई है।

तथ्यप्रकाश—१– शील व तपश्चरणसे परिपूर्ण, तीन गुप्ति व पाँच समितिसे युक्त अहिंसादि पञ्च महाव्रत व्यवहारचारित्र है। २– अभव्य भी मंद मिथ्यात्व व मंदकषायके व्यवहारचारित्रका पालन करता है। ३– व्यवहारचारित्रको पालता हुआ भी अभव्य निश्चयचारित्र ही है, क्योंकि उसके निश्चयचारित्र हो ही नहीं सकता। ४–व्यवहारचारित्रको पालता हुआ भी अभव्य अज्ञानी ही है, क्योंकि निश्चयचारित्रका हेतुभूत ज्ञान वहाँ नहीं है। ५– व्यवहारचारित्रको पालता हुआ भी अभव्य मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि निश्चयचारित्रका हेतु

स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत ततस्तस्य तद्गुणाभावः, ततश्च ज्ञानश्रद्धा-

---

द्वितीया एक० । असद्दहंतो अश्रद्दधानः–प्रथमा एक० । अभवियसत्तो अभव्यसत्त्वः–प्रथमा एक० । दु तु–अव्यय । जो यः–प्रथमा एक० । अधीएज्ज अधीयीत–लिङ् विधौ अन्य पुरुष एक० क्रिया । पाठो पाठ–

पढ़ता हुआ भी शास्त्र पढ़नेके गुणके अभावसे ज्ञानी नहीं होता । शास्त्र पढ़नेका यह गुण है कि भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका ज्ञान हो । सो उस भिन्न वस्तुभूत ज्ञानको नहीं श्रद्धान करने वाले अभव्यके शास्त्रके पढ़नेसे विविक्त वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञान प्राप्त किया जाना शक्य नहीं । इसी कारण उसके शास्त्र पढ़नेका जो भिन्न आत्माका जानना गुण है, वह नहीं है और इस कारण वह नहीं है और इस कारण सच्चे ज्ञान श्रद्धानके अभावसे वह अभव्य अज्ञानी ही है यह निश्चित है । **भावार्थ**—अभव्य जीव ग्यारह अंग भी पढ़ ले तो भी उसके शुद्ध आत्माका ज्ञान श्रद्धान नहीं होता इस कारण उसके शास्त्रको पठनसे गुण नहीं हुआ । इसी कारण वह अज्ञानी ही है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि व्यवहारचारित्रको पालता हुआ भी अभव्य अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि ही है । अब इस गाथामें उसीके सम्बन्धमें बताया है कि अभव्यका एकादश अंगका अध्ययन भी गुणकारी नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—१–अभव्य जीवको मोक्षका यथार्थ श्रद्धान नहीं होता । २–देहादि अन्य सर्वपरिमुक्त आत्माकी केवल शुद्ध ज्ञानमय स्थितिको मोक्ष कहते हैं । ३–अभव्य शुद्धज्ञानमय आत्मज्ञानसे शून्य होनेके कारण न तो मोक्षकी श्रद्धा कर पाता है और न ज्ञानकी श्रद्धा कर पाता है । (४) श्रुत शास्त्र आगमके अध्ययनका फल शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा है । (५) शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा न हो पानेके कारण एकादशांग श्रुतका भी अध्ययन अभव्यके लिये गुणकारी नहीं हो पाता । (६) अभव्यके शुद्ध ज्ञानमय आत्माका न तो ज्ञान है और न श्रद्धान है, इस कारण अभव्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है । (७) अभव्यके दर्शनमोहनीयका उपशम क्षय क्षयोपशम न होनेसे वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा ।

सिद्धान्त—(१) अभव्य जीव विकारभावोंमें ही आत्मत्वका श्रद्धान बनाये रहनेके कारण सदा अशुद्ध ही रहता है । (२) मन, वचन, कायकी क्रियायें निश्चयचारित्रका हेतुभूत नहीं हैं । फिर भी उन्हें चारित्र कहना व्यवहार है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२) ।

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्---

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

कभी धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति रुचि वा झुकाव भी करता ।
वह सब भोगनिमित्त हि, पर कर्मक्षय निमित्त नहीं ॥२७५॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति । धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं।

अभव्यो हि नित्यकर्मकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात् । ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते। भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते । तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेन्न पुनः कदाचनापि विमुच्यते, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धा-

---

नामसंज्ञ—य, तह, पुणो, धम्म, भोगणिमित्त, ण, दु, त, कम्मक्खयणिमित्त । **धातुसंज्ञ**—श्रत् दह धारणे, पति इ गतौ, रोय अभिलापे श्रद्धायां च, फास स्पर्शे । **प्रातिपदिक**—च, तथा, पुनर्, धर्म, भोगनिमित्त, न, तु, तत्, कर्मक्षयनिमित्त । **मूलधातु**—श्रद् डुधाञ् धारणपोषणयोः जुहोत्यादि, प्रति इण गतौ अदादि, रुच रोचने, स्पृश संस्पर्शने तुदादि । **पदविवरण**—सद्दहदि श्रद्दधाति पत्तियदि प्रत्येति रोचेदि रोच-

---

धर्मश्रद्धान भी मोक्षके लिये नहीं होता ।

तथ्यप्रकाश—१– अभव्य जीव भोगके प्रयोजनसे पुण्यरूप धर्मकी श्रद्धा करता है। २–अभव्यजीव शुद्ध ज्ञानमय धर्मको जानता ही नहीं है । ३–अभव्यजीव भेदविज्ञानकी योग्यता न होनेसे ज्ञान चेतनारूप तत्त्वकी श्रद्धा नहीं कर सकता । ४–अभव्य सदा कर्मचेतना व कर्मफल चेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है । ५– कर्ममोक्षके हेतुभूत ज्ञानमात्र भूतार्थधर्मकी श्रद्धा अभव्यको होना असंभव है । ६– अभव्य जीव अभूतार्थधर्मकी श्रद्धा प्रतीति रुचिके बलसे नव ग्रैवेयक तक भी उत्पन्न हो सकता, किन्तु भूतार्थधर्मकी श्रद्धा न होनेसे उसको कभी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती । ७– निश्चयचारित्र बिना कितना ही व्यवहारचारित्र हो उसको मुक्ति नहीं अतः अनिश्चय प्रतिषेधक है व्यवहार प्रतिषेध्य है ।

सिद्धान्त—१– केवल सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी अभेदोपासनाके बलसे व्यक्त शुद्ध सिद्ध दशा प्राप्त होती है । २– शुभ अशुभ विकारके आदरसे संसार दशा प्राप्त होती है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, अशुद्धनिश्चयनय (२४, ४७) ।

प्रयोग— कर्मक्षयके हेतुभूत ज्ञानचेतनामात्र परमतत्त्वके श्रद्धान ज्ञान आचरणसे अपने

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥ (युगलम्)

आचारादि जिनागम, ज्ञान व जीवादि तत्त्व है दर्शन ।
षट्कायजीवरक्षा, चारित व्यवहार कहता है ॥२७६॥
निश्चयसे आत्मा ही, दर्शन चारित्र ज्ञान है मेरा ।
प्रत्याख्यान भि आत्मा, संवर अरु योग भी आत्मा ॥२७७॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं । षड्जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६ ॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च । आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वात् ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायरक्षाचारित्रस्याश्रयत्वात् चारित्रं, इति व्यवहारः । शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाद् ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः । तत्राचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः । निश्चयनयस्तु शुद्धस्या-

नामसंज्ञ—आयारादि, णाण, जीवादि, दंसण, च, विण्णेय, छज्जीवणिक, च, तहा, चरित्त, तु, ववहार, आद, खु, अम्ह, णाण, आद, अम्ह, दंसण, चरित्त, च, आद, पच्चक्खाण, आद, अम्ह, संवर, जोग । धातुसंज्ञ—भण कथने । प्रातिपदिक—आचारादि, ज्ञान, जीवादि, दर्शन, च, विज्ञेय, षट्जीवनिकाय, च,

चारित्रका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके मौजूद होनेपर भी अभव्यके शुद्धात्माका अभाव होनेसे चारित्रका अभाव है । शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है, क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतका सद्भाव होनेपर या असद्भाव होनेपर शुद्ध आत्माके सद्भावसे ही ज्ञानका सद्भाव है । शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है, क्योंकि जीवादि पदार्थोंका सद्भाव होने व न होनेपर भी शुद्ध आत्मा ही दर्शनका सद्भाव है । शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है, क्योंकि छह कायके जीवनिकायका याने जीवोंकी रक्षाका सद्भाव होने तथा असद्भाव होनेपर भी शुद्धात्माके सद्भावसे ही चारित्रका सद्भाव है ।

भावार्थ—आचाराङ्गादि शब्दश्रुतका ज्ञान कर लेना, जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा कर लेना, इन सबके होनेपर भी अभव्यके सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र नहीं होते, इस कारण व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है । किन्तु शुद्धात्माके

दर्शनस्याश्रय:, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात् । शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रय: षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात् ॥ रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता: । आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना: पुनरेवमाहु: ॥१७४॥ ॥ २७६-२७७ ॥

भणइ भणति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । चारित्तं चारित्रं–द्वितीया एक० । तु–अव्यय । ववहारे व्यवहार:–प्रथमा एक० । आदा आत्मा–प्रथमा एक० । खु खलु–अव्यय । मज्झ मम–षष्ठी एक० । णाणं ज्ञानं–प्रथमा एक० । आदा आत्मा–प्र० ए० । मे–षष्ठी एक० । दंसणं दर्शनं चरित्तं चारित्रं आदा आत्मा पच्चक्खाणं प्रत्याख्यानं आदा आत्मा संवरो संवर: जोगो योग:–प्रथमा एक० । मे–षष्ठी एकवचन ॥२७६-२७७॥

परमयोग है । (११) निश्चयमोक्षमार्गमें स्थित आत्मावोंका नियमसे मोक्ष होता है, किन्तु व्यवहारमोक्षमार्गमें स्थित जीवोंके शुद्धात्मत्वाराधना न हो तो मोक्ष नहीं, इस कारण निश्चयनय प्रतिषेधक है ।

सिद्धान्त—(१) निश्चयमोक्षमार्गमें सहजशुद्धात्मत्वका आश्रय होनेसे शुद्धदशा प्रकट होनेका विधान है ।

दृष्टि—१– शुद्धनिश्चयनय (४६) ।

प्रयोग—शुद्धात्मत्वकी व्यक्तिके लिये सहजशुद्धात्मस्वरूपकी आराधना करना ॥२७६-२७७॥

अब अगले कथनकी सूचनिकामें एक प्रश्न रखा जा रहा है—**रागादयो** इत्यादि । **अर्थ**—रागादिक तो बन्धके कारण कहे गये हैं और रागादिक शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मासे भिन्न कहे हैं तो उनके होनेमें आत्मा निमित्त कारण है या कोई अन्य ? तो ऐसे पूछनेका आचार्य इस प्रकार उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—[**यथा**] जैसे [**स्फटिकमणि:**] स्फटिकमणि [**शुद्ध:**] स्वयं शुद्ध है वह [**रागाद्यै:**] ललाई आदि रंगस्वरूप [**स्वयं न परिणमते**] स्वयं नहीं परिणमता [**तु**] परन्तु [**स:**] वह [**अन्यै: रक्तादिभि: द्रव्यै:**] दूसरे लाल आदि द्रव्योंके द्वारा [**रज्यते**] ललाई आदि रंगस्वरूप परिणमता है [**एवं**] इस प्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**शुद्ध:**] स्वयं शुद्ध है [**स:**] वह [**रागाद्यै:**] रागादि भावोंसे [**स्वयं न परिणमते**] स्वयं तो नहीं परिणमता [**तु**] परन्तु [**अन्यै: रागादिभि: दोषै:**] अन्य रागादि दोषोंके द्वारा [**रज्यते**] रागादिरूप किया जाता है ।

तात्पर्य—अपने आप अकेला परसंगरहित यह जीव रागादिरूप नहीं परिणमता है,

केवल: किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभाव: ।। न जातु

रागाद्य, अन्य, तु, तत्, रागादि, दोप । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे शब्दे च भ्वादि, रंज रागे दिवादि । **पदविवरण**—जह यथा-अव्यय । फलिहमणी स्फटिकमणि:-प्रथमा एक० । सुद्धो शुद्ध:-प्रथमा एक० । ण न-अव्यय । सयं स्वयं-अव्यय । परिणमइ परिणमते-वर्तमान लट् अन्य पुरुप एक० । रायमाईहिं रागाद्यै:-तृतीया बहुवचन । रंगिज्जदि रज्यते-वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन कर्मवाच्य क्रिया । अण्णेहिं अन्यै:-

द्रव्य कर्मप्रकृतिविपाकके निमित्तसे परिणमता है । जैसे कि स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार स्वच्छ शुद्ध ही है, परन्तु जब परद्रव्यकी ललाई आदिका डंक लगे तब ललाई आदिरूप परिणमता है । ऐसा यह परिणममान वस्तुका ही स्वभाव है कि अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्तके सान्निध्यमें ही विकाररूप परिणमता है ।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं——न जातु इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा सूर्यकान्तमणि की तरह अपने रागादिकके निमित्तभावको कभी नहीं प्राप्त होता । उस आत्मामें रागादिक होनेका निमित्त परद्रव्यका सम्बन्ध ही है । यह वस्तुका स्वभाव उदयको प्राप्त है किसीका किया हुआ नहीं है । **भावार्थ**——जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं परसंगरहित होकर ललाईरूप नहीं बनता, किन्तु लालडंकका सन्निधान होनेपर ललाईरूप परिणमता है अथवा सूर्यकान्तमणि अपने आप अग्निरूप नहीं होता, किन्तु सूर्यबिम्बका सान्निध्य होनेपर अग्निरूप परिणमता ऐसे ही आत्मा रागप्रकृतिकर्मविपाकोदय होनेपर ही रागादिरूप परिणमता है ।

अब कहते हैं कि ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिकको अपने नहीं करता——**इति वस्तु** इत्यादि । **अर्थ**——इस तरह अपने वस्तुस्वभावको ज्ञानी जानता है, इस कारण वह ज्ञानी रागादिकको अपने नहीं करता । अत: ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें निश्चयनयकी प्रतिपेधकता व व्यवहारनयकी प्रतिषेध्यताका संदर्शन था जिससे यह ध्वनित हुआ कि समस्त रागभाव प्रतिषेध्य है । अब इस गाथामें बताया है कि रागभावमें स्वयं आत्मा निमित्त नहीं है, कोई पर-उपाधिका संग ही निमित्त है तभी यह सुगमतया प्रतिषेध्य है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सभी पदार्थकी भाँति स्फटिकमणि व आत्मा स्वयं परिणमनस्वभावी है । (२) स्फटिकमणि व आत्मा स्वयं शुद्धस्वभावी होनेसे रागादिमें निमित्त नहीं हैं । (३) स्फटिक व आत्मा रागादिमें निमित्त न होनेसे स्वयंसे ही रागादिरूपसे नहीं परिणमते ।

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

ज्ञानी स्वयं न करता, अपने रति द्वेष मोह क्रोधादिक ।
इससे यह आत्मा उन, भावोंका है नहीं कर्ता ॥२८०॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा । स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ॥२८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादि-भावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी राग-

नामसंज्ञ—ण, य, रागदोसमोह, णाणि, कसायभाव, वा, सयं, अप्प, ण, त, कारग, त, भाव। **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे। **प्रातिपदिक**—न, च, रागद्वेषमोह, ज्ञानिन्, कषायभाव, वा, स्वयं, आत्मन्, न,

परिणमाया जाता। इस कारण टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावोंका अकर्ता ही है, ऐसा नियम है। **भावार्थ**—जब यह आत्मा ज्ञानी हुआ तब वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि स्वयं तो आत्मा स्वरूपतः शुद्ध है द्रव्यदृष्टिसे तो ध्रुव है पर्यायदृष्टिसे परिणमता है सो परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमता है सो अब आप ज्ञानी हुआ उन भावोंका कर्ता नहीं होता, मात्र उदयमें आये हुए फलोंका ज्ञाता ही है।

अब कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा वस्तुका स्वभाव नहीं जानता, इसलिये रागादिभावोंका कर्ता होता है—इति वस्तु इत्यादि। **अर्थ**—अज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको नहीं जानता, इस कारण वह अज्ञानी रागादिक भावोंको अपने करता है, अतः उन (रागादिकों) का करने वाला होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें बताया गया था कि रागादि विकार नैमित्तिक हैं स्वभावभाव नहीं। अब इस गाथामें बताया है कि वस्तुस्वभावका ज्ञानी रागादिभावका कर्ता नहीं होता।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानी आत्माको सहज शुद्धस्वरूप जानता है। (२) ज्ञानी विकारोद्भवके तथ्यको जानता है कि ये स्वभावसे नहीं होते, किन्तु प्रकृतिविपाकोदयके निमित्तसे होते हैं। (३) वस्तुस्वभावका ज्ञाता स्वयं रागादिरूपसे नहीं परिणमता और न परके द्वारा परिणमाया जाता है। (४) शुद्धस्वभावका अनुभव हो जानेके कारण ज्ञानी शुद्धस्वभावकी प्रतीतिसे च्युत नहीं होता सो रागद्वेषमोहादि भावोंका अकर्ता ही है।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानी अपने आत्मद्रव्यको निरुपाधिस्वभाव निरखता है। (२) आत्मद्रव्य टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभावमात्र है।

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

रति अरति कषाय प्रकृति-के होनेपर हि भाव जो होते।
इनसे परिणमता यह, रागादिक बांधता फिर भी ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः। तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २८१ ॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव। ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥

नामसंज्ञ—राय, य, दोस, य, कसायकम्म, च, एव, ज, भाव, त, दु, परिणमंत, रायाइ, पुणो, वि। **धातुसंज्ञ**—बन्ध बन्धने। **प्रातिपदिक**—राग, च, द्वेष, च, कषायकर्मन्, च, एव, यत्, भाव, तत्, तु, परिणममान, रागादि, पुनस्, अपि। **मूलधातु**—बन्ध बन्धने। **पदविवरण**—रायम्हि रागे–सप्तमी एकवचन। य च एव दु तु पुणो पुनः वि अपि–अव्यय। दोसम्हि दोषे–सप्तमी एक०। कसायकम्मेसु कषायकर्मसु–सप्तमी बहु०। जे ये–प्रथमा बहु०। भावा भावाः–प्र० बहु०। तेहिं तैः–तृतीया बहु०। परिणमंतो परिणममानः–प्रथमा एकवचन। रायाई रागादीन्–द्वितीया बहु०। बंधदि बध्नाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ २८१ ॥

तथ्यप्रकाश—१– जो वस्तुस्वभावको नहीं जानता वह अज्ञानी है। २– अज्ञानी शुद्धस्वभावसे च्युत ही रहता है। ३– शुद्धस्वभावसे च्युत रहनेके कारण अज्ञानी कर्मविपाकप्रभव रागद्वेषमोहादि भावोंसे निरर्गल परिणमता है। ४– जो रागादिरूपसे परिणमे, अपनेको रागादिरूप करे वह रागादिका कर्ता है। ५– अज्ञानी अपनेको याने रागादिरूप करनेसे कर्मसे बंध जाता है।

सिद्धान्त—१– जीवके विकारभावका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। २– रागादिरूपोंसे परिणमने वाला अज्ञानी है, अज्ञानी रागादिरूपोंसे परिणमता है।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ)। २– अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—विकारविपदासे बचनेके लिये शुद्धात्मभावनाका निरन्तर पौरुष करना ॥२८१॥

अब पूर्वोक्त गाथाका समर्थन करते हैं:—[रागे च द्वेषे च] राग द्वेष [कर्मसु चैव] और कषाय कर्मोंके होनेपर [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैस्तु] उनसे [परिणममानः]

कथमात्मा रागादीनामकारकः ? इति चेत्--

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं ।
एएणुवसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमण द्विविध है, अप्रत्याख्यान भी द्विविध जानो ।
इससे हि सिद्ध यह है, चेतयिता तो अकारक है ॥२८३॥
द्रव्य भाव दो अप्रति-क्रमण तथा अप्रत्याख्यान भि दो ।
इससे हि सिद्ध यह है, चेतयिता तो अकारक है ॥२८४॥
द्रव्य तथा भावोंका, प्रतिक्रमण न प्रत्याख्यान जब तक ।
करता है यह आत्मा, तब तक कर्ता इसे जानो ॥२८५॥

नामसंज्ञ—अपडिक्कमण, दुविह, अपच्चक्खाण, तह, एव, विण्णेय, एत, उवएस, य, अकारअ, वण्णिअ, चेया, अपडिक्कमण, दुविह, दव्व, भाव, तहा, अपच्चक्खाण, एत, उवएस, य, अकारअ, वण्णिय,

---

है । ३– जीवके रागादि परिणमन उदयागत द्रव्यप्रत्ययके सान्निध्यमें होते हैं ।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ) । २– निमित्तत्वनिमित्तदृष्टि (२०१) । ३–उपाधि-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—रागादिविकारोंको अस्वभावभाव जानकर उससे आत्मीयता न जोड़कर शाश्वत ज्ञानस्वभावमें आत्मत्वका अनुभव करना ॥ २८२ ॥

प्रश्न—यदि अज्ञानीके रागादिक फिर कर्मबन्धके कारण हैं, तो आत्मा रागादिकोंका अकारक कैसे है ? **उत्तर**--[**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधं**] दो प्रकारका [**तथैव**] उसी तरह [**अप्रत्याख्यानं**] अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका [**विज्ञेयं**] जानना [**एतेन उपदेशेन च**] इस उपदेशसे [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारकः भणितः**] अकारक कहा गया है । [**अप्रति-क्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधं**] दो प्रकार है [**द्रव्ये भावे**] एक तो द्रव्यमें, दूसरा भावमें । [**तथा अप्रत्याख्यानं**] उसी तरह अप्रत्याख्यान भी दो तरहका है एक द्रव्यमें दूसरा भावमें

नैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् । तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथासति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च

आत्मन्, तावत्, कर्तृ, तत्, ज्ञातव्य । **मूलधातु**—ज्ञा अवबोधने, वर्ण वर्णने, डुकृञ् करणे, भू सत्तायां । **पदविवरण**—अपडिक्कमणं अप्रतिक्रमणं–प्रथमा एकवचन । दुविहं द्विविधं–प्रथमा एक० । अपच्चक्खाणं अप्रत्याख्यानं–प्र० एक० । तह तथा एव–अव्यय । विण्णेयं विज्ञेयं–प्र० ए० । एएण एतेन–तृतीया एक० । उवएसेण उपदेशेन–तृतीया एक० । य च–अव्यय । अकारयो अकारकः–प्रथमा एक० । वण्णियो वर्णितः–प्र० ए० । चेया चेतयिता–प्र० ए० । अपडिक्कमणं अप्रतिक्रमणं दुविहं द्विविधं–प्रथमा एक० । दव्वे द्रव्ये भावे–सप्तमी एक० । तहा तथा–अव्यय । अपच्चक्खाणं अप्रत्याख्यानं–प्रथमा एकवचन । एएण आदि पूर्व-

त्तिकभूत रागादिभावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होता है तथा जिस समय इन भावोंका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हुआ उस समय साक्षात् अकर्ता ही है । **भावार्थ**—यहाँ द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण, द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान ऐसे दो प्रकारका जो उपदेश है वह द्रव्यभावके निमित्तनैमित्तिक भावको बताता है कि परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिक भाव नैमित्तिक हैं । सो जब तक निमित्तभूत परद्रव्यका त्याग इस आत्माके नहीं है तब तक तो रागादिभावोंका परिहार नहीं है और जब तक रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है तब तक रागादिभावोंका कर्ता ही है । तथा जिस समय निमित्तभूत परद्रव्यका त्याग करे; उस समय नैमित्तिक रागादिभावोंका भी परिहार हो जाता है, और जब रागादि भावोंका परिहार हो जाय तब साक्षात् अकर्ता ही है । इस प्रकार आत्मा स्वयमेव तो रागादि भावोंका अकर्ता ही है, यह सुसिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा तक ५ गाथावोंमें जीवके रागादिकके अकारकपनेको वर्णनका स्थल समाप्त किया था । अब रागादिकका अकारकपना कैसे है, इस जिज्ञासाका समाधान इन तीन गाथावोंमें किया है ।

तथ्यप्रकाश—१– आत्मा अपने आपके द्वारा रागादिका अकारक है, अन्यथा अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान दो-दो प्रकारके न दिखाये जाते । २– अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है—(१) भाव अप्रतिक्रमण, (२) द्रव्य प्रतिक्रमण । ३–अप्रत्याख्यान दो प्रकारका है—(१) भाव अप्रत्याख्यान; (२) द्रव्य अप्रत्याख्यान । ४– परद्रव्यको न त्याग सकना द्रव्य अप्रत्याख्यान आदि है । ५–परद्रव्यविषयक राग न त्याग सकना भाव अप्रत्याख्यान आदि है । ६–परद्रव्य

द्रव्यभावयोर्निमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

अधःकर्मादि दूषण, पुद्‌गलद्रव्यके दोष हैं उनको।
ज्ञानी किमु कर सकता, वे परिणति नित्य पुद्‌गलकी ॥२८६॥
अधःकर्म औद्देशिक पुद्‌गलमय द्रव्य है कहा इनको।
नित्य अचेतन फिर वे, कैसे मेरे किये होते ॥२८७॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः। कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणस्तु ये नित्यं ॥ २८६ ॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं। कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥ २८७ ॥

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न

नामसंज्ञ—आधाकम्माईय, पुग्गलदव्व, ज, इम, दोस, कह, त, णाणि, परदव्वगुण, उ, ज, णिच्चं, आधाकम्म, उद्देसिय, च, पोग्गलमय, इम, दव्व, कह, त, मम, कय, ज, णिच्चं, अचेयण, उत्त। **धातुसंज्ञ**–

[अचेतनं उक्तं] अचेतन कहा गया है **[तत्]** वह **[मम]** मेरा **[कृतं]** किया **[कथं भवति]** कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ—जैसे भावोंके निमित्तभूत अधःकर्मसे निष्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न (आहार आदिक) पुद्‌गल द्रव्यको न त्यागता हुआ मुनि उस द्रव्यके नैमित्तिकभूत और बंधके साधक भावको भी त्याग नहीं करता, उसी प्रकार जो समस्त परद्रव्यको त्याग नहीं करता है वह उसके निमित्तसे हुए भावोंको भी त्याग नहीं करता। और अधःकर्म आदिक पुद्‌गलद्रव्योंके दोषोंको आत्मा नहीं करता, क्योंकि ये दोष पुद्‌गल द्रव्यके परिणाम हैं। ऐसा होनेपर आत्माके इनके कार्यत्वका अभाव है। इस कारण ज्ञानी ऐसा जानता है कि जो अधःकर्म उद्देशिक पुद्‌गलद्रव्य हैं वे मेरे कार्य नहीं हैं; क्योंकि ये नित्य ही अचेतन होनेसे मेरे कार्यत्वका इनके अभाव है। ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्‌गलद्रव्यको त्यागता हुआ मुनि बंधके साधक नैमित्तिकभूत भावको भी त्यागता है; उसी तरह समस्त परद्रव्यको त्याग करता हुआ आत्मा उस परद्रव्यके निमित्तसे हुए भावोंको भी त्यागता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव इन दोनों

एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ।। इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्तन्मूलं बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समं । आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१७८।। रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य । ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्तद्वद्यद्व-

---

एक० । णाणी ज्ञानी–प्रथमा एक० । परदव्वगुणा परद्रव्यगुणाः–प्र० बहु० । उ तु–अव्यय । जे ये–प्रथमा बहु० । णिच्चं नित्यं–अव्यय । आधाकम्मं अधःकर्म–प्रथमा एकवचन । उद्देसियं उद्देशिकं–प्र० एक० । च–अव्यय । पोग्गलमयं पुद्गलमयं–प्र० एक० । इमं इदं–प्र० ए० । दव्वं द्रव्यं–प्र० ए० । कह कथं–अव्यय । तं तत्–प्र० ए० । मम–षष्ठी एक० । होइ भवति–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० क्रिया । कयं कृतं–प्रथमा

प्रखर पुरुषार्थसे विदारण करती हुई, उस रागादिके कार्यरूप ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारके बंधको अब तत्काल ही दूर करके, जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश किया है ऐसी यह ज्ञानज्योति सही ऐसी सज्जित हुई कि अब उसके विस्तारको अन्य कोई आवृत नही कर सकता । **भावार्थ**—जब ज्ञान प्रकट होता है तब रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य कर्मबन्ध भी नहीं होता तब फिर इसके विकासको रोकने वाला कोई नही रहता, सदा प्रकाशमान ही रहता है ।

इस तरह बंध स्वांगको दूर कर निकल गया ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रयमें द्रव्य व भावमें निमित्तनैमित्तिकभाव दर्शाते हुए बताया गया था कि आत्मा रागादिका अकारक है । अब इन दो गाथावोंमें द्रव्य व भाव में स्थित निमित्तनैमित्तिकभावका उदाहरण बताया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परद्रव्यप्रसंग व विकारभावमें निमित्तनैमित्तिक भाव है । (२) अधःकर्मनिष्पन्न व उद्दिष्ट आहार पुद्गलद्रव्यमय है । (३) पुद्गलद्रव्यमय आहारके दोष गुण मुनि ज्ञानी द्वारा नहीं किये जा सकते । (४) पुद्गलद्रव्यमय आहारमें मन वचन कायसे कृत कारित अनुमोदनाका प्रसंग करे तो उसके बन्ध होता । (५) यदि परकृत आहारमें मन वचन कायसे कृत कारित अनुमोदनाका भाव रंच भी न हो तो उसके बन्ध नहीं होता । (६) भेद-ज्ञान होनेपर निश्चयरत्नत्रयके साधक संत जनोंके योग्य आहारके विषयमें भी मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनाका भाव नही रहता । (७) नवकोटि विशुद्ध मुनियोंके परकृताहारादि विषयमें बन्ध नही है । (८) यदि परकीय परिणामसे बन्ध होने लगे तब तो फिर किसी भी कालमें निर्वाण नहीं हो सकता ।

सिद्धान्त—(१) कर्मबन्धका निमित्त स्वकीय रागादि अज्ञानमय परिणाम है । (२)

अथ मोक्षाधिकारः

अथ प्रविशति मोक्षः। द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतं। इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानंदसरसं परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएणावि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥

जैसे कोई पुरुष जो, बन्धनमें चिरकालसे बँधा हो।
तीव्र मंद भावोंको, अरु बन्धनकालको जाने ॥२८८॥
यदि वह नर नहिं काटे, बन्धनको बन्धके वश हुआ तो।
बहुत कालमें भी उस, बन्धनसे मुक्ति नहिं पाता ॥२८९॥
त्यौं कर्मबन्धनोंके, थिति अनुभागप्रदेश प्रकृतियोंको।
जानता भि नहिं छूटे, छूटे यदि शुद्ध हो जावे ॥२९०॥

नामसंज्ञ—जह, णाम, को, वि, पुरिस, बंधणय, चिरकालपडिबद्ध, तिव्व, मंदसहाव, काल, च, तत, जइ, ण, वि, छेद, ण, बंधणवस, संत, काल, उ, बहुय, वि, ण, त, णर, विमोक्ख। **धातुसंज्ञ**—वि जाण

अब क्रमप्राप्त मोक्षाधिकारका प्रारम्भ होता है जिसमें सर्वप्रथम मोक्षाधिकारके आदिमें सम्यग्ज्ञानकी महिमा बतलाते हैं—द्विधाकृत्य इत्यादि। अर्थ—अब प्रज्ञारूप करोंतसे विदारण के द्वारा बन्ध और पुरुषको पृथक् करके निजस्वरूपके अनुभवसे सुनिश्चित पुरुषको साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है। वह ज्ञान अपने स्वाभाविक परम आनन्दसे सरस (रस भरा) है, उत्कृष्ट है और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं याने अब

बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रवत् । एतेन कर्मबंध-प्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते ॥ २८८-२९० ॥

पदविवरण—जह यथा–अव्यय । णाम नाम–अव्यय या प्रथमा एक० । को कः–प्रथमा एक० । वि अपि–अव्यय । पुरिसो पुरुषः–प्रथमा एक० । बंधणयम्हि बन्धनके–सप्तमी एक० । चिरकालपडिबद्धो चिरकाल-प्रतिबद्धः–प्रथमा एक० । तिव्वं तीव्रं–द्वितीया एक० । मंदसहावं मंदस्वभावं–द्वि० ए० । कालं–द्वि० एक० । च–अव्यय । वियाणये विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । यदि जइ–अव्यय । ण वि न अपि–अव्यय । कुणइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । छेदं–द्वि० एक० । ण न–अव्यय । मुच्चए मुच्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन भावकर्मवाच्य क्रिया । तेण तेन–तृतीया एक० । बंधणवसो बन्धनवशः–प्रथमा एक० । सं सन्–प्र० ए० । कालेण कालेन–तृ० एक० । उ तु–अव्यय । बहुएण बहुकेन–तृ० एक० । वि अपि–अव्यय । ण न–अव्यय । सो सः–प्र० एक० । णरो नरः–प्र० एक० । पावइ प्राप्नोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । विमोक्खं विमोक्षं–द्वि० एक० । इय इति वि अपि एवं ण न च एव जइ यदि–अव्यय । कम्मबंधणाणं कर्मबन्धयानां–षष्ठी बहु० । पएसठिइपयडिं प्रदेशस्थितिप्रकृति–द्वि० एक० । अनुभागं–द्वि० ए० । जाणंतो जानन्–प्र० ए० । मुच्चइ मुच्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मवाच्य क्रिया । सो सः–प्र० ए० । सुद्धो शुद्धः–प्रथमा एकवचन ॥ २८८-२९० ॥

मात्र ही कर्मबन्धसे छूटनेका कारण नहीं है । इस कथनसे जो लोग कर्मके बन्धके विस्तारकी रचनाके जानने मात्रसे ही मोक्ष मानते हैं, अतः उसके ज्ञानमात्रमें ही सन्तुष्ट हैं उनका खंडन किया है । भावार्थ—जाननेमात्रसे ही बन्ध नहीं कटता, बन्ध तो काटनेसे ही कटता है ।

प्रसंगविवरण—भूयत्थेणाभिगया इत्यादि अधिकार गाथाके अनुसार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा व बन्ध तत्त्वका वर्णन अब तक हो चुका । अब क्रमप्राप्त मोक्षतत्त्वका वर्णन किया जाता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा और कर्मबन्धके अलग-अलग हो जानेको मोक्ष कहते हैं । (२) कर्म व कर्मबन्धके स्वरूपका ज्ञान भर कर लेना मोक्षका कारण नहीं । (३) कर्मबन्धके विस्तार व रचनाके ज्ञानमात्रसे ही सन्तुष्ट होनेमें कल्याण नहीं है । (४) कर्मबन्धको अलग हटा देना मोक्षका हेतु है । (५) मिथ्यात्व रागादिरहित होकर अनन्तज्ञानादिगुणात्मक परमात्मस्वरूपमें स्थित होता हुआ ही जीव कर्मबन्धोंको छोड़ देता है । (६) स्वरूपोपलब्धिरहित पुरुषोंको कर्मबन्ध रचनादि परिज्ञानसे व चर्चासे मन्दकषायके कारण मात्र पुण्यबन्ध होता है, मोक्षमार्ग नहीं ।

सिद्धान्त—(१) सहज स्वशुद्धज्ञानमय अन्तस्तत्त्वको आराधना होनेपर कर्मबन्धसे मुक्ति होती है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

कस्तर्हि मोक्षहेतुः ? इति चेत्--

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो तु उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥ २९२ ॥

ज्यों बन्ध काट करके, बन्धनबद्ध नर मुक्तिको पाता ।
त्यों बन्ध काट करके, आत्मा भी मोक्षको पाता ॥२९२॥

यथा बन्धांश्छित्त्वा च बन्धनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं । तथा बन्धांश्छित्त्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ।

कर्मबद्धस्य बंधच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधच्छेदवत् । एतेन उभये-

---

नामसंज्ञ--जह, बन्ध, य, बन्धणबद्ध, उ, विमोक्ख, तह, बन्ध, य, जीव, विमोक्ख । धातुसंज्ञ--छिंद छेदने, प आव प्राप्तौ, सं प आव प्राप्तौ । प्रातिपदिक--यथा, बन्ध, च, बन्धनबद्ध, तु, विमोक्ष, तथा, बन्ध, च, जीव, विमोक्ष । मूलधातु--छिदिर् द्वैधीकरणे, प्र आप्लृ व्याप्तौ, सं प्र आप्लृ व्याप्तौ ।

मानते हैं, उनको उपदेश है कि शुभपरिणामसे मोक्ष नहीं होता ।

प्रसंगविवरण--अनन्तरपूर्व गाथात्रिकमें बताया था कि कर्मबन्धरचनाके ज्ञानमात्रसे मोक्ष नही है । अब इस गाथामें बताया है कि कर्मबन्धविषयक चिन्तासे भी मोक्ष नही है ।

तथ्यप्रकाश--(१) कर्मकी प्रकृति आदिके बन्धका चिन्तवन करने मात्रसे मोक्ष नहीं है । (२) कर्मसे रागसे कैसे छूटूं इतने मात्र धर्म्यध्यानसे भी मोक्ष नही है । (३) सहज चिदानन्दैकस्वरूप अन्तस्तत्त्वके ध्यानसे रहित जीवके कर्मबन्धचिन्तवनरूप सरागधर्मध्यानसे पुण्यबंध तो हो लेगा, मोक्ष नहीं ।

सिद्धान्त--(१) सरागधर्म्यध्यान शुभकर्मबन्धका हेतु है ।

दृष्टि--१- निमित्तदृष्टि, उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३अ, ५३) ।

प्रयोग--कर्मबन्धविनाशचिन्तनसे गुजरकर निर्विकल्प सहजात्मसंवेदनमें उपयोगको रमाना ॥ २९१ ॥

प्रश्न--यदि बन्धके स्वरूपके ज्ञानसे भी मोक्ष नही होता और उसकी चिन्ता करनेसे भी मोक्ष नहीं होता तो मोक्षका कारण क्या है ? उत्तर--[यथा च] जैसे [बंधनबद्धः] बन्धनसे बँधा पुरुष [बंधान् छित्वा तु] बन्धको छेदकर ही [विमोक्षं] मोक्षको [प्राप्नोति] प्राप्त करता है [तथा च] उसी प्रकार [बंधान् छित्वा] कर्मके बन्धनको छेदकर [जीवः] जीव [विमोक्षं प्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त करता है ।

तात्पर्य--बन्धके विनाशसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

टीकार्थ--कर्मबद्धपुरुषके बन्धनको छेदन करना मोक्षका कारण है, ऐसा ही हेतुपना

किमयमेव मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

वंधाणं च सहावं वियाणियो अप्पणो सहावं च।
वंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥२६३॥

विधि बन्ध स्वभावोंको, अरु आत्मस्वभावको भी जो।
बन्धविरक्त हुआ बुध, सो कर्मविमोक्षको करता ॥२६३॥

वन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च। वन्धेपु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥२६३॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय बंधेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ॥ २६३ ॥

नामसंज्ञ—बन्ध, च, सहाव, अप्प, सहाव, च, बन्ध, ज, त, कम्मविमोक्खण। **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, वि रज्ज रागे, कुण करणे। **प्रातिपदिक**—बन्ध, च, स्वभाव, आत्मन्, स्वभाव, च, बन्ध, यत्, तत्, कर्मविमोक्षण। **मूलधातु**—वि ज्ञा अवबोधने, वि रज्ज रागे दिवादि, डुकृञ् करणे। **पदविवरण**—बन्धाणं बन्धानां–षष्ठी बहु०। च–अव्यय। सहावं स्वभावं–द्वितीया एक०। वियाणिओ विज्ञाय–असमाप्तिकी क्रिया। अप्पणो आत्मनः–षष्ठी एक०। सहावं स्वभावं–द्वि० एक०। बन्धेसु बन्धेषु–सप्तमी बहु०। जो यः–प्रथमा एक०। विरज्जदि विरज्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सो सः–प्रथमा एकवचन। कम्मविमोक्खणं कर्मविमोक्षणं–द्वितीया एकवचन। कुणइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ॥ २६३ ॥

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि बन्धको छेद करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है। अब इस गाथामें उसी मोक्षके उपायको स्पष्ट बताया है।

तथ्यप्रकाश—(१) बंधका छेदन बंधसे विरक्त होने याने विमुख होनेसे होता है। (२) बंधसे विरक्ति बन्धका स्वभाव व आत्माका स्वभाव जाननेसे होती है। (३) आत्मस्वभाव है निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र। (४) बन्धका स्वभाव है आत्मामें विकार करना। (५) बन्ध स्वभावसे आत्मस्वभाव अलग है। (६) आत्मस्वभावमें विकार नहीं। (७) बन्धोंसे जो हट जाता है वह कर्ममोक्षको प्राप्त होता है।

सिद्धान्त—(१) बन्धसे विरक्ति होनेसे, स्वभावमें मग्नता होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है।

दृष्टि— १– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—शुद्धात्मलाभके लिये आत्मस्वभाव व बन्धस्वभावको जानकर बन्धसे विरक्त होकर शुद्धात्मतत्त्वकी भावना करना ॥ २६३ ॥

प्रश्न—आत्मा और बंध ये दोनों किस उपायसे पृथक् किये जाते हैं? **उत्तर**—[**जीवः च बंधः**] जीव और बन्ध ये दोनों [**नियताभ्यां**] निश्चित [**स्वलक्षणाभ्यां**] अपने-

क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः इति यावत् । वंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणं । न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासंते नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावंत एव रागादयः प्रतिभांति । रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात्,

तु, छिन्न, नानात्व, आपन्न । **मूलधातु**—छिदिर् छेदने रुधादि, आ-पद गतौ । **पदविवरण**—जीवो जीवः–

अन्य द्रव्योंसे असाधारणपना होनेसे याने अन्य द्रव्यमें न पाया जानेसे चैतन्य स्वलक्षण है । वह चैतन्य स्वलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस-जिस पर्यायको व्याप्त कर प्रवर्तता है तथा निवर्तता हुआ जिस-जिस पर्यायको ग्रहण कर निवृत्त होता है वह वह समस्त ही सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायों का समूह आत्मा है ऐसा लखना चाहिये । क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्यमें होता है । तथा समस्त सहवर्ती व क्रमवर्ती अनन्त पर्यायोंके साथ चैतन्यका अविनाभावीपना होनेसे चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये, इस प्रकार ही समझना । परन्तु बन्धका स्वलक्षण आत्मद्रव्यसे असाधारण रागादिक हैं, क्योंकि ये रागादिक आत्मद्रव्यसे साधारणपन को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, वे रागादिक सदा ही चैतन्यचमत्कारसे भिन्नपने से प्रतिभासित होते हैं । और जितना अपने समस्त पर्यायोंमें व्यापने स्वरूप चैतन्य प्रतिभासित होता है, उतने ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादिकके बिना भी चैतन्यका आत्मलाभ सम्भव है । हाँ, जो रागादिकका चैतन्यके साथ ही उत्पन्न होना दीखता है वह इस ज्ञेयज्ञायक भावके अति निकट होनेसे ही दीखता है एक द्रव्यपनेके कारण नहीं । वहाँ चेत्यमान रागादिक आत्माके चेतकपनको याने ज्ञायकपनेको ही विस्तारते हैं, रागादिकपनको नहीं विस्तारते, जैसे कि दीपकके द्वारा प्रकाशमान घटादिक दीपकके प्रदीपकपनेको ही विस्तारते हैं, रागादिकपनको नहीं विस्तारते, ऐसा होनेपर भी आत्मा और बन्ध दोनोंके अत्यन्त निकटपने से भेदकी सम्भावनाका अभाव होनेसे इस अज्ञानीके अनादिकालसे एकत्वका भ्रम है । लेकिन वह भ्रम प्रज्ञाके द्वारा छेदा जाता ही है ।

भावार्थ—आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओंका स्कन्ध है इस वजहसे ये दोनों पृथक् अज्ञानीके ज्ञानमें नहीं आते, एकीभूत दीखता है, यह अज्ञान अनादिसे चला आया है । सो श्रीगुरुओंका उपदेश पाकर ज्ञानवलसे इन दोनोंको न्यारा-न्यारा ही जानना कि चैतन्यमात्र तो आत्माका लक्षण है और रागादिक बन्धका लक्षण है । ये दोनों

निपतितरभसादात्मकर्मोभयस्य । आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥ ॥ २९४ ॥

अन्य पुरुष बहु० कर्मवाच्य क्रिया । छिद्येते—वर्तमान लट् अन्य पुरुप द्विवचन कर्मवाच्य क्रिया । पण्णाछेदणऐण प्रज्ञाछेदकेन—तृतीया एक० । उ तु—अव्यय । छिण्णा—प्रथमा बहु० । छिन्नौ—प्रथमा द्विवचन । णाणत्तं नानात्वं—द्वितीया एक० । आवण्णा—प्रथमा बहु० । आपन्नौ—प्रथमा द्विवचन ॥ २९४ ॥

है जो सब आत्मावोंमें नहीं पाया जाता और चैतन्यस्वरूपसे अत्यन्त विलक्षण है । (८) चेत्यमान रागादिक आत्माकी चेतकताको ही प्रसिद्ध करते हैं रागादिकताको नहीं बताते । (९) प्रकाशमान घटादिक दीपककी प्रकाशकताको ही प्रसिद्ध करते हैं । (१०) चेत्यचेतक भावकी अतीव प्रत्यासत्तिके कारण उनमें भेदज्ञानकी सम्भावना न होनेपर होने वाला एकपनेका मोह प्रज्ञाके द्वारा ही नष्ट किया जाता है ।

सिद्धान्त—(१) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मा व कर्मबन्ध इनको पृथक्-पृथक् कर दिया जाता है ।

दृष्टि—१- वैलक्षण्यनय (२०३) ।

प्रयोग—विवेकबुद्धि द्वारा जीव और बन्धको अपने-अपने लक्षणोंसे जुदा-जुदा करके जीवस्वभावको निहारते रहना ॥ २९४ ॥

प्रश्न—आत्मा और बंधको द्विधा करके क्या करना ? **उत्तर**—[**जीवः**] जीव [**च**] और [**बंधः**] ये दोनों [**नियताभ्यां**] निश्चित [**स्वलक्षणाभ्यां**] अपने-अपने लक्षणोंसे [**तथा**] उस प्रकार [**छिद्येते**] छेदे जाते हैं कि [**बंधः छेत्तव्यः**] बन्ध तो छिदकर अलग हो जाना चाहिये [**च**] और [**शुद्धः आत्मा गृहीतव्यः**] शुद्ध याने केवल आत्मा ग्रहण कर लिया जाना चाहिये ।

तात्पर्य—आत्मा और बन्धको अलग जान लेनेका प्रयोजन यह है कि बन्ध तो छूट जाना चाहिये और आत्मा ग्रहणमें आना चाहिये ।

टीकार्थ—आत्मा और बन्ध इन दोनोंको पहले तो अपने-अपने निश्चित लक्षणके ज्ञान से सर्वथा ही भिन्न करना चाहिये । तत्पश्चात् रागादिक लक्षण वाले समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिये तथा उपयोगलक्षण वाले केवल शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिये । यही निश्चयसे आत्मा और बन्धके भिन्न-भिन्न करनेका प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्ध आत्माको ग्रहण करना । **भावार्थ**—आत्मा और बन्धको द्विधा करके क्या करना ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि बन्धका तो त्याग करना और शुद्ध आत्माको ग्रहण करना ।

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२९६॥

किमि गृहीत हो आत्मा, प्रज्ञासे वह गृहीत होता है ।
ज्यों प्रज्ञासे भेदा, त्यों प्रज्ञासे ग्रहण करना ॥२९६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा । यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः

नामसंज्ञ—कह, त, अप्प, पण्णा, त, उ, अप्प, जह, पण्णा, विहत्त, तह, पण्णा, एव, घित्तव्व । **धातुसंज्ञ**—गिण्ह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—कथं, तत्, आत्मन्, प्रज्ञा, तत्, तु, आत्मन्, यथा, प्रज्ञा, विभक्त, तथा, प्रज्ञा, एव, गृहीतव्य । **मूलधातु**—ग्रह उपादाने क्र्यादिगणे । **पदविवरण**—कह कथं–अव्यय । सो सः–प्रथमा एकवचन । उ तु–अव्यय । घिप्पइ गृह्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । अप्पा आत्मा–प्रथमा एक० । पण्णाए प्रज्ञया–तृतीया एकवचन । सो सः–प्रथमा एक० । उ तु–अव्यय ।

आत्मा और बन्धको प्रज्ञासे तो भिन्न किया, परन्तु आत्माको ग्रहण किसके द्वारा किया जाय ? इस प्रश्नोत्तरको गाथा कहते हैं— **प्रश्न**—[**स आत्मा**] वह शुद्धात्मा [**कथं**] कैसे [**गृह्यते**] ग्रहण किया जाता है ? **उत्तर**—[**स तु आत्मा**] वह शुद्धातमा [**प्रज्ञया**] प्रज्ञाके द्वारा ही [**गृह्यते**] ग्रहण किया जाता है । [**यथा**] जिस प्रकार पहले [**प्रज्ञया**] प्रज्ञाके द्वारा [**विभक्तः**] भिन्न किया [**तथा**] उसी प्रकार [**प्रज्ञयैव**] प्रज्ञाके द्वारा ही [**गृहीतव्यः**] ग्रहण किया जाना चाहिये ।

तात्पर्य—ज्ञानके द्वारा ही तो आत्मस्वभाव व बन्धको भिन्न-भिन्न किया जाता है और ज्ञानके ही द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है ।

टीकार्थ—**प्रश्न**—यह शुद्ध आत्मा किस तरह ग्रहण किया जाना चाहिये ? **उत्तर**—यह शुद्धात्मा प्रज्ञासे ही ग्रहण किया जाना चाहिये । क्योंकि स्वयं अपने शुद्ध आत्माको ग्रहण करते हुए शुद्ध आत्माके जैसे कि पहले भिन्न करते हुएके प्रज्ञा ही एक करण था उसी प्रकार ग्रहण करते हुए भी वही प्रज्ञा एक करण है, भिन्न करण नही है । अतः जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था वैसे प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये । **भावार्थ**—आत्मा और बन्धको भिन्न करनेमें और केवल आत्माके ग्रहण करनेमें पृथक् करण नहीं है इसलिये प्रज्ञाके द्वारा ही तो भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मा और बन्धको अलग-अलग करके मात्र आत्माको ग्रहण करना चाहिये । अब इस गाथामें बताया है कि मात्र आत्मतत्त्वको कैसे ग्रहण कर लेना चाहिये ।

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्यः ? इति चेत्—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञासे यों गहना, जो चेतक सो हि मैं हुं निश्चयसे ।
अवशिष्ट भाव मुझसे, भिन्न तथा पर पृथक् जानो ॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः । अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं । ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः । ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव

नामसंज्ञ—पण्णा, घित्तव्व, ज, चेदा, त, अम्ह, तु, णिच्छयदो, अवसेस, ज, भाव, त, अम्ह, पर, इत्ति, णायव्व । **धातुसंज्ञ**—गिण्ह गहणे, चेत करणाववोधनयोः, जाण अवबोधने । **प्रातिपदिक**—प्रज्ञा,

---

हुएसे ही चेतता हूं, चेतते हुएके लिये ही चेतता हूं, चेतते हुएसे ही चेतता हूं, चेतते हुएमें ही चेतता हूं, चेतते हुएको ही चेतता हूं अथवा न तो चेतता हूं, न चेतता हुआ चेतता हूं, न चेतते हुएसे चेतता हूं, न चेतते हुएके लिये चेतता हूं, न चेतते हुएसे चेतता हूं, न चेतते हुएमें चेतता हूं, न चेतते हुएको चेतता हूं । किन्तु मैं तो सर्व विशुद्ध चिन्मात्र भाव हूं । **भावार्थ**—पहिले प्रज्ञाके द्वारा आत्माको बन्धसे भिन्न किया था तब उसीसे यह चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूं ऐसा अपनेको ग्रहण किया । सो यहाँ अभिन्न छह कारकोंसे ग्रहण किया कि मैं, मुझको, मेरे द्वारा, मेरे लिये, मुझसे अपनेमें जानता हूं अब और सामान्यकी ओर वृत्ति हुई सो उससे मैं चेतता हूं, अपनेको चेतता हूं, अपने द्वारा चेतता हूं, अपने लिये चेतता हूं, अपनेसे चेतता हूं, अपनेमें चेतता हूं यों अनुभवा । फिर और सामान्य हुए तो इन अभिन्न कारकोंके भेदका भी निषेध करके मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूं, एक अभेद हूं, इस तरह बुद्धिके द्वारा आत्माको ग्रहण करना ।

अब इस अर्थको काव्यमें कहते हैं—**भित्त्वा** इत्यादि । **अर्थ**—जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको निज लक्षणके बलसे भेदकर चैतन्य चिह्नसे चिह्नित, विभागरहित महिमा वाला मैं शुद्ध चैतन्य ही हूं । यदि प्रतिबोधनार्थ कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ये छः कारक और सत्त्व, असत्त्व, नितयत्व, अनित्यत्व आदिक धर्म व ज्ञान, दर्शन आदिक गुण ये भेदरूप हों तो हों, परन्तु विशुद्ध, समस्त विभावोंसे रहित, शुद्ध,

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९९॥ (युग्मम्)

प्रज्ञासे यों गहना, जो द्रष्टा सो हि मैं हूं निश्चयसे ।
अवशिष्ट भाव मुझसे, भिन्न तथा पर पृथक् जानो ॥२९८॥
प्रज्ञासे यों गहना, जो ज्ञाता सो हि मैं हुं निश्चयसे ।
अवशिष्ट भाव मुझसे, भिन्न तथा पर पृथक् जानो ॥२९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः । अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९८ ॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः । अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९९ ॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव

नामसंज्ञ—पण्णा, घित्तव्व, ज, दट्ठार, त अम्ह, तु, णिच्छयओ, अवसेस, ज, भाव, त, अम्ह, पर, इत्ति, णादव्व, पण्णा, घित्तव्व, ज, णादार, त, अम्ह, तु, णिच्छयदो अवसेस इत्यादि । धातुसंज्ञ—गिण्ह ग्रहणे, जाण अवबोधने । प्रातिपदिक—प्रज्ञा, गृहीतव्य, यत्, द्रष्टृ, तत् अस्मद्, तु, निश्चयतः, अवशेष,

---

आत्मग्रहणका अभ्यास हो चुकनेपर आत्माका अभेदानुभव होता है ।

दृष्टि—१– कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३) । २– शुद्धनय (४६) ।

प्रयोग—आत्माको उपयोगस्वलक्षणसे ज्ञानमात्र परखकर ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका निर्विकल्प अनुभव करना ॥ २९७ ॥

अब कहते है कि सामान्य चेतना दर्शनज्ञानसामान्यमय है इसलिये अनुभवमें दर्शनज्ञानस्वरूप आत्माका ऐसे भी ग्रहण होता है—**[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञाके द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि **[यो द्रष्टा]** जो देखने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चयसे **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव हैं **[ते मम पराः]** वे मुझसे पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना चाहिये तथा **[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञाके द्वारा ऐसा ही ग्रहण करना चाहिये कि **[यो ज्ञाता]** जो जानने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चयसे **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव है **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझसे पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना चाहिये ।

भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनापत्तिः व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव

पंचम्यर्थे अव्यय । अवसेसा अवशेषाः—प्रथमा बहु० । जे ये—प्र० बहु० । भावा भावाः—प्र० बहु० । ते—प्रथमा बहु० । मज्झ मम—पष्ठी एक० । परा पराः—प्रथमा बहुवचन । इत्ति इति—अव्यय । णादव्वा ज्ञातव्याः—

पनेको उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि सभी वस्तुओंकी सामान्यविशेषात्मकता है । जो उसके दो रूप हैं वे दर्शन, ज्ञान हैं । इस कारण वह चेतना दर्शन, ज्ञान इन दोनोंको उल्लंघन नहीं करती । यदि चेतना इन दो स्वरूपोंको लांघे तो सामान्य विशेषरूपके उल्लंघनपनेसे चेतना ही नहीं रहती । उस चेतनाका अभाव होनेपर दो दोष आते हैं—एक तो अपने गुणका उच्छेद होनेसे चेतनके अचेतनपनकी प्राप्ति आती है और दूसरे व्यापक चेतनका अभाव होने पर व्याप्य जो चेतन आत्मा उसका अभाव होता है । इस कारण इन दोषोंके भयसे चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही अङ्गीकार करना चाहिये । **भावार्थ**—चेतनाको ज्ञानरूपमें ग्रहण करना, सामान्यप्रतिभासरूपमें ग्रहण करना, इन भेदोंको छोड़ चिन्मात्र अनुभवना ।

अब इस अर्थको काव्यमें कहते हैं—**अद्वैता** इत्यादि । **अर्थ**—जगतमें निश्चयसे चेतना अद्वैत होनेपर भी यदि वह दर्शन ज्ञानरूपको छोड़ दे तो सामान्यविशेषरूपके अभावसे वह चेतना अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी और जब चेतना अपने अस्तित्वको ही छोड़ दे तो चेतनके जड़पना हो जायगा तथा व्यापक चेतनाके बिना व्याप्य आत्मा अन्तको प्राप्त हो जायगा अर्थात् आत्माका नाश हो जायगा, इस कारण चेतना नियमसे दर्शनज्ञानस्वरूप ही है । **भावार्थ**—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है । चेतना भी वस्तु है सो वह यदि दर्शन ज्ञान विशेषको छोड़ दे तो वस्तुपनेका नाश हो जानेसे, चेतनाका अभाव हो जानेसे चेतनके जड़पना आ जायेगा । इस कारण चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही जानना चाहिए । जो सामान्य चेतनाको ही मानकर एकान्त करते हैं, उनकी भूल दूर करनेके लिये भी 'वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है सो चेतनाको भी सामान्यविशेषरूप अंगीकार करना' ऐसा बतलाया है ।

अब युक्तिपूर्वक कहते हैं कि चिन्मयभाव तो उपादेय है और परभाव हेय हैं—एक इत्यादि । **अर्थ**—चेतनका तो एक चिन्मय ही भाव है । और जो दूसरे भाव हैं वे प्रगट रीति से परके भाव हैं । इस कारण एक चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है और परभाव सभी

को णाम भणिज्ज वुहो णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

सब परभावोंको पर, आत्माको शुद्ध जानने वाला ।
कौन बुध यह कहेगा, परभावोंको कि ये मेरे ॥३००॥

को नाम भणेद् बुधो ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् । ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३०० ॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति । एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसंबंधस्यासंभवात् । अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः शेषाःसर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ॥ सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं । एते ये तु समुल्लसंति

नामसंज्ञ—क, णाम, वुह, सव्व, पराइअ, भाव, अम्ह, इम, जि, य, वयण, जाणंत, अप्पय, सुद्ध । **धातुसंज्ञ**—भण कथने, जाण अववोधने । **प्रातिपदिक**—किम्, नामन्, वुध, सर्व, परकीय, भाव, अस्मद्, इदम्, इति, च, वचन, जानत्, आत्मन्, शुद्ध । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, ज्ञा अववोधने । **पदविवरण**—को कः–प्रथमा एक० । णाम नाम–प्रथमा एक० अथवा अव्यय । भणिज्ज भणेत्–लिङ् विधौ अन्य पुरुष एक-

---

दृष्टि——१– कारककारकिभेदक सद्भूत व्यवहार (७३) । २– शुद्धनय (४६) ।

प्रयोग——आत्माको दर्शनज्ञानोपयोग स्वलक्षणसे परखकर दर्शन ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का निर्विकल्प अनुभव करना ॥ २९८-२९९ ॥

अब परभावकी हेयता इस गाथामें कहते हैं––[**सर्वान् भावान् परकीयान्**] सभी परकीय भावोंको [**ज्ञात्वा**] जानकर [**इदं मम**] ये मेरे हैं [**इति च वचनं**] ऐसा वचन [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**शुद्धं जानन्**] शुद्ध जानता हुआ [**कः नाम बुधः**] कौन बुद्धिमान [**भणेत्**] कहेगा ? ज्ञानी पंडित तो नहीं कह सकता ।

तात्पर्य—शुद्ध आत्मतत्त्वको जानने वाला परभावोंको अपना नहीं मान सकता ।

टीकार्थ—जो पुरुष आत्मा और परके निश्चित स्वलक्षणके विभागमें पड़ने वाली प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह पुरुष निश्चयतः एक चैतन्यमात्र अपने भावको तो अपना जानता है और बाकीके सभी भावोंको परके जानता है । और ऐसा जानता हुआ ज्ञानी परके भावोंको 'ये मेरे हैं' ऐसा किस तरह कह सकता है ? क्योंकि पर और आपमें निश्चयसे स्व-स्वामिपनाका सम्बन्ध असम्भव है । इस कारण सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करना चाहिये, अवशेष सभी भाव त्यागना चाहिये, ऐसा सिद्धान्त है । **भावार्थ**—जैसे लोकमें यह न्याय है कि सुबुद्धि और न्यायवान पुरुष परके धनादिकको अपना नहीं कहता, उसी तरह सम्यग्ज्ञानी

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई।
मा वज्झेज्जं केणावि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥

चौर्यादिक अपराधों-को जो करता सशंक भ्रमता है।
चौर समझकर लोगों-के द्वारा मैं न बँध जाऊँ ॥३०१॥
जो अपराध न करता, वह निःशंक हो नगरमें भ्रमता।
उसको बँध जानेकी, चिन्ता उत्पन्न नहिं होती ॥३०२॥
यों सापराध बनकर, शंकित मैं कर्मफंदसे बँधता।
यदि होउँ निरपराधी, तो मैं निःशंक नहिं बँधता ॥३०३॥

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स तु शङ्कितो भ्रमति। मा वध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥ ३०१ ॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति। नापि तस्य वद्धुं यत् चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ॥३०२॥
एवं हि सापराधो वध्येऽहं तु शङ्कितश्चेतयिता। यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न वध्ये ॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति। यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति। तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं

नामसंज्ञ—थेयाइ, अवराह, ज, त, उ, संकिद, मा, क, वि, चोर, इत्ति, जण, वियरंत, ज, ण, अवराह, त, णिस्संक, दु, जणवअ, ण, वि, त, जे, चिंता, कयाइ, एवं, हि, सावराह, अम्ह, तु, संकिद, चेया, जइ, पुण, णिरवराह, णिस्संक, अम्ह, ण। **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, भ्रम भ्रमणे, बन्ध बन्धने, उव पज्ज

अब कहते हैं कि परद्रव्यको जो ग्रहण करता है वह अपराधी है और बन्धमे पड़ता है, किंतु जो निज द्रव्यमें नियन्त्रित है वह निरपराधी है वह नहीं बँधता—**परद्रव्य** इत्यादि। **अर्थ**—परद्रव्यको ग्रहण करता हुआ जीव अपराधी है और वह बंधमें पड़ता है; किन्तु अपने द्रव्यमें ही नियत रहने वाला यतीश्वर अपराधरहित है वह नहीं बँधता। **भावार्थ**—जो परद्रव्यको अपनाता है वही बँधता है और जो आत्मस्वरूपको अपनेरूप स्वयं अनुभवता है वह बन्धनरहित होता है।

अब दृष्टान्तपूर्वक सापराध निरपराध बन्धन अबन्धनका वृत्त गाथामें कहते हैं—[यः]

अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ॥ ३०१-३०३ ॥

वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । जो यः सो सः–प्रथमा एकवचन । उ तु–अव्यय । संकिदो शंकितः–प्रथमा एक० । भमई भ्रमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । मा–अव्यय । वज्झेज्झं वध्ये–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । केण केन–तृतीया एक० । वि अपि–अव्यय । चोरो चौरः–प्रथमा एक० । इत्ति इति–अव्यय । जणम्हि जने–सप्तमी एक० । वियरंतो विचरन्–प्र० एक० । जो यः–प्रथमा एकवचन । ण न–अव्यय । कुणई करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । अवराहे अपराधान्–द्वितीया बहु० । सो सः–प्रथमा एक० । णिस्संको निःशंकः–प्रथमा एक० । उ तु–अव्यय । जणवए जनपदे–सप्तमी एक० । भमई भ्रमति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । ण न वि अपि–अव्यय । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । बज्झिदुं बद्धुं–कृदन्त । जे यत्–अव्यय । चिंता–प्र० ए० । उप्पज्जइ उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । कयाइ कदाचित्–अव्यय । सावराहो सापराधः–प्र० ए० । वज्झामि वध्ये–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । अहं–प्र० एक० । संकिदो शंकितः–प्र० एक० । चेदा चेतयिता निरवराहो निरपराधः णिस्संको निश्शंकः–प्रथमा एक० । अहं–प्रथमा एकवचन । बज्झामि वध्ये–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन ॥ ३०१-३०३ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि स्व शुद्ध आत्माको जानता हुआ कौन ज्ञानी परको अपनायगा, परभाव तो सभी हेय हैं । अब इस गाथामें उन्हीं परभावोंको ग्रहण करने वालेको अपराधी प्रसिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चोरी, परस्त्रीसेवनके अपराधकी तरह रागादि परद्रव्यका ग्रहण करना, स्वीकार करना अपराध है । (२) रागादि परभावको आत्मरूप माननेसे जीव स्वस्थभावसे च्युत हो जाता है, अतः परभावका स्वीकरण अपराध है । (३) यह अपराधी जीव बन्धनकी शङ्कासहित भ्रमण करता है, कर्मोंसे बँध जाता है, विषाद मरण आदि दण्ड पाता है । (४) जो रागादि परभावोंको स्वीकार नहीं करता, परकीय जानकर उनसे हटा रहता है वह निरपराध है । (५) निरपराध आत्मा निःशङ्क रहता है । (६) निरपराध आत्माको बन्धनकी शङ्का नहीं रहती । (७) निरपराध आत्मा कर्मसे मुक्त होता है । (८) मिथ्यात्व रागादि परभावोंकी स्वीकारतासे कर्मबन्धन होता । (९) अविकार परम चैतन्यस्वभावकी स्वीकारतासे जीव मुक्त होता है । (१०) आत्महितैषियोंको चैतन्यमात्र भाव ही ग्रहण करने योग्य है, शेष सर्व भाव छोड़ने योग्य हैं ।

सिद्धान्त—(१) परभावको स्वीकार करने वाला अपराधी जीव निश्चयतः अपने विकार वासना संस्कारोंसे बँध जाता है । (२) अपराधी जीवके विकारका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है ।

सापराधः स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बंधशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात्। यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बंधशंकाया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात् ॥ अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः स्पृशति

राह राधने, साह साधने, सिज्झ निष्पत्तौ, हो सत्तायां, वत्त वर्तने, जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—संसिद्धिराधसिद्ध, साधित, आराधित, च, एकार्थ, अपगतराध, यत्, खलु, चेतयितृ, तत्, अपराध, यत्, पुनर्, निरपराध, चेतयितृ, निःशंकित, तु, आराधना, नित्यं, अस्मद्, इति, जानत्। **मूलधातु**—साध संसिद्धौ स्वादि, राध संसिद्धौ स्वादि, षिधु संसिद्धौ दिवादि, भू सत्तायां, वृतु वर्तने भ्वादि, जाण अवबोधने। **पदविवरण**—संसिद्धिराधसिद्धं-प्रथमा एकवचन। साधियं साधितं-प्रथमा एक०। आराधियं आराधितं-प्रथमा एक०।

रुलता है निरपराध आत्मा आत्ममग्न होता है।

टीकार्थ—परद्रव्यके परिहार द्वारा शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन होना राध है। जिस आत्माके राध अर्थात् शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन अपगत हो वह आत्मा अपराध है। अथवा जिस भावका राध अपगत हो गया हो याने दूर हो गया हो वह भाव अपराध है। उस अपराधसे सहित जो आत्मा रहता है वह आत्मा सापराध है। ऐसा आत्मा परद्रव्यके ग्रहणके सद्भावसे, शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावसे, उसके बंधकी शङ्काका संभव होनेपर स्वयं अशुद्धपना होनेसे आराधना करने वाला नहीं है। परन्तु जो आत्मा निरपराध है वह समस्त परद्रव्यके परिग्रहके परिहार द्वारा शुद्ध आत्माकी सिद्धिके सद्भावसे उसके बंधकी शङ्काके न होनेपर "मैं उपयोगलक्षण वाला एक शुद्ध आत्मा ही हूं" ऐसा निश्चय करता हुआ वह आत्मा नित्य ही शुद्ध आत्माकी सिद्धि लक्षणवाली आराधनासे युक्त सदा बर्तता होनेसे आराधक ही है। **भावार्थ**—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शब्दोंका अर्थ एक आत्मावलोकन ही है। जिसके यह आत्मदर्शन नहीं है वह आत्मा सापराध है, और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराधके बंधकी शंका होती है, इसलिये अनाराधक है, और निरपराध निश्शंक हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है, निरपराधीको बंधकी शंका नहीं होती, तब वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपका एक भावरूप निश्चय आराधनाका आराधक ही है।

अब इसी अर्थको कलशमें कहते हैं—**अनवरत** इत्यादि। **अर्थ**—सापराध आत्मा निरंतर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मोंसे बँधता है; निरपराध आत्मा बंधनको कभी स्पर्शन नहीं करता। तो अपने आत्माको नियमसे अशुद्ध ही सेवन करता हुआ आत्मा तो सापराध ही होता है और अच्छी तरह शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला आत्मा निरपराध होता है।

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृत-कुम्भत्वात्। उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—अपडिकमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव। अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥ पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य। णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥ अत्रोच्यते—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमण अथवा प्रति-सरण परिहार धारण निवृत्ती।
निन्दा गर्हा शुद्धी, ये हैं विषकुम्भ आठों ही ॥३०६॥
अप्रतिक्रमण अप्रति-सरण परिहार धारणा अगर्हा।
अनिवृत्ती व अनिन्दा, अशुचि अमृतकुम्भ ये आठों ॥३०७॥

नामसंज्ञ—पडिकमण, पडिसरण, परिहार, धारणा, णियत्ति, य, णिंदा, गरहा, सोहि, अट्ठविह, विसकुंभ, अप्पडिकमण, अप्पडिसरण, अप्परिहार, अधारणा, च, एव, अणियत्ति, य, अणिंदा, अगरहा,

---

प्रयोग—निःशंक निर्बन्ध होनेके लिये अपनेको ज्ञानमात्र निरखना ॥३०४-३०५॥

प्रश्न—इस शुद्ध आत्माके सेवनके प्रयाससे क्या लाभ है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि सापराधके अप्रतिक्रमणादि में अपराधकी अपोहकता न होनेसे विषकुम्भपना होनेपर प्रतिक्रमणादिकके ही अपराधकी अपोहकता होनेसे अमृतकुंभपना होता है। यही व्यवहारविषयक आचारसूत्रमें भी कहा है—**अप्पडि** इत्यादि। **अर्थ**—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि, विषकुम्भ हैं। प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि, अमृतकुंभ है ? **उत्तर**—[**प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारः धारणा निवृत्तिः निंदा गर्हा**] अज्ञानीका व क्रियारतका प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि इस तरह [**अष्टविधः**] आठ प्रकारका तो [**विषकुम्भः**] विषकुंभ [**भवति**] है; [**च**] और ज्ञानीका व सहजस्वभावके अनुभवीका [**अप्रतिक्रमणं अप्रतिसरणं अपरिहारः अधारणा**] सहज अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा [**अनिवृत्तिः**

त्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि, अमृतकुंभत्वं साधयति। तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीय-भूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते, तत्प्राप्त्यर्थं एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः, ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति अन्यदीयप्रतिक्रमणा-प्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति। वक्ष्यते

त्यादि, परि-हृञ हरणे, धृञ धारणे भ्वादि, नि-वृतु वरणे दिवादि, णिदि कुत्सायां भ्वादि, गर्ह कुत्सायां भ्वादि, शुध शौचे दिवादि। पदविवरण—पडिकमणं प्रतिक्रमणं पडिसरणं प्रतिसरणं परिहारो परिहारः

णादि रूप, शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा अतिदुष्कर कुछ करवाता है। **भावार्थ**—व्यवहारनयावलंबीने कहा था कि जब लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमणादि करनेसे ही आत्मा शुद्ध होता है, तो शुद्धात्माके आलम्बनका श्रम करनेसे लाभ क्या? उसका उत्तर यह है कि द्रव्यप्रतिक्रमणादि दोषके मेटने वाले हैं, परंतु शुद्ध आत्माके स्वरूपके आलम्बनके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं वे दोषके मेटनेको समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चयसे युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्गमें प्रयोजक है, केवल व्यवहारका पक्ष मोक्षमार्गमें नहीं है, वह तो बंधका ही मार्ग है। अतः सिद्ध है कि अज्ञानीके जो अप्रतिक्रमणादिक हैं वे विषकुंभ ही हैं, उनकी तो कथा क्या? परन्तु जो व्यवहारचारित्रमें प्रतिक्रमणादिक कहे हैं वे भी निश्चयनय से विषकुंभ ही हैं। क्योंकि आत्मा तो अप्रतिक्रमण व प्रतिक्रमणादिकसे रहित सहज शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है।

अब इसी कथनको काव्यमें कहते हैं—**अतो हताः** इत्यादि। **अर्थ**—इस कथनसे सुख से बैठे हुए प्रमादी जीव ताडित हुए तथा निश्चयनयैकान्ती जनोंकी चपलता प्रलीन हुई। स्वच्छन्दी जीवोंके परद्रव्योंका आलम्बन दूर किया है। व्यवहारके आलम्बनसे जो चित्त अनेक प्रवृत्तियोंमें भ्रमण करता था उसे शुद्ध आत्मामें ही लगाया है जब तक कि सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो। **भावार्थ**—प्रतिक्रमणसंबंधी निश्चय व्यवहारकथनसे प्रमाद और चंचलता मिटाकर ज्ञानमग्न होने तक चित्तको आत्मामें स्थापित कराया गया है।

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिकको विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिकको अमृत-कुम्भ कहा, इस कथनसे कोई उल्टा समझकर प्रतिक्रमणादिको छोड़कर प्रमादी न हो जावे, अतः उसे इस कलशरूप काव्यमें समझाते हैं—**यत्र** इत्यादि। **अर्थ**—जहाँ प्रतिक्रमण ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण कैसे अमृत हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादरूप क्यों होता है? निष्प्रमादी होकर ऊँचा-ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता। **भावार्थ**—

प्रमादो यतः । अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ।।१६०।। त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः । बंधध्वंसमुपेत्यनित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्ण-

अप्रतिसरणं अप्परिहारो अपरिहारः अधारणा अधारणा अणियत्ती अनिवृत्तिः अणिंदा अनिन्दा अगरहा

अब मोक्षाधिकारको पूर्ण करते समय मंगलरूपज्ञानकी महिमा कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**बंध** इत्यादि । **अर्थ**—कर्मके बंधके छेदनेसे अविनाशी अतुल मोक्षका अनुभव करता हुआ नित्य उद्योतसे विकसित स्वाभाविक अवस्था युक्त अत्यंत शुद्ध, अपने ज्ञानमात्र आकारके निजरसके भारसे अत्यंत गंभीर व धीर यह पूर्ण ज्ञान किसी प्रकार नहीं चले ऐसी अचल अपनी महिमामें लीन हुआ है । **भावार्थ**—कर्मका नाश करके मोक्षरूप हुआ अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप अत्यन्त शुद्ध समस्त ज्ञेयाकारको गौण कर निज ज्ञानका प्रकाश "जिसकी थाह नहीं व जिसमें आकुलता नहीं" ऐसा प्रकट देदीप्यमान होकर अपनी महिमामें लीन हुआ है ।

इस प्रकार उपयोग रंगभूमिमें मोक्षतत्त्वका स्वांग आया था । सो जब सहज ज्ञान-स्वरूपमें ज्ञानका ज्ञान प्रकट हुआ तब मोक्षका स्वांग निकल गया ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें शुद्धात्माराधकको निरपराध बताया गया था । उस सम्बन्धमें यह जिज्ञासा हुई कि चरणानुयोगमें बताया गया कि प्रतिक्रमण आदि करनेसे दोष दूर होते हैं, प्रतिक्रमण करने वाला निरपराध हो जाता है, फिर शुद्धात्माराधना पर बल क्यों दिया जाता है इसका समाधान इन दो गाथावोंमें आया है ।

तथ्यप्रकाश—१–अप्रतिक्रमण दो प्रकारका होता है––(१) अज्ञानीजनसाधारण अप्रतिक्रमण, (२) प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षण अप्रतिक्रमण । २– प्रतिक्रमण विधिनिषेध सम्बन्धित तीन भूमिकायें हैं––(१) अज्ञानियोंका अप्रतिक्रमण, (२) द्रव्यरूप प्रतिक्रमण, (३) ज्ञानियोंका अप्रतिक्रमण । ३– द्रव्यरूप प्रतिक्रमणके कुछ अनर्थान्तर ये है––सराग-चारित्ररूप शुभोपयोग, व्यवहारप्रतिक्रमण । ४–ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमणके कुछ अनर्थान्तर ये हैं–– परमोपेक्षारूप संयम, निर्विकल्पसमाधि, निश्चयप्रतिक्रमण, शुभाशुभास्रवदोष-निराकरण, वीतरागचारित्र, सम्यक् त्रिगुप्तिरूप रत्नत्रय, निर्विकल्प शुद्धोपयोग । ५– अज्ञानियोंका अप्रतिक्रमण सर्वथा विषकुम्भ है । ६– अज्ञानियोंका अप्रतिक्रमण मिथ्यात्वविषय-कषायपरिणतिरूप है अतः वह नरकादि दुःखोंका कारणभूत है । ७– द्रव्यरूपप्रतिक्रमण लगे हुए दोषोंके निराकरणके लिये है, अतः अमृतकुम्भ है तथापि तृतीयभूमिकाको न देखने वाले

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानम् । नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान् दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः । शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष्टंकोत्कीर्ण-प्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९३॥ कर्तृत्वं न स्वभावोस्य चितो वेदयितृत्ववत् । अज्ञाना-देव कर्तायं तदभावादकारकः ॥१९४॥ अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति—

नामसंज्ञ – दविय, ज, गुण, त, त, अणण्ण, जह, कडयादि, दु, पज्जय, कणय, अणण्ण, इह, जीव, अजीव, दु, ज, परिणाम, दु, देसिय, सुत्त, त, जीव, अजीव, वा, त, अणण्ण, ण, कुदोचि, वि, उप्पण, ज,

अब यहाँ मोक्षतत्त्वका भी स्वाङ्ग निकलनेके पश्चात् सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रङ्गभूमिमें जीवाजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये आठ स्वाङ्ग आये थे उनका नृत्य हुआ। वे आठों विकल्प अपना-अपना स्वरूप दिखाकर निकल गये। अब सब स्वाङ्गोंके दूर होनेपर एकाकार सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है।

यहाँ प्रथम ही मंगलरूप ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमा बतलाते हैं—**नीत्वा** इत्यादि। **अर्थ**—समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावोंको सम्यक् प्रकारसे नाशको प्राप्त कराके पद-पदपर अर्थात् कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे होने वाली प्रत्येक पर्यायमें बन्धमोक्षकी रचनासे दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध अर्थात् रागादिमूल तथा आवरणसे रहित विस्तारसे परिपूर्ण तथा टंको-त्कीर्णवत् प्रकट महिमा वाला ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है। **भावार्थ**—शुद्धनयका विषय सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्ता-भोक्तापनेके भावोंसे रहित है, बन्धमोक्षकी रचनासे रहित है, परद्रव्योंसे और सब परद्रव्योंके भावोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध है और अपने निजरसके प्रवाहसे पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिस्वरूप टंकोत्कीर्णवत् अचल है, ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

अब सर्व विशुद्ध ज्ञानको बतलानेके प्रारम्भमें प्रथम ही सहज ज्ञानब्रह्मको कर्ता-भोक्ता भावसे भिन्न दिखलाते हैं—**कर्तृत्वं** इत्यादि। **अर्थ**—इस चित्स्वरूप आत्माका जिस प्रकार भोक्तापना स्वभाव नहीं है, उसी तरह कर्तापना भी स्वभाव नहीं है। यह आत्मा अज्ञानसे ही कर्ता माना जाता है, सो अज्ञानका अभाव होनेपर वह कर्ता नहीं है।

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् । यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥३०८॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे । तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३०९॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा । उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि । उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥३११॥

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह

तु, यत्, परिणाम, तु, दर्शित, सूत्र, तत्, जीव, अजीव, वा, तत्, अन्य, न, कुतश्चित्, अपि, उपपन्न, यत्, कार्य, न, तत्, तत्, आत्मन्, न, किंचित्, कारण, अपि, तत्, न, तत्, कर्मन्, कर्तृ, तथा, कर्मन्, च, नियम,

---

वह आत्मा [**कुतश्चिदपि**] किसीसे भी [**न उत्पन्नः**] उत्पन्न नहीं हुआ है [**तेन**] इस कारण वह [**कार्यं**] किसीका कार्य [**न भवति**] नहीं है और [**किंचिदपि**] किसी अन्यको भी [**न उत्पादयति**] उत्पन्न नहीं करता [**तेन**] इस कारण [**सः**] वह [**कारणमपि**] किसीका कारण भी [**न**] नहीं है । [**नियमात्**] नियमसे [**कर्म प्रतीत्य**] कर्मको आश्रय करके ही तो [**कर्ता**] कर्ता होता है [**तथा च**] और [**कर्तारं प्रतीत्य**] कर्ताको आश्रय करके [**कर्माणि**] कर्म [**उत्पद्यंते**] उत्पन्न होते हैं [**अन्या तु सिद्धिः**] अन्य प्रकार कर्ता-कर्मकी सिद्धि [**न दृश्यते**] नहीं देखी जाती ।

तात्पर्य—वास्तवमें कर्ता-कर्म भिन्न-भिन्न द्रव्यमें नहीं होते, इस कारण जीव किसी अन्यका न तो कर्ता है और न किसी अन्यका कार्य है ।

टीकार्थ—जीव प्रथम तो क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न हुआ अजीव ही है जीव नहीं है, क्योंकि सभी द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है, जैसे कंकणादि परिणामोंसे सुवर्ण उत्पन्न होता है वह कंकणादिसे अन्य नहीं है उनसे तादात्म्यस्वरूप है उसी तरह सब द्रव्य हैं । इस प्रकार अपने परिणामोंसे उत्पन्न हुए जीवका अजीवके साथ कार्य कारणभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सब द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है । और उस कार्यकारणभावकी सिद्धि न होनेपर अजीवके जीवकर्मत्व सिद्ध नहीं होता और अजीवके जीवकर्मत्व सिद्ध न होने परसे कर्ता-कर्मके अनन्यापेक्ष सिद्ध होनेसे जीव के अजीवका कर्तापना सिद्ध नहीं होता । इस कारण जीव परद्रव्यका अकर्ता ही ठहरता है ।

भावार्थ—सब द्रव्योंके परिणाम पृथक्-पृथक् हैं । अपने-अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं । प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने परिणामोंके कर्ता हैं वे परिणाम उनके कर्म हैं । निश्चयतः किसी का किसीसे भी कर्ताकर्मसम्बन्ध नही है, इस कारण जीव अपने परिणामोंका कर्ता है जीवके

विशुद्धः स्वरसतः स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः। तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोपि गहनः ॥१९५॥ ॥ ३०८-३११ ॥

प्रथमा एक०। तेण तेन–तृतीया एक०। स सः–प्र० एक०। होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन। कम्मं कर्म–द्वि० एक०। पडुच्च प्रतीत्य–असमाप्तिकी क्रिया। कत्ता कर्ता–प्रथमा एक०। कत्तारं कर्तारं–द्वि० एक०। कम्माणि कर्माणि–द्वि० बहु०। उप्पज्जंति उत्पद्यंते–वर्तमान लट् अन्य पुरुप बहुवचन। णियमा नियमात्–पंचमी एक०। सिद्धी सिद्धिः–प्र० एक०। दीसए दृश्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एक० क्रिया। अण्णा अन्या–प्रथमा एकवचन ॥ ३०८-३११ ॥

गुण सब एक ही समयमें हैं। ४– क्रमनियमित परिणाम पर्यायोंको कहते हैं, क्योंकि पर्यायें सब एक साथ नहीं रहते, किन्तु एक-एक समयमें पदार्थका एक-एक ही परिणमन होता है। ५– सर्व द्रव्योंकी एक-एक पर्याय रहनेसे एक समयमें अनन्त पर्यायका होना कहना गुणदृष्टिके आश्रित कथन है। ६– कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी पर्यायोंसे उत्पन्न नहीं होता। ७– जीव अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही तो है। ८– अजीव (प्रकृतमें कर्म) अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही तो है। ९– अपनी पर्यायोंसे ही उत्पद्यमान जीवका अजीव न तो कार्य है और न कारण है। १०– अपनी पर्यायोंसे ही उत्पद्यमान अजीव (प्रकृतमें कर्म) का जीव न कार्य है, न कारण है। ११– जीवके विकारभावका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें अपने परिणमनसे कर्मरूप हो जाती हैं। १२– कर्मके उदयादिका निमित्त पाकर जीव अपने परिणमन विकार विचार आदिरूप परिणम जाता है। १३– निमित्तनैमित्तिक भावके कारण लोक जीवको कर्मका कर्ता कह देते हैं। १४– निमित्तनैमित्तिक भावके कारण लोक कर्मको जीवके विकल्प विचार आदिका कर्ता कह देते हैं। १५– जीवके गुण, पर्यायें जीवसे अभिन्न हैं। १६– अजीवकी गुण, पर्यायें अजीवसे अभिन्न हैं।

सिद्धान्त—१– जीवके विकल्प विचार आदि जीवसे अभिन्न हैं। २– अजीवके द्वारा जीवका गुण पर्याय आदि कुछ भी नहीं हो सकता। ३– जीव कर्म आदि समस्त परभावका अकर्ता है। ४– सभी पदार्थ अपने-अपने परिणामके ही कर्ता होते हैं। ५– उपचारसे जीवको कर्मका कर्ता कहा जाता है। ६– उपचारसे ही कर्मको जीवके रागादिविकारका कर्ता कहा जाता है। ७– उपचारसे ही कर्मको जीवके रागादिविकारका कर्ता कहा जाता है।

दृष्टि—१– सभेद अशुद्ध निश्चयनय (४७अ)। २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। ३– प्रतिपेधक शुद्धनय (४९अ)। ४– उपादानदृष्टि (४९ब)। ५, ६, ७– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार।

प्रयोग—अपने अपराधसे अपना विकारपरिणमन होना जानकर नैमित्तिक मोह

मुत्पत्तिविनाशावासादयति च, एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ।।३१२-३१३।।

प्रादुर्भावे । **पदविवरण**—चेया चेतयिता–प्रथमा एक० । उ तु एवं पयडीयट्ठं प्रकृत्यर्थं चेययट्ठं चेतकार्थं पि अपि य च–अव्यय । उप्पज्जइ उत्पद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । विणस्सइ विनश्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । एवं–अव्यय । बंधो बन्धः–प्र० एक० । दुण्हं–षष्ठी बहु० । द्वयोः–षष्ठी द्विवचन । अण्णोण्णप्पच्चया अन्योन्यप्रत्ययात्–पंचमी एक० । हवे भवेत्–विधिलिङ् अन्य पुरुष एकवचन । अप्पणो आत्मनः–षष्ठी ए० । पयडीए प्रकृतेः–षष्ठी एक० । ससारो संसारः–प्र० एक० । तेण तेन–तृ० एक० । जायए जायते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।। ३१२-३१३ ।।

भेदज्ञान न होनेसे पर और आत्माके एकपनेका अध्यास करनेसे परद्रव्यका कर्ता होता हुआ ज्ञानावरण आदि कर्मकी प्रकृतिके निमित्तसे उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होता है । और प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होती है याने आत्माके परिणामके अनुसार परिणमती है । इस तरह आत्मा और प्रकृति इन दोनोंके परमार्थसे कर्ताकर्मपनेके भावका अभाव होनेपर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे दोनोंके ही बंध देखा जाता है उस बंधसे संसार होता है, और उसीसे दोनोंके कर्ता-कर्मका व्यवहार चलता है । **भावार्थ**—आत्मा और प्रकृतिके परमार्थसे कर्ता-कर्मपनेका अभाव है तो भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे कर्ता-कर्म भाव है इससे ही बन्ध है और बंधसे ही संसार है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें जीवको अकर्ता बताते हुए यह संकेत किया गया है कि वास्तवमें अकर्ता होनेपर भी जीवका प्रकृतियोंके साथ जो बन्ध होता है वह अज्ञान की ही लीला है । अब इन दो छन्दोंमें उसी अज्ञानलीलाका दिग्दर्शन कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अन्य-अन्य द्रव्य होनेके कारण आत्मा और प्रकृतिमें कर्तृकर्मभाव बिल्कुल नही है । (२) आत्मा और प्रकृतिमें कर्तृकर्मत्व न होनेपर भी उनका बन्ध मात्र निमित्तनैमित्तिक भावसे होता है । (३) निमित्तनैमित्तिक भावके कारण जीव और प्रकृतिमें कर्तृत्व व्यवहार कर लिया जाता है । (४) जीवके विकाररूप नैमित्तिक भाव होनेका मूल कारण आत्मभाव व कर्मभावमें एकत्वबुद्धि है । (५) जीवकर्मैकत्वबुद्धिका कारण प्रतिनियत स्वलक्षणोंका अज्ञान है । (६) जीव प्रकृतिके निमित्तसे अपना उत्पाद विनाश करता है । (७) प्रकृति जीवके निमित्तसे अपना उत्पाद विनाश करता है । (८) अथवा जीव प्रकृतिके लिये याने प्रकृतिबंधादि होनेके लिये उत्पाद विनाश करता है अर्थात् विभावरूप परिणमता है । (९) प्रकृति जीवके लिये याने साता असाता रागद्वेष आदि होनेके लिये अपना उत्पाद विनाश करता है अर्थात् उदय, उदीरणा निर्जरादि करता है । (१०) आत्मा और प्रकृतिके

स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति। तावदेव परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुञ्चति तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति। स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति। स्वपरयो-

---

पदिक—यावत्, एतत्, प्रकृत्यर्थ, चेतयितृ, एव, अज्ञायक, तावत्, मिथ्यादृष्टि, असंयत, यदा, चेतयितृ, कर्मफल, अनन्तक, तदा, विमुक्त, ज्ञायक, दर्शक, मुनि। **मूलधातु**—वि मुच्लृ मोक्षणे, भू सत्तायां। **पदविवरण**—जा यावत् ण न एव ताव तावत् जया जदा तया तदा—अव्यय। एस एषः—प्रथमा एक०। पयडीयट्ठ प्रकृत्यर्थ—अव्यय। चेया चेतयिता—प्र० ए०। विमुंचए विमुंचति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।

भवति] संयमी है।

तात्पर्य—जब तक यह जीव कर्मफलमें एकत्वबुद्धिको नहीं छोड़ता है तब तक यह जीव अपने मिथ्या अध्याससे अज्ञानी है व कर्ता-भोक्ता है।

टीकार्थ—जब तक यह आत्मा अपने और प्रकृतिके पृथक्-पृथक् प्रतिनियत स्वभावरूप लक्षणके भेदज्ञानके अभावसे अपने बन्धको निमित्तभूत प्रकृतिस्वभावको नहीं छोड़ता, तब तक अपने और परके एकपनेके ज्ञानसे अज्ञायक होता है, अपने परके एकपनेके दर्शन (श्रद्धान) से मिथ्यादृष्टि होता है, अपनी परके एकपनेकी परिणतिसे असंयत होता है, और तभी तक पर और आत्माके एकपनेका अध्यास करनेसे कर्ता होता है। परन्तु जिस काल यही आत्मा अपने और प्रकृतिके पृथक्-पृथक् प्रतिनियत स्वलक्षणके निर्णयरूप ज्ञानसे अपने बन्धके निमित्तभूत प्रकृतिस्वभावको छोड़ देता है उस काल अपने परके विभागके ज्ञानसे ज्ञायक होता है, अपने और परके विभागके श्रद्धानसे दर्शक होता है, अपने परके विभागकी परिणतिसे संयत होता है और उसी समय अपने परके एकपनेका अध्यास न करनेसे अकर्ता होता है। **भावार्थ**—यह आत्मा जब तक अपना और परका प्रतिनियत लक्षण नहीं जानता, तब तक भेदज्ञानके अभावसे कर्मप्रकृतिके उदयको अपना समझकर वैसे विकल्परूपसे परिणमता है। यों वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी असंयमी होकर कर्ता होता हुआ कर्मका बन्ध करता है। किन्तु जब भेदज्ञान हो जाता है तब उसका न कर्ता बनता है न कर्मका बन्ध करता है केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता हुआ स्वभावके अनुरूप परिणमता है।

अब भोक्तापन भी आत्माका स्वभाव नहीं हैं इसकी सूचना करते हैं—**भोक्तृत्वं** इत्यादि। **अर्थ**—कर्तापनकी तरह भोक्तापन भी इस चैतन्यका स्वभाव नहीं है यह अज्ञानसे ही भोक्ता है। अज्ञानका अभाव होनेसे भोक्ता नहीं होता। **भावार्थ**—कर्मफलसे निराला ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपका सानुभव ज्ञान पा लेनेके बाद ज्ञानी कर्मफलका अभोक्ता है।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अज्ञानी विधिफलको, प्रकृतिस्वभावस्थ होय अनुभवता।
ज्ञानी उदित कर्मफल-को जाने भोगता नहिं है ॥३१६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते। ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते। ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेय-

---

नामसंज्ञ—अण्णाणि, कम्मफल, पयडिसहावट्ठिअ, णाणि, पुण, कम्मफल, उदिय, ण। **धातुसंज्ञ**—वेद वेदने, जाण अवबोधने। **प्रातिपदिक**—अज्ञानिन्, कर्मफल, प्रकृतिस्वभावस्थित, तु, ज्ञानिन्, पुनर्, कर्म-

---

अब ज्ञानीके भोक्तृत्वका निरूपण करते हैं—[**अज्ञानी**] अज्ञानी [**प्रकृतिस्वभावस्थितः**] प्रकृतिके स्वभावमें ठहरता हुआ [**कर्मफलं**] कर्मके फलको [**वेदयते**] भोगता है [**पुनः**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**उदितं**] उदयमें आये हुए [**कर्मफलं**] कर्मके फलको [**जानाति**] जानता है [**तु**] परन्तु [**न वेदयते**] भोगता नहीं है।

तात्पर्य—अज्ञानी तो कर्मविपाकमें आत्मीयबुद्धिसे परिणत होकर कर्मफलको भोगता है, किन्तु ज्ञानी कर्मफलको परभाव जानकर अपने ज्ञानस्वभावके अभिमुख होता हुआ कर्मफल को मात्र जानता है, भोगता नहीं।

टीकार्थ—अज्ञानी निश्चयसे शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण स्व-परके एकपनेके ज्ञानसे स्व-परके एकत्वके श्रद्धानसे और स्व-परके एकपनेकी परिणतिसे प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होनेसे प्रकृतिके स्वभावको ही अहंबुद्धिपनेसे अनुभव करता हुआ कर्मके फलको भोगता है। परन्तु ज्ञानी शुद्ध आत्माके ज्ञानके सद्भावके कारण अपने और परके भेदज्ञानसे, अपने परके विभागके श्रद्धानसे और स्व-परकी विभागरूप परिणतिसे प्रकृतिके स्वभावसे दूरवर्ती होनेसे शुद्ध आत्माके स्वभावको एकको ही अहंरूपसे अनुभव करता हुआ उदयमें आये हुए कर्मके फलको ज्ञेयमात्रताके कारण जानता ही है, परन्तु उसका अहंरूपसे अनुभव किया जानेके लिये अशक्यता होनेसे भोगता नहीं है। **भावार्थ**—अज्ञानीको शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, इस कारण जो कर्म उदयमें आता है उसीको अपना स्वरूप जान भोगता है, और ज्ञानीके शुद्ध आत्मानुभव हो गया है, इस कारण प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता सो उसका

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णाया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

नहिं छोड़ता प्रकृतिको, अभव्य अच्छे भि शास्त्रको पढ़कर।
गुड़ दूध पान कर ज्यों, न सर्प निर्विष कभी होते ॥३१७॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि। गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुञ्चति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुञ्चति। तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुञ्चति प्रकृतिस्वभावमोचनसम-

---

नामसंज्ञ—ण, पयडि, अभव्व, सुट्ठु, वि, सत्थ, गुडदुद्ध, पि, पिवंत, ण, पण्णय, णिव्विस। **धातुसंज्ञ**—मुंच त्यागे, अहि इ अध्ययने, हो सत्तायां। **प्रातिपदिक**—न, प्रकृति, अभव्य, सुष्ठु, अपि, शास्त्र, गुडदुग्ध, अपि, पिवन्त्, न, पन्नग, निर्विष। **मूलधातु**—मुच्लृ मोक्षणे, अधि इङ् अध्ययने अदादि, पा पाने भ्वादि, भू सत्तायां। **पदविवरण**—ण न सुट्ठु सुष्ठु वि अपि–अव्यय। मुयइ मुंचति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। पयडिं प्रकृतिं–द्वितीया एक०। अभव्वो अभव्यः–प्रथमा एकवचन। अज्झाइऊण

अनुभव किया जाना अशक्य होनेसे ज्ञानी जीव कर्मफलको भोगता नहीं है।

सिद्धान्त—(१) अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता है। (२) ज्ञानी कर्मफलका मात्र साक्षी है।

दृष्टि—१– भोक्तृनय (१९१)। २– अभोक्तृनय (१९२)।

प्रयोग—विकारको अपनानेसे दुःख भोगना पड़ता है यह जानकर परभाव विकारसे उपेक्षा करके शुद्ध एक आत्ममय चैतन्यमें उपयोगको स्थिर करना ॥ ४१६ ॥

अब अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम कहते हैं—[**अभव्यः**] अभव्य [**सुष्ठु**] अच्छी तरह [**शास्त्राणि**] शास्त्रोंको [**अधीत्य अपि**] पढ़कर भी [**प्रकृतिं न मुञ्चति**] प्रकृतिको अर्थात् प्रकृतिस्वभावको नहीं छोड़ता [**पन्नगाः**] जैसे कि सर्प [**गुडदुग्धं**] गुड़सहित दूधको [**पिबंतः अपि**] पीते हुए भी [**निर्विषाः**] निर्विष [**न भवंति**] नहीं होते।

तात्पर्य—विकारमें अहंपनेका श्रद्धान होनेसे शास्त्रोंको पढ़कर भी अभव्य विकारके लगावको नहीं छोड़ता, अतः वह कर्मफलको भोगता ही है।

टीकार्थ—जैसे इस लोकमें सर्प अपने विषभावको स्वयं नहीं छोड़ता तथा विषभावके मेटनेको समर्थ ऐसे मिश्रीसहित दूधके पीनेसे भी नहीं छोड़ता उसी तरह अभव्य वास्तवमें प्रकृतिस्वभावको स्वयमेव भी नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभावके छुड़ानेको समर्थ द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी नहीं छोड़ता। क्योंकि इसके नित्य ही भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञानका अभाव होने

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते--

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

वैराग्यप्राप्त ज्ञानी, मधुर कटुक विविध कर्मके फलको ।
जानता मात्र केवल, इससे उनका अवेदक वह ।।३१८।।

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति । मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन सः भवति ।।३१८।।

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविविक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते । अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्त-

---

नामसंज्ञ—णिव्वेयसमावण्ण, णाणि, कम्मफल, महुर, कडुय, बहुविह, अवेयअ, त, त । **धातुसंज्ञ**—वि जाण अवबोधने, हो सत्तायां । **प्रातिपदिक**—निर्वेदसमापन्न, ज्ञानिन्, कर्मफल, मधुर, कटुक, बहुविध,

---

तात्पर्य—ज्ञानी रागादिभावोंको परभाव जानकर उनसे लगाव नहीं रखता, अतः कर्मफलका केवल ज्ञाता रहनेके कारण वह कर्मफलका भोक्ता नहीं होता ।

टीकार्थ—ज्ञानी अभेदरूप भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानके होनेसे परसे अत्यन्त विरक्तपना होनेके कारण कर्मके उदयके स्वभावको स्वयं ही छोड़ देता है । इस कारण मीठा कड़वा सुख दु.खरूप उदित कर्मफलको ज्ञातापन होनेके कारण केवल जानता ही है । न कि ज्ञानके होनेपर परद्रव्यको अहंरूपसे अनुभव करनेको अयोग्यता होनेके कारण भोक्ता होता है । अतः ज्ञानी कर्मस्वभावसे विरक्तपना होनेसे अवेदक ही है । **भावार्थ**—जो जीव जिससे विरक्त होता है वह उसको अपने वश तो भोगता नहीं है यदि परवश भोगना ही पड़े तो उसे परमार्थतः भोक्ता नहीं कहते, इस न्यायसे चूंकि ज्ञानी कर्मके उदयको अपना नहीं समझता, उससे विरक्त है, सो वह स्वयमेव तो भोगता ही नहीं, यदि उदयकी बलवत्तासे परवश हुआ अपनी निर्बलतासे कर्मविपाकको भोगे तो उसे वास्तवमें भोक्ता नहीं कहते । जीव कर्मानुभागका तो व्यवहारसे भोक्ता है, और कर्मप्रतिफलनका अशुद्ध निश्चयनयसे भोक्ता है, उसका यहाँ शुद्धनयके कथनमें अधिकार ही नहीं है ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**ज्ञानी** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी जीव कर्मको न तो करता है और न भोगता है, मात्र कर्मस्वभावको जानता ही है । इस प्रकार ज्ञानी केवल जानता हुआ कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अभावके कारण शुद्ध स्वभावमें निश्चल हुआ वास्तवमें मुक्त ही है । **भावार्थ**—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनपनेसे कर्ता भोक्ता नहीं वह तो

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं वहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं वंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

नहिं कर्ता नहिं भोक्ता, ज्ञानी नाना प्रकार कर्मोंका ।
जानता मात्र विधिफल, बन्ध तथा पुण्य पापोंको ॥३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि वहुप्रकाराणि । जानाति पुनः कर्मफलं वंधं पुण्यं च पापं च ॥

ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च । किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ॥ ३१९ ॥

नामसंज्ञ—ण, वि, ण, वि, णाणि, कम्म, वहुपयार, पुण, कम्मफल, वंध, पुण्ण, च, पाव, च । **धातुसंज्ञ**—कुव्व करणे, वेद वेदने, जाण अववोधने । **प्रातिपदिक**—न, अपि, न, अपि, ज्ञानिन्, कर्मन्, वहुप्रकार, पुनर्, कर्मफल, बन्ध, पुण्य, च, पाप, च । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, विद चेतनाख्याननिवासेषु चुरादि, ज्ञा अववोधने । **पदविवरण**—ण न वि अपि पुण पुनः च–अव्यय । कुव्वइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । वेयइ वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जाणइ जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एकवचन । वंधं वंधं पुण्णं पुण्यं पावं पापं–द्वितीया एकवचन ॥ ३१९ ॥

और पापको [जानाति] मात्र जानता ही है ।

तात्पर्य—कर्म कार्माणवर्गणाके स्कन्ध हैं उन्हें जीव कैसे करेगा व कैसे भोगेगा और ज्ञानी तो कर्तृत्व भोक्तृत्वके विकल्पसे भी रहित है सो ज्ञानीके कर्मका करना व कर्मफलका भोगना विकल्पतः भी सम्भव नहीं, ज्ञानी तो उनको मात्र जानता ही है ।

टीकार्थ—कर्मचेतनाशून्यपना होनेसे तथा कर्मफलचेतनासे भी शून्यपना होनेसे स्वयं अकर्तृत्व व अभोक्तृत्व होनेसे ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न भोगता है, किन्तु ज्ञानी ज्ञानचेतनायुक्त होनेसे केवल ज्ञाता ही है, इस कारण कर्मके बन्धको तथा कर्मके शुभ अशुभ फलको केवल जानता ही है । **भावार्थ**—ज्ञानी दिकारका व पुण्य पाप कर्म आदिका मात्र ज्ञाता रहता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ज्ञानी कर्मफलका अवेदक ही दर्शाया गया था । अब उसी ज्ञानीकी स्वच्छता बतानेके लिये इस गाथामें बताया है कि ज्ञानी कर्मोंको न तो करता है और न भोगता है, किंतु वह तो पुण्य-पाप कर्मबंध कर्मफलका मात्र ज्ञाता रहता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञानी सहज शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी वृत्तिरूप रहनेसे कर्मचेतनाशून्य है । (२) ज्ञानी शुद्धात्मभावनाजन्य सहजानन्दरससे तृप्त होनेके कारण कर्मफल-

भवनस्य च दुर्निवारत्वात् । किंतु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति । तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न

एव, च, बन्धमोक्ष, कर्मोदय, निर्जरा, च, एव । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने । पदविवरण—दिट्ठी दृष्टिः-प्रथमा एकवचन । जह यथा एव तह तथा च एव य च–अव्यय । णाणं ज्ञानं–प्रथमा एक० । अकारयं

ही नहीं । किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभावीपन होनेसे नेत्र दृश्यको केवल देखता ही है । उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं द्रष्टापन होनेके कारण कर्मसे अत्यन्त भिन्नपना होनेसे निश्चयतः उस कर्मको करने और भोगनेमें असमर्थपना होनेसे न तो कर्मको करता है और न भोगता है। केवल ज्ञानमात्र स्वभावपनेसे कर्मके बन्ध, मोक्ष व उदयको तथा उसकी निर्जराको केवल जानता ही है । **भावार्थ**—जैसे नेत्र दृश्य पदार्थको दूरसे ही देखता है दृश्यको न करता है और न भोगता है, ऐसे ही ज्ञानका स्वभाव दूरसे जाननेका है । इस कारण ज्ञानके कर्तृत्व व भोक्तृत्व नहीं है । कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना अज्ञान है । यद्यपि जब तक चारित्रमोहकर्मका उदय है तब तक अदर्शन, अज्ञान और असमर्थपना होता ही है, सो तब तक याने केवलज्ञान के पहले पूर्णतया ज्ञाता द्रष्टा नहीं कहा जा सकता, तो भी यहाँ यह समझिये कि यदि स्वतंत्र होकर करे और भोगे तो उसे वास्तवमें कर्ता-भोक्ता कहते हैं । सो जब ही मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका अभाव हुआ, तब परद्रव्यके स्वामीपनेका अभाव हुआ, तब स्वयं ज्ञानी हुआ स्वतंत्र-पनेसे तो किसीका कर्ता भोक्ता नहीं । परन्तु अपनी निर्बलतासे, कर्मके उदयकी बलवत्तासे जो कार्य होता है उसको परमार्थदृष्टिसे कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता । उसके निमित्तसे जो कुछ नवीन कर्मरज लगता भी है, उसको यहाँ बन्धमें नहीं गिना । मिथ्यात्व ही तो संसार है, मिथ्यात्वके चले जानेके बाद संसार क्या रहा ? समुद्रमें बूंदकी क्या गिनती ? दूसरी बात यह भी जानना कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही है, परन्तु श्रुतज्ञानी भी शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्माको शुद्धात्मस्वरूप ही अनुभव करता है । हाँ प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद है । सो श्रुतज्ञानीके ज्ञान श्रद्धानकी अपेक्षा तो ज्ञाता द्रष्टापना ही है । चारित्रकी अपेक्षा प्रति-पक्षी कर्मका जितना उदय है उतना ही घात है, इसके नाश करनेका ज्ञानीके उद्यम है । जब कर्मका अभाव हो जायगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र होगा, तब केवलज्ञानकी प्राप्ति होगी ही । तीसरी बात यहाँ यह जानना कि सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी मिथ्यात्वके अभावकी अपेक्षा ही कहते हैं । यदि यह अपेक्षा नहीं ली जाय तो ज्ञानसामान्यसे सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष अपेक्षासे जब तक कुछ भी अज्ञान रहे तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता, जब तक केवल-ज्ञान नहीं होता तब तक बारहवां गुणस्थानपर्यंत अज्ञानभाव ही कहा गया है । सो यहाँ ज्ञानी

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥
लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥
एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोण्हंपि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

जग कहे विष्णु करता, सुर नारक पशु मनुष्य प्राणीको ।
कहें श्रमण भी ऐसा, आत्मा षट्कायको करता ॥३२१॥
लोक श्रमण दोनोंके, इस आशयमें दिखे न कुछ अन्तर ।
लोकके विष्णु करता, श्रमणोंके भि आत्मा करता ॥३२२॥
इस तरह लोक श्रमणों, दोनोंके भि नहिं मोक्ष हो सकता ।
क्योंकि दोनों समझते, परको इस सृष्टिका कर्ता ॥३२३॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्, श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् । लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः, लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मकः करोति । एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि, नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥३२३॥

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते । लौकि-

---

नामसंज्ञ—लोय, विण्हु, सुरणारयतिरियमाणुस, सत्त, समण, पि, य, अप्प, जइ, छव्विह, काय, लोगसमण, एवं, सिद्धंत, जइ, ण, विसेस, लोय, विण्हु, समण, वि, अप्पअ, एवं, ण, क, वि, मोक्ख,

---

धान् कायान्] छह कायके जीवोंको [आत्मा] आत्मा [करोति] करता है तो [लोकश्रमणानां] लोकोंका और यतियोंका [एक सिद्धांतः] एक सिद्धान्त बन गया, [विशेषः न दृश्यते] कुछ अन्तर नहीं रहा। क्योंकि [लोकस्य] लोकके मतमें [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है तो [श्रमणानामपि] श्रमणोंके मतमें भी [आत्मा करोति] आत्मा करता है [एवं] इस तरह कर्ताके [सदेवमनुजासुरान्] देव, मनुष्य, असुर सहित [लोकान्] लोकोंको [नित्यं कुर्वतां] नित्य करते हुए [लोकश्रमणानां द्वयेषां अपि] लोक और श्रमण दोनोंका ही [कोपि मोक्षः] कोई भी मोक्ष [न दृश्यते] नहीं दिखाई देता ।

तात्पर्य—जो सांसारिक दशावोंको औपाधिक न मानकर आत्माको ही उनका स्वतंत्र कर्ता मानते हैं उनके चतुर्गतिका कभी अभाव ही नहीं हो सकता, फिर मोक्ष कैसे होगा ?

णामपि नास्ति मोक्षः ।। नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः । कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ।।२००।। ।। ३२१-३२३ ।।

विण्हू:–प्रथमा एक० । समणाणं श्रमणानां–षष्ठी बहु० । वि अपि–अव्यय । अप्पओ आत्मकः–प्रथमा एक० । कुणइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । एवं ण न–अव्यय । को कः–प्रथमा एक० । वि अपि–अव्यय । मोक्खो मोक्षः–प्र० ए० । दीसइ दृश्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० कर्मवाच्य क्रिया । लोगसमणाण लोकश्रमणानां–षष्ठी बहु० । दोण्हं द्वयेषां–षष्ठी बहु० । अपि–अव्यय । णिच्चं नित्यं–अव्यय । कुव्वंताणं कुर्वतां–षष्ठी बहु० । एव–अव्यय । मनुजासुरे मनुजासुरान्–द्वितीया बहु० । लोए लोकान्–द्वितीया बहुवचन ।। ३२१-३२३ ।।

अवेदक है, मात्र जाननहार है । अब इन तीन गाथाओंमें यह बताया है कि आत्माको परका कर्ता मानने वाले जन लौकिक जनोंकी भांति मोक्षमार्गको भी नहीं प्राप्त कर सकते, मोक्ष तो प्राप्त होगा ही कैसे ?

तथ्यप्रकाश—(१) जो किसी ईश्वरको समस्त परद्रव्योंकी, नरक तिर्यंच मनुष्य देव की सृष्टिका कर्ता मानते हैं वे लौकिक कहलाते हैं । (२) जो अपने आत्माको परद्रव्योंकी, नरक तिर्यञ्च देव मनुष्यकी, त्रस स्थावर जीवकी सृष्टिका कर्ता मानते हैं वे यहां लोकोत्तरिक कहे गये हैं । (३) यदि आत्मा अपनी त्रस स्थावर जीवकी सृष्टि करता है तो आत्मा तो नित्य है सो सदैव अपनी संसारदृष्टि करता रहेगा सो ही लोकोत्तरिक पुरुषोंको भी मोक्ष नहीं हो सकता । (४) यदि कोई ईश्वर जीवोंकी संसारसृष्टि करता है तो १– ईश्वर सदा संसारसृष्टि करता रहेगा । २– जीवकी सृष्टि पराधीन हो गई सो जीव अपने मोक्षका उपाय न बना सकेगा सो यों लौकिक जनोंको भी मोक्ष नहीं हो सकता । (५) राग-द्वेष-मोहरूपसे परिणमन ही कर्तृत्व कहा जाता है उस परिणमनके सतत होनेपर शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानाचरणरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग हो ही नहीं सकता अतः मोक्षका अभाव होगा । (६) वास्तविकता यह है कि आत्मतत्त्वका किसी भी परद्रव्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, कर्तृकर्मत्वसम्बन्ध भी नहीं है, अतः पराधीनता नहीं । (७) स्वाधीन जीव जब कुज्ञानमें चलता है संसारसृष्टि होती है । (८) स्वाधीन जीव जब ज्ञानरूप परिणमता है तब मोक्षमार्गमें चलकर मोक्ष पाता है । (९) रागादि संसारपरिणमन कर्मोपाधिका निमित्त पाकर होनेसे नैमित्तिक है । (१०) नैमित्तिक भाव अस्वभाव भाव होनेसे हट जाया करता है ।

सिद्धान्त—(१) जीव अज्ञानवश अपने रागद्वेषादि भावोंकी सृष्टि करता है । (२) जीव शुद्धात्मज्ञान होनेपर अपने ज्ञानमय परिणामकी सृष्टि करता है ।

दृष्टि—१– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– शुद्धनिश्चयनय (४६, ४६ब) ।

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः, जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित्।
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं, न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा।
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः। यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३२६॥
तस्मान्न मम इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं। परद्रव्ये जानन् जानीयाद् दृष्टिरहितानां ॥३२७॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढा परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति। ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः। तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो

मिच्छदिट्ठि, णाणि, णिस्संसय, एत, ज, परदव्व, अम्ह, इदि, जाणंत, अप्पय, त, ण, अम्ह, इत्ति, दु, वि, एत, कत्तविवसाय, परदव्व, जाणंत, जाणिज्ज, दिट्ठिरहिअ। **धातुसंज्ञ**—भण कथने, जाण अवबोधने, जंप व्यक्तायां वाचि, हो सत्तायां, हव सत्तायां, कुण करणे। **प्रातिपदिक**—व्यवहारभाषित, तु, परद्रव्य, अस्मद्, अविदितार्थ, निश्चय, तु, न, च, अस्मद्, परमाणुमात्र, अपि, किंचित्, यथा, किम्, अपि, नर, अस्मद्,

---

ग्राम है, देश है, नगर है व राष्ट्र है **[जल्पति]** इस प्रकार कहता है **[तु तानि]** किन्तु वे ग्राम आदिक **[तस्य]** उसके **[न च भवंति]** नहीं हैं **[स आत्मा]** वह आत्मा **[मोहेन च भणति]** मोहसे मेरा, मेरा ऐसा कहता है। **[एवमेव]** इसी तरह **[यः]** जो ज्ञानी **[परद्रव्यं मम इति]** परद्रव्य मेरा है ऐसा **[जानन्]** जानता हुआ **[आत्मानं करोति]** अपनेको परद्रव्यमय करता है **[एषः]** वह **[निःसंशयं]** निःसंदेह **[मिथ्यादृष्टिः भवति]** मिथ्यादृष्टि होता है। **[तस्मात्]** इसलिये ज्ञानी **[न मम इति ज्ञात्वा]** परद्रव्य मेरा नहीं है ऐसा जानकर **[एतेषां द्वयेषामपि]** इन दोनोंके ही याने लौकिक जन तथा मुनियोंके **[परद्रव्ये]** परद्रव्यमें **[कर्तृव्यवसायं]** कर्तापनके व्यापारको **[जानन्]** जानते हुए यह व्यवसाय **[दृष्टिरहितानां]** सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषोंको **[जानीयात्]** जानना चाहिये अर्थात् उन दोनोंको सम्यग्दर्शनरहित जानना चाहिये।

तात्पर्य—जो परद्रव्यको अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

टीकार्थ—अज्ञानी जन ही व्यवहारमें विमूढ होते हुए परद्रव्य मेरा है ऐसा देखते हैं, किन्तु ज्ञानी जन निश्चयसे प्रतिबुद्ध होते हुए परद्रव्यकी कणिकामात्रको भी यह मेरा है ऐसा नहीं देखते। इसलिए जैसे इस लोकमें कोई दूसरेके ग्राममे रहने वाला व्यवहारविमूढ पुरुष 'यह मेरा ग्राम है' ऐसे देखता हुआ मिथ्यादृष्टि कहा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकारसे व्यवहारमें विमूढ होकर 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसे देखे तो उस समय वह भी परद्रव्यको अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है। अतः तत्त्वको जानने वाला पुरुष 'सभी परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर "लौकिकजन और श्रमणजन इन दोनोंके जो परद्रव्यमें

कर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यंत्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वं ।।२०१।। ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः । कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।।२०२।। ।। ३२४-३२७ ।।

बहु० । भणइ भणति–प्रथमा एक० । मोहेण मोहेन–तृतीया ए० । सो सः–प्रथमा एकवचन । अप्पा आत्मा–प्र० एक० । एमेव एवमेव–अव्यय । मिच्चादिट्ठी मिथ्यादृष्टिः–प्र० एक० । णाणी ज्ञानी–प्र० ए० । णिस्संसयं निःसंशयं–क्रियाविशेषण यथा स्यात्तथा । हवइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । एसो एषः–प्रथमा एकवचन । जो यः–प्रथमा एक० । परदव्वं परद्रव्यं–प्रथमा एक० । मम–षष्ठी एक० । इदि इति–अव्यय । जाणंतो जानन्–प्रथमा एक० । अप्पयं आत्मकं–द्वितीया एकवचन । कुणइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० । तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । ण न–अव्यय । मेत्ति मेति–अव्यय । णिच्चा ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया । दोण्हं द्वयेषां–षष्ठी बहु० । वि अपि–अव्यय । एयाण एतेषां–षष्ठी बहु० । कत्तविवसायं कर्तृव्यवसायं–द्वितीया बहुवचन । परदव्वे परद्रव्ये–सप्तमी एक० । जाणंतो जानन्–प्रथमा एक० । जाणिज्जो जानीयात्–विधिलिङ् अन्य० एक० । दिट्ठिरहियाणं दृष्टिरहितानां–षष्ठी बहु० ।। ३२४-३२७ ।।

तथ्यप्रकाश—(१) जो व्यवहारमें विमुग्ध हैं वे अज्ञानी हैं । (२) अज्ञानी ही परद्रव्य मेरा है ऐसा निरखते हैं । (३) ज्ञानी पुरुष तथ्य तत्त्वको जानते हुए भी व्यवस्थावश कभी बोलते हैं कि मकान मेरा है आदि सो वह व्यवहारभाषासे ही बोलते हैं । (४) निश्चयज्ञानी पुरुष परमाणुमात्र भी परद्रव्यको अपना नहीं निरखते । (५) लौकिक जनोंको जो परकर्तृत्व का निश्चय है वह मिथ्यात्व है । (६) लोकोत्तरिक (श्रमण) जनोंको भी जिनको परकर्तृत्वका श्रद्धान है वे भी मिथ्यादृष्टि हैं । (७) एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कर्तृकर्मत्व आदि सम्बंध निरखना सम्यक् दर्शन नहीं है । (८) प्रत्येक द्रव्यकी शक्ति व परिणति स्वयं स्वयंके अपने ही प्रदेशोंमें परिसमाप्त है इस वस्तुस्वरूपको न जानने वाले कायर होकर विकल्प किया करते हैं ।

सिद्धान्त—(१) व्यवहारविमूढतामें स्वामित्वविषयक अनेक उपचार बन जाते हैं । (२) निश्चयज्ञानमें मात्र स्व स्व उपादानकी दृष्टि होती है ।

दृष्टि—१– संश्लिष्ट स्वजात्युपचरित व्यवहारसे परभोक्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार तक व परस्वामित्व असद्भूत व्यवहार (१२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १२९अ, १२९ब, १२९स, १३५) । २– निश्चयनय (४४ से ४७अ व ४९ब) ।

प्रयोग– प्रत्येक पदार्थको स्वस्वप्रदेशपरिसमाप्त निरखकर निर्मोह रहना ।।३२४-३२५।।

अब इस कथनको युक्तिसे पुष्ट करते हैं कि जीवके जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका निश्चयसे कर्ता कौन होता है ?—[यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्वनामक मोहकर्मकी प्रकृति [आत्मानं] आत्माको [मिथ्यादृष्टिं] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है ऐसा माना

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं। तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥३२८॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं। तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥३२९॥
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुर्वन्ति मिथ्यात्वं। तस्माद्द्वाभ्यां कृतं तद् द्वावपि भुंजाते तस्य फलं॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं। तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या॥

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात्। स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि

प्राप्ता, अथवा, एतत्, जीव, पुद्गलद्रव्य, मिथ्यात्व, तत्, पुद्गलद्रव्य, मिथ्यादृष्टि, न, पुनर्, जीव, अथ, जीव, प्रकृति, तथा, पुद्गलद्रव्य, मिथ्यात्व, तत्, द्वि, कृत, तत्, द्वि, अपि, तत्, फल, अथ, न, प्रकृति, न, जीव, पुद्गलद्रव्य, मिथ्यात्व, तत्, पुद्गलद्रव्य, मिथ्यात्व, तत्, तु, न, खलु, मिथ्या। **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भुज पालनाभ्यवहारयोः रुधादि। **पदविवरण**—मिच्छत्तं मिथ्यात्वं–प्रथमा एक०। जदि यदि–अव्यय। पयडी प्रकृतिः–प्रथमा एक०। मिच्छाइट्ठी मिथ्यादृष्टिं–द्वितीया एक०। करेइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन। अप्पाण आत्मानं–द्वि० एक०। तम्हा तस्मात्–पंचमी एक०। अचेदणा अचेतना–प्रथमा एकवचन। दे ते–षष्ठी एक०। पयडी प्रकृतिः–प्रथमा एक०। णणु ननु–अव्यय। कारगो कारका–

[**कुर्वन्ति**] करते हैं [**तस्मात्**] ऐसा माना जाय तो [**द्वाभ्यां कृतं**] दोनोंके द्वारा किया गया [**तस्य तत् फलं**] उसका वह फल [**द्वावपि भुञ्जाते**] दोनों ही भोग डालें। [**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्वरूप [**न प्रकृतिः न जीवः कुरुते**] न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है [**तस्मात्**] ऐसा माना जाय तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्गलद्रव्य ही स्वभावसे मिथ्यात्व भावरूप हुआ [**तत्तु**] सो ऐसा मानना [**खलु**] क्या [**मिथ्या न**] झूठ नहीं है? इसलिये यह सिद्ध होता है कि अशुद्धनिश्चयसे मिथ्यात्वनामक भावकर्मका कर्ता अज्ञानी जीव है।

तात्पर्य—मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय तो निमित्तमात्र है और वहां मिथ्यात्वभावरूप जीव ही परिणमता है।

टीकार्थ—जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मका कर्ता है। यदि उसके अचेतन प्रकृतिका कार्यपना माना जाय, तो उस भावकर्मको भी अचेतनपनेका प्रसंग आ जायगा। जीव अपने ही मिथ्यात्व आदि भावकर्मका कर्ता है। यदि जीवके द्वारा पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्व आदिक भावकर्म किया गया माना जाय तो पुद्गलद्रव्यके भी चेतनपनेका प्रसंग आ जायगा। तथा जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदिक भावकर्मके कर्ता हैं, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि फिर तो अचेतन प्रकृतिको भी जीवकी तरह उसका फल भोगनेका प्रसंग आ जायगा। तथा जीव और प्रकृति ये दोनों अकर्ता हों ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि ये दोनों अकर्ता हों तो पुद्गलद्रव्यके अपने स्वभावसे ही मिथ्यात्व आदि भावका प्रसंग आता है। इससे यह

या:प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः । नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥ कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वा-

---

अव्यय । जीवो जीवः–प्रथमा एक० । पयडी प्रकृतिः–प्रथमा एक० । तह तथा–अव्यय । पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं–द्वितीया एकवचन । कुणंति कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । दोहिं द्वाभ्यां–तृ० बहु० । कदं कृतं–प्रथमा एक० । तं तत्–प्रथमा एक० । दोण्णि प्र० बहु० । द्वौ–प्र० द्वि० । वि अपि–अव्यय । भुंजंति–वर्तमान अन्य पुरुष बहु० क्रिया । भुंजाते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष द्विवचन । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । फलं–द्वितीया एक० । अह ण अथ न–अव्यय । पयडी

सर्वथा एकान्तवादी कर्मको ही कर्ता विचारकर आत्माके कर्तृत्वको उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् करता है' ऐसी कहने वाली जिन-भगवानकी निर्वाध श्रुतरूप वाणीको कोपित करते हैं याने जिनवाणीकी विराधना करते हैं ऐसे आत्मघातीको जिनकी कि बुद्धि तीव्र मोहसे मुद्रित हो गई है, उनके ज्ञानकी संशुद्धिके लिए स्याद्वादसे निर्वाधित वस्तुस्थिति कही जाती है ।

भावार्थ—जो सर्वथा एकांतसे भावकर्मका कर्ता कर्मको ही कहते हैं और आत्माको अकर्ता कहते है, वे आत्माके स्वरूपके घातक हैं । जिनवाणी स्याद्वाद द्वारा वस्तुको निर्वाध कहती है । वह वाणी आत्माको कथंचित् कर्ता कहती है सो उन सर्वथा एकांतवादियोंपर जिनवाणीका कोप है । उनकी बुद्धि मिथ्यात्वसे ढक रही है । उनके मिथ्यात्वके दूर करनेको आचार्य स्याद्वादसे जैसे वस्तुकी सिद्धि होती है वैसा अब कहते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें बताया गया था कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, फिर कर्तृकर्मभाव एकका दूसरेके साथ कैसे हो सकता है । अब इस गाथाचतुष्कमें युक्तिपुरस्सर कर्म और आत्माका कर्तृकर्मत्व निराकृत किया है ।

तथ्यप्रकाश—१–प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी ही परिणतिका कर्ता हुआ करता है । २–अज्ञानी जीवकी परिणति मिथ्यात्व आदि भावकर्म है । ३– मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता जीव है अचेतन कर्म नहीं । ४– यदि अचेतन मिथ्यात्वप्रकृति मिथ्यात्वादि भावकर्मको कर दे तो भावकर्म जड़ हो जायगा । ५–जीव स्वके ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है । ६–यदि जीव मिथ्यात्वादि भावकर्मको पुद्गलके कर दे तो पुद्गलद्रव्यको चेतन बन जाना पड़ेगा । ६–जीव व पुद्गल दोनों मिलकर मिथ्यात्वादि भावकर्म नहीं करते । ७– यदि मिथ्यात्वादि-भावको जीवकी भांति पुद्गल भी करने लग जावे तो जीवकी तरह पुद्गलको भी मिथ्यात्वादि फल भोगनेका प्रसंग आ जावेगा । ८– यदि मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता जीव व पुद्गल किसीको भी न माना जाय तो मिथ्यात्वादि भावकर्म किसीके भी हों स्वभावसे हो बैठेंगे ।

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य।
कमेम्हि चेव किज्जइ सुहासुहं जत्तियं किंचि ॥३३४॥
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि।
तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तह्मा ण कोवि जीवो अवंभचारी उ अह्म उवएसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥३३८॥

नामसंज्ञ—कम्म, दु, अण्णाणि, णाणि, तहेव, मिच्छत्त, असंजम, चेव, उड्ढ, अहो, तिरियलोय, सुहासुह, जित्तिय, किंचि, तत्, उ, सव्वजीव, अकारय, आवण्ण, पुरुसित्थियाहिलासि, इत्थीकम्म, च,

---

तथा [**असंयमं नीयते**] असंयमको प्राप्त कराया जाता है [**कर्मभिः ऊर्ध्वं चापि अधः च तिर्यग्लोकं भ्राम्यते**] जीव कर्मोंके द्वारा ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक और तिर्यग्लोकमें भ्रमाया जाता है [**च कर्मभिः एव**] और कर्मोके द्वारा ही [**यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं क्रियते**] जो कुछ शुभ अशुभ है वह किया जाता है। सो [**यस्मात्**] चूँकि [**इति यत् किंचित्**] इस प्रकार जो कुछ भी है उसे [**कर्म करोति**] कर्म ही करता है [**कर्म ददाति**] कर्म ही देता है [**हरति**] कर्म ही हरता है [**तस्मात्तु**] इस कारण [**सर्वजीवाः**] सभी जीव [**अकारका आपन्नाः भवंति**] अकर्ता प्रसक्त होते हैं। [**ईदृशी एषा आचार्यपरंपरागता तु श्रुतिः**] तथा ऐसी यह आचार्योंकी परिपाटीसे आई हुई श्रुति है कि [**पुरुषः**] पुरुषवेदकर्म तो [**स्त्र्यभिलाषी**] स्त्रीका अभिलाषी है [**च**] और [**स्त्रीकर्म**] स्त्रीवेदकर्म [**पुरुषं अभिलषति**] पुरुषको चाहता है।

कर्म भ्रमाता रहता, ऊर्ध्व अधः मध्यलोकमें इसको ।
कर्म किया करता है, शुभ व अशुभ भाव भी सब कुछ ॥३३४॥
क्योंकि कर्म करता है, देता हरता है कर्म ही सब कुछ ।
इससे समस्त आत्मा, अकारक हि प्राप्त होते हैं ॥३३५॥
पुरुषवेद नारीको, स्त्रीवेद भि कर्म पुरुषको चाहे ।
यह है आचार्यपरं-परागता श्रुति भी तत्साधक ॥३३६॥
अभिलाषा करता है, कर्मको कर्म यह बताया जब ।
तब फिर जीव भि कोई, व्यभिचारी भी न हो सकता ॥३३७॥
चूंकि प्रकृति ही परको, घाते परसे व घात उसका हो ।
इस ही कारण उसका, परघातप्रकृति नाम हुआ ॥३३८॥
इस कारणसे आत्मा, घातक नहिं है हमारे आशयसे ।
क्योंकि कर्मको कर्म हि, घाता करता बताया है ॥३३९॥
ऐसे सांख्याशयको, इस प्रकार श्रमण जो प्रकट करते ।
उनके प्रकृति हि कर्ता, आत्मा होते अकारक सब ॥३४०॥
यदि मानो यह आत्मा, अपने आपका आप करता है ।
तो मान्यता तुम्हारी, है मिथ्याभावकी यह सब ॥३४१॥
जीव असंख्यप्रदेशी, नित्य बताया जिनेन्द्र शासनमें ।
उससे कभी न छोटा, न बड़ा भी किया जा सकता ॥३४२॥

कहं, दव्व, अह, जाणअ, भाव, णाणसहाव, इत्ति, मय, अप्पय, सयं, अप्प । धातुसंज्ञ—कर करणे, जग्ग निद्राक्षये, सुहाय सुखीकरणे नामधातुप्रक्रिया, दुक्खाय दुखीकरणे नामधातुप्रक्रिया, ने प्रापणे, भम भ्रमणे, कर करणे, कुव्व करणे, दा दाने, हर हरणे, अहि लस इच्छाक्रीडनयोः, घात हिंसायां, प रूव घटनायां, मन्न अवबोधने, कुण करणे, सक्क सामर्थ्ये, कर करणे, जाण अवबोधने, अस सत्तायां । प्रातिपदिक—कर्मन्,

---

हमारे उपदेशमें [कोपि जीवः] कोई भी जीव [उपघातको नास्ति] उपघात करने वाला नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म चैव हि] कर्म ही [कर्म हंतीति भणितं] कर्मको घातता है ऐसा कहा है [एवं तु] इस तरह [ये श्रमणाः] जो कोई यति [ईदृशं सांख्योपदेशं प्ररूपयंति] ऐसे सांख्यमतका उपदेश निरूपण करते हैं [तेषां] उनके मतमें [प्रकृतिः] प्रकृति ही [करोति] करती है [च सर्वे आत्मानः] और आत्मा सब [अकारकाः] अकारक ही हैं, [अथवा] आचार्य कहते हैं यदि [मन्यसे] तू ऐसा मानेगा कि [मम आत्मा] मेरा आत्मा

रेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव जागरयति निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव सुखयति सद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेव तदनुपपत्तेः । कर्मैव दुःखयति असद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवासंयतं करोति चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभभेदं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति कर्म

लोकमात्र, खलु, ततः, कथं, द्रव्य, अथ, ज्ञायक, भाव, ज्ञानस्वभाव, इति, मत तत्, न, अपि, आत्मन्, तु, स्वयं, आत्मन् । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, शीङ् स्वप्ने अदादि, जागृ निद्राक्षये, सुखाय सुखीकरणे, नामधातुप्रक्रिया, दुःखाय दुखीकरणे नामधातुप्रक्रिया, णीञ् प्रापणे, भ्रमु अनवस्थाने दिवादि, भ्रमु चलने भ्वादि, डुदाञ् दाने जुहोत्यादि, हृञ् हरणे भ्वादि, अभि लस श्लेपनक्रीडनयोः भ्वादि, हन हिंसायां अदादि, प्र रूप रूपक्रियायां, मन ज्ञाने दिवादि, शक्लृ शक्तौ स्वादि, ज्ञा अवबोधने क्र्यादि, अस भुवि । **पदविवरण**—कम्मेहिं कर्मभिः—तृतीया बहु० । तु तह तथा एव य च अवि अपि जित्तियं यावत् किंचि किंचित् इत्ति इति उ तु ण न वि अपि हि इदि इति किर किल तत्तो ततः—अव्यय । अण्णाणी अज्ञानी—प्रथमा एक० । किज्जइ क्रियते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० भावकर्मप्रक्रिया । णाणी ज्ञानी—प्रथमा एक० । सुवाविज्जइ स्वाप्यते—वर्तमान लट् अन्य पुरुष णिजन्त भावकर्मप्रक्रिया । जग्गाविज्जइ जागर्यते—वर्तमान लट् अन्य

तथा अधिक हो सकता है ? [द्रव्यं] तब फिर आत्मा द्रव्यको [कथं करोति] कैसे कर सकता है ? [अथ] अथवा [इति मतं] ऐसा माना जाय कि [ज्ञायकः भावः तु] ज्ञायक भाव तो [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञानस्वभावसे [तिष्ठति] तिष्ठता है [तु] तो [तस्मात्] उसी हेतुसे सिद्ध हुआ कि [आत्मा] आत्मा [आत्मनः आत्मानं] अपने आपको [स्वयं नापि करोति] स्वयं कुछ भी नहीं करता ।

तात्पर्य—कर्तापन साधनेको विवक्षा पलटकर जो पक्ष कहा था सो नहीं बना । यदि कर्मका कर्ता कर्मको ही मानें तो स्याद्वादसे विरोध हो जायेगा; इसलिए कथंचित् अज्ञान अवस्थामें अपने अज्ञान भावरूप कर्मका कर्ता माननेमें स्याद्वादसे विरोध नहीं है ।

टीकार्थ— पूर्वपक्ष—कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके उदयके बिना अज्ञानकी अनुपपत्ति है । कर्म ही आत्माको ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके बिना ज्ञानकी अनुपपत्ति है । कर्म ही आत्माको सुलाता है, क्योंकि निद्रानामक कर्मके उदयके बिना निद्राकी अनुपपत्ति है । कर्म ही आत्माको जगाता है; क्योंकि निद्रानामक कर्मके क्षयोपशमके बिना जगानेकी अनुपपत्ति है ।

दुःशक्यः परिहर्तुं । यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव । जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च । तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं

सुई श्रुतिः–प्र० ए० । को कः–प्र० ए० । जीवो जीवः अबंभचारी अब्रह्मचारी–प्र० ए० । अम्ह अस्माकं–षष्ठी बहु० । उवएसे उपदेशे–सप्तमी एक० । अहिलसइ अभिलपति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । भणियं भणितं–प्रथमा एकवचन । घाएइ हंति–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया । परं–द्वि० एक० । परेण–तृ० एक० । घाइज्जए हन्यते–वर्तमान० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया । सा पयडी सा प्रकृतिः–प्रथमा एक० ।

जाता है वह परघातकर्म है, इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मके घातका कर्तृत्व होनेके समर्थन द्वारा जीवके घातकर्तृत्वका निषेध होनेसे जीवके सर्वथा अकर्तृत्वका ही समर्थन होता है । इस प्रकार कुछ श्रमणाभास अपने बुद्धिदोषसे आगमके अभिप्रायको बिना ही समझे सांख्यमतका अनुसरण करते हैं । उनके इस तरह प्रकृतिको एकान्ततः कर्ता मान लेनेसे सब ही जीव एकान्तसे अकर्ता सिद्ध हो जाते हैं । तब 'जीव कर्ता है' श्रुतिका यह कोप दूर करना दुःशक्य हो जाता है । और 'कर्म आत्माके पर्यायरूप अज्ञानादि भावोंको करता है और आत्मा द्रव्यरूप केवल आत्मा को ही करता है इस तरह आगमकी विरुद्धता न होगी, ऐसा जो आशय है वह मिथ्या ही है । क्योंकि जीव द्रव्यरूपसे नित्य, असंख्यातप्रदेशी और लोकके बराबर है, अतः जो नित्य होता है वह कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि कृतकत्व और नित्यत्वमें परस्पर विरोध है । यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि अवस्थित और असंख्यातप्रदेशी आत्माके पुद्गल स्कंधकी तरह प्रदेशोंके बिछुड़ने मिलनेसे कार्यत्व सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि प्रदेशोंके बिछुड़ने मिलनेसे उसमें एकत्व नहीं रह सकता । और 'सम्पूर्ण लोक भवनके बराबर विस्तार वाला आत्मा जब अपने नियत (छोटे बड़े) शरीरोंको धारण करता है तब आत्मप्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेके कारण उसमें कार्यत्व सिद्ध हो जायगा' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि संकोच विस्तार होनेपर भी सूखी गीली अवस्थामें अपने ही परिमाणके अन्दर रहने वाले चमड़ेकी तरह आत्मा को अपने निश्चित विस्तारसे हीनाधिक नहीं किया जा सकता । और चूँकि वस्तुस्वभावको मिटाया नहीं जा सकता इसलिए आत्माका ज्ञायकभाव सदा ज्ञान स्वभावसे ही रहता है और जब वह ज्ञानस्वभावसे रहता है तब ज्ञायकता और कर्तृता दोनोंमें परस्पर विरोध होनेसे वह मिथ्यात्वादि भावोंका कर्ता नहीं हो सकता परन्तु मिथ्यात्वादि भाव होते अवश्य हैं इस लिये कर्म ही उनका कर्ता कहा जाता है ऐसा कथन केवल संस्कारके आधीन होकर ही किया जा सकता है । इससे तो 'आत्मा आत्माको करता है' इस मान्यताका पूर्णतया खण्डन ही

त्वात् । यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति । भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्माऽऽत्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो

करोति–व० अ० ए० । अप्पा अकारया सव्वे आत्मानः अकारकाः सर्वे–प्र० बहु० । मण्णसि मन्यसे–वर्तमान० मध्यम० एक० । मज्झं मम–षष्ठी एक० । अप्पा आत्मा–प्र० ए० । अप्पाणं आत्मानं–द्वि० एक० ।

के कारण ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावोंको आत्माके रूपमें जानता है इस प्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामको करनेसे कर्ता है, और जब भेदविज्ञान होनेसे आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता है, तब विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप परिणाममें ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहनेसे ज्ञानी साक्षात् अकर्ता है ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**मां कर्तार** इत्यादि । **अर्थ**—अर्हंतके अनुयायी ये जैन भी आत्माको, सांख्यमतियोंकी तरह सर्वथा अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान होने से पहिले उसे सदा कर्ता मानो और भेदज्ञान होनेसे पश्चात् उद्धत ज्ञानधाममें निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्माको अकर्ता, अचल और एक परम ज्ञाता ही देखो । **भावार्थ**—सांख्यमतावलम्बी पुरुषको एकांतसे अकर्ता, शुद्ध, उदासीन, चैतन्यमात्र मानते हैं । ऐसा माननेसे पुरुष को संसारके अभावका प्रसंग आता है, और यदि प्रकृतिको संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है, उसके सुख-दुःख आदिका संवेदन नहीं है, इसलिये प्रकृतिको संसार कैसा इत्यादि दोष एकान्तमान्यतामें आते हैं । क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकांत नही है । इस कारण वे सर्वथा नित्यैकान्तवादी मिथ्यादृष्टि हैं । उसी तरह जो जैन भी ऐसा मानते हैं तो वे भी मिथ्यादृष्टि होते हैं । इसलिये आचार्य यहाँ उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियोंकी तरह जैन आत्माको सर्वथा अकर्ता मत मानो । जहां तक स्व और परका भेदविज्ञान न हो तब तक तो रागादिकका अपने चेतनरूप भावकर्मोंका कर्ता मानो, भेदविज्ञान हुए पश्चात् शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्तापनके भावसे रहित एक ज्ञाता ही मानो । इस तरह एक ही आत्मामें कर्ता अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके वशसे सिद्ध होते हैं । यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है । ऐसा माननेसे पुरुषके संसार मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है । सर्वथा एकांत माननेमें निश्चय व्यवहार सबका लोप हो जाता है ।

अब क्षणिकवादका सर्वथा एकांत माननेमें दूषण दिखलाते हैं तथा स्याद्वादसे जिस

प्याहंताः कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः । ऊर्द्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परं ॥२०५॥ क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं । अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥ वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् । अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०७॥ ॥ ३३२-३४४ ॥

देशितः–प्र० ए० । समयम्हि समये–स० ए० । सक्कइ शक्यते–वर्त० अ० ए० भावकर्मप्रक्रिया । तत्तो ततः–अव्यय । हीणो अहिओ हीनः अधिकः–प्र० एक० । काउं कर्तुं–हेत्वर्थे कृदन्त क्रिया, जीवरूवं लोगमित्तं जीवरूपं लोकमात्रं–द्वितीया एकवचन ॥ ३३२ ३४४ ॥

असंयम, परभवगमन, मैथुन, घात आदिको कौन करता है इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वपक्ष है कि इन सबको उस-उस जातिका उदित प्रकृतिकर्म किया करता है । (३) जीव जब एकान्ततः अकर्ता है तो ज्ञान, जागरण, व्रत आदिको कौन करता है इस प्रश्नके उत्तरमें पूर्वपक्ष है कि उस-उस जातिके कर्मप्रकृतिका क्षयोपशम करता है । (४) इस सांख्योपदेशके पूर्वपक्षमें न कोई हिंसक है, न कोई व्यभिचारी है, हिंसक व्यभिचारी आदि सब प्रकृति ही है । (५) उत्तरपक्ष में विचारिये––यदि जीव सर्वथा अकर्ता है तो जीवका संसार ही नहीं, बन्ध ही नहीं तब मोक्षोपदेश व मोक्षका अभाव हो जायगा । (६) आत्मा अपने आत्माको करता है ऐसा कहकर यदि एकान्त अकर्तृत्वके दूषणसे बचनेका प्रयास किया जाय तो यह संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यप्रदेशी है हीन अधिक प्रदेश होते नहीं, फिर उसका करना क्या कहलाया । (७) मौलिक तथ्य यह है कि ज्ञानस्वभाव आत्मा जो अनादि ज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्य है वह प्रकृतिजन्य मिथ्यात्वादिके ज्ञानके समयमें मिथ्यात्वादि झलकको आत्मरूप मानता हुआ अज्ञानरूप ज्ञानपरिणमनका कर्ता होता है । (८) ज्ञानस्वभाव आत्मा जब ही ज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानसे पूर्ण होता है तब ही आत्माको ही आत्मरूप जानता हुआ ज्ञानमय ज्ञानपरिणमन से परिणमते हुए स्वयंका मात्र ज्ञाता होनेसे साक्षात् अकर्ता है । (९) भेदविज्ञानसे पहिले अज्ञानमय होनेसे जीव कर्ता है । (१०) भेदविज्ञानके पश्चात् ज्ञानमय होनेसे जीव अकर्ता है ।

सिद्धान्त––(१) अज्ञानरूप परिणमने वाला जीव मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है । (२) ज्ञानरूपसे ही परिणमने वाला जीव अकर्ता है ।

दृष्टि— १– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग––संसारसंकटोंका मूल भेदविज्ञानका अभाव जानकर भेदविज्ञानसे विविक्त किये गये आत्मस्वभावको उपयोगमें बनाये रहना ॥ ३३२-३४४ ॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः। यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ।। ३४५ ।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः। यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ।। ३४६ ।।
यश्चैव करोति स चैव वेदयते यस्यैष सिद्धांतः। स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।। ३४७ ।।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः। स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ।। ३४८ ।।

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्व-

करणे, वेद वेदने, कुण करणे, परि भुंज भोगे। प्रातिपदिक—कैश्चित्, पर्याय, न, एव, जीव, यत्, तत्, तत्, वा, अन्य, वा, न, एकान्त, तु, पर्याय, जीव, यत्, एतत्, सिद्धांत, तत्, जीव, ज्ञातव्य, मिथ्यादृष्टि,

और जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि **[य एव]** जो जीव **[करोति]** करता है **[स चैव वेदयते]** वही भोगता है **[स जीवः]** वह जीव **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना **[अनार्हतः]** वह अरहंतके मतका अनुयायी नहीं है **[यस्य एष सिद्धांतः]** तथा जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि **[अन्यः करोति]** कोई अन्य करता है **[अन्यः परिभुंक्ते]** और कोई दूसरा भोगता है **[स जीवः]** वह जीव **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना **[अनार्हतः]** वह अरहंतके मतका अनुयायी नहीं है।

तात्पर्य—जीव नित्यानित्यात्मक है यह युक्ति, आगम व अनुभवसे सिद्ध है।

टीकार्थ—चूंकि प्रतिसमय होने वाले अगुरुलघुगुणके परिणामके द्वारा क्षणिकपना होनेसे और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुणके द्वारा नित्यपना होनेसे जीव कुछ एक पर्यायों से तो विनष्ट होता है तथा कितने ही भावोंसे विनष्ट नहीं होता, ऐसे जीवका स्वभाव दो स्वरूप है, इस कारण जो ही करता है वही भोगता है अथवा अन्य ही भोगता है, जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य करता है ऐसा एकांत नहीं है। इस प्रकार अनेकांत होनेपर भी जो ऐसा मानता है कि जिस क्षणमें जो पर्याय होती है उसीको परमार्थरूप सत्तासे वस्तुपना है, इस प्रकार वस्तुके अंशमें वस्तुत्वका निश्चय करके शुद्धनयके लोभसे ऋजुसूत्रनयके एकांत में ठहरकर जो ऐसा श्रद्धान करता है कि जो करता है वही भोगता नहीं, अन्य करता है और अन्य ही भोगता है वह जीव मिथ्यादृष्टि ही जानना क्योंकि पर्यायरूप अवस्थाओंके क्षणिकपना होनेपर भी वृत्तिमान (पर्यायी) जो चैतन्यचमत्कार टंकोत्कीर्ण नित्य स्वरूप है उसका अंतरंग में प्रतिभासमानपना है।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव आगममें द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है। सो पर्यायकी अपेक्षासे तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है ऐसा स्याद्वादसे सिद्ध होता है। जीवनामक वस्तु भी ऐसा ही द्रव्यपर्यायस्वरूप है, अतः पर्यायकी अपेक्षासे देखा जाय तब तो कार्यको

ल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितैरात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥ कर्तुर्वेद-यितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोपि वा, कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिंत्यतां। प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेतुं न शक्या क्वचित्, चिच्चिंतामणिमालिकेयमभितोप्येका चका-

---

तृतीया बहु०। दु ण एव वा व तु न एव वा वा–अव्यय। पज्जयेहिं पर्यायैः–तृतीया बहु०। विणस्सए विनश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जीवो जीवः–प्रथमा एकवचन। जम्हा यस्मात् तहा तस्मात्–पंचमी एक०। कुव्वदि करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। सो सः–प्र० ए०। अण्णो अन्यः–प्र० ए०। एयंतो एकान्तः–प्रथमा एक०। वेददि वेदयते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया।

ग्रहण करते हैं उनको हारकी प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार जो आत्माके एक नित्य चैतन्य भावको ग्रहण नहीं करते तथा समय समय वर्तनापरिणाम रूप उपयोगकी प्रवृत्तिको देख उस को सदा नित्य मान कालकी उपाधिसे अशुद्धपना मानकर ऐसा जानते हैं कि यदि नित्य माना जाय तो कालकी उपाधि लगनेसे आत्माके अशुद्धपना आता है तब अतिव्याप्ति दूषण लगता है, इस दोषके भयसे ऋजुसूत्रनयका विषय शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपना उस मात्र मान आत्माको छोड़ देते हैं। **भावार्थ**—आत्माको समस्तपने शुद्ध माननेके इच्छुक क्षणिकवादीने विचारा कि यदि आत्माको नित्य माना जाय तो नित्यमें कालकी अपेक्षा आती है, इसलिये उपाधि लग जायगी तब बड़ी अशुद्धता आयेगी, तब अतिव्याप्ति दोष लगेगा। इस भयसे शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान समय है उतना क्षणिक ही आत्माको माना। तब जो आत्मा नित्यानित्यरूप द्रव्यपर्यायरूप था उसका उसके ग्रहण नहीं हुआ, केवल पर्यायमात्रमें आत्माकी कल्पना हुई। ऐसा कल्पित आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

अब फिर इसी अर्थका समर्थन काव्यमें कहते हैं—**कर्तु** इत्यादि। **अर्थ**—कर्ताका और भोक्ताका युक्तिके वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, अथवा कर्ता भोक्ता दोनों ही न हों, वस्तुका ही चिंतवन करो। जैसे चतुर पुरुषोंके द्वारा सूत्रमें पोई हुई मणियोंकी माला भेदी नहीं जा सकती, वैसे ही आत्मामें पोई हुई चैतन्यरूप चिंतामणिकी माला भी किसीसे नहीं भेदी जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला समस्तपनेसे एक हमारे प्रकाशरूप प्रकट हो। **भावार्थ**—पदार्थ द्रव्यपर्यायस्वरूप है उसमें विवक्षावश कर्ताभोक्तापनेका भेद भी है और भेद नहीं भी है, तथा कर्ता-भोक्ताका भेदाभेद भी क्यों करना चाहिए? केवल शुद्ध वस्तुमात्रका उसके असाधारण धर्मके द्वारा अनुभव करना चाहिए। जैसे मणियोंकी मालामें सूत और मोतियोंका विवक्षासे भेद है। मालामात्र ग्रहण करनेमें भेदाभेद विकल्प नहीं हैं। उसी तरह आत्मामें चैतन्यके द्रव्यपर्याय अपेक्षा भेदाभेद है तो भी आत्मवस्तुमात्र अनुभव करनेपर विकल्प नहीं रहता। ऐसे निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमारे प्रकाशरूप होओ।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४६॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

नामसंज्ञ—जह, सिप्पिअ, उ, कम्म, ण, य, त, उ, तम्मअ, तह, जीव, वि, य, कम्म, ण, य, तम्मअ, जह, सिप्पिअ, उ, करण, कम्मफल, एवं, ववहार, वत्तव्व, दरिसण, समास, णिच्छय, वयण, परिणामकय,

---

वास्तविकता यह है कि द्रव्य अनादि अनन्त है उसमें प्रतिक्षण पर्यायोंका उत्पाद व्यय होता रहता है। १२– निश्चयसे प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने पर्यायोंका कर्ता है। १३– जीवद्रव्य अपने पर्यायोंका कर्ता है।

सिद्धान्त—१– अपनी सब पर्यायोंमें रहने वाला जीव अनादि अनन्त नित्य एक द्रव्य है। २– जीव प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायोंसे उत्पन्न होता रहता है।

दृष्टि—१– नित्यनय (१६९)। २– अनित्यनय (१७०)।

प्रयोग—सब पर्यायोंमें रहते हुए भी किसी पर्यायमात्र न रहने वाले ध्रुव चैतन्यचमत्कारमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग रमानेका पौरुष करना ॥ ३४५-३४८ ॥

अब इस निश्चय व्यवहारके कथनको दृष्टांतसे गाथाओंमें कहते हैं—[**यथा शिल्पिकः**

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति । तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ।
यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तन्मयो भवति । तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ।
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति, तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो० ।
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति । तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ।
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन । शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ।।३५३।।
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः तथा जीवोपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात्
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति । ततः स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ।।३५५।।

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति । हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति । हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति । ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिककर्मफलं भुंक्ते च । नत्वने-

---

तु, कर्मन्, न, च, तत्, तु, तन्मय, तथा, जीव, अपि, च, कर्मन्, न, च, तन्मय, यथा, शिल्पिक, तु, करण, कर्मफल, एवं, व्यवहार, वक्तव्य, दर्शन, समास, निश्चय, वचन, परिणामकृत, तु यत्, चेष्टा, अनन्य, तत्, नित्यदुःखित, ततः, अनन्य, चेष्टमान, दुःखिन्, जीव । **मूलधातु**—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां, ग्रह उपादाने क्र्यादि, भुज उपभोगे, चेष्ट चेष्टायां भ्वादि । **पदविवरण**—जह यथा उ तु ण न य च तह तथा तत्तो

[**तथा जीवः**] उसी तरह जीव भी [**कर्मफलं**] सुख दुःख आदि कर्मफलको [**भुंक्ते**] भोगता है [**च**] परन्तु [**तन्मयो न भवति**] उनसे तन्मय नहीं होता । [**एवं तु**] इस तरह तो [**व्यवहारस्य दर्शनं**] व्यवहारका मत [**समासेन**] संक्षेपसे [**वक्तव्यं**] कहने योग्य है [**तु**] अब [**निश्चयस्य**] निश्चयका [**वचनं**] वचन [**शृणु**] सुनो [**यत्**] जो कि [**परिणामकृतं**] अपने परिणामोंसे किया [**भवति**] होता है । [**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी तो [**चेष्टां करोति**] अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्मको करता है [**तथा च**] और [**तस्या अनन्यः**] उस चेष्टासे भिन्न नहीं [**भवति**] है, तन्मय है [**तथा**] उसी तरह [**जीवोपि च**] जीव भी [**कर्म**] अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्मको [**करोति**] करता है [**च**] और [**तस्मात्**] उस चेष्टारूप कर्मसे [**अनन्यः भवति**] अन्य नहीं है, तन्मय है । [**यथा तु**] जैसे [**शिल्पिकः**] शिल्पी [**चेष्टां कुर्वाणः**] चेष्टा करता हुआ [**नित्यदुःखितो भवति**] निरन्तर दुःखी होता है [**च**] और [**तस्मात्**] उस दुःखसे [**अनन्यः स्यात्**] पृथक् नहीं है, तन्मय है [**तथा**] उसी तरह [**जीवः**] जीव भी [**चेष्टमानः दुःखी**] चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है और दुःखसे अनन्य है ।

तात्पर्य—निश्चयसे जीव अपने परिणमनका ही कर्ता व अनुभविता है ।

टीकार्थ—जिस प्रकार निश्चयसे सुनार आदि शिल्पी कुण्डल आदि परद्रव्यके परि-

करोति दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपं कर्मफलं भुंक्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपकर्मफलं भुंक्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ॥ ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः

भुंजदि भुंक्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। ववहारस्स व्यवहारस्य–षष्ठी एक०। वत्तव्वं वक्तव्यं–प्रथमा एकवचन कृदन्त। दरिसणं दर्शनं–प्रथमा एक०। समासेण समासेन–तृतीया एक०। सुणु शृणु–

निश्चय है।

अब इसी अर्थको श्लोकमें कहते हैं—ननु इत्यादि। अर्थ—वास्तवमें वतुका परिणाम ही निश्चयसे कर्म है, वह परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी द्रव्यका ही होता है, अन्यका नहीं होता। कर्म कर्ताके विना नहीं होता, तथा वस्तुकी एक अवस्थारूप कूटस्थ स्थिति नहीं होती, इस कारण वस्तु ही स्वयं अपने परिणामरूप कर्मका कर्ता है। भावार्थ—प्रत्येक वस्तु स्वयं ही स्वयंके परिणामको स्वयंकी परिणतिसे करता है यह निश्चयनयका सिद्धान्त है।

अब इसी अर्थका समर्थन कलशरूप काव्यमें करते हैं—बहिर्लुठति इत्यादि। अर्थ—यद्यपि स्वयं प्रकाशरूप अनंतशक्तिमान वस्तु बाहर लोटती है तो भी अन्यवस्तु अन्यवस्तुमें प्रवेश नहीं करती है। क्योंकि सभी वस्तु अपने-अपने स्वभावमें नियत हैं ऐसा निर्णीत हुआ है। ऐसा होनेपर भी अहो, यह जीव अपने स्वभावसे चलायमान होकर आकुलित तथा मोही हुआ क्लेशरूप क्यों होता है? भावार्थ—वस्तुस्वभाव नियमसे ऐसा है कि किसी वस्तुमें कोई अन्य वस्तु नहीं मिलती फिर तो यह बड़ा अज्ञान है कि यह प्राणी अपने स्वभावसे चलायमान होकर व्याकुल (क्लेशरूप) हो जाता है।

अब फिर इसी अर्थको श्लोकमें दृढ़ करते हैं—वस्तु इत्यादि। अर्थ—इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इस कारण वस्तु वस्तुरूप ही है। ऐसा होनेपर अन्यवस्तु बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती। **भावार्थ**—वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि अन्य कोई वस्तु उसे बदल नहीं सकती, यदि ऐसा न माना जाय तो वस्तुका वस्तुपना ही न रहेगा। तब अन्यका अन्यने कुछ भी नहीं किया। जैसे चेतन वस्तुके एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गल रहते हैं तो भी चेतनको जड़ पुद्गल अपने रूप तो नहीं परिणमा सकते तब चेतनका कुछ भी नहीं किया, यह निश्चयनयका मत है, और निमित्तनैमित्तिक भावसे अन्य वस्तुके परिणाम होता है तो वह भी उस उपादानभूत वस्तुका

प्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वंतरं । स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२१२॥ वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् । निश्चयोयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥ यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयं । व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥ ॥ ३४९-३५५ ॥

करोति हवइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । अणण्णो अनन्यः–प्र० ए० । से तस्याः–षष्ठी ए० । कुव्वंतो कुर्वन्–प्रथमा एक० कृदन्त । णिच्चदुक्खिओ नित्यदुःखितः–प्रथमा एक० । तत्तो ततः–अव्यय । सिया स्यात्–विधिलिङ् अन्य पुरुष एकवचन । चेट्ठंतो चेष्टमानः–प्रथमा एक० । दुही दुःखी–प्र० ए० । जीवो जीवः–प्रथमा एकवचन ॥ ३४९-३५५ ॥

सिद्धान्त—१– जीव व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मको करता है । २– जीव व्यवहारनयसे कर्मफलको भोगता है । ३–अज्ञानी जीव निश्चयसे मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्मको करता है । ४–जीव निश्चयसे हर्षविषादादिरूप परिणामको भोगता है । ५– परमार्थसे आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्वसे शून्य है ।

दृष्टि—१– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६) । २– परभोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६अ) । ३–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ४–अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ५–शुद्धनय, शून्यनय (४६, १६८, १७३) ।

प्रयोग—बाह्य पदार्थके करने भोगनेकी असंभवता जानकर, रागादिक अशुद्ध परिणामोंके करने भोगनेको अपराध जानकर, उन सबसे हटकर सहज चित्स्वरूप अन्तस्तत्त्वमें उपयोग लगाना ॥ ३४९-३५५ ॥

अब इस निश्चयव्यवहारनयके कथनको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं—[**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] सफेदी-कलई-खड़िया मिट्टी तो [**परस्य न**] परकी याने दीवार आदिकी नहीं है [**सेटिका**] सफेदी तो [**सा च सेटिका भवति**] वह सफेदी ही है [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञायकः तु**] ज्ञायक आत्मा तो [**परस्य न**] परद्रव्यका नहीं है [**ज्ञायकः स तु ज्ञायकः**] ज्ञायक तो वह ज्ञायक ही है । [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] सफेदी [**परस्य न**] परद्रव्यकी नहीं है [**सेटिका सा च सेटिका भवति**] सफेदी तो वह सफेदी ही है [**तथा**] उसी प्रकार [**दर्शकः तु**] देखने वाला आत्मा [**परस्य न**] परका नहीं है [**सेटिका सा च सेटिका भवति**] सफेदी तो वह सफेदी ही है [**तथा**] उसी प्रकार [**दर्शकः तु**] देखने वाला आत्मा [**परस्य न**] परका नहीं है [**दर्शकः स तु दर्शकः**] दर्शक तो वह दर्शक ही है [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] सफेदी

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥ (दशकम्)

ज्यों सेटिका न परकी, सेटिका सेटिका ही होती है ।
त्यों ज्ञायक नहिं परका, ज्ञायक ज्ञायक हि होता है ॥३५६॥
ज्यों सेटिका न परकी, सेटिका सेटिका ही होती है ।
त्यों दर्शक नहिं परका, दर्शक दर्शक हि होता है ॥३५७॥
ज्यों सेटिका न परकी, सेटिका सेटिका ही होती है ।
त्यों संयत नहिं परका, संयत संयत हि होता है ॥३५८॥
ज्यों सेटिका न परकी, सेटिका सेटिका ही होती है ।
त्यों दर्शन नहिं परका, दर्शन दर्शन हि होता है ॥३५९॥
यों निश्चयका आश्रय, दर्शन ज्ञान चारित्रमें भाषित ।
अब व्यवहाराशयको, सुनो सुसंक्षेपमें कहते ॥३६०॥
ज्यों परको श्वेत करे, सेटिका वहां स्वकीय प्रकृतीसे ।
त्यों परको जाने यह, ज्ञाता भि स्वकीय भाव हि से ॥३६१॥
ज्यों परको श्वेत करे, सेटिका वहां स्वकीय प्रकृतीसे ।
त्यों परको देखे यह, आत्मा भि स्वकीय भाव हि से ॥३६२॥
ज्यों परको श्वेत करे, सेटिका वहां स्वकीय प्रकृतीसे ।
त्यों परको त्यागे यह, आत्मा भि स्वकीय भाव हि से ॥३६३॥

सहाव, सम्मादिट्ठि, विणिच्छय, णाणदंसणचरित्त, भणिअ, अण्ण, पज्जय, एमेव, णायव्व । धातुसंज्ञ— हो सत्तायां, सुण श्रवणे, सेड श्वेतीकरणे, जाण अवबोधने, पास दर्शने, वि जहा त्यागे, सद् दह धारणे ।

में [समासेन व्यवहारनयस्य वक्तव्यं शृणु] संक्षेपसे व्यवहारनयका कथन सुनो ।

[यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन] सफेदी अपने स्वभावसे [परद्रव्यं सेटयति] परद्रव्यको याने दीवार आदिको सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं जानाति] ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यको जानता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती

भयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः, ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः । किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः ।

सम्यग्दृष्टि, स्वभाव, विनिश्चय, ज्ञानदर्शनचारित्र, भणित, अन्य, पर्याय, एवं, एव, ज्ञातव्य । **मूलधातु**—भू सत्तायां, श्रु श्रवणे भ्वादि, षिट अनादरे भ्वादि णिजन्त, ज्ञा अवबोधने, दृशिर् प्रेक्षणे, वि ओहाक् त्यागे जुहोत्यादि, श्रद् डुधाञ् धारणपोषणयोः । **पदविवरण**—जह यथा–अव्यय । सेडिया सेटिका–प्रथमा एक० । दु तु ण न–अव्यय । परस्स परस्य–षष्ठी एक० । य च–अव्यय । सा–प्र० ए० । होइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तह तथा–अव्यय । जाणओ ज्ञायकः–प्र० ए० । पासओ दर्शकः–प्रथमा

टीकार्थ—इस लोकमें खड़िया (सफेदी) श्वेतगुणसे भरा हुआ द्रव्य है । कुटी, भीत आदि परद्रव्य व्यवहारसे श्वैत्य है । अब खड़िया और परद्रव्य दोनोंमें परमार्थसे क्या संबंध है ? इसका विचार किया जा रहा है कि श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्यकी श्वेत करने वाली खड़िया है या नहीं ? यदि सेटिका भींत आदि परद्रव्यकी है, तो ऐसा न्याय है कि जो जिसका हो वह उस स्वरूप ही होता है । जैसे आत्माका ज्ञान आत्मस्वरूप ही है । ऐसा परमार्थरूप तत्त्वसंबंध जीवित (विद्यमान) होनेपर सेटिका भींत आदिकी होती हुई भींत आदि के स्वरूप ही होनी चाहिये, ऐसा होनेपर सेटिकाके निजद्रव्यका तो अभाव हो जायगा; परंतु एकद्रव्यका अन्यद्रव्यरूप होना तो पहले ही प्रतिषिद्ध हो जानेसे द्रव्यका उच्छेद नहीं है । इस कारण खड़िया कुटो आदि परद्रव्यकी नहीं है । **प्रश्न**—यदि खड़िया भींत आदिकी नहीं है तो किसकी है ? **उत्तर**—खड़िया खड़ियाकी ही है । **प्रश्न**—वह अन्य खड़िया कौनसी है जिस खड़ियाकी यह खड़िया है ? **उत्तर**—खड़ियासे भिन्न अन्य कोई खड़िया नहीं है, किन्तु खड़ियाके स्वस्वामिरूप अंश ही अन्य कहे जाते हैं । **प्रश्न**—यहाँ स्वस्वामि अंशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? **उत्तर**—कुछ भी नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि खड़िया अन्य किसी की भी नहीं, खड़िया खड़िया ही है ऐसा निश्चय है । जैसा यह दृष्टांत है वैसा ही यह दार्ष्टान्त है—इस लोकमें प्रथम तो चेतनेवाला आत्मा ज्ञानगुणसे भरे स्वभाव वाला द्रव्य है, उसका व्यवहारसे जानने योग्य पुद्गल आदिक परद्रव्य है । अब यहाँ ज्ञेय पुद्गल आदि परद्रव्यका

पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः। ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किं च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा

षष्ठी एक०। वत्तव्वं वक्तव्यं–प्रथमा एक०। से तस्य–षष्ठी एक०। समासेण समासेन–तृतीया एक०। जह यथा–अव्यय। परदव्वं परद्रव्यं–द्वितीया एक०। सेडदि सेटयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन

अन्यद्रव्यरूप पलटनेका पहले ही निषेध कर चुके हैं। इस कारण खड़िया कुटी आदिकी नहीं है। **प्रश्न**– सेटिका कुटी आदिकी नहीं हैं तो किसकी है ? **उत्तर**––सेटिका सेटिकाकी ही है। **प्रश्न**– वह दूसरी सेटिका कौनसी है कि जिसकी यह सेटिका है ? **उत्तर**––दूसरी सेटिका तो नहीं है कि जिसकी यह सेटिका हो सके, किन्तु स्वस्वामिअंश ही अन्य है। **प्रश्न**––यहां स्वस्वामिअंशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? **उत्तर**–कुछ भी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सेटिका किसीकी भी नहीं, सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है। जैसे यह दृष्टांत है वैसे यह दार्ष्टान्त है––यहां चेतयिता आत्मा दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाव वाला द्रव्य है, पुद्गल आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका दृश्य है। अब यहाँ दोनोंका परमार्थभूत तत्त्वरूप सम्बन्ध विचारते हैं कि दृश्य पुद्गल आदि परद्रव्यका दर्शक चेतयिता कुछ है या नहीं ? यदि चेतयिता पुद्गल द्रव्यादिका है तो यह न्याय है कि जो जिसका होता है वह वही है अन्य नहीं है। जैसे कि आत्माका होता हुआ ज्ञान आत्मा ही है, ज्ञान भिन्न द्रव्य नहीं है। ऐसे तत्त्वसम्बन्धके विद्यमान होनेपर चेतयिता पुद्गल आदिका होता हुआ पुद्गल आदिक ही हो सकेगा, भिन्न द्रव्य न हो सकेगा। ऐसा होनेपर चेतयिताके स्वद्रव्यका नाश हो जायगा, परन्तु द्रव्यका नाश होता नहीं, क्योंकि अन्य द्रव्यको पलटकर अन्य द्रव्य होनेका पहले ही निषेध कर चुके हैं। इसलिये यह ठहरा कि चेतयिता पुद्गल द्रव्य आदिका नहीं है। **प्रश्न**––चेतयिता पुद्गलद्रव्य आदिका नहीं है तो किसका है ? **उत्तर**––चेतयिताका ही चेतयिता है। **प्रश्न**––वह दूसरा चेतयिता अन्य कौन है जिसका यह चेतयिता है ? **उत्तर**––चेतयितासे अन्य तो चेतयिता नहीं है। तो क्या है ? स्वस्वामिअंश ही अन्य है। **प्रश्न**––यहाँ स्वस्वामिअंशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? **उत्तर**––कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि चेतयिता किसीका भी दर्शक नहीं

भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि परद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत् । एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वात् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न

वेन–तृतीया एक० । जाणइ जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । णाया ज्ञाता–प्रथमा एकवचन ।

चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा, किन्तु द्रव्यका उच्छेद होता नहीं, क्योंकि अन्यद्रव्य को पलटकर अन्यद्रव्य होनेका प्रतिषेध पहले ही कर चुके हैं । इसलिये चेतयिता पुद्गलादिक का नहीं हो सकता । **प्रश्न**—चेतयिता पुद्गल आदिका नहीं है तो चेतयिता किसका है ? **उत्तर**—चेतयिताका ही चेतयिता है । **प्रश्न**—वह दूसरा चेतयिता कौनसा है जिसका यह चेतयिता है ? **उत्तर**—चेतयितासे अन्य चेतयिता तो नहीं है । तो क्या है ? स्वस्वामिअंश ही अन्य हैं । **प्रश्न**—यहाँ स्वस्वामिअंशके व्यवहारसे क्या साध्य है ? **उत्तर**—कुछ भी नहीं । तब यह ठहरा कि अपोहक (त्यागने वाला) किसीका भी नहीं है, अपोहक अपोहक ही है ऐसा निश्चय है ।

अब व्यवहारका व्याख्यान किया जाता है जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वयं कुटी आदि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमती हुई तथा कुड्यादिक परद्रव्यको अपने स्वभावसे नहीं परिणमाती हुई, जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त है, ऐसे अपने श्वेत-गुणसे भरे स्वभावके परिणामसे उपजती हुई सेटिका जिसको निमित्त है, ऐसे अपने कुड्यादि स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए कुड्यादि परद्रव्यको अपने स्वभावसे सफेद करती है । ऐसा व्यवहार किया जाता है । उसी तरह ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाव वाला चेतयिता आत्मा भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गल आदि परद्रव्यको अपने स्वभावसे न परिणमाता हुआ तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त है ऐसे अपने ज्ञानगुणसे भरे स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ, जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावसे जानता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है । किञ्च—जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाव वाली वही सेटिका स्वयं कुड्यादि परद्रव्यके स्वभावसे परिणमन नहीं करती हुई, और कुड्यादि

रेणापोह्यं पुद्‌गलादिपरद्रव्यं । अथात्र पुद्‌गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकः चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि चेतयिता पुद्‌गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्‌गलादेर्भवन् पुद्‌गलादिरेव भवेत् । एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्‌द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्‌गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्‌गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः । अथ व्यवहारव्याख्यानम् । यथा च सैव सेटिका

एकवचन क्रिया । जीवो जीवः—प्रथमा एक० । विजहइ विजहाति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन

आत्मा स्वयं पुद्‌गलादि परद्रव्यके स्वभावसे परिणमन नहीं करता हुआ और पुद्‌गलादि परद्रव्यको भी अपने स्वभावसे नहीं परिणमाता हुआ तथा पुद्‌गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसा अपने ज्ञानदर्शनगुणसे भरा परके त्याग करने रूप स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ, जिसको पुद्‌गलादि परद्रव्य निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण परापोहनात्मक स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, तथा जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसा अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न पुद्‌गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावसे त्यागता है । ऐसा व्यवहार किया जाता है । इस प्रकार यह आत्माके ज्ञानदर्शनचारित्र पर्यायोंका निश्चय व्यवहार है । इसी प्रकार अन्य भी जो कोई पर्याय हैं उन सभी पर्यायोंका निश्चय व्यवहार जानना ।

भावार्थ—शुद्धनयसे आत्माका एक चेतनामात्र स्वभाव है । उसके परिणाम देखना, जानना, श्रद्धान करना और परद्रव्यसे निवृत्त होना है । वहां निश्चयनयसे विचारें, तब आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक, न श्रद्धान करने वाला और न त्याग करने वाला कहा जा सकता है । क्योंकि परद्रव्यका और आत्माका निश्चयसे कुछ भी सम्बन्ध नही है । जो ज्ञाता द्रष्टा श्रद्धान करने वाला, त्याग करने वाला, ये सब भाव हैं सो स्वयं ही है । भाव्य-भावकका भेद कहना भी व्यवहार है और परद्रव्यका ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करने वाला त्याग करने वाला कहना भी व्यवहार है । परद्रव्यका और आत्माका मात्र निमित्तनैमित्तिक भाव है, सो परके निमित्तसे कुछ भाव हुए देख व्यवहारी जन कहते हैं कि परद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको देखता है परद्रव्यका श्रद्धान करता है और परद्रव्यको त्यागता है । इस तरह निश्चय व्यवहारके तथ्यको जानकर यथावत् श्रद्धान करना चाहिये ।

स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते। तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृ निमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते। अपि च—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य

एक०। विणिच्छओ विनिश्चयः–प्रथमा एक०। णाणदंसणचरित्ते ज्ञानदर्शनचरित्रे–सप्तमी एक०। भणिओ

तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं है।

अब काव्यमें बताते हैं कि ज्ञानमें राग-द्वेषका उदय कब तक है—**रागद्वेष** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञान जब तक ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञेयभावको प्राप्त नहीं होता तब तक रागद्वेष दोनों उदित होते हैं। इसलिये यह ज्ञान अज्ञानभावको दूर करके ज्ञानरूप होओ जिससे कि भाव अभावको तिरस्कृत करता हुआ ज्ञान पूर्णस्वभाव प्रकट होता है। **भावार्थ**—जब तक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं होता ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं होता तब तक राग-द्वेष दोनों उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये यह ज्ञान अज्ञान भावको दूर करके ज्ञानरूप होवे जिससे कि ज्ञान पूर्णस्वभावको प्राप्त हो जाय। यह भावना यहाँ की गई है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथासप्तकमें व्यवहारसे कर्ता कर्मको अन्य तथा निश्चय से कर्ता कर्मको अनन्य बताया था। अब इस गाथादशकमें दृष्टान्तपूर्वक निश्चयतः सविवरण एक वस्तुमें कर्तृकर्मत्वके अभेदको बताया है।

तथ्यप्रकाश—१–ज्ञायक आत्मा भिन्न सत् है, ज्ञेय पर वस्तु भिन्न सत् है। २–ज्ञायक ज्ञेयका कुछ नहीं, ज्ञायक ज्ञायकका ही है याने ज्ञायक ज्ञायक ही है। ३–दर्शक भिन्न सत् है, दृश्य भिन्न सत् है। ४–दर्शक दृश्यका कुछ नहीं; दर्शक दर्शकका ही है याने दर्शक दर्शक ही है। ५–संयत अपोहक–त्यागी भिन्न सत् है त्याज्य परवस्तु भिन्न सत् है। ६–त्यागी त्याज्यका कुछ नहीं, त्यागी त्यागीका ही है याने त्यागी (अपोहक) त्यागी ही है। ७–श्रद्धान–श्रद्धाता भिन्न सत् है, श्रद्धेय जीवादि परपदार्थ भिन्न सत् हैं। ८–श्रद्धान श्रद्धेयका कुछ नहीं, श्रद्धान श्रद्धानका ही है याने श्रद्धान श्रद्धान ही है। ९–ज्ञाता आत्मा घटादिक पर ज्ञेयको व्यवहारसे जानता है, किन्तु वह परद्रव्यसे तन्मय नहीं होता। १०–आत्मा घटादिक परद्रव्य दृश्यको व्यवहारसे देखता है, किन्तु वह दृश्य परद्रव्यसे तन्मय नहीं होता।

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ ण संति खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥३७१॥

नामसंज्ञ—दंसणणाणचरित्त, किंचि, वि, ण, दु, अचेयण, विसय, त, किं, त, विसय, त, किं, चेदयिदा, त, विसय, कम्म, त, कम्म, काय, णाण, दंसण, भणिअ, घाअ, तहा, चरित्त, तहिं, पुग्गलदव्व, क,

दृष्टि—१—स्वाभाविक उपचरित स्वभाव व्यवहार (१०५)। २—कारककारकिभेदक सद्भूतव्यवहार (७३)। ३—शुद्धनय (४९)।

प्रयोग—परमशान्तिके अर्थ सर्वविकल्पवादोंसे हटकर अपनेमें अपना आत्मसर्वस्व निरखना ॥ ३५६-३६५ ॥

अब युक्तिपूर्वक कहते हैं कि अज्ञानसे अपना ही घात होता है—**[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शन ज्ञान चारित्र **[अचेतने विषये तु]** अचेतन विषयमें तो **[किंचिदपि नास्ति]** कुछ भी नहीं हैं **[तस्मात्]** इस कारण **[चेतयिता]** आत्मा **[तेषु विषयेषु]** उन विषयोंमें **[किं हंति]** क्या घात करता है ? **[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शन ज्ञान चारित्र **[अचेतने कर्मणि तु]** अचेतन कर्ममें **[किंचिदपि नास्ति]** कुछ भी नहीं हैं। **[तस्मात्]** इस कारण **[चेतयिता]** आत्मा **[तत्र कर्मणि]** उस कर्ममें **[किं हंति]** क्या घात करता है ? **[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शन ज्ञान चारित्र **[अचेतने काये तु]** अचेतन कायमें **[किंचिदपि नास्ति]** कुछ भी नहीं है **[तस्मात्]**

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये। तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ।। ३६६ ।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि। तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कर्मसु ।। ३६७ ।।
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये। तस्मात् किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ।। ३६८ ।।
ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य। नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ।। ३६९ ।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु। तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ।। ३७० ।।
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः। एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ।। ३७१ ।।

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते। यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते। यत्र यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते। तथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचरित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते, एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गल-

---

भणित, घात, तथा, चरित्र, तत्र, पुद्गलद्रव्य, निर्दिष्ट, जीव, यत्, गुण, केचित्, न, खलु, तत्, पर, द्रव्य, तत्, सम्यग्दृष्टि, राग, विषय, राग, द्वेष, मोह, जीव, अनन्यपरिणाम, एतत्, कारण, तु, शब्दादि, न, रागादि। **मूलधातु**—अस् भुवि, हन हिंसायां। **पदविवरण**—दंसणणाणचरित्तं दर्शनज्ञानचरित्रं-प्रथमा एक०। किंचिवि किंचित्-अव्यय। ण न-अव्यय। अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। दु

जो होता है, उसके याने आधेयके घात होनेसे उस आधारका भी घात होता है, जैसे प्रकाशका घात होनेपर दीपक भी हना जाता है। जो जिसमें नहीं है वह उसके घात होनेपर नहीं हना जाता जैसे घटका घात होनेपर घटप्रदीप नहीं नष्ट हो जाता। तथा जिसमें जो नहीं है वह उसके घात होनेपर नहीं हना जा सकता। जैसे घड़ेमें दीपकका घात होनेपर घड़ा नहीं नष्ट हो जाता। उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर भी आत्माके धर्म दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं घाते जाते, तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्य भी नहीं घाता जाता। इस तरह दर्शन ज्ञान और चारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं है यह निर्णीत होता है। यदि ऐसा न हो तो दर्शन ज्ञान चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात अवश्य हो जावेगा और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर दर्शन, ज्ञान और चारित्रका घात अवश्य हो जावेगा। चूंकि ऐसा है अतः जो जितने कोई भी जीवद्रव्यके गुण हैं वे सभी परद्रव्योंमें नहीं हैं। यह हम अच्छी तरह देख रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो यहांपर भी जीवके गुणका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर जीवगुणका घात हो बैठेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग किस कारणसे होता है? **उत्तर**—किसी भी कारणसे नहीं होता। **प्रश्न**—तब रागके उपजनेकी कौनसी खान है? **उत्तर**—रागद्वेष मोह, जीवके ही अज्ञानमय परिणाम रागादिकके उपजनेकी खान है। इस कारण

द्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंत: सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव ।। रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात् तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् । सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ।।२१८।। रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि । सर्वद्रव्योत्पत्तिरंतश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ।।२१९।। ।। ३६६-३७१ ।।

एक० । भणिओ भणित: घाओ घात:-प्रथमा एक० । चरित्तस्स चरित्रस्य-षष्ठी एक० । तहि तत्र-अव्यय । पुग्गलदव्वस्स पुद्गलद्रव्यस्य-षष्ठी एक० । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट:-प्र० एक० । जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । जे ये-प्रथमा बहु० । गुणा गुणा:-प्रथमा बहु० । ण न-अव्यय । संति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । खलु-अव्यय । परेसु दव्वेसु परेषु द्रव्येषु-सप्तमी बहु० । तम्हा तस्मात्-पंचमी एक० । सम्माइट्ठिस्स सम्यग्दृष्टे:-षष्ठी ए० । ण न-अव्यय । अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । रागो राग:-प्र० ए० । विसएसु विषयेषु-सप्तमी बहु० । रागो दोसो मोहो राग: द्वेष: मोह:-प्रथमा एक० । जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । एव-अव्यय । अणण्णपरिणामा अनन्यपरिणामा:-प्रथमा बहु० । एएण कारणेण एतेन कारणेन-तृतीया एक० । सद्दादिसु शब्दादिषु-सप्तमी बहु० । ण न-अव्यय । अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । रागादी रागादय:-प्रथमा बहुवचन ।। ३६६-३७१ ।।

गया था। अब उस अभिन्न कर्तृकर्मत्वके परिचयसे आत्माको क्या शिक्षा व कर्तव्य करना चाहिये उसका कथन इस गाथाषट्कमें बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—१-आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मामें ही है। २-अचेतन विषय, कर्म, कायके गुण व परिणमन उन्हीं अचेतनोंमें हैं। ३-अचेतन विषय, कर्म व कायके घात होने पर दर्शन, ज्ञान, चारित्रका घात नहीं होता। ४-दर्शन, ज्ञान, चारित्रका घात होनेपर विषय, कर्म व कायका घात नहीं होता। ५-आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि कोई भी गुण पुद्गल द्रव्यमें नहीं हैं। ६- आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्रका विभावपरिणमन भी रागादिक किसी परद्रव्यसे नहीं आते। ७- रागादिक विभावपरिणमन परद्रव्यमें नहीं होते। ८- रागादिक विभावपरिणमन आत्मस्वभावसे नहीं होते। ९-रागादिक विभाव परद्रव्यमें होते नहीं, आत्मस्वभावमें होते नहीं, किन्तु जीवके अज्ञानमय परिणाममें ही रागादिक होते हैं। १०- सम्यग्दृष्टिके अज्ञानमय भाव नहीं हैं सो उसके अज्ञानमय रागादिकभाव नहीं होते। ११-विभावके उत्पाद व विनाशके तथ्यके अजानकार विषयादिके निमित्त अपने गुणका घात करते हैं। १२- अविकार सहजज्ञानानन्दका स्वाद आनेपर विषयकर्मकायसंकट स्वयं दूर हो जाते हैं इस तथ्यके अजानकार स्वसंवेदनरहित कायक्लेशसे ही आत्माका दमन करते हैं। १३-हे आत्मन्, विषयादिके संग्रहविग्रहरूप घात क्यों व्यर्थ करता है। १४- हे आत्मन्, विषयादिमें तू क्यों

करणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन नोत्पद्यते किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते । एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते किं स्वस्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यंते

गतो । पदविवरण—अण्णदवियेण अन्यद्रव्येण-तृतीया एक० । अण्णदवियस्स अन्यद्रव्यस्य-षष्ठी एक० ।

[न क्रियते] नहीं किया जा सकता [तस्मात्तु] इस कारण यह सिद्धांत हुआ कि [सर्वद्रव्याणि] सभी द्रव्य [स्वभावेन] अपने अपने स्वभावसे [उत्पद्यन्ते] उपन्न होते हैं ।

तात्पर्य—निश्चयतः किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्यद्रव्यका कुछ भी रंचमात्र भी उत्पाद व्यय नहीं किया जा सकता ।

टीकार्थ—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि परद्रव्य जीवको रागादिक उत्पन्न कराता है, क्योंकि अन्यद्रव्यके द्वारा अन्यद्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करानेकी असमर्थता होनेके कारण सब द्रव्योंमें स्वभावसे ही उत्पाद होता है । यही दृष्टांतपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि मृत्तिका घटभावसे उत्पन्न होती हुई क्या कुंभकारके स्वभावसे उत्पन्न होती है या मृत्तिकाके स्वभावसे ? यदि कुम्भकारके स्वभावसे उत्पन्न होती है तो घट बनानेके अहंकारसे भरे हुए पुरुष द्वारा अधिष्ठित और व्यापृत हाथ वाले पुरुषके आकाररूप घड़ा होना चाहिये अर्थात् कुम्हारके शरीरके आकार घड़ा बनना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता । क्योंकि अन्यद्रव्यके स्वभावसे अन्यद्रव्यके परिणामका उत्पन्न होना नहीं देखा जाता । और ऐसा होनेपर मृत्तिका कुम्भकार स्वभावसे तो उत्पन्न नहीं होती, किन्तु मृत्तिकास्वभावसे ही उत्पन्न होती है, क्योंकि अपने स्वभावसे ही द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखा जाता है । ऐसा होनेपर मृत्तिकाके अपने स्वभावका उल्लंघन न होनेसे कुम्भकार घड़ेको उत्पन्न करने वाला नहीं है, किन्तु मिट्टी ही कुम्भकारके स्वभावको नहीं स्पर्शती हुई अपने ही स्वभावसे कुम्भभावसे उत्पन्न होती है । इसी प्रकार सब द्रव्य अपने परिणामरूप पर्यायसे उत्पन्न होते हुए क्या वे निमित्तभूत अन्यद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं या अपने ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं ? यदि निमित्तभूत अन्यद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न होते है तो निमित्तभूत परद्रव्यके आकार उसका परिणाम होना

रदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र । स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥ रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते । उत्तरंति न

प्रथमा वहुवचन । उप्पज्जंते उत्पद्यन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुप वहुवचन क्रिया । सहावेण स्वभावेन–

करो । परद्रव्यको रागद्वेषका उत्पन्न करने वाला मानकर उसपर कोप मत करो ।

अब इसी अर्थके दृढ़ करनेको काव्य कहते हैं—**रागजन्मनि** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही कारणपना मानते हैं, वे शुद्धनयके विषयभूत आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित अंधबुद्धि वाले पुरुष मोह-नदीको पार नहीं कर सकते । **भावार्थ**—शुद्धनयका विषय अनंतशक्तिको लिये चैतन्यचमत्कारमात्र नित्य एक अन्तस्तत्त्व है । उसमें यह योग्यता है कि जैसा निमित्त मिले वैसे आप परिणमता है । ऐसा नहीं कि जो जैसा परिणमावे वैसा परिणमन करे, अपना कुछ करतब नहीं हो । आत्माके स्वरूपका जिनको ज्ञान नहीं है वे ऐसा मानते हैं कि परद्रव्य आत्माको जैसा परिणमावे वैसा परिणमता है । ऐसा मानने वाले मोह रागद्वेषादि परिणामसे अलग नहीं हो पाते, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते । क्योंकि यदि अपना करतब रागादिक होनेमें हो तो उनके मेटनेमें भी हो जायगा और परके ही करनेसे रागादिक हो तो वह परपदार्थ रागादिक किया ही करेगा, तब मेटना कैसे हो सकता ? इस कारण रागादिक अपना किया होता है, अपना मेटा मिटता है, इस तरह कथंचित् मानना सम्यग्ज्ञान है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथाषट्कमें बताया गया था कि अचेतन विषय, कर्म, काय में दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं है, फिर उनका या उनमें या उनके निमित्त क्या घात करता है । अब उसी परद्रव्यविषयक अत्यंताभावको सिद्ध कर सर्वद्रव्योंकी अपने अपनेमें उत्पद्यमानता इस गाथामें दर्शायी गई है ।

तथ्यप्रकाश—१– निश्चयतः कोई भी परद्रव्य जीवके रागादिको उत्पन्न नहीं कर सकता । २–अन्यद्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका गुणोत्पाद किया ही नहीं जा सकता । ३–सर्वद्रव्यों का उत्पाद (पर्याय) अपने स्वभावसे होता है । ४–विकारपरिणामनमें अन्य द्रव्य मात्र निमित्त कारण हो सकते है । ५– वास्तवमें अपने परिणामपर्यायसे उत्पद्यमान सभी द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अपने-अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं । ६– यदि कोई द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न हो तो उसे निमित्तभूत परद्रव्यके आकार (स्वरूप) परिणमना चाहिये, किन्तु ऐसा है ही नहीं । ७– कोई भी परद्रव्य जीवके रागादिका उत्पादक नहीं है । ८– अपनी भूलसे यह जीव अज्ञानमय रागादिरूप परिणाम

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पस्स (पिच्छ) मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥

नामसंज्ञ—णिंदियसंथुयवयण, पोग्गल, बहुय, त, य, अम्ह, पुणो, भणिद, पोग्गलदव्व, सद्दत्तपरिणय, त, जइ, गुण, अण्ण, त, ण, तुम्ह, भणिअ, किंचि, वि, किं, अबुद्ध, असुह, सुह, वा, सद्द, ण, तुम्ह, अम्ह,

---

गृहीतुं] ग्रहण करनेके लिये [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेशोंको छोड़ [**न एति**] नहीं जाता । [**अशुभः वा शुभः**] अशुभ अथवा शुभ [**गंधः**] गंध [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां जिघ्र**] तू मुझको सूँघ [**च**] और [**घ्राणविषयं आगतं गंधं**] घ्राण-इन्द्रियके विषयभूत गंधको [**विनिर्गृहीतुं**] ग्रहण करनेके लिये [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ [**न एति**] नहीं जाता है । [**अशुभः वा शुभः रसः**] अशुभ व शुभ रस [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां रसय**] मुझको तू आस्वाद कर [**च**] और

शुभ अशुभ द्रव्य तुझको, नहिं प्रेरें तुम मुझको जानो ही।
बुद्धिविषयगत इसको, लेने आत्मा नहीं आता ॥३८१॥
मूढ यों जानकर भी, उपशमभावको प्राप्त नहिं होता।
क्योंकि परग्रहणरुचिक, स्वयं शिवा बुद्धि नहिं पाता ॥३८२॥

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि। तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः। तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥
अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स एव। नचैति विनिर्गृहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव। न चैति विनिर्गृहीतु घ्राणविषयमागतं गंधं ॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव। न चैति विनिर्गृहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव। न चैति विनिर्गृहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव। न चैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव। न चैति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः। निर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति। न च प्रदीपोप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य

मूढ, णिग्गहमण, पर, सयं, बुद्धि, सिव, अपत्त। **धातुसंज्ञ**—परि नम नम्रीभावे, उपसर्गादर्थपरिवर्तनम्, सुण श्रवणे, रुस रोषे, तुस संतोषे, इ गतौ, भण कथने, वि णि ग्गह ग्रहणे, पास दर्शने, प इक्ख दर्शने, ग्घा

[**न एति**] नहीं जाता। [**अशुभः वा शुभः**] अशुभ व शुभ [**गुणः**] गुण [**त्वां इति न भणति**] तुझको यह नहीं कहता कि [**मां बुध्यस्व**] तू मुझको जान [**च**] और [**बुद्धिविषयं आगतं तु गुणं**] बुद्धिके विषयमें आये हुए गुणको [**विनिर्गृहीतुं**] ग्रहण करनेके लिये [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेशको छोड़ [**न एति**] नहीं जाता। [**एतत्तु ज्ञात्वा**] अहो, ऐसा जानकर भी [**मूढः**] मूढ जीव [**उपशमं नैव गच्छति**] उपशमभावको नहीं प्राप्त होता [**च**] और [**स्वयं शिवां बुद्धिं अप्राप्तः**] स्वयं कल्याणरूप बुद्धिको नहीं प्राप्त होता हुआ [**परस्य विनिर्ग्रहमनाः**] परके ग्रहण करनेका मन करने वाला होता है।

तात्पर्य—न तो परद्रव्य आत्माको भोगनेके लिये प्रेरित करता है और न आत्मा भोगनेके लिये परद्रव्यके पास जाता है तब फिर मूढ बनकर क्यों दुःख किया जावे।

टीकार्थ—जैसे यहाँ घटपटादि बाह्य पदार्थ जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्तका हाथ पकड़कर उससे अपना कार्य करा लेता है, उस प्रकार दीपकसे यह नहीं कहते कि तू हमें प्रकाशित कर। और न दीपक भी चुम्बकसे आकृष्ट सुईकी तरह अपना स्थान छोड़कर उन पदार्थोंको प्रकाशित करने पहुंचता। किन्तु वस्तुस्वभाव दूसरेके द्वारा उत्पन्न होनेके लिये अशक्य होनेसे

तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते । स्वरूपेण जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंतः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन् । एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि

रसनविषय, स्पर्श, कायविषय, गुण, बुद्धिविषय, द्रव्य, बुद्धिविषय, एतत्, तु, ज्ञात्वा, उपशम, न एव, मूढ, विनिर्ग्रहमनस्, पर, च, सयं, च, बुद्धि, शिवा, अप्राप्त । **मूलधातु**—परि णम प्रह्वत्वे, रुष क्लेशे दिवादि, तुप प्रीतौ दिवादि, भण शब्दार्थः, श्रु श्रवणे, इण् गतौ अदादि, वि निर् ग्रह उपादाने, दृशिर् प्रेक्षणे, घ्रा गन्धोपादाने, रस आस्वादनस्नेहयोः चुरादि, स्पृश संस्पर्शने तुदादि, ज्ञा अवबोधने, बुध अवगमने दिवादि, गम्लृ गतौ । **पदविवरण**—णिंदियसंथुयवयणाणि निन्दितसंस्तुतवचनानि–प्रथमा बहु० । पोग्गला पुद्गलाः–प्रथमा बहु० । परिणमंति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० क्रिया । बहुयाणि बहुकानि–प्रथमा बहु० । ताणि

तो आत्मा जैसे उनके समीप न होनेपर जानता है वैसे ही समीप होनेपर भी जानता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है । तो भी आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न होता है सो यह अज्ञान ही है ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**पूर्ण** इत्यादि । **अर्थ**—पूर्ण, एक, अच्युत शुद्ध ज्ञानकी महिमा वाला ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछ भी विकारको प्राप्त नहीं होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे विकारको नहीं प्राप्त होता । तब फिर जिनकी बुद्धि वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे रहित है, ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं और रागद्वेषमय क्यों होते हैं ? **भावार्थ**—ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जाननेका ही है । जैसे कि दीपकका स्वभाव घटपट आदिको प्रकाश करनेका है । यह वस्तुस्वभाव है । ज्ञेयको जाननेमात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होता । तब फिर जो ज्ञेयको जानकर भला बुरा मान रागी, द्वेषी, विकारी होना है सो यह अज्ञान है । इसपर आचार्यदेवने सोच किया है कि वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है, फिर यह आत्मा अज्ञानी होकर रागद्वेषरूप क्यों परिणमता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता अवस्थारूप क्यों नहीं रहता ? सो यह आचार्यका सोच करना युक्त है । क्योंकि जब तक शुभ राग है तब तक प्राणियोंको अज्ञानसे दुःखी देख करुणा उत्पन्न होती है तब सोच भी होता है ।

अब अगले कथनके विषयका संकेत काव्यमें करते हैं—**रागद्वेष** इत्यादि । **अर्थ**—राग द्वेष रूप विभावसे रहित तेज वाले, नित्य ही अपने चैतन्यचमत्कारमात्र स्वभावको स्पर्श करने वाले, पूर्व किये गए समस्त कर्म और आगामी होने वाले समस्त कर्मोंसे रहित तथा वर्तमान कालमें आये हुये कर्मके उदयसे भिन्न ज्ञानीजन अतिशय अंगीकार किये गये चारित्र वैभवके बलसे ज्ञानकी सम्यक् प्रकार चेतनाको अनुभव करते हैं जो ज्ञानचेतना चमकती (जागती) चैतन्यरूप ज्योतिमयी है तथा अपने ज्ञानरूप रससे जिसने तीन लोकको सींचा है ।

भवंति सहजा मुंचन्त्युदासीनतां ॥२२२॥ रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्। दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥२२३॥ ॥ ३७३-३८२ ॥

रूवं रूपं–प्रथमा एक०। गंधो गंधः–प्रथमा एक०। घाणविसयं घ्राणविषयं आगयं आगतं गंधं–द्वितीया ए०। रसो रसः–प्रथमा एक०। रसय–आज्ञार्थे लोट् मध्यम० एक० क्रिया। रसणविसयं रसणविषयं–द्वि० ए०। आगयं आगतं रसं–द्वि० ए०। फासो स्पर्शः–प्रथमा एक०। फुससु स्पृश–आज्ञार्थे लोट् मध्यम० ए०। कायविसयं आगयं फासं कायविषयं आगतं स्पर्शं–द्वितीया एकवचन। गुणो गुणः–प्रथमा एक०। बुद्धिविसयं बुद्धिविषयं आगयं आगतं गुणं–द्वि० एक०। दव्वं द्रव्यं–प्र० एक०। बुद्धिविसयं आगयं दव्वं बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं–द्वि० ए०। एयं एवं तु–अव्यय। जाणिऊण ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया। उवसमं उपशमं–द्वि० ए०। णेव नैव–अव्यय। गच्छई गच्छति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया। मूढो मूढः–प्रथमा एक०। णिग्गहमणा निर्ग्रहमनाः–प्र० एक०। परस्स परस्य–षष्ठी एक०। सयं स्वयं–अव्यय। बुद्धि सिवं शिवां–द्वि० ए०। अपत्तो अप्राप्तः–प्रथमा एकवचन ॥ ३७३-३८२ ॥

---

(६) अज्ञानी जीवके रोष-तोषका कारण आत्मस्वरूपका अपरिचय है। (७) सहजशुद्धात्मतत्त्वज्ञानी आत्मा मनोज्ञ अमनोज्ञ इन्द्रियविषयोंमें रागद्वेष नहीं करता, किन्तु स्वस्थ भावसे शुद्धात्मस्वरूपका अनुभव कर सहज आनन्द पाता है। (८) परद्रव्य गुण पर्यायें भी आत्मापर जाननेकी जबरदस्ती नहीं करते। (९) आत्मा अपने प्रदेशोंसे बाहर कहीं परद्रव्य गुण पर्यायोंको जानने नहीं जाता। (१०) अज्ञानी व्यर्थ ही परद्रव्य गुण पर्यायोंको इष्ट अनिष्ट मानकर रोष-तोष आदि विकार करता है। (११) ज्ञानी जीव सहजात्मस्वरूपके श्रद्धानके कारण बाह्य अर्थोंमें हर्ष-विषाद नहीं करता। (१२) अज्ञानी जीव सहजानन्दधाम ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी अजानकारीके कारण विषयभूत परपदार्थोंसे उपयोगको हटा नही पाता और उपशम (शान्ति) भावको प्राप्त नहीं हो पाता। (१३) आत्मा तो जानता ही रहता है, अपने स्वरूपसे ही जानता रहता है। (१४) अपने स्वरूपसे जानते रहने वालेमें बाह्य विषयभूत पदार्थ विक्रिया नहीं कर सकते। (१५) जाननस्वरूपमें विकार नहीं होता। (१६) अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ जीव अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामसे परिणमता हुआ रागद्वेषरूप विकल्प किया करता है।

सिद्धान्त—(१) परद्रव्यका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मामें होना त्रिकाल असम्भव है। (२) अज्ञानी जीव जाननमात्ररूप उदासीन भावको छोड़कर रागद्वेष करता है वह इस ही का अज्ञानभाव है।

दृष्टि—(१) परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९)। २– अशुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनय (४७, १९७)।

कर्म यत्पूर्वकृत शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषं। तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥३८३॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिश्च भावे बध्यते भविष्यत्। तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८४॥
यच्छुभमशुभमुदीर्ण संप्रति चानेकविस्तरविशेषं। तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥३८५॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च। नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥३८६॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति स तत्कारणभूतं पूर्वकर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति। एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तर-

---

णिच्चं, त, हु, चरित्त, चेया। **धातुसंज्ञ**—णि वत्त वर्तने, बन्ध बन्धने, हव सत्तायां, चेत करणाववोधनयोः, कुव्व करणे, पडि क्कम पादविक्षेपे, आ लोच दर्शने। **प्रातिपदिक**—कर्मन्, यत्, पूर्वकृत, शुभाशुभ, अनेकविस्तरविशेप, ततः, आत्मन्, तु, यत्, तत्, प्रतिक्रमण, कर्मन्, यत्, शुभ, अशुभ, यत्, भाव, भविष्यत्, ततः, यत्, तत्, प्रत्याख्यान, चेतयितृ, यत्, शुभ, अशुभ, उदीर्ण, संप्रति, च, अनेकविस्तरविशेष, तत्, दोष, यत्, तत्, खलु, आलोचन, चेतयितृ, नित्यं, प्रत्याख्यान, नित्यं, तत्, खलु, चरित्र, चेतयितृ। **मूलधातु**—नि वृतु वर्तने, बन्ध बन्धने, भू सत्तायां, चिती संज्ञाने, डुकृञ् करणे, प्रति क्रमु पादविक्षेपे, आ लोचृ दर्शने चुरादि। **पदविवरण**—कम्मं कर्म-प्रथमा एक०। जं यत् पुव्वकयं पूर्वकृतं सुहासुहं शुभाशुभं अणेयवित्थरविसेसं अनेकविस्तरविशेषं-प्रथमा एक०। तत्तो ततः-पंचम्यर्थे तद्धित अव्यय। णियत्तए निवर्तते-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। अप्पयं आत्मानं-द्वितीया एक०। तु-अव्यय। जो सो यः सः पडिक्कमणं प्रतिक्र-

---

अशुभ [**कर्म**] कर्म है [**तस्मात्**] उससे [**यः तु**] जो चेतयिता [**आत्मानं निवर्तयति**] अपने आत्माको अलग कर लेता है [**सः**] वह आत्मा [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमणस्वरूप है [**च**] और [**भविष्यत् यत्**] आगामी कालमें जो [**शुभं अशुभं**] शुभ तथा अशुभ [**कर्म**] कर्म [**यस्मिन् भावे**] जिस भावके होनेपर [**बध्यते**] बँधे [**तस्मात्**] उस भावसे [**यः चेतयिता**] जो ज्ञानी [**निवर्तते**] अपनेको हटा लेता है [**सः**] वह आत्मा [**प्रत्याख्यानं भवति**] प्रत्याख्यानस्वरूप है। [**च**] और [**संप्रति**] वर्तमान कालमें [**उदीर्णं**] उदयागत [**यत्**] जो [**शुभं अशुभं**] शुभ अशुभ कर्म [**अनेकविस्तरविशेषं**] अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्तारविशेषरूप है [**तं दोषं**] उस दोषको [**यः चेतयिता**] जो ज्ञानी [**चेतयते**] मात्र जानता है याने उसका स्वामिपना, कर्तापना छोड़ता है [**सः खलु**] वह आत्मा निश्चयसे [**आलोचनं**] आलोचनास्वरूप है। [**च यः**] इस तरह जो [**चेतयिता**] आत्मा [**नित्यं प्रत्याख्यानं करोति**] नित्य प्रत्याख्यान करता है [**नित्यं प्रतिक्रामति**] नित्य प्रतिक्रमण करता [**नित्यं आलोचयति**] नित्य आलोचना करता है [**सः खलु**] वह चेतयिता निश्चयसे [**चारित्रं भवति**] चारित्रस्वरूप है।

तात्पर्य—जो आत्मा वर्तमान विकारभावसे निराले सहजशुद्ध ज्ञानमात्र अपनेको

चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ।। ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं । अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ।।२२४।। ।। ३८३-३८६ ।।

प्र० एक० । संपडि संप्रति–अव्यय । अणेयवित्थरविसेसं अनेकविस्तरविशेषं–प्रथमा एक० । तं दोसं तं दोषं–द्वि० ए० । जो यः–प्रथमा एक० । चेयइ चेतयते–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया । सो सः आलोयणं आलोचनं चेया चेतयिता–प्र० ए० । णिच्चं नित्यं–अव्यय । पच्चक्खाणं प्रत्याख्यानं–द्वितीया एक० । कुव्वइ करोति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । पडिक्कमदि प्रतिक्रामति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । आलोचेयइ आलोचयति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । चरित्तं चरित्रं–प्र० एक० । हवइ भवति–वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया । चेया चेतयिता–प्रथमा एकवचन ।। ३८३-३८६ ।।

एकाग्र उपयुक्त होकर उसीमें ध्यान रखना ज्ञानचेतना है । इस ज्ञानचेतनासे तो ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है याने केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, और तब ही सम्पूर्ण ज्ञान-चेतना नाम पाता है । और अज्ञानमय कर्म और कर्मफलरूप उपयोगको करना उसी तरफ एकाग्र होकर अनुभव करना वह अज्ञानचेतना है । अज्ञानचेतनासे कर्मका बन्ध होता है और वह ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथादशकमें यह बताया गया था कि आश्रयभूत परद्रव्य रागादिभावका कारण नहीं है ऐसा जानकर उपशमभावको प्राप्त होना चाहिये । अब इस गाथाचतुष्कमें बताया है कि रागादिके निमित्तभूत अतीत भविष्यत् वर्तमान कर्मके फलसे भी अलग रहना चारित्र है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पूर्वबद्ध पुद्गलकर्मविपाकज भावोंसे निराले स्वात्माके आश्रयके बलसे पूर्वकर्मको निष्फल कर देना प्रतिक्रमण है । (२) बँध रहे पुद्गलकर्मके कार्यभूत आगामी कर्मको सहजात्माके आश्रयसे निष्फल कर देना प्रत्याख्यान है । (३) वर्तमान कर्मविपाकको सहजात्मस्वरूपसे अत्यन्त भिन्न निरखते हुए सहजात्माके आश्रयसे निष्फल कर देना आलोचना है । (४) परमार्थ प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान व आलोचनाके बलसे ज्ञानस्वभाव स्वात्मामें निरन्तर उपयोगको रखना चारित्र है । (५) परमार्थ चारित्ररूप होते हुए अन्तरात्माके स्वयं ज्ञानचेतना होती है । (६) स्वयंको ज्ञानमात्र चेतना, निरखना ज्ञानचेतना है । (७) ज्ञानकी संचेतनासे ही अतीव शुद्ध परतत्त्वविभक्त ज्ञान प्रकाशमान होता है । (८) अज्ञानकी संचेतनासे बन्ध होता है और ज्ञानकी शुद्धि तिरोभूत हो जाती है ।

सिद्धान्त—(१) सहजात्मस्वरूपकी भावनामें त्रिकाल कर्मफलका अभाव है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेके लिये परद्रव्य व परभावसे विविक्त सहज ज्ञान-

चेतना । सा तु समस्तापि संसारबीजं, संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात् । ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या । तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः । परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्क-

कम्मफल, अम्ह, कय, ज, दु, कम्मफल, त, त, पुणो, वि, वीय, दुक्ख, अट्ठविह, वेदंत, कम्मफल, सुहिद,

होता है [सः] वह आत्मा [पुनरपि] फिर भी [दुःखस्य बीजं अष्टविधं तत् बध्नाति] दुःखके बीज ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मको बांधता है ।

तात्पर्य—अज्ञानचेतनामें स्थित जीव कर्मको बांधता हुआ संसारमें जन्म मरण कर संकट सहता रहता है ।

टीकार्थ—ज्ञानसे अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूं' वह अज्ञानचेतना है । वह दो प्रकारकी है—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना । उनमेंसे ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'इसको मैं करता हूँ' यह कर्मचेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'इसको मैं भोगता हूं' वह कर्मफलचेतना है । वह समस्त ही अज्ञानचेतना संसारके बीजभूत आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मका बीजपना होनेसे संसारका बीज है । इसलिये मोक्षको चाहने वाले पुरुषको अज्ञानचेतनाका नाश करनेके लिये सब कर्मों के छोड़ देनेकी भावनाको भाकर और समस्त कर्मोंके फलके त्यागकी भावनाको नृत्य कराकर स्वभावभूत भगवती एक ज्ञानचेतनाको निरन्तर नचाना चाहिये याने भाना चाहिये । वहाँ प्रथम ही सकल कर्मोंके संन्यासकी भावनाको सातिशय भाता है उसको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—कृत इत्यादि । अर्थ—अतीत अनागत वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी कर्मोंको कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, कायसे छोड़कर उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाको मैं अवलम्बन करता हूं । भावार्थ—यहाँ त्रिकालविषयक कर्मपरिहार करनेका भाव है प्रतिक्रमण, आलोचना व प्रत्याख्यान । सो त्रिकालविषयक सब कर्मोंके त्याग करनेके कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, कायके ४९ भंग होते हैं ।

यहां अतीतकाल सम्बन्धी कर्मके त्याग करनेरूप प्रतिक्रमणके निम्नांकित ४९ भंग कहते हैं—यदहं इत्यादि । अर्थ—जो मैंने मनसे, वचनसे तथा कायसे कर्म किया, कराया और दूसरेके द्वारा करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । (कर्म करना, कराना और करने वालेका अनुमोदन करना संसारका बीज है, यह जान लेनेपर उस दुष्कृत के प्रति हेयबुद्धि आनेके कारण उससे ममत्व छूट जाना यही उसका मिथ्या करना है) ॥१॥

वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। १२ ।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। १३ ।। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। १४ ।। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।१५।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।१६।। यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।१७।। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।१८।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। १९ ।। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। २० ।। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।। २१ ।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२२।। यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२३।। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२४।। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२५।। यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ।।२६।। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या

हव सत्तायां । प्रातिपदिक—वेदयमान, कर्मफल, आत्मन्, यत्, तु, कर्मफल, तत्, तत्, पुनर्, वीज, दुःख,

---

कायसे किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।१५।। जो मैंने मनसे तथा कायसे कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।१६।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे किया और कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।१७।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।१८।। जो मैंने वचनसे तथा कायसे कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।१९।। जो मैंने मनसे किया और कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२०।। जो मैंने मनसे किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२१।। जो मैंने मनसे कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२२।। जो मैंने वचनसे किया और कराया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२३।। जो मैंने वचनसे किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२४।। जो मैंने वचनसे कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२५।। जो मैंने कायसे किया और कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।२६।। जो मैंने कायसे किया और अन्य करते

समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४३॥ यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४४॥ यदहमचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४५॥ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४६॥ यदहमकार्षं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४७॥ यदहमचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४८॥ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥४९॥ मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य । आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥ इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।१। न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ।२। न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ।३। न करोमि न

वेदयमान, कर्मफल, सुखित, दुःखित, च, यत्, चेतयितृ, तत्, तत्, पुनर्, अपि, बीज, दुःख, अष्टविध ।

दुष्कृत मिथ्या हो ॥४४॥ जो मैंने वचनसे कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४५॥ जो मैंने वचनसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४६॥ जो मैंने कायसे किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४७॥ जो मैंने कायसे कराया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४८॥ जो मैंने कायसे अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४९॥

अब इस भावको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**मोहाद्य** इत्यादि । **अर्थ**—मैंने मोहसे जो कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म याने समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्माके द्वारा निरंतर बर्त रहा हूं । **भावार्थ**—भूतकालमें किये गये कर्मको ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करे ।

इस प्रकार प्रतिक्रमण-कल्प याने प्रतिक्रमण किया जानेका विधान समाप्त हुआ । अब आलोचनाकल्प कहते हैं—

मैं मनसे, वचनसे तथा कायसे न तो करता हूं, न कराता हूं और न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं ॥१॥ मैं मनसे, वचनसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२॥ मैं मनसे तथा कायसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥३॥ मैं वचनसे तथा कायसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥४॥ मैं मनसे न तो करता हूं, न कराता हूं, न

कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ।२२। न करोमि न कारयामि वाचा चेति ।२३। न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ।२४। न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ।२५। न करोमि न कारयामि कायेन चेति ।२६। न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ।२७। न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ।२८। न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।२९। न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।३०। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।३१। न करोमि मनसा च वाचा चेति ।३२। न कारयामि मनसा च वाचा चेति ।३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ।३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति ।३५। न कारयामि मनसा च कायेन चेति ।३६। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ।३७। न करोमि वाचा च कायेन चेति ।३८। न कारयामि वाचा च कायेन चेति ।३९। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ।४०। न करोमि मनसा चेति ।४१। न कारयामि मनसा चेति ।४२। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ।४३। न करोमि वाचा चेति ।४४। न कारयामि वाचा चेति ।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति

प्रथमा एकवचन । कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एकवचन । अप्पाणं आत्मानं–द्वितीया एक० । जो यः–प्रथमा

हूं ॥२१॥ मनसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२२॥ वचनसे न मैं करता हूं, न कराता हूं ॥२३॥ वचनसे न मैं करता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२४॥ वचनसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२५॥ कायसे न मैं करता हूं, न कराता हूं ॥२६॥ कायसे न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२७॥ कायसे न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ॥२८॥ मनसे, वचनसे तथा कायसे न मैं करता हूं ॥२९॥ मनसे, वचनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं ॥३०॥ मैं मनसे, वचनसे तथा कायसे अन्य करते हुयेका अनुमोदन नहीं करता ॥३१॥ मनसे तथा वचनसे न मैं करता हूं ॥३२॥ मनसे तथा वचनसे न मैं कराता हूं ॥३३॥ मनसे तथा वचनसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।३४। मनसे तथा कायसे न मैं करता हूं ।३५। मनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं ।३६। मनसे तथा कायसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।३७। वचनसे तथा कायसे न मैं करता हूं ।३८। वचनसे तथा कायसे न मैं कराता हूं ।३९। वचनसे तथा कायसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।४०। मनसे न मैं करता हूं ।४१। मनसे न मैं कराता हूं ।४२। मनसे न मैं अन्य करते हुयेका अनुमोदन करता हूं ।४३। वचनसे न मैं करता हूं ।४४। वचनसे न मैं कराता

ष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ।७। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।८। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।९। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ।१०। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ।११। न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ।१२। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ।१३। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ।१४। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।१५। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ।१६। न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ।१७। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।१८। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ।१९। न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा चेति ।२०। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।२१। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ।२२। न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति ।२३। न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ।२४। न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं

पुनः–अव्यय । वि अपि–अव्यय । कुणदि करोति बंधइ वध्नाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप एकवचन । वीयं

न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।७। मनसे, वचनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा ।८। मनसे, वचनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा ।९। मनसे, वचनसे, कायसे मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१०। मनसे तथा वचनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा ।११। मनसे व वचनसे मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१२। मनसे तथा वचनसे मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१३। मनसे व कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा ।१४। मनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१५। मनसे, कायसे मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१६। वचनसे तथा कायसे मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा ।१७। मैं वचनसे तथा कायसे न तो करूंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१८। वचनसे तथा कायसे न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।१९। मनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा ।२०। मनसे मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।२१। मैं मनसे न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुयेका अनुमोदन करूंगा ।२२। वचनसे मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा ।२३। वचनसे मैं न तो

भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः। आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥ इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः। समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी। विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥२२९॥

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति। विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव। संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥२३०॥ नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५। नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६। नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मा-

---

वेदंतो वेदयमानः–प्रथमा एकवचन। कम्मफलं कर्मफलं–द्वितीया एकवचन। सुहिदो सुखितः–प्रथमा एक-

---

प्रकार प्रतिक्रमणके समान ही प्रत्याख्यानमें भी ४९ भङ्ग कहे)।

अब इस अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**प्रत्याख्याय** इत्यादि। **अर्थ**—(प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी कहता है कि) भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान (त्याग) करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मैं निष्कर्म अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्माके द्वारा ही निरंतर वर्त रहा हूं। **भावार्थ**—निश्चयचारित्रमें प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मोंसे रहित, चैतन्यकी प्रवृत्तिरूप अपने शुद्धोपयोगमें रहना सो प्रत्याख्यान है। इस प्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

अब समस्त कर्मोंके संन्यास (त्याग) की भावनाको नचानेके सम्बन्धका कथन उपसंहार कलशरूप काव्यमें करते हैं—**समस्त** इत्यादि। **अर्थ**—पूर्वोक्त प्रकारसे तीनों कालके समस्त कर्मोंको दूर करके, शुद्धनयावलम्बी और विलीनमोह मैं अब सर्वविकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका अवलम्बन करता हूं ॥२२९॥

अब समस्त कर्मफलसंन्यासकी भावनाको नचाते हैं—उसमें प्रथम, उस कथनके समुच्चय अर्थको काव्यमें कहते हैं—**विगलंतु** इत्यादि। **अर्थ**—कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जायें; मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्माका निश्चयतया संचेतन (अनुभव) करता हूं। **भावार्थ**—ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदयमें आता है उसके फलका मैं मात्र ज्ञाता द्रष्टा हूं, उसका भोक्ता नहीं इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जाएं,

फलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।१९। नाहमनन्तानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२०। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२१। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२२। नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२३। नाहमनन्तानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२४। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ।२५। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।२६। नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।२७। नाहमनन्तानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।२८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।२९। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।३०। नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ।३१। नाहमनन्तानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३२। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं० ।३३। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे ।३४। नाहं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३५। नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३६। नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे० ।३७।

क्रिया । जो यः–प्रथमा एकवचन । चेदा चेतयिता–प्रथमा एकवचन । सो सः–प्रथमा एकवचन । तं–

।१९। मैं अनन्तानुबन्धी क्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२०। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२१। मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीय कर्मके० ।२२। मैं संज्वलन क्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२३। मैं अनन्तानुबन्धी मानकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२४। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२५। मैं प्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२६। मैं संज्वलन मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके० ।२७। मैं अनन्तानुबंधी मायाकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२८। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।२९। मैं प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३०। मैं संज्वलन मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके० ।३१। मैं अनन्तानुबन्धी लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३२। मैं अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३३। मैं प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३४। मैं संज्वलन लोभकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके० ।३५। मैं हास्यनोकषायवेदनीय

फलं भुंजे० ।६४। नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे० ।६५। नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे० ।६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे० ।६७। नाहमाहारकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे० ।६८। नाहं तैजसशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे० ।६९। नाहं कार्मणशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे० ।७०। नाहमौदारिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे० ।७१। नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे० ।७२। नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे० ।७३। नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे० ।७४। नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे० ।७५। नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे० ।७६। नाहं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे० ।७७। नाहं स्वातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे० ।७८। नाहं कुब्जकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे ।७९। नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे० ।८०। नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे० ।८१। नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८२। नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८३। नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८४। नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८५। नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८६। नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे० ।८७। नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे० ।८८। नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे ।८९। नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे० ।९०। नाह-

---

वचन । अट्ठविहं अष्टविधं–द्वितीया एकवचन ॥ ३८७-३८९ ॥

नामकर्मके० ।६२। मैं औदारिकशरीरांगोपांग नामकर्मके० ।६३। मैं वैक्रियिकशरीरांगोपांग नामकर्मके० ।६४। मैं आहारकशरीरांगोपांग नामकर्मके० ।६५। मैं औदारिकशरीरबंधन नामकर्मके० ।६६। मैं वैक्रियिकशरीरबंधन नामकर्मके० ।६७। मैं आहारकशरीरबन्धन नामकर्मके० ।६८। मैं तैजसशरीरबन्धन नामकर्मके० ।६९। मैं कार्मणशरीरबन्धन नामकर्मके० ।७०। मैं औदारिकशरीरसंघात नामकर्मके० ।७१। मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्मके० ।७२। मैं आहारकशरीरसंघात नामकर्मके० ।७३। मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्भके० ।७४। मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्मके० ।७५। मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्मके० ।७६। मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्मके० ।७७। मैं स्वातिसंस्थान नामकर्मके० ।७८। मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्मके० ।७९। मैं वामनसंस्थान नामकर्मके० ।८०। मैं हुण्डकसंस्थान नामकर्मके० ।८१। मैं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्मके० ।८२। मैं वज्रनाराचसंहनन नामकर्मके० ।८३। मैं नाराचसंहनन नामकर्मके० ।८४। मैं अर्धनाराचसंहनन नामकर्मके० ।८५। मैं कीलिकासंहनन नामकर्मके० ।८६। मैं असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्मके० ।८७। मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्मके० ।८८। मैं रूक्षस्पर्श नामकर्मके० ।८९। मैं शीतस्पर्श नामकर्मके० ।९०। मैं उष्णस्पर्श नामकर्मके० ।९१।

भुंजे० ।१२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे० ।१२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे० ।१२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे० ।१२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे० ।१२७। नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे० ।१२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे० ।१२९। नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे० ।१३०। नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।१३१। नाहं वादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे० ।१३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे० ।१३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे० ।१३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे० ।१३५। नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे० ।१३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे० ।१३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे० ।१३८। नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे० ।१३९। नाहमयशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे० ।१४०। नाहं तीर्थंकरत्वनामकर्मफलं भुंजे० ।१४१। नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे० ।१४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे० ।१४३। नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे० ।१४४। नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे० ।१४५। नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे० ।१४६। नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे० ।१४७। नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे० ।१४८।

निश्शेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैव सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः । चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥२३१॥ यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुंक्ते

ण, ज, सद्द, रूव, वण्ण, गंध, रस, फास, कम्म, धम्म, अधम्म, काल, आयास, पि, यास, ण, अज्झवसाणं,

---

के० ।१२३। मैं त्रस नामकर्मके० ।१२४। मैं सुभग नामकर्मके० ।१२५। मैं दुर्भग नामकर्मके० ।१२६। मैं सुस्वर नामकर्मके० ।१२७। मैं दुःस्वर नामकर्मके० ।१२८। मैं शुभ नामकर्मके० ।१२९। मैं अशुभ नामकर्मके० ।१३०। मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्मके० ।१३१। मैं वादरशरीर नामकर्मके० ।१३२। मैं पर्याप्त नामकर्मके० ।१३३। मैं अपर्याप्त नामकर्मके० ।१३४। मैं स्थिर नामकर्मके० ।१३५। मैं अस्थिर नामकर्मके० ।१३६। मैं आदेय नामकर्मके० ।१३७। मैं अनादेय नामकर्मके० ।१३८। मैं यशःकीर्ति नामकर्मके० ।१३९। मैं अयशःकीर्ति नामकर्मके० ।१४०। मैं तीर्थंकर नामकर्मके० ।१४१।

मैं उच्चगोत्र नामकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं ।१४२। मैं नीचगोत्र नामकर्मके० ।१४३।

मैं दानांतराय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं ।१४४। मैं लाभांतराय कर्मके० ।१४५। मैं भोगांतराय कर्मके० ।१४६। मैं उपभोगांतराय कर्मके० ।१४७। मैं वीर्यांतराय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूं ।१४८। इस प्रकार ज्ञानी सकल कर्मोंके फलके संन्यासकी भावना करता है यहां भावनाका अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोगको ज्ञानाभिमुख रखनेका अभ्यास करना है।

मखिलाज्ञानसंचेतनायाः । पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां सानंदं नाटयंतः

दिट्ठि, दु, संजम, सुत्त, अंगपुव्वगय, धम्माधम्म, च, तहा, पव्वज्ज, वुह । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, जाण

चेतनाकी भावनासे अत्यन्त तृप्ति रहती है, और आगामी कालमें केवलज्ञान उपार्जन कर सब कर्मोंसे रहित मोक्ष अवस्थाकी प्राप्ति होती है ।

अब पुनः इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**अत्यंतं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानीजन निरन्तर कर्मसे तथा कर्मके फलसे अत्यन्त विरतिको भाकर, और समस्त अज्ञानचेतनाके नाशको स्पष्टतया नचाकर निजरससे प्राप्त स्वभावको पूर्ण करके आनन्दके साथ जैसे हो उस तरह ज्ञानचेतनाको कराते हुए अब यहाँसे कर्मके अभावरूप आत्मीक रसरूप अमृतरसको सदाकाल पीवो । **भावार्थ**—पहले तो तीनकाल संबंधी कर्मका कर्तृत्वरूप कर्मचेतनाके ४९ भंगरूप त्यागकी भावना की फिर १४८ कर्मप्रकृतियोंका उदयरूप कर्मफलके त्यागकी भावना की । ऐसे अज्ञानचेतनाका प्रलय कराके ज्ञानचेतनामें प्रवर्तनेका पौरुष किया है । यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभावका अनुभवरूप है । उसको ज्ञानीजन सदा भोगो ।

अब परद्रव्य व परभावोंसे ज्ञानको पृथक् काव्यमें दिखलाते हैं— **इतः पदार्थ** इत्यादि । **अर्थ**—यहाँसे अब सब वस्तुओंसे भिन्नत्वके निश्चयसे पृथक् किया गया ज्ञान पदार्थके विस्तारके साथ गुथित होनेसे याने ज्ञेयज्ञानसम्बन्धवश एकमेक जैसा दिखाई देनेसे उत्पन्न होनेवाली कर्तृत्वभावरूप क्रियासे रहित एक ज्ञान क्रियामात्र अनाकुल देदीप्यमान होता हुआ ठहरता है । **भावार्थ**—इस सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमें अब तक ज्ञानको कर्तृकर्मत्वसे रहित दिखाया है अब यहाँसे ज्ञानको सर्व परतत्त्वोंसे निराला दिखाते हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाचतुष्कमें बताया गया था कि कर्म कर्मफलके प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनास्वरूप आत्मा स्वयं चारित्र है जिससे कि कर्म कर्मफल दूर होता है अब इस गाथात्रिकमें बताया है कि परमार्थ प्रतिक्रमणादिरूप ज्ञानचेतनासे च्युत होकर जो कर्मफलको अपनाता है वह दुःखमूल अष्टविधकर्मको बाँधता है ।

तथ्यप्रकाश—१–सहज ज्ञानस्वभावमें आत्मत्व निरखना ज्ञानचेतना है । २–ज्ञानके सिवाय अन्य सभी भावोंमें इसको मैं करता हूं ऐसा निरखना कर्मचेतना है । ३–ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें इसको मैं भोगता हूँ ऐसा निरखना कर्मफलचेतना है । ४– कर्मचेतना कर्मफलचेतना दोनों ही अज्ञानचेतना हैं । ५– अज्ञानचेतना ही संसारका मूल बीज है । ६–संसारसंकटसे छुटकारा पानेके लिये अज्ञानचेतनाका विध्वंस कर देना चाहिये । ७–अज्ञानचेतनाका विध्वंस करनेके लिये त्रिकाल मनसे वचनसे कायसे करने कराने अनुमोदनेकी समस्त

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवइ जह्माऽधम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥

किंचित्, तत्, अन्यत्, ज्ञान, अन्यत्, शास्त्र, जिन, शब्द, रूप, रूप, वर्ण, वर्ण, गन्ध, गन्ध, रस, रस, स्पर्श,

---

क्योंकि [वर्णः किंचित् न जानाति] वर्ण कुछ जानता नहीं है [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनदेव [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञानको अन्य व [वर्णः अन्यः] वर्णको अन्य [विदंति] कहते हैं ।

रस ज्ञान नहीं होता, क्योंकि रस नहीं जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, तथा पृथक् रस कहा प्रभुने ॥३९५॥
स्पर्श ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं स्पर्श जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, स्पर्श पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९६॥
कर्म ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं कर्म जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, कर्म पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९७॥
धर्म ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं धर्म जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, धर्म पृथक् यों कहा प्रभुने ॥३९८॥
न अधर्म ज्ञान होता, क्योंकि नहिं अधर्म जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, अधर्म पर यों कहा प्रभुने ॥३९९॥
काल ज्ञान नहिं होता, क्योंकि नहीं काल जानता कुछ भी ।
इससे ज्ञान पृथक् है, काल पृथक् यों कहा प्रभुने ॥४००॥
आकाश ज्ञान नहिं है, क्योंकि आकाश जानता नहीं कुछ ।
इससे ज्ञान पृथक् है, आकाश पृथक् कहा प्रभुने ॥४०१॥
अध्यवसान ज्ञान नहिं, अध्यवसान भी तो अचेतन है ।
इससे ज्ञान पृथक् है, तथा है अध्यवसान पृथक् ॥४०२॥
जानता नित्य आत्मा, इससे ज्ञानी है आत्मा ज्ञायक ।
है अभिन्न ज्ञायकसे, ज्ञान सदा तन्मयी जानो ॥४०३॥
ज्ञान हि सम्यग्दृष्टी, व अंगपूर्वगत सूत्र संयम यह ।
धर्म अधर्म व दीक्षा, बुधजन इस ज्ञानको कहते ॥४०४॥

नित्यं, तत्, जीव, तु, ज्ञायक, ज्ञानिन्, ज्ञान, च, ज्ञायक, अव्यतिरिक्त, ज्ञातव्य, ज्ञान, सम्यग्दृष्टि, तु, संयम, सूत्र, अंगपूर्वगत, धर्माधर्म, च, तथा, प्रव्रज्या, बुध । मूलधातु—भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, विद

जानाति] स्पर्श कुछ जानता नहीं । [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनदेव [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञानको अन्य व [स्पर्शं अन्यं] स्पर्शको अन्य [विदंति] कहते हैं । [कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किंचित् न जानाति] कर्म कुछ जानता नहीं [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनदेव [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञानको अन्य व [कर्म अन्यत्] कर्मको अन्य [विदंति] कहते हैं । [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किंचित् न जानाति] धर्म कुछ जानता नहीं [तस्मात्] इस कारण [जिनाः] जिनदेव [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान

रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात्

पंचमी एक०। सत्थं शास्त्रं–प्रथमा एक०। ण न–अव्यय। जाणए जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। किंचि किंचित्–अव्यय। तम्हा तस्मात्–पचमी एक०। अण्णं अन्यत् णाणं ज्ञानं–प्रथमा

[**अध्यवसानं अन्यत्**] अध्यवसानको अन्य कहते हैं। [**यस्मात्**] चूंकि [**नित्यं जानाति**] जीव निरन्तर जानता है [**तस्मात् तु**] इसलिये [**जीवः**] जीव [**ज्ञायकः ज्ञानी**] ज्ञायक है, वही ज्ञानी है [**च**] और [**ज्ञानं**] ज्ञान [**ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं**] ज्ञायकसे अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए। [**तु**] और [**बुधाः**] ज्ञानी [**ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं**] ज्ञानको ही सम्यग्दृष्टि, [**संयमं**] संयम [**अंगपूर्वगतं सूत्रं**] अंगपूर्वगत सूत्र [**च धर्माधर्मं**] और धर्म अधर्म [**तथा**] तथा [**प्रव्रज्यां**] दीक्षा [**अभ्युपयांति**] मानते हैं।

तात्पर्य—ज्ञान समस्त परद्रव्योंसे भिन्न है, समस्त परभावोंसे भिन्न है तथा ज्ञान आत्माकी सर्वविभावपरिणतियोंसे भिन्न है।

टीकार्थ—द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, क्योंकि वचन अचेतन है, इस कारण ज्ञान और श्रुतमें भेद है। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द अचेतन है, इस कारण ज्ञान और शब्दमें भेद है। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप अचेतन है, इस कारण वर्ण और ज्ञानमें भेद है। गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध अचेतन है, इस कारण गन्ध और ज्ञानमें भेद है। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस अचेतन है, इस कारण रस और ज्ञानमें परस्पर भेद है। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श अचेतन है, इस कारण स्पर्श और ज्ञानमें भेद है। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है, इस कारण कर्म और ज्ञानमें भेद है। धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है, इस कारण धर्मद्रव्य और ज्ञानमें भेद है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नही है, क्योंकि अधर्मद्रव्य अचेतन है, इसलिए अधर्मद्रव्यका और ज्ञानका भेद है। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है, इस कारण काल और ज्ञानमें भेद है। आकाशद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है, इस कारण आकाश और ज्ञानमें भेद है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है, इस कारण ज्ञान और अध्यवसानमें भेद है। इस प्रकार यों ज्ञानका समस्त परद्रव्योके साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए याने अनुभवना

अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापाद्य दर्शन-

---

बहु० क्रिया। रूवं णाणं–प्रथमा एक०। अण्णं णाणं अण्णं रूवं अन्यत् ज्ञानं अन्यं रूपं–द्वितीया एकवचन। वण्णो वर्णः–प्रथमा एक०। वण्णं वर्ण–द्वितीया एकवचन। गंधः–प्रथमा एक०। गन्धं–द्वितीया एक०।

जानना। एक तो देखना शुद्धनयके ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना है। यह तो अविरत आदि प्रमत्त अवस्थामें भी मिथ्यात्वके अभावसे होता है। दूसरा देखना यह है कि ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रहका त्यागकर इसका अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही ठहराना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जानकर श्रद्धान किया वैसा ही ध्यानमें लेकर एकाग्र चित्तको ठहराना, बार-बार इसीका अभ्यास करना, सो यह देखना अप्रमत्त दशामें होता है। इसलिए जहाँ तक ऐसे अभ्याससे केवलज्ञान प्राप्त हो वहाँ तक यह अभ्यास निरन्तर करना। यह देखना दूसरा प्रकार है। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना रहा। और तीसरा देखना केवलज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात् होता है। उस समय सब विभावों से रहित हुआ सबको देखने जानने वाला ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है। इस प्रकार सर्वत्र सिद्ध है कि ज्ञान ही आत्मा है। अभेदविवक्षामें ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं।

अब इस अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**अन्येभ्यो** इत्यादि। **अर्थ**—परद्रव्योंसे भिन्न अपनेमें ही निश्चित, पृथक् वस्तुत्व धारण करता हुआ, ग्रहण त्यागसे रहित यह रागादिक मलसे रहित ज्ञान उस प्रकार अवस्थित अनुभवमें आता कि जिस प्रकार मध्य आदि अंत विभागसे रहित, स्वाभाविक विस्ताररूप प्रकाशसे देदीप्यमान शुद्ध ज्ञानघनरूप नित्य उदित रहे। **भावार्थ**—ज्ञानका पूर्णरूप सबको जानना है। सो जब यह ज्ञान प्रकट होता है तब अपने सर्व ऐश्वर्यके साथ प्रकट होता है। इसकी महिमा कोई नहीं बिगाड़ सकता। निरुपाधि ज्ञान सदा निर्बाध उदित रहता है।

अब काव्यमें कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका धारण करना यही कृतकृत्यपना है—**उन्मुक्त** इत्यादि। **अर्थ**—जिसने सब शक्तियाँ समेट ली हैं, ऐसे पूर्ण आत्माका जो आत्मामें ही धारण करना है वही तो छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है और ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण कर लिया है। **भावार्थ**—पूर्ण ज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिपुञ्ज आत्माको धारण करनेपर त्यागने योग्य सभी त्यागा गया और ग्रहण करने योग्य सभी ग्रहण कर लिया गया, यही कृतकृत्यपना है।

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥
णवि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं ।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥४०६॥
तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

जिसके अमूर्त आत्मा, वह आहारक कभी नहीं होता ।
क्योंकि आहार मूर्तिक, होता पौद्गलिक होनेसे ॥४०५॥
जो अन्य द्रव्य उसका, ग्रहण विमोचन किया न जा सकता ।
ऐसा ही द्रव्योंका, प्रायोगिक वैस्रसिक गुण है ॥४०६॥
तब जो विशुद्ध आत्मा, वह जीव अजीव द्रव्य परमें से ।
कुछ भी ग्रहण न करता, तथा नहीं छोड़ता कुछ भी ॥४०७॥

नामसंज्ञ—अत्त, ज, अमुत्त, ण, हु, त, आहारअ, एवं, आहार, खलु, मुत्त, ज, त, पुग्गलमअ, उ, ण, वि, ज, ण, ज, य, ज परद्दव्व, त, क, वि, य, त, गुण, पाउगिअ, विस्सस, वा, वि' त, उ, ज, विसुद्ध,

---

स्वरूप है, अत: सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम आदि सर्व आत्मपरिणमनोंसे ज्ञानका अभेद है । (७) पुण्यपापभावरूप परसमयको त्यागकर दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूप स्वसमयको पाकर समयसारभूत एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका अनुभव करना चाहिये । (८) ज्ञानमात्रका संचेतन होनेपर पाने योग्य सब पा लिया व छोड़ने योग्य सब छूट गया ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा अभेद ज्ञानस्वभावमात्र है । (२) आत्मा समस्त परद्रव्यों व परभावोंसे रहित है ।

दृष्टि—१- शुद्धनय (४६, १६८) । २- परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२६) ।

प्रयोग—ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें अवस्थित होनेके लिये अपनेको सर्व परद्रव्योंसे तथा परभावोंसे निराला निरखना ॥ ३९०-४०४ ॥

अब आत्माकी अनाहारकता गाथामें कहते हैं:—[**एवं**] इस प्रकार [**यस्य आत्मा अमूर्तः**] जिसके आत्मा अमूर्तिक है [**स खलु**] वह निश्चयसे [**आहारकः न भवति**] आहारक नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**आहारः खलु मूर्तः**] आहार मूर्तिक है [**स तु पुद्गलमयः**] वह तो पुद्गलमय है । [**यत् यत् परद्रव्यं**] क्योंकि जो पर द्रव्यको [**गृहीतुं च विमोक्तुं नापि**

मूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहार: ततो ज्ञानं नाहारकं भवत्यतो ज्ञानस्य देहो न शंकनीयः ।। एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते । ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ।।२३८।। ।। ४०८--४०६ ।।

ण हु न खलु–अव्यय । सो सः–प्रथमा एकवचन । आहारओ आहारकः–प्र० एक० । हवइ भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । एवं उ ण एव तु न–अव्यय । आहारो आहारः–प्रथमा एक० । मुत्तो मूर्तः–प्र० एक० । पुग्गलमओ पुद्गलमयः–प्रथमा एक० । सक्कइ शक्यते–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । घित्तुं गृहीतुं विमोत्तुं विमोक्तुं–हेत्वर्थे कृदन्त अव्यय । परद्दव्वं परद्रव्यं–द्वितीया एकवचन । सो को सः कः–प्र० एक० । तस्स तस्य–षष्ठी एक० । गुणो गुणः पाउगिओ प्रायोगिकः विस्सओ वैस्रसः–प्रथमा एकवचन । विसुद्धो विशुद्धः चेया चेतयिता सो सः–प्रथमा एकवचन । गिण्हए गह्लाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । किंचि किंचित्–अव्यय । विमुंचइ विमुंचति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवाजीवाण दव्वाणं–षष्ठी बहु० । जीवाजीवयोः द्रव्ययोः–षष्ठी द्विवचन ।। ४०५-४०७ ।।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व पंचदशकमें ज्ञानको समस्त परद्रव्य व परभावोंसे विविक्त तथा आत्मपरिणामोंसे अव्यतिरिक्त बताया गया था । अब इस गाथात्रिकमें बताया है कि आत्मा अमूर्त है वह पुद्गलद्रव्यका आहारक नहीं हो सकता अतः वह अन्य जीव व सर्व अजीव द्रव्योंके ग्रहण त्यागसे भी रहित है ।

तथ्यप्रकाश—१– ज्ञान न तो स्वयं किसी परद्रव्यको ग्रहण करता है न छोड़ता है । २– ज्ञान किसी प्रायोगिक गुणके सामर्थ्यसे भी किसी परद्रव्यको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है । ३--ज्ञानके द्वारा परद्रव्य न तो ग्रहण किया जा सकता और न छोड़ा जा सकता । ४– परद्रव्य मूर्त पुद्गलद्रव्य अमूर्त ज्ञानका अर्थात् आत्माका आहार हो ही नहीं सकता । ५– जब ज्ञान पुद्गलका आहारक ही नहीं है तो ज्ञानका देह भी नहीं है । ६–जब ज्ञानका देह ही नहीं है तो देहमय वेश ज्ञाताके मोक्षका कारण कैसे होगा ? ७– निश्चयसे ज्ञाताके मोक्षका कारण ज्ञाताका सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्ध परिणाम है ।

सिद्धान्त—१–आत्मद्रव्यमें किसी भी परद्रव्यका ग्रहण नहीं है ।

दृष्टि—१– शून्यनय (१७३) ।

प्रयोग—कैवल्यदशा प्राप्त करनेके लिये सर्वपरद्रव्योंसे भिन्न सर्वपरद्रव्योंके आहारणसे रहित देहरहित केवल ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको निरखना ।।४०५–४०७।।

अब लिङ्गकी मोक्षमार्गताका प्रतिषेध करते हैं:— **[बहुप्रकाराणि]** बहुत प्रकारके **[पाखंडिलिंगानि]** पाखंडिलिंग **[वा]** अथवा **[गृहिलिंगानि]** गृहिलिंगोंको **[गृहीत्वा]** धारण करके **[मूढा इति वदंति]** अज्ञानी जन ऐसा कहते हैं कि **[इदं लिंगं]** यह लिंग ही **[मोक्ष-**

त्यागात् । तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥ ४०८-४०९ ॥

द्वि० बहु० । बहुप्पयाराणि बहुप्रकारानि–द्वि० बहु० । घित्तुं गृहीतुं–हेत्वर्थे कृदन्त अव्यय । वदंति–वर्तमान० अन्य० बहु० क्रिया । मूढा मूढाः–प्रथमा बहु० । लिङ्गं इणं लिङ्गं इदं–द्वितीया एक० । मोक्खमग्गो मोक्ष-मार्गः–प्रथमा एकवचन । होदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । जं यत्–प्रथमा एक० । देह-णिम्ममा देहनिर्ममाः–प्रथमा बहु० । अरिहा अर्हतः–प्र० बहु० । लिङ्गं–द्वि० ए० । मुइत्तु मुक्त्वा–अस-माप्तिकी क्रिया । दंसणणाणचरित्ताणि दर्शनज्ञानचारित्राणि–द्वि० बहु० । सेयंति सेवन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया ॥ ४०८-४०९ ॥

कारण यह निश्चय हुआ कि देहमयलिंग मोक्षमार्ग नहीं है । परमार्थसे दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथात्रिकमें बताया गया था कि अमूर्त आत्मद्रव्य आहा-रक भी नहीं है उसके देह कैसा ? तथा जब देह ही नहीं है ज्ञाताके, तब उसके मोक्षका कारण देहमय वेश कैसे हो सकता है । अब इस गाथाद्वयमें बताया है कि मूढ जन ही बहुत प्रकारके गृहिलिंग व साधुवेशको मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु वेश मोक्षमार्ग नहीं, क्योंकि देहसे ममत्व त्याग त्यागकर ही दर्शनज्ञानचारित्रकी अभेदोपासनासे ही भव्यात्मा मोक्ष पाते हैं ।

तथ्यप्रकाश—१– अज्ञानवश द्रव्यलिंगसे ही मोक्ष माननेवाले लोग द्रव्यलिंगको ही ग्रहण करते हैं । २–जो परमात्मा हुए हैं उन्होंने द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरसे ममत्व छोड़ा था । ३– जो परमात्मा हुए हैं उन्होंने शुद्ध ज्ञानमयस्वरूपकी अभेदोपासना की थी । ४–देहा-श्रित लिङ्गके त्याग (ममकारत्याग) पूर्वक दर्शनज्ञानचारित्रकी उपासना करना मोक्षमार्ग है ।

सिद्धान्त—१– कार्य उपादानकारणके अनुरूप होता है । २– देहके वेषसे आत्माकी कैवल्यदशाकी सिद्धि नहीं होती । ३– द्रव्यलिङ्गको मोक्षमार्ग कहना उपचार कथन है ।

दृष्टि—१– निश्चयनय (१६६) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) । ३– एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२) ।

प्रयोग—शाश्वत शान्तिधाम प्राप्त करनेके लिये देहविषयक ममता त्यागकर ज्ञान-स्वरूप स्वमें उपयोग लगाना ॥ ४०८–४०९ ॥

आगे यह सिद्ध करते हैं कि दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्षमार्ग हैः—[**पाखण्डि-गृहिमयानि लिंगानि**] पाखंडी लिङ्ग याने मुनिलिंग और गृहस्थलिंग [**एषः**] यह [**मोक्षमार्गः**] मोक्षमार्ग [**नापि**] नहीं है [**जिनाः**] जिनदेव [**दर्शनज्ञानचारित्राणि**] दर्शन ज्ञान और चारित्रको [**मोक्षमार्गं**] मोक्षमार्ग [**विदंति**] कहते हैं ।

यत एवं—

तह्मा दु हित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

इससे सागार तथा, अनगारोंके गृहीत लिङ्गोंको ।
तजि दृशिज्ञानचरितमय, शिवपथमें युक्त कर निजको ॥४११॥

तस्मात् तु हित्वा लिङ्गानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि । दर्शनज्ञानचरित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥४११॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव

नामसंज्ञ—त, दु, लिङ्ग, सागारणगार, वा, दंसणणाणचरित्त, अप्प, मोक्खपह । **धातुसंज्ञ**—हा ह्रासे, ग्गह ग्रहणे, जुंज योगे । **प्रातिपदिक**—तत्, तु, लिंग, सागार, अनगार, वा, गृहीत, दर्शनज्ञानचारित्र, आत्मन्, मोक्षपथ । **मूलधातु**—ओहाक् त्यागे, ग्रह उपादाने, युजिर् योगे रुधादि । **पदविवरण**—तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । दु तु–अव्यय । हित्तु हित्वा–असमाप्तिकी क्रिया व अव्यय । लिंगे लिङ्गानि–द्वि०

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कैवल्यलाभके लिये केवल आत्माश्रित सहज चैतन्यस्वरूपकी उपासना कर रत्नत्रयपरिणमनरूप पौरुष करना ॥ ४१० ॥

अब कहते हैं कि यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है तो मोक्षार्थ क्या करना चाहिए—[**तस्मात् तु**] इस कारण ही [**सागारैः**] गृहस्थोके द्वारा [**वा**] अथवा [**अनगारैः**] मुनियोंके द्वारा [**गृहीतानि लिंगानि**] ग्रहण किये गये लिंगोंको [**हित्वा**] छोड़कर [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**दर्शनज्ञानचारित्रे**] दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप [**मोक्षपथे**] मोक्षमार्गमें [**युंक्ष्व**] युक्त करो ।

तात्पर्य—लिङ्ग छोड़नेका भाव है लिङ्गसे ममता छोड़ना, सो गृहस्थ व मुनि अपने पदके लिङ्गमें रहकर उससे ममता छोड़कर आत्माके दर्शनज्ञान चारित्रमें उपयुक्त होओ ।

टीकार्थ—चूंकि द्रव्यलिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, इस कारण सभी द्रव्यलिंगोंको छोड़ कर दर्शनज्ञानचारित्रमें ही आत्माको युक्त करना चाहिये । यही मोक्षका मार्ग है ऐसा सूत्रका उपदेश है । **भावार्थ**—यहाँ द्रव्यलिंगको छुड़ाकर दर्शन ज्ञान और चारित्रमें लगानेका उपदेश है । यह सामान्य परमार्थ वचन है, कहीं यह मुनि व श्रावकके व्रत छुड़ानेका उपदेश नहीं है । जो केवल द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग जानकर भेष धारण करते हैं उनको द्रव्यलिंगका पक्ष छुड़ाया है कि भेषमात्रसे मोक्ष नहीं है, परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्माके दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप परिणाम ही हैं । चरणानुयोगमें कहे अनुसार जो मुनि व श्रावकके बाह्यव्रत हैं वे

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

शिवपथमें आत्माको, थापो ध्याओ व अनुभवो उसको।
उस ही में नित्य विचर, मत विचरो अन्य द्रव्योंमें ॥४१२॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व। तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षरन्यद्रव्येषु ॥४१२॥

आ संसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापय अतिनिश्चलमात्मानं। तथा समस्तचिन्तान्तरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्याय। तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व। तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर। तथा

नामसंज्ञ—मोक्खपह, अप्प, त, च, एव, त, तत्थ, एव, णिच्चं, मा, अण्णदव्व। धातुसंज्ञ—ठ्व स्थापनायां, ज्झा ध्याने, चेय स्मृत्यां चेत करणाववोधनयोः, वि हर हरणे उपसर्गादर्थपरिवर्तनम्। **प्रातिपदिक**—मोक्षपथ, आत्मन्, तत्, च, एव, तत्, तत्र, एव, नित्यं, अन्यद्रव्य। **मूलधातु**—ष्ठा गतिनिवृत्तौ

प्रवर्त रहे अपने आत्माको अपनी बुद्धिके ही गुणसे उन परद्रव्योंसे याने राग-द्वेषसे छुड़ाकर दर्शनज्ञानचारित्रमें निरन्तर अति निश्चलरूपसे स्थापित कर। तथा समस्त अन्य चिंताओंके निरोधसे अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर दर्शनज्ञानचारित्रका ही ध्यान कर। तथा समस्त कर्म और कर्मफलरूप चेतनाका त्याग करके शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शनज्ञानचारित्रका ही अनुभव कर। तथा द्रव्यके स्वभावके वश प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहे परिणामपनेसे उन परिणामों में तन्मय होकर दर्शन ज्ञान चारित्रमें ही विहार कर। तथा एक ज्ञानरूपको ही निश्चलरूप अवलंबता हुआ ज्ञेयरूपसे ज्ञानमें उपाधिपनेके कारण सब ओरसे फैले हुये परद्रव्योंमें किंचित्मात्र भी विहार मत कर। **भावार्थ**—परमार्थरूप आत्माके परिणाम दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, वे ही मोक्षमार्ग हैं, उनमें ही आत्माको स्थापित करो, उनका ही ध्यान करो, उन्हींका अनुभव करो, और उन्हींमें प्रवर्तो, अन्य द्रव्योंमें नहीं प्रवर्तो। केवल व्यवहारमें ही मूढ़ न रहो यह आचार्यदेवका यहाँ उपदेश है।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**एको मोक्ष** इत्यादि। **अर्थ**—दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप यही एक मोक्षका मार्ग है। जो पुरुष उसीमें ठहरता है, उसको निरंतर ध्याता है, उसीका अनुभव करता है और अन्य द्रव्योंका स्पर्शन नहीं करता, उसीमें निरंतर प्रवर्तन करता है, वह पुरुष थोड़े ही कालमें जिसका नित्य उदय रहे, ऐसे समयसारके स्वरूप

समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ।।२४०।। ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः । नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभाप्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ।।२४१।। ।।४१२।।

चेय चेतस्व–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० । तत्थ तत्र एव–अव्यय । णिच्चं नित्यं–अव्यय मा–अव्यय । विहरसु विहर–आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । अण्णदव्वेसु अन्यद्रव्येषु–सप्तमी बहुवचन ।।४१२।।

आत्मामें दौड़ आये याने झलक रहे तो भी उन सर्व परद्रव्योंमें झलकोंमें रंच भी विहार नहीं करता याने उपयोग नहीं रमाता ।

सिद्धान्त—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यमें ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग रमाना मोक्षमार्ग है । २– द्रव्यलिङ्गको मोक्षमार्ग कहना उपचार है ।

दृष्टि—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१, २४ब) । २– एकजात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२) ।

प्रयोग—केवल ज्ञानवृत्ति बनाये रहनेके लिये ज्ञानमात्र शुद्ध अन्तस्तत्त्वका अभेदविधि से ध्यान करना ।।४१२।।

अब उक्त गाथासंकेतको स्पष्ट कहते हैं:—[ये] जो पुरुष [**पाखंडिलिंगेषु**] पाखंडी लिंगोंमें [**वा**] अथवा [**बहुप्रकारेषु गृहिलिंगेषु वा**] बहुत भेद वाले गृहस्थ लिंगोंमें [**ममत्वं**] ममता [**कुर्वंति**] करते हैं अर्थात् हमको ये ही मोक्षके देने वाले हैं ऐसी आस्था रखते हैं [**तैः**] उन पुरुषोंने [**समयसारः**] समयसारको [**न ज्ञातः**] नहीं जाना ।

तात्पर्य—जो द्रव्यलिंगसे ही मुक्ति मानकर अन्तस्तत्त्वके आलम्बनका ध्येय छोड़ देते हैं वे समयसार परमतत्त्वसे बिल्कुल अनभिज्ञ हैं ।

टीकार्थ—जो पुरुष निश्चयतः मैं श्रमण हूं, अथवा श्रमणका उपासक हूं; इस तरह द्रव्यलिंगमें ममकार करके मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिसे चले आये व्यवहारमें विमूढ़ हुए प्रौढ़ विवेक वाले निश्चयनयको नहीं पाते हुए परमार्थतः सत्यार्थभगवान ज्ञानरूप समयसारको नहीं देखते । **भावार्थ**—जो अनादिकालीन परद्रव्यके संयोगसे व्यवहारमें मोही हैं वे ऐसा जानते हैं कि यह बाह्य महाव्रतादिरूप भेद ही हमको मोक्ष प्राप्त करायेगा, परन्तु जिससे भेदज्ञानका जानना होता है ऐसे निश्चयनयको नहीं जानते, उनके सत्यार्थपरमात्मरूप शुद्धज्ञानमय समयसारकी प्राप्ति नहीं होती ।

अब इसी अर्थको कलशरूप काव्यमें कहते हैं—**व्यवहार** इत्यादि । **अर्थ**—जो लोक व्यवहारमें ही मोहित बुद्धिवाले हैं वे परमार्थको नहीं जानते । जैसे लोकमें तुष (भूषा) के

पश्यंति ।। व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः । तुपबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलं ।।२४२।। द्रव्यलिंगममकारमीलितैः दृश्यते समयसार एव न । द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ।।२४३।। ।। ४१३ ।।

लिंगेसु गृहिलिंगेपु वहुप्पयारेसु वहुप्रकारेपु–सप्तमी वहु० । कुव्वंति कुर्वन्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुप वहु० क्रिया । जे ये–प्रथमा वहु० । ममत्तं ममत्वं–द्वि० ए० । तेहिं तैः–तृ० वहु० । ण न–अव्यय । णायं ज्ञातः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । समयसारं समयसारः–प्रथमा एक० ।। ४१३ ।।

होता । ८–मैं केवल चैतन्यमात्र आत्मपदार्थ हूं इस आशयमें ज्ञानका शुद्धप्रकाश है । ९–ज्ञान प्रकाश स्वसे होता है, द्रव्यलिङ्ग परसे अर्थात् देहसे होता है, अतः ज्ञानप्रकाशरूप मोक्षमार्गका मिलन द्रव्यलिङ्गसे नहीं ।

सिद्धान्त—१–आत्माके आत्मीय पुरुपार्थसे शुद्धात्मत्वकी सिद्धि होती है ।

दृष्टि—१–पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—शुद्धात्मत्वकी प्रकटताके लिये देहवेशदृष्टि न रखकर चैतन्यमात्र शुद्धात्मस्वस्वरूपको ही उपयोगमें वनाये रहना ।।४१३।।

अब कहते हैं कि व्यवहारनय तो मुनि श्रावकके भेदसे दो प्रकारके लिंगोंको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिंगको मोक्षमार्ग नहीं कहता—[व्यावहारिकः नयः] व्यवहारनय [**द्वे लिंगे अपि**] मुनि श्रावकके भेदसे दोनों ही प्रकारके लिंगोंको [**मोक्षपथे भणति**] मोक्षमार्ग कहता है [**पुनः**] और [**निश्चयनयः**] निश्चयनय [**सर्वलिंगानि**] सभी लिंगोंको [**मोक्षपथे न इच्छति**] मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं करता ।

तात्पर्य—मुनि और श्रावक वेशको व्यवहारसे ही मोक्षमार्ग कहा गया है, निश्चयनयसे कोई भी वेश मोक्षमार्ग नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है ।

टीकार्थ—मुनि और उपासकके भेदसे दो प्रकारका लिङ्ग मोक्षमार्ग है जो ऐसा कहना है वह केवल व्यवहार ही है परमार्थ नहीं है, क्योंकि उस व्यवहारनयके स्वयं अशुद्ध द्रव्यका अनुभवस्वरूपपना होनेपर परमार्थपनेका अभाव है । तथा मुनि और श्रावकके भेदसे भिन्न दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्रवृत्तिमात्र निर्मलज्ञान ही एक है, ऐसा निर्मल जो अनुभवन है वही परमार्थ है । क्योंकि ऐसे ज्ञानके ही स्वयं शुद्धद्रव्यरूप होनेका स्वरूपपना होनेपर परमार्थपना है । इसलिये जो पुरुष केवल व्यवहारको ही परमार्थबुद्धिसे अनुभवते हैं वे समयसारका अनुभव नहीं करते, जो परमार्थका ही परमार्थकी बुद्धिसे अनुभव करते है वे ही इस समयसारको अनुभवते हैं । **भावार्थ**—व्यवहारनयका विषय भेदरूप अशुद्धद्रव्य और निश्चय-

मेव परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते समयसारमेव न चेतयंते । य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते एव समयसारं चेतयंते ।। अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्यमेकः । स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।२४४।। इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां । विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ।।२४५।। ।। ४१४ ।।

निश्चयनय, न, मोक्षपथ, सर्वलिङ्ग । **मूलधातु**—भण शब्दार्थः, इषु इच्छायां । **पदविवरण**—ववहारिओ व्यावहारिकः णओ नयः–प्रथमा एक० । पुण पुनः–अव्यय । दोण्णि–द्वितीया बहु० । द्वे–द्वितीया द्विवचन । वि अपि–अव्यय । लिंगाणि–द्वि० बहु० । लिङ्गे–द्वि० द्विवचन । भणइ भणति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । मोक्खपहे मोक्षपथे–सप्तमी एक० । णिच्छयणओ निश्चयनयः–प्रथमा एक० । ण न–अव्यय । इच्छइ इच्छति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । मोक्खपहे मोक्षपथे–सप्तमी ए० । सव्वलिंगाणि सर्वलिंगानि–द्वितीया बहुवचन ।।४१४।।

भी लिङ्गको मोक्षमार्ग नही मानता ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यलिङ्गके बिना मोक्ष नही, द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष नही । (२) समस्त परिग्रहोंका पूर्ण त्याग होनेपर जो देहमात्र रहता है वह मुनिलिङ्ग है । (३) परिग्रह का परिमाण कर व्रतोंका पालन करते हुए जो भेष रहता है वह श्रावकलिङ्ग है । (४) कोई बाह्य परिग्रहका त्याग न करे, द्रव्यलिंग धारण न करे और अन्तरंग परिग्रह कषाय छूट जाय, यह नहीं हो सकता । (५) कोई बाह्य परिग्रहका त्याग कर दे उसके अन्तरंग परिग्रह कषाय छूट ही जाय, यह नियम नहीं है । (६) व्यवहारनय कहता है कि श्रमण और श्रमणोपासक ऐसे दो प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग है । (७) निश्चयनयके मतमें दोनों ही प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है । (८) व्यवहारका विषय भेद, संयोग, उपचार, निमित्तनैमित्तिक व आधाराधेय सम्बन्ध आदि है, अतः केवल परिपूर्ण एक द्रव्यको न देखनेसे व्यवहार अपरमार्थ है । (९) द्रव्यलिङ्ग अर्थात् देहलिङ्ग मोक्षमार्ग है यह प्ररूपण व्यवहार है, परमार्थ नहीं । (१०) द्रव्यलिङ्गके विकल्पसे अतिक्रान्त दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप शुद्ध ज्ञान ही एक मैं हूं, इस प्रकारका निर्मल अभेद अनुभव मोक्षमार्ग है यह परमार्थ है । (११) जो व्यवहारको ही परमार्थ समझ लेते हैं वे समयसारको नहीं अनुभव सकते । (१२) जो परमार्थको ही परमार्थबुद्धिसे अनुभवते हैं वे समयसारको अनुभवते हैं । (१३) समयसारसे अर्थात् सहजात्मस्वरूपसे अधिक उत्कृष्ट तत्त्व अन्य कुछ नही है ।

सिद्धान्त—(१) रत्नत्रयभाव केवल एक स्वद्रव्यके अनुभवरूप होनेसे परमार्थ मोक्षमार्ग है । (२) द्रव्यलिंग परद्रव्यका परिणमन होनेसे आत्माका मोक्षमार्ग नहीं ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२४ब, २९) ।

प्रतिपादनात् शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपं परमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णे विज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरस-

असमाप्तिकी क्रिया। अत्थतच्चदो अर्थतत्त्वतः–पंचम्यर्थे तद्धितप्रत्ययन्त अव्यय। णाउं ज्ञात्वा–असमाप्तिकी क्रिया। अत्थे अर्थे–सप्तमी एक०। ठाही स्थास्यति–भविष्यति लृट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। चेया

परमानन्दमय स्वात्मीक, स्वाधीन, बाधारहित (अविनाशी) उत्तम सुखको प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्य पुरुषो! अपने कल्याणके लिए इसको पढ़ो, सुनो, निरन्तर इसीका ध्यान रखो, जिससे कि अविनाशी सुखकी प्राप्ति होवे।

अब इस सर्वविशुद्ध ज्ञानके अधिकारकी पूर्णताका वचन इस कलशरूप श्लोकमें कहते हैं—**इतीदं** इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार यह आत्माका तत्त्व अखण्ड, एक, अचल, स्वसम्वेद्य, अबाधित ज्ञानमात्र ही अवस्थित होता है। **भावार्थ**—ज्ञानार्थ आत्माका निजस्वरूप ज्ञान ही कहा है। यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं तथापि उनमें कोई तो साधारण हैं सो वे अतिव्याप्ति स्वरूप है, उनसे आत्मा पहचाना नहीं जाता तथा कोई पर्यायाश्रित हैं किसी अवस्थामें होते हैं, किसीमें नहीं हैं इसलिए वे अव्याप्तिस्वरूप हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहचाना जाता। तथा चैतन्य यद्यपि शाश्वत लक्षण है तो भी शक्तिमात्र है, अतः वह अदृष्ट है, हाँ उसका व्यक्त रूप दर्शन और ज्ञान हैं। उनमेंसे ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसी कारण ज्ञानके द्वारा ही आत्मा पहचाना जाता है। अतएव इस ज्ञानको ही प्रधान करके आत्मतत्त्व कहा गया है। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि जो आत्माको ज्ञानमात्र तत्त्व कहा है सो इतना ही परमार्थ है, अन्य गुण झूठे हैं, आत्मामें नहीं हैं। तथा ऐसा भी न समझना कि ये सब गुण स्वतन्त्र सत् हैं उनका समूह आत्मा है। किसी प्रकारका एकान्त अभिप्राय रखकर कोई मुनिव्रत भी पालन करे तथा कल्पित स्वरूपमें आत्माका ध्यान करे तो भी मिथ्यात्व नहीं छूटता। मन्द कषायके निमित्तसे भले ही किसीको स्वर्ग प्राप्त हो जावे, परन्तु समयसार अन्तस्तत्त्वका आश्रय लिये बिना मोक्षका साधन नहीं होता। अतः स्याद्वादसे सिद्ध तत्त्वको ही यथार्थ समझना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथा तक परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयप्राभृत ग्रन्थकी रचना की। अब इस अन्तिम गाथामें इस ग्रन्थके अध्ययन मननका फल बताया है।

तथ्यप्रकाश—(१) यह समयप्राभृत ग्रन्थ शब्दब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि यह ग्रंथ विश्वसमय अर्थात् समस्त द्रव्यका प्रतिपादक है। (२) समयप्राभृत विश्वसमयप्रतिपादक है, क्योंकि

卐 समयसारस्य अकारादिक्रमेण गाथासूची 卐

कलशकाव्यानां अकारादिक्रमेण सूची

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
श्रीमत्सहजानन्द महाराज द्वारा विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥९॥